Chapter बीस

महाराज पृथु के यज्ञस्थल में भगवान् विष्णु का प्राकट्य

मैत्रेय उवाच
भगवानपि वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः ।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो यज्ञभुक्तमभाषत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; भगवान्—भगवान् विष्णु; अपि—भी; वैकुण्ठः—वैकुण्ठवासी; साकम्—के साथ; मघवता—राजा इन्द्र; विभुः—भगवान्; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; यज्ञ-पतिः—समस्त यज्ञों का स्वामी; तुष्टः—प्रसन्न; यज्ञ-भुक्—यज्ञों का भोक्ता; तम्—राजा पृथु से; अभाषत—कहा।.

मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, महाराज पृथु द्वारा निन्यानवे अश्वमेध यज्ञों के सम्पन्न किये जाने से भगवान् विष्णु अत्यन्त प्रसन्न हुए और वे यज्ञस्थल में प्रकट हुए। उनके साथ राजा इन्द्र भी था। तब भगवान् विष्णु ने कहना प्रारम्भ किया।

श्रीभगवानुवाच
एष तेऽकार्षीद्भङ्गं हयमेधशतस्य ह ।
क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् विष्णु ने कहा; एषः—यह राजा इन्द्र; ते—तुम्हारा; अकार्षीत्—किया; भङ्गम्—उत्पात; हय—अश्व; मेध—यज्ञ; शतस्य—एक सौवें का; ह—निश्चय ही; क्षमापयतः—क्षमाप्रार्थी; आत्मानम्—तुम से; अमुष्य—उसको; क्षन्तुम्—क्षमा करने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।.

भगवान् विष्णु ने कहा : हे राजा पृथु, स्वर्ग के राजा इन्द्र ने तुम्हारे सौवें यज्ञ में विघ्न डाला है। अब वह मेरे साथ तुमसे क्षमा माँगने के लिए आया है, अतः उसे क्षमा कर दो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आत्मानम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। योगी तथा ज्ञानी एक दूसरे को (अथवा सामान्य पुरुष को भी) आत्मा कहकर सम्बोधित करते हैं, क्योंकि इन्द्रियातीत पुरुष जीवात्मा को शरीर कभी नहीं मानता। चूँकि आत्मा भगवान् का अंश होता है, अतः आत्मा तथा परम-आत्मा में गुणात्मक अन्तर नहीं होता। जैसाकि अगले श्लोक में बताया जाएगा, शरीर तो बाह्यावरण मात्र है, अतः सिद्ध इन्द्रियातीत पुरुष स्वयं में तथा अन्य में भेद नहीं मानता।

सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः ।
नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्हि नात्मा कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सु-धियः—परम बुद्धिमान व्यक्ति; साधवः—शुभ करने के लिए उद्यत; लोके—इस जगत में; नर-देव—हे राजा; नर-उत्तमाः—मनुष्यों में श्रेष्ठ; न अभिद्रुह्यन्ति—द्रोह नहीं करते; भूतेभ्यः—अन्य जीवों से; यर्हि—क्योंकि; न—कभी नहीं; आत्मा—स्व या आत्मा; कलेवरम्—यह शरीर।

हे राजन्, जो व्यक्ति परम बुद्धिमान तथा दूसरों का शुभचिन्तक होता है, वह मनुष्यों में श्रेष्ठ समझा जाता है। सिद्ध पुरुष कभी दूसरों से बैर नहीं करता। जो अग्रगण्य बुद्धिमान हैं, वे यह भली-भाँति जानते हैं कि यह भौतिक शरीर आत्मा से भिन्न है।

तात्पर्य : सामान्य के जीवन में हम देखते हैं कि यदि कोई पागल आदमी किसी की हत्या कर देता है, तो उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति द्वारा उसे क्षमा दे दी जाती है। मुख्य भाव यह है कि जीवात्मा सदैव शुद्ध रहता है, क्योंकि वह तो भगवान् का अंश होता है। जब वह भौतिक शक्ति के चंगुल में पड़ जाता है, तो वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों का शिकार बन जाता है। वह जो कुछ भी करता है, भौतिक प्रकृति के वश में होकर करता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.१४) में कहा गया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

''देह रूपी नगरी का स्वामी देहबद्ध जीवात्मा, कर्म अथवा कर्मफल को नहीं रचता और न किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों द्वारा ही रचा जाता है।''

वास्तव में जीवात्मा या आत्मा कुछ नहीं करता, सब कुछ प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर ही होता है। जब मनुष्य रोगी होता है, तो रोग के लक्षण समस्त प्रकार की पीड़ा के कारण बन जाते हैं। जो दिव्यचेतना या कृष्णचेतना में उन्नत हैं, वे न तो आत्मा से ईर्ष्या करते हैं और न प्रकृति के गुणों के अधीन आत्मा के कार्यों से। उन्नत इन्द्रियातीत पुरुष *सुधियः* कहलाते हैं। *सुधी* के कई अर्थ हैं—बुद्धि, अत्यन्त उन्नत तथा भक्त। जो भक्त है और बुद्धि से अत्यन्त उन्नत भी, वह आत्मा या शरीर के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करता। यदि कोई त्रुटि होती है, तो वह क्षमा कर देता है। कहा गया है कि क्षमा आत्मज्ञानी सिद्ध पुरुषों का गुण है।

पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वादृशा देवमायया ।
श्रम एव परं जातो दीर्घया वृद्धसेवया ॥ ४॥

शब्दार्थ

पुरुषाः—लोग; यदि—यदि; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त होते हैं; त्वादृशाः—तुम्हारी तरह; देव—परमेश्वर की; मायया—माया से; श्रमः—परिश्रम; एव—निश्चय ही; परम्—एकमात्र; जातः—उत्पन्न; दीर्घया—दीर्घकाल तक; वृद्ध-सेवया—गुरुजनों की सेवा से।

यदि तुम जैसे पुरुष, जो पूर्व आचार्यों के आदेशों के अनुसार कार्य करने के कारण इतने उन्नत हैं, मेरी माया से मोहग्रस्त हो जाँय तो तुम्हारी समस्त सिद्धि को समय का अपव्यय मात्र ही समझा जाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *वृद्ध-सेवया* शब्द महत्त्वपूर्ण है। वृद्ध का अर्थ "बूढ़ा" और *सेवया* का अर्थ "सेवा द्वारा" है। पूर्णज्ञान तो आचार्यों या मुक्त जीवों से प्राप्त होता है। परम्परा-पद्धति के द्वारा प्रशिक्षित हुए बिना ज्ञान अर्जन में कोई भी परिपूर्ण नहीं हो सकता। पृथु महाराज को इसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त थी, अत: उन्हें सामान्य व्यक्ति नहीं माना जा सकता था। सामान्य मनुष्य को केवल देहात्मबुद्धि होती है, जिससे वह प्रकृति के गुणों से सदैव मोहग्रस्त रहता है।

अत: कायमिमं विद्वानविद्याकामकर्मभि: ।
आरब्ध इति नैवास्मिन्प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; कायम्—शरीर; इमम्—यह; विद्वान्—ज्ञानी; अविद्या—अज्ञान से; काम—इच्छाएँ; कर्मभिः—कर्म से; आरब्धः—उत्पन्न; इति—इस प्रकार; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; अस्मिन्—इस शरीर के प्रति; प्रतिबुद्धः—ज्ञानी; अनुषज्जते—आसक्त होता है।

जो लोग जीवन की देहात्मबुद्धि की अवधारणा से भली-भाँति परिचित हैं, जो यह जानते हैं कि यह शरीर मोह से उत्पन्न अज्ञान, आकांक्षाओं तथा कर्मों से रचित है, वे इस शरीर के प्रति कभी भी आसक्त नहीं होते।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, सुधीजन अपने को शरीर नहीं मानते। अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण शरीर के दो प्रकार के कार्य हैं। जब हम देहात्मबुद्धि में सोचते हैं कि इन्द्रियतृप्ति हमारी सहायक होगी तो हम मोह में होते हैं। दूसरे प्रकार का मोह यह सोचना है कि उन आकांक्षाओं को पूरा करने के प्रयास से मनुष्य सुखी हो जाएगा, जो मोहग्रस्त शरीर से उत्पन्न होती हैं या उच्च लोकों को प्राप्त करने या विभिन्न प्रकार के वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने से उत्पन्न हैं। यह मोह है। इसी प्रकार से राजनीतिक उत्थान के लिए किये गये भौतिक कर्म तथा विश्व के लोगों को सुखी बनाने के उद्देश्य से किये गये सामाजिक तथा मानवतापूर्ण कार्य भी मोहमय हैं, क्योंकि मुख्य सिद्धान्त तो

देहात्मबुद्धि है, जो मोहमय है। देहात्मबुद्धि में हम जो कुछ भी चाहते या करते हैं वह सब मोहमय हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् विष्णु ने महाराज पृथु को बताया कि यद्यपि यज्ञों के करने से सामान्य लोगों के लिए आदर्श उपस्थित होता है, किन्तु जहाँ तक उनके स्वात्म का प्रश्न है, उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४५) में पुष्टि की गई है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

"वेद मुख्य रूप से प्रकृति के तीनों गुणों का ही वर्णन करने वाले हैं। हे अर्जुन! तू इन गुणों का लंघन करके उनसे आगे निकल जा। सम्पूर्ण द्वन्द्वों और योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होकर आत्मपरायण बन।"

वेदों में वर्णित अनुष्ठान-विधान मुख्यत: प्रकृति के तीनों गुणों पर निर्भर करते हैं, अत: अर्जुन को सलाह दी गई कि वह वेद-कर्मों का उल्लंघन कर दे। अर्जुन को जिन कर्मों को करने के लिए कहा गया वे भक्ति के दिव्य कर्म थे।

असंसक्त: शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे ।
अपत्ये द्रविणे वापि क: कुर्यान्ममतां बुध: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

असंसक्त:—अनासक्त; शरीरे—शरीर में; अस्मिन्—इस; अमुना—ऐसी देहात्मबुद्धि से; उत्पादिते—उत्पन्न; गृहे—घर में; अपत्ये—सन्तान में; द्रविणे—सम्पत्ति में; वा—अथवा; अपि—भी; क:—कौन; कुर्यात्—करना चाहिए; ममताम्—आकर्षण; बुध:—विद्वान पुरुष।

जो देहात्मबुद्धि के प्रति रंचमात्र भी आसक्त नहीं है, भला ऐसा अत्यन्त बुद्धिमान पुरुष किस प्रकार घर, सन्तान, सम्पत्ति तथा ऐसी ही अन्य शारीरिक बातों में देहात्मबुद्धि के द्वारा प्रभावित हो सकता है?

तात्पर्य : वैदिक अनुष्ठान भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के निमित्त होते हैं। किन्तु ऐसे कार्यों से वास्तव में भगवान् को प्रसन्न नहीं किया जा सकता, अपितु भगवान् की अनुमति से मनुष्य अपनी इन्द्रियों की तुष्टि करने का प्रयास करता है। दूसरे शब्दों में, जो भौतिकतावादी इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखते हैं उन्हें वैदिक अनुष्ठान करने के बहाने अपनी इन्द्रियतुष्टि की अनुमति अथवा छूट प्रदान की जाती है। यही *त्रैगुण्यविषया वेदा:* कहलाता है। वैदिक कृत्य तो प्रकृति के तीनों गुणों पर निर्भर करते हैं। जो

लोग भौतिक स्थिति से ऊपर उठ चुके होते हैं, वे ऐसे वैदिक कृत्यों की तनिक भी परवाह नहीं करते। अपितु वे तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति जैसे उच्चतर कार्यों में रुचि रखते हैं। ऐसी भक्ति *निस्त्रैगुण्य* कहलाती है। भगवान् की भक्ति का देहात्मबुद्धि से कोई सरोकार नहीं होता।

एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः ।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्मात्मात्मनः परः ॥ ७॥

शब्दार्थ

एकः—एक; शुद्धः—शुद्ध; स्वयम्—स्वयं; ज्योतिः—तेजोमय; निर्गुणः—भौतिक उपाधियों से रहित; असौ—वह; गुण-आश्रयः—उत्तम गुणों का आगार; सर्व-गः—सर्वत्र जाने में समर्थ; अनावृतः—अनाच्छादित; साक्षी—गवाह; निरात्मा—किसी अन्य आत्मा के; आत्म-आत्मनः—शरीर तथा मन को; परः—दिव्य।

आत्मा एक, शुद्ध, अभौतिक तथा स्वयं-तेजमय है। वह समस्त उत्तम गुणों का आगार एवं सर्व-व्यापक है। वह किसी भौतिक आवरण से रहित और समस्त कार्यों का साक्षी है। वह अन्य जीवात्माओं से सर्वथा भिन्न तथा समस्त देहधारियों से परे है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में दो महत्त्वपूर्ण शब्द आये हैं—*असंसक्तः* अर्थात् ''बिना आसक्ति के'' तथा *बुधः* अर्थात् ''हर वस्तु को जानने वाला।'' जानने वाले से तात्पर्य है कि वह न केवल अपनी स्वाभाविक स्थिति से पूर्ण रूप से परिचित हो, वरन् भगवान् की भी स्थिति को जाने। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में भगवान् विष्णु अपने अथवा परमात्मा के सम्बन्ध में वर्णन कर रहे हैं। परमात्मा सदैव देहधारी आत्मा से तथा भौतिक जगत से भी भिन्न हैं। अतः उन्हें *पर* कहा गया है। *पर* का अर्थ है, भगवान् एक है। भगवान् एक हैं, जबकि इस संसार में आये हुए बद्धजीव विभिन्न रूपों में रहते हैं। ये देवता, मनुष्य, पशु, वृक्ष, पक्षी, मधुमक्खी इत्यादि रूपो में रहते हैं। इस प्रकार जीवात्माएँ एक न होकर अनेक हैं। जैसे कि, वेदों में पुष्टि की गई है : *नित्यो नित्योनां चेतन तनानाम्* ऐसी जीवात्माएँ जो अनेक हैं और संसार में बँधी हुई हैं, शुद्ध नहीं होतीं। किन्तु भगवान् शुद्ध और अनासक्त होते हैं। भौतिक देह से ढके होने के कारण जीवात्माएँ आत्म-तेजोमय नहीं होतीं, जबकि परमात्मा स्वतेजोमय होता है। जीवात्माएं प्रकृति के गुणों से दूषित होने के कारण सगुण कहलाते हैं, जबकि परमात्मा भौतिक गुणों पर निर्भर न होने के कारण निर्गुण कहलाते हैं। प्रकृति के गुणों से दूषित होने के कारण जीवात्माएँ *गुणाश्रित* हैं, जबकि भगवान् *गुणाश्रय* हैं। बद्धजीव की दृष्टि भौतिक कल्मष से ढकी रहती है, अतः वह अपने कर्मों के कारण को तथा अपने विगत जीवन को

नहीं देख सकता। किन्तु भगवान् भौतिक देह से प्रच्छन्न न होने के कारण जीवात्मा के समस्त कार्यों के साक्षी हैं। जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही आत्मा हैं। वे गुण में एक हैं, किन्तु वे कई प्रकार से भिन्न भी हैं विशेषत: छ: ऐश्वर्यों के सम्बन्ध में जो भगवान् में पूर्णरुपेण विद्यमान हैं। पूर्णज्ञान का अर्थ होता है कि जीवात्मा अपनी तथा परमेश्वर की स्थिति को जाने। यही पूर्ण ज्ञान है।

य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः ।
नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एवम्—इस प्रकार; सन्तम्—विद्यमान; आत्मानम्—आत्मा तथा परमात्मा; आत्म-स्थम्—अपने शरीर के भीतर स्थित; वेद—जानता है; पूरुषः—पुरुष; न—कभी नहीं; अज्यते—प्रभावित होता है; प्रकृति—भौतिक प्रकृति में; स्थः—स्थित; अपि—यद्यपि; तत्-गुणैः—प्रकृति के गुणों से; सः—ऐसा व्यक्ति; मयि—मुझमें; स्थितः—स्थित।

ऐसा व्यक्ति जो परमात्मा तथा आत्मा के पूर्णज्ञान को प्राप्त होता है, भौतिक प्रकृति में रहते हुए भी उसके गुणों से प्रभावित नहीं होता, क्योंकि वह सदैव मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थित रहता है।

तात्पर्य : जब भगवान् इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, तो वे प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होते हैं। इसीप्रकार जो भगवान् से सम्बद्ध हैं, वे भौतिक देह या भौतिक जगत में रहते हुए भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते। इसका वर्णन *भगवद्गीता* (१४.२६) में बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्ण रूप से मेरे अनन्य भक्तियोग में संलग्न है, वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का उल्लंघन करके मुक्त हो जाता है।'' इस सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी का कथन है कि यदि कोई मन, वचन तथा कर्म से सदैव भगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो उसे इस भौतिक जगत में रहते हुए भी मुक्त मानना चाहिए।

यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः ।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन्प्रसीदति ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; स्व-धर्मेण—अपने वृत्तिपरक कार्यों के द्वारा; माम्—मुझको; नित्यम्—नियमित रूप से; निराशीः—बिना किसी उद्देश्य के; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्ति से; अन्वितः—युक्त; भजते—पूजता है; शनकैः—धीरे-धीरे; तस्य—उसका; मनः—मन; राजन्—हे राजा पृथु; प्रसीदति—पूर्णतया तुष्ट हो जाता है।

भगवान् विष्णु ने आगे कहा : हे राजा पृथु, जब कोई अपना वृत्तिपरक कर्म करता हुआ, किसी भौतिक लाभ के उद्देश्य के बिना मेरी सेवा में लगा रहता है, तो वह अपने अन्तःकरण में उत्तरोत्तर संतुष्टि प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *विष्णु पुराण* से भी इस श्लोक की पुष्टि होती है। वृत्तिपरक कार्य को वर्णाश्रम धर्म कहते हैं और यह भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के चारों वर्णों और आश्रमों पर लागू होता है—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। जो कोई वर्णाश्रम धर्म-पद्धति के अनुसार कर्म करता है और फल की इच्छा नहीं करता, वह क्रमशः सन्तुष्ट होता जाता है। जीवन का परम उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए भगवान् की भक्ति करना है। *भगवद्गीता* में इस प्रक्रम को *कर्मयोग* कहा गया है। दूसरे शब्दों में, हमें केवल भगवान् की तुष्टि तथा सेवा के लिए कर्म करना चाहिए। अन्यथा हम कर्मफलों के बंधन में उलझ जाएँगे।

प्रत्येक व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म में लगा हुआ है, किन्तु भौतिक व्यवसायों का उद्देश्य भौतिक लाभ नहीं होना चाहिए, अपितु हर एक को चाहिए कि अपने-अपने कर्मों के फल भगवान् को अर्पण करे। ब्राह्मण को विशेष रूप से अपना कर्म भौतिक लाभ की दृष्टि से न करके भगवान् को प्रसन्न करने के लिए करना चाहिए। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को भी इसी प्रकार से कर्म करना चाहिए। इस भौतिक जगत् में हर व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवसाय में लगा है, किन्तु ऐसे कर्मों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न रखना होना चाहिए। भक्ति अत्यन्त सरल है और कोई भी इसे अपना सकता है। जो जिस रूप में है, वैसे ही रहे; उसे अपने घर में परमेश्वर के अर्चा-विग्रह को स्थापित-भर करना होगा। यह विग्रह राधा-कृष्ण का हो या लक्ष्मी-नारायण का हो। (भगवान् के अनेक अन्य रूप भी हैं)। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने सच्चे परिश्रम के बल पर अर्चा-विग्रह को पूज सकता है। चाहे जो भी वर्णाश्रम धर्म हो, मनुष्य को श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, समर्पण इत्यादि के द्वारा भक्ति करनी चाहिए। इस प्रकार मनुष्य अपने को भगवान् की भक्ति में बड़ी आसानी से लगा सकता है। जब भगवान् किसी की सेवा से प्रसन्न हो जाते हैं, तो जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः ।
शान्तिं मे समवस्थानं ब्रह्म कैवल्यमश्नुते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

परित्यक्त-गुणः—जो गुणों से विरक्त है; सम्यक्—सम; दर्शनः—जिसकी दृष्टि; विशद—अकलुषित; आशयः—जिसका मन या हृदय; शान्तिम्—शान्ति; मे—मेरा; समवस्थानम्—समान पद; ब्रह्म—आत्मा; कैवल्यम्—भौतिक कल्मष से मुक्ति; अश्नुते—प्राप्त करता है।

जब हृदय समस्त भौतिक कल्मषों से शुद्ध हो जाता है, तो भक्त का मन विशद तथा पारदर्शी हो जाता है और वह वस्तुओं को समान रूप में देख सकता है। जीवन की इस अवस्था में शान्ति मिलती है और मनुष्य मेरे समान पद के सच्चिदानन्द-विग्रह रूप में स्थित हो जाता है।

तात्पर्य : मायावादी *कैवल्य* सम्बन्धी विचार वैष्णवों के विचारों से भिन्न है। मायावादी सोचता है कि ज्योंही कोई समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है, वह परमेश्वर में तदाकार हो जाता है। वैष्णव चिन्तक की *कैवल्य* सम्बन्धी विचारधारा भिन्न है। वह अपनी तथा भगवान् दोनों की स्थितियों को समझता है। अकलुषित अवस्था में जीवात्मा अपने को परमात्मा का नित्य दास मानता है, जो ब्रह्म-साक्षात्कार कहलाता है। यह पद सरलता से प्राप्त हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जब कोई भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अनुरक्त रहता है, तो उसे तुरन्त ही दिव्य कैवल्य पद अथवा ब्रह्मपद प्राप्त होता है।

उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम् ।
कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाप्नोति शोभनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

उदासीनम्—उदासीन; इव—केवल; अध्यक्षम्—अधीक्षक; द्रव्य—भौतिक तत्त्वों; ज्ञान—ज्ञानेन्द्रियाँ; क्रिया—कर्मेन्द्रियाँ; आत्मनाम्—तथा मन का; कूट-स्थम्—स्थिर; इमम्—यह; आत्मानम्—आत्मा; यः—जो कोई; वेद—जानता है; आप्नोति—प्राप्त करता है; शोभनम्—कल्याण।

जो कोई भी यह जानता है कि पाँच तत्त्वों, कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा मन से निर्मित यह शरीर केवल स्थिर आत्मा द्वारा संचालित होता है, वह भौतिक बन्धन से मुक्त होने योग्य है।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि मनुष्य बन्धन से किस प्रकार मुक्त हो सकता है। पहली बात जो मनुष्य को जाननी चाहिए, वह यह है कि जीव शरीर से पृथक् है। जीव *देही* है और यह भौतिक शरीर *देह* कहलाता है। देह निरन्तर परिवर्तनशील है, किन्तु आत्मा (देही) स्थिर है; इसीलिए आत्मा को *कूट-स्थम्* कहा जाता है देह में जो परिवर्तन होते हैं, वे तीन गुणों की प्रतिक्रिया के

फलस्वरूप होते हैं जिसने आत्मा की स्थिर-स्थिति जान ली है, उसे सुख तथा दुख के रूप में प्रकृति के गुणों की अन्तक्रिया के आवागमन से विचलित नहीं होना चाहिए। *भगवद्गीता* में भी भगवान् ने कहा है कि शरीर पर तीनों गुणों की प्रतिक्रिया से सुख तथा दुख आते-जाते रहते हैं, अत: मनुष्य को इन बाह्य गतिविधियों से विचलित नहीं होना चाहिए। यद्यपि कभी-कभी मनुष्य इनमें फँस जाता है, किन्तु उसे इन्हें सहन करना सीखना चाहिए जीवात्मा को बाह्य शरीर के कर्म तथा फल के प्रति अनासक्त रहना चाहिए।

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि पाँच भौतिक तत्त्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर) एवं सूक्ष्म तत्त्वों (मन, बुद्धि तथा अहंकार) से बना हुआ यह शरीर आत्मा से सर्वथा भिन्न है। अत: मनुष्य को इन आठ तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया से विचलित नहीं होना चाहिए। इस अनासक्ति की अवस्था को प्राप्त करने की व्यावहारिक विधि यह है कि भक्ति-मय सेवा की जाये। जो व्यक्ति चौबीसों घंटे भक्ति में लगा रहता है, वही बाह्य शरीर के घात-प्रतिघातों से अनासक्त रह सकता है। जब मनुष्य किसी विशेष विचार में मग्न होता है, तो वह किसी अन्य बाह्य कर्म को न तो देखता है, न सुनता है भले ही वह उसकी उपस्थिति में घट रहा हो। इसी प्रकार जो भक्ति में पूर्ण रूप से निमग्न रहते हैं उन्हें अपने बाह्य शरीर की परवाह नहीं रहती। यह अवस्था समाधि कहलाती है। जो व्यक्ति समाधि में स्थित होता है, वह उच्चकोटि का योगी कहलाता है।

भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो
द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मन: ।
दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो
न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदा: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भिन्नस्य—भिन्न; लिङ्गस्य—शरीर का; गुण—तीनों गुणों का; प्रवाह:—निरन्तर परिवर्तन; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; क्रिया—कर्म; कारक—देवता; चेतना—तथा मन; आत्मन:—से युक्त; दृष्टासु—अनुभव होने पर; सम्पत्सु—सुख; विपत्सु—दुख; सूरय:—ज्ञानी लोग; न—कभी नहीं; विक्रियन्ते—विचलित होते हैं; मयि—मुझ में; बद्ध-सौहृदा:—मित्रता में बँध कर।

भगवान् विष्णु ने राजा पृथु से कहा : हे राजन्, तीनों गुणों की अन्योन्य क्रिया से ही यह भौतिक जगत निरन्तर परिवर्तनशील है। यह शरीर पाँच तत्त्वों, इन्द्रियों, इन्द्रियों के नियामक देवताओं तथा आत्मा द्वारा विक्षुब्ध किये जाने वाले मन से मिल कर बना है। चूँकि आत्मा इन

स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों के इस मेल से सर्वथा भिन्न है, अत: मेरा भक्त जो मित्रता तथा प्रेम के द्वारा मुझसे दृढ़तापूर्वक बँधा है, यह भली भाँति जानते हुए, कभी भी भौतिक सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता।

तात्पर्य : प्रश्न उठता है कि यदि जीवात्मा को शारीरिक संयोग के कार्यकलापों का अधीक्षण करना है, तो वह शरीर के कार्यों से किस प्रकार उदासीन रह सकता है? इसका उत्तर इस प्रकार है—ये कार्यकलाप आत्मा के कार्यों से सर्वथा भिन्न हैं। यहाँ पर एक मोटा सा उदाहरण दिया जा सकता है। एक व्यापारी अपनी मोटरकार में बैठकर उसकी चाल का निरीक्षण करता रहता है और चालक को सलाह भी देता रहता है, वह जानता रहता है कि कितना पेट्रोल खर्च हो रहा है और वह अपनी कार के बारे में सबकुछ जानता है, किन्तु तो भी वह अपनी कार से भिन्न रहता है और अपने व्यापार के विषय में अधिक चिन्तित होता है। कार में चलते हुए भी वह अपने व्यापार तथा कार्यालय के विषय में सोचता रहता है भले ही वह कार में बैठा रहता है, किन्तु उसका कार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जिस प्रकार व्यापारी सदैव अपने व्यापार के विचारों में मग्न रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी भगवान् की सेवा करने के विचारों में मग्न रह सकता है। तभी वह भौतिक शरीर के कार्यकलापों से अपने को पृथक् रख सकता है। ऐसी निर्लिप्त अवस्था भक्त के लिए ही सम्भव है।

यहाँ पर *बद्ध सौहृदा:* शब्द का प्रयोग विशेष प्रयोजन से हुआ है। कर्मी, ज्ञानी तथा योगी जनों को भक्ति में नहीं बाँधा जा सकता। कर्मीजन शरीर के कार्यों में व्यस्त रहते हैं। उनके जीवन का लक्ष्य शरीर को ही सुविधा पहुँचाना होता है। ज्ञानी लोग दार्शनिक चिन्तन द्वारा बंधन से छूटना चाहते हैं, किन्तु उन्हें मुक्त पद प्राप्त नहीं होता। भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण न कर पाने से वे ब्रह्म-साक्षात्कार के उच्च पद से नीचे गिर जाते हैं। योगियों में भी देहात्मबुद्धि होती है—वे मानते हैं कि धारणा, आसन, प्राणायाम इत्यादि के द्वारा वे आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं किन्तु भक्त की स्थिति सदैव दिव्य होती है, क्योंकि भगवान् से उसका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता है, अत: केवल भक्त ही शरीर के कर्मों तथा फलों से पृथक् रह कर अपने वास्तविक कर्म अर्थात् भगवान् की सेवा में संलग्न रह सकते हैं।

समः समानोत्तममध्यमाधमः
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः ।
मयोपक्लिप्ताखिललोकसंयुतो
विधत्स्व वीराखिललोकरक्षणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

समः—समभाव; समान—सभी समान; उत्तम—श्रेष्ठ; मध्यम—बीच की स्थिति वाला; अधमः—निम्नस्तरीय; सुखे—सुख में; च—तथा; दुःखे—दुख में; च—भी; जित-इन्द्रिय—जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है; आशयः—तथा मन; मया—मेरे द्वारा; उपक्लिप्त—व्यवस्थित; अखिल—सम्पूर्ण; लोक—लोगों द्वारा; संयुतः—साथ-साथ; विधत्स्व—प्रदान करो; वीर—हे वीर; अखिल—समस्त; लोक—नागरिकों को; रक्षणम्—सुरक्षा, आश्रय।

हे वीर राजा, स्वयं समभाव रखते हुए अपने से उत्तम, मध्यम तथा निम्न स्तर के लोगों पर समानता का व्यवहार करो, क्षणिक सुख या दुख से विचलित न हो। अपने मन तथा इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखो। मेरी व्यवस्था से तुम जिस किसी भी परिस्थिति में रखे जाओ, उस दिव्य स्थिति में रह कर राजा का कर्तव्य निबाहो, किन्तु तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य अपने राज्य के नागरिकों को संरक्षण प्रदान करना है।

तात्पर्य : यहाँ पर साक्षात् भगवान् विष्णु से आदेश प्राप्त करने का उदाहरण मिलता है। मनुष्य को भगवान् विष्णु के आदेश का पालन करना होता है, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप में उनसे प्राप्त हो या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि–गुरु के माध्यम से हो। अर्जुन ने कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् कृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश पर लड़ा। इसी प्रकार यहाँ पर पृथु महाराज को उनके कर्तव्यों के विषय में भगवान् विष्णु आदेश दे रहे हैं। हमें *भगवद्गीता* में बताये गये नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। *व्यवसायात्मिका बुद्धिः*—प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह भगवान् कृष्ण या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि से आदेश प्राप्त करे और निजी स्वार्थ से तटस्थ रहकर इन आदेशों को प्राणों से भी प्रिय माने। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि मनुष्य को इसकी तनिक भी परवाह नहीं करनी चाहिए कि वह मुक्त हो रहा है अथवा नहीं, उसे तो अपने गुरु से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त आदेशों का सहज भाव से पालन करते रहना चाहिए ऐसा करने से उसे सदैव मुक्त पद प्राप्त होता रहेगा। सामान्य व्यक्ति को जाति–प्रथा (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा आध्यात्मिक व्यवस्था (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्यों के अनुसार वर्णाश्रम धर्म के विधि–विधानों का पालन करना चाहिए। यदि कोई नियमित रूप से तथा दृढ़तापूर्वक ऐसा करता है, तो वह भगवान् विष्णु को प्रसन्न करता है।

भगवान् विष्णु ने पृथु महाराज को राजा के रूप में दैहिक कार्यों से अपने को विलग रखने और

सदैव भगवान् की सेवा में संलग्न रहकर मुक्त पद पर स्थित रहने का आदेश दिया था। पिछले श्लोक में आगत *बद्ध-सौहृदाः* की व्याख्या यहाँ की जा रही है। यदि मनुष्य अपने को देह के कार्यों से पृथक् रखता है, तो वह भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रह सकता है, अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि अर्थात् गुरु से आदेश प्राप्त कर सकता है और उन आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन कर सकता है। भगवान् हमें भक्ति करने में मदद करने के लिए आदेश देते हैं और इस प्रकार परम धाम वापस जाने में सहायक बनते हैं। गुरु के रूप में वे बाहर से हमें आदेश देते हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि गुरु को सामान्य मनुष्य न समझे *भागवत* (११.१७.२७) में भगवान् कहते हैं—*आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्*—गुरु को सामान्य मानव नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् का प्रतिनिधि होता है। मनुष्य को चाहिए कि गुरु को भगवान् समझे और उससे न तो कभी द्वेष करे और न उसे सामान्य मनुष्य समझे। यदि हम गुरु के उपदेशों का पालन करें और भगवान् की भक्ति करें तो हम शारीरिक तथा भौतिक कर्मों के कल्मष से मुक्त रहकर जीवन को सफल बना सकते हैं।

श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो
यत्साम्पराये सुकृतात्षष्ठमंशम् ।
हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति ॥ १४॥

शब्दार्थ

श्रेयः—शुभ; प्रजा-पालनम्—जनता पर शासन; एव—निश्चय ही; राज्ञः—राजा के लिए; यत्—क्योंकि; साम्पराये—अगले जन्म में; सु-कृतात्—पुण्यों से; षष्ठम् अंशम्—छठा भाग; हर्ता—संग्रह करने वाला; अन्यथा—नहीं तो; हृत-पुण्यः—पुण्य से वञ्चित; प्रजानाम्—प्रजा का; अरक्षिता—रक्षा न करने वाला; कर-हारः—कर वसूल करने वाला; अघम्—पाप; अत्ति—प्राप्त करता है या भोगता है।

राजा का निर्दिष्ट धर्म है कि वह राज्य के सारे के सारे नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करे। ऐसा करने से राजा को अगले जन्म में प्रजा के पुण्यों का छठा भाग प्राप्त होता है। किन्तु जो राजा अथवा प्रशासक प्रजा से केवल कर वसूल करता है और नागरिकों को समुचित सुरक्षा प्रदान नहीं करता तो उसके पुण्य प्रजा छीन लेती है और सुरक्षा न प्रदान करने के बदले में उसे प्रजा के पापकर्मों का भागी होना पड़ता है।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि सभी लोग मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से आध्यात्मिक कार्यों में लगे रहें और भौतिक जगत के कार्यों के प्रति उदासीन हो जाँय, तो फिर कार्य

किस प्रकार आगे बढ़े? और यदि कार्यों को जैसे चलना चाहिए, वैसे आगे बढ़ना है, तो भला राज्य का प्रधान ऐसे कार्यों के प्रति उदासीन कैसे रह सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ पर *श्रेय:* शब्द का प्रयोग हुआ है। समाज में कार्यों का विभाजन भगवान् ने आँख मूँदकर या आकस्मिक रूप से नहीं किया, जैसे कि मूर्ख लोग सोचते हैं। ब्राह्मण को उचित ढंग से अपना कर्म करना चाहिए, उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को भी करना चाहिए। इससे प्रत्येक व्यक्ति जीवन की परम पूर्णता अर्थात् भवबंधन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। *भगवद्गीता* (१८.४५) में इसकी पुष्टि हुई है। *स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:*—अपना निर्दिष्ट कर्तव्य करके मनुष्य परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

भगवान् विष्णु ने महाराज पृथु को यह उपदेश नहीं दिया कि वे राज्य और प्रजा के पालन के भार को त्याग कर मुक्ति के लिए हिमालय पर्वत चले जाँय। वे तो राजा का अपना कर्तव्य निबाहते हुए मुक्ति-लाभ कर सकते हैं। राजा अथवा राज्य के प्रधान का कर्तव्य होता है कि वह देखे कि प्रजा आत्म-मोक्ष के लिए अपना-अपना कार्य कर रही है। धर्म-निरपेक्ष राज्य में जो राजा या राज्य-अध्यक्ष, प्रजा के प्रति उदासीन होता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं। आधुनिक काल में सरकार प्रजा के कर्तव्यों के लिए अनेक विधि-विधान तो बनाती है, किन्तु वह यह नहीं देखती कि नागरिक आत्मज्ञान में प्रगति कर रहे हैं अथवा नहीं। यदि सरकार इस ओर उदासीन रहती है, तो लोग मनमानी करते हैं, उन्हें ईश-साक्षात्कार या आध्यात्मिक जीवन की कोई परवाह नहीं रहती और इस प्रकार वे पापकर्मों में उलझ जाते हैं।

प्रशासकीय प्रमुख को चाहिए कि वह सामान्य जनता से केवल कर एकत्र न करे और उनके कल्याण के प्रति निष्ठुर न बना रहे। राजा का वास्तविक कर्तव्य है कि वह यह देखे कि नागरिक क्रमश: पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित हो जाँय। कृष्णभावनाभावित होने का अर्थ है समस्त पापकर्मों से मुक्ति। ज्योंही राज्य से पापकर्मों का पूर्णत: निर्मूलन हो जाता है, तो फिर युद्ध, बीमारी, दुर्भिक्ष या प्राकृतिक आपदाएँ नहीं आते। ऐसा महाराज युधिष्ठिर के शासन-काल में वास्तव में था। यदि कोई राजा या राज्याध्यक्ष प्रजा को कृष्णभक्त बनने के लिए प्रेरणा दे सकता है, तो वह प्रजा पर शासन करने के लिए योग्य है, अन्यथा उसे कर संग्रह करने का कोई अधिकार नहीं है यदि राजा प्रजा के आध्यात्मिक हितों को ध्यान में रखता है, तो उसे कर लगाने में कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार इस जीवन में प्रजा तथा

राजा दोनों सुखी रहेंगे और राजा अपने अगले जन्म में प्रजा के पुण्यों का छठा अंश प्राप्त कर सकेगा। अन्यथा पापपूर्ण प्रजा पर कर लगा कर वह उनके पाप का ही भागी होगा।

यही सिद्धान्त माता-पिता तथा गुरुओं पर भी लागू किया जा सकता है। यदि माता-पिता कुत्ते-बिल्लियों के समान सन्तानें उत्पन्न करके उन्हें आने वाली मृत्यु से नहीं बचा सकते, तो वे अपनी पाशविक सन्तानों के कार्यों के जिम्मेदार होंगे। हाल ही में ऐसी सन्तानें हिप्पी बनने लगी हैं। इसी प्रकार यदि गुरु अपने शिष्यों को पापकर्मों से विरत नहीं कर सकता तो वह उनके कर्मों का भागी होता है। समाज के आजकल के नेताओं को प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान नहीं है। चूँकि नेताओं को अल्पज्ञान है और नागरिक भी सामान्य रूप से धूर्त तथा चोर हैं, अत: मानव समाज का कल्याण नहीं हो सकता। इस समय सारे संसार में राज्य तथा नागरिकों में किसी प्रकार का समन्वय न होने के कारण सदैव तनाव, युद्ध तथा चिन्ता बनी रहती है। जो ऐसी सामाजिक दशाओं का अपरिहार्य परिणाम है।

एवं द्विजाछ्यानुमतानुवृत्त-
धर्मप्रधानोऽन्यतमोऽवितास्या: ।
ह्रस्वेन कालेन गृहोपयातान्
द्रष्टासि सिद्धाननुरक्तलोक: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; द्विज—ब्राह्मणों का; अछ्य—अग्रणी द्वारा; अनुमत—स्वीकृत; अनुवृत्त—गुरु परम्परा से प्राप्त; धर्म—धार्मिक सिद्धान्त; प्रधान:—प्रमुख; अन्यतम:—अनासक्त; अविता—रक्षक; अस्या:—पृथ्वी का; ह्रस्वेन—लघु; कालेन—समय से; गृह—अपने घर; उपयातान्—स्वत: आया हुआ; द्रष्टासि—तुम देखोगे; सिद्धान्—सिद्ध पुरुष; अनुरक्त-लोक:—प्रजा का प्रिय।

भगवान् विष्णु ने आगे कहा : हे राजा पृथु, यदि तुम विद्वान् ब्राह्मणों से शिष्य परम्परा द्वारा प्राप्त आदेशों के अनुसार प्रजा का संरक्षण करते रहोगे और यदि तुम उनके द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक नियमों का अनुसरण मनोरथों से अनासक्त रहकर करते रहोगे तो तुम्हारी सारी प्रजा सुखी रहेगी और तुमसे स्नेह रखेगी और तब तुम्हें शीघ्र ही सनकादि (सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार) चारों कुमारों जैसे मुक्त पुरुषों के दर्शन हो सकेंगे।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु ने राजा पृथु को सलाह दी कि हर व्यक्ति *वर्णाश्रम धर्म* के नियमों का पालन करे; तभी मनुष्य का इस संसार में, चाहे वह जिस स्थिति में रहे, मृत्यु के पश्चात्, मोक्ष निश्चित है किन्तु इस युग में वर्णाश्रम धर्म की पद्धति अस्त-व्यस्त हो चुकी है, अत: इन नियमों का कड़ाई से

पालन कर पाना कठिन है। जीवन में पूर्णता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय कृष्णचेतना का विकास करना है, जिस प्रकार वर्णाश्रम धर्म का पालन विविध पुरुषों द्वारा विभिन्न पदों पर रहते हुए किया जाता है। उसी प्रकार कृष्ण-चेतना के सिद्धान्तों का पालन प्रत्येक व्यक्ति द्वारा संसार के प्रत्येक भाग में किया जा सकता है।

यहाँ पर उल्लेख करने का विशेष अभिप्राय है कि मनुष्य को पराशर तथा मनु जैसे *द्विजाग्र्यों* अर्थात् अग्रणी ब्राह्मणों का अनुसरण करना चाहिए। इन ऋषियों ने पहले ही आदेश दे रखे हैं कि *वर्णाश्रम* धर्म के नियमों का किस प्रकार पालन किया जाये इसी प्रकार सनातन गोस्वामी तथा रूप गोस्वामी ने भगवान् के शुद्ध भक्त बनने के नियम दे रखे हैं। इसीलिए यह अनिवार्य है कि परम्परागत आचार्यों के उपदेशों का अनुसरण किया जाय, जिन्होंने परम्परा से गुरू से शिष्य तक पहुँचे, ज्ञान को प्राप्त किया है इस प्रकार भौतिक जीवन-यापन करते हुए तथा अपना पद छोड़े बिना भौतिक कल्मष के बन्धन से छूटा जा सकता है। इसीलिए भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को अपना घर बदलने की आवश्यकता नहीं है। उसे मात्र परम स्रोत (परम्परा) का श्रवण करके नियमों को जीवन में व्यवहृत करना होता है। इस प्रकार जीवन की परम सिद्धि—मुक्ति—को प्राप्त करके मनुष्य भगवान् के धाम को प्राप्त हो सकता है। दूसरे शब्दों में, जिस परिवर्तन की आवश्यकता है, वह शरीर में नहीं वरन् चेतना में होता है दुर्भाग्यवश इस युग में लोग शरीर के प्रति लगाव रखते हैं, आत्मा के प्रति नहीं। उन्होंने आत्मा नहीं, वरन् शरीर से सम्बद्ध अनेक *वादों* का आविष्कार कर लिया है।

प्रजातंत्र के इस युग में विधान के लिए अनेक सरकारी प्रतिनिधि मतदान करते हैं प्रतिदिन वे एक नया नियम निकालते हैं। किन्तु ये नियम अनुभवहीन बद्धजीवों द्वारा निर्मित कल्पना की उपज के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, अत: उनसे मानव समाज को किसी प्रकार की राहत नहीं मिल सकती। प्राचीन काल में यद्यपि राजा निरंकुश होते थे, किन्तु वे ऋषियों-मुनियों द्वारा स्थापित नियमों का दृढ़ता से पालन करते थे। इससे देश के शासन में कोई त्रुटि नहीं आ पाती थी और सब कुछ ठीक रहता था। प्रजा पूर्णत: पवित्र होती थी और राजा वैध कर संग्रह करता था जिससे स्थिति सुखकर रहती थी। आजकल तथाकथित प्रशासकों का चुनाव ऐसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों में से होता है, जो केवल अपना स्वार्थ देखते हैं, उन्हें शास्त्रों का कोई ज्ञान नहीं होता। दूसरे शब्दों में, प्रशासनाधिकारी नितान्त मूर्ख तथा

धूर्त होते हैं और सामान्य जनता शूद्र होती है। मूर्खों, धूर्त्तों तथा शूद्रों का यह सम्मिलन कभी भी संसार में शान्ति और सम्पन्नता नहीं ला सकता। इसीलिए हमें समाज में समय-समय पर युद्ध, साम्प्रदायिक झगड़े तथा भाई-भाई में संघर्ष इत्यादि जैसे उपद्रव देखने को मिलते हैं। ऐसी परिस्थितियों में वे न तो मनुष्य को मुक्ति की ओर ले जा सकते हैं और न मन:शान्ति प्रदान कर सकते हैं *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो भी आडम्बरपूर्ण विचारों में जीता है और शास्त्रों से सम्बन्ध नहीं रखता वह कभी सफल नहीं होता और उसे न तो सुख मिल पाता है और न मृत्यु के पश्चात् मुक्ति।

वरं च मत्कञ्चन मानवेन्द्र
वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः ।
नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभि-
र्योगेन वा यत्समचित्तवर्ती ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वरम्—आशीर्वाद; च—भी; मत्—मुझसे; कञ्चन—जो भी चाहो; मानव-इन्द्र—हे मनुष्यों के प्रमुख; वृणीष्व—माँगो; ते—तुम्हारा; अहम्—मैं; गुण-शील—उच्चगुणों तथा श्रेष्ठ आचरणों द्वारा; यन्त्रितः—मुग्ध होकर; न—नहीं; अहम्—मैं; मखैः—यज्ञों से; वै—निश्चय ही; सु-लभः—सरलता से प्राप्त; तपोभिः—तपस्या द्वारा; योगेन—योगाभ्यास के द्वारा; वा—अथवा; यत्—जिससे; सम-चित्त—समभाव वालों में; वर्ती—स्थित।

हे राजन्, मैं तुम्हारे उच्च गुणों तथा उत्तम आचरण से मुग्ध और प्रभावित हूँ; अतः तुम मुझसे मनचाहा वर माँग सकते हो। जो उत्तम गुणों तथा शील से युक्त नहीं है, वह मात्र यज्ञ, कठिन तपस्या अथवा योग के द्वारा मेरी कृपा प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु जो समस्त परिस्थितियों में समभाव बनाए रखता है, मैं उसके अन्तःकरण में सदैव सन्तुलित रहता हूं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु महाराज पृथु के उत्तम चरित्र तथा आचरण से अत्यधिक प्रसन्न थे, अत: उन्हें वर मांगने के लिए कहा। भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि उन्हें न तो महान् यज्ञों द्वारा, न ही तपस्या या योग साधना के द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है। वे तो केवल उच्च चरित्र तथा आचरण द्वारा प्रसन्न होते हैं। किन्तु ये गुण तब तक विकसित नहीं होते, जब तक कोई भगवान् का शुद्ध भक्त न बन जाए। जो कोई भी भगवान् के प्रति शुद्ध अविचल भक्ति करता है उसमें आत्मा के रूप में ये उत्तम गुण विकसित हो जाते हैं। आत्मा भगवान् का अंश होने से उनके समस्त उत्तम गुणों से युक्त रहता है। किन्तु जब आत्मा प्रकृति के गुणों से दूषित हो जाता है, तो भौतिक गुणों के अनुसार मनुष्य अच्छा या बुरा माना

जाता है। किन्तु जब मनुष्य समस्त भौतिक गुणों को पार कर जाता है, तो सारे उत्तम गुण प्रकट होते हैं। भक्तों के ऐसे छब्बीस गुण इस प्रकार हैं—(१) प्रत्येक के प्रति दयालु, (२) किसी से भी न झगड़ना, (३) परम सत्य में स्थिर रहना, (४) सबों के प्रति समता, (५) दोषहीन, (६) दानशील, (७) मृदु, (८) स्वच्छ, (९) सरल, (१०) परोपकारी, (११) शान्त, (१२) कृष्ण में पूर्ण रूप से आसक्त, (१३) अहंकारविहीन, (१४) विनयसम्पन्न, (१५) स्थिर, (१६) आत्म-संयमी (१७) मिताहारी, (१८) विवेकी, (१९) पूज्य, (२०) विनीत, (२१) गम्भीर, (२२) दयालु, (२३) मैत्रीयुक्त, (२४) कवित्वमय, (२५) पटु तथा (२६) मौन। भगवान् जीवात्माओं में इन दिव्य गुणों के विकसित होने से प्रसन्न होते हैं, कृत्रिम रूप से यज्ञ करने तथा योग साधन से नहीं। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई शुद्ध भक्त बनने के लायक नहीं होता, उसे भवबंधन से मुक्ति पाने की आशा नहीं करनी चाहिए।

मैत्रेय उवाच
स इत्थं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन विश्वजित् ।
अनुशासित आदेशं शिरसा जगृहे हरेः ॥ १७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; **सः**—उसने; **इत्थम्**—इस प्रकार; **लोक-गुरुणा**—समस्त लोकों के परम स्वामी द्वारा; **विष्वक्सेनेन**—भगवान् द्वारा; **विश्व-जित्**—विश्व पर विजय करने वाला (महाराज पृथु); **अनुशासितः**—आदेश दिया गया; **आदेशम्**—आदेश, आज्ञा; **शिरसा**—सिर से; **जगृहे**—स्वीकार किया; **हरेः**—भगवान् का।

महान् संत मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार समस्त विश्व के जीतने वाले महाराज पृथु ने भगवान् के आदेशों को शिरोधार्य किया।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के चरणकमलों में नतमस्तक होकर उनके आदेशों को स्वीकार करे। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् द्वारा कही गई हर बात को उसी रूप में अत्यन्त ध्यानपूर्वक तथा सम्मान के साथ स्वीकार किया जाए। भगवान् के वचनों में किसी प्रकार का संशोधन या परिवर्धन हमारा कार्य नहीं, जैसाकि आजकल के अनेक तथाकथित विद्वान् तथा स्वामी जो *भगवद्गीता* के वचनों पर अपनी टीका करते हैं वे ऐसा करने लगे हैं। यहाँ पर महाराज पृथु द्वारा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है कि किस प्रकार भगवान् के आदेश को स्वीकार किया जाये। परम्परा-प्रणाली से ज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है।

स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा ।
शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

स्पृशन्तम्—स्पर्श करते हुए; **पादयोः**—पाँवों का; **प्रेम्णा**—हर्षातिरेकवश; **व्रीडितम्**—लज्जित; **स्वेन**—अपने ही; **कर्मणा**—कार्यों से; **शत-क्रतुम्**—राजा इन्द्र को; **परिष्वज्य**—हृदय से लगाकर; **विद्वेषम्**—ईर्ष्या; **विससर्ज**—त्याग दिया; **ह**—निस्सन्देह।

राजा इन्द्र जो सामने खड़ा था, अपने कार्यों से अत्यन्त लज्जित हुआ और राजा पृथु के चरणकमलों का स्पर्श पाने के लिए उनके समक्ष गिर पड़ा। किन्तु पृथु महाराज ने अत्यन्त हर्षातिरेक में उसे तुरन्त हृदय से लगा लिया और यज्ञ के अश्व को चुराने के कारण उत्पन्न समस्त ईर्ष्या त्याग दी।

तात्पर्य : ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जब मनुष्य किसी वैष्णव के चरणकमलों के प्रति अपराध कर देता है और बाद में पछताता है। यहाँ पर भी हम देखते हैं कि यद्यपि स्वर्ग का राजा इन्द्र इतना शक्तिशाली था कि भगवान् विष्णु के साथ में था, किन्तु उसने अपने को महाराज पृथु के यज्ञ के घोड़े को चुराने के लिए अपराधी अनुभव किया। वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करने वाले को भगवान् कभी क्षमा नहीं करते। इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। परम योगी तथा महामुनि दुर्वासा ने अम्बरीष महाराज का अपमान किया, तो उन्हें अम्बरीष महाराज के चरणकमलों पर गिरना पड़ा।

इन्द्र ने राजा पृथु के चरणकमलों पर गिरने का विचार किया, किन्तु राजा इतना उदार वैष्णव था कि महाराज इन्द्र को अपने चरणों पर गिरने नहीं देना चाहता था, अपितु उसने तुरन्त उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। वे दोनों ही एक दूसरे पर क्रुद्ध थे और ईर्ष्यालु थे; किन्तु दोनों ही वैष्णव थे, अतः उन्हें अपनी ईर्ष्या के कारण को समंजित करना पड़ा। वैष्णवों के मध्य सहयोगी आचरण का यह सर्वोत्तम उदाहरण है। किन्तु आजकल लोग वैष्णव न होने के कारण आपस में निरन्तर झगड़ते रहते हैं और मानव जीवन का लक्ष्य पूरा किये बिना मृत्यु प्राप्त करते हैं। संसार में कृष्णभावनामृत आन्दोलन को प्रसारित करने की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि भले ही लोग कभी-कभी एक दूसरे पर रुष्ट तथा मनोमालिन्यपूर्ण रहें, किन्तु कृष्णभावनाभावित होने से ऐसी प्रतियोगिता, स्पर्धा तथा ईर्ष्या को बिना कठिनाई के समंजित किया जा सकता है।

भगवानथ विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः ।
समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अथ—तदनन्तर; विश्व-आत्मा—परमात्मा; पृथुना—राजा पृथु द्वारा; उपहृत—प्रदत्त; अर्हणः—पूजा की सारी सामग्री; समुज्जिहानया—क्रमशः वर्द्धित; भक्त्या—जिसकी भक्ति; गृहीत—पकड़ा हुआ; चरण-अम्बुजः—चरणकमल।

राजा पृथु ने अपने ऊपर कृपालु भगवान् के चरण-कमलों की प्रभूत पूजा की। इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों की आराधना करते हुए भक्ति में महाराज पृथु का आनन्द क्रमशः बढ़ता गया।

तात्पर्य : जब भक्त के शरीर में विविध प्रकार का भावातिरेक प्रकट हो तो समझना चाहिए कि भक्ति पूर्णता को प्राप्त हो चुकी है। दिव्य आनन्द के कई प्रकार हैं, यथा रोना, हँसना, गिरना, प्रमत्त के सदृश चिल्लाना इत्यादि ये सारे लक्षण कभी-कभी भक्त के शरीर में दिखते हैं। ये *अष्ट-सात्त्विक* विकार कहलाते हैं, जिनका अर्थ है आठ प्रकार के दिव्य रूपान्तर इनका अनुकरण नहीं किया जा सकता, किन्तु जब भक्त सचमुच सिद्ध हो जाता है, तो ये सारे लक्षण उसके शरीर में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। भगवान् तो भक्तवत्सल हैं, अर्थात् वे अपने विशुद्ध भक्त के प्रति स्नेह रखते हैं। अतः भक्त तथा भगवान् के बीच जो दिव्य आनन्दमय आदान-प्रदान होता है, वह इस जगत के कार्य-कलापों की तरह नहीं होता।

प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः ।
पश्यन्पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत्सताम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रस्थान—जाने के लिए; अभिमुखः—उद्यत; अपि—यद्यपि; एनम्—उसको (पृथु को); अनुग्रह—दया से; विलम्बितः—रोक लिया गया; पश्यन्—देखते हुए; पद्म-पलाश-अक्षः—जिसके नेत्र कमल की पंखुड़ियों के समान हैं; न—नहीं; प्रतस्थे—प्रस्थान किया; सुहृत्—शुभेच्छु; सताम्—भक्तों का।

भगवान् प्रस्थान करने ही वाले थे, किन्तु वे राजा पृथु के व्यवहार के प्रति इतने वत्सल हो चले थे कि वे गये नहीं। अपने कमलनेत्रों से महाराज पृथु के आचरण को देखकर वे रुक गये, क्योंकि वे सदा ही अपने भक्तों के हितैषी हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *सुहृत्सताम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् अपने भक्त पर सदैव वत्सल रहते हैं और सदैव उसके हित के लिए सोचते रहते हैं। यह पक्षपात नहीं है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् सबों के लिए समान हैं (*समोऽहं सर्वभूतेषु*), किन्तु जो उनकी सेवा करता है वे

उसके प्रति विशेष वत्सल रहते हैं किसी दूसरे स्थान पर, भगवान् कहते हैं कि भक्त सदैव उनके हृदय में वास करता है और वे भी सदैव भक्त के हृदय में वास करते हैं।

अपने विशुद्ध भक्त के प्रति भगवान् की यह वत्सलता न तो अस्वाभाविक है और न किसी प्रकार का पक्षपात है। उदाहरणार्थ, पिता अपने अनेक पुत्रों के होते हुए भी कभी-कभी उस एक पुत्र के प्रति विशेष स्नेह रखता है, जो उसके प्रति झुकाव रखता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (१०.१०) में की गई है :

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

जो लोग प्रेम तथा स्नेह से भगवान् की भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं, वे प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा रूप भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहते हैं। भगवान् भक्त से दूर नहीं हैं। वे प्रत्येक हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु केवल भक्त ही उनके अस्तित्व को जान सकता है और प्रत्यक्ष सम्पर्क में होने से वह किसी भी क्षण भगवान् से आदेश प्राप्त करता है। अतः भक्त द्वारा न तो त्रुटि करने का कोई अवसर आता है और न भगवान् की ओर से अपने शुद्ध भक्तों का कोई पक्षपात किया जाता है।

स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं
विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः ।
न किञ्चनोवाच स बाष्पविक्लवो
हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; आदि-राजः—आदि राजा; रचित-अञ्जलिः—हाथ जोड़े हुए; हरिम्—भगवान् को; विलोकितुम्—देखने के लिए; न—नहीं; अशकत्—समर्थ था; अश्रु-लोचनः—अश्रुपूरित नेत्र; न—नहीं; किञ्चन—कुछ भी; उवाच—कहा; सः—उसने; बाष्प-विक्लवः—वाणी रुद्ध होने से, गद्गद् कण्ठ से; हृदा—अपने हृदय से; उपगुह्य—आलिंगन करके; अमुम्—भगवान् को; अधात्—रहता रहा; अवस्थितः—खड़ा।

नेत्रों में अश्रु भर आने तथा वाणी रुद्ध हो जाने आदि से राजा महाराज पृथु न तो ठीक से भगवान् को देख सके और न भगवान् को सम्बोधित करके कुछ बोल सके। उन्होंने केवल अपने हृदय के भीतर भगवान् का आलिंगन किया और हाथ जोड़े हुए उसी तरह खड़े रहे।

तात्पर्य : जिस प्रकार *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण को *आदि-पुरुष* कहा गया है उसी प्रकार इस श्लोक में राजा पृथु को, भगवान् का शक्त्यावेश अवतार होने के कारण, *आदि राजः* कहा गया है। महान् भक्त

होने के साथ ही वे परम वीर थे जिसने अपने राज्य के समस्त दुष्टों पर विजय पा ली थी। वे लड़ने में स्वर्ग के राजा इन्द्र के समान पराक्रमी थे। उन्होंने अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान की और उन्हें पुण्यकार्यों तथा भगवान् की भक्ति में लगाये रखा। उन्होंने सभी प्रकार की विपत्तियों में प्रजा को शरण प्रदान किये बिना एक पाई भी कर के रूप में वसूल नहीं की। जीवन की सबसे बड़ी विपत्ति है ईश्वरविहीन होना और इस प्रकार पापी बन जाना। यदि राज्य का प्रधान या राजा प्रजा को अवैध मैथुन, मांसाहार, मादक द्रव्य-सेवन तथा द्यूतक्रीड़ा की छूट देता है, तो राजा उसके लिए उत्तरदायी होता है और उसे प्रजा के पापों का फल भोगना पड़ता है, क्योंकि वह प्रजा से वृथा कर वसूल करता है। शासक के लिए ये इतने सारे नियम हैं और चूँकि राजा पृथु ने इन सभी नियमों का पालन किया, इसलिए उन्हें *आदि राज:* कहा गया है।

महाराज पृथु जैसा उत्तरदायी राजा प्रथम कोटि का शुद्ध भक्त भी हो सकता है। राजा पृथु के आचरण में हम स्पष्ट देखते हैं कि किस प्रकार वे भीतर तथा बाहर से शुद्ध भक्ति में भावविभोर हो गए थे।

आज ही हमने बम्बई के समाचार पत्र में पढ़ा है कि सरकार मद्य-निषेध कानून को वापस लेने जा रही है। गांधीजी के असहयोग आन्दोलन के समय से ही बम्बई में मद्यपान की छूट नहीं थी। किन्तु दुर्भाग्यवश नागरिक इतने चालाक हैं कि उन्होंने अवैध शराब बनाना बढ़ा दिया है और शराब दुकानों में खुले रूप में न बिक कर, शौचालयों तथा अन्य ऐसे ही कुत्सित स्थानों में बिकती है। इस प्रकार की तस्करी को न रोक पाने के कारण सरकार ने सस्ते मूल्य पर शराब की पूर्ति करने का निश्चय किया है, जिससे लोग शौचालयों की अपेक्षा सरकार से शराब खरीदें। सरकार नागरिकों के पापपूर्ण जीवन को बदल पाने में असफल रही है, अत: राजकोष को भरने के लिए और कर की क्षति न हो, इस उद्देश्य से सरकार ने जनता के लिए कम मूल्य पर शराब बनाने का निश्चय किया है।

इस प्रकार की सरकार पापमय जीवन के फलों को अर्थात् युद्ध, अकाल, भूकम्प तथा अन्य विपदाओं को रोक नहीं सकती। प्रकृति का नियम है कि जब ईश्वर के नियम में त्रुटियाँ होने लगती हैं (जिसे *भगवद्गीता* में *धर्मस्य ग्लानि:* कहा गया है), तो उस समय युद्ध के अचानक छिड़ जाने के रूप में कठोर दण्ड मिलता है। हमने हाल ही में भारत तथा पाकिस्तान के बीच छिड़े युद्ध को अपनी आँखों

देखा है। एक पखवाड़े के भीतर ही जन तथा धन की अपार क्षति हुई और सम्पूर्ण संसार में हलचल मच गई थी। पापमय जीवन के यही परिणाम हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य लोगों को शुद्ध और पूर्ण बनाना है। यदि हम कृष्णचेतना के फलस्वरूप आंशिक रूप में भी शुद्ध हो सकें, जैसाकि *भागवत* में कहा गया है (*नष्टप्रायेष्वभद्रेषु*) तो कामवासना, लालच, भव रोग कम हो जाँय। यह *श्रीमद्भागवत* अथवा कृष्णचेतना के सन्देश को प्रसारित करने से ही सम्भव है। बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने सुरक्षा कोष में हजारों रुपये दिये हैं, जो बारूद के रूप में धन को भस्म कर रहा है, किन्तु इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि यदि उनसे कृष्णभावनामृत आन्दोलन की प्रगति के लिए धन माँगा जाता है, तो वे आनाकानी करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में संसार में समय-समय पर उथल-पुथल तथा युद्ध आरम्भ होते रहेंगे, जो कृष्णभावनाभावित न होने का परिणाम है।

अथावमृज्याश्रुकला विलोकयन्-
नतृप्तदृग्गोचरमाह पूरुषम् ।
पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस उन्नते
विन्यस्तहस्ताग्रमुरङ्गविद्विषः ॥ २२॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अवमृज्य—पोंछ कर; अश्रु-कलाः—अपने नेत्रों के अश्रु; विलोकयन्—देखते हुए; अतृप्त—असंतुष्ट; दृक्-गोचरम्—आँखों को दिखाई पड़ने वाला; आह—कहा; पूरुषम्—भगवान् को; पदा—अपने चरणकमलों से; स्पृशन्तम्—स्पर्श करते हुए; क्षितिम्—पृथ्वी; अंसे—कंधे पर; उन्नते—उठा हुआ; विन्यस्त—बिखरा; हस्त—हाथ का; अग्रम्—अगला भाग; उरङ्ग-विद्विषः—सर्पों के शत्रु, गरुड़ का।

भगवान् अपने चरण-कमलों से पृथ्वी को स्पर्श करते हुए खड़े थे और उनके हाथ का अगला भाग सर्पों के शत्रु गरुड़ के उन्नत कंधे पर था। महाराज पृथु नेत्रों से अश्रु पोंछते हुए भगवान् को देखने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो राजा उन्हें देखकर अघा नहीं रहा था। इस प्रकार राजा ने निम्नलिखित स्तुतियाँ अर्पिथ कीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में उल्लेखनीय बात यह है कि भगवान् पृथ्वी के ऊपर इसका स्पर्श-सा करते हुए खड़े थे। ब्रह्मलोक से लेकर स्वर्गलोक तक के उच्चलोकों के वासी आध्यात्मिक जीवन में इतने आगे बढ़े हुए हैं कि जब भी वे इस लोक में या अन्य अधोलोकों में आते हैं, तो वे भारहीनता अपनाए रहते हैं जिसका अर्थ है कि वे पृथ्वी का स्पर्श किये बिना खड़े रह सकते हैं। भगवान् विष्णु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, किन्तु इस ब्रह्माण्ड के किसी एक लोक में निवास करने के कारण वे इसके

किसी देवता की भाँति आचरण करते हैं। जब वे पृथु महाराज के समक्ष प्रथम बार प्रकट हुए तो वे पृथ्वी का स्पर्श नहीं कर रहे थे, किन्तु जब वे महाराज पृथु के आचरण से सन्तुष्ट हो गये तो वैकुण्ठवासी नारायण की भाँति व्यवहार करने लगे। पृथु के स्नेह में आकर उन्होंने पृथ्वी का स्पर्श किया, किन्तु उन्होंने अपने हाथ के अगले भाग को गरुड़ के उन्नत कंधे पर रखा जिससे वे गिर न पड़े, क्योंकि भगवान् को पृथ्वी पर खड़े रहने का अभ्यास नहीं है। ये सभी महाराज पृथु के प्रति उनकी वत्सलता के लक्षण हैं। अपने को परम भाग्यशाली मानकर पृथु महाराज हर्षातिरेक के कारण भगवान् को ठीक से देख नहीं पाये, फिर भी उन्होंने रुद्ध वाणी से उनकी स्तुति करनी प्रारम्भ की।

पृथुरुवाच
वरान्विभो त्वद्वरदेश्वराद्बुधः
कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।
ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां
तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पृथुः उवाच—पृथु महाराज ने कहा; वरान्—आशीर्वाद, वर; विभो—हे परमेश्वर; त्वत्—तुमसे; वर-द-ईश्वरात्—भगवान् से, जो वर देने वालों में अग्रणी हैं; बुधः—बुद्धिमान पुरुष; कथम्—कैसे; वृणीते—याचना कर सकता है; गुण-विक्रिया—प्रकृति के गुणों से मोहग्रस्त; आत्मनाम्—जीवात्माओं का; ये—जो; नारकाणाम्—नरकवासी जीवात्माओं का; अपि—भी; सन्ति—हैं; देहिनाम्—देहधारियों का; तान्—वे सब; ईश—हे ईश्वर; कैवल्य-पते—तादात्म्य के दाता; वृणे—याचना करता हूँ; न—नहीं; च—भी।

हे प्रभो, आप वर देने वाले देवों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति आपसे ऐसे वर क्यों माँगेगा जो प्रकृति के गुणों से मोहग्रस्त जीवात्माओं के निमित्त हैं? ऐसे वरदान तो नरक में वास करने वाली जीवात्माओं को भी अपने जीवन-काल में स्वतः प्राप्त होते रहते हैं। हे भगवन्, आप निश्चित ही अपने साथ तादात्म्य प्रदान कर सकते हैं, किन्तु मैं ऐसा वर नहीं चाहता।

तात्पर्य : मनुष्य की याचना के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वर होते हैं। कर्मियों के लिए श्रेष्ठ वर उच्चलोकों की प्राप्ति है, जहाँ जीवन-काल दीर्घ है और जीवन तथा सुख का स्तर अधिक ऊँचा है। अन्य लोग, यथा ज्ञानी तथा योगी भगवान् में तादात्म्य के इच्छुक रहते हैं। यह *कैवल्य* है। इसीलिए भगवान् को *कैवल्यपति* कहा गया है। किन्तु भक्तों को भगवान् से एक भिन्न प्रकार का वर प्राप्त होता है। वे न ही स्वर्ग की चिन्ता करते हैं और न ही भगवान् में तादात्म्य चाहते हैं। भक्तों के अनुसार

कैवल्य और भगवान् में तादात्म्य तथा नरक में कोई अन्तर नहीं होता। इस प्रकार जगत का प्रत्येक प्राणी नारक कहलाता है, क्योंकि यह संसार स्वयं नारकीय होता है। महाराज पृथु ने कहा कि उन्हें न तो कर्मियों द्वारा अभीप्सित वर की कामना है, न ज्ञानियों तथा योगियों द्वारा अभीप्सित वरों की। भगवान् चैतन्य के परम भक्त श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती प्रभु ने कहा है कि *कैवल्य* नारकीय जीवन से श्रेष्ठ नहीं होता और जहाँ तक स्वर्गलोक के आनन्दों की बात है, वे मायाजाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। भक्त इनकी इच्छा नहीं रखते। भक्तों को तो श्रीब्रह्मा या श्रीशिव द्वारा ग्रहण किये गये पदों की भी कोई परवाह नहीं रहती, न ही वे भगवान् विष्णु की समता करना चाहते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त होने के नाते पृथु महाराज ने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी।

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्-
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कामये—इच्छा करता हूँ; नाथ—हे स्वामी; तत्—वह; अपि—भी; अहम्—मैं; क्वचित्—किसी भी समय; न—नहीं; यत्र—जहाँ; युष्मत्—तुम्हारे; चरण-अम्बुज—चरणकमलों का; आसवः—अमृत; महत्-तम—सबसे बड़े भक्तों के; अन्तः-हृदयात्—अन्तस्तल से; मुख—मुखों से; च्युतः—निकली; विधत्स्व—प्रदान कीजिये; कर्ण—कान; अयुतम्—दस लाख; एषः—यह; मे—मेरा; वरः—वर।

हे भगवान्, मैं आपसे तादात्म्य के वर की इच्छा नहीं करता, क्योंकि इसमें आपके चरण-कमलों का अमृत रस नहीं है। मैं तो दस लाख कान प्राप्त करने का वर माँगता हूँ जिससे मैं आपके शुद्ध भक्तों के मुखारविन्दों से आपके चरण-कमलों की महिमा का गान सुन सकूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में महाराज पृथु ने भगवान् को *कैवल्य-पति* कहकर सम्बोधित किया है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे *कैवल्य* चाह रहे थे। इसका स्पष्टीकरण इस श्लोक में हुआ है : "हे भगवान्! मैं ऐसा वर नहीं चाहता।" महाराज पृथु भगवान् की महिमा के श्रवण के लिए दस लाख कान चाहते थे। उन्होंने इसका विशेष उल्लेख किया है कि भगवान् की महिमा शुद्ध भक्तों के मुख से निकलनी चाहिए जो अपने अन्तस्तल से बोलते हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में (१.१.३) में कहा गया है—*शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्*—श्रीशुकदेव गोस्वामी के मुखारविन्द से निस्सृत होने के कारण *श्रीमद्भागवत* और अधिक सुस्वादु बन गया। हम यह सोच सकते हैं कि भगवान् की महिमा तो किसी

के भी मुख से, चाहे भक्त हो या अभक्त, निकल सकती है, किन्तु यहाँ पर विशेष रूप से उल्लिखित है कि भगवान् की महिमा शुद्ध भक्तों के हृदय से निकलनी चाहिए। श्रील सनातन गोस्वामी ने अभक्तों के मुख से भगवद्-महिमा सुनने की पूरी तरह से मनाही की है। *श्रीमद्भागवत* के अनेक व्यावसायिक कथावाचक हैं, जो अत्यन्त आलंकारिक ढंग से कथा कहते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त उनके मुख से कथा सुनना पसन्द नहीं करते, क्योंकि ऐसा महिमा-वर्णन मात्र भौतिक ध्वनि का उच्चारण है। किन्तु जब यही महिमा शुद्ध भक्त के मुख से सुनी जाती है, तो भगवान् की महिमा का तुरन्त प्रभाव पड़ता है।

भागवत (३.२५.२५) में आये हुए *सतां प्रसंगान् मम वीर्य संविदः* शब्दों का अर्थ है, जब शुद्ध भक्त भगवान् की महिमा का उच्चारण करता है, तो वह प्रभावशाली होती है। ब्रह्माण्ड में भगवान् के असंख्य भक्त हैं और वे अनन्तकाल से भगवान् की महिमा का वर्णन करते रहे हैं, किन्तु तो भी उसका कोई अन्त नहीं है। इसीलिए पृथु महाराज ने असंख्य कान माँगे जिस प्रकार कि रूप गोस्वामी ने भी भगवान् के गुणगान करने तथा सुनने के लिए लाखों जीभों तथा कानों की याचना की थी। दूसरे शब्दों में, यदि हमारे कान निरन्तर भगवान् की महिमा को सुनने में व्यस्त रहें तो उन्हें उस मायावादी दर्शन को सुनने का अवकाश ही नहीं मिल सकेगा जिसके कारण आध्यात्मिक उन्नति संकट में फँसी है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि यदि कोई मनुष्य मायावादी चिन्तक से भगवान् के कार्य-कलापों के विषय में सुनता है, तो भले ही वह वैदिक साहित्य क्यों न हो, अन्ततः उसका विनाश हो जाता है। ऐसे मायावादी दर्शन को सुनकर आध्यात्मिक जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो
भवत्पदाम्भोजसुधा कणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥ २५॥

शब्दार्थ

सः—वह; उत्तम-श्लोक—चुने हुए श्लोकों से प्रशंसित, हे भगवान्; महत्—महान् भक्तों के; मुख-च्युतः—मुख से निकली; भवत्—आपके; पद-अम्भोज—चरणकमलों से; सुधा—अमृत के; कण—छोट-छोटे खण्ड; अनिलः—सुखकर वायु; स्मृतिम्—स्मरण शक्ति; पुनः—फिर; विस्मृत—भूली हुई; तत्त्व—सत्य के प्रति; वर्त्मनाम्—ऐसे पुरुषों का जिनका पथ; कु-योगिनाम्—जो भक्ति में नहीं लगे, ऐसे पुरुषों का; नः—हम सबों का; वितरति—पुनः देता है; अलम्—वृथा; वरैः—अन्य वर।

हे भगवान्, महान् पुरुष आपका महिमा-गान उत्तम श्लोकों द्वारा करते हैं। आपके चरण-कमलों की प्रशंसा केसर कणों के समान है। जब महापुरुषों के मुखों से निकली दिव्य वाणी

आपके चरण-कमलों की केसर-धूलि की सुगन्ध का वहन करती है, तो विस्मृत जीवात्मा आपसे अपने सम्बन्ध को स्मरण करता है। इस प्रकार भक्त-गण क्रमशः जीवन के वास्तविक मूल्य को समझ पाते हैं। अतः हे भगवान्, मैं आपके शुद्ध भक्त के मुख से आपके विषय में सुनने का अवसर प्राप्त करने के अतिरिक्त किसी अन्य वर की कामना नहीं करता।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में व्याख्या की जा चुकी है कि शुद्ध भक्त के मुख से ही भगवान् की महिमा सुननी चाहिए। इसकी और आगे व्याख्या यहाँ की जा रही है। शुद्ध भक्त की दिव्य वाणी इतनी शक्तिमान होती है कि उसमें जीवात्मा को भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध का स्मरण हो आता है। इस जगत में माया के वशीभूत होने से हमने भगवान् के प्रति अपने सम्बन्ध का विस्मरण कर दिया है, जिस प्रकार कि प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य अपने कर्तव्यों को भूल जाता है। वेदों में कहा गया है कि हम सभी माया के प्रभाव के अन्तर्गत सोये हुए हैं। हमें इस नींद से जगना है और सही सेवा में तत्पर होना है, तभी हम इस मनुष्य-जीवन का समुचित लाभ उठा सकते हैं। ठाकुर भक्तिविनोद के एक गीत में आया है कि भगवान् चैतन्य कहते हैं—*जीव जाग, जीव जाग।* भगवान् प्रत्येक सुप्त जीवात्मा को जगने और भक्ति में लगने के लिए कहते हैं जिससे उसके इस जीवन के उद्देश्य की पूर्ति हो सके। यह उद्बोधन शुद्ध भक्त के मुख से निकलता है।

शुद्ध भक्त भगवान् के चरणारविन्द में शरण लेकर सदैव उनकी सेवा करता है, अतः वह भगवान् के चरणकमलों पर बिखरे केसर के कृपा-कणों के निरन्तर सम्पर्क में रहता है। यद्यपि जब शुद्ध भक्त बोलता है, तो उसकी वाणी इस भौतिक आकाश की ध्वनि से मेल खाती है, किन्तु आध्यात्मिक रूप से यह इतनी शक्तिशाली होती है कि यह भगवान् के चरणकमलों पर बिखरी केसर धूलि का स्पर्श करती है। ज्योंही सुप्त जीवात्मा शुद्ध भक्त के मुख से निकली शक्तिशाली वाणी को सुनता है उसे तत्क्षण भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध का स्मरण हो आता है, यद्यपि उस क्षण तक वह सब कुछ भूला हुआ था।

अतः बद्धजीव के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि वह शुद्ध भक्त के मुख से श्रवण करे, क्योंकि वह सारी भौतिक इच्छाओं या प्राकृतिक गुणों के कल्मष से रहित होकर भगवान् के चरणों पर पूर्ण रूप से समर्पित रहता है। हम सभी *कुयोगी* हैं, क्योंकि हम भगवान् के प्रति नित्य दास के रूप में अपने

सम्बन्ध को भूलकर भौतिक जगत की सेवा में तल्लीन रहते हैं। हमारा यह कर्तव्य है कि हम *कुयोगी* बने हुए पद से उठकर *सुयोगी* बनें। शुद्ध भक्त से श्रवण विधि की संस्तुति समस्त वैदिक शास्त्रों में की गई है, किन्तु भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने विशेष रूप से इसे कहा है। मनुष्य जिस स्थिति में है, चाहे वह जैसी भी हो, उसी में रहते हुए यदि वह शुद्ध भक्त के मुख से सुनता है, तो धीरे-धीरे वह भगवान् से अपने सम्बन्ध को समझता है और उनकी प्रेमाभक्ति करके जीवन को सफल बनाता है। अत: आध्यात्मिक ज्ञान की दिशा में उन्नति करने के लिए शुद्ध भक्त के मुख से श्रवण की विधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे
यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत् ।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं
श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसङ्ग्रहेच्छया ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यशः—कीर्ति; शिवम्—कल्याणकारी, मंगलमय; सु-श्रवः—हे सुकीर्ति वाले भगवान्; आर्य-सङ्गमे—उच्च भक्तों की संगति में; यदृच्छया—जिस-तिस प्रकार, जैसे-तैसे; च—भी; उपशृणोति—सुनता है; ते—तुम्हारा; सकृत्—एक बार भी; कथम्—कैसे; गुण-ज्ञः—उत्तम गुणों की प्रशंसा करने वाला; विरमेत्—रुक सकता है; विना—जब तक; पशुम्—पशु; श्रीः—सम्पत्ति की देवी, लक्ष्मीजी; यत्—जो; प्रवव्रे—स्वीकृत; गुण—आपके गुण; सङ्ग्रह—प्राप्त करने की; इच्छया—इच्छा से।.

हे अत्यन्त कीर्तिमय भगवान्, यदि कोई शुद्ध भक्तों की संगति में रहकर आपके कार्यकलापों की कीर्ति का एक बार भी श्रवण करता है, तो जब तक कि वह पशु तुल्य न हो, वह भक्तों की संगति नहीं छोड़ता, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान पुरुष ऐसा करने की लापरवाही नहीं करेगा। आपकी महिमा के कीर्तन और श्रवण की पूर्णता तो धन की देवी लक्ष्मी जी द्वारा तक स्वीकार की गई थीं जो आपके अनन्त कार्यकलापों तथा दिव्य महिमा को सुनने की इच्छुक रहती थीं।

तात्पर्य : इस संसार में भक्तों की संगति (*आर्य संगम*) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। *आर्य* शब्द का अर्थ है आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगतिशील। मानव जाति के इतिहास में आर्य कुल को विश्व की अत्यन्त उन्नत जाति माना जाता है, क्योंकि उसने वैदिक सभ्यता ग्रहण की होती है। आर्य कुल सारे संसार में फैला हुआ है और भारतीय-आर्य कहलाता है। पुरा इतिहास काल में आर्य कुल के सभी सदस्य वैदिक नियमों का पालन करते थे जिसके कारण वे आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति कर सके। राजा राजर्षि

कहलाते थे, तो इस प्रकार से क्षत्रिय के रूप में अथवा जनता के रक्षकों की भाँति शिक्षित होते थे और आध्यात्मिक जीवन में इतने उन्नत थे कि नागरिकों को कोई कष्ट नहीं होता था।

आर्य कुल द्वारा भगवान् के कीर्तिमान की अत्यधिक बड़ाई की जाती है। यद्यपि अन्यों के लिए कोई प्रतिबंध नहीं है, किन्तु आर्य वंश आध्यात्मिक जीवन के सार को जल्दी ग्रहण कर सकता है। तो फिर यूरोपियों तथा अमरीकियों में कृष्णचेतना को इतनी सरलता से क्यों फैलाया जा रहा है? इतिहास बताता है कि जब ये उपनिवेशवाद फैलाना चाह रहे थे तो इन्होंने अपना जौहर दिखाया, किन्तु आजकल भौतिक विज्ञान की उन्नति के कारण दूषित होने से उनके लड़के तथा नाती-पोते दुराचारी बन रहे हैं। इसका कारण है कि वे अपनी आदि आध्यात्मिक संस्कृति, जो कि वैदिक सभ्यता है, भूलते जा रहे हैं। इस समय आर्य कुल के ये वंशज कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अत्यन्त गम्भीरता से अपना रहे हैं। अन्य लोग भी, जो शुद्ध भक्तों के मुख से हरे कृष्ण महामंत्र का जप सुनते तथा उनकी संगति करते हैं, दिव्य उच्चारण से मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। ये दिव्य उच्चारण यदि आर्यों द्वारा किये जाते हैं, तो अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं, किन्तु भले ही कोई आर्यकुल का न हो, वह महामंत्र को केवल सुनकर वैष्णव हो जाता है, क्योंकि उच्चारण का प्रत्येक व्यक्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

महाराज पृथु इंगित करते हैं कि भगवान् नारायण की सतत संगिनी लक्ष्मीजी भगवान् की महिमा को विशेष रूप से सुनने की इच्छुक रहती थीं और उन्होंने शुद्ध भक्त गोपियों की संगति के लिए कठिन तपस्या की थी। मायावादी चिन्तक पूछ सकता है कि हरे कृष्ण महामंत्र का वर्षों तक निरन्तर जप क्यों किया जाये, क्यों न रुककर *कैवल्य* या *मोक्ष* या तादात्म्य का प्रयत्न किया जाय? इसके उत्तर में महाराज पृथु का दृढ़तापूर्वक कथन है कि इस जप का आकर्षण इतना अधिक होता है कि कोई पशु ही इस विधि को त्याग सकता है। यदि कोई संयोगवश भी इस दिव्य ध्वनि के सम्पर्क में आता है, तो भी ऐसा होता है। इस सम्बन्ध में पृथु महाराज अत्यन्त दृढ़ हैं—केवल पशु ही हरे कृष्ण जप का त्याग कर सकता है। जो पशु नहीं हैं वरन् वास्तव में बुद्धिमान, उन्नत, मानवीय, सभ्य पुरुष हैं, वे हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे महामंत्र का जप त्याग नहीं सकते।

अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं

गुणालयं पद्मकरेव लालसः ।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलि-
र्न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः ॥ २७॥

शब्दार्थ

अथ—**अतः**; आभजे—**मैं भक्ति करूँगा**; त्वा—**तुम्हारे प्रति**; अखिल—**समस्त**; पूरुष-उत्तमम्—**पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्**; गुण-आलयम्—**समस्त दिव्य गुणों के आगार**; पद्म-करा—**कमल धारण करने वाली लक्ष्मीजी**; इव—**सदृश**; लालसः—**इच्छुक**; अपि—**निस्सन्देह**; आवयोः—**लक्ष्मी का तथा मेरा**; एक-पति—**एक स्वामी, पतिव्रता**; स्पृधोः—**स्पर्धा करते हुए**; कलिः—**झगड़ा**; न—**नहीं**; स्यात्—**हो सकता है**; कृत—**किया हुआ**; त्वत्-चरण—**आपके चरणकमलों के प्रति**; एक-तानयोः—**एकाग्रता**।

अब मैं भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न रहना और कमलधारिणी लक्ष्मीजी के समान सेवा करना चाहता हूँ, क्योंकि भगवान् समस्त दिव्य गुणों के आगार हैं। मुझे भय है कि लक्ष्मीजी तथा मेरे बीच झगड़ा छिड़ जाएगा, क्योंकि हम दोनों एक ही सेवा में एकाग्र भाव से लगे होंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को *अखिल पुरुषोत्तम* कहकर सम्बोधित किया गया है। *पुरुष* का अर्थ ''भोक्ता'' है और *उत्तम* का अर्थ ''सर्वश्रेष्ठ।'' संसार में अनेक प्रकार के भोक्ता हैं। सामान्य रूप से इन्हें तीन वर्गों में रखा जाता है—बद्ध, मुक्त तथा शाश्वत। वेदों में परमेश्वर को शाश्वतों का परम शाश्वत कहा गया है (*नित्यो नित्यानाम्*)। परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही नित्य हैं। परम नित्यों को *विष्णु तत्त्व* अर्थात् भगवान् विष्णु तथा उनके अंश कहा जाता है। अत: *नित्य* से भगवान् का, कृष्ण से लेकर महाविष्णु, नारायण तथा श्रीकृष्ण के अन्य विस्तारों का बोध होता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है, (*रामादि मूर्तिषु*) भगवान् विष्णु के लाखों करोड़ों विस्तार हैं, जो राम, नृसिंह, वराह तथा अन्य अवतारों के रूप में हैं। वे सभी नित्य कहलाते हैं।

मुक्त शब्द से उन जीवात्माओं का बोध होता है, जो इस भौतिक संसार में कभी नहीं आते। बद्धजीव वे हैं, जो इस संसार में प्राय: शाश्वत रूप से रह रहे हैं। ये बद्धजीव भौतिक संसार में प्रकृति के तीन तापों से मुक्त होने और जीवन का आनन्द उठाने के लिए अत्यधिक संघर्ष करते रहते हैं, जबकि मुक्त पहले से ही मुक्त हुए रहते हैं। वे कभी इस भौतिक जगत में नहीं आते। भगवान् विष्णु इस भौतिक जगत के स्वामी हैं, अत: प्रकृति द्वारा उनके नियंत्रित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फलत: भगवान् विष्णु को यहाँ पर *पुरुषोत्तम* अर्थात् *विष्णु तत्त्वों* तथा *जीव तत्त्वों* में सर्वश्रेष्ठ कहकर सम्बोधित किया गया है। अत: भगवान् विष्णु से *जीव तत्त्व* की तुलना या समता करना एक प्रकार का

अपराध है। मायावादी चिन्तक जीव तथा परमेश्वर को समान और एक मानते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु के चरणकमलों के प्रति यह सबसे बड़ा अपराध है।

भौतिक जगत में हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि निम्न वर्ग के पुरुष द्वारा श्रेष्ठ व्यक्ति की पूजा होती है। इसी प्रकार *पुरुषोत्तम* अर्थात् सबसे महान्, भगवान् कृष्ण या विष्णु की पूजा अन्यों द्वारा की जाती है। इसीलिए पृथु महाराज ने निश्चय किया कि वे भगवान् विष्णु के चरणकमलों की सेवा में लगे रहेंगे। पृथु महाराज को विष्णु का अवतार माना जाता है, किन्तु हैं, वे शक्त्यावेश अवतार कहलाते हैं। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *गुणालयम्* है, जो विष्णु को समस्त दिव्य गुणों के आगार रूप में बताता है। मायावादी चिन्तक परम सत्य की दृष्टि से *निर्गुण*—गुणों से हीन—मानते हैं, किन्तु वास्तव में वे उत्तम गुणों के आगार हैं। भगवान् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण है भक्तों के प्रति वत्सल-भाव, जिसके कारण वे *भक्त-वत्सल* कहलाते हैं। भक्त सदा भगवान् के चरणों की सेवा करना चाहते हैं और भगवान् भी अपने भक्तों की प्रेमा-भक्ति स्वीकार करने के लिए उद्यत रहते हैं। इस सेवा-विनिमय में अनेक दिव्य कार्य होते हैं, जिन्हें दिव्य गुणात्मक कार्य कहते हैं। भगवान् के कुछ दिव्य गुण इस प्रकार हैं, वे सर्वज्ञाता हैं, सर्वत्र विद्यमान हैं, सर्वव्यापी हैं, सर्वशक्तिमान हैं, सब कारणों के कारण हैं, परम सत्य हैं, समस्त सुखों के आगार हैं, समस्त ज्ञान के सागर हैं, सर्वकल्याणकारी, इत्यादि हैं।

पृथु महाराज की इच्छा थी कि लक्ष्मीजी के साथ वे भी भगवान् की सेवा करें, किन्तु उनकी इस इच्छा का यह अर्थ नहीं होता कि वे *माधुर्यभाव* को प्राप्त थे। लक्ष्मीजी भगवान् की सेवा *माधुर्यभाव* से कर रही हैं। यद्यपि लक्ष्मीजी का स्थान भगवान् का वक्षस्थल है, किन्तु भक्त के रूप में वे भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने में सुख मानती हैं। पृथु महाराज केवल भगवान् के चरणकमलों का ही ध्यान कर रहे थे, क्योंकि वे *दास्यभाव* के पद पर स्थित हैं। अगले श्लोक में बताया गया है कि पृथु महाराज लक्ष्मीजी को जगन्माता के रूप में देख रहे थे। फलत: *माधुर्यभाव* के पद पर उनके साथ उनके स्पर्धा करने का प्रश्न नहीं उठता। तो भी उन्हें भय था कि लक्ष्मी कहीं उन्हें भगवान् की सेवा में लगा देखकर इसे अपमान न समझ लें। इससे यह पता चलता है कि परम जगत में कभी-कभी भगवान् के दासों के बीच स्पर्धा चलती है, किन्तु वह द्वेषरहित होती है। यदि वैकुण्ठलोकों में कोई भक्त भगवान् की सेवा में आगे बढ़ जाता है, तो उसकी श्रेष्ठ सेवा से कोई ईर्ष्या नहीं करता, वरन् उस तक स्वयं

पहुँचने की आकांक्षा करता है।

जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं
स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ।
करोषि फल्वप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

जगत्-जनन्याम्—विश्व की माता (लक्ष्मी) में; जगत्-ईश—हे विश्व के स्वामी; वैशसम्—क्रोध; स्यात्—हो सकता है; एव—निश्चय ही; यत्-कर्मणि—जिसके कार्य में; नः—मेरा; समीहितम्—आकांक्षा; करोषि—विचार करते हो; फल्गु—तुच्छ सेवा; अपि—यद्यपि; उरु—अत्यधिक; दीन-वत्सलः—दीनों के प्रति स्नेह करने वाले; स्वे—अपने; एव—निश्चय ही; धिष्ण्ये—तुम्हारे ऐश्वर्य में; अभिरतस्य—परम सन्तुष्ट का; किम्—क्या आवश्यकता; तया—उसके साथ।

हे जगदीश्वर, लक्ष्मीजी विश्व की माता हैं, तो भी मैं सोचता हूँ कि उनकी सेवा में हस्तक्षेप करने तथा उसी पद पर जिसके प्रति वे इतनी आसक्त हैं कार्य करने से, वे मुझसे क्रुद्ध हो सकती हैं। फिर भी मुझे आशा है कि इस भ्रम के होते हुए भी आप मेरा पक्ष लेंगे, क्योंकि आप दीनवत्सल हैं और भक्त की तुच्छ सेवाओं को भी बहुत करके मानते हैं। अतः यदि वे रुष्ट भी हो जाँय तो आपको कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि आप आत्मनिर्भर हैं, अतः उनके बिना भी आपका काम चल सकता है।

तात्पर्य : माता लक्ष्मीजी भगवान् नारायण की नितान्त चरण-सेवा के लिए विख्यात हैं। वे आदर्श पत्नी हैं, क्योंकि वे हर प्रकार से भगवान् नारायण का ध्यान रखती हैं। वे न केवल उनके चरणकमलों का ध्यान रखती हैं, वरन् घर का सारा कार्य भी करती हैं—सुस्वादु भोजन पकाती हैं, भगवान् के भोजन के समय पंखा झलती हैं, उनके मुख पर चन्दन लेप करतीं तथा उनकी शय्या तथा आसन को व्यवस्थित करती हैं। इस प्रकार वे भगवान् की सेवा में निरन्तर लगी रहती हैं, जिसके कारण अन्य किसी भक्त को भगवान् के नित्य-कर्मों में हस्तक्षेप करने का अवसर ही नहीं प्राप्त हो पाता। अतः पृथु महाराज को लगभग विश्वास था कि लक्ष्मीजी की सेवा में हस्तक्षेप होने से वे चिढ़कर उन पर रुष्ट हो सकती हैं। किन्तु जगज्जननी लक्ष्मीजी पृथु महाराज जैसे तुच्छ भक्त पर क्योंकर क्रुद्ध होतीं? ऐसा सम्भव नहीं था। फिर भी पृथु महाराज अपने बचाव के लिए भगवान् से अपना पक्ष लेने की याचना करते हैं। पृथु महाराज सामान्य वैदिक अनुष्ठानों को करने तथा कर्मकाण्ड के अनुसार यज्ञ करने में लगे थे, किन्तु भगवान् अत्यन्त दयालु एवं उदार होने के कारण उन्हें जीवन का परम पद अर्थात् भक्ति प्रदान

करने के लिए उद्यत थे।

जब कोई व्यक्ति वैदिक अनुष्ठान तथा यज्ञ करता है, तो वह उच्चलोकों को जाने के उद्देश्य से ऐसा करता है, किन्तु ऐसे यज्ञों के द्वारा कोई भगवान् के धाम जाने का अधिकारी नहीं हो सकता। फिर भी भगवान् इतने उदार हैं कि किसी की तुच्छ से तुच्छ सेवा को भी स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिए *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि *वर्णाश्रम धर्म* के सिद्धान्तों का पालन करके परमेश्वर को प्रसन्न किया जा सकता है। भगवान् के प्रसन्न होने पर यज्ञकर्ता भक्तियोग के पद को प्राप्त होता है। अत: पृथु महाराज को आशा थी कि भगवान् उनकी छोटी सी सेवा को लक्ष्मीजी की सेवा से बढ़कर मान लेंगे। लक्ष्मीजी चञ्चला कही जाती हैं, क्योंकि वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहतीं, अत: पृथु महाराज ने संकेत किया कि यदि क्रोधवश वे अन्यत्र चली भी जाँए तो भगवान् विष्णु को कोई हानि नहीं पहुँचेगी, क्योंकि वे आत्मनिर्भर हैं और लक्ष्मीजी के बिना भी वे सब काम कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, जब गर्भोदकशायी विष्णु ने अपनी नाभि से ब्रह्माजी को उत्पन्न किया, तो उन्होंने पास ही में स्थित चरण दबाती लक्ष्मीजी से कोई सहायता नहीं ली। सामान्य रूप से जब पुत्र उत्पन्न करना होता है, तो पत्नी पति से गर्भाधारण करती है और समय आने पर पुत्र जनती है। किन्तु ब्रह्माजी के जन्म में गर्भोदकशायी विष्णु से लक्ष्मी ने गर्भ धारण नहीं किया। आत्मनिर्भर होने के कारण भगवान् ने अपनी नाभि से ब्रह्माजी को उत्पन्न किया। अत: पृथु महाराज को विश्वास था कि यदि लक्ष्मी जी उनसे रुष्ट हो भी जाँए तो न तो भगवान् को और न उन्हें किसी प्रकार की क्षति की सम्भावना है।

भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो
व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां
निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भजन्ति—पूजते हैं; अथ—अत:; त्वाम्—तुमको; अत: एव—अत:; साधव:—सभी साधु पुरुष; व्युदस्त—जो दूर करते हैं; माया-गुण—प्रकृति के गुण; विभ्रम—भ्रान्त विचार; उदयम्—उत्पन्न; भवत्—आपके; पद—चरणकमल; अनुस्मरणात्—निरन्तर स्मरण करने से; ऋते—सिवाय; सताम्—महान् पुरुषों का; निमित्तम्—कारण; अन्यत्—अन्य; भगवन्—हे भगवान्; न—नहीं; विद्महे—समझता हूँ।

बड़े-बड़े साधु पुरुष जो सदा ही मुक्त रहते हैं, आपकी भक्ति करते हैं, क्योंकि भक्ति के द्वारा ही इस संसार के मोहों से छुटकारा पाया जा सकता है। हे भगवन्, मुक्त जीवों द्वारा आपके

चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का एकमात्र कारण यही हो सकता है कि ऐसे जीव आपके चरणकमलों का निरन्तर ध्यान धरते हैं।

तात्पर्य : कर्मी लोग प्राय: दैहिक सुखों के लिए सकाम कर्म करते हैं, किन्तु ज्ञानी भौतिक सुखों की खोज में रुचि नहीं दिखाते। वे समझते हैं कि आत्मा होने के कारण उन्हें इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना देना नहीं। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् परिपक्व बुद्धि वाले ज्ञानी भगवान् के चरणकमलों में समर्पित हो जाना चाहिए जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*बहूनां जन्मनामन्ते*—आत्म-साक्षात्कार तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक भक्त-पद को प्राप्त न हुआ जाये। अत: *भागवत* में कहा गया है कि जो *आत्माराम* हैं, वे प्रकृति के गुणों के समस्त संदूषणों से मुक्त होते हैं। जब तक मनुष्य प्रकृति के गुणों द्वारा, विशेष रूप से रज तथा तम गुणों के द्वारा, प्रभावित रहता है तब तक वह लोभी तथा कामी बना रहता है, अत: वह कठिन परिश्रम में लगा रहकर अहर्निश कार्य करता है। ऐसे अहंकार से वह लगातार एक योनि से दूसरी में घूमता रहता है और उसे किसी भी योनि में चैन नहीं मिलता। ज्ञानी इस तथ्य को जानता है, अत: वह कार्य करना बन्द करके कर्म-संन्यास ग्रहण कर लेता है।

तो भी यह वास्तविक सन्तोष का पद नहीं है। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् ज्ञानी की भौतिक बुद्धि उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने की ओर ले जाती है। तब वह निरन्तर भगवान् के चरणकमलों के ध्यान में मग्न रहने लगता है। अत: पृथु महाराज ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिन मुक्त व्यक्तियों ने भक्ति-पथ ग्रहण कर लिया है, उन्हें जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो चुका है। यदि मुक्ति ही अपने आप में अन्त होती तो मुक्त व्यक्ति द्वारा भक्ति ग्रहण किये जाने की आवश्यकता न पड़ती। दूसरे शब्दों में, भगवान् के चरणकमलों की भक्ति से प्राप्त होने वाला आनन्द आत्म-साक्षात्कार से प्राप्त दिव्य आनन्द अर्थात् *आत्मानन्द* से कहीं बढ़कर है। अत: पृथु महाराज ने निश्चय किया कि वे केवल भगवान् की महिमा का श्रवण करेंगे और इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों में अपने मन को लगाएँगे। यही जीवन की चरम सिद्धि है।

मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं
वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत् ।
वाचा नु तन्त्या यदि ते जनोऽसित:

कथं पुनः कर्म करोति मोहितः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मानता हूँ; गिरम्—वाणी; ते—तुम्हारी; जगताम्—भौतिक जगत के प्रति; विमोहिनीम्—मोहने वाली; वरम्—वर; वृणीष्व—स्वीकार करो (माँगो); इति—इस प्रकार; भजन्तम्—आपके भक्तों को; आत्थ—आपने कहा; यत्—क्योंकि; वाचा—वेदों के कथन से; नु—निश्चय ही; तन्त्या—रस्सियों से; यदि—यदि; ते—तुम्हारे; जनः—सामान्य लोग; असितः—बँधे हुए नहीं; कथम्—कैसे; पुनः—फिर-फिर; कर्म—सकाम कर्म; करोति—करते हैं; मोहितः—मोहित होकर।

हे भगवन्, आपने अपने विशुद्ध भक्त से जो कुछ कहा है, वह निश्चय ही अत्यन्त मोह में डालने वाला है। आपने वेदों में जो लालच दिये हैं, वे शुद्ध भक्तों के लिए उपयुक्त नहीं हैं। सामान्य लोग वेदों की अमृतवाणी से बँधकर कर्मफल से मोहित होकर पुनः पुनः सकाम कर्मों में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : गौड़ीय संप्रदाय के महान् आचार्य श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है कि जो लोग वेदों के सकाम कर्मों के प्रति अर्थात् कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, समझो कि उनका सर्वनाश हो चुका है। वेदों में तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं—कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा उपासनाकाण्ड। जो लोग कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड में रत हैं उनका सर्वनाश इस अर्थ में हो चुका है, क्योंकि जो भी इस भौतिक देह में बन्दी है, चाहे वह देवता हो राजा या निम्न पशु हो, सभी का विनाश होना है। प्रकृति के ताप-त्रय सबों के लिए हैं। अपनी आत्म-स्थिति को समझने के लिए ज्ञान का अनुशीलन भी कुछ हद तक समय का अपव्यय है। चूँकि जीवात्मा परमेश्वर का अंश है, अत: उसको चाहिए कि तुरन्त भक्ति में लग जाये। इसीलिए पृथु महाराज कहते हैं कि भौतिक वरों का लालच इस भौतिक जगत के बन्धन का दूसरा जाल है। अत: वे भगवान् से स्पष्ट कह देते हैं कि भौतिक सुविधाओं के रूप में उनके द्वारा प्रदान किये जाने वाले वर निश्चय ही मोह के कारण हैं। शुद्ध भक्त को कभी भी भुक्ति या मुक्ति में रुचि नहीं रहती।

भगवान् कभी-कभी नवदीक्षित भक्तों को वर देते हैं, जिन्हें इसका ज्ञान नहीं हुआ रहता कि ये भौतिक सुविधाएँ उन्हें सुखी नहीं बना सकतीं। अत: *चैतन्य चरितामृत* में भगवान् का कथन है कि अल्पज्ञ किन्तु निष्ठावान् भक्त ही भगवान् से किसी लाभ की याचना कर सकता है, किन्तु भगवान् सर्वज्ञ होने के कारण सामान्यत: भौतिक वर नहीं देते, अपितु अपने भक्त के द्वारा भोग्य सारी सुविधाएँ हर लेते हैं, जिससे भक्त को अन्तत: पूर्ण रूप से समर्पण करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, भक्त के लिए भौतिक लाभ का वरदान कभी शुभ नहीं होता। वेदों के ये कथन कि बड़े-बड़े यज्ञ करने के प्रतिफल

स्वरुप स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है, मात्र भ्रामक हैं। अतः *भगवद्गीता* (२.४२) में भगवान् कहते हैं—*यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।* अल्पज्ञ वर्ग के मनुष्य (*अविपश्चितः*) ही वेदों की सुधामयी वाणी से आकृष्ट होकर भौतिक लाभ की आकांक्षा से सकाम कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार वे जन्म-जन्मांतर विभिन्न योनियों में भटकते रहते हैं।

त्वन्माययाद्धा जन ईश खण्डितो
यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः ।
यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं
तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारी; मायया—माया द्वारा; अद्धा—निश्चय ही; जनः—सामान्यजन; ईश—हे भगवान्; खण्डितः—विभक्त; यत्—क्योंकि; अन्यत्—अन्य; आशास्ते—कामना करते हैं; ऋत—वास्तविक; आत्मनः—अपने से; अबुधः—बिना जाने; यथा—जिस प्रकार; चरेत्—प्रवृत्त होता है; बाल-हितम्—अपने बालक का कल्याण; पिता—पिता; स्वयम्—स्वतः; तथा—उसी प्रकार; त्वम्—आप; एव—निश्चय ही; अर्हसि नः समीहितुम्—मेरे हित में करें।

हे भगवन्, आपकी माया के कारण इस भौतिक जगत के सभी प्राणी अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति भूल गये हैं और वे अज्ञानवश समाज, मित्रता तथा प्रेम के रूप में निरन्तर भौतिक सुख की कामना करते हैं। अतः आप मुझे किसी प्रकार का भौतिक लाभ माँगने के लिए न कहें, बल्कि जिस प्रकार पिता अपने पुत्र द्वारा माँगने की प्रतीक्षा किये बिना उसके कल्याण के लिए सब कुछ करता है, उसी प्रकार से आप भी जो मेरे हित में हो मुझे प्रदान करें।

तात्पर्य : पुत्र का कर्तव्य है कि वह बिना कुछ माँगे अपने पिता पर आश्रित रहे। सुपुत्र को विश्वास होता है कि पिता अच्छे से जानता है कि पुत्र को कैसे लाभ पहुँचाया जाए। इसी प्रकार शुद्ध भक्त भगवान् से किसी प्रकार के लाभ की याचना नहीं करता, न ही आध्यात्मिक लाभ के लिए कुछ माँगता है। शुद्ध भक्त तो भगवान् के चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित रहता है और भगवान् उसका भार ग्रहण करते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहा गया है : *अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।* पिता पुत्र की आवश्यकताओं से परिचित होता है और उनकी पूर्ति करता है। परमेश्वर भी जीवात्माओं की आवश्यकताओं से अनजान रहते हैं और प्रचूर मात्रा में उनकी पूर्ति करते रहते हैं। इसीलिए *ईशोपनिषद्* का कथन है कि इस संसार में सभी कुछ पूर्ण है (*पूर्णम् इदम्*)। कठिनाई यह है कि जीवात्मा विस्मरण के कारण वृथा की आवश्यकताएँ उत्पन्न करता है और अपने आपको भौतिक कर्मों में बाँध

देता है। परिणाम यह होता है कि जन्म-जन्मांतर कर्मों का अन्त नहीं मिल पाता।

हमारे समक्ष नाना प्रकार की जीवात्माएँ हैं और इनमें से प्रत्येक देहान्तर तथा कर्म में फँसी हुई है। हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि हम भगवान् की शरण ग्रहण करें और उन्हें सारा भार सँभालने दें, क्योंकि जो हमारे लिए शुभ है, उससे वे परिचित हैं।

अत: पृथु महाराज भगवान् से कहते हैं कि परम पिता के रूप में जो कुछ पृथु के लिए लाभप्रद हो वही वर दें। जीवात्मा की यही सही स्थिति है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु अपने *शिक्षाष्टक* में हमें उपदेश देते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे परम शक्तिमान भगवान्! मैं न तो धन संग्रह करना चाहता हूँ, न मुझे सुन्दर स्त्री का भोग करने की इच्छा है और न मुझे अनेक अनुयायी चाहिए। मुझे तो जन्म-जन्मातर आपकी अहैतुकी भक्ति चाहिए।"

निष्कर्ष यह निकला कि शुद्ध भक्त को न तो भक्ति से किसी प्रकार के भौतिक लाभ की कामना करनी चाहिए और न सकाम कर्म या दार्शनिक चिन्तन के द्वारा मोहग्रस्त होना चाहिए। उसे निरन्तर भगवान् की सेवा में लगे रहना चाहिए। यही जीवन की चरम सिद्धि है।

मैत्रेय उवाच
इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक्
तमाह राजन्मयि भक्तिरस्तु ते ।
दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया
मायां मदीयां तरति स्म दुस्त्यजाम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; आदि-राजेन—आदि राजा (पृथु) द्वारा; नुतः—पूजित होकर; सः—वह (भगवान्); विश्व-दृक्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखने वाला; तम्—उससे; आह—कहा; राजन्—हे राजा; मयि—मुझमें; भक्तिः—भक्ति; अस्तु—ऐसा ही हो; ते—तुम्हारा; दिष्ट्या—सौभाग्य से; ईदृशी—इस प्रकार की; धीः—बुद्धि; मयि—मुझमें; ते—तुम्हारे द्वारा; कृता—किया जाकर; यया—जिससे; मायाम्—माया को; मदीयाम्—मेरा; तरति—पार करता है; स्म—निश्चय ही; दुस्त्यजाम्—त्यागने में कठिन।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा कि पृथु महाराज की प्रार्थना सुनकर ब्रह्माण्ड के साक्षी भगवान् ने राजा को इस प्रकार सम्बोधित किया: हे राजन्, तुम्हारी मुझमें निरन्तर भक्ति बनी रहे। ऐसे शुद्ध

उद्देश्य से, जिसे तुमने बुद्धिमत्तापूर्वक व्यक्त किया है, दुर्लंघ्य माया को पार किया जा सकता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि भगवान् ने की है कि माया दुर्लंघ्य है। कोई भी कर्म, ज्ञान या योग द्वारा माया से पार नहीं पा सकता। इससे पार पाने का एकमात्र साधन भक्ति है जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् ने स्वयं कहा है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।* यदि कोई भवसागर को पार करना चाहता है, तो भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं है। अत: भक्त चाहे स्वर्ग में रहे या नरक में, उसे कभी भी किसी भौतिक पद की इच्छा नहीं करनी चाहिए। शुद्ध भक्त को सदैव भगवान् की सेवा में संलग्न रहना चाहिए, क्योंकि वही उसकी वास्तविक वृत्ति है। इसी स्थिति में पाँव जमाकर प्रकृति के कठोर नियमों पर विजय पाई जा सकती है।

तत्त्वं कुरु मयादिष्टमप्रमत्तः प्रजापते ।
मदादेशकरो लोकः सर्वत्राप्नोति शोभनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; त्वम्—तुम; कुरु—करो; मया—मेरे द्वारा; आदिष्टम्—आज्ञा; अप्रमत्तः—दिग्भ्रमित हुए बिना; प्रजा-पते—हे प्रजा के स्वामी; मत्—मेरा; आदेश-करः—आज्ञा पालन करने वाला; लोकः—कोई व्यक्ति; सर्वत्र—सभी जगह; आप्नोति—प्राप्त करता है; शोभनम्—मङ्गल।

हे प्रजा के पालक राजा, अब से मेरी आज्ञा का पालन करने में सावधानी बरतना और किसी भी प्रकार दिग्भ्रमित मत होना। जो भी श्रद्धापूर्वक इस प्रकार मेरी आज्ञा का पालन करता है उसका सर्वत्र मंगल होता है।

तात्पर्य : धार्मिक जीवन का सार है भगवान् के आदेशों का पालन करना और जो ऐसा करता है, वह पूर्ण रूप से धार्मिक है। *भगवद्गीता* (१८.६५) में भगवान् कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तः*—''सदैव मेरा ही चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो।'' वे आगे भी कहते हैं (*भगवद्गीता* १८.६६)—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—''सभी प्रकार की भौतिक व्यस्तताओं को त्याग कर मेरे शरणागत होओ।'' यही धर्म का मूल नियम है। जो कोई भी भगवान् के ऐसे आदेश का पालन करता है, वह वास्तव में धार्मिक पुरुष है। अन्य सबों को वंचक कहा गया है, क्योंकि धर्म के नाम पर न जाने कितने प्रकार के कार्य दुनिया भर में चल रहे हैं, जो वास्तव में धार्मिक नहीं हैं। किन्तु जो भगवान् की आज्ञा का पालन करता है उसका सर्वत्र मंगल ही होता है।

मैत्रेय उवाच
इति वैन्यस्य राजर्षेः प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः ।
पूजितोऽनुगृहीत्वैनं गन्तुं चक्रेऽच्युतो मतिम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; **इति**—इस प्रकार; **वैन्यस्य**—राजा वेन के पुत्र (पृथु महाराज) का; **राज-ऋषेः**—राजर्षि का; **प्रतिनन्द्य**—आदर करके; **अर्थ-वत् वचः**—सारगर्भित प्रार्थना; **पूजितः**—पूजित होकर; **अनुगृहीत्वा**—अनुग्रह जता कर; **एनम्**—राजा पृथु; **गन्तुम्**—उस स्थान से जाने के लिए; **चक्रे**—निश्चय किया; **अच्युतः**—भूल न करने वाले, अर्थात् अचूक भगवान्; **मतिम्**—मन।

मैत्रेय वे विदुर से कहा कि भगवान् ने महाराज पृथु द्वारा की गई सारगर्भित प्रार्थना की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस प्रकार राजा द्वारा समुचित रूप से पूजित होकर भगवान् ने उन्हें आशीर्वाद दिया और प्रस्थान का निश्चय किया।

तात्पर्य : इस श्लोक के सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द *प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः* हैं। जिनका अर्थ है कि भगवान् ने राजा द्वारा की गई सार्थक प्रार्थना की प्रशंसा की। जब भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है, तो वह भौतिक लाभ की याचना न करके उनकी कृपा माँगता है; वह प्रार्थना करता है कि जन्म-जन्मांतर वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता रहे। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने *मम जन्मनि जन्मनि* शब्दों का प्रयोग किया है जिनका अर्थ "जन्म-जन्मांतर" है, क्योंकि भक्त यह भी नहीं चाहता कि जन्म का चक्र रुके। भगवान् तथा भक्त इस जगत में एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में प्रकट होते रहते हैं, किन्तु ऐसे जन्म दिव्य होते हैं। *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को बताया कि उनके तथा अर्जुन दोनों ही के इसके पूर्व अनेक जन्म हो चुके हैं। भगवान् को तो इन जन्मों का स्मरण है, किन्तु अर्जुन इन्हें भूल चुका है। भगवान् तथा उनके विश्वासपात्र भक्त भगवान् के सन्देश को पूरा करने के उद्देश्य से कई बार प्रकट हो सकते हैं, किन्तु ऐसे जन्म दिव्य होते हैं क्योंकि इनमें भौतिक जन्म सरीखी कष्टमय स्थितियाँ नहीं आतीं, अतः वे दिव्य कहलाते है।

मनुष्य को भगवान् तथा भक्त के दिव्य जन्म के विषय में जानना चाहिए। भगवान् द्वारा जन्म ग्रहण करने का उद्देश्य भक्ति की स्थापना करना होता है, जो धर्म की पूर्ण पद्धति है और भक्त का जन्म भक्ति सम्प्रदाय को सारे विश्व में प्रचारित करने के लिए होता है। पृथु महाराज भक्ति सम्प्रदाय को प्रसारित करने के लिए भगवान् की शक्ति के अवतार थे और भगवान् ने उन्हें इसी पद पर बने रहने का वर दिया। अतः जब राजा ने किसी प्रकार का भौतिक वर प्राप्त करना अस्वीकार कर दिया तो भगवान् इससे अत्यधिक प्रसन्न हुए। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *अच्युत* है, जिसका अर्थ है अमोघ या

अचूक। यद्यपि भगवान् इस जगत में प्रकट होते हैं, किन्तु उन्हें बद्धजीव कभी नहीं माना जाता, जो पतनशील हैं। जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो वे प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहकर अपनी दिव्य स्थिति में रहते हैं। इसीलिए *भगवद्गीता* में अपने प्राकट्य के गुण को *आत्म-मायया* अर्थात् अन्तरंगा शक्ति से सम्पन्न मानते हैं। भगवान् अच्युत होने के कारण इस भौतिक जगत में जन्म लेने के लिए भौतिक प्रकृति द्वारा बाध्य नहीं किए जाते हैं। वे तो धर्म की संस्थापना करने तथा मानव-समाज में आसुरी प्रभाव को नष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं।

देवर्षिपितृगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगाः ।
किन्नराप्सरसो मर्त्याः खगा भूतान्यनेकशः ॥ ३५ ॥
यज्ञेश्वरधिया राज्ञा वाग्वित्ताञ्जलिभक्तितः ।
सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पितृलोक के वासी; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; सिद्ध—सिद्धलोक के वासी; चारण—चारणलोक के वासी; पन्नगाः—सर्पलोक के वासी; किन्नर—किन्नरलोक के वासी; अप्सरसः—अप्सरा लोक के वासी; मर्त्याः—पृथ्वी के वासी; खगाः—पक्षी; भूतानि—अन्य जीवात्माएँ; अनेकशः—अनेक; यज्ञ-ईश्वर-धिया—अपने को परमेश्वर का अंश मानने वाली बुद्धि से; राज्ञा—राजा द्वारा; वाक्—मधुर शब्दों से; वित्त—सम्पत्ति; अञ्जलि—करबद्ध; भक्तितः—भक्तिभाव से; सभाजिताः—भलीभाँति पूजित; ययुः—चले गये; सर्वे—सभी; वैकुण्ठ—भगवान् विष्णु के; अनुगताः—अनुचर; ततः—वहाँ से।

राजा पृथु ने देवताओं, ऋषियों, पितृलोक, गंधर्वलोक, सिद्धलोक, चारणलोक, पन्नगलोक, किन्नरलोक, अप्सरो लोक तथा पृथ्वीलोक और पक्षियों के लोक के वासियों की पूजा की। उन्होंने यज्ञस्थल पर उपस्थित अन्य अनेक जीवों की पूजा की। उन्होंने इन सबकी तथा भगवान् के पार्षदों की मधुर वचन तथा यथासम्भव धन के द्वारा, हाथ जोड़कर पूजा की। इस उत्सव के बाद भगवान् विष्णु के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वे सभी अपने-अपने लोकों को चले गये।

तात्पर्य : आधुनिक तथाकथित वैज्ञानिक समाज में यह विचार प्रचलित है कि अन्य लोकों में जीवन नहीं है, केवल पृथ्वीलोक में ही बुद्धि तथा वैज्ञानिक ज्ञान वाले प्राणी विद्यमान हैं। किन्तु वैदिक साहित्य इस मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त को नहीं मानता। वैदिक ज्ञान के मानने वाले भली-भाँति परिचित हैं कि विविध लोकों में नाना प्रकार के जीव यथा देवता, ऋषि, पितृगण, गन्धर्व, पन्नग, किन्नर, चारण, सिद्ध तथा अप्सराएँ वास करते हैं। वेद बताते हैं कि सभी लोकों में—इसी आकाश में—ही नहीं, वरन्

आध्यात्मिक आकाश में भी नाना प्रकार के जीव वास करते हैं। यद्यपि ये सारे जीव एक ही दिव्य प्रकृतिवाले और भगवान् के ही समान भौतिक गुण वाले हैं, किन्तु वे आठ तत्त्वों क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर, मन, बुद्धि एवं अहंकार के संयोग के फलस्वरूप विविध शरीर धारण करते हैं। किन्तु आध्यात्मिक लोक में देह और देही में ऐसा कोई भेद नहीं होता। भौतिक संसार में विभिन्न लोकों में विभिन्न शरीरधारियों में उनके विशिष्ट रूपों और आकारों से भेद प्रकट होते हैं। हमें वैदिक साहित्य से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि भौतिक तथा आध्यात्मिक (परा) दोनों ही प्रकार के लोकों में भिन्न-भिन्न बुद्धि वाले जीव हैं। पृथ्वी भूर्लोक का एक ग्रह है। भूर्लोक के ऊपर छह अन्य लोक हैं और इसी तरह इसके नीचे भी सात लोक हैं। अत: यह समस्त ब्रह्माण्ड *चतुर्दशभुवन* कहलाता है, जिससे सूचित होता है कि चौदह विभिन्न लोक हैं। भौतिक आकाश से परे एक दूसरा आकाश है, जिसे *परव्योम* या आध्यात्मिक आकाश कहते हैं, जहाँ आध्यात्मिक (चिन्मय) लोक हैं। इन लोकों के वासी भगवान् की नाना प्रकार से प्रेमाभक्ति करते हैं जिनमें विभिन्न भाव सम्मिलित हैं यथा—*दास्य भाव, सख्य भाव, वात्सल्य भाव, माधुर्य भाव* तथा इन सबसे ऊपर *परकीय भाव। परकीय भाव* कृष्ण के वास स्थान कृष्णलोक में प्रचलित है। यह लोक गोलोक वृन्दावन भी कहलाता है तथा, यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ निरन्तर वास करते हैं तो भी वे लाखों करोड़ों रूपों में अपना विस्तार करते हैं। अपने इन्हीं एक रूप में वे इस धरा के विशेष स्थान, वृन्दावन धाम में प्रकट होते हैं जहाँ वे परव्योम स्थित गोलोक वृन्दावन धाम की मूल लीलाएँ करके बद्धजीवों को भगवान् के धाम जाने के लिए आकृष्ट करते हैं।

भगवानपि राजर्षेः सोपाध्यायस्य चाच्युतः ।
हरन्निव मनोऽमुष्य स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—भी; राज-ऋषेः—राजर्षि का; स-उपाध्यायस्य—अन्य समस्त पुरोहितों सहित; च—भी; अच्युतः—अचूक भगवान्; हरन्—मोहते हुए; इव—निस्सन्देह; मनः—मन; अमुष्य—उसका; स्व-धाम—अपने धाम को; प्रत्यपद्यत—लौट गये।

राजा तथा वहाँ पर उपस्थित पुरोहितों के मनों को मोहित करने के बाद अच्युत भगवान् परव्योम में अपने धाम वापस चले गये।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्व-आत्ममय हैं, अत: वे अपना शरीर बदले बिना परव्योम से नीचे आ सकते हैं, इसीलिए वे *अच्युत* अथवा अचूक कहलाते हैं। जब जीवात्मा इस संसार में आ गिरता है, तो

उसे भौतिक शरीर धारण करना होता है और वह भौतिक शरीर-रूप में *अच्युत* नहीं कहला सकता। चूँकि वह भगवान् की सेवा-कार्य के पद से नीचे पतित होता है, अत: जीव भौतिक जीवन की बद्ध अवस्थाओं में दुख भोगने के लिए अथवा उसका आनंद उठाने के प्रयास में भौतिक शरीर ग्रहण करता है। अत: पतित जीवात्मा *च्युत* है और भगवान् *अच्युत* कहलाते हैं। भगवान् सबों के लिए मनमोहक थे—केवल राजा ही के लिए नहीं, अपितु उन पुरोहितों के लिए भी जो वैदिक कर्मकाण्डों के अत्यधिक आदी थे। सर्व-मोहक होने के कारण भगवान् को कृष्ण अर्थात् ''सबको आकृष्ट करने वाले'' कहा जाता है। महाराज पृथु के यज्ञस्थल में भगवान् क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट हुए जो भगवान् श्रीकृष्ण के स्वांश हैं। वे कारणोदकशायी विष्णु के द्वितीय अवतार हैं, जो भौतिक सृष्टि के मूल हैं और गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में विस्तार करके प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं। क्षीरोदकशायी विष्णु उन पुरुषों में से एक हैं, जो प्रकृति के भौतिक गुणों को अपने वश में रखते हैं।

अदृष्टाय नमस्कृत्य नृपः सन्दर्शितात्मने ।
अव्यक्ताय च देवानां देवाय स्वपुरं ययौ ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अदृष्टाय—जो दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है उसको; **नमः-कृत्य**—नमस्कार करके; **नृपः**—राजा; **सन्दर्शित**—अभिव्यक्त, प्रकट; **आत्मने**—परमात्मा को; **अव्यक्ताय**—जो भौतिक जगत में प्रकट न हो सके; **च**—भी; **देवानाम्**—देवताओं के; **देवाय**—परमेश्वर को; **स्व-पुरम्**—अपने घर को; **ययौ**—लौट गये।

तत्पश्चात् राजा पृथु ने समस्त देवों के परम स्वामी भगवान् को सादर नमस्कार किया। यद्यपि वे भौतिक दृष्टि से देखे जाने की वस्तु नहीं हैं, फिर भी भगवान् ने महाराज पृथु के नेत्रों के समक्ष अपने को प्रकट किया। भगवान् को नमस्कार करके राजा अपने घर चले आये।

तात्पर्य : परमेश्वर भौतिक आँखों से दिखाई नहीं पड़ते, किन्तु जब भौतिक इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी होती हैं और इस प्रकार पवित्र हो जाती हैं, तो भगवान् स्वत: भक्त के समक्ष अपने को प्रकट करते हैं। *अव्यक्त* का अर्थ है ''अप्रकट।'' यद्यपि यह संसार भगवान् की ही सृष्टि है, किन्तु वह आँखों से नहीं दिखाई पड़ते। किन्तु महाराज पृथु ने अपनी शुद्ध भक्ति से आत्म-दृष्टि विकसित कर ली थी। अत: यहाँ पर ईश्वर को *सन्दर्शितात्मा* कहा गया है, क्योंकि सामान्य नेत्रों से अदृश्य रह कर भी वे भक्त को दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज पृथु के यज्ञस्थल में भगवान्

विष्णु का प्राकट्य" नामक बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्कीस

महाराज पृथु द्वारा उपदेश

मैत्रेय उवाच
मौक्तिकैः कुसुमस्त्रग्भिर्दुकूलैः स्वर्णतोरणैः ।
महासुरभिभिर्धूपैर्मण्डितं तत्र तत्र वै ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; मौक्तिकैः—मोतियों से; कुसुम—फूलों की; स्रग्भिः—मालाओं से; दुकूलैः—वस्त्र से; स्वर्ण—सुनहले; तोरणैः—द्वारों से; महा-सुरभिभिः—अत्यधिक सुगन्धित; धूपैः—धूप (सुगन्धित द्रव्य) से; मण्डितम्—अलंकृत; तत्र तत्र—वहाँ-वहाँ; वै—निश्चय ही।

महर्षि मैत्रेय ने विदुर से कहा : जब राजा ने अपनी नगरी में प्रवेश किया, तो उसके स्वागत के लिए नगरी को मोतियों, पुष्पहारों, सुन्दर वस्त्रों तथा सुनहरे द्वारों से सुन्दर ढंग से सजाया गया था और सारी नगरी अत्यन्त सुगन्धित धूप से सुवासित थी।

तात्पर्य : वास्तविक ऐश्वर्य तो प्राकृतिक देन से मिलता है यथा सोना, चाँदी, मोती, मणि, ताजे पुष्प, वृक्ष तथा रेशम। वैदिक सभ्यता भगवान् की इन्हीं प्राकृतिक देनों को ऐश्वर्य तथा अलकंरण मानती है। ऐसे ऐश्वर्य से मानसिक दशा तुरन्त बदल जाती है और पूरे वातावरण का अध्यात्मीकरण हो जाता है। राजा पृथु की राजधानी ऐसे ही अमूल्य ऐश्वर्यमय अलंकरणों से सजाई गई थी।

चन्दनागुरुतोयार्द्ररथ्याचत्वरमार्गवत् ।
पुष्पाक्षतफलैस्तोक्मैर्लाजैरर्चिर्भिरर्चितम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

चन्दन—चन्दन; अगुरु—एक सुगन्धित बूटी, अरगजा; तोय—जल से; आर्द्र—छिड़का हुआ; रथ्या—रथमार्ग; चत्वर—छोटा उद्यान; मार्गवत्—गलियाँ; पुष्प—फूल; अक्षत—अखंड, समूचे; फलैः—फलों के द्वारा; तोक्मैः—खनिज; लाजैः—गीले अन्न; अर्चिर्भिः—दीपकों से; अर्चितम्—सजाया गया।

नगर भर की गलियाँ, सड़कें तथा छोटे पार्क चन्दन तथा अरगजा के सुगन्धित जल से सींच दिये गये थे और सर्वत्र समूचे फलों, फूलों, भीगोए हुए अन्नों, विविध खनिजों तथा दीपों के अलंकरणों से सजे थे। सभी मांगलिक वस्तुओं के दृश्य उपस्थित कर रहे थे।

सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैः परिष्कृतम् ।

तरुपल्लवमालाभिः सर्वतः समलङ्कृतम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

स-वृन्दैः—फूलों तथा फलों के सहित; कदली-स्तम्भैः—केले के ख भों से; पूग-पोतैः—सुपारी की टहनियों से; परिष्कृतम्—सुन्दर ढंग से स्वच्छ किये गये; तरु—नये पौधे; पल्लव—आम की नवीन कोंपलें; मालाभिः—मालाओं से; सर्वतः—सर्वत्र; समलङ्कृतम्—अच्छी तरह सजाया हुआ।

चौराहों पर फलों तथा फूलों के गुच्छे एवं केले के ख भे तथा सुपारी की टहनियाँ लगाई गई थी। यह सारी सजावट मिलकर अत्यन्त आकर्षक लग रही थी।

प्रजास्तं दीपबलिभिः सम्भृताशेषमङ्गलैः ।
अभीयुर्मृष्टकन्याश्च मृष्टकुण्डलमण्डिताः ॥ ४॥

शब्दार्थ

प्रजाः—नागरिक; तम्—उसको; दीप-बलिभिः—दीपों से; सम्भृत—सज्जित; अशेष—अपार; मङ्गलैः—मांगलिक सामग्री से; अभीयुः—स्वागत के लिए आगे आये; मृष्ट—सुन्दर कान्ति वाली; कन्याः च—तथा अविवाहित लड़कियाँ; मृष्ट—टकराते हुए; कुण्डल—कान का आभूषण; मण्डिताः—अलंकृत।

जब राजा ने नगर में प्रवेश किया, तो समस्त नागरिकों ने दीप, पुष्प तथा दधि जैसे अनेक मांगलिक द्रव्यों से उनका स्वागत किया। राजा की अगवानी अनेक सुन्दर कन्याओं ने भी की जिनके शरीर विविध आभूषणों से सुशोभित थे और जिनके कुण्डल परस्पर टकरा रहे थे।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार किसी विशिष्ट अतिथि, जैसे कि दूल्हे, राजा या गुरु के स्वागत में सुपारी, केला, नवांकुरित गेहूँ, धान, दही तथा सिंदूर जैसे मांगलिक प्राकृतिक पदार्थों को शहर भर में बिखेर दिया जाता है। इसी प्रकार अविवाहित लड़कियों द्वारा, जो बाह्य तथा अन्तः से शुद्ध होती हैं और सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से सज्जित होती हैं, स्वागत कराया जाता है, जो शुभ माना जाता है। कुमारियाँ अर्थात् अविवाहित कन्याएँ, जिनका स्पर्श पुरुष द्वारा नहीं हुआ होता, समाज की माँगलिक सदस्याएँ होती हैं। आज भी हिन्दू समाज के अत्यन्त रूढ़िगत परिवारों में अविवाहित लड़कियों को न तो घर के बाहर जाने दिया जाता है और न लड़कों से मिलने दिया जाता है। जब तक विवाह नहीं हो जाता, उनके माँ-बाप बड़ी सावधानी से उनकी देखरेख करते हैं, विवाह के बाद उनके युवा पति उनकी रक्षा करते हैं और प्रौढ़ होने पर उनकी सन्तानें उनकी देखरेख करती हैं। इस प्रकार से रक्षित स्त्रियाँ मनुष्य के लिए शक्ति का शुभ स्रोत बनी रहती हैं।

शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम् ।

विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः ॥५॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; दुन्दुभि—दुन्दुभियों के; घोषेण—शब्द से; ब्रह्म—वैदिक; घोषेण—उच्चारण से; च—भी; ऋत्विजाम्—पुरोहितों के; विवेश—प्रवेश किया; भवनम्—महल में; वीरः—राजा; स्तूयमानः—पूजित होकर; गत-स्मयः—अहंकार-रहित।

जब राजा ने महल में प्रवेश किया, तो शंख तथा दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुरोहित-गण वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने लगे और बन्दीजन विभिन्न प्रकार से स्तुतिगान करने लगे। किन्तु इतने स्वागत-समारोह के बावजूद राजा पर रञ्चमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा।

तात्पर्य : राजा का अत्यन्त शानदार ऐश्वर्यमय ढंग से किया गया, किन्तु उसे किसी प्रकार का गर्व नहीं हुआ। अतः कहा जाता है कि शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यवान महापुरुष कभी गर्व नहीं करते। इस प्रसंग में वृक्ष का उदाहरण दिया जाता है, जो फूलों-फलों से लदा होकर भी विनयशीलता नीचे झुक जाता है, अहंकार से सीधा तना हुआ नहीं रहता। यह महापुरुषों के चरित्र का विलक्षण गुण है।

पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः ।
पौराञ्जानपदांस्तांस्तान्प्रीतः प्रियवरप्रदः ॥६॥

शब्दार्थ

पूजितः—पूजा जाकर; पूजयाम् आस—पूजा की; तत्र तत्र—जहाँ-तहाँ, सर्वत्र; महा-यशाः—महान् कार्य करने वाले; पौरान्—नगर के भद्र जन; जान-पदान्—सामान्य नागरिक; तान् तान्—उसी प्रकार से; प्रीतः—प्रसन्न किया; प्रिय-वर-प्रदः—समस्त वर देने के लिए प्रस्तुत।

नगर के भद्र तथा सामान्य जनों ने राजा का हार्दिक स्वागत किया और राजा ने भी उन्हें मनवांछित आशीर्वाद दिया।

तात्पर्य : सम्मान्य राजा के पास उसकी प्रजा की पहुँच होती थी। सामान्य रूप से बड़े तथा छोटे सभी तरह के लोग राजा को देखने की इच्छा रखते थे और उससे आशीर्वाद प्राप्त करना चाहते थे। राजा को इसका पता रहता था, अतः जब भी वह प्रजा से मिलता था उनकी इच्छाओं की अविलम्ब पूर्ति करता था या उनकी शिकायतों को दूर करता था। इस प्रकार के व्यवहार में राजतंत्र तथाकथित प्रजातंत्र सरकार से अच्छा होता है, क्योंकि प्रजातंत्र में प्रजा कार्यकारी अध्यक्ष से नहीं मिल पाती और प्रजा की शिकायतों को दूर करने के लिए कोई उत्तरदायी नहीं होता। उत्तरदायी राजतंत्र में सरकार के विरुद्ध प्रजा की कोई शिकायत नहीं रहती थी और यदि कोई रहती भी थी तो राजा के पास पहुँच कर तुरन्त उसका निराकरण किया जा सकता था।

स एवमादीन्यनवद्यचेष्टितः
कर्माणि भूयांसि महान्महत्तमः ।
कुर्वन्शशासावनिमण्डलं यशः
स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—राजा पृथु; एवम्—इस प्रकार; आदीनि—प्रारम्भ से ही; अनवद्य—उदार; चेष्टितः—विभिन्न कार्य करते हुए; कर्माणि—कार्य; भूयांसि—बारम्बार; महान्—महान्; महत्-तमः—सबसे महान्; कुर्वन्—करते हुए; शशास—राज्य किया; अवनि-मण्डलम्—पृथ्वी पर; यशः—ख्याति; स्फीतम्—व्यापक; निधाय—प्राप्त करके; आरुरुहे—प्राप्त किया; परम् पदम्—परमेश्वर के चरणकमलों को।

राजा पृथु महानतम से भी महान् महापुरुष थे, अतः वे सबों के पूज्य थे। उन्होंने पृथ्वी पर शासन करते हुए अनेक प्रशंसनीय कार्य किये और अत्यन्त उदार बने रहे। ऐसी महान् सफलता प्राप्त कर तथा सारे विश्व में अपनी कीर्ति फैलाकर अन्त में वे भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त हुए।

तात्पर्य : प्रजा पर शासन करते हुए उत्तरदायी राजा या कार्याध्यक्ष को अनेक कार्य करने पड़ते हैं। राजा या सरकार का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य वेदसम्मत विभिन्न यज्ञों को करना है। दूसरा कर्तव्य यह देखना है कि जाति विशेष के लोग अपना नियत कार्य करते रहें। राजा का यह भी कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति वर्ण तथा आश्रम के कर्तव्यों का पूर्णतः पालन कर रहा है। इसके साथ ही, जैसाकि राजा पृथु ने उदाहरण प्रस्तुत किया, राजा को चाहिए कि वह अधिकाधिक अन्नोत्पादन के लिए पृथ्वी का विकास करे।

महान् पुरुष भी कई तरह के होते हैं—महान्, महानतर तथा महानतम। किन्तु राजा पृथु इन सबसे बढ़कर थे। इसीलिए उन्हें यहाँ *महत्तम* कहा गया है। महाराज पृथु क्षत्रिय थे और वे क्षत्रिय धर्म का पूर्ण रूप से निर्वाह करते थे। इसी प्रकार ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र भी अपने-अपने कार्य का सुचारु रूप से निर्वाह कर सकते हैं जिससे जीवन के अन्त में वैकुण्ठलोक की प्राप्ति हो सकती है, जिसे परम पद कहा गया है। *परं पदम्* अर्थात् वैकुण्ठलोक की प्राप्ति केवल भक्ति से सम्भव है। निर्गुण ब्रह्म क्षेत्र भी *परं पदम्* कहलाता है, किन्तु जब तक मनुष्य का भगवान् से सम्बन्ध नहीं होता, वह इस *परं पदम्* से इस भौतिक जगत में फिर गिर जाता है। इसीलिए कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः*—निर्विशेषवादी परम पद अथवा निर्गुण ब्रह्मज्योति को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं,

किन्तु दुर्भाग्यवश परमेश्वर से सम्बन्ध विहीन होने के कारण वे पुनः भौतिक जगत में चले आते हैं। यदि कोई अन्तरिक्ष में उड़ सके तो वह ऊँचाई तक जा सकता है, किन्तु जब तक वह किसी लोक को प्राप्त न कर ले, उसे पुनः पृथ्वी पर आना पड़ता है। इसी प्रकार जो निर्विशेषवादी निर्गुण ब्रह्मज्योति के परमपद तक पहुँच कर वैकुण्ठलोक में प्रवेश नहीं कर पाते, वे पुनः इस जगत में लौट आते हैं और उन्हें भौतिक लोकों में से किसी एक में शरण लेनी पड़ती है। भले ही वे ब्रह्मलोक या सत्यलोक प्राप्त कर लें, किन्तु ये सभी लोक तो भौतिक जगत में ही स्थित हैं।

सूत उवाच
तदादिराजस्य यशो विजृम्भितं
गुणैरशेषैर्गुणवत्सभाजितम् ।
क्षत्ता महाभागवतः सदस्पते
कौषारविं प्राह गृणन्तमर्चयन् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; तत्—वह; आदि-राजस्य—आदि राजा की; यशः—ख्याति; विजृम्भितम्—अत्यन्त योग्य; गुणैः—गुणों से; अशेषैः—असीम; गुण-वत्—उपयुक्त; सभाजितम्—प्रशंसित होकर; क्षत्ता—विदुर; महा-भागवतः—परम-भक्त; सदः-पते—ऋषियों के नायक; कौषारविम्—मैत्रेय से; प्राह—कहा; गृणन्तम्—बातें करते; अर्चयन्—सादर नमस्कार करते।

सूत गोस्वामी ने आगे कहा : हे ऋषियों के नायक शौनक जी, संसार भर में अत्यन्त योग्य, महिमामंडित तथा जगत भर में प्रशंसित आदि राजा पृथु के विविध कार्यों के विषय में मैत्रेय ऋषि को इस प्रकार कहते हुए सुनकर महान् भक्त विदुर ने अत्यन्त विनीत भाव से उनकी पूजा की और उनसे निम्नानूसार प्रश्न किया।

विदुर उवाच
सोऽभिषिक्तः पृथुर्विप्रैर्लब्धाशेषसुरार्हणः ।
बिभ्रत्स वैष्णवं तेजो बाह्वोर्याभ्यां दुदोह गाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सः—वह (राजा पृथु); अभिषिक्तः—राज्याभिषेक होने पर; पृथुः—राजा पृथु; विप्रैः—ऋषियों तथा ब्राह्मणों द्वारा; लब्ध—प्राप्त; अशेष—असंख्य; सुर-अर्हणः—देवताओं द्वारा दिये गये उपहार; बिभ्रत्—विस्तार किया; सः—उसने; वैष्णवम्—भगवान् विष्णु से प्राप्त; तेजः—शक्ति; बाह्वोः—भुजाएँ; याभ्याम्—जिनसे; दुदोह—दुहा; गाम्—पृथ्वी को।

विदुर ने कहा : हे ब्राह्मण मैत्रेय, यह जानकर अत्यंत हर्ष हो रहा है कि ऋषियों तथा ब्राह्मणों ने राजा पृथु का राज्याभिषेक किया। सभी देवताओं ने उन्हें अनेक उपहार दिये और

उन्होंने स्वयं भगवान् विष्णु से शक्ति प्राप्त करके अपने प्रभाव का विस्तार किया। इस प्रकार उन्होंने पृथ्वी का अत्यधिक विकास किया।

तात्पर्य : चूँकि पृथु महाराज भगवान् विष्णु के शक्त्यावेश अवतार थे और स्वभावत: भगवान् के महान् वैष्णव भक्त थे, अत: सभी देवता उनसे प्रसन्न थे और उन्हें नाना प्रकार के उपहार दे रहे थे जिस से वे अपनी राजकीय शक्ति का प्रयोग कर सके। ऋषियों तथा साधु पुरुषों ने भी उनके राज्याभिषेक में भाग लिया था। इस प्रकार उनका आशीर्वाद प्राप्त करके राज पृथु ने पृथ्वी पर शासन किया और प्रजा को प्रसन्न करने के लिए पृथ्वी के समस्त साधनों का दोहन किया। इसके विषय में राजा पृथु के कार्यों से सम्बद्ध पिछले एक अध्याय में बतलाया जा चुका है। जैसाकि अगले श्लोक से पता चलेगा, प्रत्येक राजाध्यक्ष को अपने राज्य में शासन करने के लिए महाराज पृथु के चरण-चिह्नों का अनुसरण करना चाहिए। चाहे प्रमुख कार्यकारी राजा हो या राष्ट्रपति, चाहे राजतंत्र हो या प्रजातंत्र, यह विधि इतनी पूर्ण है कि इसका पालन करने से प्रत्येक व्यक्ति सुखी रहेगा और वह भगवान् की भक्ति सरलता से कर सकेगा।

को न्वस्य कीर्तिं न शृणोत्यभिज्ञो
यद्विक्रमोच्छिष्टमशेषभूपाः ।
लोकाः सपाला उपजीवन्ति काम-
मद्यापि तन्मे वद कर्म शुद्धम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—लेकिन; अस्य—इस राजा पृथु की; कीर्तिम्—ख्याति; न शृणोति—नहीं सुनता; अभिज्ञः—बुद्धिमान; यत्—उसका; विक्रम—वीरता; उच्छिष्टम्—जूठन; अशेष—असंख्य; भूपाः—राजा; लोकाः—लोक; स-पालाः—अपने देवताओं सहित; उपजीवन्ति—जीवन यापन करते हैं; कामम्—वांछित वस्तुएँ; अद्य अपि—आज भी; तत्—वह; मे—मुझसे; वद—कृपया कहो; कर्म—कार्य; शुद्धम्—शुभ।

पृथु महाराज के कर्म इतने महान् थे और उनकी शासन-प्रणाली इतनी उदार थी कि आज भी सभी राजा तथा विभिन्न लोकों के देवता उनके चरण-चिह्नों पर चलते हैं। भला ऐसा कौन होगा जो उनकी कीर्तिमय कार्यों को सुनना नहीं चाहेगा? उनके कर्म इतने पवित्र तथा शुभ हैं कि मैं उनके सम्बन्ध में पुन: पुन: सुनना चाहता हूँ।

तात्पर्य : संत विदुर द्वारा पृथु महाराज के विषय में बारम्बार सुनने का मन्तव्य यह था कि सामान्य राजाओं तथा कार्याध्यक्षों के लिए ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जाये जिससे वे पृथु महाराज के कार्यों के

विषय में सुनकर अपने राज्यों में प्रजा की शान्ति तथा उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए ठीक से शासन चला सकें। दुर्भाग्यवश आज के समय में कोई भी पृथु महाराज के विषय में सुनने या उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने की परवाह नहीं करता, इसीलिए विश्व का कोई भी राष्ट्र न तो सुखी है और न आध्यात्मिक ज्ञान में अग्रसर है, यद्यपि मानव-जीवन का एकमात्र ध्येय एवं उद्देश्य यही है।

मैत्रेय उवाच
गङ्गायमुनयोर्नद्योरन्तरा क्षेत्रमावसन् ।
आरब्धानेव बुभुजे भोगान्पुण्यजिहासया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; गङ्गा—गंगा नदी; यमुनयोः—यमुना नदी के; नद्योः—दो नदियों के; अन्तरा—मध्यवर्ती; क्षेत्रम्—भूमि में; आवसन्—रहते हुए; आरब्धान्—प्रारब्धवश; एव—सदृश; बुभुजे—भोग किया; भोगान्—सम्पत्ति; पुण्य—पवित्र कार्य; जिहासया—कम करने के लिए।

मैत्रेय ऋषि ने विदुर से कहा : हे विदुर, राजा पृथु गंगा तथा यमुना इन दो महान् नदियों के मध्यवर्ती भूभाग में रहते थे। वे अत्यन्त ऐश्वर्यवान थे, अत: ऐसा प्रतीत होता था मानो अपने पूर्व पुण्यों के फल को कम करने के लिए ही प्रारब्ध से प्राप्त सम्पत्ति का भोग कर रहे थे।

तात्पर्य : "पवित्र" तथा "अपवित्र" शब्द केवल सामान्य प्राणी के कर्मों के सम्बन्ध में लागू होते हैं। किन्तु महाराज पृथु को तो साक्षात् भगवान् विष्णु से शक्ति प्राप्त थी, अत: उन पर पवित्र तथा अपवित्र कार्यों का फल लागू नहीं होता। जैसाकि हम पहले कह चुके है, भगवान् जब किसी कार्य विशेष के उद्देश्य से किसी जीव को विशेष शक्ति प्रदान करते हैं, तो उसे *शक्त्यावेश अवतार* कहा जाता है, किन्तु पृथु महाराज शक्त्यावेश अवतार के साथ-साथ महान् भक्त भी थे। भक्त को विगत कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्*—भगवान् द्वारा भक्तों के पूर्व पुण्य तथा पापों के फल निरस्त कर दिए जाते हैं। *आरब्धान् एव* शब्दों का अर्थ है "मानो पूर्व कर्मों द्वारा प्राप्त," किन्तु पृथु महाराज के लिए पूर्व कर्मों के फल की बात ही नहीं उठती, अत: यहाँ पर *एव* शब्द सामान्य पुरुषों से तुलना के अर्थ में प्रयुक्त है। भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा: ।* इसका यह अर्थ हुआ कि कभी-कभी लोग भगवान् के अवतार को सामान्य पुरुष मान लेते हैं। भले ही परमेश्वर, उनके अवतार या भक्त अपने को सामान्य व्यक्ति मानें, किन्तु उन्हें कभी भी ऐसा नहीं मानना चाहिए। न ही ऐसे व्यक्ति को अवतार या भक्त मान लेना चाहिए

जो शास्त्रों तथा आचार्यों के प्रामाणिक वचनों के द्वारा पुष्ट न होता हो। शास्त्र के प्रमाण से सनातन गोस्वामी ने भगवान् चैतन्य महाप्रभु को श्रीकृष्ण का साक्षात् अवतार मान लिया, यद्यपि भगवान् चैतन्य ने इस तथ्य को कभी प्रकट नहीं किया। इसीलिए यह कहा जाता है कि आचार्य या गुरु को कभी सामान्य व्यक्ति नहीं समझना चाहिए।

सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक् ।
अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सर्वत्र—सभी स्थानों पर; अस्खलित—अखण्ड, अटल; आदेशः—आज्ञा; सप्त-द्वीप—सात द्वीप; एक—एक; दण्ड-धृक्—राजदण्ड धारण करने वाला; अन्यत्र—के अतिरिक्त; ब्राह्मण-कुलात्—ब्राह्मण तथा साधु पुरुष; अन्यत्र—के अतिरिक्त; अच्युत-गोत्रतः—भगवान् के वंशज (वैष्णव)।

महाराज पृथु चक्रवर्ती राजा थे और इस भूमण्डल के सातों द्वीपों पर शासन करने के लिए राजदण्ड धारण करने वाले थे। उनके अटल आदेश का उल्लंघन साधु-जनों, ब्राह्मणों और वैष्णवों के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता था।

तात्पर्य : सप्तद्वीप से भूमण्डल तक के जिन सात विशाल द्वीपों या महाद्वीपों का बोध होता है वे हैं—एशिया, यूरोप, अफ्रीका, उत्तरी अमरीका, दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा ओशीनिया। आधुनिक युग में लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि वैदिक काल में या पुरैतिहासिक काल में अमरीका तथा संसार के अन्य कई भूभागों का पता नहीं था, किन्तु यह सच नहीं है। पृथु महाराज ने तथाकथित पुरैतिहासिक काल से कई हजार वर्ष पूर्व संसार पर शासन किया और यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि उस काल में संसार के सभी भागों का न केवल पता था, वरन् वे एक ही राजा पृथु द्वारा शासित भी थे। जिस देश में पृथु महाराज ने वास किया था वह अवश्य ही भारत रहा होगा, क्योंकि इस अध्याय के श्लोक ११ में बताया जा चुका है कि वे गंगा तथा यमुना नदियों के द्वाबे में निवास करते थे, जिसे "ब्रह्मावर्त" कहा जाता है और आधुनिक काल में इसे ही पंजाब तथा उत्तरी भारत का भूभाग जाना जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कभी भारत के राजाओं ने समूचे संसार पर राज्य किया और उनकी संस्कृति वैदिक थी।

अस्खलित शब्द बताता है कि राजा के आदेश का सारे विश्व में कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता था। किन्तु ऐसे आदेश कभी भी साधु पुरुषों या भगवान् विष्णु के भक्तों को वश में करने के लिए जारी

नहीं किये जाते थे। भगवान् *अच्युत* कहलाते हैं और *भगवद्गीता* में अर्जुन ने भगवान् कृष्ण को इसी नाम से सम्बोधित किया है (*सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत*)। *अच्युत* का अर्थ है, जो कभी गिरता नहीं, क्योंकि प्रकृति के गुणों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब कोई मनुष्य अपनी मूल स्थिति से नीचे गिरकर भौतिक जगत में आता है, तो वह च्युत कहलाता है, अर्थात् वह *अच्युत* से अपने सम्बन्ध को भूल रहा है। वास्तव में प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का अंश या पुत्र है। प्रकृति के गुणों के वश में आकर जीवात्मा इस सम्बन्ध को भूल जाता है और विभिन्न योनियों के रूप में सोचता है, किन्तु जब पुन: उसे पूर्व चेतना प्राप्त होती है, तो वह ऐसी शारीरिक उपाधियों से बाधित नहीं होता। *भगवद्गीता* (५.१८) में *पण्डिता: समदर्शिन:* के शब्दों में इसे सूचित किया गया है।

भौतिक उपाधियों से जाति, रंग, नस्ल, राष्ट्रीयता आदि के रूप में अन्तर उत्पन्न होता है। जहाँ तक भौतिक शरीर का सम्बन्ध है, विभिन्न गोत्र अन्तर बताने वाले हैं, किन्तु जब कोई कृष्णभावनामृत में आ जाता है, तो वह तुरन्त अच्युत गोत्रधारी बन जाता है और इस प्रकार वह जाति, नस्ल, रंग तथा राष्ट्रीयता सम्बन्धी समस्त विचारों को लाँघ जाता है।

पृथु महाराज का ब्राह्मण कुल पर जो वैदिक ज्ञान में विद्वान् पण्डितों का द्योतक है, या अन्य वैष्णवों पर अधिकार न था, जो वैदिक ज्ञान से ऊपर थे। *पद्म पुराण* में यह कहा गया है—

अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जाति-बुद्धि
र्विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धि:।
श्रीविष्णोर्नाम्नि मन्त्रे सकलकलुषहे शब्द सामान्यबुद्धि-
र्विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीरर्यस्य वा नारकी स:॥

''जो यह सोचता है कि मन्दिर का अर्चा-विग्रह काष्ठ या पत्थर का बना है, जो शिष्य-परम्परा में गुरु को सामान्य व्यक्ति मानता है, जो अच्युत गोत्री वैष्णवों को किसी विशेष जाति या नस्ल से सम्बन्धित मानता है या जो चरणामृत अथवा गंगा जल को सामान्य जल मानता है, वह नरक में बसने के योग्य है।''

इस श्लोक में प्रस्तुत किये गये तथ्यों से प्रतीत होता है कि लोग तब तक राजा द्वारा शासित रहने चाहिए, जब तक वे वैष्णवों तथा ब्राह्मणों के पद पर नहीं पहुँच जाते, क्योंकि वे किसी के भी अधीन

नहीं होते। ब्राह्मण वह है, जो ब्रह्म को जानता है और वैष्णव वह है, जो भगवान् की सेवा करता है।

**एकदासीन्महासत्रदीक्षा तत्र दिवौकसाम् ।
समाजो ब्रह्मर्षीणां च राजर्षीणां च सत्तम ॥ १३ ॥**

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; आसीत्—व्रत लिया; महा-सत्र—महान् यज्ञ; दीक्षा—दीक्षा; तत्र—उस उत्सव में; दिव-ओकसाम्—देवताओं का; समाजः—सभा; ब्रह्म-ऋषीणाम्—परम साधु ब्राह्मणों का; च—भी; राज-ऋषीणाम्—परम साधु राजाओं का; च—भी; सत्-तम—सबसे महान् भक्त।

एक बार राजा पृथु ने एक महान् यज्ञ सम्पन्न करने का व्रत लिया जिसमें ऋषि, ब्राह्मण, स्वर्गलोक के देवता तथा बड़े-बड़े राजर्षि एकत्र हुए।

तात्पर्य : इस श्लोक में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि यद्यपि राजा पृथु का वासस्थान भारत में गंगा तथा यमुना नदियों के मध्य में था, किन्तु उनके उस महान् यज्ञ में देवताओं ने भी भाग लिया, जो यह बताता है कि पहले देवतागण इस लोक में आया करते थे। इसी प्रकार अर्जुन, युधिष्ठिर तथा अन्य अनेक महापुरुष उच्चलोकों की यात्रा किया करते थे। इस प्रकार उपयुक्त विमानों तथा अन्तरिक्ष यानों द्वारा लोक लोकान्तर में सञ्चार था।

**तस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः ।
उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडुराडिव ॥ १४ ॥**

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस सभा में; अर्हत्सु—पूज्यों का; सर्वेषु—सभी; सु-अर्चितेषु—भली-भाँति पूजित; यथा-अर्हतः—योग्यता के अनुसार; उत्थितः—उठकर खड़े हो गये; सदसः—सभासदों के; मध्ये—बीच; ताराणाम्—तारों के; उडु-राट्—चन्द्रमा; इव—सदृश।

उस महान् सभा में महाराज पृथु ने सर्वप्रथम समस्त सम्मानीय अतिथियों की उनके पदों के अनुसार यथा-योग्य पूजा की। फिर वे उस सभा के मध्य में खड़े हो गये। ऐसा प्रतीत हुआ मानो तारों के बीच पूर्ण चन्द्रमा का उदय हुआ हो।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति के अनुसार पृथु महाराज ने उस यज्ञस्थल पर महापुरुषों के स्वागत की जो व्यवस्था की थी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतिथि स्वागत की पहली विधि उनका पाद-प्रक्षालन है और वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि जब महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया, तो श्रीकृष्ण को अतिथियों के पाद-प्रक्षालन का कार्य सौंपा गया था। इसी तरह महाराज पृथु ने भी देवताओं, ऋषियों,

ब्राह्मणों तथा महाराजाओं के समुचित स्वागत की व्यवस्था की थी।

प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः ।
सुनासः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रांशुः—अत्यन्त ऊँचा; पीन-आयत—पूर्ण तथा चौड़ी; भुजः—बाँहें; गौरः—गोरे रंग का; कञ्ज—कमल के समान; अरुण-ईक्षणः—चमकीले नेत्र, जो सूर्योदय के समान हैं; सु-नासः—सीधी नाक; सु-मुखः—सुन्दर मुँह; सौम्यः—सौम्य; पीन-अंसः—उठे हुए कंधे; सु—सुन्दर; द्विज—दाँत; स्मितः—हँसते हुए।

राजा पृथु का शरीर अत्यन्त ऊँचा और पुष्ट था और उनका रंग गोरा था। उनकी बाहें पूर्ण तथा चौड़ी और नेत्र उदीयमान सूर्य के समान चमकीले थे। उनकी नाक सीधी, मुख अत्यन्त सुन्दर तथा व्यक्तित्व सौम्य था। मुस्कान से युक्त उनके मुख में दाँत सुन्दर ढंग से लगे थे।

तात्पर्य : चारों वर्णों में क्षत्रिय पुरुष तथा स्त्रियाँ सामान्यतः अत्यन्त सुन्दर होते हैं। जैसाकि अगले श्लोकों से प्रकट है, पृथु के शारीरिक अंग न केवल आकर्षक थे, वरन् उनके शरीर में सभी शुभ लक्षण उपलब्ध थे।

कहा जाता है, "मुख मन का सूचक है।" मनुष्य की मानसिक स्थिति उसके चेहरे की बनावट से प्रकट होती है। किसी व्यक्ति विशेष की शारीरिक बनावट उसके पूर्वकर्मों के अनुसार होती है, क्योंकि पूर्वकर्मों के अनुसार ही उसकी अगली शारीरिक बनावट होती है। चाहे मानव समाज हो, चाहे पशु या देवताओं का समाज हो। विभिन्न प्रकार के शरीरों में देहान्तर का यह प्रमाण है।

व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिर्वलिवल्गुदलोदरः ।
आवर्तनाभिरोजस्वी काञ्चनोरुरुदग्रपात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

व्यूढ—चौड़ी; वक्षाः—छाती; बृहत्-श्रोणिः—चौड़ी कमर; वलि—झुर्रियाँ, सिलवट; वल्गु—अत्यन्त सुन्दर; दल—वटवृक्ष की पत्ती के समान; उदरः—पेट; आवर्त—कुण्डलीदार; नाभिः—नाभि; ओजस्वी—प्रकाशयुक्त; काञ्चन—सुनहली; उरुः—जाँघें; उदग्र-पात्—उभरे हुए पंजे।

महाराज पृथु की छाती चौड़ी थी, उनकी कमर अत्यन्त स्थूल तथा उनका उदर बल पड़े हुए होने के कारण वट वृक्ष की पत्तियों की रचना के समान लग रहा था। उनकी नाभि भँवर जैसी तथा गहरी, उनकी जाँघें सुनहरे रंग की तथा उनके पंजे उभरे हुए थे।

सूक्ष्मवक्रासितस्निग्धमूर्धजः कम्बुकन्धरः ।
महाधने दुकूलाछ्ये परिधायोपवीय च ॥ १७॥

शब्दार्थ

सूक्ष्म—अत्यन्त महीन; वक्र—घुँघराले; असित—काले; स्निग्ध—चिकने; मूर्धजः—सिर के बाल; कम्बु—शंख सदृश; कन्धरः—गला; महा-धने—अत्यन्त मूल्यवान; दुकूल-अछ्ये—धोती पहने; परिधाय—शरीर के ऊपरी भाग में; उपवीय—जनेऊ के समान रखा हुआ; च—भी।

उनके सिर के काले तथा चिकने बाल अत्यन्त सुन्दर तथा घुँघराले थे और शंख जैसी गरदन शुभ रेखाओं से अलंकृत थी। वे अत्यन्त मूल्यवान धोती पहने थे और शरीर के ऊपरी भाग में सुन्दर सी चादर ओढ़े थे।

व्यञ्जिताशेषगात्रश्रीर्नियमे न्यस्तभूषणः ।
कृष्णाजिनधरः श्रीमान्कुशपाणिः कृतोचितः ॥ १८॥

शब्दार्थ

व्यञ्जित—सूचित; अशेष—असंख्य; गात्र—शारीरिक; श्रीः—शोभा; नियमे—नियमित; न्यस्त—त्यक्त; भूषणः—वस्त्र; कृष्ण—काला; अजिन—चमड़ी; धरः—धारण किये; श्रीमान्—सुन्दर; कुश-पाणिः—उँगलियों में कुश धारण किये; कृत—सम्पन्न किया; उचितः—वाञ्छित।

चूँकि महाराज को यज्ञ सम्पन्न करने के लिए दीक्षित किया जा रहा था, अतः उन्हें अपने बहुमूल्य वस्त्र उतारने पड़े थे, जिससे उनका प्राकृतिक शारीरिक सौन्दर्य दृष्टिगोचर हो रहा था। उन्हें काला मृग चर्म पहने तथा उँगली में कुश-वलय (पैती) पहने देखकर अच्छा लग रहा था, क्योंकि इससे उनकी शारीरिक कान्ति बढ़ गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञ के पूर्व महाराज पृथु समस्त विधि-सम्मत कृत्य सम्पन्न कर चुके थे।

शिशिरस्निग्धताराक्षः समैक्षत समन्ततः ।
ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव ॥ १९॥

शब्दार्थ

शिशिर—ओस; स्निग्ध—गीला; तारा—नक्षत्र; अक्षः—आँखें; समैक्षत—देखा; समन्ततः—चारों ओर; ऊचिवान्—बोलने लगा; इदम्—यह; उर्वीशः—अत्यन्त सम्मान्य; सदः—सदस्यों के मध्य; संहर्षयन्—उनकी प्रसन्नता को बढ़ाते हुए; इव—मानो।

सभा के सदस्यों को प्रोत्साहित करने तथा उनकी प्रसन्नता को बढ़ाने के लिए राजा पृथु ने, ओस से नम आकाश में तारों के समान नेत्रों से, उन पर दृष्टि फेरी और फिर गम्भीर वाणी में उनसे कहा।

चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम् ।
सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव ॥ २० ॥

शब्दार्थ

चारु—सुन्दर; चित्र-पदम्—अलंकारिक; श्लक्ष्णम्—अत्यन्त स्पष्ट; मृष्टम्—महान्; गूढम्—सार्थक; अविक्लवम्—नि:शंक; सर्वेषाम्—सबों को; उपकार-अर्थम्—लाभ पहुँचाने के लिए; तदा—उस समय; अनुवदन्—दुहराने लगा; इव—समान।

महाराज पृथु की वाणी अत्यन्त सुन्दर, आलंकारिक भाषा से युक्त, सुस्पष्ट तथा श्रुतिमधुर थी। उनके शब्द अत्यन्त गम्भीर तथा अर्थवान् थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे बोलते समय परम सत्य सम्बन्धी अपनी निजी अनुभूति व्यक्त कर रहे थे जिससे वहाँ पर उपस्थित सभी लोग लाभ उठा सकें।

तात्पर्य : महाराज पृथु की बाह्य शारीरिक बनावट अत्यन्त सुन्दर थी और उनकी वाणी भी सभी प्रकार से ओजस्वी थी। उनके शब्द आलंकारिक भाषा से युक्त होने से सुनने में मधुर, विनम्र तथा सुस्पष्ट और किसी प्रकार की शंका या दुविधा से रहित थे।

राजोवाच
सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः ।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; सभ्याः—हे देवियों और सज्जनों; शृणुत—कृपा करके सुनिये; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम्हारा; साधवः—समस्त महापुरुष; ये—जो; इह—यहाँ; आगताः—उपस्थित; सत्सु—भद्र पुरुषों के प्रति; जिज्ञासुभिः—जानने के इच्छुक; धर्मम्—धार्मिक नियम; आवेद्यम्—निवेदन करे; स्व-मनीषितम्—अपना-अपना निश्चय।

राजा पृथु ने कहा : हे सभासदो, आप सब का कल्याण हो। जितने भी महापुरुष इस सभा में उपस्थित हुए हैं, वे मेरी प्रार्थना को ध्यानपूर्वक सुनें। जो भी व्यक्ति वास्तव में कुछ जानने का इच्छुक हो वह भद्र-जनों की इस सभा के समक्ष अपना निश्चय प्रस्तुत करे।

तात्पर्य : प्रस्तुत श्लोक में *साधवः* (समस्त महापुरुष) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब कोई व्यक्ति महान् एवं विख्यात होता है, तो अनेक दुर्जन उसके शत्रु बन जाते हैं, क्योंकि भौतिकतावादियों का स्वभाव ईर्ष्या करना है। किसी भी सभा में कई प्रकार के लोग रहते हैं, अत: महाराज पृथु की सभा में भी अनेक शत्रु उपस्थित रहे होंगे, भले ही वे अपने आपको व्यक्त न कर सकें। किन्तु महाराज पृथु को ऐसे लोगों की चिन्ता थी जो भद्र थे, अत: सर्वप्रथम उन्होंने समस्त भ्रद पुरुषों को सम्बोधित किया; उन्होंने ईर्ष्यालु व्यक्तियों की परवाह नहीं की। फिर भी उन्होंने अपने को राजा के रूप में प्रस्तुत नहीं

किया, क्योंकि वे ऋषियों तथा साधु पुरुषों की सभा के समक्ष अत्यन्त विनीत भाव से अपने विचार प्रस्तुत करना चाह रहे थे। विश्व सम्राट होने के कारण वे उन्हें आज्ञा दे सकते थे, किन्तु वे इतने विनीत तथा ईमानदार थे कि उन्होंने अपने प्रौढ़ निश्चय को स्पष्ट करने के लिए सर्व स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया। इस जगत का प्रत्येक प्राणी गुणों से बद्ध होने के कारण चार अवगुणों से युक्त रहता है। यद्यपि पृथु महाराज इन सबसे ऊपर थे, तो भी उन्होंने सामान्य बद्धजीव के समान अपने विचार वहाँ पर उपस्थित ऋषियों, मुनियों तथा महापुरुषों के समक्ष रखे।

अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः ।
रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ॥ २२॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; दण्ड-धरः—राजदण्ड धारण करने वाला; राजा—राजा; प्रजानाम्—प्रजा का; इह—इस संसार में; योजितः—तत्पर; रक्षिता—रक्षक; वृत्ति-दः—आजीविका देने वाला; स्वेषु—अपने आप में; सेतुषु—अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं (मर्यादा) में; स्थापिता—स्थापित; पृथक्—अलग-अलग।.

राजा पृथु ने आगे कहा : भगवत्कृपा से मैं इस लोक का राजा नियुक्त हुआ हूँ और मैं प्रजा के ऊपर शासन करने, उसे विपत्ति से बचाने तथा वैदिक आदेश से स्थापित सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक की स्थिति के अनुसार उसे आजीविका प्रदान करने के लिए यह राजदण्ड धारण कर रहा हूँ।

तात्पर्य : यह माना जाता है कि राजा की नियुक्ति भगवान् द्वारा अपने लोक विशेष के हित की रक्षा के लिए की जाती है। प्रत्येक लोक में एक अधिष्ठाता व्यक्ति होता है, जिस प्रकार आजकल प्रत्येक देश का एक राष्ट्रपति होता है। यदि कोई राष्ट्रपति या राजा बनता है, तो यह समझना चाहिए कि उसे यह सुअवसर ईश्वर-प्रदत्त है। वैदिक पद्धति के अनुसार राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर प्रजा द्वारा उसका मानव रूपी ईश्वर के ही समान आदर किया जाता है। वास्तव में वैदिक आदेशों के अनुसार परमेश्वर समस्त जीवात्माओं का और विशेष रूप से मनुष्यों का पालन करता है, जिससे वे उच्चतम पद प्राप्त करें। निम्न योनियों में अनेक जन्म लेते रहने के बाद जब जीवात्मा को मनुष्य योनि प्राप्त होती है विशेष रूप से सभ्य जीवन का तो समाज चार श्रेणियों में बँट जाता है जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है (*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्*)। ये चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र समाज के प्राकृतिक वर्ण है और जैसाकि पृथु महाराज ने घोषणा की कि प्रत्येक वर्ण के प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन

का उपयुक्त साधन प्राप्त होना चाहिए। राजा या सरकार का कर्तव्य है कि वह देखे कि लोग वर्णाश्रम धर्म का पालन करें तथा अपने-अपने व्यवसाय में लगे हों। आधुनिक समय में सरकारी या राजकीय संरक्षण प्राप्त न होने से सामाजिक व्यवस्था लगभग ढह गई है। किसी को भी ज्ञात नहीं है कि कौन ब्राह्मण है, कौन क्षत्रिय है, कौन वैश्य अथवा कौन शूद्र है। लोग अपने को जन्म से ही किसी वर्ण विशेष से सम्बद्ध बताते हैं। सरकार का कर्तव्य है कि वह वृत्तिपरक कार्यों तथा भौतिक प्रकृति के गुणों के अनुसार वर्णाश्रम-व्यवस्था स्थापित करे जिससे सम्पूर्ण संसार सुसंस्कृत हो सके। यदि सरकार चार सामाजिक वर्णों का पालन नहीं करती तो मानव समाज पशु समाज के तुल्य है, जिसमें न शान्ति और न सम्पन्नता रहती है, केवल अशान्ति व्याप्त रहती है। आदर्श राजा के रूप में महाराज पृथु ने वैदिक सामाजिक व्यवस्था का दृढ़तापूर्वक पालन किया।

प्रजायते इति प्रजा। प्रजा शब्द का अर्थ है, जो जन्म लेता है, अत: पृथु राजा ने अपने राज्य में जन्मे सभी लोगों—*प्रजानाम्*—को सुरक्षा प्रदान की। प्रजा का अर्थ न केवल मनुष्य है, वरन् इसमें पशु, वृक्ष तथा अन्य सजीव प्राणी भी आते हैं। यह राजा का कर्तव्य है कि वह सभी को संरक्षण तथा भोजन प्रदान करे। आधुनिक समाज के मूर्ख तथा धूर्तजन सरकार के उत्तरदायित्व-क्षेत्र को नहीं जानते। पशु भी उस भूमि की प्रजा हैं जिसमें उनका जन्म होता है और उन्हें भी भगवान् के सहारे जीने का अधिकार प्राप्त है। पशुओं की बड़े पैमाने पर हत्या से पशुओं की जनसंख्या में गड़बड़ी होने के कारण कसाई, देश तथा सरकार का भविष्य संकट में पड़ जाएगा।

तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः ।
लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; मे—मेरा; तत्—उस; अनुष्ठानात्—सम्पन्न करने से; यान्—वह जो; आहुः—कहा जाता है; ब्रह्म-वादिनः—वैदिक ज्ञान के वेत्ता; लोकाः—भूखंड; स्युः—होए; काम-सन्दोहाः—इच्छित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए; यस्य—जिसका; तुष्यति—संतुष्ट होता है; दिष्ट-दृक्—नियति का द्रष्टा।.

महाराज पृथु ने कहा : मेरा विचार है कि राजा के कर्तव्य-पालन करने से मैं वैदिक ज्ञान के वेत्ताओं द्वारा वर्णित अभीष्ट उद्देश्य प्राप्त कर सकूंगा। यह गन्तव्य निश्चय ही भगवान् की प्रसन्नता से प्राप्त होता है, जो समस्त नियति का द्रष्टा है।

तात्पर्य : महाराज पृथु ने *ब्रह्मवादिन:* (वैदिक ज्ञान में दक्षजनों द्वारा) शब्द पर बल दिया है। ब्रह्म

वेदों का सूचक है, जिन्हें *शब्द–ब्रह्म* भी कहा जाता है। लिपिबद्ध सामान्य भाषा में लिखित होने पर भी सामान्य भाषा नहीं। वैदिक साहित्य के साक्ष्य को ही अन्तिम प्रमाण मानना चाहिए। वैदिक साहित्य में पर्याप्त जानकारी है, विशेषत:राजा के कर्तव्य पालन के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी प्राप्त है। जो राजा अपने लोक के समस्त प्राणियों को सुरक्षा प्रदान करते हुए अपने निर्धारित कर्तव्य निबाहता है, वह स्वर्गलोक का भागी होता है। यह सब परमेश्वर की प्रसन्नता पर भी निर्भर है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि कोई अपना कर्तव्य भली–भाँति निबाहता है, तो वह स्वत: स्वर्गलोक चला जाएगा, यह तो परमेश्वर के प्रसन्न होने पर निर्भर करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमेश्वर को प्रसन्न कर लेने पर मनुष्य को अपने कार्यों का वांछित फल प्राप्त होता है। *श्रीमद्‌भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में भी इसकी पुष्टि हुई है—

अत: पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागश: ।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥

नियत कार्यों का ठीक से सम्पादन ही परमेश्वर की परम तुष्टि है। *काम–सन्दोहा* शब्द का अर्थ है, ''वांछित फल की प्राप्ति।'' प्रत्येक प्राणी जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, किन्तु आधुनिक सभ्यता के महान् वैज्ञानिक सोचते हैं कि मनुष्य जीवन की कोई योजना नहीं है। यह निपट मूर्खता अत्यन्त घातक है और सभ्यता को अत्यन्त खतरनाक बनाती है। लोग प्रकृति के उन नियमों को नहीं जानते जो परमेश्वर के आदेश हैं। पक्के नास्तिक होने के कारण उनका ईश्वर के अस्तित्व तथा उनके आदेशों पर कोई विश्वास नहीं होता, अत: वे यह नहीं जान पाते कि प्रकृति किस प्रकार कार्यशील है। आम जनता की, जिसमें तथाकथित वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सम्मिलित हैं, यह निरी मूर्खता जीवन को ऐसा भयावह बना देती है, जिससे लोग यह नहीं जान पाते कि वे जीवन में उन्नति कर रहे हैं अथवा नहीं। *श्रीमद्‌भागवत* (७.५.३०) के अनुसार वे संसार के गहनतम क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रहे हैं—*अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रम् ।* अत: दार्शनिकों, वैज्ञानिकों तथा सामान्य जनों को जीवन की नियति के विषय में सही ज्ञान प्रदान करने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन चलाया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को इस आन्दोलन से लाभ उठाना चाहिए और यह सीखना चाहिए कि जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है।

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन् ।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः ॥ २४॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई (राजा या शासक); उद्धरेत्—वसूल करते हैं; करम्—कर, टैक्स; राजा—राजा; प्रजाः—नागरिक; धर्मेषु—अपने-अपने कर्तव्यों में; अशिक्षयन्—उन्हें उनके कर्तव्यों की शिक्षा दिये बिना; प्रजानाम्—नागरिकों का; शमलम्—अपवित्र; भुङ्क्ते—भोगता है; भगम्—धन; च—भी; स्वम्—अपना; जहाति—त्यागता है; सः—वह राजा।.

कोई राजा जो अपनी प्रजा को वर्ण तथा आश्रम के अनुसार अपने-अपने कर्तव्यों को करने की शिक्षा न देकर उनसे केवल कर और उपकर वसूल करता है, उसे प्रजा द्वारा किये गये अपवित्र कार्यों के लिए दण्ड भोगना होता है। ऐसी अवनति के साथ ही राजा की अपनी सम्पदा भी जाती रहती है।

तात्पर्य : राजा, शासक या राष्ट्रपति को चाहिए कि अपना कर्तव्य निबाहे बिना केवल अपने पद पर बना न रहे। उसे अपने राज्य के अन्तर्गत लोगों को सिखाना चाहिए कि वर्ण तथा आश्रम धर्म का कैसे निर्वाह किया जाये। यदि राजा ऐसे आदेश देने में ढिलाई बरतता है और मात्र कर लगाने में ही सन्तुष्ट रहता है, तो जो इस संग्रहण कार्य में शरीक होते हैं यथा सभी सरकारी कर्मचारी तथा राज्य का प्रमुख, उन्हें जनता के अपवित्र कार्यों (पापकर्मों) का भागी होना पड़ता है। प्रकृति के नियम अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई किसी पापमय स्थान पर भोजन करता है, तो वह वहाँ पर घटित पाप के कर्मफल का भागी होता है (इसीलिए वैदिक प्रथा है कि गृहस्थ ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को उत्सव सम्पन्न करते समय अपने घर भोजन करने के लिए आमंत्रित करता है, क्योंकि ब्राह्मण और वैष्णव उसे पापकर्म से मुक्त करा सकते हैं, किन्तु कट्टर ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को चाहिए कि वे सभी जगहों के आमंत्रण स्वीकार न करें। हाँ, जिन भोजों में प्रसाद वितरित होता हो वहाँ जाने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है)। ऐसे अनेक सूक्ष्म नियम हैं जिनका लोगों को ज्ञान नहीं होता, किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व-भर के लोगों के लाभार्थ इस वैदिक ज्ञान का वैज्ञानिक विधि से प्रचार कर रहा है।

तत्प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयवः ।
कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २५॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; प्रजाः—हे प्रजागण; भर्तृ—स्वामी के; पिण्ड-अर्थम्—मृत्यु के पश्चात् कल्याण; स्व-अर्थम्—अपना हित; एव—निश्चय ही; अनसूयवः—बिना ईर्ष्या के; कुरुत—करो; अधोक्षज—भगवान्; धियः—उनका चिन्तन; तर्हि—अतः; मे—मुझ पर; अनुग्रहः—कृपा; कृतः—की गई।.

पृथु महाराज ने आगे कहा : अतः प्रिय प्रजाजनों, तुम्हें अपने राजा की मृत्यु के बाद उसके कल्याण के लिए वर्ण तथा आश्रम की अपनी-अपनी स्थितियों के अनुसार अपने-अपने कर्तव्यों का उचित ढंग से पालन करना चाहिए और उस के साथ ही अपने हृदयों में भगवान् का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करने से तुम अपने हितों की रक्षा कर सकोगे और अपने राजा की मृत्यु के उपरान्त उसके कल्याण के लिए अनुग्रह प्रदान कर सकोगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अधोक्षज-धियः* शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं जिनका अर्थ है ''कृष्णभावनामृत।'' राजा तथा प्रजा दोनों को कृष्णभावनाभावित होना चाहिए अन्यथा मृत्यु के बाद उन्हें निम्न योनियों में जाना होगा। उत्तरदायी सरकार को चाहिए कि सबों के लाभ हेतु कृष्णभावनामृत की शिक्षा दे। कृष्णभावनामृत के बिना राज्य अथवा नागरिक कोई भी जिम्मेदार नहीं बन सकते। अतः पृथु महाराज ने नागरिकों से विशेष रूप से अनुरोध किया कि वे कृष्णभावनाभावित हों और वे उन्हें यह सिखाने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे। कृष्णभावनामृत का सार *भगवद्गीता* (९.२७) में दिया हुआ है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

''तू जो भी कर्म करे, जो कुछ खाए, जो कुछ दान दे और जो भी तपस्या करे, वह सब कृष्णभावनामृत में करे या भगवान् को प्रसन्न करने के लिए करे।'' यदि सरकारी नौकरों समेत राज्य के सारे लोगों को आध्यात्मिक जीवन की विधि सिखला दी जाये तो यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के कठोर नियमों के द्वारा विभिन्न प्रकार से कड़ा से कड़ा दण्ड पा सकता है, किन्तु वे इनसे प्रभावित नहीं होंगे।

यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः ।
कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यूयम्—यहाँ पर उपस्थित तुम सभी; तत्—उस; अनुमोदध्वम्—मेरे प्रस्ताव का अनुमोदन करें; पितृ—पितृलोक से आने वाले लोग; देव—स्वर्ग से आने वाले लोग; ऋषयः—बड़े-बड़े मुनि तथा साधुपुरुष; अमलाः—पापकर्मों से निर्मल; कर्तुः—कर्ता; शास्तुः—आज्ञा देने वाला; अनुज्ञातुः—समर्थक का; तुल्यम्—समान; यत्—जो; प्रेत्य—मरकर; तत्—वह; फलम्—फल।

मैं समस्त शुद्ध अन्तःकरण वाले देवताओं, पितरों तथा साधुपुरुषों से प्रार्थना करता हूँ कि वे

मेरे प्रस्ताव का समर्थन करें, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् किसी भी कर्म का फल इसके कर्ता, आदेशकर्ता तथा समर्थक के द्वारा समान रूप से भोग्य होता है।

तात्पर्य : पृथु महाराज का शासन परिपूर्ण था, क्योंकि यह वैदिक आदेशों के अनुसार चलाया जा रहा था। पृथु महाराज पहले ही बता चुके हैं कि सरकार का मुख्य कर्तव्य यह देखना है कि सभी लोग अपना-अपना कर्तव्य निबाहें और कृष्णभावनामृत के पद तक ऊपर उठें। सरकार को इस तरह चलाया जाये कि प्रत्येक व्यक्ति स्वत: कृष्णभावनाभावित हो सके। अत: राजा पृथु चाह रहे थे कि वे इसमें उनका सम्पूर्ण सहयोग दें, क्योंकि उनकी सहमति होने पर मृत्यु के पश्चात् उन्हें भी राजा के ही समान लाभ मिलेगा। यदि कुशल राजा होने के कारण पृथु महाराज को स्वर्ग की प्राप्ति हो तो उनको सहयोग देने वाली प्रजा भी उनके साथ ऊपर उठ सकेगी। चूँकि इस समय जो कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चलाया जा रहा है, वह शुद्ध, परिपूर्ण तथा प्रामाणिक है और पृथु महाराज के चरणचिह्नों का अनुसरण कर रहा है, अत: जो भी इस आन्दोलन में सहयोग देता है या इसके नियमों को स्वीकार करता है, उसे वही फल मिलेगा जो कृष्णभावनामृत का सक्रिय रूप से प्रचार करनेवाले कार्यकर्ताओं को मिलेगा।

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः ।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः ॥ २७॥

शब्दार्थ

अस्ति—है; यज्ञ-पतिः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; नाम—नामक; केषाञ्चित्—कुछ के मत से; अर्ह-सत्तमाः—हे माननीय; इह—इस लोक में; अमुत्र—मृत्यु के बाद; च—भी; लक्ष्यन्ते—दृष्टिगोचर हैं; ज्योत्स्ना-वत्यः—शक्तिमान, सुन्दर; क्वचित्—कहीं कहीं; भुवः—शरीर।

माननीय देवियो तथा सज्जनो, शास्त्रों के प्रामाणिक कथनों के अनुसार कोई ऐसा परम अधिकारी होना चाहिए जो हमें अपने-अपने वर्तमान कार्यों के अनुसार पुरस्कृत कर सके। अन्यथा इस जीवन में तथा मृत्यु के बाद के जीवन में कुछ लोग असामान्य सुन्दर तथा शक्तिमान क्योंकर हो सकते हैं?

तात्पर्य : पृथु महाराज का अपने राज्य में शासन करने का एकमात्र उद्देश्य अपनी प्रजा को ईश्वर-चेतना के पद तक उठाना था। चूँकि यज्ञशाला में विशाल सभा एकत्र थी, अत: वहाँ विभिन्न प्रकार के लोग उपस्थित थे, किन्तु उनकी अभिरुचि उन लोगों से बातें करने में थी जो नास्तिक नहीं थे। पिछले श्लोकों में बताया जा चुका है कि पृथु महाराज ने नागरिकों को *अधोक्षज-धियः* अर्थात् कृष्ण

भावनाभावित बनने की सलाह दी थी और इस श्लोक में वे शास्त्रों का प्रमाण विशेष रूप से प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि उनका पिता कट्टर नास्तिक था, जो वेदों में वर्णित आदेशों का पालन नहीं करता था और जिसने समस्त यज्ञों को रोक रखा था जिससे सारे ब्राह्मण रूष्ट हो गये थे और उन्होंने उसको न केवल सिंहासनच्युत किया था, वरन् शाप देकर मार डाला था। नास्तिक लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। वे दैनन्दिन जीवन में जो भी घटनाएँ घटती हैं उन्हें भौतिक व्यवस्था तथा दैवयोग के कारण हुई मानते हैं। नास्तिक लोग *प्रकृति* तथा *पुरुष* के संयोग के निरीश्वर सांख्य दर्शन में विश्वास करते हैं। वे केवल पदार्थ को मानते हैं और उनकी यह धारणा है कि मिश्रण की कतिपय परिस्थितियों में प्राण का उदय होता है, जो *पुरुष* रूप में प्रकट होता है, फिर पदार्थ तथा प्राण के संयोग से अनेक प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं। नास्तिक लोग वेदों के आदेशों की भी नहीं मानते। उनके अनुसार सभी वैदिक आदेश मात्र ऐसे सिद्धान्त हैं जिनका जीवन में कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए पृथु महाराज ने सुझाव रखा कि आस्तिक लोग नास्तिकों के विचारों का ठोस खंडन इस आधार पर करेंगे कि श्रेष्ठबुद्धि की व्यवस्था के बिना अनेक प्रकार की सृष्टियाँ सम्भव नहीं हैं। नास्तिक लोग अस्पष्ट रूप से कहते हैं कि ये विभिन्न सृष्टियाँ संयोगवश बनती हैं; किन्तु आस्तिक लोग वेदों के आदेशों पर विश्वास करने के कारण वेदों के निर्देशानुसार ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

विष्णु पुराण में कहा गया है कि सारी की सारी वर्णाश्रम व्यवस्था भगवान् को प्रसन्न करने के लिए है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों या कि ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों के कर्तव्यों के पालन हेतु बनाये गये विधि-विधान परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए बने हैं। यद्यपि सम्प्रति तथाकथित ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों ने मूल संस्कृति खो दी है, तो भी वे जन्म-अधिकार से अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होने का दावा करते हैं। पर वे यह मानने को तैयार नहीं कि ये सामाजिक तथा आध्यात्मिक व्यवस्थाएँ भगवान् विष्णु की पूजा के लिए हैं। शंकराचार्य ने जो घातक मायावाद सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि ईश्वर निराकार है, वह वेदों के आदेशों से मेल नहीं खाता; इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने मायावादी चिन्तकों को भगवान् के विरुद्ध सबसे बड़ा अपराधी बतलाया है। वैदिक प्रणाली के अनुसार जो वेदों की आज्ञाएँ नहीं मानता वह नास्तिक है। जब भगवान् बुद्ध ने

अहिंसा के सिद्धान्त का उपदेश दिया तो उन्हें वेदों के प्रमाण को बाध्य होकर इनकार करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप वेद-अनुयायियों ने उन्हें नास्तिक मान लिया। यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु ने बौद्ध दर्शन के अनुयायियों को नास्तिक बतलाया, क्योंकि वे वेदों के प्रमाण का निषेध करते हैं, किन्तु वे शंकराचार्य मतानुयायियों को बौद्धों से अधिक घातक मानते थे, क्योंकि वे छलपूर्वक वेदों के प्रमाण को स्थापित करना चाहते थे, किन्तु वास्तव में वे बौद्धों के मायावादी दर्शन का अनुसरण करते थे। शंकरवादी दार्शनिकों का यह सिद्धान्त है कि हमें ईश्वर का स्वरूप कल्पित करना होता है, जो ईश्वर की सत्ता के निषेध से कहीं अधिक घातक होता है। नास्तिकों तथा मायावादियों द्वारा इस प्रकार से दार्शनिक सिद्धान्त बनाने के बावजूद कृष्णभावनामृत के अनुयायी भगवद्गीता में दिये गये आदेशों का दृढ़ता से पालन करते हैं, क्योंकि भगवद्गीता को वैदिक शास्त्र का सार माना जाता है। *भगवद्गीता* (१८.४६) में कहा गया है—

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव: ॥

''जिस परमेश्वर से सब प्राणियों का जन्म हुआ है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है, मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्म से उसे पूजकर सिद्धि प्राप्त करता है।'' इससे सूचित होता है कि भगवान् प्रत्येक वस्तु का मूल स्रोत है जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है (*जन्माद्यस्य यत:*)। स्वयं भगवान् ने भी *भगवद्गीता* में पुष्टि की है—*अहं सर्वस्य प्रभव:*—''मैं प्रत्येक वस्तु का मूल हूँ।'' भगवान् समस्त उद्‌भवों का मूल स्रोत है और उसी के साथ परमात्मा-रूप में वह सारी सृष्टि में फैला हुआ है, अत: परम सत्य तो भगवान् हैं और हर एक जीव अपना कर्तव्य करते हुए भगवान् को प्रसन्न रखने के लिए है (*स्व-कर्मणा तमभ्यर्च्य*)। महाराज पृथु इस सूत्र को जनता के बीच में प्रचारित करना चाहते थे।

मानव-सभ्यता की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि मनुष्य को विभिन्न वृत्तिपरक कर्तव्यों में लगा रहकर इनके द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है—*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*—नियत कर्तव्य को पूरा करते हुए यदि कोई भगवान् को केवल प्रसन्न कर लेता है, तो वह जीवन में सफल होता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण अर्जुन है। वह

क्षत्रिय था, उसका कर्तव्य लड़ना था। उसने नियत कर्तव्यों का पालन करते हुए परमेश्वर को तुष्ट किया। अत: वह परिपूर्ण (सिद्ध) हो गया। हर एक को इसी नियम का पालन करना चाहिए। जो नास्तिक ऐसा नहीं करते उनकी भर्त्सना *भगवद्गीता* (१६.१९) में इस प्रकार की गई है—*तानहं द्विषत: क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।* इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि जो व्यक्ति ईश्वर से द्वेष रखते हैं, वे अत्यन्त अधम तथा अत्यधिक उपद्रवी मनुष्य होते हैं। परमेश्वर के विधि-विधानों के अन्तर्गत ऐसे उपद्रवी मनुष्यों को संसार के गहनतम भाग में डाल दिया जाता है और वे असुरों से या नास्तिकों से जन्म लेते हैं। जन्म-जन्मांतर ऐसे असुर और भी नीचे जाते रहते हैं और अन्त में बाघों या अन्य हिंस्र पशुओं की योनि में जाते हैं। इस प्रकार उन्हें लाखों वर्षों तक कृष्णज्ञान के बिना अंधकार में रहना होता है।

भगवान् पुरुषोत्तम कहलाते हैं। वे अन्य जीवों की ही तरह होते हैं, किन्तु वे समस्त जीवों में श्रेष्ठ होते हैं या उनके नायक होते हैं। इसका उल्लेख वेदों में भी हुआ है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* वे समस्त नित्यों के प्रधान, समस्त जीवात्माओं के प्रधान और पूर्ण हैं। उन्हें अन्य जीवों के मामलों में हस्तक्षेप करके कोई लाभ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु सबों के पालक होने के कारण उन्हें अधिकार है कि वे उन्हें ऐसे स्तर पर ले आएँ कि सभी जीव सुखी रहें। पिता चाहता है कि उसके सभी पुत्र उसके निर्देशन में सुखी हों। इसी प्रकार भगवान् या कृष्ण या परमात्मा को अधिकार है कि वे सभी जीवों को सुखी देखें। इस संसार में रहते हुए, किसी के लिए सुखी रहने की संभावना नहीं है। पिता तथा पुत्र तो नित्य हैं, किन्तु यदि जीवात्मा आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण शाश्वत जीवन के पद को प्राप्त नहीं करता तो उसके सुख का प्रश्न ही नहीं होता, किन्तु उन्हें अधिकार है कि अच्छों तथा बुरों में वे भेद करें यद्यपि पुरुषोत्तम को सामान्य जीवों से कोई लाभ नहीं उठाना होता। सही मार्ग यही होना चाहिए कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कर्म किये जाँय जैसाकि हम बता चुके हैं (*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*)। जीवात्मा चाहे जो भी कर्म करे, किन्तु यदि उसे सिद्धि चाहिए तो भगवान् को प्रसन्न करना होगा। अत: जो उन्हें प्रसन्न कर लेता है उसे जीवन की अच्छी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और जो अप्रसन्न रखता है, वह अवांछित स्थितियों में पड़ता है।

अत: यह निष्कर्ष निकला कि दो प्रकार के कर्म हैं—संसारी तथा यज्ञार्थ (*यज्ञार्थात्-कर्म*)। जो कर्म यज्ञ के लिए नहीं होता वह बन्धन का कारण बनता है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं*

कर्मबन्धन:—''विष्णु के यज्ञ हेतु कर्म करना होता है अन्यथा यह कर्म मनुष्य को भौतिक संसार के बन्धन में डालता है'' (*भगवद्‌गीता* ३.९)। यह कर्म बन्धन प्रकृति के कठोर नियमों के अनुसार प्रदान किया जाता है। यह भौतिक जीवन प्रकृति के द्वारा समुपस्थित अवरोधों पर विजय प्राप्त करने के लिए एक संघर्ष होता है। असुर-गण इन अवरोधों पर विजय पाने के लिए सतत संघर्ष करते रहते हैं और प्रकृति की मोहमयी शक्ति से अज्ञानी जीवात्माएँ कठिन परिश्रम करती हैं और इसी को सुख मानती हैं। यह माया कहलाती है। कठिन जीवन-संघर्ष के कारण वे पुरुषोत्तम भगवान् की सत्ता को अस्वीकार कर देते हैं।

जीवात्माओं के कार्यों को नियमित रखने के लिए ईश्वर ने हमें संहिताएँ प्रदान की हैं जिस प्रकार राजा अपने राज्य में विधि-संहिताएँ जारी करता है और जो भी नियम भंग करता है, वह दण्डित होता है। इसी प्रकार भगवान् ने वेदों का अच्युत ज्ञान प्रदान किया है, जिसे मानव जीवन के चार प्रकार के दोष कलुषित नहीं कर पाते। ये हैं त्रुटि करना, मोहग्रस्त होना, ठगना तथा इन्द्रियों का अपूर्ण होना। यदि हम वेदों से निर्देश न लेकर मनमाने ढंग से कार्य करते हैं, तो हम ईश्वरी नियमों के द्वारा अवश्य दण्डित होंगे, क्योंकि ईश्वर चौरासी लाख योनियाँ प्रदान करता है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त शरीर के अनुसार ही भौतिक जीवन अथवा इन्द्रियतृप्ति की क्रिया चलती रहती है, फलत: कर्मों का विभाजन पाप तथा पुण्य के रूप में हुआ है। *भगवद्‌गीता* (७.२८)में स्पष्ट उल्लेख है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता:॥

''जिन्होंने पुण्यकर्मों का आचरण किया है और जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त पुरुष निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते हैं।'' भगवान् की प्रेमाभक्ति में इस प्रकार लगे रहने को *अक्षोक्षज धिय:* कहते हैं जिसे राजा पृथु अपनी प्रजा द्वारा पालन किया जाना चाह रहे थे।

विभिन्न प्रकार के जीव संयोगवश तथा आवश्यकता के कारण नहीं उत्पन्न होते, ये तो जीवात्माओं के पाप तथा पुण्यकर्मों के अनुसार ईश्वर द्वारा निर्मित विभिन्न व्यवस्थाएँ होती हैं। पुण्यकर्म करके मनुष्य अच्छे राष्ट्र में, अच्छे परिवार में जन्म ले सकता है, सुन्दर शरीर प्राप्त कर सकता है और अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकता है या धनी बन सकता है। अतएव हम देखते हैं कि विभिन्न देशों तथा लोकों में जीवन

स्तर, शारीरिक स्वरूप तथा शैक्षिक स्तर भिन्न-भिन्न होते हैं और ये सब भगवान् द्वारा पाप या पुण्यकर्मों के अनुसार प्रदत्त हैं। अत: जीवन के विभिन्न प्रकार संयोगवश नहीं, अपितु पूर्वयोजना से विकसित होते हैं। यह योजना वेदों में वर्णित है। मनुष्य को चाहिए कि इस ज्ञान से लाभ उठाए और अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि जीवन के अन्त में, विशेष रूप से मनुष्य जीवन के अन्त समय, कृष्ण-चेतना का अभ्यास करते हुए भगवान् के धाम जा सके।

संयोग के सिद्धान्त की श्रेष्ठ व्याख्या वैदिक साहित्य में *अज्ञात-सुकृति* शब्दों में प्राप्त होती है, जिससे कर्ता के अनजाने किये गये पुण्यकर्मों का बोध होता है। किन्तु ये कर्म भी पूर्वनियोजित होते हैं। उदाहरणार्थ, कृष्ण सामान्य मनुष्य के रूप में आते हैं, वे चैतन्य महाप्रभु जैसे भक्त के रूप में आते हैं या फिर अपना प्रतिनिधि गुरु या शुद्ध भक्त के रूप में भेजते हैं। यह भी भगवान् द्वारा नियोजित कार्य होता है। वे प्रचार करने तथा शिक्षा देने आते हैं, अत: परमेश्वर के मायावश पुरुष को उनसे मिलने, बोलने तथा शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होता है और यदि किसी प्रकार से बद्धजीव ऐसे महापुरुषों की शरण में आता है और उनके घनिष्ठ सम्पर्क से कृष्णभक्त बन जाता है, तो वह भौतिक जीवन की परिस्थितियों से बच जाता है। अत: *भगवद्गीता* (१८.६६) में श्रीकृष्ण आदेश देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ॥

''सब प्रकार के धर्मों को छोड़ो और मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सारे पाप कर्मों से मुक्त कर दूँगा। डरो नहीं।'' *सर्व पापेभ्य:* का अर्थ है ''समस्त पापपूर्ण कार्यों से।'' जो व्यक्ति शुद्ध भक्त, गुरु या पृथु महाराज जैसे भगवान् के प्रामाणिक अवतार की संगति का लाभ उठाकर ईश्वर की शरण में जाता है उसकी रक्षा कृष्ण करते हैं। तब उसका जीवन सफल हो जाता है।

मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपते: ।
प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितु: पितु: ॥ २८ ॥
ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च ।
प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मनोः—मनु (स्वायंभुव मनु) के; उत्तानपादस्य—ध्रुव महाराज के पिता उत्तानपाद के; ध्रुवस्य—ध्रुव महाराज के; अपि—निश्चय ही; मही-पतेः—राजा के; प्रियव्रतस्य—ध्रुव महाराज के परिवार में प्रियव्रत के; राजर्षेः—राजर्षि का; अङ्गस्य—अङ्ग के; अस्मत्—मेरे; पितुः—पिता के; पितुः—पिता के; ईदृशानाम्—ऐसे महापुरुषों के; अथ—भी; अन्येषाम्—अन्यों के; अजस्य—परम अमर के; च—भी; भवस्य—जीवात्माओं के; च—भी; प्रह्लादस्य—महाराज प्रह्लाद के; बलेः—महाराज बलि के; च—भी; अपि—निश्चय ही; कृत्यम्—उनके द्वारा स्वीकार किया हुआ; अस्ति—है; गदा-भृता—गदा धारण करने वाले भगवान्।

इसकी पुष्टि न केवल वेदों के साक्ष्य से होती है, अपितु मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, प्रियव्रत तथा मेरे पितामह अंग एवं महाराज प्रह्लाद तथा बलि जैसे अन्य महापुरुषों तथा सामान्य व्यक्तियों के व्यक्तिगत आचरण द्वारा होती है। ये सभी आस्तिक थे और गदाधारी भगवान् के अस्तित्व में विश्वास करने वाले थे।

तात्पर्य : नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं कि मनुष्य को अपने कार्यों के सही मार्ग का निर्धारण साधु पुरुषों के चरणचिह्नों तथा किसी गुरु के पथप्रदर्शन में ज्ञानग्रंथों (शास्त्रों) के अनुसरण द्वारा करना चाहिए (*साधु-शास्त्र-गुरु-वाक्य*)। साधु पुरुष वैदिक आदेशों को प्रमाण मानकर तथा गुरु महापुरुषों के जीवन से उदाहरण देकर समुचित निर्देशन करता है। अपना जीवन सुधारने के लिए सर्वोत्तम विधि यही है कि यहाँ पर महाराज पृथु ने स्वायंभुव मनु से लेकर जिन अधिकारी महापुरुषों के नाम गिनाये हैं, उनके पदचिह्नों पर चला जाये। जीवन में सबसे सुरक्षित मार्ग यही है कि *श्रीमद्भागवत* में उल्लिखित महापुरुषों का अनुसरण किया जाये। ब्रह्मा, शिव, नारद, मनु, चारों कुमार, प्रह्लाद, बलि, यमराज, भीष्म, जनक, शुकदेव गोस्वामी तथा कपिल—ये सब महाजन हैं।

दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान्धर्मविमोहितान् ।
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

दौहित्र-आदीन्—मेरे पिता वेन जैसे दौहित्र; ऋते—के अतिरिक्त; मृत्योः—मृत्यु के; शोच्यान्—शोचनीय; धर्म-विमोहितान्—धर्म के पथ पर मोहग्रस्त हुए; वर्ग—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष; स्वर्ग—स्वर्गलोक तक ऊपर उठना; अपवर्गाणाम्—भौतिक कल्मष से मुक्त; प्रायेण—प्रायः; एक—एक; आत्म्य—श्रीभगवान्; हेतुना—के कारण।

यद्यपि धर्म के पथ पर साक्षात् मृत्यु के दौहित्र तथा मेरे पिता वेन जैसे शोचनीय पुरुष मोहग्रस्त हो जाते हैं, किन्तु ऊपर जिन समस्त महापुरुषों का उल्लेख हुआ है, वे यह स्वीकार करते हैं कि चतुर्वर्गों—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—का अथवा स्वर्ग के एकमात्र दाता पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं।

तात्पर्य : पृथु महाराज के पिता राजा वेन को ब्राह्मणों तथा साधुओं द्वारा तिरस्कृत होना पड़ा,

क्योंकि उसने भगवान् के अस्तित्व का निषेध करते हुए भगवान् को वैदिक यज्ञों द्वारा तुष्ट करने की विधि का बहिष्कार किया। दूसरे शब्दों में, वह नास्तिक था; उसका ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास न था और उसने अपने राज्य में वैदिक यज्ञों पर रोक लगा दी थी। पृथु महाराज ने वेन के चरित्र को शोचनीय कहा है, क्योंकि धार्मिक कृत्यों के सम्पन्न किये जाने के विषय में वह मूर्ख था। नास्तिकों का मत है कि धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष में सफलता पाने के लिए भगवान् की सत्ता स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार धर्म का उद्देश्य काल्पनिक ईश्वर की स्थापना है, जो मनुष्य को सच्चरित्र ईमानदार तथा न्यायप्रिय बनने के लिए प्रेरित करता है, जिससे सामाजिक व्यवस्था शान्ति के साथ चलती रहे। यही नहीं, वे यह भी कहते हैं कि इस कार्य के लिए ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सच्चरित्रता तथा नैतिकता के नियमों का अनुपालन पर्याप्त होगा। इसी प्रकार अच्छी-अच्छी योजनाएँ बनाकर यदि आर्थिक विकास के लिए श्रम किया जाये तो स्वत: आर्थिक उन्नति हो जाएगी। इसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति ईश्वर की कृपा के अधीन नहीं है, क्योंकि यदि कोई चाहे किसी भी साधन से प्रचुर धन अर्जित करता है, तो उसे इन्द्रियतृप्ति के अनेक अवसर प्राप्त होंगे। जहाँ तक मोक्ष का प्रश्न है उनका कथन है कि मोक्ष की बात करने की कोई आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि मरने के बाद सब कुछ समाप्त हो जाता है। किन्तु महाराज पृथु ने ऐसे नास्तिकों के प्रमाण को, जिनका अग्रणी, मृत्यु का दौहित्र तथा उनका पिता वेन था, नहीं स्वीकार किया। सामान्यत: पुत्री पिता के गुण अर्जित करती है और पुत्र अपनी माता के गुण पाता है। इस प्रकार मृत्यु की पुत्री सुनीथा को अपने पिता के सारे गुण मिले और वेन ने माता के गुणों को उत्तराधिकार में पाया। जो मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र के विधि-विधानों द्वारा नियंत्रित होता है उसके विचार भौतिक ही बने रहते है। चूँकि राजा वेन ऐसा ही व्यक्ति था, अत: वह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता था। आधुनिक सभ्यता राजा वेन के ही सिद्धान्तों को मानती है, किन्तु यदि हम धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो हमें भगवान् की सत्ता को मानना पड़ेगा। वैदिक साहित्य के अनुसार ईश्वर द्वारा प्रदत्त विधि-संहिता ही धर्म है।

यदि कोई धर्म तथा नैतिकता के मामलों में परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता तो उसे बताना होगा कि एक ही नैतिक स्तर के दो व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न फल क्यों प्राप्त होते हैं। यह सामान्य रूप से देखा जाता है कि यदि दो व्यक्तियों की नैतिकता, ईमानदारी तथा सदाचार का स्तर

एक-सा हो तो भी उनके पद एक से नहीं होते। इसी तरह आर्थिक विकास के क्षेत्र में यह देखा जाता है कि यदि दो पुरुष समान रूप से अहर्निश श्रम करें तो भी परिणाम एक से नहीं होते। एक व्यक्ति बिना काम किये ऐश्वर्यवान् हो सकता है, जबकि दूसरा व्यक्ति कठिन श्रम करके भी पेटभर भोजन नहीं पाता। इसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति के विषय में भी है। कभी-कभी पर्याप्त भोजन होने पर भी किसी-किसी मनुष्य का पारिवारिक जीवन सुखी नहीं रहता या वह अविवाहित ही रह जाता है, जबकि दूसरा मनुष्य आर्थिक स्थिति के ठीक न होते हुए भी इन्द्रियतृप्ति के अवसर प्राप्त करता रहता है। मनुष्य की अपेक्षा कूकर या शूकर जैसे पशुओं को भी इन्द्रियतृप्ति के अधिक अवसर प्राप्त होते रहते हैं। यदि हम मोक्ष को छोड़ दें और केवल जीवन की मूल आवश्यकताओं—धर्म, अर्थ तथा काम—पर विचार करें तो हम देखेंगे कि वे प्रत्येक के लिए एकसमान नहीं होतीं। अतः यह मानना ही होगा कि कोई-न-कोई ऐसा है, जो विभिन्न स्तरों को निश्चित करता है। कहने का तात्पर्य यह कि न केवल मोक्ष के लिए, अपितु इस जगत की सामान्य से सामान्य आवश्यकताओं के लिए भी मनुष्य को भगवान् पर निर्भर रहना होगा। अतः पृथु महाराज ने यह संकेत किया कि धनी माँ-बाप के होते हुए भी कभी-कभी उनकी सन्तानें सुखी नहीं रहतीं। इसी तरह कभी-कभी कुशल से कुशल डाक्टर द्वारा ओषधि दिये जाने पर रोगी मर जाता है। अथवा बड़ी-से-बड़ी नाव होते हुए भी मनुष्य डूब जाता है। इस तरह हम प्रकृति द्वारा उपस्थित बाधाओं के विरुद्ध संघर्ष कर सकते हैं, किन्तु हमें तब तक सफलता नहीं मिलती जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती।

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यत्-पाद—जिनके चरणकमल की; सेवा—सेवा; अभिरुचिः—रुचि; तपस्विनाम्—कठिन तपस्या करने वाले व्यक्ति; अशेष—असंख्य; जन्म—जन्म; उपचितम्—ग्रहण करते हैं; मलम्—गन्दगी; धियः—मन; सद्यः—शीघ्र; क्षिणोति—नष्ट करता है; अन्वहम्—प्रतिदिन; एधती—बढ़ने वाली; सती—होते हुए; यथा—जिस प्रकार; पद-अङ्गुष्ठ—चरणकमलों के अँगूठे से; विनिःसृता—निकला; सरित्—जल।

भगवान् के चरणकमलों की सेवा के लिए अभिरुचि होने से सन्तप्त मनुष्य अपने मन में असंख्य जन्मों से संचित मल को शीघ्र ही धो सकते हैं। जिस तरह भगवान् के चरणकमलों के

अँगूठों से निकलने वाला गंगा जल सब मलों को धो देता है, उसी प्रकार इस विधि से मन तुरन्त ही स्वच्छ हो जाता है और धीरे-धीरे आध्यात्मिकता अथवा कृष्णचेतना का विकास होता है।

तात्पर्य : भारत में यह देखा जा सकता है कि जो नित्य गंगा स्नान करता है, वह प्राय: समस्त रोगों से मुक्त रहता है। कलकत्ता के एक अत्यन्त सम्मान्य ब्राह्मण ने कभी भी डाक्टर की ओषधि नहीं खाई। बीमार पड़ने पर वह केवल गंगा जल पीता था और थोड़े ही समय में अच्छा हो जाता था। गंगा की महिमा समस्त भारतवासियों को तथा हमें भी ज्ञात है। गंगा नदी कलकत्ता के निकट से होकर बहती है। कभी-कभी गंगा के जल में मल तथा आस-पास की फैक्टरियों की अन्य गंदी वस्तुएँ बहती रहती हैं, तो भी हजारों लोग गंगा जल में स्नान करते हैं और वे नितान्त स्वस्थ तथा आध्यात्मिक अभिरुचि वाले होते हैं। यह गंगा जल का प्रभाव है। गंगा की ऐसी महिमा है, क्योंकि यह भगवान् के चरणकमलों के अंगूठे से निकली हैं। इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है या कृष्णभक्ति करता है, तो उसके असंख्य जन्मों से संचित सारे मल धुल जाते हैं। हमने देखा है कि ऐसे अनेक लोग जिनके विगत जीवन अत्यन्त कलुषित रहे हैं, कृष्णभक्ति ग्रहण करने के बाद उनके सारे कलुष धुल जाते हैं और आध्यात्मिक उन्नति बड़ी तेजी से होने लगती है। अत: पृथु महाराज उपदेश देते हैं कि परमेश्वर के आशीर्वाद के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं, चाहे वह तथाकथित धार्मिक, आर्थिक उन्नति हो या इन्द्रियतृप्ति। अत: मनुष्य को भगवान् की सेवा या कृष्णभक्ति करके तुरन्त पूर्ण मनुष्य बनना चाहिए, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा होती है (*क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति*)। एक जिम्मेदार राजा होने के कारण ही पृथु महाराज संस्तुति करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की शरण में जाये और इस प्रकार तुरन्त शुद्ध हो ले। श्रीकृष्ण भी *भगवद्गीता* में कहते हैं कि केवल उनकी सेवा करने से ही मनुष्यों के सारे पाप-कर्म फल दूर हो जाते हैं। जिस प्रकार उनकी शरण जाने पर श्रीकृष्ण किसी मनुष्य के समस्त पाप कर्मों के फल को दूर कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का प्रतिनिधि भी है जो भगवान् की कृपा के रूप में कार्य करता है। शिष्य को दीक्षित करने के बाद उसके पापमय जीवन के समस्त कर्म-फलों को हर लेता है। इस प्रकार यदि शिष्य गुरु द्वारा बताए नियमों का पालन करता है, तो वह शुद्ध रहता है और भौतिक कल्मष से दूषित नहीं होता।

इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि गुरु को, जो सदैव श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि का कार्य करता है, शिष्य के सारे पापों को समाप्त करना होता है। कभी-कभी गुरु को अपने शिष्यों के पापों से अभिभूत हो कर स्वयं कष्ट उठाना पड़ता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने सलाह दी है कि अधिक शिष्य नहीं बनाये जाँय।

विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमा-
नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनर्
न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥ ३२॥

शब्दार्थ

विनिर्धुत—विशेष रूप से धुला हुआ; अशेष—अनन्त; मनः-मलः—मानसिक चिन्तन अथवा मन का संचित मल; पुमान्—पुरुष; असङ्ग—ऊब कर; विज्ञान—वैज्ञानिक ढंग से; विशेष—विशेष रूप से; वीर्य-वान्—भक्तियोग से पुष्ट; यत्—जिसके; अङ्घ्रि—चरणकमल की; मूले—जड़ में; कृत-केतनः—शरण में जाकर; पुनः—फिर; न—कभी नहीं; संसृतिम्—संसार को; क्लेश-वहाम्—कष्टों से पूर्ण; प्रपद्यते—ग्रहण करता है।

जब भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण में आ जाता है, तो उसका सारा अज्ञान या कपोल कल्पनाएं धुल जाते हैं और उसमें वैराग्य प्रकट होने लगता है। यह तभी सम्भव है, जब वह भक्तियोग के अभ्यास से परिपुष्ट हो ले। एक बार भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेने पर भक्त कभी भी इस संसार में लौटना नहीं चाहता, जो तीन प्रकार के तापों (क्लेशों) से भरा हुआ है।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने अपने *शिक्षाष्टक* में कहा है, भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण महामंत्र—का जप अथवा भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा मनुष्य का मन क्रमशः समस्त प्रकार के मल से स्वच्छ हो जाता है। अनन्तकाल से भौतिक संगति में रहने से हमारे मनों में कूड़े का अम्बार लग चुका है। इसका पूरा-पूरा प्रभाव तब देखने को मिलता है, जब जीवात्मा अपने को शरीर मान बैठता है और इस तरह देहात्मबुद्धि से वह प्रकृति के कठोर नियमों में बँधकर जन्म तथा मृत्यु के चक्र में पड़ जाता है। जब मनुष्य भक्तियोग द्वारा अपने को शक्तिशाली बना लेता है, तो उसके मन का यह भ्रम दूर हो जाता है और उसे इन्द्रियतृप्ति अथवा इस संसार के प्रति कोई रुचि नहीं रह जाती।

भक्ति का लक्षण है *वैराग्य* तथा *ज्ञान*। मनुष्य शरीर नहीं है, यह बोध ही *ज्ञान* है और *वैराग्य* का

अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के प्रति अरुचि। भव–बन्धन से विलग होने के ये दोनों मूल सिद्धान्त भक्तियोग के बल पर फलीभूत हो सकते हैं। इस प्रकार जब भक्त भगवान् के चरणकमलों की प्रेमा–भक्ति में स्थिर हो जाता है, तो शरीर–त्याग के बाद वह इस संसार में पुनः नहीं आता जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भगवान् द्वारा हुई है (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)।

इस श्लोक में आगत *विज्ञान* शब्द का विशेष महत्त्व है। जब मनुष्य अपने को शरीर नहीं मानता तो वह जो आध्यात्मिक अभिज्ञान प्राप्त करता है, वह ज्ञान है और इसी की व्याख्या *भगवद्गीता* में *ब्रह्म–भूत* के रूप में की गई है। भौतिक संसार की बद्ध अवस्था में आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य अपनी भौतिक पहचान बनाये रखना चाहता है। भौतिक संसार तथा आध्यात्मिक संसार के अन्तर का बोध ही ज्ञान है। ज्ञान प्राप्त करने अथवा ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त कर लेने पर अन्ततः भक्ति की प्राप्ति होती है, जिसमें मनुष्य को अपनी स्थिति तथा भगवान् की स्थिति का पूरा–पूरा ज्ञान हो जाता है। यहाँ पर यह बोध *विज्ञान–विशेष* के रूप में व्याख्यायित हुआ है। अतः भगवान् का कथन है कि मेरा ज्ञान ही *विज्ञान* है। दूसरे शब्दों में, जब मनुष्य परमेश्वर के वैज्ञानिक ज्ञान से युक्त हो जाता है, तो उसका मोक्ष सुनिश्चित है। *भगवद्गीता* (९.२) में भक्ति के विज्ञान को *प्रत्यक्षावगमं धर्म्यम्* कहा गया है।

मनुष्य भक्तियोग के द्वारा आध्यात्मिक जीवन में अपनी प्रगति को प्रत्यक्ष देख सकता है। अन्य योगों जैसे कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा ध्यानयोग में वह अपनी उन्नति के विषय में सुनिश्चित नहीं हो पाता, किन्तु भक्तियोग में उसे उसी प्रकार अपनी उन्नति का पता चल जाता है, जिस प्रकार भोजन करने वाले को पता चल जाता है कि उसकी भूख तुष्ट हो गई। भोग तथा भौतिक संसार पर अधिकार करने की झूठी क्षुधा वासना तथा अज्ञान की प्रमुखता के कारण होती है। *भक्ति–योग* से इन दोनों में कमी आती है और मनुष्य सतोगुण में स्थित हो जाता है। इसको पार कर वह शुद्ध सत्त्व में पहुँच जाता है, जो भौतिक गुणों से कलुषित नहीं होता। इस प्रकार स्थित होकर भक्त के सारे सन्देह जाते रहते हैं। उसे यह पता रहता है कि वह इस भौतिक जगत में फिर से नहीं लौटेगा।

तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभि–

र्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः ।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं
यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एव—निश्चय ही; यूयम्—तुम समस्त नागरिक; भजत—पूजा करो; आत्म—अपना; वृत्तिभिः—वृत्तिपरक कार्य द्वारा; मनः—मन; वचः—वाणी; काय—शरीर; गुणैः—विशिष्ट गुणों द्वारा; स्व-कर्मभिः—अपने-अपने कर्मों से; अमायिनः—बिना हिचक; काम-दुघ—समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाले; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमल की; यथा—जिस प्रकार; अधिकार—सामर्थ्य; अवसित-अर्थ—अपने हित के विषय में पूरी तरह आश्वस्त; सिद्धयः—तुष्टि।

पृथु महाराज ने अपने प्रजाजनों को उपदेश दिया : तुम सबों को अपने मन, वचन, देह तथा कर्मों के फल सहित सदैव खुले मन से भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। तुम सब अपनी सामर्थ्य तथा वृत्तिपरक कार्यों के अनुसार पूरे विश्वास तथा बिना हिचक के भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न रहो। तब निश्चय ही तुम्हें अपने-अपने जीवन-उद्देश्य प्राप्त करने में सफलता प्राप्त होगी।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय में कहा गया है—*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य*—मनुष्य को अपने वृत्तिपरक कार्यों द्वारा भगवान् की पूजा करनी होती है। इसमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ता है। अतः पृथु महाराज कहते हैं—*गुणैः स्वकर्मभिः ।* इस पदांश की व्याख्या *भगवद्गीता* में इस प्रकार प्राप्त है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—"भगवान् द्वारा प्राकृतिक गुणों तथा उन गुणों के अन्तर्गत विशिष्ट कर्तव्यों के अनुसार चारों जातियाँ (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) बनाई गईं।" जो व्यक्ति सतोगुणी होता है, वह निश्चित रूप से अन्यों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होता है। अतः वह ब्राह्मण के कार्य—सत्य बोलना, इन्द्रियों का संयम, मन का संयम, स्वच्छता, सहिष्णुता, आत्मज्ञान तथा भक्ति का ज्ञान—कर सकता है। इस प्रकार यदि वह सच्चे ब्राह्मण की भाँति भगवान् की सेवा करता है, तो उसके जीवन का अन्तिम लक्ष्य पूरा हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रियों के कर्तव्य हैं नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना, दान देना, राजकाज में वैदिक व्यवस्था का पालन तथा यदि शत्रु आक्रमण कर दे तो निर्भीक होकर लड़ना। इस प्रकार एक क्षत्रिय अपने वृत्तिपरक कार्यों से भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। इसी तरह वैश्य अपने वृत्तिपरक कर्मों को करता हुआ—अन्न उपजा कर, गौवों की सुरक्षा करके तथा अधिक कृषि उत्पादन होने पर आवश्यक व्यापार द्वारा—भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। चूँकि शूद्रों के अधिक बुद्धि नहीं होती, अतः उन्हें

सामाजिक जीवन के उच्चतर स्तरों की सेवा करने में श्रमिक की भाँति लगे रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य भगवान् को अपने मन, वचन, कर्म से प्रसन्न करना होना चाहिए। जिस प्रकार शरीर के चार विभाग हैं—सिर, हाथ, पेट तथा पाँव—उसी प्रकार मानव समाज भी मनुष्यों के भौतिक गुणों तथा वृत्तिपरक कर्मों के अनुसार चार श्रेणियों में बँटा हुआ है। इस तरह ब्राह्मणों को सिर का, क्षत्रियों को भुजाओं का, वैश्यों को पेट का तथा शूद्रों को पैरों का कार्य करना पड़ता है। जीवन के निर्दिष्ट कर्मों को करते समय न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। हाँ, इनमें उच्चतर तथा निम्नतर जैसे विभाग होते हैं, किन्तु भगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र लक्ष्य होने से उनमें कोई अन्तर नहीं होता।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब ब्रह्मा, शिव तथा अन्य बड़े-बड़े देवता भगवान् की पूजा करते हैं, ऐसा माना जाता है तो फिर इस लोक का सामान्य व्यक्ति उनकी सेवा किस प्रकार कर सकता है? इसकी स्पष्ट व्याख्या पृथु महाराज ने *यथाधिकार* शब्द के प्रयोग द्वारा की है, जिसका अर्थ है ''अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार।'' यदि कोई निष्ठापूर्वक अपना कर्तव्य पूरा करे तो वही पर्याप्त होगा। उसे न तो ब्रह्मा बनने की आवश्यकता है न शिव, इन्द्र, चैतन्य या रामानुजाचार्य, जिनकी सामर्थ्य हम सबों से निश्चय ही बहुत अधिक है। यहाँ तक कि भौतिक गुणों के अनुसार जीवन के सबसे नीचे स्तर पर स्थित शूद्र भी वही सफलता प्राप्त कर सकता है। कोई भी व्यक्ति भक्ति में सफलता प्राप्त कर सकता है, यदि उसमें द्विधा न रहे। यहाँ यह बताया गया है कि मनुष्य को स्पष्ट वक्ता तथा खुले दिमाग वाला (*अमायिनः*) होना चाहिए। भक्ति में सफलता प्राप्त करने के लिए जीवन के निम्न स्तर पर स्थित होना कोई अयोग्यता नहीं है। इसके लिए एकमात्र योग्यता है कि वह निष्कपट हो तथा उसमें हिचक न हो, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र। तब वह गुरु के निर्देशन में अपना वृत्तिपरक कर्म करता हुआ जीवन की उच्चतम सफलता प्राप्त कर सकता है। *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् ने स्वयं पुष्टि की है—*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।* चाहे कोई ब्राह्मण हो या कि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा निचले दर्जे की स्त्री, इससे कोई अन्तर नहीं आता। यदि कोई शरीर, मन तथा बुद्धि से गम्भीरतापूर्वक भक्ति में प्रवृत्त होता है, तो वह अवश्य ही भगवान् के धाम वापस जाता है। भगवान् के चरणकमलों को *कामदुघाङ्घ्रि पंकजम्* कहा गया है, क्योंकि वे प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाओं को पूरा करने में समर्थ हैं। एक भक्त अपने इसी जीवन में सुखी रहता है, क्योंकि इस संसार

में हमारी तो अनेक आवश्यकताएँ हैं, किन्तु भक्त की सारी आवश्यकताएँ पूरी हुई रहती हैं और अन्त में जब वह शरीर त्यागता है, तो वह बिना किसी संदेह के भगवान् के धाम को वापस जाता है।

असाविहानेकगुणोऽगुणोऽध्वरः
पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः ।
सम्पद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभि-
र्विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

असौ—भगवान्; इह—इस संसार; अनेक—विभिन्न; गुणः—गुण; अगुणः—दिव्य; अध्वरः—यज्ञ; पृथक्-विध—किस्में; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; गुण—अवयव; क्रिया—कार्य; उक्तिभिः—विभिन्न मंत्रों के उच्चारण से; सम्पद्यते—पूजा जाता है; अर्थ—हित; आशय—प्रयोजन; लिङ्ग—रूप; नामभिः—नाम से; विशुद्ध—कल्मषरहित; विज्ञान—विज्ञान; घनः—घनीभूत; स्व-रूपतः—अपने निजी रूप में।

भगवान् दिव्य हैं। वे इस भौतिक जगत द्वारा कलुषित नहीं होते। यद्यपि वे घनीभूत आत्मा हैं जिसमें कोई भौतिक विविधता नहीं है, किन्तु फिर भी बद्धजीव के लाभ हेतु वे विभिन्न भौतिक तत्त्वों, अनुष्ठानों तथा मंत्रों द्वारा यज्ञकर्ता के मनोरथों एवं उद्देश्यों के अनुसार विविध नामों से देवताओं को समर्पित होने वाले यज्ञों को स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : वेदों में भौतिक सम्पन्नता के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञों की संस्तुतियाँ की गई हैं। *भगवद्गीता* (३.१०) में इसकी पुष्टि की गई है कि ब्रह्मा ने मनुष्यों तथा देवताओं समेत समस्त जीवात्माओं को उत्पन्न किया और उन्हें अपनी-अपनी आकांक्षाओं के अनुसार यज्ञ करने का उपदेश दिया (*सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा*)। इन्हें यज्ञ कहा गया है क्योंकि ये भगवान् विष्णु को तुष्ट करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञ करने का उद्देश्य भौतिक लाभ की प्राप्ति है, किन्तु साथ ही इनका लक्ष्य परमेश्वर को प्रसन्न करना भी रहता है, अतः वेदों में ऐसे यज्ञों की संस्तुति की गई है। ऐसे कार्य *कर्मकाण्ड* कहलाते हैं और कर्मकाण्ड प्रकृति के तीन प्रकार के गुणों से संदूषित रहते हैं। सामान्य रूप से कर्मकाण्ड के अनुष्ठान रजोगुण में किये जाते हैं, किन्तु बद्धजीवों अर्थात् मनुष्यों तथा देवताओं दोनों को ही यज्ञ करने होते हैं, क्योंकि इनके बिना कोई सुखी नहीं रह सकता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि ये कर्मकाण्ड अनुष्ठान भले ही संदूषित हों, किन्तु इनमें कुछ-न-कुछ भक्ति रहती है, क्योंकि जब कभी यज्ञ किया जाता है भगवान् विष्णु को मध्यवर्ती स्थान प्रदान किया जाता है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए

यत्किंचित प्रयास भी भक्ति है और यह अत्यन्त मूल्यवान है। रंचमात्र भी भक्ति अनुष्ठानों की भौतिक प्रकृति को शुद्ध बनाती है और भक्ति से ये अनुष्ठान धीरे-धीरे दिव्य रूप धारण कर लेते हैं। अत: यद्यपि ऐसे यज्ञ ऊपरी तौर पर से कर्मकाण्ड रहते हैं, किन्तु उनके फल दिव्य होते हैं। कुछ यज्ञ यथा सूर्ययज्ञ, इन्द्र-यज्ञ तथा चन्द्र-यज्ञ देवताओं के नाम पर सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु ये देवता भगवान् के शारीरिक अंग होते हैं। ये देवता कोई भी आहुति (भेंट) अपने निमित्त स्वीकार नहीं कर सकते, किन्तु वे भगवान् के लिए स्वीकार कर सकते हैं। यह वैसा ही है जैसाकि सरकारी कर वसूल करने वाला अपने लिए कर संग्रह न करके सरकार के लिए कर की वसूली कर सकता है। किसी भी यज्ञ को जो इस प्रकार के पूर्णज्ञान तथा बोध के साथ किया जाता है, *भगवद्गीता* में *ब्रह्मार्पणम्*—भगवान् को अर्पित यज्ञ—कहा गया है। चूँकि परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई यज्ञों के फल को नहीं भोग सकता, इसलिए भगवान् का कहना है कि वे ही समस्त यज्ञों के वास्तविक भोक्ता हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*)। इसी दृष्टि से यज्ञ सम्पन्न होने चाहिए। *भगवद्गीता* (४.२४) का कथन है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

"जो कृष्णभावना में पूर्णतया मग्न है, उस पुरुष के लिए भगवद्धाम की प्राप्ति निश्चित है क्योंकि वह उन ब्रह्मरूप क्रियाओं के परायण रहता है, जिनमें ब्रह्म ही अग्निरूपी गति है और अर्पित हवि भी ब्रह्ममय है।" यज्ञकर्त्ता को सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेदों में वर्णित यज्ञ भगवान् को प्रसन्न करने के लिए हैं। *विष्णुराराध्यते पन्था:* (*विष्णु पुराण* ३.८.९)। परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ भी किया जाये, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, उसे वास्तविक यज्ञ समझना चाहिए और ऐसे यज्ञों के करने से भवबन्धन से मुक्ति मिल जाती है। भवबन्धन से मुक्ति पाने की प्रत्यक्ष विधि भक्ति है, जो निम्नलिखित नौ प्रकार की होती है (*भागवत* ७.५.२३)—

श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनं।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इस श्लोक में वर्णित नवधा भक्ति को *विशुद्धविज्ञानघन:* कहा गया है, अर्थात् भगवान् विष्णु के रूप में दिव्य ज्ञान को केन्द्रित करके भगवान् को प्रसन्न करना। परमेश्वर को प्रसन्न करने की सर्वोत्तम

विधि यही है। जो इस प्रत्यक्ष विधि को नहीं अपना पाता उसे विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ की अप्रत्यक्ष विधि अर्थात् यज्ञ को अपनाना चाहिए। इसीलिए विष्णु को *यज्ञपति* कहा जाता है। *श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्* (*भागवत* २.९.१५)।

परम पुरुषोत्तम भगवान् का गहन विज्ञान सर्वोच्च बिन्दुपर संकेद्रित है। उदाहरणार्थ, ओषधि विज्ञान कुछ वस्तुओं को ऊपर-ऊपर जानता है, किन्तु डाक्टर लोग ठीक से यह नहीं जानते कि शरीर के भीतर क्या हो रहा है। किन्तु श्रीकृष्ण हर वस्तु को विस्तार से जानते हैं, क्योंकि उनमें भौतिक विज्ञान का एक भी दोष नहीं हैं। भगवान् विशुद्ध विज्ञानघन हैं। अतः यद्यपि वे कर्मकाण्डीय यज्ञों को स्वीकार करते हैं, तो भी वे दिव्य पद पर बने रहते हैं। फलतः अनेक गुणों से भगवान् के बहुत से दिव्य गुणों का परिचय मिलता है, क्योंकि भौतिक गुणों से वे अप्रभावित रहते हैं। विभिन्न प्रकार की सामग्रियाँ या भौतिक तत्त्व क्रमशः आध्यात्मिक ज्ञान में परिणत होते रहते हैं, क्योंकि अन्ततः भौतिक तथा आध्यात्मिक गुणों में कोई अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु परमात्मा से उद्‌भूत है। उत्तरोत्तर साक्षात्कार तथा शुद्धि की विधि से इसका बोध होता है। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण ध्रुव महाराज हैं जिन्होंने भौतिक लाभ के लिए वन में जाकर ध्यान धारण किया, किन्तु अन्त में आध्यात्मिक रूप से इतने आगे बढ़ गये कि भौतिक लाभ के लिए उन्होंने किसी प्रकार के वर की चाह नहीं की। वे तो परमेश्वर की संगति से ही परम तुष्ट थे। *आशय* का अर्थ है 'संकल्प'। सामान्य रूप से बद्धजीव में भौतिक लाभ का संकल्प होता है, किन्तु जब यज्ञ के द्वारा भौतिक लाभ की आकांक्षाएँ तुष्ट हो जाती हैं, तो मनुष्य को उत्तरोत्तर आत्म-पद प्राप्त होता है। तब उसका जीवन पूर्ण हो जाता है। अतः *श्रीमद्‌भागवत* (२.३.१०) में संस्तुति की गई है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

प्रत्येक प्राणी चाहे वह *अकाम* (भक्त), *सर्वकाम* (कर्मी) अथवा *मोक्षकाम* (ज्ञानी या योगी) हो, भक्ति की प्रत्यक्ष विधि द्वारा भगवान् की उपासना के लिए प्रोत्साहित होता है। इस प्रकार वह एक ही साथ भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

प्रधानकालाशयधर्मसङ्ग्रहे
शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम् ।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते
यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

प्रधान—प्रकृति; काल—समय; आशय—अभिलाषा; धर्म—वृत्तिपरक कर्म; सङ्ग्रहे—समुच्चय में; शरीरे—शरीर में; एषः—यह; प्रतिपद्य—स्वीकार करके; चेतनाम्—चेतना को; क्रिया—कार्य के; फलत्वेन—फल से; विभुः—भगवान्; विभाव्यते—प्रकट होती है; यथा—जिस प्रकार; अनलः—अग्नि; दारुषु—काष्ठ में; तत्-गुण-आत्मकः—आकार तथा गुण के अनुसार।

भगवान् सर्वव्यापी हैं, किन्तु वे प्रकृति, काल, अभिलाषा तथा वृत्तिपरक कर्मों के संयोग से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के शरीरों में भी प्रकट होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की चेतनाएँ विकसित होती हैं, जिस प्रकार विभिन्न आकार-प्रकार वाले काष्ठ खण्डों में एक सी ही अग्नि विभिन्न रूपों में प्रकट होती है।

तात्पर्य : भगवान् प्रत्येक जीव के भीतर परमात्मा रूप में निरन्तर वास करते रहते हैं। प्रत्येक जीव प्रकृति द्वारा प्रदत्त भौतिक शरीर के अनुसार जागरूक होता है। भौतिक अवयव काल के वेग से सक्रिय होते हैं और इस तरह प्रकृति के तीन गुण प्रकट होते हैं। इन तीनों गुणों के साहचर्य से जीवात्मा एक विशेष प्रकार का शरीर विकसित करता है। पशु जीवन में तमोगुण इतना प्रधान रहता है कि परमात्मा का बोध नहीं हो पाता, यद्यपि वह पशु के हृदय में भी विद्यमान होता है, किन्तु मनुष्य जीवन में चेतना के विकसित होने के फलस्वरूप मनुष्य अपने कर्मों से (*क्रियाफलत्वेन*) तमो तथा रजो गुणों को लाँघ कर सतोगुण को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए हर किसी व्यक्ति को यह सलाह दी जाती है कि वह आध्यात्मिक रूप से प्रगत व्यक्ति का संग करे। वेदों का (*मुण्डकोपनिषद्* १.२.१२) आदेश है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—जीवन की पूर्णता प्राप्त करने या जीवात्मा की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति समझने के लिए मनुष्य को गुरु के पास जाना चाहिए, *गुरुमेवाभिगच्छेत्*, यह तो अनिवार्य है। इसमें किसी प्रकार की छूट नहीं है। इसका भाव यही होता है कि मनुष्य को गुरु के पास जाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की संगति से मनुष्य में भगवान् के प्रति चेतना जागृत होती रहती है। ऐसी चेतना की परम सिद्धि कृष्णभावनामृत कहलाती है। प्रकृति द्वारा दिए गए शरीर के अनुसार चेतना बनती है, जिस प्रकार की चेतना विकसित होती है उसी के अनुसार कार्य होते हैं और इन कार्यों की शुद्धता के अनुसार ही प्रत्येक हृदय में विद्यमान भगवान् का साक्षात्कार होता है। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त

उपयुक्त है। अग्नि वही रहती है, किन्तु ईंधन या काष्ठ के आकार के अनुसार अग्नि सीधी, मुड़ी, छोटी, बड़ी होती है।

चेतना के विकास के अनुसार ईश्वर-साक्षात्कार होता है। इसीलिए मनुष्य जीवन में विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ करने की संस्तुति की जाती है, जिनका वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है (कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग तथा भक्तियोग)। निसेनी की तरह योग की अनेक सीढ़ियाँ हैं जिनसे चढ़कर ऊपर तक पहुँचा जाता है और इन्हीं सीढ़ियों के स्तर के अनुसार व्यक्ति कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग या भक्तियोग में स्थित माना जाता है। निस्सन्देह, भगवान् के साक्षात्कार की निसेनी में सबसे ऊपरी सीढ़ी भक्तियोग की है। दूसरे शब्दों में, अपनी चेतना के विकास के अनुसार मनुष्य को अपनी आत्म-सत्ता का बोध होता है और इस प्रकार उसके पूर्णतया शुद्ध होने पर वह ब्रह्मानन्द में स्थित होता है, जो अनन्त है। अत: चैतन्य के रूप में भगवान् द्वारा प्रवर्तित संकीर्तन आन्दोलन सीधी तथा सरल विधि है, जिससे चेतना के विशुद्धरूप कृष्णभावनामृत तक पहुँचा जा सकता है, जिस पद पर भगवान् का पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है। परमेश्वर के परम साक्षात्कार हेतु क्रमश: विभिन्न प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करने के आदेश प्राप्त हैं, जिसकी पुष्टि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (४.११) में की है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।* भगवान् का साक्षात्कार मनुष्य द्वारा समर्पण के अनुपात में होता है। पूर्ण समर्पण तभी होता है, जब मनुष्य में पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते* (*भगवद्गीता* ७.१९)।

अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं
हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम् ।
स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामका
निरन्तरं क्षोणितले दृढव्रता: ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अहो—हे तुम सब; मम—मेरे; अमी—वे सब; वितरन्ति—बाँटते हुए; अनुग्रहम्—कृपा; हरिम्—भगवान्; गुरुम्—परम गुरु; यज्ञ-भुजाम्—यज्ञ की बलि ग्रहण करने के पात्र सभी देवता; अधीश्वरम्—परम स्वामी; स्व-धर्म—वृत्तिपरक कर्म के; योगेन—बल पर; यजन्ति—पूजा करते हैं; मामका:—मेरे सम्बन्धी; निरन्तरम्—लगातार; क्षोणि-तले—पृथ्वी तल पर; दृढ-व्रता:—दृढ़ संकल्प के साथ।

भगवान् समस्त यज्ञों के फल के स्वामी तथा भोक्ता हैं। साथ ही वे परम गुरु भी हैं। इस भूतल के आप सभी नागरिक, जिनका मुझसे सम्बन्ध है और जो अपने कर्मों द्वारा भगवान् की

पूजा कर रहे हैं, मुझ पर परम अनुग्रह कर रहे हैं। अतः हे नागरिको, मैं तुम सबको धन्यवाद देता हूँ।

तात्पर्य : महाराज पृथु ने अपनी प्रजा को भक्ति करने का जो उपदेश दिया वह दो रूपों में समाप्त होता है। उन्होंने बारम्बार नवदीक्षितों को तो अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार भक्ति करने का उपदेश दिया है, किन्तु यहाँ पर वे उन भक्तों को विशेष रूप से धन्यवाद देते हैं, जो पहले से समस्त यज्ञों के भोक्ता तथा अन्तर्यामी के रूप में परम गुरु परमेश्वर की भक्ति में लगे हुए हैं। यहाँ पर *गुरु* शब्द का विशेष रूप से उल्लेख है, जो परम पुरुष का चैत्य गुरु के रूप में संकेत करता है। परमात्मा रूप भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और वे प्रत्येक जीव को अपनी शरण में आने और भक्ति में संलग्न होने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। अतः वे आदि गुरु हैं। वे बद्धजीव को आन्तरिक तथा बाह्यरूप से सहायता करने के लिए स्वयं गुरु के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए यहाँ पर उन्हें *गुरुम्* कहा गया है। किन्तु ऐसा लगता है कि पृथ्वी भर के सारे लोग महाराज पृथु की प्रजा थे। उनमें से अधिकांश वस्तुतः सभी भक्ति में लगे हुए थे। उन्होंने उन सबों को भक्ति करने तथा इस प्रकार उन पर अनुग्रह करने के लिए विनीत भाव से धन्यवाद दिया। दूसरे शब्दों में, जिस राज्य में प्रजा तथा राज्याध्यक्ष भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं, वहाँ वे एक दूसरे की सहायता करके लाभान्वित होते हैं।

मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभि-
स्तितिक्षया तपसा विद्यया च ।
देदीप्यमानेऽजितदेवतानां
कुले स्वयं राजकुलाद्द्विजानाम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

मा—कभी मत करो; जातु—किसी भी समय; तेजः—परम शक्ति; प्रभवेत्—प्रकट करते हैं; महा—बड़ी; ऋद्धिभिः—ऐश्वर्य से; तितिक्षया—सहिष्णुता से; तपसा—तप से; विद्यया—शिक्षा द्वारा; च—भी; देदीप्यमाने—पहले से महिमामंडितों पर; अजित-देवतानाम्—वैष्णव अथवा भगवान् के भक्त के; कुले—समाज में; स्वयम्—व्यक्तिगत रूप से; राज-कुलात्—राज परिवार से बड़ा; द्विजानाम्—ब्राह्मणों का।.

ब्राह्मण तथा वैष्णव अपनी सहिष्णुता, तपस्या, ज्ञान तथा शिक्षा जैसे गुणों के द्वारा स्वयं ही महिमामंडित होते हैं। इन दिव्य ऋद्धियों के कारण वैष्णव राजकुल से अधिक शक्तिशाली होते हैं। अतः यह सलाह दी जाती है कि राजकुल इन दोनों कुलों पर अपना शौर्य (विक्रम) प्रदर्शित न करें और उनको अपमानित करने से बचें।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में पृथु महाराज ने राज्य के शासकों तथा नागरिकों के लिए भक्ति की महत्ता बताई है। अब वे बता रहे हैं कि भक्ति में क्रमश: किस प्रकार स्थिर हुआ जाये। श्रील रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवद्भक्ति की उपमा एक लता से दी थी। लता का तना कमजोर होता है, अत: उसे बढ़ने के लिए दूसरे वृक्ष के सहारे की आवश्यकता होती है और बढ़ते हुए पर्याप्त सुरक्षा की आवश्यकता होती है ताकि यह नष्ट न हो जाए। भक्ति रूपी लता को सुरक्षा प्रदान करने का उल्लेख करते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णवों के चरणकमलों के प्रति अपराध से बचने पर विशेष बल दिया है। ऐसे अपराध *वैष्णव अपराध* कहलाते हैं। यदि कोई *वैष्णव अपराध* करता है, तो उसकी भक्ति–प्रगति रुक जाती है। चाहे कोई भक्ति में कितना ही अग्रसर हो, यदि वह किसी वैष्णव के प्रति अपराध करता है, तो उसकी सारी उन्नति चौपट हो जाती है। शास्त्रों में बताया गया है कि महान् योगी दुर्वासा मुनि ने वैष्णव अपराध किया था, फलस्वरूप अपराध से अपने को बचाने के लिए उन्हें एक वर्ष तक निरन्तर सारे ब्रह्माण्ड में, यहाँ तक कि वैकुण्ठलोक में भी भ्रमण करते रहना पड़ा। अन्त में जब वे वैकुण्ठ में भगवान् के पास पहुँचे तो भी सुरक्षा नहीं मिली। अत: वैष्णव के चरणों के प्रति अपराध न करने के लिए सतर्क रहना चाहिए। सबसे जघन्य वैष्णव अपराध *गुर्वपराध* है, जो गुरु के चरणों पर किया जाता है। भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हुए *गुर्वपराध* अत्यन्त जघन्य माना जाता है। *गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्र निन्दनम्* (पद्म पुराण)। पवित्र नाम के जप के विपरीत जो दस अपराध किये जाते हैं उनमें प्रमुख अपराध हैं, गुरु की अवज्ञा तथा वैदिक साहित्य की निन्दा।

वैष्णव की अत्यन्त सरल परिभाषा श्री चैतन्य महाप्रभु ने दी है—जो किसी को तुरन्त भगवान् का स्मरण दिलाए, वह वैष्णव है। इस श्लोक में वैष्णव तथा ब्राह्मण दोनों का उल्लेख है। वैष्णव विद्वान् ब्राह्मण माना जाता है, अत: वह *ब्राह्मण–वैष्णव* या *ब्राह्मण–पंडित* कहलाता है। दूसरे शब्दों में, वैष्णव पहले से ब्राह्मण होता है, किन्तु ब्राह्मण के लिए आवश्यक नहीं कि वह शुद्ध वैष्णव हो। जब कोई व्यक्ति अपनी शुद्ध सत्ता को जान लेता है, *ब्रह्म जानाति,* तो वह तुरन्त *ब्राह्मण* बन जाता है। ब्राह्मण अवस्था में वह परम सत्य के विषय में निर्गुण दृष्टि रखता है, किन्तु जब ब्राह्मण भगवान् के सगुण रूप को जान लेता है, तो वह वैष्णव बन जाता है। वैष्णव ब्राह्मण से भी बढ़कर होता है। भौतिक रूप से मानव–समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च होता है, किन्तु वैष्णव ब्राह्मण से भी बड़ा होता है। ब्राह्मण

तथा वैष्णव दोनों ही आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होते हैं। *भगवद्गीता* में ब्राह्मण के गुण सत्यनिष्ठा, समता, इन्द्रिय-निग्रह, सहिष्णुता, सरलता, ब्रह्म-ज्ञान, शास्त्रों में दृढ़ विश्वास तथा जीवन में ब्राह्मण-गुणों का सम्प्रयोग बताये गये हैं। इन गुणों के अतिरिक्त जब कोई भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति करता है, तो वह वैष्णव बन जाता है। पृथु महाराज अपनी भक्ति-परायण प्रजा को ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के प्रति अपराध न करने के लिए सचेत करते हैं। उनके चरणकमलों के प्रति किये गये अपराध इतने विनाशकारी होते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण के परिवार में जन्मे यदुवंशी तक उनके चरणों पर अपराध करने के कारण विनष्ट हो गये। भगवान् कभी भी ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों के प्रति अपराध को सहन नहीं कर सकते। कभी-कभी अपने अधिकारपूर्ण पदों के कारण राजकुमार अथवा सरकारी नौकर ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की उपेक्षा करते हैं, उन्हें यह पता नहीं रहता कि ऐसे अपराध के फलस्वरूप वे विनष्ट हो जाएँगे।

ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो
नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात् ।
अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो
जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्य-देवः—ब्राह्मण संस्कृति का स्वामी; **पुरुषः**—परम पुरुष; **पुरातनः**—सबसे प्राचीन; **नित्यम्**—शाश्वत; **हरिः**—भगवान्; **यत्**—जिसका; **चरण**—चरणकमल; **अभिवन्दनात्**—पूजा के द्वारा; **अवाप**—प्राप्त किया; **लक्ष्मीम्**—ऐश्वर्य; **अनपायिनीम्**—निरन्तर; **यशः**—ख्याति; **जगत्**—विश्व का; **पवित्रम्**—पवित्र करने वाली; **च**—भी; **महत्**—महान्; **तम**—सर्वाधिक परम; **अग्रणीः**—सर्वोपरि प्रथम।

पुरातन, शाश्वत तथा समस्त महापुरुषों में अग्रणी भगवान् ने अपनी स्थिर ख्याति के ऐश्वर्य को ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की उपासना के द्वारा प्राप्त किया जो समग्र ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाला है।

तात्पर्य : यहाँ पर परम पुरुष को *ब्रह्मण्यदेव* कहा गया है। *ब्रह्मण्य ब्राह्मण,* वैष्णव अथवा ब्राह्मण संस्कृति का द्योतक है और *देव* का अर्थ है "पूज्य भगवान्!" अत: जब तक कोई वैष्णव के दिव्य पद पर या सतोगुण पद पर (ब्राह्मण के रूप में) नहीं होता, तब तक वह भगवान् को नहीं समझ सकता। रजो तथा तमो गुणों की निम्न अवस्थाओं में तो भगवान् को समझ पाना और भी कठिन होता है। अत: यहाँ पर भगवान् को ब्राह्मण तथा वैष्णव संस्कृति वाले व्यक्तियों द्वारा पूज्य अर्चा-विग्रह बताया गया

है।

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।

जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

(*विष्णु पुराण* १.१९.६५)

भगवान् कृष्ण ब्राह्मण संस्कृति तथा गोवंश के आदि रक्षक हैं। इनको जाने तथा इनका सम्मान किये बिना ब्रह्मज्ञान समझ में नहीं आता और इस ज्ञान के बिना कोई भी कल्याणकारी कार्य या मानवतावादी प्रचार-कार्य सफल नहीं हो सकता। भगवान् पुरुष या परम भोक्ता होता है। वह भगवान् न केवल अवतार लेने पर भोगता है, वरन् शाश्वत (*नित्यम्*) अनादि काल (*पुरातन*) से वह ऐसा करता आ रहा है। *यच्चरणाभिवन्दनात्*—पृथु महाराज ने कहा कि भगवान् को यह शाश्वत ख्याति रूपी ऐश्वर्य ब्राह्मणों के चरणकमलों की निरन्तर पूजा से मिला है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् को भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता। चूँकि वे निरन्तर परिपूर्ण रहते हैं, अतः उन्हें किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती। तो यह भी कहा जाता है कि उन्होंने यह ऐश्वर्य ब्राह्मणों के चरणकमलों की सेवा करके प्राप्त किया है। ये उनके आदर्श कार्य हैं। जब श्रीकृष्ण द्वारका में थे तो उन्होंने नारद के चरणकमलों पर अपना मस्तक रख कर उनका सम्मान किया था। जब विप्र सुदामा उनके घर आये, तो उन्होंने सुदामा के चरण धोये और अपनी शय्या में बैठाया। भगवान् होते हुए भी उन्होंने महाराज युधिष्ठिर तथा कुन्ती का आदर किया। भगवान् के ये आदर्श आचरण हम सबों को शिक्षा देने के लिए हैं। हमें उनके व्यक्तिगत आचरण से सीखना चाहिए कि किस प्रकार गौवों की रक्षा की जाये, किस प्रकार ब्राह्मणों के गुण विकसित किये जाँय और ब्राह्मणों तथा भक्तों का किस प्रकार आदर किया जाये। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (३.२१)में कहा है—*यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः*—महापुरुष जिस-जिस तरह आचरण करता है उसका अनुकरण लोग स्वतः ही करते हैं। भला भगवान् से बढ़कर महापुरुष अन्य कौन हो सकता है और किसका आचरण उनसे अधिक आदर्शमय हो सकता है? ऐसा नहीं है कि उन्हें भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए इन कर्मों को करने की आवश्यकता थी, अपितु संसार को आचरण सिखाने के लिए ये सारे कार्य सम्पन्न किये गये।

यहाँ पर भगवान् को *महत्-तम-अग्रणीः* कहा गया है। इस संसार में *महत्तम* अर्थात् महापुरुष तो

ब्रह्माजी तथा शिव हैं, किन्तु वे इनसे भी ऊपर हैं। *नारायणः परोऽव्यक्तात्*—भगवान् इस संसार में उत्पन्न की गई समस्त वस्तुओं से ऊपर दिव्य स्थिति में हैं। उनका ऐश्वर्य, धन, सौन्दर्य, ज्ञान, त्याग तथा ख्याति सभी *जगत्-पवित्रम्* अर्थात् सारे संसार को पवित्र करने वाले हैं। हम जितनी ही उनके ऐश्वर्य के विषय में बातें करते हैं, यह संसार उतना ही अधिक पवित्र होता जाता है। इस संसार में भौतिक व्यक्ति का ऐश्वर्य स्थिर नहीं है। जो आज धनी है, वह कल दरिद्र हो सकता है, जो आज विख्यात है, वही कल अप्रसिद्ध बन सकता है। भौतिक ऐश्वर्य कभी स्थिर नहीं रहता, किन्तु भगवान् के छहों ऐश्वर्य न केवल आध्यात्मिक जगत में वरन् इस भौतिक जगत में भी शाश्वत हैं। भगवान् कृष्ण का यश स्थिर है और उनके ज्ञानग्रन्थ *भगवद्गीता* का आज भी आदर होता है। भगवान् से सम्बन्धित सारी वस्तुएँ शाश्वत हैं।

यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः ।
तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसकी; सेवया—सेवा से; अशेष—अपार; गुहा-आशयः—प्रत्येक के हृदय में वास; स्व-राट्—लेकिन फिर भी पूर्णतः स्वतंत्र; विप्र-प्रियः—ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को प्यारे; तुष्यति—सन्तुष्ट होता है; कामम्—इच्छाओं का; ईश्वरः—भगवान्; तत्—उस; एव—निश्चय ही; तत्-धर्म-परैः—भगवान् के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए; विनीतैः—विनम्रता से; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से; ब्रह्म-कुलम्—ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के वंशज; निषेव्यताम्—उनकी सेवा में निरन्तर लगे रहकर।

अनन्त काल तक स्वतंत्र रहने वाले तथा प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् उन लोगों से अत्यधिक प्रसन्न रहते हैं, जो उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करते हैं और बिना किसी हिचक के ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के वंशजों की सेवा करते हैं, क्योंकि वे सदैव ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को परम प्रिय हैं और ये सदा ही उनको प्रिय हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि भगवान् यह देखकर अत्यधिक प्रसन्न होते हैं कि कोई उनके भक्त की सेवा करता है। पूर्ण होने के कारण उन्हें किसी की सेवा की आवश्यकता नहीं रहती, लेकिन इसमें तो हमारा ही हित है कि हम भगवान् की सभी प्रकार से सेवा करें। परम पुरुष के प्रति ऐसी सेवा प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, किन्तु ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा के द्वारा सम्भव है। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—*छाडिया वैष्णव सेवा निस्तार पायेछे केबा* अर्थात् जब तक वैष्णवों तथा ब्राह्मणों की सेवा नहीं की जाती तब तक भवसागर से कोई छुटकारा नहीं है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का भी कहना

है—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*—गुरु महाराज की इन्द्रियों को तुष्ट करके ही भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट किया जा सकता है। ऐसे आचरण का शास्त्रों में उल्लेख तो है ही, आचाय र्भी इसका पालन करते हैं। पृथु महाराज ने अपनी प्रजा को भगवान् के आदर्श आचरण का अनुसरण करने तथा इस प्रकार ब्राह्मणों एवं वैष्णवों की सेवा में प्रवृत्त होने की सलाह दी।

पुमाँल्लभेतानतिवेलमात्मनः
प्रसीदतोऽत्यन्तशमं स्वतः स्वयम् ।
यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः
परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पुमान्—**पुरुष**; लभेत—**प्राप्त कर सकता है**; अनति-वेलम्—**अविलम्ब**; आत्मनः—**अपनी आत्मा के**; प्रसीदतः—**प्रसन्न होने पर**; अत्यन्त—**अत्यधिक**; शमम्—**शान्ति**; स्वतः—**अपने आप**; स्वयम्—**स्वयं**; यत्—**जिसका**; नित्य—**नियमित**; सम्बन्ध—**सम्बन्ध**; निषेवया—**सेवा के बल पर**; ततः—**तत्पश्चात्**; परम्—**श्रेष्ठ**; किम्—**क्या**; अत्र—**यहाँ**; अस्ति—**है**; मुखम्—**मुख**; हविः—**घी**; भुजाम्—**पीने वाले**।

ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की नियमित सेवा करते रहने से मनुष्य के हृदय का मैल दूर होता है और इस प्रकार परम शान्ति तथा भौतिक आसक्ति से मुक्ति मिलती है और वह सन्तुष्ट हो जाता है। इस संसार में ब्राह्मणों की सेवा से बढ़कर कोई सकाम कर्म नहीं, क्योंकि इससे देवता प्रसन्न होते हैं जिनके लिए अनेक यज्ञों की संस्तुति की जाती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.६५) में कहा गया है—*प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।* जब तक आत्मतुष्टि नहीं होती, इस संसार के दुखों से छुटकारा नहीं मिल पाता। अतः आत्मतुष्टि की पूर्णता प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा करना अनिवार्य है। इसीलिए श्रील नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—

ताँदेर चरण सेवि भक्त-सने वास।
जनमे जनमे हय, एइ अभिलाष॥

"मैं जन्म-जन्मांतर आचार्यों के चरणकमलों की सेवा करना तथा भक्तों की संगति में रहना चाहता हूँ।" भक्तों की संगति में रहकर तथा आचार्यों के आदेशों के पालन से ही आध्यात्मिक वातावरण बनाये रखा जा सकता है। गुरू ही सर्वोत्तम ब्राह्मण है। इस कलियुग में ब्राह्मण कुल की सेवा कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। वराह पुराण के अनुसार सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि कलियुग का लाभ उठाकर

असुरों ने ब्राह्मण कुल में जन्म ले लिया है—*राक्षसा: कलिम् आश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु* (*वराह पुराण*)। दूसरे शब्दों में, इस युग में शास्त्रों तथा लोगों की अविद्या का लाभ उठाते हुए तथाकथित ब्राह्मण तथा गोस्वामी वंशानुगत अधिकार से अपने को ब्राह्मण तथा वैष्णव बताते हैं। ऐसे झूठे ब्राह्मण कुलों की सेवा करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु तथा उसके संगियों का आश्रय ग्रहण करे और उनकी सेवा करे, क्योंकि इससे नवदीक्षित को पूर्ण संतोष प्राप्त हो सकेगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *भगवद्गीता* के श्लोक—(२.४१) *व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन*—की व्याख्या में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर द्वारा बताए गए भक्तियोग के विधि-विधानों का पालन करते हुए मनुष्य मुक्ति के दिव्य पद को शीघ्र प्राप्त हो सकता है जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है (*अत्यन्त शमम्*)।

अनतिवेलम् (अविलम्ब) शब्द का विशिष्ट प्रयोग सार्थक है, क्योंकि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा करने मात्र से ही मुक्ति मिल सकती है। कठिन तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नारद मुनि स्वयं हैं। अपने पूर्वजन्म में वे दासी के पुत्र थे, किन्तु उन्हें उन्नत ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ जिससे अगले जन्म में वे न केवल मुक्त हो सके वरन् सम्पूर्ण वैष्णव शिष्य-परम्परा में वे परम गुरु के रूप में प्रसिद्ध हो सके। अत: वैदिक विधि में प्रथा के रूप में यह संस्तुति की जाती है कि किसी अनुष्ठान को सम्पन्न करने के बाद ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय।

अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः
श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः ।
न वै तथा चेतनया बहिष्कृते
हुताशने पारमहंस्यपर्यगुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अश्नाति—खाता है; अनन्तः—भगवान्; खलु—तो भी; तत्त्व-कोविदैः—परम सत्य को जानने वाले व्यक्ति; श्रद्धा—विश्वास; हुतम्—अग्नि में आहुतियाँ देना; यत्-मुखे—जिसका मुख; इज्य-नामभिः—विभिन्न देवताओं के नाम से; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; तथा—उसी तरह; चेतनया—जीवनी शक्ति से; बहिः-कृते—विलग किया जाकर; हुत-अशने—यज्ञ-अग्नि में; पारमहंस्य—भक्तों का; पर्यगुः—कभी भी बाहर नहीं जाता है।

यद्यपि भगवान् अनन्त विभिन्न देवताओं के नामों से अग्नि में अर्पित हवियों को खाते हैं, किन्तु वे अग्नि के माध्यम से खाने में उतनी रुचि नहीं दिखाते जितनी कि विद्वान साधुओं तथा

भक्तों के मुख से भेंट को स्वीकार करने में, क्योंकि तब उन्हें भक्तों की संगति त्यागनी नहीं होती।

तात्पर्य : वैदिक आदेशों के अनुसार अग्नियज्ञ विभिन्न देवताओं के नामों पर भगवान् को भोजन प्रदान करने के लिए किया जाता है। अग्नियज्ञ करते समय मंत्रों में स्वाहा शब्द का उच्चारण किया जाता है, यथा—*इन्द्राय स्वाहा, आदित्याय स्वाहा।* ये मंत्र इन्द्र, आदित्य जैसे विभिन्न देवों के नाम पर भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उच्चरित किये जाते हैं, क्योंकि भगवान् का कथन है—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेषु वा।

तत्र तिष्ठामि नारद यत्र गायन्ति मद्भक्ता: ॥

''न मैं वैकुण्ठ में हूँ न योगियों के हृदय में। मैं वहाँ रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरी लीलाओं की महिमा का गान करते हैं।'' यह समझना चाहिए कि भगवान् अपने भक्तों का साथ नहीं छोड़ते।

अग्नि जीवशून्य है, किन्तु भक्त तथा ब्राह्मण परमेश्वर के सजीव प्रतिनिधि हैं। अत: ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को खिलाने का अर्थ है, प्रत्यक्ष भगवान् को खिलाना। अत: यह निष्कर्ष निकला कि अग्नि में आहुति डालने की अपेक्षा मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मण तथा वैष्णवों को भोजन दे, क्योंकि यह विधि अग्नियज्ञ की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष उदाहरण अद्वैत प्रभु ने प्रस्तुत किया। जब उन्होंने अपने पिता का श्राद्ध उत्सव किया, तो सब से पहले उन्होंने हरिदास ठाकुर को बुलाकर उन्हें भोजन दिया। यह प्रथा है कि श्राद्ध कर्म के बाद किसी उच्च ब्राह्मण को भोजन दिया जाये, किन्तु अद्वैत प्रभु ने सबसे पहले हरिदास ठाकुर को भोजन दिया जिनका जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था। अत: हरिदास ठाकुर ने अद्वैत प्रभु से पूछा कि वे ऐसा कार्य क्यों कर रहे हैं जिससे ब्राह्मण-समाज में उनकी स्थिति बिगड़ जाये। अद्वैत प्रभु ने उत्तर दिया कि हरिदास ठाकुर को भोजन देकर वे लाखों उच्च कोटि के ब्राह्मणों को भोजन दे रहे हैं। वे इस बात के लिए किसी भी विद्वान् ब्राह्मण से बात करने के लिए तैयार थे और यह सिद्ध करना चाहते थे कि हरिदास ठाकुर जैसे शुद्ध भक्त को भोजन देकर वे उतना ही आशीष प्राप्त करते हैं जितना कि हजारों विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन कराने से। यज्ञ करते समय लोग आहुति डालते हैं, किन्तु यदि वैष्णवों को ये आहुतियाँ दी जाँय तो निश्चय ही वे अधिक प्रभावशाली होंगी।

यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं
श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः ।
समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये
यत्रेदमादर्श इवावभासते ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; ब्रह्म—ब्राह्मण-संस्कृति; नित्यम्—शाश्वत रूप से; विरजम्—निष्कलंक; सनातनम्—अनादि; श्रद्धा—श्रद्धा; तपः—तपस्या; मङ्गल—शुभ; मौन—मूक रहना; संयमैः—मन तथा इन्द्रियों को वश में करते हुए; समाधिना—पूर्ण मनोयोग से; बिभ्रति—प्रकाशित करता है; ह—जैसे उसने किया; अर्थ—वेदों का असली प्रयोजन; दृष्टये—प्राप्त करने के उद्देश्य से; यत्र—जिसमें; इदम्—यह सब; आदर्शे—दर्पण में; इव—सदृश; अवभासते—प्रकट होता है।

ब्राह्मण-संस्कृति में ब्राह्मणों का दिव्य स्थान शाश्वत रूप से बनाए रखा जाता है, क्योंकि वेदों के आदेशों को श्रद्धा, तप, शास्त्रीय निर्णय, मन तथा इन्द्रिय-निग्रह एवं ध्यान के साथ स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार जीवन का वास्तविक लक्ष्य ठीक उसी तरह से प्रकाशमान हो उठता है, जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में किसी का मुँह भली-भाँति प्रतिबिम्बित होता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया था कि एक जीवित ब्राह्मण को खिलाना अग्नि में आहुतियाँ डालने से अधिक प्रभावकारी है। अब इस श्लोक में स्पष्ट वर्णन किया गया है कि ब्राह्मणत्व क्या है और ब्राह्मण कौन है। इस कलियुग में, इस तथ्य का लाभ उठाया जा रहा है कि ब्राह्मण भोजन कराना यज्ञों के करने से श्रेयस्कर है और इस तरह ऐसे लोग स्वयं को ब्राह्मण-भोजन के अधिकारी बताने लगे हैं, जो ब्राह्मण परिवारों में उत्पन्न हुए हैं, किन्तु उनमें ब्राह्मणों के एक भी गुण नहीं रहते। ऐसे व्यक्तियों तथा असली ब्राह्मणों में अन्तर करने के उद्देश्य से ही महाराज पृथु ब्राह्मण तथा ब्राह्मण-संस्कृति का यथार्थ वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य को प्रकाशहीन अग्नि की भाँति बन कर अपनी स्थिति का लाभ नहीं उठाना चाहिए। ब्राह्मण को वेदों के निर्णय की भली-भाँति जानकारी होनी चाहिए, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वैदिक निर्णय या वेदान्तज्ञान कृष्णज्ञान है। यह तथ्य है कि जिस रूप में श्रीकृष्ण हैं उसके जान लेने से मनुष्य पूर्ण ब्राह्मण हो जाता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लिखित है (*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः*)। जो ब्राह्मण श्रीकृष्ण को अच्छी तरह जान लेता है, वह सदैव दिव्य स्थिति में रहता है। इसकी पुष्टि भी *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्णरूप से मेरे अनन्य भक्तियोग के परायण है और किसी स्थिति में उससे डिगता नहीं, वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का उल्लंघन करके ब्रह्मभूत हो जाता है।''

अत: भगवान् कृष्ण का भक्त वास्तव में एक पूर्ण ब्राह्मण है। उसकी स्थिति दिव्य होती है, क्योंकि वह बद्धजीवन के चारों दोषों से मुक्त होता है। ये दोष हैं—त्रुटि करना, मोहग्रस्त होना, धोखा देना तथा अपूर्ण इन्द्रियों वाला होना। पूर्ण वैष्णव या कृष्णभक्त सदैव दिव्य स्थिति में रहता है, क्योंकि वह कृष्ण तथा उसके प्रतिनिधि के रूप में बोलता है। चूँकि वैष्णव लोग श्रीकृष्ण के ही स्वर में बोलते हैं, अत: वे जो कुछ भी कहते हैं, वह चारों दोषों से रहित होता है। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि उन्हीं का चिन्तन करे, उन्हीं का भक्त बने, उन्हीं को नमस्कार और उन्हीं की पूजा करे और अन्त में उन्हीं की शरण में जाये। ये भक्तिकर्म दिव्य हैं और चारों दोषों से रहित हैं। अत: जो भी भगवान् कृष्ण का एकनिष्ठ भक्त है और इस सम्प्रदाय का प्रचार श्रीकृष्ण के आदेशों के ही अनुसार करता है, वह *विरजम्* होता है। अत: असली ब्राह्मण या वैष्णव वेदों के निर्णय पर या भगवान् द्वारा दिये गये वैदिक ज्ञान पर निर्भर रहता है। केवल वैदिक ज्ञान से हम परम सत्य की वास्तविक स्थिति को समझ सकते हैं, जो *श्रीमद्भागवत* के अनुसार तीन रूपों में प्रकट होता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान्। यह ज्ञान सनातन काल से सम्पूर्ण माना जा रहा है और ब्राह्मण या वैष्णव-संस्कृति इसी सिद्धान्त पर आश्रित रही है। अत: मनुष्य को चाहिए कि वेदों का अध्ययन न केवल ज्ञानार्जन के लिए करे, वरन् इस ज्ञान तथा इन कार्यकलापों को भगवान् तथा वेदों के ही शब्दों में श्रद्धासहित फैलाने के लिए करे।

इस श्लोक का *मङ्गल* (शुभ) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रील श्रीधर स्वामी ने उद्धरण दिया है कि जो उत्तम है, उसे करना और जो उत्तम न हो, उसका त्याग करना *मङ्गल* या शुभ है। उत्तम कार्य करने का अर्थ है, जो कुछ भी भक्ति करने के अनुकूल हो उसे स्वीकार करना और उसके त्यागने का अर्थ है कि भक्ति करने में जो प्रतिकूल हो उसे अस्वीकार करना। हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए चार निषिद्धों—अवैध विषयी जीवन, मादक द्रव्य-सेवन, द्यूत-क्रीड़ा तथा मांसाहार का बहिष्कार करते हैं और प्रतिदिन कम से कम सोलह बार हरे कृष्ण महामंत्र का

जाप और तीन बार गायत्री मंत्र का जाप करते हुए ध्यान में लगते हैं। इस प्रकार मनुष्य ब्राह्मण संस्कृति और आध्यात्मिक शक्ति को अखण्डित बनाये रख सकता है। यदि कोई भक्ति के इन नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए चौबीसों घण्टे हरे कृष्ण महामंत्र का जाप करता है, तो वह आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होकर अन्ततः भगवान् के साक्षात् दर्शन करने के लिए पूर्ण रूप से योग्य हो जाता है। चूँकि वैदिक ज्ञान के अध्ययन करने या जानने का एकमात्र परम उद्देश्य श्रीकृष्ण को प्राप्त करना है, अतः जो प्रारम्भ से ही उपर्युक्त विधि से वैदिक नियमों का पालन करता है, वह परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण स्वरूप को उसी प्रकार स्पष्ट रूप से देख सकता है, जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने मुख को देखा जा सकता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि कोई ब्राह्मण इसलिए ब्राह्मण नहीं बन जाता कि वह जीवात्मा है या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है, अपितु उसमें शास्त्रों में निर्दिष्ट समस्त गुण होने चाहिए और उसे अपने जीवन में ब्राह्मण-नियमों का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार वह अन्ततः पूर्ण रूप से कृष्णभक्त बन जाता है और यह समझ सकता है कि कृष्ण क्या हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में इसका निम्नलिखित वर्णन मिलता है कि भक्त किस प्रकार अपने हृदय के भीतर श्रीकृष्ण को अपने समक्ष देखता रहता है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

कृष्ण का शुद्ध प्रेम विकसित होने से भक्त श्यामसुन्दर भगवान् का अपने हृदय में निरन्तर दर्शन करता रहता है। ब्राह्मण-संस्कृति की यह परिपूर्ण अवस्था है।

तेषामहं पादसरोजरेणु-
मार्या वहेयाधिकिरीटमायुः ।
यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं
नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन सबके; अहम्—मैं; पाद—पाँव; सरोज—कमल; रेणुम्—धूलि; आर्याः—हे श्रेष्ठ व्यक्तियो; वहेय—धारण करूँगा; अधि—तक; किरीटम्—मुकुट; आयुः—जीवन भर; यम्—जिसको; नित्यदा—सदैव; बिभ्रतः—लेते हुए; आशु—शीघ्र ही; पापम्—पापकर्म; नश्यति—नष्ट हो जाते हैं; अमुम्—वे सब; सर्व-गुणाः—अत्यन्त योग्य; भजन्ति—पूजा करते हैं।

यहाँ पर समुपस्थित हे आर्यगण, मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूँ कि मैं आजीवन अपने मुकुट में ऐसे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि धारण करता रहूँ। जो ऐसी चरण-धूलि धारण करता है, वह शीघ्र ही पापमय जीवन से उत्पन्न समस्त कर्मफलों से मुक्त हो जाता है और अंततः समस्त उत्तम तथा वांछित गुणों से परिपूर्ण हो जाता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि भगवान् पर जिसकी अटूट श्रद्धा होती है अर्थात् जो भगवान् के शुद्ध भक्त या वैष्णव में अटल श्रद्धा रखता है, उसमें देवताओं के सारे गुण आ जाते हैं। *यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः* (*भागवत* ५.१८.१२)। प्रह्लाद महाराज ने भी कहा है—*नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिम्* (*भागवत* ७.५.३२)। जब तक विशुद्ध वैष्णव के चरणकमलों की रेणु को मस्तक पर धारण नहीं किया जाता तब तक भगवान् का ज्ञान नहीं होता और जब तक भगवान् का ज्ञान नहीं हो पाता यह जीवन अधूरा रहता है। ऐसा महापुरुष विरला ही है, जिसने भगवान् को पूरी तरह जान लेने के बाद तथा अनेकानेक जीवनों तक कठिन तपस्या करने के बाद अपने को उनमें पूर्णतः समर्पित कर दिया हो। राजा के सिर पर मुकुट भार ही होता है, यदि राजा ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि को उस पर धारण नहीं करता। दूसरे शब्दों में, यदि पृथु महाराज जैसा उदार राजा ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के आदेशों का अनुसरण नहीं करता अथवा ब्राह्मण-संस्कृति का पालन नहीं करता तो वह राज्य पर भारस्वरूप होता है क्योंकि वह प्रजा का कल्याण नहीं कर सकता। महाराज पृथु आदर्श शासक के एक उत्तम उदाहरण थे।

गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं
वृद्धाश्रयं संवृणतेऽनु सम्पदः ।
प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवां च
जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

गुण-अयनम्—जिसने समस्त सद्गुण प्राप्त किये हैं; शील-धनम्—उत्तम आचरण ही जिसकी सम्पत्ति है; कृत-ज्ञम्—आभारी; वृद्ध-आश्रयम्—विद्वानों की शरण ग्रहण करने वाला; संवृणते—प्राप्त करता है; अनु—निश्चय ही; सम्पदः—समस्त ऐश्वर्य; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; ब्रह्म-कुलम्—ब्राह्मण वर्ग; गवाम्—गौएं; च—तथा; जनार्दनः—भगवान्; स—सहित; अनुचरः—अपने भक्त; च—तथा; मह्यम्—मुझको।

जो कोई भी ब्राह्मणत्व के गुणों को अर्थात् सदाचार, कृतज्ञता तथा अनुभवी लोगों का आश्रय प्राप्त कर लेता है, उसे संसार का सारा ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। अतः मेरी यही चाह है कि श्रीभगवान् अपने पार्षदों सहित ब्राह्मण कुल, गौओं तथा मुझ पर प्रसन्न रहें।

तात्पर्य : भगवान् की पूजा *नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च* स्तुति से की जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भगवान् ब्राह्मणों तथा ब्राह्मण-संस्कृति के साथ ही गौओं का सम्मान एवं परिपालन करते हैं। दूसरे शब्दों में, जहाँ कहीं भी ब्राह्मण तथा ब्राह्मण-संस्कृति होगी वहाँ गौएँ तथा उनका संरक्षण होगा। जिस समाज या संस्कृति में ब्राह्मण या ब्राह्मण संस्कृति नहीं होती वहाँ गौओं को सामान्य पशु समझ कर मानव सभ्यता का त्याग करके उनका वध कर दिया जाता है। पृथु महाराज द्वारा *गवाम्* शब्द का विशेष उल्लेख महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् सदा से गौओं एवं भक्तों के साथ सम्बन्धित रहते आये हैं। चित्रों में भगवान् कृष्ण को सदैव गायों तथा ग्वालबाल एवं गोपियों के साथ दिखाया जाता है। भगवान् कृष्ण अकेले नहीं रह सकते। अत: पृथु महाराज ने *सानुचरश्च* शब्द का प्रयोग किया है, जो इसका सूचक है कि वे सदा अपने अनुयायियों तथा भक्तों के साथ रहते हैं।

भक्त में देवताओं के सारे सद्गुण आ जाते हैं; वह *गुणायनम्* अर्थात् समस्त सद्गुणों का आगार होता है। उसकी एकमात्र सम्पत्ति सदाचरण है और वह कृतज्ञ होता है। ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का एक गुण भगवत्कृपा के लिए कृतज्ञता है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् का कृतज्ञ होना चाहिए कि वे समस्त जीवात्माओं का पालन करते हैं और उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जैसाकि वेदों में (*कठोपनिषद् २.२.१३*) में कहा गया है—एको बहूनां यो विदधाति कामान्—परमेश्वर जीवात्माओं की सारी आवश्यकताएँ पूरी करता है। अत: जो जीवात्मा भगवान् के प्रति कृतज्ञ है, वह निश्चय ही सद्गुणों से पूर्ण है।

इस श्लोक का *वृद्धाश्रयं* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। वृद्ध से ज्ञान में बढ़े-चढ़े व्यक्ति का बोध होता है। वृद्ध पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनकी आयु अधिक होती है और दूसरे वे जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं। आयु बढ़ने से ही कोई वृद्ध नहीं हो जाता। जो ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा होता है, वही वास्तव में वृद्ध है (*ज्ञानवृद्ध*)। *वृद्धाश्रयं* का अर्थ हुआ वह व्यक्ति जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े गुरुजनों की शरण ग्रहण करता है, जो ब्राह्मण के समस्त गुणों को अर्जित कर सकता है और जिसे सदाचारी बनाया जा

सकता है। जब कोई सचमुच सद्गुणों को प्राप्त कर लेता है, वह भगवान् की कृपा के प्रति कृतज्ञ होता है तथा प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करता है, तो वह सारे ऐश्वर्य से समन्वित होता है। ऐसा व्यक्ति ही ब्राह्मण या वैष्णव होता है। अत: पृथु महाराज भगवान् के पार्षदों, भक्तों, वैष्णवों, ब्राह्मणों तथा गौओं सहित भगवान् के आशीर्वादों तथा कृपा की याचना करते हैं।

मैत्रेय उवाच
इति ब्रुवाणं नृपतिं पितृदेवद्विजातय: ।
तुष्टुवुर्हृष्टमनस: साधुवादेन साधव: ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; नृ-पतिम्—राजा को; पितृ—पितृलोक के वासी; देव—देवता; द्वि-जातय:—तथा द्विजों (ब्राह्मणों एवं वैष्णवों) ने; तुष्टुवु:—सन्तुष्ट; हृष्ट-मनस:—मन में अत्यन्त प्रसन्न; साधु-वादेन—बधाई देते हुए; साधव:—उपस्थित समस्त साधु पुरुष।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : राजा पृथु को इस प्रकार सम्भाषण करते सुनकर सभी देवताओं, पितृलोक के वासियों, ब्राह्मणों तथा उस सभा में उपस्थित साधु पुरुषों ने अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करते हुए साधुवाद दिया।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति किसी सभा में बहुत अच्छा भाषण देता है, तो श्रोता लोग साधु! साधु! कहकर अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करते हैं। यही साधुवाद है। उस सभा में जितने साधु पुरुष, पितर तथा देवता उपस्थित थे और जिन्होंने पृथु महाराज को बोलते सुना उन्होंने साधु! साधु! शब्दों से अपनी शुभकामना व्यक्त की। उन सबों ने पृथु महाराज के सन्देश को अंगीकार कर लिया और वे अत्यधिक प्रसन्न हुए।

पुत्रेण जयते लोकानिति सत्यवती श्रुति: ।
ब्रह्मदण्डहत: पापो यद्वेनोऽत्यतरत्तम: ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

पुत्रेण—पुत्र के द्वारा; जयते—विजय प्राप्त करता है; लोकान्—समस्त स्वर्ग लोकों की; इति—इस प्रकार; सत्य-वती—सत्य होता है; श्रुति:—वेद; ब्रह्म-दण्ड—ब्राह्मणों के शाप से; हत:—मारा गया; पाप:—परम पापी; यत्—क्योंकि; वेन:—महाराज पृथु का पिता; अति—अत्यधिक; अतरत्—उद्धार हो गया; तम:—नारकीय जीवन के अंधकार से।

उन सबों ने घोषित किया कि वेदों का यह निर्णय पूरा हुआ कि पुत्र के कर्म से मनुष्य स्वर्गलोकों को जीत सकता है, क्योंकि ब्राह्मणों के शाप से मारा गया अत्यन्त पापी वेन अब अपने पुत्र महाराज पृथु के द्वारा नारकीय जीवन के गहन अंधकार से उबारा गया था।

तात्पर्य : वैदिक उल्लेख के अनुसार *पुत्* नामक एक नारकीय ग्रह है और जो इस ग्रह से किसी व्यक्ति को उबारता है, वह *पुत्र* कहलाता है। अत: विवाह का उद्देश्य ऐसा पुत्र उत्पन्न करना है, जो अपने पिता का, चाहे वह *पुत्* नरक में क्यों न गिरा हो, उद्धार कर सके। महाराज पृथु का पिता अत्यन्त पापी व्यक्ति था, अत: ब्राह्मणों ने शाप द्वारा उसे मार डाला था। उस सभा में उपस्थित सभी साधु पुरुष, मुनि तथा ब्राह्मण, महाराज पृथु से उनके जीवन के महदुद्देश्य को सुनकर आश्वस्त हो चुके थे कि वेदों का कथन सत्य सिद्ध हो चुका है। धार्मिक विवाह में पत्नी को ग्रहण करने का प्रयोजन पुत्र की प्राप्ति है—ऐसा पुत्र जो अपने पिता को नारकीय जीवन के गहन अंधकार से उबारने में समर्थ हो। विवाह का उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति नहीं, अपितु अपने पिता को उबारने वाले योग्य पुत्र की प्राप्ति है। किन्तु यदि पुत्र अयोग्य असुर हो जाये तो फिर वह अपने पिता को नारकीय जीवन से कैसे उबार सकता है? अत: पिता का धर्म है कि वह वैष्णव होकर बच्चों को वैष्णव बनाए। तब यदि पिता धोखे से भी अगले जन्म में नरक में गिरता है, तो ऐसा पुत्र उसी प्रकार उसे उबार सकता है, जिस प्रकार महाराज पृथु ने अपने पिता का उद्धार किया।

हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः ।
विविक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः—प्रह्लाद महाराज का पिता; **च**—भी; **अपि**—पुनः; **भगवत्**—भगवान् की; **निन्दया**—निन्दा से; **तमः**—नारकीय जीवन के गहनतम क्षेत्र में; **विविक्षुः**—प्रविष्ट किया; **अत्यगात्**—उबार लिया गया; **सूनोः**—अपने पुत्र; **प्रह्लादस्य**—महाराज प्रह्लाद के; **अनुभावतः**—प्रभाव से।

इसी प्रकार हिरण्यकशिपु अपने पापकर्मों से भगवान् की सत्ता (श्रेष्ठता) का उल्लंघन करता हुए नारकीय जीवन के गहनतम क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ, किन्तु अपने महान् पुत्र प्रह्लाद महाराज की कृपा से उसका भी उद्धार हो सका और वह भगवान् के धाम वापस चला गया।

तात्पर्य : जब प्रह्लाद महाराज को उनकी भक्ति तथा सहिष्णुता के कारण नृसिंह देव ने वर दिया तो उन्होंने भगवान् के एक भी वर को यह सोचकर स्वीकार नहीं किया कि, ऐसा करना एक निष्ठावान भक्त को शोभा नहीं देता। अच्छा पुरस्कार पाने के लालच से भगवान् की सेवा किये जाने को प्रह्लाद महाराज ने एक व्यापारिक सौदा मानते हुए तिरस्कृत किया है। चूँकि प्रह्लाद महाराज वैष्णव थे, अत: उन्होंने अपने लिए कोई वरदान न माँग कर अपने पिता के प्रति वत्सलता प्रकट की। यद्यपि उनके पिता

ने उन्हें यातनाएँ दी थी और यदि भगवान् ने उसका वध न कर दिया होता तो उसके द्वारा वे स्वयं मारे गये होते, किन्तु तो भी प्रह्लाद महाराज ने उसके लिए भगवान् से क्षमा माँगी। भगवान् ने उनकी अभिलाषा स्वीकार करके हिरण्यकशिपु को नारकीय जीवन के गहनतम अंधकार से उबारा, जिससे वह अपने पुत्र की कृपा से भगवान् के धाम वापस जा सका। प्रह्लाद महाराज ऐसे वैष्णव के सर्वोत्तम उदाहरण हैं, जो इस संसार में नारकीय जीवन बिताने वाले पापी पुरुषों के प्रति अत्यन्त दयालु होते हैं। इसीलिए कृष्ण *पर-दु:ख-दु:खी कृपाम्बुधि:* नाम से जाने जाते हैं। भगवान् के सभी शुद्ध भक्त प्रह्लाद महाराज के ही समान इस संसार में पापी लोगों के उबारने के लिए दया से परिपूर्ण हो कर आते हैं। वे सभी प्रकार के कष्टों को सहिष्णु बन कर सहते हैं, क्योंकि वैष्णव का यह एक अन्य गुण है, जो संसार की नारकीय दशाओं से पापी पुरुषों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील रहता है। अत: वैष्णवों की निम्न विधि से स्तुति की जाती है—

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।

पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नम:॥

वैष्णव का मुख्य कार्य पतित आत्माओं का उद्धार करना है।

वीरवर्य पित: पृथ्व्या: समा: सञ्जीव शाश्वती: ।
यस्येदृश्यच्युते भक्ति: सर्वलोकैकभर्तरि ॥ ४८॥

शब्दार्थ

वीर-वर्य—वीरों में सर्वश्रेष्ठ; पित:—पिता; पृथ्व्या:—पृथ्वी का; समा:—वर्ष में बराबर; सञ्जीव—जीवित रहते; शाश्वती:—सदा के लिए; यस्य—जिसका; ईदृशी—इस तरह; अच्युते—परमेश्वर को; भक्ति:—भक्ति में बराबर; सर्व—सभी; लोक—लोक, ग्रह; एक—एक; भर्तरि—पालक।.

सभी साधु ब्राह्मणों ने पृथु महाराज को इस प्रकार सम्बोधित किया—हे वीरश्रेष्ठ, हे पृथ्वी के पिता, आप दीर्घजीवी हों, क्योंकि आपमें समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी अच्युत भगवान् के प्रति अत्यधिक श्रद्धा है।

तात्पर्य : सभा में उपस्थित साधु पुरुषों ने पृथु महाराज को दीर्घ आयु प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया, क्योंकि भगवान् के प्रति उनकी श्रद्धा तथा भक्ति अटूट थी। यद्यपि जीवन की अवधि सीमित वर्षों की होती है, किन्तु यदि सौभाग्यवश कोई भक्त हो जाता है, तो वह प्रदत्त जीवन-अवधि को पार कर लेता है। निस्सन्देह कभी-कभी योगी अपने इच्छानुसार मरते हैं, प्राकृतिक नियमों के अनुसार नहीं।

भक्त की दूसरी विशेषता यह है कि वह भगवद्भक्ति के कारण सदा-सदा के लिए जीवित रहता है। कहा गया है कि *कीर्तिर्यस्य स जीवति*—"जो अपने पीछे अच्छी ख्याति छोड़ता है, वह सदैव जीवित रहता है।" विशेष रूप से भगवान् का भक्त तो निश्चित रूप से सदैव जीवित रहता है। जब भगवान् चैतन्य महाप्रभु रामानन्द राय से वार्तालाप कर रहे थे तो चैतन्य महाप्रभु ने पूछा, "सबसे बड़ा यश क्या है?" रामानन्द राय का उत्तर था—जो महान् भक्त के रूप में ख्यातिप्राप्त है उसी की सर्वाधिक ख्याति है, क्योंकि भक्त न केवल वैकुण्ठलोक में ही सदैव वास करता है, किन्तु वह इस संसार में भी अपनी ख्याति से सदा जीवित रहता है।

अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते
त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः ।
य उत्तमश्लोकतमस्य विष्णो-
र्ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह, अरे; वयम्—हम; हि—निश्चय ही; अद्य—आज; पवित्र-कीर्ते—हे परम शुद्ध; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—निश्चय ही; नाथेन—भगवान् द्वारा; मुकुन्द—श्रीभगवान्; नाथाः—परमेश्वर की प्रजा होकर; ये—जो; उत्तम-श्लोक-तमस्य—भगवान् का, जिनकी प्रशंसा उत्तम श्लोकों द्वारा की जाती है; विष्णोः—विष्णु का; ब्रह्मण्य-देवस्य—ब्राह्मणों के पूज्य भगवान् का; कथाम्—शब्द; व्यनक्ति—व्यक्त किये गये।.

श्रोताओं ने आगे कहा : हे राजा पृथु, आपकी कीर्ति परम शुद्ध है, क्योंकि आप ब्राह्मणों के स्वामी भगवान् की महिमाओं का उपदेश दे रहे हैं। हमारे बड़े भाग हैं कि हमने आपको स्वामी रूप में प्राप्त किया जिससे हम अपने आपको भगवान् के प्रत्यक्ष आश्रय में समझ रहे हैं।

तात्पर्य : नागरिकों ने घोषित किया कि महाराज पृथु के संरक्षण में रहते हुए वे अपने को भगवान् के ही संरक्षण में समझ रहे हैं। इस संसार में इस प्रकार की समझ सामाजिक स्थायित्व की सही स्थिति है। चूँकि वेदों का कथन है कि भगवान् ही समस्त जीवों के पालक और नायक हैं, अतः राजा या शासनाध्यक्ष को परम पुरुष का प्रतिनिधि होना चाहिए। तभी वह भगवान् के समान सम्मान प्राप्त करने का दावा कर सकता है। इस श्लोक में यह भी संकेत किया गया है कि राजा या शासनाध्यक्ष किस प्रकार समाज का नायक बन सकता है, क्योंकि पृथु महाराज भगवान् विष्णु की श्रेष्ठता तथा उनकी महिमा का गान कर रहे थे। ऐसे राजा या नेता की अध्यक्षता में रहना मानव समाज का पूर्ण अधिकार है। अतः वे भगवान् के उचित प्रतिनिधि थे। ऐसे राजा या नेता का मूल दायित्व अपने राज्य में ब्राह्मण-

सभ्यता तथा गौओं को सुरक्षा प्रदान करना है।

नात्यद्भुतमिदं नाथ तवाजीव्यानुशासनम् ।
प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अति—अत्यधिक; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; इदम्—यह; नाथ—हे स्वामी; तव—तुम्हारा; आजीव्य—आय का स्त्रोत; अनुशासनम्—प्रजा के ऊपर शासन; प्रजा—नागरिक; अनुरागः—प्रेम; महताम्—बड़े का; प्रकृतिः—प्रकृति; करुण—दयावान; आत्मनाम्—जीवात्माओं का।

हे नाथ! अपनी प्रजा पर शासन करना तो आपका वृत्तिपरक धर्म है। यह आप-जैसे महापुरुष के लिए कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं है, क्योंकि आप अत्यन्त दयालु हैं और अपनी प्रजा के हितों के प्रति अत्यन्त प्रेम रखते हैं। यही आपके चरित्र की महानता है।

तात्पर्य : राजा का कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजा की रक्षा करे और अपनी जीविका के लिए उस पर कर लगाए। चूँकि वैदिक समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विभाजित है, अत: शास्त्रों में उनकी जीविका के साधनों का भी उल्लेख हुआ है। ब्राह्मणों को चाहिए कि वे ज्ञान का प्रसार करें, अत: वे अपने शिष्यों से दान ले—किन्तु राजा को चाहिए कि वह प्रजा को जीवन के उच्चतम स्तर तक उठने के लिए सुरक्षा प्रदान करे, अत: वह इसके लिए प्रजा पर कर लगा सकता है। चूँकि वणिक वर्ग सारे समाज के लिए अन्न उत्पन्न करता है, अत: वह इससे थोड़ा लाभ ले सकता है, जबकि शूद्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों या वैश्यों की भाँति कार्य नहीं कर सकते, अत: उन्हें समाज के उच्चतर वर्गों की सेवा करनी चाहिए और उनसे अपने जीवन की समस्त आवश्यकताएँ पूरी करवानी चाहिए।

यहाँ पर योग्य राजा या राज नेता के लक्षणों को इस प्रकार बताया गया है—उसे लोगों पर अत्यन्त दयालु होना चाहिए और उनके मुख्य हित का ध्यान रखना चाहिए जो कि उन्हें भगवान् का उच्चस्थ भक्त बनना है। महापुरुष स्वभाव से अन्यों का हित करने वाले होते हैं और एक वैष्णव तो समाज का सबसे दयालु व्यक्ति होता है। अत: हम वैष्णव नायक को इस प्रकार प्रणाम करते हैं—

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।

पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

एकमात्र वैष्णव नेता ही लोगों की समस्त अभिलाषाओं को पूरा कर सकता हैं (*वाञ्छाकल्पतरुः*) और वह अत्यन्त दयावान होता है, क्योंकि वह मानव-समाज का महान् कल्याणकर्ता है। वह

पतितपावन है, क्योंकि यदि राजा या शासनाध्यक्ष ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के पदचिह्नों पर चलते हैं, जो स्वभावत: प्रचार-कार्य में अग्रणी होते हैं, तो वैश्य भी वैष्णवों तथा ब्राह्मणों का अनुसरण करेंगे और शूद्र इनकी सेवा करेंगे। इस प्रकार सारा समाज जीवन की परम सिद्धि हेतु एक परिपूर्ण संस्था बन जाता है।

अद्य नस्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो ।
भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्दैवसंज्ञितैः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; नः—हम सबों का; तमसः—संसार के अंधकार का; पारः—दूसरी ओर; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उपासादितः—बढ़ा हुआ; प्रभो—हे स्वामी; भ्राम्यताम्—भटकने वालों को; नष्ट-दृष्टीनाम्—जिनका जीवन-लक्ष्य खो चुका है; कर्मभिः—गत कर्मों के कारण; दैव-संज्ञितैः—श्रेष्ठ अधिकारी द्वारा व्यवस्थित।

नागरिकों ने आगे कहा : आज आपने हमारी आँखें खोल दी हैं और हमें बताया है कि इस अंधकार के सागर को किस प्रकार पार किया जाये। अपने पूर्वकर्मों तथा दैवी व्यवस्था के कारण हम सकाम कर्मों के जाल में फँसे हुए हैं और हमारा जीवन-लक्ष्य ओझल हो चुका है, जिसके कारण हम इस ब्रह्माण्ड में भटक रहे हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *कर्मभि: दैव-संज्ञितै:* पद अत्यन्त सार्थक है। अपने कर्मों के गुण के अनुसार हम प्रकृति के गुणों के सम्पर्क में आते हैं और दैवी विधान के द्वारा हमें विभिन्न प्रकार के शरीरों में ऐसे कर्मों के फलों को भोगने का अवसर मिलता है। इस प्रकार सभी जीवात्माएँ अपने जीवन-लक्ष्य के ओझल होने से विभिन्न योनियों में ब्रह्माण्ड भर में भटकती रहती हैं—कभी निम्न योनियों में जन्म ग्रहण करती हैं, तो कभी स्वर्ग लोक में स्थान प्राप्त करती हैं—इस प्रकार हम सभी अनन्त काल से भटकते रहे हैं। गुरु तथा भगवान् की कृपा से हमें भक्ति का संकेत प्राप्त होता है और तब हमारे जीवन की प्रगति शुरू होती है। यहाँ पर राजा पृथु के प्रजा जनों ने इसे स्वीकार किया है; वे पूरी चेतनावस्था में यह स्वीकार कर रहे हैं कि महाराज पृथु के कार्यों से वे लाभान्वित हुए हैं।

नमो विवृद्धसत्त्वाय पुरुषाय महीयसे ।
यो ब्रह्म क्षत्रमाविश्य बिभर्तीदं स्वतेजसा ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; विवृद्ध—अत्यन्त सम्मानित; सत्त्वाय—सत्त्व को; पुरुषाय—पुरुष को; महीयसे—इस प्रकार से महिमामंडित पुरुष को; यः—जो; ब्रह्म—ब्राह्मण संस्कृति; क्षत्रम्—प्रशासनिक कार्य; आविश्य—प्रविष्ट होकर; बिभर्ति—पालन करते हुए; इदम्—यह; स्व-तेजसा—अपने तेज से।

हे स्वामी! आप विशुद्ध सत्त्व-स्थिति को प्राप्त हैं, अतः आप परमेश्वर के सक्षम प्रतिनिधि हैं। आप अपने तेज से ही महिमावान हैं और इस तरह ब्राह्मण-संस्कृति को पुनर्स्थापित करते हुए सारे संसार का पालन करते हैं तथा अपने क्षात्र धर्म का निर्वाह करते हुए प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : ब्राह्मण-संस्कृति के समुचित प्रसार तथा सरकार की समुचित सुरक्षा के बिना समाज का कोई मानदण्ड स्थिर नहीं रह सकता। इस बातको इस श्लोक में उस महाराज पृथु की प्रजा ने स्वीकार किया है, जो अपनी सत्त्व-स्थिति के कारण अपने राज्य में अद्भुत स्थिति बनाये रखने में समर्थ थे। *विवृद्ध-सत्त्वाय* शब्द सार्थक है। भौतिक जगत में तीन गुण होते हैं—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। तमोगुण से सतोगुण तक पहुँचने के लिए भक्ति एक साधन है। जीवन के निम्न स्तर से उच्चतम् स्तर तक उठने के लिए भक्ति करने के अलावा और कोई साधन नहीं हैं। *श्रीमद्भागवत* के पिछले अध्यायों में यही उपदेश दिया गया है कि मनुष्य निम्न स्थिति से उच्चतम स्थिति तक पहुँचने के लिए भक्तों की संगति करे और उनके मुख से *श्रीमद्भागवत* का नियमित श्रवण करे।

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥

"जब मनुष्य श्रवण तथा कीर्तन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भक्ति की ओर उन्मुख होता है, तो प्रत्येक हृदय के वासी भगवान् भक्त के हृदय को पवित्र करने में सहायता पहुँचाते हैं।" (*भागवत* १.२.१७)। इस प्रकार उत्तरोत्तर शुद्धि से रजो तथा तमो गुणों का प्रभाव जाता रहता है और मनुष्य सत्त्व पद को प्राप्त होता है। रजो तथा तमो गुणों के सम्पर्क से मनुष्य लालची तथा कामी हो जाता है, किन्तु जब वही मनुष्य सत्त्वपद तक उठ जाता है, तो वह जीवन की किसी भी स्थिति से सन्तुष्ट रहता है और लालच तथा वासना से विहीन हो जाता है। ऐसी मानसिकता उसके सत्त्वपद पर स्थित होने की सूचक है। मनुष्य को इस सत्त्व को पार करके विशुद्ध सत्त्व तक ऊपर उठना होता है, जिसे *विवृद्ध सत्त्व* कहते हैं। सत्त्व की इस विवृद्ध अवस्था में मनुष्य कृष्णभावनाभावित (भक्त) हो सकता है। इसीलिए महाराज पृथु को यहाँ पर *विवृद्ध सत्त्व* के रूप में सम्बोधित किया गया है। यद्यपि महाराज पृथु शुद्ध भक्त के

दिव्य पद पर स्थित थे, किन्तु मानव समाज के हित में वे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के पद पर उतर आये थे और इस प्रकार अपने तेज से उन्होंने सारे संसार को संरक्षण प्रदान किया था। यद्यपि वे क्षत्रिय राजा थे, किन्तु वैष्णव होने के कारण ब्राह्मण भी थे। ब्राह्मण के रूप में वे प्रजा को समुचित आदेश दे सकते थे और क्षत्रिय रूप में उसे सुरक्षा प्रदान कर सकते थे। इस प्रकार महाराज पृथु की प्रजा एक कुशल राजा के द्वारा सभी प्रकार से सुरक्षित थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज पृथु द्वारा उपदेश'' नामक इक्कीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter बाईस

चारों कुमारों से पृथु महाराज की भेंट

मैत्रेय उवाच
जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम् ।
तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; जनेषु—नागरिक; प्रगृणत्सु—प्रार्थनारत; एवम्—इस प्रकार; पृथुम्—महाराज पृथु को; पृथुल—अत्यधिक; विक्रमम्—शक्तिशाली; तत्र—वहाँ; उपजग्मुः—आये; मुनयः—कुमार; चत्वारः—चारों; सूर्य—सूर्य के समान; वर्चसः—तेजस्वी।

महामुनि मैत्रेय ने कहा : जिस समय सारे नागरिक परम शक्तिमान महाराज पृथु की इस प्रकार स्तुति कर रहे थे उसी समय वहाँ पर सूर्य के समान तेजस्वी चारों कुमार आये।

तांस्तु सिद्धेश्वरान्राजा व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा ।
लोकानपापान्कुर्वाणान्सानुगोऽचष्ट लक्षितान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन; तु—लेकिन; सिद्ध-ईश्वरान्—समस्त योग शक्तियों के स्वामी को; राजा—राजा ने; व्योम्नः—आकाश से; अवतरतः—उतरते हुए; अर्चिषा—अपने दिव्य तेज से; लोकान्—लोकों को; अपापान्—पापरहित; कुर्वाणान्—करते हुए; स-अनुगः—अपने पार्षदों सहित; अचष्ट—पहचान लिया; लक्षितान्—उन्हें देखकर।

समस्त योग शक्तियों के स्वामी चारों कुमारों के देदीप्यमान् तेज को देखकर राजा तथा उनके पार्षदों ने उन्हें आकाश से उतरते ही पहचान लिया।

तात्पर्य : चारों कुमारों को *सिद्धेश्वरान्* कहा गया है, जिसका अर्थ है ''समस्त योग शक्तियों के स्वामी।'' जो योग में सिद्धि प्राप्त कर सकता है उसे तुरन्त ही आठ प्रकार की यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त

हो जाती हैं। ये हैं—लघिमा, अणिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य इत्यादि। सिद्धेश्वरों के रूप में चारों कुमार सभी यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त कर चुके थे और फलस्वरूप अन्तरिक्ष में यंत्रों के बिना ही यात्रा कर सकते थे। जब वे पृथु महाराज के पास आ रहे थे तो वे किसी विमान से नहीं, अपितु स्वत: आये। दूसरे शब्दों में, ये चारों कुमार अन्तरिक्षयात्री भी थे, जो बिना किसी यान के यात्रा कर सकते थे। सिद्धलोक नामक लोक के निवासी अन्तरिक्ष में एक लोक से दूसरे लोक तक यान के बिना ही यात्रा कर सकते हैं। किन्तु यहाँ पर कुमारों की जिस विशिष्ट शक्ति का उल्लेख हुआ है, वह है कि वे जहाँ भी जाते वह स्थान पापरहित हो जाता था। महाराज पृथु के शासन में इस पृथ्वी पर प्रत्येक वस्तु पापरहित थी, अत: उन्होंने राजा के पास आने का निर्णय लिया। सामान्यत: वे किसी पापमय लोक में नहीं जाते।

तद्दर्शनोद्गतान्प्राणान्प्रत्यादित्सुरिवोत्थितः ।
ससदस्यानुगो वैन्य इन्द्रियेशो गुणानिव ॥ ३॥

शब्दार्थ

तत्—उसको; दर्शन—देखकर; उद्गतान्—अत्यधिक इच्छा प्रकट किये जाने पर; प्राणान्—प्राण; प्रत्यादित्सुः—शान्तिपूर्वक जाते हुए; इव—सदृश; उत्थितः—उठा; स—सहित; सदस्य—पार्षद या अनुयायी; अनुगः—अधिकारी; वैन्यः—राजा पृथु; इन्द्रिय-ईशः—जीवात्मा; गुणान् इव—प्रकृति के गुणों से मानो प्रभावित।

चारों कुमारों को देखकर पृथु महाराज उनके स्वागत के लिए आतुर हो उठे। अत: अपने पार्षदों सहित वे तुरन्त इस तरह तेज़ी से उठ कर खड़े हो गये मानो कोई बद्धजीव प्रकृति के गुणों द्वारा तुरन्त आकृष्ट हो उठा हो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

प्रत्येक बद्धजीव प्रकृति के गुणों के एक विशेष मेल से प्रभावित होता है। फलत: बद्धजीव विशेष प्रकार के कर्म की ओर आकर्षित होता है और उसे करने के लिए वह बाध्य हो जाता है। क्योंकि वह भौतिक प्रकृति के पूर्णत: वश में होता है। यहाँ पर पृथु महाराज की तुलना ऐसे बद्धजीव से इसलिए नहीं की गई है कि वे सचमुच बद्धजीव थे, अपितु इसलिए कि वे कुमारों के स्वागत के लिए इतने आतुर थे मानो उनके बिना प्राण निकल जाएँगे। बद्धजीव ऐसी वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है जिनसे इन्द्रियतृप्ति होती है। उसके नेत्र सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ देखना चाहते हैं, उसके कान मधुर संगीत

सुनना चाहते हैं, नाक सुगन्धित पुष्पों का रसास्वादन करना चाहती है और जिह्वा उत्तम भोजन चखना चाहती है। इसी प्रकार उसकी अन्य इन्द्रियाँ, यथा हाथ, पाँव, पेट, गुप्तांग, मन भी भोग्य पदार्थों के आकर्षण से अपने को रोक नहीं पातीं। इसी प्रकार पृथु महाराज भी चारों कुमारों के स्वागत से अपने को रोक नहीं पा रहे थे। ये कुमार अपने तेज से प्रकाशमान थे, फलतः न केवल राजा, अपितु उनके अनुयायियों तथा सभासदों ने भी उन चारों का स्वागत किया। कहा जाता है कि इस संसार में समान रुचि वाले व्यक्ति एक दूसरे से आकर्षित होते हैं। एक शराबी दूसरे शराबी के प्रति आकृष्ट होता है, इसी तरह साधु पुरुष साधु पुरुष के प्रति आकृष्ट होता है। चूँकि पृथु महाराज सर्वोच्च आध्यात्मिक पद पर थे, अतः वे उसी कोटि के कुमारों के प्रति आकृष्ट हुए। अतः यह उक्ति सही है कि मनुष्य संगति से पहचाना जाता है।

गौरवाद्यन्त्रितः सभ्यः प्रश्रयानतकन्धरः ।
विधिवत्पूजयां चक्रे गृहीताध्यर्हणासनान् ॥ ४॥

शब्दार्थ

गौरवात्—गौरव से; यन्त्रितः—पूर्णतः; सभ्यः—अत्यन्त सभ्य; प्रश्रय—विनीत भाव से; आनत-कन्धरः—अपने कन्धे (गरदन) झुकाए; विधि-वत्—शास्त्रोक्त विधियों से; पूजयाम्—पूजा; चक्रे—सम्पन्न की; गृहीत—स्वीकार करते हुए; अधि—के सहित; अर्हण—स्वागत की सामग्री; आसनान्—आसन पर।

जब वे महान् ऋषिगण शास्त्रविहित ढंग से उनके द्वारा किये गये स्वागत को स्वीकार कर राजा द्वारा प्रदत्त आसनों पर बैठ गये तो राजा उनके गौरव के वशीभूत होकर तुरन्त नतमस्तक हुआ। इस प्रकार उसने चारों कुमारों की पूजा की।

तात्पर्य : ये चारों कुमार वैष्णव सम्प्रदाय के परम्परा-गुरु हैं। ब्रह्म सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय, कुमार सम्प्रदाय तथा रुद्र सम्प्रदाय—इन चारों सम्प्रदायों में से कुमार सम्प्रदाय इन्हीं चारों कुमारों के नाम में से है। अतः पृथु महाराज सम्प्रदाय-आचार्यों के प्रति अत्यन्त विनयशील थे। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा—*साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रैः ।* गुरु अर्थात् परम्परा-आचार्य का भगवान् के ही समान आदर किया जाना चाहिए। इस श्लोक में आगत *विधिवत्* शब्द अत्यन्त सटीक है। इसका यह अर्थ हुआ कि पृथु महाराज ने गुरु या आचार्य का स्वागत करते समय शास्त्रों में बताई विधियों का कड़ाई से पालन किया। जब भी किसी आचार्य का दर्शन हो, मनुष्य को चाहिए कि वह तुरन्त उनके समक्ष नतमस्तक हो। पृथु महाराज ने *विधिवत्* यह क्रिया सम्पन्न की, अतः यहाँ पर *प्रश्रयानत-कन्धरः*

शब्द आये हैं। विनयवश वे कुमारों के समक्ष झुक गये।

तत्पादशौचसलिलैर्मार्जितालकबन्धनः ।
तत्र शीलवतां वृत्तमाचरन्मानयन्निव ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्-पाद—उनके चरणकमल; शौच—धुला; सलिलैः—जल से; मार्जित—छिड़का गया; अलक—बाल; बन्धनः—जूड़ा, राशि; तत्र—वहाँ; शीलवताम्—सम्मानित पुरुषों के; वृत्तम्—आचरण; आचरन्—आचरण करते हुए; मानयन्—अभ्यास करते हुए; इव—सदृश।

तत्पश्चात् राजा ने कुमारों के चरणकमलों के धोये हुए जल को लेकर अपने बालों पर छिड़का। ऐसे शिष्ट आचरण से राजा ने आदर्श पुरुष की तरह यह प्रदर्शित किया कि आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति का किस प्रकार सम्मान करना चाहिए।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है।—*आपनि आचरि प्रभु जीवेरे शिखाय।* यह सर्वविदित है कि श्री चैतन्य महाप्रभु ने आचार्य के रूप में जो शिक्षा दी उसे वे अपने जीवन में उतारते थे। यद्यपि अनेक महापुरुषों ने उन्हें श्रीकृष्ण के अवतार के रूप में पहचान लिया था, किन्तु जब वे भक्त के रूप में उन्हें उपदेश देते थे, वे कभी भी अवतारी कहलाना पसन्द नहीं करते थे। भले ही कोई श्रीकृष्ण का अवतार या भगवान् का शक्त्यावेशावतार हो, किन्तु उसे इसको विज्ञापित नहीं करना चाहिए कि वह अवतार है। लोग स्वयं ही कालक्रम में सचाई जान लेंगे। पृथु महाराज आदर्श वैष्णव राजा थे, अतः वे अपने निजी आचरण से दूसरों को सिखाना चाहते थे कि कुमारों के समान महापुरुषों का किस प्रकार स्वागत-सत्कार करना चाहिए। यह वैदिक प्रथा है कि जब कोई साधु पुरुष किसी के घर जाये तो वह चरण पखार कर चरणोदक को अपने तथा परिवार के व्यक्तियों के सिर के ऊपर छिड़के। पृथु महाराज ने ऐसा किया, क्योंकि वे जनता के आदर्श शिक्षक थे।

हाटकासन आसीनान्स्वधिष्ण्येष्विव पावकान् ।
श्रद्धासंयमसंयुक्तः प्रीतः प्राह भवाग्रजान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

हाटक-आसने—सोने के बने सिंहासन पर; आसीनान्—बैठे हुए; स्व-धिष्ण्येषु—बलिवेदी पर; इव—मानो; पावकान्—अग्नि; श्रद्धा—सम्मान; संयम—संयम; संयुक्तः—से विभूषित; प्रीतः—प्रसन्न; प्राह—कहा; भव—शिवजी; अग्र-जान्—से बड़े।

चारों मुनि शिवजी से भी ज्येष्ठ थे और जब वे सोने के बने हुए सिंहासन पर बैठा दिये गये तो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वेदी पर अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही हो। महाराज पृथु ने उनसे

अत्यन्त शिष्टता तथा सम्मानपूर्वक बड़े ही संयमित स्वर में कहा।

तात्पर्य : कुमारों को शिवजी का अग्रज बताया गया है। जब ब्रह्माजी के शरीर से कुमारों की उत्पत्ति हुई तो इनसे विवाह करने और जनसंख्या बढ़ाने के लिए कहा गया। चूँकि सृष्टि के प्रारम्भ में जनसंख्या बढ़ाना आवश्यक था, अत: ब्रह्माजी एक-एक करके पुत्रों को जन्म देते जा रहे थे और उन्हें वृद्धि करने का आदेश देते जाते थे। किन्तु जब कुमारों से कहा गया तो उन्होंने इनकार कर दिया। वे आजीवन ब्रह्मचारी ही रहकर भगवान् की सेवा में तत्पर रहना चाह रहे थे। इन कुमारों को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि वे कभी विवाह नहीं करेंगे। विवाह से इनकार करने के कारण ब्रह्माजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उनकी आँखें लाल-लाल हो गईं। तब उनके नेत्रों के मध्य से शिवजी या रुद्र प्रकट हुए। फलस्वरूप क्रोध गुण को रुद्र कहा जाता है। शिवजी का भी अपना सम्प्रदाय है, जो ''रुद्र सम्प्रदाय'' कहलाता है। ये लोग भी वैष्णव कहलाते हैं।

पृथुरुवाच
अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः ।
यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्दर्शानां च योगिभिः ॥ ७॥

शब्दार्थ

पृथुः उवाच—राजा पृथु ने कहा; अहो—हे भगवान्; आचरितम्—अभ्यास; किम्—क्या; मे—मेरे द्वारा; मङ्गलम्—कल्याण; मङ्गल-आयनाः—हे साक्षात् कल्याण; यस्य—जिससे; वः—तुम्हारा; दर्शनम्—दर्शन; हि—निश्चय ही; आसीत्—सम्भव हो सका; दुर्दर्शानाम्—कठिनाई से दृश्य, दुर्लभ; च—भी; योगिभिः—योगियों द्वारा।

राजा पृथु ने कहा : हे साक्षात् कल्याणमूर्ति महामुनियो, आपका दर्शन तो योगियों के लिए भी दुर्लभ है। निस्सन्देह आपका दर्शन दुर्लभ है। मैं नहीं जानता कि मुझसे ऐसा कौन-सा पुण्य बन पड़ा है, जिससे आप मेरे समक्ष इतनी सहजता से प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : जब किसी के आध्यात्मिक जीवन में कुछ असाधारण घटना घटती है, तो यह समझना चाहिए कि किसी *अज्ञात-सुकृति* अर्थात् किसी अज्ञात पुण्य कर्म से ऐसा हुआ है। भगवान् या उनके शुद्ध भक्त का दर्शन प्राप्त कर पाना कोई साधारण घटना नहीं है। जब ऐसी घटनाएँ घटें तो इन्हें पूर्व पुण्यकर्मों का परिणाम समझना चाहिए जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२८) में हुई है—*येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।* जो व्यक्ति समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हो जाता है और केवल पुण्यकर्मों में लगा रहता है, वही भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। यद्यपि महाराज पृथु का जीवन पुण्यकर्मों

से ओतप्रोत था, तो भी उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि उन्हें कुमारों के दर्शन किस प्रकार हो सके। उन्हें इसका अनुमान ही नहीं हो रहा था कि उन्होंने किस प्रकार के पुण्यकर्म किये होंगे। यह राजा पृथु की विनयशीलता का चिह्न है, जिन का जीवन पुण्यकर्मों के कारण इतना भरा हुआ था कि उनको भगवान् विष्णु तक ने दर्शन दिये थे और भविष्यवाणी की थी कि कुमार भी उन्हें दर्शन देंगे।

किं तस्य दुर्लभतरमिह लोके परत्र च ।
यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; तस्य—उसका; दुर्लभ-तरम्—अत्यन्त कठिनाई से प्राप्य; इह—इस; लोके—संसार में; परत्र—मृत्यु के पश्चात्; च—अथवा; यस्य—जिसका; विप्राः—ब्राह्मण या वैष्णव; प्रसीदन्ति—प्रसन्न हो जाते हैं; शिवः—सर्व-कल्याणमय; विष्णुः—भगवान् विष्णु; च—भी; स-अनुगः—साथ-साथ चलने वाले।

जिस पर ब्राह्मण तथा वैष्णव प्रसन्न हो जाते हैं, वह व्यक्ति इस संसार में तथा साथ ही मृत्यु के बाद भी दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु प्राप्त कर सकता है। यही नहीं, ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के साथ-साथ रहने वाले कल्याणकारी शिव तथा भगवान् विष्णु का भी उस व्यक्ति को अनुग्रह प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य : ब्राह्मण तथा वैष्णव तो परम कल्याणमय भगवान् विष्णु के संवाहक हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में इसकी पुष्टि हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

भक्तगण भगवान् गोविन्द के अत्यन्त प्रेमवश उन्हें सदा अपने हृदयों में धारण करते हैं। भगवान् तो पहले से सबों के हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु वैष्णव तथा ब्राह्मण प्रेम विभोर होने पर सदैव उनका दर्शन करते हैं। फलतः ब्राह्मण तथा वैष्णव विष्णु को भी धारण करने वाले हैं। वे जहाँ भी जाते हैं, भगवान् विष्णु, शिवजी अथवा भगवान् के भक्त भी उनके साथ हो लेते हैं। चारों कुमार ब्राह्मण थे और वे महाराज पृथु के स्थान पर गये थे, अतः स्वाभाविक था कि भगवान् विष्णु तथा उनके भक्त भी वहाँ उपस्थित थे। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकलता है कि जब किसी व्यक्ति पर ब्राह्मण तथा वैष्णव

प्रसन्न होते हैं, तो भगवान् विष्णु भी प्रसन्न होते हैं। इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा आठ श्लोकों में की गई गुरु-स्तुति से होती है—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसाद:।* यदि गुरु को, जो ब्राह्मण तथा वैष्णव दोनों ही होता है, प्रसन्न कर लिया जाय तो भगवान् भी प्रसन्न होते हैं। और यदि भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तो इस संसार में या मृत्यु के बाद मनुष्य को और क्या प्राप्त करने को रह जाता है?

नैव लक्ष्यते लोको लोकान्पर्यटतोऽपि यान् ।
यथा सर्वदृशं सर्व आत्मानं येऽस्य हेतवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—इस प्रकार; लक्ष्यते—देख सकते हैं; लोकः—लोग; लोकान्—समस्त लोकों में; पर्यटतः—विचरण करते; अपि—यद्यपि; यान्—जिसको; यथा—जिस तरह; सर्व-दृशम्—परमात्मा; सर्वे—सबों में; आत्मानम्—प्रत्येक प्राणी के भीतर; ये—जो; अस्य—इस जगत के; हेतवः—कारण।.

पृथु महाराज ने आगे कहा : यद्यपि आप समस्त लोकों में विचरण करते रहते हैं, किन्तु लोग आपको नहीं जान पाते, जिस प्रकार वे प्रत्येक हृदय में वास करने वाले और प्रत्येक वस्तु के साक्षी परमात्मा को नहीं जान पाते। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिव भी परमात्मा को नहीं जान पाते।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*मुह्यन्ति यत् सूरयः।* कभी-कभी ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र जैसे देवता भी भगवान् को समझ नहीं पाते। जब श्रीकृष्ण इस लोक में थे तो ब्रह्मा तथा इन्द्र ने भी उन्हें गलत समझा। तो फिर योगियों या ज्ञानियों का क्या कहना जो भगवान् को निर्गुण मानते हैं? इसी प्रकार चारों कुमार जैसे महापुरुष तथा वैष्णव भी सामान्य पुरुषों से अदृश्य रहते हैं, यद्यपि वे विभिन्न लोकों में सदैव विचरण करते रहते हैं। जब सनातन गोस्वामी भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के दर्शन हेतु गये तो चन्द्रशेखर आचार्य उन्हें नहीं पहचान पाये। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भगवान् प्रत्येक हृदय में स्थित हैं और वैष्णव भी जो उनके शुद्ध भक्त हैं संसार भर में भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु भौतिक संसार की माया से ग्रस्त लोग इस सृष्टि के अथवा वैष्णवों के स्रोत रूप भगवान् के रूप को नहीं समझ पाते। अत: यह कहा जाता है कि मनुष्य अपने भौतिक नेत्रों से न तो भगवान् को देख सकता है और न ही वैष्णव को, उसे अपनी इन्द्रियों को शुद्ध करके भगवान् की सेवा करनी होती है। तभी क्रमशः वह अनुभव कर सकता है कि भगवान् कौन हैं और वैष्णव कौन है।

अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः ।
यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बुतृणभूमीश्वरावराः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अधनाः—निर्धन; अपि—यद्यपि; ते—वे; धन्याः—धन्य हैं; साधवः—साधु पुरुष; गृह-मेधिनः—गृहस्थ लोग; यत्-गृहाः—जिनके घर; हि—निश्चय ही; अर्ह-वर्य—अत्यन्त पूज्य; अम्बु—जल; तृण—घास; भूमि—स्थल; ईश्वर—स्वामी; अवराः—दास।

कोई भी व्यक्ति जो धनवान हो तथा गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रहा हो, वह भी अतीव धन्य हो जाता है, जब उसके घर में साधु पुरुष उपस्थित होते हैं। गृह स्वामी तथा सेवक, जो सम्मान्य अतिथियों को जल, आसन तथा स्वागत सामग्री प्रदान करने में लगे रहते हैं, वे धन्य हो जाते हैं और वह घर भी धन्य हो जाता है।

तात्पर्य : यदि कोई मनुष्य अधिक धनी नहीं होता तो वह धन्य नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति पारिवारिक जीवन के प्रति अधिक आसक्त होता है, तो वह भी धन्य नहीं है। किन्तु साधु पुरुष निर्धन अथवा गृहस्थ के घर जाने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। जब ऐसा होता है, तो घर का स्वामी तथा उसके सेवक धन्य हो जाते हैं, क्योंकि वे साधु पुरुषों के चरण-प्रक्षालन के लिए जल प्रदान करते हैं, उन्हें आसन देते हैं और उनके स्वागत की अन्य वस्तुएँ देते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई साधु पुरुष किसी साधारण व्यक्ति के भी घर जाता है, तो उसके आशीर्वाद से वह व्यक्ति धन्य हो जाता है। अतः यह वैदिक पद्धति है कि आशीर्वाद लने के लिए गृहस्थ द्वारा किसी साधु पुरुष को आमंत्रित किया जाता है। यह पद्धति आज भी भारत में प्रचलित है। अतः साधु पुरुष जहाँ कहीं भी जाते हैं, गृहस्थ उनका सत्कार करते हैं और बदले में उनसे दिव्य ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतः संन्यासियों का कर्तव्य है कि वे गृहस्थों पर अनुग्रह करने के लिए भ्रमण करते रहें, क्योंकि वे आध्यात्मिक जीवन के मूल्यों के प्रति प्रायः अनजान होते हैं।

यह तर्क किया जा सकता है कि सभी गृहस्थ इतने धनवान नहीं कि वे बड़े-बड़े साधु पुरुषों का सत्कार कर सकें, क्योंकि उनके साथ सदा उनके शिष्य भी रहते हैं। यदि कोई गृहस्थ किसी साधु पुरुष को आतिथ्य प्रदान करता है, तो उसे उनके साथ वालों का भी सत्कार करना होता है। शास्त्रों में बताया गया है कि दुर्वासा मुनि के साथ साठ हजार शिष्य रहते थे और यदि उनके सत्कार में तनिक भी त्रुटि हो जाती तो वे अत्यन्त कुपित होते और कभी-कभी अतिथिसेवी को शाप भी दे देते थे। वस्तुतः हर एक गृहस्थ, चाहे उसकी स्थिति या आर्थिक दशा कैसी ही क्यों न हो, भक्तिपूर्वक साधु पुरुषों का

सम्मान कर सकता है और उन्हें कम से कम पानी तो पीने को दे ही सकता है, क्योंकि पानी सर्वत्र प्राप्य है। भारतवर्ष की प्रथा है कि यदि अचानक कोई सामान्य व्यक्ति भी आ जाए तो यदि गृहस्थ उसे भोजन नहीं दे सके तो पीने को जल तो देता ही है। यदि जल भी न हो तो बैठने को आसन या चटाई ही दे। यदि चटाई भी न हो तो भूमि को झाड़ कर उसी पर बैठाए। यदि वह यह भी न कर सके, तो हाथ जोड़कर वह यह कहकर अतिथि को ले सकता हैं आपका स्वागत है! यदि इतना भी न कर पाये तो उसे अपनी दीन-हीन दशा पर तरस आनी चाहिए और आँसू बहाने चाहिए और समस्त परिवार, पत्नी तथा सन्तान सहित केवल प्रणाम करना चाहिए। इस प्रकार वह किसी भी अतिथि को, चाहे वह साधु पुरुष हो या राजा हो, प्रसन्न कर सकता है।

व्यालालयद्रुमा वै तेष्वरिक्ताखिलसम्पदः ।
यद्गृहास्तीर्थपादीयपादतीर्थविवर्जिताः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

व्याल—विषैले सर्प; आलय—घर; द्रुमाः—वृक्ष; वै—निश्चय ही; तेषु—उन घरों में; अरिक्त—अत्यधिक; अखिल—समस्त; सम्पदः—ऐश्वर्य, वैभव; यत्—जो; गृहाः—घर; तीर्थ-पादीय—साधु पुरुषों के चरणों का; पाद-तीर्थ—चरणों के प्रक्षालन से प्राप्त जल; विवर्जिताः—रहित।

इसके विपरीत जिस गृहस्थ के घर में भगवान् के भक्तों के चरण नहीं पड़ते और जहाँ उन चरणों के प्रक्षालन के लिए जल नहीं रहता, वह घर समस्त ऐश्वर्य तथा धन-सम्पन्न होते हुए भी ऐसे वृक्ष के तुल्य माना जाता है, जिसमें केवल विषैले सर्प रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तीर्थ-पादीय* शब्द का अर्थ भगवान् विष्णु के भक्त या वैष्णव है। जहाँ तक ब्राह्मणों की बात है, पिछले श्लोक में उनके स्वागत के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। इस श्लोक में वैष्णवों पर विशेष बल दिया गया है। सामान्यतः संन्यासी लोग गृहस्थों को सन्मार्ग दिखाने का कार्य करते हैं। कुछ संन्यासी एकदंडी होते हैं और कुछ त्रिदंडी संन्यासी होते हैं। एकदण्डी संन्यासी शंकराचार्य के अनुयायी होते हैं और मायावादी संन्यासी कहलाते हैं। त्रिदंडी संन्यासी वैष्णव आचार्यों—यथा रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि के अनुयायी होते हैं और ये गृहस्थों को उपदेश देते हैं। एकदंडी संन्यासी शुद्ध ब्रह्मपद पर स्थित हो सकते हैं, क्योंकि वे भली-भाँति अवगत रहते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है, किन्तु वे मुख्यतः निर्विशेषवादी होते हैं। वैष्णव परम सत्य को परम पुरुष मानते हैं और ब्रह्मतेज को भगवान् के आश्रित मानते हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२७) में पुष्टि हुई

है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।* निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि *तीर्थपादीय* वैष्णवों के लिए ही प्रयुक्त है। *भागवत* (१.१३.१०) में एक अन्य प्रसंग भी मिलता है—*तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि।* वैष्णव जिस किसी भी स्थान में जाता है, वह तीर्थ बन जाता है। वैष्णव संन्यासी अपने चरणकमलों के स्पर्श से प्रत्येक स्थान को तीर्थ बनाने के लिए विश्व-भर का भ्रमण करते रहते हैं। यहाँ इसका उल्लेख है कि जिस घर में वैष्णव का स्वागत पिछले श्लोक में वर्णित विधि से नहीं होता, उसे विषधरों का आवास समझना चाहिए। कहा जाता है कि चन्दन जैसे बहुमूल्य वृक्ष के चारों ओर विषैला सर्प रहता है। चन्दन वृक्ष अत्यन्त शीतल होता है और विषैला सर्प अपने विषैले दाँत के कारण अत्यन्त तप्त रहता है, अत: शीतल बनने के उद्देश्य से वह चन्दन वृक्ष की शरण ग्रहण करता है। इसी प्रकार ऐसे अनेक धनिक पुरुष हैं, जो अपने द्वार पर कुत्ते या चौकीदार रखते हैं और द्वार पर ऐसे पट्ट लगा देते हैं जैसे ''प्रवेश वर्जित है,'' ''राहगीरों का प्रवेश निषिद्ध है,'' ''कुत्तों से सावधान'' इत्यादि। पाश्चात्य देशों में तो कभी-कभी अनधिकार प्रवेश करने वाले को गोली मार दी जाती है और इसकी गणना अपराध में नहीं होती। यह आसुरी गृहस्थों की स्थिति है और ऐसे घरों को विषैले सर्पों का आगार समझा जाता है। ऐसे परिवार के सदस्य सर्पों से तनिक भी अच्छे नहीं हैं, क्योंकि सर्प अत्यन्त ईर्ष्यालु होते हैं और जब वे साधु पुरुषों के प्रति ईर्ष्या करते हैं, तो उनकी स्थिति और भी भयानक हो जाती है। चाणक्य पण्डित ने कहा है कि, ईर्ष्यालु जीव दो प्रकार के होते हैं, सर्प और ईर्ष्यालु मानव। ईर्ष्यालु व्यक्ति तो सर्प से भी अधिक घातक है, क्योंकि सर्प को मंत्रों से या जड़ी-बूटियों से मुग्ध किया जा सकता है, किन्तु ईर्ष्यालु पुरुष को किसी भी साधन से शान्त नहीं किया जा सकता।

स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठा यद्व्रतानि मुमुक्षव: ।
चरन्ति श्रद्धया धीरा बाला एव बृहन्ति च ॥ १२॥

शब्दार्थ

सु-आगतम्—स्वागत; व:—तुमको; द्विज-श्रेष्ठा:—ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ; यत्—जिसके; व्रतानि—व्रत, संकल्प; मुमुक्षव:—मुक्ति की इच्छा रखने वाले पुरुषों के; चरन्ति—आचरण करते हैं; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; धीरा:—संयमी; बाला:—बालक; एव—सदृश; बृहन्ति—देते हैं; च—भी।

महाराज पृथु ने चारों कुमारों को ब्राह्मणश्रेष्ठ सम्बोधित करके स्वागत किया और उन्हें कहा कि आपने जन्म से ही ब्रह्मचर्य व्रत का दृढ़ता से पालन किया है और यद्यपि आप मुक्ति के अनुभवी नहीं हैं, तो भी आप अपने को छोटे-छोटे बालकों के समान रखते हैं।

तात्पर्य : कुमारों की विशेषता यह है कि वे आजन्म ब्रह्मचारी थे। उन्होंने अपने को चार-पाँच वर्ष के बालकों की भाँति रखा, क्योंकि तरुण होने पर इन्द्रियाँ कभी-कभी विचलित हो उठती हैं और ब्रह्मचर्य धारण कर पाना कठिन हो जाता है। अत: कुमार जान बूझकर बालक बने रहे, क्योंकि बाल्यकाल में इन्द्रियाँ कभी भी वासना से विचलित नहीं होतीं। कुमारों के जीवन का यही महत्त्व था और इसलिए महाराज पृथु ने उन्हें *ब्राह्मणश्रेष्ठ* कह कर सम्बोधित किया है। ये कुमार न केवल ब्राह्मणश्रेष्ठ (भगवान् ब्रह्मा) की सन्तान थे, वरन् उन्हें यहाँ पर *द्विजश्रेष्ठ* (ब्राह्मणों में श्रेष्ठ) कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि वे वैष्णव भी थे। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, इनका अपना सम्प्रदाय है और वह निम्बार्क सम्प्रदाय के रूप में आज भी चल रहा है। वैष्णव आचार्यों के चार सम्प्रदायों में से निम्बार्क सम्प्रदाय भी एक है। महाराज पृथु ने कुमारों की स्थिति की विशेष रूप से प्रशंसा की, क्योंकि वे आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर रहे थे। किन्तु राजा ने कुमारों को *वैष्णव-श्रेष्ठ* कहकर सम्बोधित किया जिससे वैष्णववाद के प्रति उनकी अत्यधिक रुचि प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह वैष्णव के जन्म पर विचार किये बिना उसका सत्कार करे। *वैष्णवे जातिबुद्धि: ।* वैष्णव के जन्म पर विचार नहीं किया जाना चाहिए। वैष्णव सदैव ब्राह्मणों में श्रेष्ठ होता है, अत: प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह वैष्णव का आदर न केवल ब्राह्मण के रूप में अपितु सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण के रूप में करे।

कच्चिन्न: कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम् ।
व्यसनावाप एतस्मिन्पतितानां स्वकर्मभि: ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; न:—हमारी; कुशलम्—कुशलता; नाथा:—हे स्वामियो; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रियतृप्ति ही जीवन लक्ष्य है; अर्थ-वेदिनाम्—जो व्यक्ति केवल इन्द्रियतृप्ति को ही जान पाते हैं; व्यसन—दुर्गुण, बीमारी; आवापे—प्राप्त किया; एतस्मिन्—इस संसार में; पतितानाम्—पतित जनों का; स्व-कर्मभि:—अपनी-अपनी सामर्थ्य से।

पृथु महाराज ने मुनियों से ऐसे व्यक्तियों के विषय में पूछा जो अपने पूर्व कर्मों के कारण इस विपत्तिमय संसार में फँसे हुए हैं। क्या ऐसे व्यक्तियों को, जिनका एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति है, सौभाग्य प्राप्त हो सकता है?

तात्पर्य : महाराज पृथु ने कुमारों से उनका कुशल नहीं पूछा, क्योंकि वे अपने ब्रह्मचारी जीवन के कारण सदैव कल्याणकारी हैं। चूँकि वे सदैव मुक्तिपथ के गामी हैं, अत: उनके अकुशल होने का कोई

प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे शब्दों में, जो ब्राह्मण तथा वैष्णवजन आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर दृढ़ता से चलते हैं, वे सदैव भाग्यशाली होते हैं। पृथु महाराज ने तो अपने निमित्त यह प्रश्न पूछा था, क्योंकि वे गृहस्थ की स्थिति में थे और राज्याधिकारी थे। राजा लोग केवल गृहस्थ रहकर विषय-सुख में तल्लीन नहीं रहते, अपितु उन्हें कभी कभी पशुओं का शिकार भी करना पड़ता है, क्योंकि उन्हें वध करने की कला का अभ्यास करना होता है, अन्यथा अपने शत्रुओं से युद्ध करना मुश्किल हो जाए। ये बातें शुभ नहीं हैं। क्षत्रियों को चार प्रकार के पापकर्मों की छूट है—अवैध संभोग के लिए स्त्री से संगति, मांसाहार, मादकद्रव्य सेवन तथा द्यूतक्रीड़ा। राजनैतिक कारणों से उन्हें कभी-कभी ये पापकर्म करने होते हैं। क्षत्रिय कभी द्यूतक्रीड़ा से कतराते नहीं। इसका ज्वलन्त प्रमाण पाण्डवों का है। जब दुर्योधन ने पाण्डवों को द्यूतक्रीड़ा के लिए अपना राज्य दाव पर लगाने के लिए ललकारा तो वे उससे इनकार नहीं कर सके और उसी द्यूतक्रीड़ा से उन्होंने अपना सारा राजपाट खो दिया और उनकी पत्नी का भी अपमान हुआ। इसी प्रकार यदि विरोधी पक्ष ललकारे तो क्षत्रिय युद्ध करने से मुख नहीं मोड़ सकते। अत: इन सब तथ्यों पर विचार करते हुए महाराज पृथु ने पूछा कि क्या कोई शुभ मार्ग है? गृहस्थ जीवन तो अशुभ है, क्योंकि गृहस्थ का अर्थ ही है इन्द्रियतृप्ति का विचार और ज्योंही इन्द्रियतृप्ति हो जाती है, वैसे ही मनुष्य की स्थिति संकट में पड़ जाती है। यह भौतिक जगत पग-पग पर विपदाग्रस्त है—*पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्* (*भागवत* १०.१४.५८) इस भौतिक संसार में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए संघर्ष कर रहा है इन सभी बातों को स्पष्ट करते हुए पृथु महाराज ने चारों कुमारों से इन पतित बद्धजीवों के बारे में पूछा जो अपने पिछले अशुभ कर्मों के कारण इस भौतिक संसार में दुख भोग रहे हैं। उनके शुभ आध्यात्मिक जीवन की कोई सम्भावना है? इस श्लोक में *इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे उन पुरुषों का संकेत मिलता है जिनका एकमात्र उद्देश्य इन्द्रियों की तुष्टि है। इन्हें *पतितानाम्* अर्थात् पतित भी कहा गया है। केवल वही पुरुष उठा हुआ (सिद्ध) समझा जाता है, जो इन्द्रियतृप्ति के समस्त कार्यों को रोक देता है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *स्व-कर्मभि:* है। मनुष्य अपने पिछले जन्म के बुरे कर्मों के कारण ही पतित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कर्मों के कारण अपनी पतित अवस्था के लिए उत्तरदायी होता है। जब इन कर्मों के स्थान पर भक्ति की जाती है, तो शुभ जीवन का शुभारम्भ होता है।

भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते ।
कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तय: ॥ १४॥

शब्दार्थ

भवत्सु—आप से; कुशल—सौभाग्य; प्रश्न:—सवाल; आत्म-आरामेषु—सदैव आत्मिक आनन्द में मग्न; न इष्यते—कोई आवश्यकता नहीं होती; कुशल—सौभाग्य; अकुशला:—अकुशलता; यत्र—जहाँ; न—कभी नहीं; सन्ति—रहते हैं; मति-वृत्तय:—कोरी कल्पना।

पृथु महाराज ने आगे कहा : हे महाशयो, आपसे आपकी कुशल तथा अकुशल पूछने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आप नित्य आध्यात्मिक आनन्द में लीन रहते हैं। आप में कुशल तथा अकुशल की मानसिक वृत्तियाँ पाई ही नहीं जाती हैं।

तात्पर्य : *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य ४.१७६) में कहा गया है—

'द्वैते' भद्राभद्र-ज्ञान, सब—'मनोधर्म'।

एइ भाल, एइ मन्द',—एइ सब 'भ्रम'॥

इस संसार में शुभ तथा अशुभ केवल मन के भ्रम हैं, क्योंकि ऐसी वस्तुएँ भौतिक जगत के सम्पर्क के कारण ही विद्यमान हैं। यह *आत्म-माया* कहलाती है। हम प्रकृति द्वारा अपने को उसी प्रकार उत्पन्न मानते हैं जिस प्रकार कि स्वप्न में हम अनेक वस्तुओं का अनुभव करते प्रतीत होते हैं। फिर भी आत्मा सदैव दिव्य होता है। भौतिक स्वरूप से उसके प्रच्छन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह आवरण स्वप्न या सम्मोह-सा होता है। *भगवद्गीता* (२.६२) में भी कहा गया है—*सङ्गात् सञ्जायते काम:।* मात्र संगति से अनेक कृत्रिम आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं। *ध्यायतो विषयान् पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते।* जब हम अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति को भुलाकर भौतिक वस्तुओं का भोग करना चाहते हैं, तो हमारी भौतिक इच्छाएँ प्रकट होती हैं और हम अनेक प्रकार के भोग-विलास के सम्पर्क में आते हैं। ज्योंही भौतिक सुख की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं त्योंही हमारी संगति के कारण उनको भोगने के लिए एक प्रकार की उत्सुकता होती है और जब इस छद्म भोग से हम सुखी नहीं होते तो हममें दूसरा भ्रम उत्पन्न होता है, जिसे क्रोध कहा जाता है और क्रोध के प्रकट होने से भ्रम और भी प्रबल हो जाता है। इस प्रकार मोहग्रस्त होने पर हम श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूलने लगते हैं; फलस्वरूप हमारी वास्तविक बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इस प्रकार हम इस भौतिक जगत में उलझ जाते हैं। *भगवद्गीता* (२.६३) में कहा गया है—

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

भौतिक संगति से हम अपनी आत्म-चेतना खो बैठते है; फलतः शुभ तथा अशुभ का प्रश्न उठता है। किन्तु जो *आत्माराम* अर्थात् स्वरूपसिद्ध हैं, वे ऐसे प्रश्नों से परे हैं। *आत्माराम* क्रमशः आत्मिक आनन्द में और अधिक उन्नति करते हुए भगवान् की संगति को प्राप्त होते हैं। यही जीवन की सिद्धि है। प्रारम्भ में कुमार स्वरूपसिद्ध निर्विशेषवादी थे, किन्तु उत्तरोत्तर वे परमेश्वर की लीलाओं के प्रति आकृष्ट होते गये। निष्कर्ष यह निकला कि जो भगवान् की भक्ति में सदैव रत रहते हैं उनके लिए शुभ तथा अशुभ की द्वैतता का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः पृथु महाराज कुमारों के लिए नहीं, अपितु अपने लिए कुशल-याचना कर रहे हैं।

तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम् ।
सम्पृच्छे भव एतस्मिन्क्षेमः केनाञ्जसा भवेत् ॥ १५॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; अहम्—मैं; कृत-विश्रम्भः—पूरी तरह आश्वस्त होकर; सु-हृदः—मित्र; वः—हमारा; तपस्विनाम्—भौतिक कष्ट सहने वाले; सम्पृच्छे—पूछना चाहता हूँ; भवे—इस संसार में; एतस्मिन्—यह; क्षेमः—अन्तिम वास्तविकता, कल्याण; केन—किस विधि से; अञ्जसा—अविलम्ब; भवेत्—प्राप्त किया जा सकता है।

मैं पूर्ण रूप से आश्वस्त हूँ कि आप जैसे महापुरुष इस संसार की अग्नि में सन्तप्त होने वाले व्यक्तियों के एकमात्र मित्र हैं। अतः मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि इस संसार में हम किस प्रकार जल्दी से जल्दी जीवन का परम उद्देश्य प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : जब साधु द्वार-द्वार जाकर उन व्यक्तियों से भेंट करते हैं, जो सांसारिकता में बहुत अधिक लगे हुए हैं, तो यह समझना चाहिए कि वे किसी व्यक्तिगत लाभ से ऐसा नहीं करते। यह तथ्य है कि साधु पुरुष भौतिकतावादी व्यक्तियों के पास वास्तविक कुशलक्षेम के विषय में बताने के लिए जाते हैं। महाराज पृथु को इस बात का पूरा-पूरा विश्वास था, अतः उन्होंने कुमारों से उनका कुशल पूछ कर समय का अपव्यय करने के बजाये उनसे यह जानना उचित समझा कि क्या इस संसार की विषम परिस्थिति से किसी प्रकार उबरा जा सकता है? फिर भी यह महाराज पृथु का कोई निजी प्रश्न न था। यह प्रश्न तो सामान्य जनों को शिक्षा प्रदान करने के लिए उठाया गया था कि जब भी उनकी भेंट किसी साधु पुरुष से हो तो वे तुरन्त उसकी शरण में जाँय और सांसारिक तापों से उबरने का उपाय पूछें, अतः

श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*संसार विषानले दिवानिशि हिया ज्वले, जुडायते ना कैनु उपाय*—"हम नित्य भौतिक कष्टों से पीड़ित रहते हैं, हमारे हृदय जलते रहते हैं, किन्तु हम इनसे उबरने का कोई उपाय नहीं ढूँढ पाते।" भौतिकतावादी व्यक्ति को तपस्वी भी कहा जा सकता है—अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो नित्य भौतिक तापों को सहता रहता है। उसे इन भौतिक तापों से तभी छुटकारा मिल सकता है जब वह हरे-कृष्ण-मंत्र-संकीर्तन की शरण ले। इसकी व्याख्या नरोत्तमदास ठाकुर ने भी की है—*गोलोकेर प्रेम-धन, हरिनाम-संकीर्तन, रति ना जन्मिल केने ताय।* उन्हें इसका पश्चात्ताप था कि वे हरे-कृष्ण-मंत्र की दिव्य ध्वनि के प्रति जो आकर्षण है उसका अनुसरण नहीं कर पाये। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस संसार के सभी व्यक्ति भौतिक तापों से पीड़ित हैं और यदि कोई इनसे छुटकारा पाना चाहता है, तो उसे साधु पुरुषों, या ईश्वर के भक्तों की संगति करनी चाहिए और हरे-कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे-महामंत्र का जप करना चाहिए। भौतिकतावादी व्यक्तियों के लिए एकमात्र यही शुभ मार्ग है।

व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः ।
स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—स्पष्ट; **आत्म-वताम्**—अध्यात्मवादियों का; **आत्मा**—जीवन लक्ष्य; **भगवान्**—भगवान्; **आत्म-भावनः**—जीवों को ऊपर उठाने की कामना करने वाले; **स्वानाम्**—जिनके अपने भक्तगण; **अनुग्रहाय**—केवल कृपा दिखाने के लिए; **इमाम्**—इस प्रकार; **सिद्ध-रूपी**—पूर्णतया स्वरूपसिद्ध; **चरति**—भ्रमण करते हैं; **अजः**—नारायण।

भगवान् अपने अंश-रूप जीवों को ऊपर उठाने के लिए सतत इच्छुक रहते हैं और उन्हीं के विषेश लाभ हेतु सारे संसार में आप-जैसे स्वरूपसिद्ध पुरुषों के रूप में भ्रमण करते रहते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं—यथा ज्ञानी अथवा निर्विशेषवादी, योगी तथा भगवद्भक्त। किन्तु चारों कुमार योगी तथा ज्ञानी पहले थे और भक्त बाद में। वे प्रारम्भ में निर्विशेषवादी थे, किन्तु बाद में भक्ति करने लगे, अतः वे अध्यात्मवादियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। भक्त तो भगवान् के प्रतिनिधि होते हैं और बद्धजीवों को मूल चेतना तक लाने के लिए वे सारे संसार में विचरते रहते हैं तथा बद्धजीवों को कृष्णचेतना के विषय में उपदेश देते हैं। श्रेष्ठ भक्त *आत्मवत्* कहलाते हैं अर्थात् जिन्हें परम-आत्मा का पूरी तरह से बोध हो चुका है। भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित हैं और वे उसे कृष्णचेतना (*कृष्णभावनामृत*) तक ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं। अतः

वे *आत्म-भावन* कहलाते हैं। भगवान् प्रत्येक जीव को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह उनके विषय में जान सके। वे प्रत्येक व्यक्ति के सखा रूप में उसके पास उठते-बैठते हैं और प्रत्येक जीवात्मा को उसके इच्छानुरूप सुविधाएँ प्रदान करते रहते हैं।

इस श्लोक में *आत्मवताम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भक्तों के तीन भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं—*कनिष्ठ अधिकारी, मध्यम अधिकारी* तथा *उत्तम अधिकारी* जो क्रमश: नवदीक्षित, उपदेशक तथा *महाभागवत* अर्थात् सिद्ध भक्त के लिए प्रयुक्त होते हैं। *महाभागवत* वह है, जो न केवल वेदों के पूर्ण ज्ञान से परिचित होता है, वरन् वैदिक साक्ष्य के आधार पर अन्यों को भी आश्वस्त कर सकता है। *महाभागवत* अन्य जीवात्माओं को भी बिना भेदभाव के भगवान् का अंश मानता है। *मध्यम अधिकारी* अर्थात् उपदेशक भी शास्त्रों में पारंगत होता है और अन्यों को भी आश्वस्त कर सकता है, किन्तु वह उपयुक्त तथा अनुपयुक्त में भेद करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह आसुरी जीवात्माओं की तनिक भी परवाह नहीं करता। कनिष्ठ अधिकारी अर्थात् नवदीक्षित शास्त्रों के विषय में अधिक नहीं जानता है, किन्तु भगवान् पर उसकी पूरी श्रद्धा होती है। ये चारों कुमार तो *महाभागवत* थे, क्योंकि परम सत्य का भली-भाँति विश्लेषण करने के बाद ही वे भक्त हुए थे। दूसरे शब्दों में, उन्हें वैदिक सूक्त का पूरा-पूरा ज्ञान था। *भगवद्गीता* में भगवान् ने इसकी पुष्टि की है कि भक्त तो अनेक हैं, किन्तु जो वैदिक सूक्त में पारंगत होता है, वह उन्हें सर्वाधिक प्रिय होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उच्चतम पद तक उठना चाहता है। कर्मी जिन्हें देहात्म बोध रहता है, वे अधिकाधिक इन्द्रियतृप्ति चाहते हैं। ज्ञानियों का सर्वोच्च लक्ष्य ब्रह्मतेज में मिल जाना है, किन्तु भक्त संसार भर में भगवान् की महिमा का उपदेश देना ही अपना चरम लक्ष्य समझता है। फलत: भक्त ही भगवान् के वास्तविक प्रतिनिधि होते हैं और इसलिए वे प्रत्यक्ष नारायण के रूप में सारे विश्व का भ्रमण करते हैं, क्योंकि उनके हृदयों में नारायण का वास होता है और वे नारायण की महिमा का उपदेश देते हैं। नारायण का प्रतिनिधि नारायण के ही समान होता है, किन्तु उसे मायावादियों की तरह यह नहीं सोच लेना चाहिए कि वह नारायण बन गया है। मायावादी साधारणत: संन्यासी को नारायण कह कर पुकारते हैं। उनका विचार है कि मात्र संन्यास ग्रहण करने से मनुष्य नारायण के तुल्य या साक्षात् नारायण बन जाता है। किन्तु एक वैष्णव का निष्कर्ष इससे भिन्न होता है जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—

साक्षाद्धरित्वेन समस्त-शास्त्रै

रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।

किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

वैष्णव विचारधारा के अनुसार भक्त नारायण के ही समान होता इसलिए नहीं है कि वह नारायण बनना चाहता है, अपितु वह नारायण का परम विश्वस्त दास बनना चाहता है। ऐसे महापुरुष सामान्य लोगों के लाभ के हेतु गुरुओं का कार्य करते हैं, अतः जो गुरु नारायण की महिमा का गुणगान करता है उसे नारायण मानकर सब प्रकार से आदर देना चाहिए।

मैत्रेय उवाच

पृथोस्तत्सूक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु ।
स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह ॥ १७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; **पृथोः**—राजा पृथु का; **तत्**—वह; **सूक्तम्**—वैदिक निष्कर्ष; **आकर्ण्य**—सुनकर; **सारम्**—अत्यन्त सारगर्भित; **सुष्ठु**—युक्तियुक्त, उपयुक्त; **मितम्**—परिमित, न्यूनतम; **मधु**—सुनने में मधुर; **स्मयमानः**—हँसते हुए; **इव**—सदृश; **प्रीत्या**—परम प्रसन्नतापूर्वक; **कुमारः**—ब्रह्मचारी ने; **प्रत्युवाच**—उत्तर दिया; **ह**—इस प्रकार।

महर्षि मैत्रेय ने कहा : इस प्रकार ब्रह्मचारियों में श्रेष्ठ सनत्कुमार पृथु महाराज की अत्यन्त सारगर्भित, युक्तियुक्त तथा श्रुतिमधुर वाणी सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर हँसे और कहने लगे।

तात्पर्य : कुमारों के समक्ष पृथु महाराज की वार्ता अनेक गुणों से युक्त होने के कारण अत्यन्त श्लाघनीय थी। वाणी को चुने हुए शब्दों से युक्त होना चाहिए जो सुनने में मधुर और स्थिति के अनुकूल हो। ऐसी वाणी ही सार्थक होती है। ये सारे सद्गुण पृथु महाराज की वाणी में विद्यमान थे, क्योंकि वे पूर्ण भक्त थे। कहा गया है कि *यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः*—"जो व्यक्ति भगवान् में अडिग श्रद्धा रखता है और उनकी सेवा में लगा रहता है, उसमें सारे गुण प्रकट हो आते हैं" (*भागवत* ५.१८.१२)। इस प्रकार कुमारगण अत्यन्त प्रसन्न हो उठे और सनत्कुमार ने इस प्रकार कहा।

सनत्कुमार उवाच

साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना ।

भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सनत्-कुमारः उवाच—सनत्कुमार ने कहा; साधु—साधु प्रकृति का; पृष्टम्—प्रश्न; महाराज—हे राजा; सर्व-भूत—सभी जीवात्माएँ; हित-आत्मना—सबों का हित चाहने वाले के द्वारा; भवता—आपके द्वारा; विदुषा—अत्यन्त विद्वान; च—तथा; अपि—यद्यपि; साधूनाम्—साधु पुरुषों की; मतिः—बुद्धि; ईदृशी—ऐसी।

सनत्कुमार ने कहा : हे राजा पृथु, आपने मुझसे बहुत ही अच्छा प्रश्न पूछा है। ऐसे प्रश्न, विशेष रूप से आप-जैसे पर-हितकारी द्वारा उठाये जाने के कारण समस्त जीवात्माओं के लिए अत्यन्त लाभप्रद हैं। यद्यपि आप सब कुछ जानते हैं, किन्तु आप ऐसे प्रश्नों को इसीलिए पूछ रहे हैं, क्योंकि यह साधु पुरुषों का आचरण है। ऐसी बुद्धि आपके सर्वथा अनुरूप है।

तात्पर्य : महाराज पृथु दिव्य विज्ञान में पारंगत थे; फिर भी उन्होंने अपने को कुमारों के समक्ष अज्ञानी के रूप में प्रस्तुत किया। इसका उद्देश्य यह है कि भले ही कोई व्यक्ति कितना सम्मान्य क्यों न हो, उसे अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के समक्ष ऐसे ही प्रश्न प्रस्तुत करने चाहिए। उदाहरणार्थ, अर्जुन को समस्त दिव्य विज्ञान प्राप्त था, किन्तु वे श्रीकृष्ण से इस प्रकार पूछ रहे थे मानो उन्हें कुछ ज्ञात ही नहीं था। इसी प्रकार पृथु महाराज सब कुछ जानते थे, किन्तु उन्होंने कुमारों के समक्ष अपने आपको इस प्रकार प्रस्तुत किया मानो वे कुछ भी नहीं जानते थे। तात्पर्य यह है कि महापुरुषों द्वारा भगवान् या उनके भक्तों के समक्ष जो प्रश्न प्रस्तुत किये जाते हैं, वे सामान्य लोगों के लाभ के लिए होते हैं। अत: कभी-कभी महापुरुष जान-बूझकर उच्चतर अधिकारी से प्रश्न करते हैं, क्योंकि वे सदैव दूसरों के कल्याण का चिन्तन करते रहते हैं।

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः ।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सङ्गमः—संगति; खलु—निश्चय ही; साधूनाम्—भक्तों की; उभयेषाम्—दोनों के लिए; च—भी; सम्मतः—अभिमत, निर्णायक; यत्—जो; सम्भाषण—विवेचना; सम्प्रश्नः—प्रश्न तथा उत्तर; सर्वेषाम्—सबों का; वितनोति—फैलाता है; शम्—वास्तविक सुख।

जब भक्तों का समागम होता है, तो उनकी विवेचनाएँ, प्रश्न तथा उत्तर वक्ता तथा श्रोता दोनों ही के लिए निर्णायक होते हैं। इस प्रकार ऐसा समागम प्रत्येक व्यक्ति के वास्तविक सुख के हेतु लाभप्रद है।

तात्पर्य : भक्तों के वार्तालाप को सुनना ही भगवान् के सशक्त संदेश को प्राप्त करने का एकमात्र

साधन है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* दीर्घकाल से सारे संसार में, विशेष रूप से पश्चिमी जगत में, विख्यात है, किन्तु भक्तों द्वारा विषय की विवेचना न होने से इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन की स्थापना के पूर्व पाश्चात्य जगत का एक भी व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं हुआ। किन्तु जब उसी *भगवद्गीता* को यथारूप में परम्परा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया तो इसका प्रभाव आत्म-साक्षात्कार के रूप में तुरन्त प्रकट हुआ।

चारों कुमारों में से सनत्कुमार ने पृथु महाराज को बताया कि कुमारों से उनकी भेंट से न केवल पृथु महाराज अकेले वरन् उनके साथ-साथ कुमारगण भी लाभान्वित हुए हैं। जब नारद मुनि ने ब्रह्माजी से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में पूछा तो ब्रह्माजी ने नारद जी को धन्यवाद दिया कि उन्होंने भगवान् के विषय में कुछ कहने का अवसर प्रदान किया। अत: किसी दूसरे साधु पुरुष द्वारा किसी अन्य साधु पुरुष से भगवान् के विषय में या जीवन के चरम उद्देश्य के विषय में पूछे गये प्रश्न प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक बना देते हैं। जो कोई भी ऐसी चर्चा का लाभ उठाता है, वह इस जन्म तथा अगले जन्म में सुख प्राप्त करता है।

उभयेषाम् शब्द को कई प्रकार से वर्णित किया जा सकता है। सामान्यत: लोग दो प्रकार के होते हैं—भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी। भक्तों की चर्चाओं से दोनों ही प्रकार के लोग लाभान्वित होते हैं। भौतिकतावादी को भक्तों की संगति से यह लाभ होता है कि उसका जीवन नियमित हो जाता है, जिससे भक्त बनने या जीवात्मा की वास्तविक स्थिति को समझाने के लिए वर्तमान जीवन को सफल बनाने की संभावना बढ़ जाती है। जब मनुष्य इस अवसर का लाभ उठाता है, तो अगले जन्म में उसका मानव देह धारण करना या पूर्णत: मुक्त होकर भगवान् के धाम को जाना सुनिश्चित हो जाता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यदि कोई भक्तों की चर्चा में सम्मिलित होता है, तो उसे भौतिक तथा आध्यात्मिक रूप से लाभ प्राप्त होता है। वक्ता तथा श्रोता एवं कर्मी तथा ज्ञानी समान रूप से लाभान्वित होते हैं। भक्तों के बीच आध्यात्मिक विषयों से सम्बन्धित चर्चाएँ सबों के लिए लाभप्रद होती हैं। फलत: कुमारों ने यह स्वीकार किया कि इस समागम से न केवल राजा लाभान्वित हो रहा था वरन् कुमार भी लाभ उठा रहे थे।

अस्त्येव राजन्भवतो मधुद्विषः
पादारविन्दस्य गुणानुवादने ।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी
कामं कषायं मलमन्तरात्मनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अस्ति—है; एव—निश्चय ही; राजन्—हे राजा; भवतः—आपका; मधु-द्विषः—भगवान् का; पाद-अरविन्दस्य—चरणकमलों का; गुण-अनुवादने—महिमा-गायन में; रतिः—आसक्ति; दुरापा—अत्यन्त कठिन; विधुनोति—धो देती है; नैष्ठिकी—अत्यन्त निष्ठावान; कामम्—वासनामय; कषायम्—अतिरंजित काम-वासनाएँ; मलम्—गंदा; अन्तः-आत्मनः—अन्तस्तल से।

सनत्कुमार ने आगे कहा : हे राजन्, भगवान् के चरणकमलों के गुणानुवाद के प्रति आपका पहले से ही झुकाव है। ऐसी आसक्ति दुर्लभ होती है, किन्तु एक बार भगवान् में अविचल श्रद्धा हो जाने पर यह अन्तस्तल की समस्त कामवासनाओं को स्वतः ही धो डालती है।

तात्पर्य : भागवत (३.२५.२५) का कथन है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

भगवान् के अनुग्रह से भक्तों की संगति द्वारा भौतिकतावादी पुरुष के हृदय का सारा मैल धुल जाता है। जिस प्रकार पालिश करने के बाद चाँदी चमक उठती है, उसी तरह भक्तों की संगति से भौतिकतावादी पुरुष का हृदय कामवासनाओं से रहित हो जाता है। वास्तव में जीव का भौतिक सुख या कामवासनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह तो निद्रा में मानो स्वप्न देखता है। किन्तु शुद्ध भक्तों की संगति से उसकी नींद टूटती है और आत्मा तुरन्त अपनी स्वाभाविक स्थिति को भगवान् के शाश्वत दास के रूप में समझकर अपने यश को प्राप्त करता है। पृथु महाराज पहले से स्वरूपसिद्ध जीव थे, फलतः उनमें भगवान् के गुणानुवाद की सहज प्रवृत्ति थी और कुमारों ने विश्वास दिलाया कि वे भगवान् की माया के शिकार कभी नहीं बन सकते। दूसरे शब्दों में, भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन ही हृदय को भौतिक कल्मष से स्वच्छ रखने का एकमात्र उपाय है। कर्म, ज्ञान तथा योग विधि से कोई भी अपने हृदय के कल्मष को दूर नहीं कर सकता, किन्तु यदि मनुष्य एक बार भक्ति करके भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेता है, तो बिना किसी कठिनाई के उसके हृदय का सारा मल दूर हो जाता है।

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां
क्षेमस्य स्यग्विमृशेषु हेतुः ।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

शास्त्रेषु—शास्त्रों में; इयान् एव—केवल यह; सु-निश्चितः—ठीक से निर्धारित; नृणाम्—मानव समाज के; क्षेमस्य—कल्याण का; स्यक्—पूर्णतया; विमृशेषु—पूर्ण विचार-विमर्श से; हेतुः—कारण; असङ्गः—विरक्ति; आत्म-व्यतिरिक्ते—देहात्मबुद्धि; आत्मनि—परमात्मा के प्रति; दृढा—सशक्त; रतिः—आसक्ति; ब्रह्मणि—अध्यात्म; निर्गुणे—गुणों से परे परमेश्वर में; च—तथा; या—जो।

भलीभाँति विचार करने के बाद शास्त्रों में यह निश्चित किया गया है कि मानव समाज के कल्याण का चरम लक्ष्य देहात्मबुद्धि से विरक्ति एवं प्रकृति के गुणों से परे दिव्य परमेश्वर के प्रति सुदृढ़ आसक्ति है।

तात्पर्य : मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति जीवन का चरम लाभ उठाने में लगा हुआ है, किन्तु जो लोग देहात्मबुद्धि वाले हैं, वे न तो चरम लक्ष्य प्राप्त कर पाते हैं और न यह समझ पाते हैं कि लक्ष्य क्या है। जीवन के चरम लक्ष्य का वर्णन *भगवद्गीता* (२.५९) में मिलता है। *परं दृष्ट्वा निवर्तते।* जब मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य खोज लेता है, तो उसे देहात्मबुद्धि से विरक्ति हो जाती है। इस श्लोक में इंगित हुआ है कि मनुष्य को अध्यात्म—(*ब्रह्मणि*) आसक्ति में वृद्धि करनी चाहिए। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (१.१.१) में पुष्टि हुई है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*—ब्रह्म या अध्यात्म के प्रति जिज्ञासा के बिना मनुष्य सांसारिक आसक्ति को नहीं त्याग पाता। जीव चौरासी लाख योनियों में घूमते हुए मनुष्य जीवन के लक्ष्य को नहीं समझ पाता, क्योंकि इन सभी योनियों में देहात्मबुद्धि प्रबल रहती है। *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा* का अर्थ है कि देहात्मबुद्धि से बाहर निकलने के लिए मनुष्य को ब्रह्म के विषय में या तो जिज्ञासा करनी होती है या आसक्ति बढ़ानी होती है। तभी वह दिव्य भक्ति को प्राप्त कर सकता है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः।* ब्रह्म के प्रति आसक्ति में वृद्धि का अर्थ है भक्ति में लगना। जो लोग ब्रह्म के निर्गुण रूप के प्रति आसक्त हैं, वे दीर्घकाल तक इसी तरह नहीं रह पाते। निर्विशेषवादी इस जगत को मिथ्या कहकर (*जगन्मिथ्या*) त्यागने के बाद पुनः इसी *जगन्मिथ्या* में आते हैं, भले ही वे ब्रह्म के प्रति आसक्ति को सुदृढ़ करने के लिए संन्यास लेते हों। इसी प्रकार से कई योगी तथा विश्वामित्र जैसे ऋषि, जो परमात्मा स्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के प्रति आसक्त रहते हैं, स्त्रियों के शिकार होकर पतित होते हैं। अतः सभी शास्त्रों में भगवान् के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति का उपदेश मिलता है। संसार से विरक्ति का यही

एकमात्र साधन है और *भगवद्गीता* (२.५९) में *परं दृष्ट्वा निवर्तते* के रूप में इसकी व्याख्या की गई है। भक्ति के प्रति अनुराग बढ़ने से सारे भौतिक कार्यकलाप बन्द हो सकते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी ईश्वरप्रेम को जीवन का चरम उद्देश्य बताया है (*प्रेमा पुमर्थो महान्*)। ईश्वरप्रेम बढ़ाये बिना आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।

सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया
जिज्ञासयाध्यात्मिकयोगनिष्ठया ।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं
पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च ॥ २२॥

शब्दार्थ

सा—वह भक्ति; श्रद्धया—श्रद्धा तथा संकल्प से; भगवत्-धर्म—भक्ति; चर्यया—विवेचना से; जिज्ञासया—जिज्ञासा से; अध्यात्मिक—अध्यात्म सम्बन्धी; योग-निष्ठया—आत्मज्ञान में दृढ़ निश्चय से; योग-ईश्वर—भगवान् की; उपासनया—पूजा से; च—तथा; नित्यम्—नियमित रूप से; पुण्य-श्रवः—जिसके सुनने से; कथया—विवेचना से; पुण्यया—पुण्य से; च—भी।

भक्ति करने, भगवान् के प्रति जिज्ञासा करने, जीवन में भक्तियोग का व्यवहार करने, पूर्ण पुरुषोत्तम योगेश्वर भगवान् की पूजा करने तथा भगवान् की महिमा का श्रवण एवं कीर्तन करने से परमेश्वर के प्रति आसक्ति बढ़ाई जा सकती है। ये सारे कार्य अपने आप में परम पवित्र हैं।

तात्पर्य : *योगेश्वर* शब्द भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों के लिए प्रयुक्त होता है। *भगवद्गीता* में यह शब्द दो बार आया है। अठारहवें अध्याय (१८.७८) में श्रीकृष्ण को भगवान् हरि कहा गया है, जो समस्त योग-शक्ति के स्वामी हैं (*यत्र योगेश्वरः कृष्णः*)। छठे अध्याय के अन्त में भी (६.४७) *योगेश्वर* शब्द की व्याख्या *स मे युक्ततमो मतः* करके की गई है। *युक्ततम* से सर्वोच्च योगी अर्थात् भक्त-गण का बोध होता है, जिसे योगेश्वर भी कहा जा सकता है। इस श्लोक में *योगेश्वर उपासना* का अर्थ है शुद्ध भक्त की सेवा करना। अतः नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—*छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायछे केबा*—शुद्ध भक्त की सेवा किये बिना आध्यात्मिक जीवन में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। प्रह्लाद महाराज ने भी (*भागवत* ७.५.३२) कहा है—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत् यावत् ॥

मनुष्य को चाहिए कि ऐसे शुद्ध भक्त की शरण में जाए, जो सदैव भक्ति में लगा रहता है और उसे

संसार से कुछ लेना-देना नहीं रहता। केवल उसी की सेवा से मनुष्य भवसागर को पार कर सकता है। इस श्लोक में संस्तुति की गई है (*योगेश्वर उपासनया*) कि मनुष्य को चाहिए कि सर्वोच्च योगी या भक्त के चरणकमलों की सेवा करे। सर्वोच्च भक्त की सेवा का अर्थ होता है उससे भगवान् की महिमा का श्रवण करना। शुद्ध भक्त के मुख से भगवान् की महिमा के श्रवण से पवित्र जीवन का लाभ मिलता है। *भगवद्गीता* (७.२८) में भी कहा गया है कि पवित्र हुए बिना मनुष्य भक्ति में नहीं जुट सकता।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ति मां दृढव्रताः॥

भक्ति में स्थित होने के लिए प्रकृति के समस्त भौतिक गुणों के कल्मष को पूरी तरह धो डालना होता है। भक्ति के कार्य में पहली बात है—*आदौ गुर्वाश्रयम्*—मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु बनाए और उससे दिव्य वृत्तिपरक धर्म (*सद्धर्म पृच्छा*) के विषय में पूछताछ करे और फिर साधु पुरुषों तथा भक्तों के पदचिह्नों का अनुगमन करे (*साधु-मार्ग-अनुगमनम्*)। रूप गोस्वामी-कृत *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में ये आदेश दिये गये हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् के प्रति अनुरक्ति बढ़ाने के लिए पहले प्रामाणिक गुरु बनाना होता है और उससे भक्ति की विधियाँ सीखनी होती हैं तथा भगवान् के दिव्य सन्देश एवं महिमा के विषय में सुनना होता है। इस प्रकार मनुष्य को भक्ति के विषय में अपना निश्चय बढ़ाना होता है। तभी भगवान् के प्रति अनुरक्ति बढ़ाने में बहुत आसानी होगी।

अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया
तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च ।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मनि
विना हरेर्गुणपीयूषपानात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अर्थ—धन; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आराम—तृप्ति; स-गोष्ठी—अपने संगी सहित; अतृष्णया—वितृष्णा से; तत्—उस; सम्मतानाम्—उनके द्वारा अनुमोदित; अपरिग्रहेण—अस्वीकृति द्वारा; च—भी; विविक्त-रुच्या—अरुचि; परितोषे—प्रसन्नता; आत्मनि—स्व; विना—रहित; हरेः—भगवान् के; गुण—गुण; पीयूष—अमृत; पानात्—पीने से।

ऐसे लोगों की संगति न करके, जो केवल इन्द्रियतृप्ति एवं धनोपार्जन के फेर में रहते हैं, मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करनी चाहिए। उसे न केवल ऐसे लोगों से दूर रहना

चाहिए, वरन् जो उनका संग करते हैं उनसे भी बचना चाहिए। मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार ढालना चाहिए कि जिसमें उसे भगवान् हरि की महिमा का अमृत पान किये बिना चैन न मिले। इस प्रकार इन्द्रियभोग से विरक्ति उत्पन्न होने पर मनुष्य उन्नति कर सकता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में हर एक व्यक्ति धन तथा इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखता है। उसका एकमात्र उद्देश्य अधिक से अधिक धन अर्जित करके उसे इन्द्रियों की तुष्टि में व्यय करना होता है। श्रील शुकदेव गोस्वामी ने *भागवत* (२.१.३) में भौतिकतावादी पुरुषों के लक्षण इस प्रकार बताए हैं—

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वय: ।

दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा ॥

भौतिकतावादी पुरुषों का यह अनूठा उदाहरण है। रात्रि में वे छह घंटों से अधिक सो कर या काम-क्रीड़ा में व्यस्त रहकर समय गँवाते हैं। यह तो उनका रात का व्यापार है। प्रात:काल वे कार्यालय या दुकान में धन कमाने जाते हैं। ज्योंही उनके हाथ में कुछ धन आ जाता है वे अपने बच्चों तथा अन्यों के लिए वस्तुएँ खरीदने में लग जाते हैं। ऐसे लोग जीवन के महत्त्व को कि ईश्वर क्या है, जीवात्मा क्या है और ईश्वर से उसका क्या सम्बन्ध है आदि बातें समझने की कभी परवाह नहीं करते। हालत यहाँ तक बिगड़ चुकी है कि जो लोग धार्मिक कहलाते हैं, वे भी इस समय केवल इन्द्रियतृप्ति में लगे हुए हैं। इस कलियुग में अन्य युगों की अपेक्षा भौतिकतावादी पुरुषों की संख्या बढ़कर किसी भी अन्य युग से अधिक हो चुकी है, अत: जो लोग भगवान् के धाम को वापस जाना चाहते हैं उन्हें न केवल सिद्ध पुरुषों की सेवा करनी चाहिए, अपितु उन्हें ऐसे भौतिकतावादी पुरुषों का साथ छोड़ देना चाहिए जिनका एकमात्र उद्देश्य धन कमाना और धन को इन्द्रियतृप्ति में व्यय करना है। उन्हें इन लोगों के उद्देश्य को अर्थात् धन तथा इन्द्रियतृप्ति को अपना जीवन लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए। इसीलिए कहा गया है—*भक्ति: परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च* (भागवत ११.२.४२)। भक्ति में आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य भौतिकतावादी जीवन-प्रणाली में रुचि न रखे। जिन विषयों में भक्तों की रुचि होती है उनमें अभक्त कोई रुचि नहीं रखते।

मात्र भौतिकतावादी पुरुषों का निषेध या संगति का बहिष्कार करने से ही काम नहीं चलेगा। हमारे पास काम होना चाहिए। कभी-कभी यह देखा गया है आध्यात्मिक उन्नति की इच्छा वाले लोग भौतिक

समाज का परित्याग कर निर्जन स्थान में चले जाते हैं, जैसाकि योगियों के लिए बताया गया है, किन्तु इससे मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती, क्योंकि अनेक बार ऐसे योगी भी भ्रष्ट होते देखे जाते हैं। जहाँ तक ज्ञानियों का प्रश्न है वे भगवान् के चरणकमलों की शरण न ग्रहण करने के कारण नीचे गिरते हैं। निर्विशेषवादी या शून्यवादी भौतिक संगति से दूर ही रह सकते हैं, बिना भक्ति में निरत हुए वे अध्यात्म में स्थित नहीं रह सकते। भक्ति का प्रारम्भ भगवान् की महिमा के श्रवण से होता है। इस श्लोक में इसी की संस्तुति है—*विना हरेर्गुणपीयूषपानात्।* मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की महिमा का अमृत पिये और इसका अर्थ होता है कि सदैव भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन करे। आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की मुख्य विधि यही है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने *चैतन्य-चरितामृत* में इसी की संस्तुति की है। यदि कोई आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो भाग्यशाली होने पर गुरु से उसकी भेंट हो सकती है और उसी से वह श्रीकृष्ण के विषय में सीख सकता है। गुरु तथा श्रीकृष्ण दोनों की सेवा से उसे भक्ति का बीज (*भक्ति-लता-बीज*) प्राप्त होता है और यदि वह इस बीज को अपने हृदय में बोकर श्रवण तथा कीर्तन के जल से सींचता है, तो यह विशाल भक्ति लता का रूप धारण कर लेती है। यह लता इतनी प्रबल होती है कि ब्रह्माण्ड के आवरण को भेद कर आत्म-लोक में पहुँच जाती है और तब तक बढ़ती रहती है जब तक श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का आश्रय नहीं पा लेती, जिस प्रकार कि सामान्य लता छत पर दृढ़ आश्रय लेने तक धीरे-धीरे बढ़ती रहती है और फिर उसमें वांछित फल लगने लगते हैं। ऐसे फल के बढ़ने का मूल कारण होता है भक्ति-लता को श्रवण तथा कीर्तन रूपी जल से सींचते जाना। इस फल को यहाँ पर भगवान् की महिमा के श्रवण करने का अमृत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य भक्तों के समाज से बाहर नहीं रह सकता; उसे भक्तों की संगति में रहना चाहिए जहाँ भगवान् की महिमा का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन होता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इसी उद्देश्य से प्रारम्भ किया गया है, जिससे सैकड़ों इस्कान केन्द्रों में लोगों को श्रवण तथा कीर्तन का सुअवसर प्राप्त हो सके, वे गुरु को पा सकें और भौतिक पुरुषों की संगति से विलग हो सकें। इस प्रकार से लोग भगवान् के धाम वापस जाने की सुदृढ़ आधार-भूमि तैयार कर सकते हैं।

अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
स्मृत्या मुकुन्दाचरिताछ्यसीधुना ।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया
निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च ॥ २४॥

शब्दार्थ

अहिंसया—अहिंसा द्वारा; पारमहंस्य-चर्यया—महान् आचार्यों के चरणचिह्नों का अनुसरण करने से; स्मृत्या—स्मरण करने से; मुकुन्द—भगवान्; आचरित-अछ्य—उनकी लीलाओं का केवल प्रचार करने से; सीधुना—अमृत से; यमैः—नियामक सिद्धान्तों के पालन से; अकामैः—भौतिक आकांक्षाओं से विहीन; नियमैः—विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करने से; च—भी; अपि—निश्चय ही; अनिन्दया—निन्दा किये बिना; निरीहया—सादा जीवन व्यतीत करते हुए; द्वन्द्व—द्वैतभाव; तितिक्षया—सहिष्णुता से; च—तथा।

आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को चाहिए कि वह अहिंसक हो, महान् आचार्यों के पदचिह्नों का अनुगमन करे, भगवान् की लीलाओं के अमृत का सदैव स्मरण करे, बिना किसी भौतिक कामना के यम-नियमों का पालन करे और ऐसा करते हुए दूसरों की निन्दा न करे। भक्त को अत्यन्त सादा जीवन बिताना चाहिए और विरोधी तत्त्वों की द्वैतता से विचलित नहीं होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह उन्हें सहन करना सीखे।

तात्पर्य : भक्त वास्तव में साधु पुरुष होते हैं। साधु अथवा भक्त का पहला गुण अहिंसा है। जो लोग भक्ति पथ में चलने या भगवान् के धाम वापस जाने के इच्छुक हैं उन्हें पहले अहिंसा का अभ्यास करना चाहिए। साधु को *तितिक्षवः कारुणिकाः* (भागवत ३.२५.२१) कहा गया है। भक्त को सहिष्णु एवं अन्यों के प्रति अत्यन्त दयालु होना चाहिए; उदाहरणार्थ यदि उसे कोई चोट लगे तो उसे सह लेना चाहिए, किन्तु यदि किसी अन्य को चोट लगे तो भक्त को यह सह्य नहीं होता है। सारा संसार हिंसा से पूर्ण है, अतः भक्त का पहला कार्य है कि वह इस हिंसा को रोके जिसमें पशुओं का वध सम्मिलित है। भक्त न केवल मानव समाज का, अपितु समस्त जीवों का मित्र होता है, क्योंकि वह समस्त जीवात्माओं को भगवान् की सन्तानों के रूप में देखता है। वह केवल अपने को ईश्वर का पुत्र बताकर तथा अन्यों को यह समझ कर कि उनमें आत्मा नहीं है, मारे जाने नहीं देता। भगवान् का *भक्त* कभी भी ऐसी विचारधारा का पोषक नहीं होता। *सुहृदः सर्वदेहिनाम्*—असली भक्त समस्त जीवात्माओं का मित्र होता है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण ने अपने को जीवों की समस्त योनियों का पिता कहा है। फलतः श्रीकृष्ण का भक्त सबों का मित्र होता है। यही अहिंसा कहलाती है। इस अहिंसा का अभ्यास तभी सम्भव है जब हम महान् आचार्यों के पदचिह्नों पर चलें। अतः वैष्णव-दर्शन के अनुसार हमें चारों

सम्प्रदायों के महान् आचार्यों का अनुसरण करना होता है।

सम्प्रदाय (शिष्य परम्परा) से बाहर आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने का प्रयत्न करना मात्र हास्यास्पद है। अत: कहा गया है—*आचार्यवान् पुरुषो वेद*—जो आचार्यों की शिष्य परम्परा का अनुसरण करता है, वह वस्तुओं को असली रूप में जान पाता है (*छान्दोग्य उपनिषद्* ६.१४.२) *तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवाभिगच्छेत*—दिव्य ज्ञान समझने के लिए मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु के पास जाये (मुण्डक उपनिषद् १.२.१२)। *आध्यात्मिक जीवन में स्मृत्या* शब्द का बहुत महत्त्व है। *स्मृत्या* का अर्थ है श्रीकृष्ण को सैदव याद करना। जीवन को इस प्रकार ढालना चाहिए कि श्रीकृष्ण का चिन्तन किये बिना रहा ही न जा सके। हमें खाते, सोते, बोलते, चलते तथा काम करते हुए श्रीकृष्ण में ही खोये रहना चाहिए। हमारे कृष्णभावनामृत-संघ की संस्तुति है कि हम अपने जीवन को ऐसा बनाएँ कि हम श्रीकृष्ण का स्मरण कर सकें। हमारी इस्कान समिति के भक्त दिव्य अगरबत्तियाँ बनाते समय श्रीकृष्ण या उनके भक्तों का गुणगान सुनते रहते हैं। शास्त्रों का कथन है—*स्मर्तव्य: सततं विष्णु:*—भगवान् विष्णु का निरन्तर स्मरण करना चाहिए। *विस्मर्तव्यो न जातुचित्।* विष्णु को कभी भूलना नहीं चाहिए। यही आध्यात्मिक जीवन-शैली है। *स्मृत्या।* भगवान् का स्मरण चालू रखा जा सकता है यदि हम उनका निरन्तर श्रवण करते रहें। अत: इस श्लोक में संस्तुति की गई है कि *मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना। सीधु* का अर्थ है अमृत। *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* या इसी प्रकार के प्रामाणिक साहित्य से श्रीकृष्ण के विषय में सुनना, कृष्णभावना में वास करना है। कृष्णभावना की एकाग्रता शक्ति उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है, जो यम-नियमों का दृढ़ता से पालन करते हैं। हमने अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यह नियम बना रखा है कि भक्त सोलह माला प्रतिदिन जप करे और नियामक सिद्धान्तों का पालन करे। इससे भक्त जीवन में आध्यात्मिक उन्नति में स्थिर रह सकता है।

इस श्लोक में यह भी कहा गया है कि इन्द्रियों को वश में करके (*यमै:*) मनुष्य उन्नति कर सकता है। इन्द्रियों को वश में करने से मनुष्य *स्वामी* या *गोस्वामी* बन सकता है। अत: जो *स्वामी* या *गोस्वामी* उपाधि लगाते हैं उन्हें इन्द्रियों को वश में रखने के लिए विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए। दरअसल, उन्हें अपनी इन्द्रियों का स्वामी होना ही चाहिए। यह तभी सम्भव है जब वे किसी प्रकार की भौतिक इन्दियतृप्ति की इच्छा न रखें। यदि किसी कारणवश इन्द्रियाँ स्वतंत्र रूप से कार्य करना चाहें तो

उन्हें वश में करना चाहिए। यदि हम भौतिक इन्दियतृप्ति से बचने का अभ्यास कर सकें तो इन्द्रियाँ स्वत: ही वश में हो जाती हैं।

इस सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख हुआ है—*अनिन्दया*—हमें दूसरे की धर्म प्रणाली की आलोचना नहीं करनी चाहिए। विभिन्न प्रकार की धर्म प्रणालियां विभिन्न गुणों के अन्तर्गत कार्यशील हैं। जो रजो तथा तमो गुणों के अन्तर्गत कार्यशील हैं, वे सत्त्व गुण पद्धति पर चलने वाले धर्म के समान परिपूर्ण नहीं हो सकते। *भगवद्गीता* में सभी वस्तुओं को तीन वर्गों में रखा गया है, अत: धर्मों की भी उसी तरह श्रेणियाँ की गई हैं। जब लोग रजो तथा तमो गुणों के अधीन होंगे तो उनकी धर्म पद्धति भी उसी तरह की होगी। भक्त इन पद्धतियों की आलोचना न करके अपने अनुयायियों को अपने सिद्धान्तों में दृढ़ रहने के लिए प्रोत्साहित करता है, जिससे वे क्रमश: सात्त्विक धर्म के पद को प्राप्त कर सकें। केवल आलोचना करते रहने से भक्त का मन विचलित हो जाता है। इस तरह भक्त को सहनशील होना चाहिए तथा क्षुब्ध न होना सीखना चाहिए।

भक्त की एक अन्य विशेषता है *निरीहया* अर्थात् सादा जीवन। *निरीहा* का अर्थ है 'सरल' अथवा 'विनीत'। भक्त को न तो तड़क-भड़क से रहना चाहिए, न भौतिकतावादी पुरुषों का अनुकरण करना चाहिए। भक्त के लिए 'सादा जीवन उच्च विचार' सन्स्तुत है। उसे उतना ही स्वीकार करना चाहिए जितने से शरीर स्वस्थ रह कर भक्ति कर सके। आवश्यकता से अधिक न तो खाए और न सोए। वह जिन्दा रहने के लिए भोजन करे, न कि भोजन करने के लिए जिन्दा रहे। वह प्रतिदिन छह सात घंटे सोए। ये ही भक्तों के लिए नियम हैं जिनका पालन होना चाहिए। जब तक शरीर है तब तक भौतिक जीवन के तीन प्रकार के ताप सताते रहेंगे। हम उनसे बच नहीं सकते। हमें कभी-कभी नवदीक्षित भक्तों के पत्र प्राप्त होते हैं कि श्रीकृष्ण-भक्ति करते रहने पर भी वे बीमार क्यों पड़ते हैं? उन्हें इस श्लोक से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि उन्हें सहिष्णु बनना होगा (*द्वन्द्व तितिक्षया*)। यह संसार द्वैतपूर्ण है। मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि वह बीमार हो गया है, अत: वह कृष्णभावनामृत से भ्रष्ट हो गया है। कृष्णभक्ति बिना किसी भौतिक विरोध के या बाधा के चलती रहती है। अत: श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (२.१४) में यह उपदेश दिया है—*तांस्तितिक्षस्व भारत*—"हे अर्जुन तुम सारी अड़चनों को सहो। तुम कृष्णभक्ति के कार्यों में स्थिर होओ।"

हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूर-
गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया ।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि
स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

हरेः—भगवान् के; मुहुः—निरन्तर; तत्-पर—भगवान् के सन्दर्भ में; कर्ण-पूर—कान का आभूषण; गुण-अभिधानेन—दिव्य गुणों की विवेचना से; विजृम्भमाणया—कृष्ण-चेतना (भक्ति) को बढ़ाने से; भक्त्या—भक्ति से; हि—निश्चय ही; असङ्गः—अदूषित; सत्-असति—भौतिक जगत; अनात्मनि—आत्मनि (आध्यात्मिक ज्ञान) का उल्टा; स्यात्—होना चाहिए; निर्गुणे—अध्यात्म में; ब्रह्मणि—परमेश्वर में; च—तथा; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; रतिः—आकर्षण।

भक्त को चाहिए कि भगवान् के दिव्य गुणों के निरन्तर श्रवण द्वारा भक्ति-अनुशीलन में उत्तरोत्तर वृद्धि करे। ये लीलाएँ भक्तों के कानों के आभूषण सदृश हैं। भक्ति करने तथा भौतिक गुणों को पार करने से मनुष्य सहज ही अध्यात्म में भगवान् में स्थिर हो सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक का विशेष उल्लेख श्रवण द्वारा भक्ति की पुष्टि हेतु किया गया है। भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं या इनसे सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुनना चाहता। हम सिद्धपुरुषों से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सुनकर अपनी भक्ति की प्रखरता को बढ़ा सकते हैं। हम सिद्ध पुरुषों से जितना ही अधिक सुनेंगे भक्ति में उतना ही अग्रसर होंगे और जितना ही हम भक्ति के क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे उतना ही भौतिक जगत से विरक्त होते जायेंगे। जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है कि हम जितना ही भौतिक जगत से विरक्त होंगे उतनी ही भगवान् के प्रति आसक्ति में वृद्धि होगी। अत: जो भक्त भक्ति में सतत प्रगति करना तथा भगवान् के धाम को जाना चाहता है उसे सारे इन्द्रियसुख तथा ऐसे व्यक्तियों की संगति त्याग देनी चाहिए जो धन तथा इन्दियतृप्ति के पीछे दीवाने रहते हैं। यही भगवान् चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है (*चैतन्य-चरितामृत, मध्य,* ११.८)—

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।
सन्दर्शनं विषयिणाम् अथ योषितां च
हा हन्त हन्त विष-भक्षणतोऽप्यसाधु॥

इस श्लोक में आये हुए *ब्रह्मणि* शब्द की टीका निर्विशेषवादियों अथवा भागवत के कथावाचकों ने की है, जो जन्मना जाति-प्रथा के समर्थक हैं। उनके अनुसार ब्रह्मणि का अर्थ निर्गुण (निराकार) ब्रह्म

है। किन्तु *भक्त्या* तथा *गुणाभिधानेन* शब्दों के प्रसंग में ऐसा अर्थ नहीं निकाला जा सकता। निर्विशेषवादियों के अनुसार निर्गुण ब्रह्म दिव्य गुणों से सम्पन्न नहीं होता, अत: हमें *ब्रह्मणि* का अर्थ ''भगवान् में'' ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि अर्जुन ने *भगवद्गीता* में स्वीकार किया है श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, अत: जहाँ कहीं भी *ब्रह्म* शब्द आया है, वह श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त है, निर्गुण ब्रह्म तेज के लिए नहीं। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते* (भागवत १.२.११)। ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् इन सबको ब्रह्म माना जा सकता है, किन्तु जहाँ भक्ति शब्द का प्रसंग आए या दिव्य गुणों के स्मरण का उल्लेख है, तो यह भगवान् का द्योतक होगा, निर्गुण ब्रह्म का नहीं।

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमा-
नाचार्यवान्ज्ञानविरागरंहसा ।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं
पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; रतिः—आसक्ति; ब्रह्मणि—भगवान् में; नैष्ठिकी—स्थिर; पुमान्—मनुष्य; आचार्यवान्—गुरु के प्रति पूर्णतः समर्पित; ज्ञान—ज्ञान; विराग—विरक्ति; रंहसा—के बल से; दहति—जलाता है; अवीर्यम्—नपुंसक; हृदयम्—हृदय के भीतर; जीव-कोशम्—आत्मा का आवरण; पञ्च-आत्मकम्—पाँचों तत्त्व; योनिम्—जन्म का स्रोत; इव—सदृश; उत्थितः—उद्भूत; अग्निः—आग।

गुरु की कृपा से तथा ज्ञान एवं विराग के जागरित होने से भगवान् के प्रति आसक्ति में स्थिर हो जाने पर जीवात्मा जो शरीर के अन्तस्तल में स्थित तथा पाँच तत्त्वों से आच्छादित है अपने भौतिक परिवेश को उसी प्रकार जला देता है, जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न अग्नि काष्ठ को ही भस्मसात् कर देती है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि हृदय के भीतर जीवात्मा तथा परमात्मा साथ-साथ निवास करते हैं। वेदों का कथन है—*हृदि ह्ययमात्मा*—आत्मा तथा परमात्मा दोनों हृदय के भीतर वास करते हैं। जीवात्मा का उद्धार तब होता है, जब वह भौतिक हृदय से बाहर निकल आता है अथवा हृदय को स्वच्छ करके आध्यात्मिक बना देता है। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है—*योनिम् इवोत्थितोऽग्निः।* अग्नि काष्ठ से उत्पन्न हो जाती है, तो यह काष्ठ को ही पूर्ण रूप से जला देती है। इसी प्रकार जब कोई जीवात्मा भगवान् के प्रति आसक्ति बढ़ा देता है, तो समझना चाहिए कि वह अग्नि के तुल्य है। प्रज्ज्वलित अग्नि ताप तथा प्रकाश से दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार जब हृदय के भीतर

जीवात्मा पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान से प्रकाशित एवं संसार से विरक्त हो जाता है, तो वह अपने पंचतत्त्वों के आवरण को जला देता है और पाँच प्रकार की आसक्तियों यथा अविद्या, अहंकार, आसक्ति, ईर्ष्या तथा भौतिक चेतना में तल्लीनता से मुक्त हो जाता है। अत: इस श्लोक में *पञ्चात्मकम्* या तो पाँच तत्त्वों के लिए या कि भौतिक कल्मष के पाँच आवरणों के लिए आया है। जब ये सब ज्ञान तथा विराग की अग्नि से भस्म हो जाते हैं, तो मनुष्य भगवान् की भक्ति में स्थिर होता है। जब तक मनुष्य प्रामाणिक गुरु की शरण में नहीं जाता और उसके उपदेश के अनुसार श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्ति नहीं बढ़ाता तब तक जीवात्मा के हृदय से पाँचों आवरण हटाये नहीं जा सकते। जीवात्मा हृदय में केन्द्रित है और उसको हृदय से निकालने का अर्थ है उसका उद्धार, इसकी यह विधि है। मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की शरण लेनी चाहिए और उनके आदेशों से अपना आध्यात्मिक ज्ञान बढ़ाना चाहिए, इस भौतिक संसार से विरक्त होना चाहिए और इस प्रकार मुक्त हो जाना चाहिए। अत: सिद्ध भक्त भौतिक शरीर के भीतर नहीं रहता; वह तो अपने आध्यात्मिक शरीर के भीतर वैसे ही रहता है जैसे कि जटा के भीतर रहते हुए भी नारियल (गरी) जटा से भिन्न रहता है। अत: शुद्ध भक्त का शरीर चिन्मय शरीर (आध्यात्मिक शरीर) कहलाता है। दूसरे शब्दों में, भक्त का शरीर भौतिक कार्यकलापों से सम्बन्धित नहीं रहता; फलस्वरूप भक्त सदैव मुक्त रहता है (ब्रह्मभूयाय कल्पते) जैसाकि भगवद्गीता (१४.२६) में पुष्टि की गई है। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोस्वामी ने इस प्रकार की है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

“जो मन, वचन तथा कर्म से भगवान् की सेवा में पूर्णत: लगा रहता है, वह चाहे जिस भी स्थिति में रहे, अपने शरीर के भीतर होते हुए भी मुक्त रहता है।”

दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो
नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे ।
परात्मनोर्यद्व्यवधानं पुरस्तात्
स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे ॥ २७॥

शब्दार्थ

दग्ध-आशय:—समस्त इच्छाओं का जल जाना; मुक्त—मुक्त; समस्त—सभी; तत्-गुण:—द्रव्य के सम्बन्ध में गुण; न—नहीं; एव—निश्चय ही; आत्मन:—आत्मा या परमात्मा; बहि:—बाह्य; अन्त:—आन्तरिक; विचष्टे—कार्यशील; पर-आत्मनो:—

परमात्मा का; यत्—जो; व्यवधानम्—अन्तर; पुरस्तात्—मानो प्रारम्भ में हो; स्वप्ने—स्वप्न में; यथा—जिस प्रकार; पुरुषः—व्यक्ति; तत्—वह; विनाशे—समाप्त होते हुए।

जब मनुष्य भौतिक समस्त इच्छाओं से रहित और भौतिक गुणों से मुक्त हो जाता है, तो वह अन्तः तथा बाह्य रूप से किये गये कार्यों में अन्तर नहीं देखता है। उस समय आत्म-साक्षात्कार के पूर्व विद्यमान आत्मा तथा परमात्मा का अन्तर विनष्ट हो जाता है। स्वप्न टूटने पर स्वप्न तथा स्वप्न देखने वाले के बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*) मनुष्य को समस्त इच्छाओं से रहित होना चाहिए। समस्त इच्छाओं से रहित हो जाने पर चिन्तन या सकाम कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में यह समझना चाहिए कि वह भौतिक देह से मुक्त है। इसका उदाहरण पहले ही दिया जा चुका है कि सूखी गरी नारियल के जटा से पृथक् हो जाती है। यह मुक्ति की अवस्था है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.१०.६) में कहा गया है *मुक्ति* का अर्थ है *स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहना। जब तक देहात्मबुद्धि रहती है तब तक सभी भौतिक इच्छाएँ पीछा नहीं छोड़तीं, किन्तु जब मनुष्य यह सोच लेता है कि वह श्रीकृष्ण का शाश्वत दास है, तो उसकी इच्छाएँ भौतिक नहीं रहती हैं। भक्त इसी चेतना से कार्य करता है। दूसरे शब्दों में, जब शरीर से सम्बन्धित भौतिक इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तो मनुष्य वास्तव में मुक्त हो जाता है।

मुक्त हो जाने पर मनुष्य अपनी व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं करता। फिर आगे वह जो कुछ भी करता है, वह अनासक्त होता है। बद्ध अवस्था में दो प्रकार के कर्म होते हैं। मनुष्य शरीर के लिए कार्य करता है, किन्तु साथ-ही वह मुक्त होने के लिए भी कार्य करता है। समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने पर भक्त शरीर तथा आत्मा के लिए कर्म की द्वैतता से परे हो जाता है। तब देहात्मबुद्धि समाप्त हो जाती है। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

जब मनुष्य भगवान् की सेवा में पूर्ण रूप से संलग्न होता है, तो वह जीवन की किसी भी अवस्था में मुक्त रहता है। वह *जीवन्मुक्त* कहलाता है। ऐसी मुक्त-अवस्था में इन्द्रियतृप्ति के लिए किये गये कार्यों तथा मुक्ति के लिए किये गये कार्यों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। जब मनुष्य इन्द्रियतृप्ति की

इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, तो उस पर शोक या मोह के फलों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कर्मियों तथा ज्ञानियों द्वारा किये गये कर्मों से शोक तथा मोह उत्पन्न होता है, किन्तु स्वरूपसिद्ध पुरुष, जो केवल भगवान् के लिए ही कर्म करता है, इन्हें अनुभव नहीं करता। यह एकात्म की दशा है अथवा भगवान् के अस्तित्व में तदाकार होना है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव अपनी पृथक् सत्ता होते हुए भी पृथक् स्वार्थ नहीं रखता। वह भगवान् की सेवा में पूरी तरह लग जाता है, उसे अपनी इन्द्रियतृप्ति से कोई वास्ता नहीं रह जाता, अत: वह केवल भगवान् को देखता है, अपने आपको नहीं। उसके स्वार्थों का पूर्ण अन्त हो जाता है। नींद टूटने पर स्वप्न समाप्त हो जाता है, किन्तु स्वप्न में मनुष्य अपने को राजा मानकर शाही शान, सैनिक आदि सब कुछ देख सकता है। स्वप्न समाप्त होने पर वह अपने अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। इसी प्रकार मुक्त पुरुष जानता है कि वह परमेश्वर का अंशरूप है और उन्हीं के इच्छानुसार सारे कार्य करता रहता है। इस तरह वह उनके तथा अपने बीच कोई अन्तर नहीं देखता, यद्यपि दोनों की सत्ताएँ पृथक् -पृथक् रहती हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*—परमात्मा तथा आत्मा के एकाकार का यह पूर्ण बोध है।

आत्मानमिन्द्रियार्थं च परं यदुभयोरपि ।
सत्याशय उपाधौ वै पुमान्पश्यति नान्यदा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—आत्मा; **इन्द्रिय-अर्थम्**—इन्द्रियतृप्ति हेतु; **च**—तथा; **परम्**—दिव्य; **यत्**—जो; **उभयो:**—दोनों; **अपि**—निश्चय ही; **सति**—स्थित होकर; **आशये**—भौतिक इच्छाएँ; **उपाधौ**—उपाधि या नाम; **वै**—निश्चय ही; **पुमान्**—मनुष्य; **पश्यति**—देखता है; **न अन्यदा**—अन्यथा नहीं।.

जब आत्मा इन्द्रियतृप्ति के हेतु रहता है, तो वह नाना प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न करता है, जिसके कारण उसको उपाधियाँ दी जाती हैं। किन्तु जब मनुष्य दिव्य स्थिति में रहता है, तो वह भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने के अतिरिक्त और किसी कार्य में रुचि नहीं दिखाता।

तात्पर्य : भौतिक इच्छाओं से आच्छादित होने के कारण आत्मा को विशेष प्रकार की देह-उपाधियों से ढका हुआ माना जाता है। इस प्रकार आत्मा अपने को पशु, मनुष्य, देवता, पक्षी, इत्यादि मानता है। अहंकार से जनित झूठी पहचान से कई प्रकार से प्रभावित होकर और मोहमयी भौतिक इच्छाओं से आच्छादित होकर वह पदार्थ तथा आत्मा में भेद करने लगता है। जब मनुष्य इस प्रकार के भेदभाव से रहित होता है, तो पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता। तब तो आत्मा ही प्रमुख

कारण बन जाता है। जब तक मनुष्य भौतिक इच्छाओं से ढका हुआ रहता है, वह अपने को भोक्ता या स्वामी मानता है। इस प्रकार वह इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है और भौतिक पीड़ा, सुख तथा दुख से प्रभावित होता है। किन्तु जब मनुष्य जीवन के इस बोध से मुक्त हो जाता है, तो फिर वह उपाधियों से प्रभावित नहीं होता और वह प्रत्येक वस्तु को परमेश्वर के परिप्रेक्ष्य में आध्यात्मिक मानता है। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.२५५) में इसकी व्याख्या की है—

अनासक्तस्य विषयान्यथार्हमुपयुञ्जत: ।

निर्बन्ध: कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

मुक्त पुरुष को न तो इन्द्रियतृप्ति से, न ही अन्य किसी भौतिक पदार्थ से लगाव होता है। वह समझ जाता है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् से सम्बन्धित है और प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाना चाहिए। फलत: वह किसी भी वस्तु का त्याग नहीं करता। उसके लिए किसी भी वस्तु को त्यागने का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि परमहंस जानता है कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाया जाए। मूलत: प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है, कुछ भी भौतिक नहीं है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य ८.२७४) में भी कहा गया है कि *महाभागवत* में कोई भौतिक दृष्टि नहीं होती—

स्थावर-जंगम देखे, ना देखे तार मूर्ति ।

सर्वत्र हय निज इष्ट-देव-स्फूर्ति ॥

यद्यपि वह वृक्षों, पर्वतों तथा अन्य जीवों को यहाँ-वहाँ देखता है, किन्तु वह उन्हें परमेश्वर की सृष्टि रूप में देखता है, वह केवल स्रष्टा को देखता है, सृजित को नहीं। दूसरे शब्दों में, सृजित तथा स्रष्टा में कोई अन्तर नहीं दिखता। वह प्रत्येक वस्तु में भगवान् के दर्शन करता है। वह प्रत्येक वस्तु में श्रीकृष्ण को और श्रीकृष्ण में प्रत्येक वस्तु को पाता है। यही एकाकार है।

निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः ।
आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

निमित्ते—कारणों के फलस्वरूप; सति—होते हुए; सर्वत्र—सभी जगह; जल-आदौ अपि—जल तथा अन्य प्रतिबिम्बित करने वाले माध्यम; पूरुषः—पुरुष; आत्मनः—अपने; च—तथा; परस्य अपि—दूसरे का भी; भिदाम्—अन्तर; पश्यति—देखता है; न अन्यदा—अन्य कोई कारण नहीं।

विभिन्न निमित्तों (कारणों) के फलस्वरूप ही मनुष्य अपने तथा दूसरों में अन्तर देखता है, जिस प्रकार के जल, तेल या दर्पण में एक ही पदार्थ के प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखते हैं।

तात्पर्य : आत्मा एक है और वह है भगवान्। वह *स्वांश* तथा *विभिन्नांश* में प्रकट होता है। जीव *विभिन्नांश* है। भगवान् के विभिन्न अवतार *स्वांश* हैं। इस प्रकार परमेश्वर की विभिन्न शक्तियाँ हैं और इन शक्तियों के विभिन्न विस्तार (अंश) हैं। इस प्रकार विभिन्न कारणों से एक ही तत्त्व भगवान् के विभिन्न विस्तार हैं। यही असली ज्ञान है, किन्तु जब जीव उपाधि से आवृत रहता है, तो उसे वैसे ही अन्तर जान पड़ते हैं जैसे जल, तेल, या दर्पण में देखने पर अपने ही प्रतिबिम्बों में अन्तर जान पड़ता है। जब कोई वस्तु जल से प्रतिबिम्बित होती है, तो वह चल प्रतीत होती है, किन्तु जब बर्फ से प्रतिबिम्बित होती है, तो स्थिर लगती है। तेल से प्रतिबिम्बित होने पर वही धुँधली जान पड़ती है। वस्तु एक है, किन्तु विभिन्न अवस्थाओं में वह भिन्न प्रतीत होती है। यदि पात्रता कारण को निकाल लिया जाय तो सारी वस्तुएँ एक ही प्रतीत होती हैं। दूसरे शब्दों में, जब भक्तियोग के अभ्यास से मनुष्य परमहंस अथवा सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है, तो उसे सर्वत्र श्रीकृष्ण के ही दर्शन होते हैं। उसके लिए मानो अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं।

निष्कर्ष के रूप हम कह सकते हैं कि विभिन्न कारणों से जीवात्मा पशु, मनुष्य, देवता, वृक्ष जैसे विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। अत: *भगवद्गीता* (५.१८) में व्याख्या की गई है कि जो वास्तविक आत्मा के दर्शन कर लेता है उसे विद्वान्, ब्राह्मण तथा कुत्ते, हाथी या गाय में कोई अन्तर नहीं दिखता। *पण्डिता: समदर्शिन: ।* जो वास्तव में पण्डित है, वह केवल जीवात्मा को देखता है उसके बाह्य-आवरण को नहीं। अत: जो अन्तर है, वह विभिन्न कर्मों का फल है और जब हम कर्म करना बन्द करके भक्ति के कार्यों में लग जाते हैं, तो हम यह समझ पाते हैं कि हम अन्यों से भिन्न नहीं हैं, उनका रूप चाहे जो भी हो। ऐसा केवल कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत ही सम्भव है। इस आन्दोलन में विश्व के सभी भागों की सभी जातियों के लोग भाग ले रहे हैं और वे अपने को भगवान् का दास समझने के कारण काले-गोरे या पीले-लाल में

कोई भेदभाव नहीं देखते। अत: कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ही एकमात्र साधन है, जिससे जीवात्माएँ समस्त उपाधियों से मुक्त हो सकती हैं।

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः ।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; विषय—विषय वस्तु; आकृष्टैः—आकृष्ट होकर; आक्षिप्तम्—विचलित; ध्यायताम्—सदैव सोचते हुए; मनः—मन; चेतनाम्—चेतना; हरते—खो जाती है; बुद्धेः—बुद्धि की; स्तम्बः—बड़े-बड़े तिनके, कुशादि; तोयम्—जल; इव—सदृश; ह्रदात्—झील (जलाशय) से।

जब मनुष्य का मन तथा इन्द्रियाँ सुख-भोग के हेतु विषय-वस्तुओं के प्रति आकर्षित होते हैं, तो मन विचलित हो जाता है। परिणाम स्वरूप लगातार विषय-वस्तुओं का चिन्तन करने से मनुष्य की असली कृष्णचेतना वैसे ही खो जाती है, जैसे कि जलाशय के किनारे उगे हुए बड़ी बड़ी कुश जैसी घास के द्वारा चूसे जाने के कारण जलाशय का जल।

तात्पर्य : इस श्लोक में बड़े ही सुन्दर ढंग से बताया गया है कि हमारी मूल कृष्णचेतना किस प्रकार दूषित हो जाती है और हम किस प्रकार परमेश्वर से अपने सम्बन्ध को उत्तरोत्तर भूलते जाते हैं। पिछले श्लोक में बताया गया है कि हमें निरन्तर भगवान् की भक्ति में लगे रहना चाहिए जिससे भक्ति की प्रज्ज्वलित अग्नि समस्त भौतिक इच्छाओं को भस्म कर दे और हम जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो सकें। यह वह अप्रत्यक्ष विधि भी है, जिससे हम परमेश्वर के चरणारविन्द में अपनी अटूट श्रद्धा बनाये रख सकते हैं। जब मन को निरन्तर इन्द्रियतृप्ति के बारे में सोचने के लिए छोड़ दिया जाता है, तो वह हमारे भौतिक बन्धन का कारण बन जाता है। यदि हमारा मन इन्द्रियतृप्ति के विषयों से ही पूरित रहे तो हम कृष्णभक्ति करने की चाह रखकर भी सतत अभ्यास के कारण इन्द्रियतृप्ति के विषय को नहीं भूल सकते। यदि कोई संन्यास आश्रम ग्रहण कर ले, किन्तु मन को वश में न कर पाए तो वह सदैव इन्द्रियतृप्ति—यथा परिवार, समाज, कीमती घर इत्यादि—के बारे में सोचता रहेगा। भले ही वह हिमालय में या जंगल में क्यों न चला जाय उसका मन इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में रमा रहेगा। इस प्रकार क्रमशः मनुष्य की बुद्धि प्रभावित होती रहेगी जिससे कृष्णचेतना (भक्ति) के प्रति उसकी मौलिक रुचि समाप्त हो जाएगी।

यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त सटीक है। यदि किसी विशाल जलाशय के चारों ओर ऊंची-

ऊंची कुश घास उगी हो तो उसका जल सूख जाएगा। इसी प्रकार जब भौतिक इच्छाएं बढ़ जाती हैं, तो चेतना का स्वच्छ जल सूख जाता है। अतः कुश को पहले से ही काट देना या समूल नष्ट कर देना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि यदि धान के खेत में खर-पतवारों को उगने दिया जाए तो वे उर्वरक तथा जल का उपयोग कर लेंगे और धान के पौधे सूख जाएँगे। इन्द्रियभोग की इच्छा ही इस जगत में हमारे पतन का कारण है और हम तीन प्रकार के तापों एवं जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के शिकार होते रहते हैं। किन्तु यदि हम अपनी इच्छाओं को भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति की ओर मोड़ दें तो हमारी इच्छाएँ पवित्र हो जाती हैं। हम इच्छाओं को मार नहीं सकते। हमें उन्हें विभिन्न उपाधियों से शुद्ध करना है। यदि हम अपने को निरन्तर किसी विशेष राष्ट्र, समाज या परिवार के सदस्य के रूप में मान कर उन्हीं का चिन्तन करते रहें तो हम जन्म-मरण के बद्धजीवन में दृढ़तापूर्वक उलझ जाते हैं। किन्तु यदि हमारी इच्छाएँ भगवान् की सेवा में लग जाँए तो वे पवित्र हो जाती हैं और हम भौतिक कल्मष से तुरन्त मुक्त हो जाते हैं।

भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये ।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

भ्रश्यति—विनष्ट हो जाती है; अनुस्मृतिः—निरन्तर चिन्तन; चित्तम्—चेतना; ज्ञान-भ्रंशः—वास्तविक ज्ञान से विरहित; स्मृति-क्षये—स्मृति के विनाश से; तत्-रोधम्—उस विधि का अवरुद्ध होना; कवयः—बड़े-बड़े पंडितों ने; प्राहुः—विचार व्यक्त किया है; आत्म—आत्मा का; अपह्नवम्—विनाश; आत्मनः—आत्मा का।

जब मनुष्य अपनी मूल चेतना से इधर-उधर हटता है, तो वह न तो अपनी पूर्वस्थिति को स्मरण रख पाता है और न वर्तमान स्थिति को पहचान पाता है। स्मरण-शक्ति के नष्ट हो जाने पर जितना भी ज्ञान अर्जित किया जाता है, वह एक झूठी आधार-शिला पर टिका रहता है। जब ऐसी घटना घटती है, तो पंडित जन कहते हैं कि आत्मा का विनाश हो गया।

तात्पर्य : जीवात्मा या आत्मा नित्य एवं शाश्वत है। इसका विनाश नहीं हो सकता, किन्तु जब वास्तविक ज्ञान काम नहीं करता तो पंडितजन कहते हैं कि इसका विनाश हो चुका है। पशुओं तथा मनुष्यों में यही अन्तर है। अल्पज्ञ दार्शनिकों के अनुसार पशुओं में आत्मा नहीं होती, किन्तु वास्तविकता यह है कि पशुओं में आत्मा होती है। फिर भी पशुओं की निरी अज्ञानता के कारण ऐसा लगता है कि उनकी आत्माएँ विनष्ट हो चुकी हैं। बिना आत्मा के शरीर हिल नहीं सकता। सजीव एवं

निर्जीव शरीर का यही अन्तर है। जब आत्मा शरीर से बाहर निकल जाता है, तो शरीर मृत कहलाता है। आत्मा को तभी विनष्ट कहा जाता है जब समुचित ज्ञान प्रदर्शित नहीं हो पाता। हमारी मूल चेतना कृष्णचेतना है क्योंकि हम कृष्ण के अंश है। जब यह चेतना दिग्भ्रमित हो जाती है और मनुष्य भौतिक वातावरण में आ गिरता है, जिससे मूल चेतना दूषित होती है, तो वह सोचने लगता है कि यह भौतिक तत्त्वों का फल है। इस प्रकार वह भगवान् के अंश रूप में अपनी स्थिति को उसी प्रकार भूल जाता है, जिस प्रकार कि सोते समय मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। इस प्रकार मूल चेतना के कार्यकलापों के अवरुद्ध होने से विनष्ट आत्मा के सारे कार्यकलाप मिथ्या आधार पर सम्पन्न होते हैं। आज के समय में, मानवीय सभ्यता देहात्मबुद्धि के छद्म-स्तर पर कार्य कर रही है, अतः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग के लोगों ने अपनी आत्माएँ खो दी हैं और इस प्रकार वे पशुतुल्य हैं।

नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः ।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अतः—इसके बाद; परतरः—बढ़कर; लोके—इस संसार में; पुंसः—जीवात्माओं का; स्व-अर्थ—लाभ; व्यतिक्रमः—रुकावट; यत्-अधि—इसके आगे; अन्यस्य—दूसरों का; प्रेयस्त्वम्—अधिक रुचिकर; आत्मनः—अपने लिए; स्व—अपना; व्यतिक्रमात्—रुकावट से।.

आत्म-साक्षात्कार की अपेक्षा अन्य विषयों को अधिक रुचिकर सोचना—मनुष्य के अपने हित के लिए इससे बड़ी बाधा कोई नहीं होती है।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन विशेष रूप से आत्म-साक्षात्कार के निमित्त है। ''आत्म'' का अर्थ है परमात्मा तथा जीव अर्थात् भगवान् तथा जीवात्मा। किन्तु जब मनुष्य अपने शरीर तथा शारीरिक इन्द्रियतृप्ति में अधिक रुचि रखने लगता है, तो वह आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अपने लिए अवरोध उत्पन्न कर लेता है। माया के प्रभाव से वह इन्द्रियतृप्ति में अधिक रस लेता है, जो इस संसार में आत्म-साक्षात्कार के इच्छुक व्यक्तियों के लिए वर्जित है। इन्द्रियतृप्ति में रस न लेकर मनुष्य को परमात्मा की इन्द्रियों को तुष्ट करने में अपने कार्यकलापों को मोड़ लेना चाहिए। इस नियम के विपरीत जो भी किया जाएगा, वह निश्चित ही उसके हित के विरुद्ध होगा।

अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम् ।

भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अर्थ—धन; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रियों की तुष्टि के लिए; अभिध्यानम्—निरन्तर ध्यान करने से; सर्व-अर्थ—चार प्रकार की उपलब्धियाँ, पुरुषार्थ; अपह्नवः—विनाशकारी; नृणाम्—मानव समाज की; भ्रंशितः—से रहित; ज्ञान—ज्ञान; विज्ञानात्—भक्ति से; येन—इससे; आविशति—प्रवेश करता है; मुख्यताम्—जड़ जीवन।

धन कमाने तथा इन्द्रितृप्ति के लिए उसके उपयोग के विषय में निरन्तर सोचते रहने से मानव-समाज के प्रत्येक व्यक्ति का पुरुषार्थ विनष्ट होता है। जब कोई ज्ञान तथा भक्ति से शून्य हो जाता है, वह वृक्षों तथा पत्थरों की सी जड़ योनियों में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : *ज्ञान* का अर्थ है अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझना और *विज्ञान* का अर्थ है जीवन में उस ज्ञान को व्यवहार में लाना। मनुष्य जीवन प्राप्त करके व्यक्ति को *ज्ञान* तथा *विज्ञान* की स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिए, किन्तु इस सुअवसर के होते हुए भी यदि कोई गुरु तथा शास्त्रों की सहायता से *ज्ञान* तथा *विज्ञान* प्राप्त नहीं कर पाता अर्थात् वह इस सुअवसर का उपयोग नहीं करता है, तो अगले जन्म में उसे जड़ योनि प्राप्त होना निश्चित है। जड़ योनि के अन्तर्गत पर्वत, वृक्ष, पौधे इत्यादि आते हैं। जीवन की यह अवस्था *पुण्यताम्* या *मुख्यताम्* कहलाती है, जिसका अर्थ है सभी कार्यकलाप शून्य हो जाना। ऐसे दार्शनिक, जो समस्त कार्यकलापों को समाप्त करने के पक्षपाती हैं, शून्यवादी कहलाते हैं। सहज रूप में हमारे सारे कार्यकलाप उत्तरोत्तर भक्ति की ओर उन्मुख होने चाहिए। किन्तु कुछ ऐसे भी दार्शनिक हैं, जो कर्मों को शुद्ध न करके प्रत्येक वस्तु को शून्य या समस्त कार्यकलापों से रहित कर देना चाहते हैं। क्रियाशीलता का ऐसा अभाव वृक्षों तथा पर्वतों में पाया जाता है। यह प्रकृति द्वारा प्रदत्त दण्ड जैसा है। यदि हम आत्म-साक्षात्कार के जीवन-लक्ष्य को उचित ढंग से प्राप्त नहीं कर सकते तो प्रकृति हमें वृक्ष तथा पर्वत के रूप में जड़ बनाकर दंड देगी। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के हेतु किये गये कर्मों की यहाँ भर्त्सना की गई है। जो निरन्तर धन-अर्जन तथा इन्द्रियतृप्ति के विषय में ही सोचता रहता है, वह ऐसे पथ पर अग्रसर होता है जो आत्मघाती है। वस्तुतः समूचा मानव-समाज इसी पथ का अनुसरण कर रहा है कि भीख माँगके, चोरी करके अथवा उधार लेने से, चाहे जिस प्रकार से धन आए, लोग धन कमाने तथा उसका उपभोग इन्द्रियतृप्ति करने जुटे हुए हैं। ऐसी सभ्यता आत्म-साक्षात्कार के पथ में सबसे बड़ी बाधक है।

न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—मत; कुर्यात्—करे; कर्हिचित्—कभी भी; सङ्गम्—संगति, साथ; तमः—अज्ञान; तीव्रम्—तेज गति से; तितीरिषुः—वे पुरुष जो अज्ञान को पार करने के इच्छुक है; धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इन्द्रियतृप्ति; मोक्षाणाम्—मोक्ष का; यत्—जो; अत्यन्त—अत्यधिक; विघातकम्—बाधक या रुकावट।

जो अज्ञान के सागर को पार करने की प्रबल इच्छा रखते हैं, उन्हें कभी भी तमोगुण के साथ साथ नहीं जुड़ना चाहिए, क्योंकि सुखवादी कार्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के मार्ग में अत्यन्त बाधक हैं।

तात्पर्य : जीवन के चार नियम हैं, जो मनुष्य को धर्म के अनुसार रहने, समाज में अपनी स्थिति के अनुसार धन अर्जित करने, नियम के अनुसार विषय वस्तुओं को भोगने तथा इस भौतिक आसक्ति से मोक्ष के पथ में अग्रसर होने की अनुमति देते हैं। जब तक यह शरीर है इन समस्त स्वार्थों (पुरुषार्थों) से पूरी तरह अलग रह पाना असम्भव है। किन्तु यह भी कहीं नहीं कहा गया है कि मनुष्य केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करे और इसी के लिए धन कमाए तथा सारे धार्मिक नियमों की बलि दे दे। आज के समय में, मानव-समाज को धर्म की तनिक भी चिन्ता नहीं है। वह तो धर्महीन आर्थिक विकास में परम दत्तचित्त है। उदाहरणार्थ, कसाईघरों में बधिकों को आसानी से पैसा मिल जाता है, किन्तु ऐसा धंधा धार्मिक नियमों पर आधारित नहीं है। इसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति तथा कामवासना पूर्ति के लिए अनेक वेश्यालय तथा नाइट क्लब हैं। संभोग की छूट गृहस्थ जीवन में तो है, किन्तु वेश्यागमन वर्जित है, क्योंकि हमारे सारे कार्यकलापों का लक्ष्य इस संसार के बंधन से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना है। इसी प्रकार, भले ही सरकार मदिरालयों को खोलने का लाइसेंस दे दे, किन्तु इसका अभिप्राय यह तो नहीं है कि निर्बाध रूप से मदिरालय खुलते जाँए और अवैध शराब का धंधा हो। लाइसेंस देने का अभिप्राय प्रतिबन्ध लगाना है। किसी को चीनी, आटे या दूध का लाइसेंस नहीं लेना होता, क्योंकि इन वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं होती। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को यह सलाह दी जाती है कि वह इस प्रकार कार्य करे कि आध्यात्मिक जीवन तथा मोक्ष की नियमित प्रगति की प्रक्रिया बाधित न हो। अत: इन्द्रियतृप्ति की वैदिक विधि इस प्रकार नियोजित की जाती है कि आर्थिक विकास होता रहे, इन्द्रियतृप्ति भी हो तथा उसके साथ ही अन्त में मोक्ष प्राप्त हो। वैदिक सभ्यता हमें शास्त्रों के रूप में सारा ज्ञान प्रदान करती है और यदि हम शास्त्रों तथा गुरु के निर्देशन में नियमित जीवन बिताएँ

तो हमारी सारी भौतिक इच्छाएँ पूरी हो जाएँगी और साथ ही हम मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे।

तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—भी; मोक्षः—मोक्ष; एव—निश्चय ही; अर्थे—के हेतु; आत्यन्तिकतया—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण; इष्यते—ग्रहण करे; त्रै-वर्ग्यः—अन्य तीन, अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम; अर्थः—हित, पुरुषार्थ; यतः—जिससे; नित्यम्—नियमित रूप से; कृत-अन्त—मृत्यु; भय—डर; संयुतः—संलग्न।

चारों पुरुषार्थ अर्थात्—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—में से मोक्ष को अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अन्य तीन तो प्रकृति के कठोर नियम अर्थात् काल (मृत्यु) द्वारा नाशवान् हैं।

तात्पर्य : *मोक्ष* को अन्य तीन पुरुषार्थों की अपेक्षा अधिक गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि सूत गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में उपदेश दिया है कि धर्म आर्थिक विकास की सफलता पर अवलम्बित नहीं है। चूँकि हम इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक आसक्त रहते हैं, अत: हम मन्दिर या गिरजाघर में ईश्वर के पास किसी न किसी आर्थिक कारण से जाते हैं। किन्तु आर्थिक विकास का अर्थ इन्द्रियतृप्ति नहीं है। हमें चाहिए कि इन सबमें ऐसा समंजन करें कि हमें मोक्ष प्राप्त हो सके। इसीलिए इस श्लोक में मोक्ष पर बल दिया गया है। अन्य तीन पुरुषार्थ भौतिक होने के कारण नश्वर हैं। इस जीवन में बैंक में किसी भी द्वारा प्रचुर धन संचित कर लेने तथा अनेक वस्तुओं का स्वामी बन जाने पर भी सारी वस्तुएँ मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाएँगी। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मृत्यु तो भगवान् है, जो भौतिकतावादी मनुष्य द्वारा अर्जित सारी वस्तुएँ अपने साथ लेते जाते हैं। मूर्खतावश हम इसकी ओर ध्यान नहीं देते। मूर्खतावश न तो हम मृत्यु से डरते हैं, न ही इसका विचार करते हैं कि मृत्यु अपने साथ धर्म, अर्थ तथा काम के द्वारा अर्जित प्रत्येक वस्तु को लेती जाएगी। धर्म के द्वारा हमें स्वर्ग की भी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चंगुल से भी हमें छुटकारा मिल गया। तात्पर्य यह कि हम *त्रैवर्ग्य*—धर्म, अर्थ तथा काम—के अपने-अपने स्वार्थों की बलि तो कर सकते हैं, किन्तु मोक्ष की नहीं। मोक्ष के सम्बन्ध में *भगवद्गीता* (४.९) में कहा गया है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति।* मोक्ष का अर्थ होता है कि इस शरीर को त्यागने के बाद मनुष्य को दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करना होता। निर्विशेषवादियों के लिए मोक्ष का अर्थ है निर्गुण ब्रह्म

से तादात्म्य। किन्तु वास्तव में यह मोक्ष नहीं है, क्योंकि मनुष्य को उस निर्गुण पद से पुन: इस भौतिक संसार में नीचे आना होता है। अत: मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की शरण खोजे और उनकी भक्ति में लग जाए। यही असली मोक्ष है। अत: निष्कर्ष यह निकला कि हमें पुण्य कर्म, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति पर बल नहीं देना चाहिए। हमें तो भगवान् विष्णु के दिव्य धाम पहुँचने की चिन्ता करनी चाहिए। जिनमें से गोलोक वृन्दावन सबसे ऊपर है और वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण निवास करते हैं। अत: मोक्ष के इच्छुक लोगों के लिए यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन सबसे बड़ा उपहार है।

परेऽवरे च ये भावा गुणव्यतिकरादनु ।
न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

परे—जीवन की उच्चतर स्थिति में; अवरे—जीवन की निम्नतर अवस्था में; च—तथा; ये—ये सब; भावा:—विचार; गुण—भौतिक गुण; व्यतिकरात्—अन्योन्य क्रिया से; अनु—पीछे-पीछे चलना; न—कभी नहीं; तेषाम्—उनका; विद्यते—विद्यमान है; क्षेमम्—कुशल; ईश—परमेश्वर; विध्वंसित—विनष्ट; आशिषाम्—आशीर्वादों का।

हम उच्चतर जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को जीवन की निम्नतर अवस्थाओं से अलग करते हुए वरदानस्वरूप ग्रहण करते हैं, किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के भेदभाव भौतिक प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया के प्रसंग में ही विद्यमान रहते हैं। वस्तुत: जीवन की इन अवस्थाओं का कोई स्थायी अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि ये परम नियन्ता द्वारा विनष्ट कर दी जाएंगी।

तात्पर्य : हम इस संसार में जीवन के उच्चतर रूप को आशीर्वाद (वरदान) के रूप में ग्रहण करते हैं और निम्नतर रूप को अभिशाप। उच्चतर अथवा निम्नतर का यह अन्तर तभी तक रहता है जब तक विभिन्न भौतिक गुण परस्पर क्रिया करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम अपने अच्छे कर्मों से उच्चतर लोकों को या उच्चतर जीवन स्तर (यथा उत्तम शिक्षा, सुन्दर शरीर, इत्यादि) को प्राप्त होते हैं। ये सब पुण्य कर्मों के प्रतिफल हैं। इसी तरह अपवित्र कार्यों से हम अशिक्षित रह जाते हैं, कुरूप शरीर पाते हैं, गरीब बने रहते हैं, इत्यादि। किन्तु जीवन की ये विभिन्न अवस्थाएँ सतो, रजो तथा तमो गुणों की पारस्परिक क्रिया द्वारा प्रकृति के नियमों के अधीन हैं। ये सारे गुण इस समग्र विश्व के विलय के समय कार्य करना बन्द कर देते हैं। अत: भगवान् ने *भगवद्गीता* (८.१६) में कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

भले ही हम अपने आपको विज्ञान की उन्नति के बल पर या जीवन के धार्मिक नियमों—त्याग तथा कर्म—से उच्चतर लोक तक उठा लें, किन्तु प्रलय के समय ये सारे लोक तथा उनके प्राणी विनष्ट हो जाँएगे। इस श्लोक में *ईशविध्वंसिताशिषाम्* सूचित करता है कि ये सारे आशीर्वाद परम नियन्ता द्वारा ध्वस्त कर दिये जाएँगे। उस समय कोई हमारी रक्षा नहीं करेगा। चाहे इस लोक में हों, या अन्य लोक में, हमारे शरीर विनष्ट हो जाएँगे और हमें महाविष्णु के शरीर के भीतर लाखों वर्षों तक अचेत अवस्था में रहना होगा और जब सृष्टि पुन: प्रकट होगी तो उसमें हमें विभिन्न योनियों में जन्म लेकर अपने कार्य प्रारम्भ करने होंगे। अत: मात्र उच्चतर लोक तक उठ जाने से ही हमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। हमें इस दृश्य जगत से बाहर निकलने, आत्मजगत में जाने और भगवान् की शरण ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिए। यही हमारी सर्वोच्च उपलब्धि है। हमें किसी भी उच्च या निम्न भौतिक वस्तु के प्रति आकृष्ट न होकर उन्हें समान स्तर पर देखना चाहिए। हमारा वास्तविक कार्य जीवन-उद्देश्य की खोज और भगवान् की भक्ति करना होना चाहिए। इस प्रकार हम ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण अपने आध्यात्मिक कार्यों में सतत आशीर्वाद पाते रहेंगे।

नियमित मानवीय सभ्यता से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्रगति होती है। मानव समाज में धर्म होना ही चाहिए। बिना धर्म के मानव समाज पशुओं का समाज है। आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति को धर्म पर आधारित होना चाहिए। जब धर्म, अर्थ तथा काम समंजित हो जाते हैं, तो जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से मुक्ति निश्चित है। किन्तु इस कलिकाल में धर्म तथा मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। लोगों की रुचि केवल आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति की ओर है। फलत: सारे विश्व में पर्याप्त आर्थिक उन्नति के बावजूद मानव-समाज के आचार-विचार पशुतुल्य हैं। जब सब कुछ नितान्त पशुतुल्य हो जाता है, तो प्रलय होता है। इस प्रलय को *ईश विध्वंसिताशिषाम्* के रूप में ग्रहण करना चाहिए। भगवान् द्वारा प्रदत्त आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति का आशीर्वाद अन्त में विनष्ट हो जाता है। इस कलियुग के अन्त में भगवान् कल्कि अवतार के रूप में प्रकट होंगे और उनका एकमात्र कार्य होगा ब्रह्माण्ड के समस्त मनुष्यों का संहार। इस नरसंहार के बाद पुन: स्वर्णिम युग आएगा। अत: हमें जान लेना होगा कि हमारे सारे भौतिक कार्यकलाप बच्चों की खिलवाड़ सदृश हैं। बच्चे समुद्रतट पर खेल

करते हैं, पिता तट पर बैठा-बैठा बच्चों के द्वारा महलों का दीवालों का बनना आदि देखता रह सकता है, किन्तु अन्त में पिता के कहने पर बच्चों को सब कुछ छोड़कर घर वापस आना पड़ता है। तब सब कुछ नष्ट हो जाता है। जो लोग आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के बच्चों जैसे खिलवाड़ में लगे रहते हैं, कभी-कभी भगवान् उन पर विशेष अनुग्रह करके उनके सारे निर्माण कार्यों को विनष्ट कर देते हैं।

भगवान् ने कहा है—*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।* भगवान् ने युधिष्ठिर महाराज से कहा कि जब वे अपने भक्त पर विशेष अनुकम्पा करते हैं, तो उसका सारा धन-वैभव हर लेते हैं। अतः सामान्यतः यह देखा जाता है कि वैष्णव अधिक धनवान नहीं होते। जब कोई वैष्णव या भक्त धनवान होने के साथ-साथ परमेश्वर की सेवा करने की इच्छा व्यक्त करता है, तो उसकी भक्ति अवरुद्ध हो जाती है। भगवान् उस पर कृपा प्रदर्शित करने के लिए उसकी तथाकथित आर्थिक उन्नति तथा भौतिक ऐश्वर्य को विनष्ट कर देते हैं। इस प्रकार भक्त बारम्बार आर्थिक उन्नति करने के प्रयासों से निराश होकर अन्ततः भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है। ऐसा कार्य भी *ईशविध्वंसिताशिषाम्* माना जा सकता है, जिसके द्वारा भगवान् मनुष्य के ऐश्वर्य को नष्ट करके उसे आध्यात्मिक ज्ञान से सम्पन्न करते हैं। उपदेश देते समय हमने देखा है कि भौतिकतावादी व्यक्ति हमारे पास आते हैं और आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए नमस्कार करते हैं, जिसका अर्थ होता है कि वे और अधिक भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा रखते हैं। यदि उनकी इस प्रकार की ऐश्वर्य-इच्छा को रोका जाये तो ऐसे व्यक्ति भक्तों को कभी नमस्कार भी न करना चाहें। ऐसे भौतिकतावादी पुरुष केवल अपनी आर्थिक प्रगति से नाता रखते हैं। वे सन्तों या परमेश्वर को प्रणाम करते हैं और उपदेश कार्य के लिए कुछ दान देते हैं जिससे उन्हें और आर्थिक लाभ हो सके।

किन्तु यदि कोई अपनी भक्ति में एकनिष्ठ है, तो भगवान् उस भक्त को अपनी आर्थिक प्रगति त्यागने के लिए बाध्य करते हैं और अपने प्रति पूर्ण समर्पण करा लेते हैं। चूँकि भगवान् अपने भक्त को ऐश्वर्य का वरदान नहीं देते, अतः लोग भगवान् विष्णु की पूजा करने से डरते हैं, क्योंकि वे देखते हैं कि भगवान् विष्णु को पूजने वाले वैष्णव धनी नहीं होते। किन्तु ऐसे भौतिकतावादी पुरुष शिवजी की उपासना करके धन प्राप्त करने के अनेक अवसर प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि शिवजी देवी दुर्गा के पति हैं, जो इस ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री हैं। शिवजी के अनुग्रह से ऐसे भक्त को देवी दुर्गा से आशीर्वाद प्राप्त

करने का सुयोग प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, रावण शिवजी का महान् उपासक तथा भक्त था जिसके बदले में उसे देवी दुर्गा के समस्त वर प्राप्त थे, यहाँ तक कि उसके सारे साम्राज्य के भवन स्वर्ण निर्मित थे। इस युग में ब्राजील में स्वर्ण की अथाह राशि मिली है और पुराणों में प्राप्त ऐतिहासिक सन्दर्भों से हम यह अन्दाजा लगा सकते हैं कि यह रावण का साम्राज्य था। किन्तु भगवान् रामचन्द्र द्वारा यह सम्राज्य को ध्वस्त कर दिया गया था।

ऐसी घटनाओं के अध्ययन से हम *ईश-विध्वंसिताशिषाम्* का पूरा अर्थ समझ सकते हैं। भगवान् कभी अपने भक्तों को भौतिक आशीष नहीं देते, क्योंकि इससे वे संसार में जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चक्र में पुन: उलझ जाएँगे। भौतिक ऐश्वर्य से रावण-जैसे व्यक्ति इन्द्रिय तृप्ति के लिए फूल उठते हैं। रावण ने सीता का, जो भगवान् रामचन्द्र की पत्नी तथा ऐश्वर्य की देवी थीं, यह सोचकर अपहरण करने का दु:साहस किया कि वह भगवान् की ह्लादिनी शक्ति को भोग सकेगा। किन्तु वास्तव में ऐसे कार्य से रावण विनष्ट हो गया। आज के समय की मानवीय सभ्यता आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति के प्रति इतनी अधिक आसक्त है कि वह विनाश के कगार पर खड़ी है।

तत्त्वं नरेन्द्र जगतामथ तस्थूषां च
देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम् ।
य: क्षेत्रवित्तपतया हृदि विश्वगावि:
प्रत्यक्चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तत्—अत:; त्वम्—तुम; नर-इन्द्र—हे श्रेष्ठ राजन्; जगताम्—चरों का; अथ—इसलिए; तस्थूषाम्—अचर; च—भी; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; असु—प्राण; धिषणा—विचार से; आत्मभि:—आत्म-साक्षात्कारसे; आवृतानाम्—इस प्रकार से आच्छादित लोगों का; य:—जो; क्षेत्र-वित्—क्षेत्र का ज्ञाता; तपतया—वश में करके; हृदि—हृदय में; विश्वक्—हर जगह; आवि:—अभिव्यक्त; प्रत्यक्—प्रत्येक रोमकूप में; चकास्ति—चमकता हुआ; भगवान्—श्रीभगवान्; तम्—उसको; अवेहि—जानने का प्रयास करो; स: अस्मि—मैं वह हूँ।.

सनत्कुमार ने राजा को उपदेश दिया—अत: हे राजा पृथु, उन भगवान् को समझने का प्रयास करो जो प्रत्येक हृदय में प्रत्येक जीव के साथ निवास कर रह रहे हैं, चाहे वह चर हो या अचर। प्रत्येक जीव स्थूल भौतिक शरीर से तथा प्राण एवं बुद्धि से निर्मित सूक्ष्म शरीर से पूर्णतया आवृत है।

तात्पर्य : इस श्लोक में विशेष रूप से यह उपदेश दिया गया है मनुष्य जीवन में आर्थिक विकास

के लिए प्रयत्न करने तथा इन्द्रियतृप्ति में समय गँवाने की अपेक्षा मनुष्य को चाहिए कि वह उन भगवान् को समझते हुए आध्यात्मिक गुणों के अनुशीलन का प्रयत्न करे, जो प्रत्येक जीव के हृदय में विराजमान हैं। आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही रूपों में एक साथ भगवान् इस शरीर में आसीन हैं, जो स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों से ढका रहता है। इसे समझ लेना ही वास्तविक आध्यात्मिक संस्कृति पाना है। आध्यात्मिक संस्कृति में प्रगति करने की दो विधियाँ हैं—एक तो निर्विशेषवादियों की विधि तथा दूसरी भक्ति। निर्विशेषवादी इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह तथा परमात्मा एक हैं, किन्तु भक्त अथवा सगुणवादी परम सत्य का साक्षात्कार यह समझकर कर सकता है कि *प्रभु* परम नियन्ता है, हम जीवात्माएँ उसी के अधीन हैं और हमारा धर्म है कि हम उसकी सेवा करें। वैदिक आदेश है—*तत्त्वमसि* ''तुम वही हो'' तथा *सोऽहम्* ''मैं वही हूँ।'' इन मंत्रों की निर्विशेषवादी व्याख्या है कि परमेश्वर या परम सत्य तथा जीवात्मा एक हैं, किन्तु भक्तों के मत से ये मंत्र इस पर बल देते हैं कि परमेश्वर तथा हम सभी समान गुण वाले हैं। *तत्त्वमसि, अयम् आत्मा ब्रह्म।* परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही आत्मा हैं। इसको समझना ही आत्म-साक्षात्कार है। यह मनुष्य जीवन आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा परमेश्वर तथा अपने आपको जानने के लिए है। मनुष्य को चाहिए कि केवल आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति में ही अमूल्य जीवन को विनष्ट न करे।

इस श्लोक में *क्षेत्रवित्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (१३.२) में इस शब्द की व्याख्या की गई है—*इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।* यह शरीर क्षेत्र (कर्मक्षेत्र) कहलाता है और शरीर के स्वामी (आत्मा तथा शरीर स्थित परमात्मा) *क्षेत्रवित्* कहलाते हैं। किन्तु इन दोनों क्षेत्रवितों में अन्तर है। एक *क्षेत्रवित्* अर्थात् शरीर का ज्ञाता परमात्मा है, जो प्रत्येक आत्मा को निर्देशित करता रहता है। परमात्मा से सही निर्देश प्राप्त करने पर सफलता प्राप्त होती है। वे भीतर तथा बाहर दोनों ओर से निर्देश देने वाले हैं। भीतर से वे *चैत्य गुरु* अर्थात् हृदय में स्थित गुरु के रूप में निर्देश देते हैं। अप्रत्यक्ष रूप में वे बाहर से गुरु के रूप में प्रकट होकर जीवात्मा की सहायता करते रहते हैं। दोनों ही तरह से भगवान् जीवात्मा को निर्देश देते रहते हैं जिससे वह भौतिक कार्यकलाप पूरा करके भगवान् के धाम वापस जा सके। कोई भी व्यक्ति चाहे तो वह शरीर के भीतर आत्मा तथा परमात्मा को देख सकता है, क्योंकि जब तक इन दोनों का शरीर के भीतर निवास रहता है तब तक शरीर आभामय और ताजा बना

रहता है। किन्तु इन दोनों के प्रयाण करते ही स्थूल शरीर सड़ने लगता है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से आगे है, वह मृत शरीर तथा सजीव शरीर में अन्तर जान कर सकता है। निष्कर्ष रूप में, मनुष्य को चाहिए कि तथाकथित आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति में अपना समय न गँवा कर परमात्मा तथा आत्मा एवं उनके सम्बन्ध को समझने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करे। इस प्रकार ज्ञान के बढ़ने से मनुष्य को मोक्ष तथा जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। कहा जाता है कि यदि कोई तथाकथित सांसारिक कर्तव्यों का परित्याग भी कर दे और मोक्ष मार्ग का अनुगमन करे तो भी वह घाटे में नहीं रहता। किन्तु जो व्यक्ति मोक्ष मार्ग को ग्रहण नहीं करता और फिर भी आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति सम्पन्न करता रहता है, वह सब कुछ खो देता है। इस प्रसंग में व्यासदेव के समक्ष नारद का यह कथन (भागवत १.५.१७) अत्यन्त उपयुक्त है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

यदि कोई व्यक्ति चाहे भावावेश में हो या अन्य किसी कारण से भगवान् के चरणारविन्द की शरण ग्रहण करता है और यदि कालक्रम में जीवन का चरम लक्ष्य नहीं प्राप्त कर पाता या अनुभव की कमी से नीचे गिर जाता है, तो कोई क्षति नहीं होती। किन्तु जो मनुष्य भक्ति न करके केवल अपने भौतिक कर्तव्य ही अच्छी तरह निबाहता है उसे कोई लाभ नहीं मिलता।

यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति
माया विवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः ।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्धतत्त्वं
प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये ॥ ३८॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; **इदम्**—यह; **सत्-असत्**—परमेश्वर तथा उनकी शक्तियाँ; **आत्मतया**—समस्त कार्य तथा कारण के मूल रूप; **विभाति**—प्रकट करता है; **माया**—माया, मोह; **विवेक-विधुति**—जानबूझ कर मुक्त किये गये; **स्रजि**—रस्सी में; **वा**—अथवा; **अहि**—सर्प; **बुद्धिः**—बुद्धि; **तम्**—उसको; **नित्य**—शाश्वत रूप से; **मुक्त**—मुक्त; **परिशुद्ध**—कल्मषहीन; **विशुद्ध**—शुद्ध; **तत्त्वम्**—सत्य; **प्रत्यूढ**—दिव्य; **कर्म**—सकाम कर्म; **कलिल**—अपवित्रताएँ; **प्रकृतिम्**—आध्यात्मिक शक्ति में स्थित; **प्रपद्ये**—आत्मसमर्पण करो।

भगवान् इस शरीर के भीतर कारण तथा कार्य के एकाकार रूप में अपने को प्रकट करते हैं, किन्तु जो विवेक रस्सी में सर्प के भ्रम को दूर करने वाला है, यदि उससे किसी ने माया को पार कर लिया है, तो वही यह समझ सकता है कि परमात्मा भौतिक सृष्टि से परे हैं और शुद्ध अन्तरंगा शक्ति में स्थित हैं। भगवान् समस्त भौतिक कल्मष से परे हैं और एकमात्र उन्हीं की शरण में जाना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक का मन्तव्य मायावादियों के आत्मा और परमात्मा के एकाकार होने के निष्कर्ष का खण्डन करना है। मायावादी निष्कर्ष यह है कि आत्मा तथा परमात्मा एक हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। मायावादियों का दावा है कि निर्गुण ब्रह्म से परे कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है और पृथकत्व की भावना ही माया है, जिस कारण मनुष्य रस्सी को सर्प समझ बैठता है। रस्सी तथा सर्प का दृष्टान्त आमतौर पर मायावादी दार्शनिक प्रस्तुत करते हैं। अत: *विवर्तवाद* के सूचक ये शब्द यहाँ पर विशेष रूप से आये हैं। वास्तव में परमात्मा ही भगवान् हैं और वह नित्य-मुक्त हैं। दूसरे शब्दों में, इस शरीर के भीतर आत्मा के साथ-साथ परमात्मा का भी निवास करता रहता है, जिसकी पुष्टि वेदों में भी की गई है। वे एक ही वृक्ष पर बैठे हुए दो मित्रों की भाँति हैं, तो भी परमात्मा माया से ऊपर है। माया को *बहिरंगा शक्ति* कहते हैं और जीवात्मा तटस्था शक्ति कहलाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। भौतिक शक्ति, जिसका प्रतिनिधित्व पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश इत्यादि के रूप में होता है तथा आत्मशक्ति अर्थात् जीवात्मा दोनों ही परमेश्वर की शक्तियाँ हैं। यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान एकरूप हैं, किन्तु जीवात्मा अर्थात् जीव बहिरंगा शक्ति से प्रभावित होने की सम्भावना के कारण भगवान् को अपने से अभिन्न मानता है।

इस श्लोक का *प्रपद्ये* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह *भगवद्गीता* के (१८.६६) निष्कर्ष का सूचक है—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* अन्यत्र भगवान् कहते हैं—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते* (*भगवद्गीता* ७.१९)। यह *प्रपद्ये* या *शरणं व्रज* परमात्मा के प्रति प्राणी के समर्पण का सूचक है। जब जीव आत्मसमर्पण कर चुकता है, तो उसकी समझ में आता है कि यद्यपि भगवान् उसके हृदय में स्थित हैं, किन्तु वे उससे श्रेष्ठ हैं। भगवान् सदैव संसार से परे हैं, यद्यपि भगवान् तथा संसार एक ही लगते हैं। वैष्णव दर्शन के अनुसार वे एक होने के साथ-साथ भिन्न भी हैं। भौतिक

शक्ति उनकी बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है और चूँकि शक्ति शक्तिमान से अभिन्न है, अत: ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् तथा आत्मा (जीव) एक हैं, किन्तु वास्तव में जीव भौतिक शक्ति के वश में रहता है, जबकि भगवान् सदा उससे परे। जब तक भगवान् जीव से श्रेष्ठ न हो तब तक *प्रपद्ये* अर्थात् शरण जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। *प्रपद्ये* शब्द भक्ति की विधि का सूचक है। मात्र रस्सी तथा सर्प के भक्तिहीन चिन्तन से कोई परम सत्य तक नहीं पहुँच सकता। अत: परम सत्य को समझने के लिए विचार-विमर्श या कल्पना की अपेक्षा भक्ति पर बल दिया गया है।

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद—चरण; पङ्कज—कमल; पलाश—पंखुड़ियाँ या अंगूठे; विलास—भोग; भक्त्या—भक्ति से; कर्म—सकाम कर्म; आशयम्—इच्छा; ग्रथितम्—कठोर ग्रंथि; उद्ग्रथयन्ति—समूल नष्ट कर देते हैं; सन्तः—भक्तजन; तत्—उसके; वत्—सदृश; न—कभी नहीं; रिक्त-मतयः—भक्ति से रहित मनुष्य; यतयः—अधिकाधिक प्रयत्न करके; अपि—यद्यपि; रुद्ध—बन्द; स्रोतः-गणाः—इन्द्रियसुख की लहरें; तम्—उसको; अरणम्—शरण ग्रहण करने योग्य; भज—भक्ति में लगो; वासुदेवम्—वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की।

जो भक्तजन नित्य ही भगवान् के चरणकमलों के अँगुष्ठों की सेवा में रत रहते हैं, वे सकाम कर्म की जोर से बँधी गाँठ जैसी इच्छाओं को सरलता से लाँघ जाते हैं। चूँकि ऐसा कर पाना दु:साध्य है, अत: अभक्तजन—ज्ञानी तथा योगी—इन्द्रियतृप्ति की तरंगों को रोकने का प्रयास करके भी ऐसा नहीं कर पाते। अत: तुम्हें आदेश है कि तुम वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की भक्ति में लग जाओ।

तात्पर्य : तीन प्रकार के अध्यात्मवादी—*ज्ञानी, कर्मी* तथा *भक्त*—प्रकृति के गुणों के प्रभाव पर काबू पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये सभी इन्द्रियों के प्रभाव को, जो नदी की निरन्तर लहरों के समान हैं, जीतने का प्रयत्न करते हैं। नदी की लहरें अनवरत उठती रहती हैं, उन्हें रोक पाना दुष्कर होता है। इसी प्रकार भौतिक सुख की इच्छा की लहरें भी इतनी प्रबल होती हैं कि उन्हें भक्तियोग के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं रोका जा सकता। *भक्तजन* भगवान् के चरणकमलों के प्रति अपनी दिव्य भक्ति के कारण दिव्य आनन्द से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि उनकी भौतिक सुख की इच्छाएँ

स्वयमेव रुक जाती हैं। ज्ञानी तथा योगी भगवान् के चरणकमलों में आसक्त न होने के कारण इच्छा की तरंगों से संघर्ष करते रहते हैं। उन्हें इस श्लोक में *रिक्तमतय:* कहा गया है, जिसका अर्थ है भक्ति से विहीन। दूसरे शब्दों में, यद्यपि ज्ञानी तथा योगी भौतिक कर्मों की इच्छाओं से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वस्तुत: वे इन्द्रियों के कार्यकलापों को रोकने के मिथ्या दार्शनिक चिन्तन या श्रमसाध्य प्रयत्नों में उलझते जाते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है (*भागवत* १.२.७)—

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

यहाँ भी उसी बात पर बल है। *भज वासुदेवम्* बताता है कि जो वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, वह सरलता से इच्छा की तरंगों को रोक सकता है। जब तक इन तरंगों को कृत्रिम ढंग से रोकने का प्रयास होता रहेगा, उसे असफलता ही हाथ लगेगी। इस श्लोक में यही संकेत मिलता है। सकाम कर्म की इच्छाओं की जड़ें गहरी होती हैं, किन्तु इच्छा रूपी वृक्षों को भक्ति से पूर्ण रूप से उन्मूलित किया जा सकता है, क्योंकि भक्ति श्रेष्ठ इच्छा का प्रयोग करती है। श्रेष्ठ इच्छाओं में लगे रहने से निकृष्ट इच्छाओं को त्यागा जा सकता है, इच्छा को रोक पाना असम्भव है। निकृष्ट इच्छाओं में प्रवृत्त न हों, इसके लिए परमेश्वर की इच्छा करनी होती है। ज्ञानी लोग परमेश्वर से एकाकार होने की इच्छा बनाये रखते हैं, किन्तु ऐसी इच्छा को भी काम-वासना माना जाता है। इसी प्रकार से योगी योगशक्ति की कामना करते हैं, किन्तु वह भी काम-वासना है। किन्तु भक्त इच्छारहित होने के कारण पवित्र हो जाते हैं। उन्हें इच्छा रोकने के लिए किसी कृत्रिम उपाय की आवश्यकता नहीं पड़ती। भगवान् के चरणकमलों के अँगूठों के संरक्षण में इच्छाएँ आध्यात्मिक सुख की साधन बन जाती हैं। यहाँ कुमारों द्वारा यह बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल समस्त सुखों (आनन्द) के आगार हैं। अत: वृथा ही भौतिक सुख के लिए इच्छाओं को रोकने का विफल प्रयास करने के बजाय मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करे। जब तक वह भौतिक सुख के लिए इच्छाओं को रोकने में असमर्थ रहता है, तब तक इस संसार के बन्धन से मुक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। यह तर्क किया जा सकता है कि नदी की तरंगें लगातार समुद्र की ओर बहती रहती हैं और उन्हें रोका नहीं जा सकता। जब ज्वार आता है, तो इससे नदी की धारा रुद्ध हो जाती है

और स्वयं नदी में बाढ़ आ जाती है। उस समय समुद्र की लहरें नदी की लहरों से अधिक मुखर हो उठती हैं। इसी प्रकार बुद्धिमान भक्त कृष्णचेतना में भगवान् की सेवा के हेतु कई तरह की योजनाएँ बनाता है, जिससे अचल भौतिक इच्छाएँ भगवान् की सेवा की इच्छाओं से आप्लावित हो जाती हैं। जैसाकि यामुनाचार्य ने पुष्टि की है कि जब से वे भगवान् के चरणकमलों की सेवा की ओर उन्मुख हुए, तब से नित्य ही भगवान् की सेवा करने की नवीन से नवीन इच्छाएँ उठती रहती हैं, जिसके फलस्वरूप विषयी जीवन की अचल इच्छा तुच्छ पड़ गई है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि वे ऐसी इच्छाओं पर थूकते हैं। *भगवद्गीता* (२.५९) भी पुष्टि करती है— *परं दृष्ट्वा निवर्तते*—निष्कर्षत: भगवान् के चरणकमलों की सेवा के लिए प्रेमपूर्ण इच्छा विकसित करने से इन्द्रियतृप्ति की सारी इच्छाएँ दमित हो सकती हैं।

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षन्ति ।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्र:—कष्टकारक; महान्—अत्यधिक; इह—यहाँ (इस जीवन में); भव-अर्णवम्—संसार रूपी समुद्र; अप्लव-ईशाम्—अभक्तों का जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों की शरण नहीं ग्रहण की; षट्-वर्ग—छहों इन्द्रियाँ; नक्रम्—मगर; असुखेन—अत्यन्त कठिनाई से; तितीर्षन्ति—पार करते हैं; तत्—अत:; त्वम्—तुम; हरे:—भगवान् के; भगवत:—परमेश्वर के; भजनीयम्—आराधनीय; अङ्घ्रिम्—चरणकमल को; कृत्वा—करके; उडुपम्—नाव; व्यसनम्—सभी प्रकार के संकट; उत्तर—पार करो; दुस्तर—अत्यन्त कठिन; अर्णम्—सागर को।.

अज्ञान के सागर को पार करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उसमें अनेक भयानक मगरमच्छ भरे पड़े हैं। जो भक्त नहीं हैं, वे इस समुद्र को पार करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु हम तुम्हारे लिए बता रहे हैं कि तुम एकमात्र भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लो, वे समुद्र को पार करने के लिए नाव के समान हैं। यद्यपि सागर को लाँघना कठिन है, किन्तु भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके तुम सभी संकटों को पार कर जाओगे।

तात्पर्य : यहाँ पर संसार की तुलना अज्ञान के विशाल सागर से की गई है। इस सागर का दूसरा नाम *वैतरणी* है। वैतरणी समुद्र कारणार्णव है, जिसमें असंख्य ब्रह्माण्ड गेंदों के समान तैर रहे हैं। इस सागर की दूसरी ओर (उस पार) वैकुण्ठ का दिव्य लोक है, जिसे *भगवद्गीता* (८.२०) में *परस्तस्मात्तु*

भावोऽन्यः कहा गया है। इस प्रकार इस भौतिक प्रकृति के परे एक निरन्तर विद्यमान रहने वाली आध्यात्मिक प्रकृति है। यद्यपि कारणार्णव में सारे भौतिक ब्रह्माण्ड बारम्बार विलीन होते रहते हैं, किन्तु वैकुण्ठलोक आध्यात्मिक होने के कारण कभी विनष्ट नहीं होते। वे नित्य विद्यमान रहते हैं। मनुष्य शरीर धारण करने से जीवात्मा को अज्ञान सागर, जो यही भौतिक ब्रह्माण्ड है, पार कर के परव्योम में प्रवेश होने का अवसर प्राप्त होता है। यद्यपि अनेक उपायों या नावों से समुद्र पार किया जा सकता है, किन्तु कुमारगण राजा को भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने की सलाह देते हैं जैसे मनुष्य किसी अच्छी नाव का सहारा लेना चाहेगा। अभक्त लोग जो भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करते, अन्य उपायों (*कर्म, ज्ञान* तथा *योग*) से अज्ञान के सागर को पार करने का यत्न करते हैं, किन्तु उन्हें इसमें काफी कठिनाई उठानी पड़ती है। कभी-कभी तो वे इतनी कठिनाई में फँस जाते हैं कि समुद्र पार ही नहीं कर पाते। अभक्तों को इसकी गारंटी नहीं कि वे समुद्र को पार कर ही लें और यदि वे पार कर भी लेंगे तो उन्हें कठिन तपस्या करनी होती है। दूसरी ओर यदि कोई भक्ति करता है और यह श्रद्धा रखता है, तो भगवान् के चरणकमल ऐसी नाव हैं, जो उसे समुद्र के पार आसानी से और सुख पूर्वक उतार देंगे।

इसीलिए पृथु महाराज को समस्त संकटों को पार करने के लिए भगवान् के चरणारविन्द रूपी नाव को ग्रहण करने की सलाह दी गई है। ब्रह्माण्ड के घातक तत्त्वों की तुलना समुद्री मगरों से की गई है। कोई भले ही कितना कुशल तैराक क्यों न हो, किन्तु उस पर यदि मगरमच्छ आक्रमण कर दें तो वह बच नहीं पाता। कभी-कभी देखा जाता है कि अनेक तथाकथित स्वामी तथा योगी अपने आपको विज्ञापित करते हैं कि वे अज्ञान के सागर को पार कर सकते हैं और अन्यों को भी पार करने में सहायता कर सकते हैं, किन्तु वास्तव में वे अपनी ही इन्द्रियों के शिकार होते हैं। अपने अनुयायियों को अज्ञान रूपी समुद्र को पार कराना तो दूर रहा, ऐसे योगी तथा स्वामी स्त्री रूपी माया के शिकार हो जाते हैं और उस समुद्र के मगरों द्वारा निगल लिए जाते हैं।

मैत्रेय उवाच

स एवं ब्रह्मपुत्रेण कुमारेणात्ममेधसा ।
दर्शितात्मगतिः सम्यक्प्रशस्योवाच तं नृपः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; सः—राजा; एवम्—इस प्रकार; ब्रह्म-पुत्रेण—ब्रह्मा के पुत्र द्वारा; कुमारेण—कुमारों में से एक के द्वारा; आत्म-मेधसा—आत्मज्ञान में पारंगत; दर्शित—दिखाया जाकर; आत्म-गतिः—आध्यात्मिक प्रगति; सम्यक्—पूर्णतया; प्रशस्य—पूजा करके; उवाच—कहा; तम्—उससे; नृपः—राजा ने।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : इस प्रकार ब्रह्मा के पुत्र कुमारों में से एक के द्वारा जो पूर्ण आत्मज्ञानी था, पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त करके राजा ने उनकी निम्नलिखित शब्दों से आराधना की।

तात्पर्य : इस श्लोक के *आत्म-मेधसा* शब्द की टीका श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने की है। वे कहते हैं आत्मनि का अर्थ है—''भगवान् श्रीकृष्ण में या परमात्मनि।'' भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। ईश्वर: परम: कृष्ण: (*ब्रह्म-संहिता* ५.१)। अत: जिसका मन कृष्णचेतना में लगा हो वह *आत्म-मेधा:* है। इसका विलोम शब्द *गृहमेधी* है, जिससे ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जिसका मन सदैव भौतिक कार्यों के चिन्तन में उलझा रहता है। *आत्म-मेधा:* सदैव कृष्णचेतना में श्रीकृष्ण के कार्यकलापों का चिन्तन करता रहता है। चूँकि ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमार पूर्णत: श्रीकृष्ण के भक्त थे, अत: वे आत्मोन्नति का मार्ग बता सकते थे। *आत्मगति:* शब्द कर्मों के उस पथ का सूचक है, जिससे मनुष्य श्रीकृष्ण को जान सकता है।

राजोवाच
कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणार्तानुकम्पिना ।
तमापादयितुं ब्रह्मन्भगवन्यूयमागताः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; कृतः—किया हुआ; मे—मेरे प्रति; अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा; पूर्वम्—पहले; हरिणा—भगवान् विष्णु द्वारा; आर्त-अनुकम्पिना—दुखी पुरुषों पर दयालु; तम्—उस; आपादयितुम्—पुष्टि के लिए; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवन्—हे शक्तिमान; यूयम्—तुम सब; आगताः—यहाँ आये हो।

राजा ने कहा : हे ब्राह्मण, हे शक्तिमान, पहले भगवान् विष्णु ने मुझ पर अहैतुकी कृपा प्रदर्शित की थी और यह संकेत किया था कि आप मेरे घर पधारेंगे। आप लोग उसी आशीर्वाद की पुष्टि करने के लिए यहाँ पर आये हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु उस समय यज्ञस्थल पर प्रकट हुए थे जब राजा पृथु महान् यज्ञ (अश्वमेध) कर रहे थे और तब उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि कुमारगण शीघ्र ही आएँगे और राजा को उपदेश देंगे। अत: महाराज पृथु को भगवान् की अहैतुकी कृपा का स्मरण था, इसलिए उन्होंने कुमारों के आगमन पर उनका स्वागत किया, क्योंकि वे भगवान् की भविष्यवाणी को पूरा कर रहे थे।

दूसरे शब्दों में, जब भगवान् कोई भविष्यवाणी करते हैं, तो वे उसे किसी भक्त के माध्यम से पूरा करते हैं। इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु ने भविष्यवाणी की थी कि भगवान् के महिमामय नाम का तथा हरे कृष्ण महामंत्र का विश्व के समस्त नगरों तथा गाँवों में प्रसार होगा। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर तथा श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद ने इस महान् भविष्यवाणी को पूरा करने की इच्छा व्यक्त की और हम उन्हीं के पदचिह्नों का अनुगमन कर रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों के विषय में अर्जुन से कहा (*भगवद्गीता* ९.३१)—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*—"हे कुन्तीपुत्र। तुम घोषणा करके बता दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होगा।" भगवान् चाहते तो यह घोषणा स्वयं कर सकते थे, किन्तु उनकी इच्छा थी कि अर्जुन यह घोषणा करे और इस प्रकार आश्वस्त होना चाहते थे कि उनका वचन खण्डित न हो। भगवान् स्वयं वचन देते हैं और उनके विश्वासपात्र भक्त उस वचन को पूरा करते हैं। भगवान् विपत्तिग्रस्त मानवता के लाभ हेतु अनेक वचन देते रहते हैं। यद्यपि भगवान् विपत्तिग्रस्त मानव पर दयालु रहते हैं, किन्तु मनुष्य सामान्यत: उनकी सेवा करने के आतुर नहीं रहते। यह सम्बन्ध पिता तथा पुत्र जैसा है। पिता अपने पुत्र के कल्याण की सदैव कामना करता है, भले ही पुत्र पिता की उपेक्षा करे या उसे भूल जाए। *अनुकम्पिना* शब्द महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर जीवात्माओं पर इतने दयालु होते हैं कि वे पतितात्माओं के लाभ हेतु स्वयं इस संसार में अवतरित होते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का उत्कर्ष होता है, उस समय, हे अर्जुन! मैं अवतरित होता हूँ" (*भगवद्गीता* ४.७)।

अत: भगवान् केवल दयावश अपने विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण पतित आत्माओं पर दया करने के लिए ही इस लोक में प्रकट हुए; भगवान् बुद्ध असुरों द्वारा मारे जाने वाले निरीह पशुओं के प्रति दयाभाव से प्रकट हुए; भगवान् नृसिंह देव प्रह्लाद महाराज पर दया करने के लिए प्रकट हुए। निष्कर्ष यह कि भगवान् इस संसार में पतितात्माओं पर इतने दयालु रहते हैं कि या तो वे स्वयं प्रकट होते हैं या अपने भक्तों तथा दासों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए भेजते हैं जिससे सारे पतित जीव

भगवान् के धाम वापस चले जाँए। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने सारे मानव समाज के लाभ के लिए अर्जुन को *भगवद्गीता* का उपदेश दिया। अत: बुद्धिमान लोगों को इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के विषय में भी गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और उनके शुद्ध भक्तों द्वारा यथारूप प्रचारित *भगवद्गीता* के उपदेशों का लाभ उठाना चाहिए।

निष्पादितश्च कार्त्स्न्येन भगवद्भिर्घृणालुभिः ।
साधूच्छिष्टं हि मे सर्वमात्मना सह किं ददे ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

निष्पादितः च—तथा आज्ञा का समुचित पालन हो गया; कार्त्स्न्येन—पूर्णतः; भगवद्भिः—भगवान् के प्रतिनिधियों द्वारा; घृणालुभिः—अत्यन्त दयालु द्वारा; साधु-उच्छिष्टम्—साधु पुरुषों का जूठन; हि—निश्चय ही; मे—मेरा; सर्वम्—हर चीज; आत्मना—हृदय तथा आत्मा; सह—साथ; किम्—क्या; ददे—दूँ।

हे ब्राह्मण, आपने तो भगवान् के आदेश का सम्यक् पालन किया है, क्योंकि आप उन्हीं के समान उदार भी हैं। अत: यह मेरा कर्तव्य है कि आपको कुछ अर्पित करूँ, किन्तु मेरे पास जो कुछ भी है, वह साधु पुरुषों के भोजन में से बचा-खुचा प्रसाद ही है। मैं आपको क्या दूँ?

तात्पर्य : इस श्लोक में *साधूच्छिष्टम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पृथु महाराज को अपना राज्य भृगु तथा अन्य साधु पुरुषों से वैसे ही प्राप्त हुआ था जैसे किसी को उच्छिष्ट (जूठन या प्रसाद) प्राप्त हो। राजा वेन की मृत्यु के बाद सारा विश्व लोकप्रिय शासक से वंचित हो चुका था। अनेक आपत्तियाँ घिरने लगी थीं, अत: भृगु आदि ऋषियों ने राजा वेन के मृत शरीर से राजा पृथु के शरीर को उत्पन्न किया। चूँकि राजा पृथु को ऋषियों की कृपा से राज्य प्राप्त हुआ था, अत: वे अपने राज्य को कुमारों जैसे ऋषियों में वितरित करना नहीं चाह रहे थे। जब पिता भोजन करता रहता है, तो वह दयावश पुत्र को भी जूठन दे सकता है, किन्तु यह जूठन पुन: पिता को नहीं दिया जा सकता, भले ही यह उसी के द्वारा चर्वित हो चुका हो। पृथु महाराज की स्थिति कुछ ऐसी ही थी। उनके पास जो भी था वह उच्छिष्ट (जूठन) रूप में था, अत: उसे वे कुमारों को नहीं दे सकते थे। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने कुमारों को अपना सब कुछ दे डाला, फलत: उन्होंने उसे जिस रूप में चाहा उपभोग किया। यह अगले श्लोक से स्पष्ट होगा।

प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन्गृहाश्च सपरिच्छदाः ।
राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

प्राणाः—**प्राण, जीवन**; दाराः—**स्त्री**; सुताः—**सन्तानें**; ब्रह्मन्—**हे ब्राह्मण**; गृहाः—**घर**; च—**भी**; स—**सहित**; परिच्छदाः—**समस्त सामग्री**; राज्यम्—**राज्य**; बलम्—**शक्ति, सेना**; मही—**धरती**; कोशः—**खजाना**; इति—**इस प्रकार**; सर्वम्—**सब कुछ**; निवेदितम्—**अर्पित**।

राजा ने आगे कहा : अतः हे ब्राह्मणो, मेरा प्राण, पत्नी, बच्चे, घर, घर का साज-सामान, मेरा राज्य, सेना, पृथ्वी तथा विशेष रूप से मेरा राजकोष—ये सब आपको अर्पित हैं।

तात्पर्य : *दाराः* के स्थान पर कहीं-कहीं *रायः* पाठ मिलता है, जिसका अर्थ होता है "सम्पत्ति।" भारत में अब भी ऐसे धनी व्यक्ति हैं, जो राज्य द्वारा राय के रूप में सम्मानित हैं। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का एक महान् भक्त रामानन्द राय कहलाता था, क्योंकि यह मद्रास का राज्यपाल था और अत्यन्त धनी था। अब भी अनेक राय उपाधिधारी हैं—राय बहादुर, राय चौधरी इत्यादि। *दाराः* अर्थात् पत्नी को ब्राह्मणों को दिये जाने की अनुमति नहीं है। दान के पात्र को सब कुछ प्रदान किया जाता है, किन्तु कहीं भी यह नहीं पाया जाता कि पत्नी दान में दी जाये; अतः यहाँ पर *दाराः* के स्थान पर *रायः* पाठ अधिक उपयुक्त है। यही नहीं, चूँकि पृथु महाराज ने कुमारों को सर्वस्व अर्पित कर दिया, अतः *कोशः* (खजाना) का पृथक् उल्लेख नहीं होना चाहिए था। राजे तथा महाराजे अपना निजी कोश रखते थे जिसे *रत्न-भाण्ड* कहा जाता था। *रत्न-भाण्ड* विशेष प्रकार का कोश-कक्ष होता था जिसमें विशेष प्रकार के हीरे-जवाहरात तथा चूड़ियाँ, हार इत्यादि रखे जाते थे और ये नागरिकों द्वारा राजा को भेंटस्वरूप प्राप्त होते थे। ये हीरे-जवाहरात नियमित कोश से पृथक् रखे जाते थे जिसमें भूमि-कर आदि संचित होता था। इस प्रकार पृथु महाराज ने कुमारों के चरणकमलों में अपना निजी कोष (हीरे-जवाहरात) अर्पित कर दिया। यह पहले ही स्वीकार किया जा चुका है कि राजा पृथु की सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों की थी। वह तो राज्य के कल्याण के लिए उसका उपयोग कर रहा था। यदि यह सम्पत्ति वास्तव में ब्राह्मणों की थी तो वह किस प्रकार पुनः उन्हें प्रदान की जा सकती है? इस सम्बन्ध में *श्रीपाद श्रीधर स्वामी* ने व्याख्या की है कि यह भेंट तो वैसी है जैसे दास द्वारा अपने स्वामी को दिया गया भोजन। भोजन पहले से स्वामी का होता है, क्योंकि वह उसके द्वारा खरीदा हुआ होता है, किन्तु सेवक भोजन बनाकर स्वामी के खाने योग्य बनाता है और उसे प्रदान करता है। इस तरह पृथु महाराज के पास जो कुछ था, उसे उन्होंने कुमारों को अर्पित कर दिया।

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्व लोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सैना-पत्यम्—**सेनापति का पद**; च—**तथा**; राज्यम्—**शासक का पद**; च—**तथा**; दण्ड—**अनुशासन**; नेतृत्वम्—**नेतृत्व**; एव—**निश्चय ही**; च—**तथा**; सर्व—**समस्त**; लोक-अधिपत्यम्—**लोकों का स्वामित्व**; च—**तथा**; वेद-शास्त्र-वित्—**वैदिक साहित्य का ज्ञाता**; अर्हति—**पात्र होता है**।

चूँकि केवल ऐसा व्यक्ति, जो वैदिक ज्ञान के अनुसार पूर्ण रूप से शिक्षित हो, सेनापति, राज्य का शासक, दण्डदाता तथा सारे लोक का स्वामी होने का पात्र होता है, अतः पृथु महाराज ने कुमारों को सर्वस्व अर्पित कर दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि केवल साधु पुरुषों तथा कुमारों-जैसे ब्राह्मणों के आदेशों पर राज्य का शासन चलाया जाना चाहिए। जब संसार भर में राजतंत्र का बोलबाला था, तो राजा को साधु-पुरुष तथा ब्राह्मणों की परिषद् ही निर्देश देती थी। राज्य का शासक अर्थात् राजा ब्राह्मणों के दास के रूप में अपना कार्य करता था। ऐसा नहीं था कि ब्राह्मण या राजागण तानाशाह थे, न ही वे अपने को राज्य का स्वामी समझते थे। राजा भी वैदिक साहित्य में पारंगत होते थे और इस तरह वे *ईशोपनिषद्* के इस आदेश से परिचित होते थे—*ईशावास्यमिदं सर्वम्*—जो कुछ भी विद्यमान है, वह भगवान् का है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण भी कहते हैं कि वे सभी लोकों के स्वामी हैं (*सर्व-लोकमहेश्वरम्*)। ऐसा होने से कोई भी अपने को राज्य का स्वामी नहीं कह सकता। राज्य के राजा, राष्ट्रपति या अध्यक्ष को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि वह स्वामी नहीं, अपितु दास है।

वर्तमान युग के राजा या राष्ट्रपति यह भूल जाते हैं कि वे ईश्वर के दास हैं। वे अपने को जनता का दास समझते हैं। वर्तमान प्रजातंत्र सरकार अपने को जनता की सरकार घोषित करती है—ऐसी सरकार जो जनता द्वारा जनता के लिए बनी है, किन्तु वेदों में इस प्रकार की सरकार की स्वीकृति नहीं दी गई है। वेदों का मत है कि राज्य का संचालन भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होना चाहिए, अतः इसे भगवान् के प्रतिनिधि द्वारा शासित होना चाहिए। यदि राज्य का अध्यक्ष वैदिक ज्ञान से विहीन हो तो उसे शासक नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि सभी उच्च सरकारी पद ऐसे व्यक्तियों के लिए हैं, जो वेदों की शिक्षाओं से ज्ञात हों (*वेदशास्त्रविद् अर्हति*)। वेदों में निश्चित आदेश है कि राजा, सेनापति, सैनिक तथा नागरिक किस प्रकार आचरण करें। दुर्भाग्यवश इस युग में अनेक ऐसे तथाकथित दार्शनिक हैं, जो किसी प्रमाण का उद्धरण दिये बिना आदेश देते हैं और अनेक

नेता उनके अवैधानिक आदेश का पालन करते हैं। फलतः लोग प्रसन्न नहीं हैं।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत द्वंद्वात्मक साम्यवाद का आधुनिक सिद्धान्त, जिसका अनुसरण साम्यवादी सरकारें कर रही हैं, पूर्ण नहीं है। वैदिक साम्यवाद के अनुसार राज्य के किसी भी व्यक्ति को भूखों नहीं मरना चाहिए। इस समय ऐसी अनेक भ्रष्ट संस्थाएँ हैं, जो भूखे लोगों को भोजन प्रदान करने के उद्देश्य से जनता से धन एकत्र कर रही हैं, किन्तु वे इस धन का निश्चित रूप से दुरुपयोग ही करती हैं। वैदिक आदेशों के अनुसार सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि भुखमरी का प्रश्न ही न उठे। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि गृहस्थ को चाहिए कि वह छिपकली या सर्प तक को भूखों न मरने दे, उन्हें भी भोजन दिया जाये। वास्तव में भुखमरी का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है और वे ऐसी व्यवस्था करते हैं कि हर एक को भोजन मिले। वेदों में (*कठोपनिषद्* २.२.१३) में कहा गया है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्।* परमेश्वर हर एक को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करता है, अतः भुखमरी का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई भूखों मरता है, तो तथाकथित शासक, अधीक्षक या राष्ट्रपति की दुर्व्यवस्था के कारण ऐसा होता है।

अतः यह स्पष्ट है, जो व्यक्ति वैदिक आदेशों में पारंगत (*वेदशास्त्रवित्*) न हो वह राष्ट्रपति, अधीक्षक आदि का चुनाव न लड़े। पहले के राजा राजर्षि होते थे, जिसका अर्थ होता है कि यद्यपि वे राजा की तरह से कार्य करते थे, किन्तु वे साधु पुरुष होते थे, क्योंकि वे वेदों की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं करते थे और साधु पुरुषों तथा ब्राह्मणों के आदेशों के अनुसार राज्य करते थे। इस व्यवस्था के अनुसार आज के सारे राष्ट्रपति, अधीक्षक तथा मुख्य कार्यकारी अपने-अपने पदों के लिए अयोग्य हैं, क्योंकि उन्हें वैदिक प्राशासनिक ज्ञान नहीं है और वे बड़े-बड़े साधुओं तथा ब्राह्मणों से निर्देश नहीं प्राप्त करते। वेदों तथा ब्राह्मणों के आदेशों की अवज्ञा के कारण ही पृथु महाराज के पिता राजा वेन को ब्राह्मणों ने मार डाला था। अतः पृथु महाराज भली-भाँति जानते थे कि उन्हें साधु पुरुषों तथा ब्राह्मणों के सेवक के रूप में इस लोक का शासन करना शोभा देता है।

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

स्वम्—अपना; एव—ही; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; भुङ्क्ते —भोगता है; स्वम्—अपना; वस्ते—पहनता है; स्वम्—अपना; ददाति—दान देता है; च—तथा; तस्य—उसकी; एव—ही; अनुग्रहेण—कृपा से; अन्नम्—अन्न; भुञ्जते—खाता है; क्षत्रिय-आदयः—क्षत्रिय आदि समाज के अन्य वर्ण।

क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र केवल ब्राह्मणों की कृपा से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। केवल ब्राह्मण ही ऐसे हैं, जो अपनी ही सम्पत्ति का भोग करते हैं, अपने कपड़े पहनते हैं और अपना ही धन दान में देते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की पूजा *नमो ब्रह्मण्य देवाय* शब्दों से की जाती है, जिससे सूचित होता है कि परमेश्वर ब्राह्मणों को पूज्य देव मानते हैं। परमेश्वर सबों द्वारा पूज्य हैं, किन्तु अन्यों को शिक्षा देने के लिए वे ब्राह्मणों की पूजा करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मणों के आदेशों का पालन करना चाहिए, क्योंकि उनका एकमात्र कार्य *शब्द-ब्रह्म* अर्थात् वैदिक ज्ञान को सारे संसार में प्रसारित करना है। जब भी वैदिक ज्ञान के प्रसार हेतु ब्राह्मणों का अभाव होता है, तो मानव समाज में अव्यवस्था फैल जाती है। चूँकि ब्राह्मण तथा वैष्णव भगवान् के प्रत्यक्ष सेवक (दास) होते हैं, अत: वे अन्यों पर आश्रित नहीं रहते। वास्तव में संसार की सारी वस्तुएँ ब्राह्मणों की हैं, किन्तु वे विनयवश क्षत्रियों या राजाओं तथा वैश्यों या व्यापारियों से दान ग्रहण करते हैं। प्रत्येक वस्तु ब्राह्मणों की है, किन्तु क्षत्रिय सरकार तथा व्यापारी वर्ग को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु को बैंकरों की भाँति अपनी अमानत में रखें और जब भी ब्राह्मणों को धन की आवश्यकता पड़े तो क्षत्रिय तथा वैश्य तुरन्त उसकी पूर्ति करें। यह बचतखाते की भाँति है, जिसका जमाकर्ता इच्छानुसार अपना धन निकाल सकता है। भगवान् की सेवा में रत रहने के कारण ब्राह्मणों के पास इतना समय नहीं कि संसार-भर की अर्थ-व्यवस्था को सँभालें, अत: सारी पूँजी क्षत्रियों या राजाओं द्वारा रखी जाती है, जो ब्राह्मणों के माँगने पर उस पूँजी को प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में ब्राह्मण या वैष्णव पराये खर्चे पर जीवनयापन नहीं करते; वे अपना खर्च करते हैं, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वे धन को अन्यों से एकत्र कर रहे हैं। क्षत्रियों तथा वैश्यों को दान देने का अधिकार नहीं है, क्योंकि उनके पास जो कुछ भी रहता है, वह ब्राह्मणों का होता है। अत: केवल ब्राह्मणों के आदेश पर ही क्षत्रिय तथा वैश्य दान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश इस समय ब्राह्मणों का अभाव है और चूँकि तथाकथित क्षत्रिय तथा वैश्य ब्राह्मणों के आदेशों का पालन नहीं करते फलस्वरूप संसार में अराजकता फैली हुई है।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति संकेत करती है कि क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ब्राह्मणों की कृपा से ही

भोजन पाते हैं। दूसरे शब्दों में, उन्हें ब्राह्मणों द्वारा वर्जित कोई भी चीज नहीं खानी चाहिए। ब्राह्मण तथा वैष्णव जानते हैं कि क्या खाना चाहिए और वे कोई ऐसी वस्तु नहीं खाते जो पहले भगवान् को अर्पित न की जा चुकी हो। वे केवल प्रसाद अर्थात् भगवान् को अर्पित भोजन का जूठन खाते हैं। क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को केवल कृष्ण-प्रसाद खाना चाहिए जो उन्हें ब्राह्मणों की कृपा से प्रदान किया जाता है। वे कसाईघर खोलकर मांस, मछली या अंडा नहीं खा सकते, न शराब पी सकते हैं और न बिना अनुमति के इस कार्य के लिए धन अर्जित कर सकते हैं। चूँकि वर्तमान युग में समाज का संचालन ब्राह्मणों के आदेशों से नहीं होता, अत: सारी जनता पापकर्मों में डूबी है। फलस्वरूप सबों को प्रकृति दंडित कर रही है। कलियुग की दशा ऐसी ही है।

यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवाद
एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः ।
तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं
को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

यैः—उनके द्वारा; ईदृशी—इस प्रकार की; भगवतः—भगवान् की; गतिः—गति; आत्म-वादे—आध्यात्मिक विचार; एकान्ततः—पूर्ण जानकारी में; निगमिभिः—वैदिक साक्ष्यों से; प्रतिपादिता—निश्चित रूप से स्थापित; नः—हमको; तुष्यन्तु—तुष्ट हों; अदभ्र—अनन्त; करुणाः—कृपा; स्व-कृतेन—अपने कार्य से; नित्यम्—शाश्वत; कः—कौन; नाम—कोई नहीं; तत्—वह; प्रतिकरोति—प्रतिकार या बदला ले सकता है; विना—रहित; उद-पात्रम्—अंजली में पानी देना।

पृथु महाराज ने आगे कहा : जिन व्यक्तियों ने भगवान् के सम्बन्ध में आत्म-साक्षात्कार के पथ को बता कर अपार सेवा की हो और जिनकी व्याख्याएँ पूर्ण विश्वास एवं वैदिक साक्ष्य द्वारा हमारे उत्थान के लिए की जाती हों, भला उनसे उऋण होने के लिए अंजुली-भर जल के अतिरिक्त और क्या अर्पित किया जा सकता है? ऐसे महापुरुषों को उनके ही कार्यों के द्वारा सन्तुष्ट किया जा सकता है, जो उनकी अपार कृपावश मानव समाज के बीच में संवितरित हुए हैं।

तात्पर्य : संसार के महापुरुष मानव समाज के कल्याण हेतु सेवा करने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु वह व्यक्ति सबसे बड़ी सेवा करता है, जो भगवान् के सम्बन्ध में आत्म-साक्षात्कार सम्बन्धी ज्ञान का वितरण करता है। समस्त जीवात्माएँ माया के चंगुल में हैं, किन्तु वे अपनी वास्तविक पहचान को भूल कर शान्तिपूर्ण जीवन बिताने के लिए एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करते हुए संसार में भटकती

रहती हैं। किन्तु इन जीवात्माओं को आत्म-साक्षात्कार का रंचमात्र ज्ञान न होने से मानसिक शान्ति तथा स्थायी सुख की इच्छा रखते हुए भी चैन नहीं मिलता। कुमारगण, नारद, प्रह्लाद, जनक, शुकदेव गोस्वामी, कपिल देव जैसे साधु पुरुष तथा वैष्णव आचार्यों के अनुयायी एवं दास भी भगवान् एवं जीवात्मा सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार करके मानवता की बहुमूल्य सेवा कर सकते हैं। ऐसा ज्ञान मानवता के लिए वरदान है।

श्रीकृष्ण का ज्ञान ऐसा ही एक महान् उपहार है, कि लाभ-दाता को जिसका बदला चुका पाना असम्भव है। इसीलिए पृथु महाराज ने कुमारों से प्रार्थना की कि वे जीवों को माया के चंगुल से उबारने के अपने उपकारी कार्यों से ही तुष्ट हों। राजा ने देखा कि उनके महान् कार्यों के लिए उन्हें सन्तुष्ट करने का कोई अन्य साधन नहीं है। *विनोद-पात्रम्* शब्द को दो शब्दों में विभाजित किया जा सकता है—*विना* तथा *उद-पात्रम्* या फिर इसे एक ही शब्द मानने पर इसका अर्थ होगा 'हँसाने वाला', 'मसखरा'। मसखरे का कार्य केवल हँसाना है और जो व्यक्ति गुरु या कृष्ण के दिव्य सन्देश के शिक्षक से उऋण होने का प्रयास करता है, वह मसखरे की तरह उपहास का पात्र बन जाता है, क्योंकि ऐसे ऋण को चुका पाना असम्भव है। सबों का श्रेष्ठ मित्र तथा उपकारी वह है, जो मनुष्यों में मूल कृष्णचेतना जागरित कर सके।

मैत्रेय उवाच
त आत्मयोगपतय आदिराजेन पूजिताः ।
शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभवन्मिषतां नृणाम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; ते—वे; आत्म-योग-पतयः—भक्ति द्वारा आत्म-साक्षात्कार के स्वामी; आदि-राजेन—मूल राजा (पृथु) द्वारा; पूजिताः—पूजित; शीलम्—आचरण; तदीयम्—राजा का; शंसन्तः—प्रशंसति होकर; खे—आकाश में; अभवन्—प्रकट हुआ; मिषताम्—देखते हुए; नृणाम्—मनुष्यों के।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : महाराज पृथु द्वारा इस प्रकार पूजित होकर भक्ति में प्रवीण ये चारों कुमार अत्यन्त गद्‌गद हुए। दरअसल वे आकाश में दिखाई पड़े और उन्होंने राजा के शील की प्रशंसा की और सभी लोगों ने उनके दर्शन किये।

तात्पर्य : कहा जाता है कि देवता कभी भूतल का स्पर्श नहीं करते। वे केवल आकाश में ही चलते-फिरते और यात्रा करते हैं। महर्षि नारद की भाँति ही कुमारों को भी आकाश में यात्रा करने के

लिए किसी यान (यंत्र) की आवश्यकता नहीं पड़ती। सिद्धलोक के वासी भी बिना यान के अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते हैं। चूँकि वे एक लोक से दूसरे लोक को जा सकते हैं, इसलिए वे *सिद्ध* कहलाते हैं—अर्थात् उन्होंने सभी योग शक्तियाँ प्राप्त की हैं। ऐसे योगसिद्ध पुरुष इस युग में पृथ्वी पर नहीं मिलते, क्योंकि मानवता इसकी पात्र नहीं है। फिर भी कुमारों ने महाराज पृथु के गुणों की तथा उनकी भक्तिमयता एवं विनयशीलता की प्रशंसा की। वे राजा पृथु की पूजा-विधि से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। महाराज पृथु की अनुकम्पा से ही उनकी प्रजा कुमारों को आकाश मार्ग में उड़ते देख सकी।

वैन्यस्तु धुर्यो महतां संस्थित्याध्यात्मशिक्षया ।
आप्तकाममिवात्मानं मेन आत्मन्यवस्थितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

वैन्यः—वेन महाराज के पुत्र (पृथु); तु—निस्सन्देह; धुर्यः—प्रमुख; महताम्—महापुरुषों के; संस्थित्या—पूर्णतया स्थिर होकर; आध्यात्म-शिक्षया—आत्म-साक्षात्कार के विषय में; आप्त—लब्ध; कामम्—इच्छाएँ; इव—सदृश; आत्मानम्—आत्मतोष में; मेने—विचार किया; आत्मनि—अपने में; अवस्थितः—स्थित।

महाराज पृथु अपने तत्त्वज्ञान में पूर्ण रूप से स्थित होने के कारण महापुरुषों में प्रमुख थे। वे आध्यात्मिक ज्ञान में सफलता प्राप्त व्यक्ति की भाँति परम संतुष्ट थे।

तात्पर्य : भक्ति में स्थिर रहने से मनुष्य को अत्यन्त आत्मतोष होता है। वास्तव में आत्मतोष तो शुद्ध भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त उन्हें कोई अन्य इच्छा नहीं होती। चूँकि भगवान् को किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करनी होती, अत: वे अपने आप में पूर्णत: तुष्ट रहते हैं। इसी प्रकार से जिस भक्त को भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा नहीं रहती वह परमेश्वर के ही समान आत्मतुष्ट रहता है। प्रत्येक व्यक्ति मन:शान्ति तथा आत्मतोष के पीछे दौड़ता है, किन्तु ये गुण भगवान् के शुद्ध भक्त होने पर ही प्राप्त हो सकते हैं।

पिछले श्लोकों में राजा पृथु के अपने अथाह ज्ञान तथा पूर्ण भक्ति के विषय में जो कुछ कहा है उसकी यहाँ पुष्टि हो जाती है, क्योंकि वे महात्माओं में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। *भगवद्गीता* (९.१३) में श्रीकृष्ण ने महात्माओं के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता: ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

"हे पृथापुत्र! जो महापुरुष भुलावे में नहीं आते, वे दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे भक्ति में

पूर्ण रूप से रत रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अव्यय भगवान् के रूप में जानते हैं।''

महात्मा माया के फंदे में नहीं पड़ते, वरन् वे आध्यात्मिक शक्ति के संरक्षण में रहते हैं। इसीलिए वास्तविक महात्मा सदैव भगवान् की भक्ति में रत रहता है। पृथु महाराज में महात्मा के सभी लक्षण प्रकट थे, इसीलिए उन्हें इस श्लोक में *धुर्यो महताम्* अर्थात् महात्माओं में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

कर्माणि च यथाकालं यथादेशं यथाबलम् ।
यथोचितं यथावित्तमकरोद्ब्रह्मसात्कृतम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—कार्य-कलाप; च—भी; यथा-कालम्—समय तथा परिस्थिति के अनुकूल; यथा-देशम्—स्थान तथा स्थिति के उपयुक्त; यथा-बलम्—अपनी शक्ति के अनुरूप; यथा-उचितम्—जहाँ तक सम्भव हो, यथासम्भव; यथा-वित्तम्—इस सम्बन्ध में जो जितना धन व्यय कर सके; अकरोत्—सम्पन्न किया; ब्रह्म-सात्—परम सत्य में; कृतम्—किया।

आत्मतुष्ट होने के कारण महाराज पृथु समय, स्थान, शक्ति तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार जितनी पूर्णता से सम्भव हो सकता था अपने कर्तव्यों को पूरा करते थे। इन सारे कार्यों के द्वारा उनका एकमात्र उद्देश्य परम सत्य को प्रसन्न करना था। इस प्रकार उन्होंने अपने कर्मों का भली-भाँति निर्वाह किया।

तात्पर्य : महाराज पृथु एक उत्तरदायी राजा थे और उन्हें एक क्षत्रिय, एक राजा तथा एक भक्त के कार्य एक ही साथ करने होते थे। भगवद्भक्ति में कुशल होने के कारण वे अपने कार्यों को समय, शक्ति निजी धन क्षमता के अनुसार अच्छी तरह से पूरा कर सकते थे। इस दृष्टि से इस श्लोक में *कर्माणि* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पृथु महाराज के कार्य सामान्य नहीं होते थे, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् से होता था। श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश है कि जो वस्तुएँ भक्ति के अनुकूल हों उनका बहिष्कार नहीं करना चाहिए और न ही भक्ति के अनुकूल कार्यों को साधारण कर्म अथवा सकाम कर्म समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक सामान्य कर्मी अपनी इन्द्रियतृप्ति के हेतु से अपना व्यवसाय चलाता है। भक्त उसी काम को उसी तरह से कर सकता है, किन्तु उसका उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना रहता है। फलत: उसके कार्य साधारण नहीं होते।

अतएव पृथु महाराज के कार्यकलाप साधारण नहीं थे, अपितु वे आध्यात्मिक एवं दिव्य थे, क्योंकि उनका लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना था। जिस प्रकार योद्धा अर्जुन को श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए युद्ध करना पड़ा, उसी तरह पृथु महाराज को श्रीकृष्ण की संतुष्टि के लिए राजा के कार्य करने

पड़े। निस्सन्देह, उन्होंने सारे संसार के लिए राजा के रूप में जो कुछ किया वह भक्त के सर्वथा अनुरूप था। इसीलिए एक वैष्णव कवि ने कहा है—*वैष्णवेर क्रियामुद्रा विज्ञे ना बुझाय*—शुद्ध भक्त के कार्यों को कोई नहीं समझ सकता। शुद्ध भक्त के कार्य सामान्य कार्यों की तरह लग सकते हैं, किन्तु उनके पीछे अत्यधिक महत्ता—भगवान् की संतुष्टि—व्याप्त रहती है। एक वैष्णव के कार्य-कलापों को समझने के लिए मनुष्य को अत्यन्त पटु होना पड़ता है। महाराज पृथु ने कभी भी चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों की सीमा के बाहर कोई कार्य नहीं किया, यद्यपि वैष्णव के रूप में वे सारे संसार का शासन करते रहे और उसी के साथ भगवान् को प्रसन्न करके इन सारे कार्यों से ऊपर भी बने रहे। अपने आपको शुद्ध भक्त के रूप में प्रकट न करते हुए बाह्य रूप से वे अत्यन्त शक्तिशाली तथा कर्तव्यनिष्ठ राजा बने रहे। दूसरे शब्दों में, उनका कोई भी कार्य अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं होता था, वे जो कुछ भी करते थे वह भगवान् की इन्द्रियों की तुष्टि के लिए होता था। इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

फलं ब्रह्मणि सन्न्यस्य निर्विषङ्गः समाहितः ।
कर्माध्यक्षं च मन्वान आत्मानं प्रकृतेः परम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

फलम्—परिणाम, फल; ब्रह्मणि—परम सत्य में; सन्न्यस्य—त्याग कर, अर्पित करके; निर्विषङ्गः—दूषित हुए बिना; समाहितः—पूर्णतया समर्पित; कर्म—कर्म; अध्यक्षम्—अधीक्षक; च—तथा; मन्वानः—सदैव चिन्तन करते हुए; आत्मानम्—परमात्मा के विषय में; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति का; परम्—अतीत, परे।

महाराज पृथु ने अपने आपको प्रकृति से परे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शाश्वत दास के रूप में समर्पित कर दिया था। फलस्वरूप उनके कर्मों के सारे फल भगवान् को समर्पित थे। वे अपने आपको सदैव सर्वेश्वर भगवान् के दास के रूप में समझते रहे।

तात्पर्य : भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में महाराज पृथु का जीवन कर्मयोग का सुन्दर उदाहरण है। कर्मयोग शब्द का प्रयोग प्रायः *भगवद्गीता* में हुआ है और यहाँ पर महाराज पृथु इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि वास्तव में कर्मयोग क्या है। कर्मयोग के समुचित पालन की पहली आवश्यकता यहाँ पर दी गई है। *फलं ब्रह्मणि संन्यस्य* (अथवा *विन्यस्य*)—मनुष्य को अपने कर्मों का फल परब्रह्म कृष्ण पर छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य वास्तव में संन्यास आश्रम में स्थित हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.२) में कहा गया है, अपने कर्मों के फल को भगवान् को अर्पित

कर देना ही संन्यास है।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु: ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा: ॥

''बुद्धिमान जन समस्त कर्मफलों के छोड़ने को त्याग कहते हैं और उस अवस्था को बड़े-बड़े विद्वान् संन्यास कहते हैं।'' यद्यपि पृथु महाराज गृहस्थ जीवन बिता रहे थे, किन्तु वास्तव में वे संन्यास आश्रम में थे। अगले श्लोकों से यह स्पष्ट हो जायेगा।

निर्विषंग: (अदूषित) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि महाराज पृथु अपने कर्मों के फलों के प्रति आसक्त न थे। इस संसार में प्रत्येक मनुष्य जो कुछ संचित करता है या जिसके लिए कार्य करता है उसका स्वामी बनने की सदैव सोचता रहता है। जब कोई अपने कर्मों के फल को भगवान् की सेवा में लगा देता है, तो वास्तव में वह कर्मयोग का अभ्यास करता होता है। प्रत्येक व्यक्ति कर्मयोग का अभ्यास कर सकता है, किन्तु गृहस्थों के लिए यह विशेष रूप से सुगम है, क्योंकि वे भगवान् के श्रीविग्रह को घर में स्थापित करके भक्तियोग की विधियों से उसकी पूजा कर सकते हैं। इस विधि के नौ अंग होते हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवा, श्रीविग्रह की पूजा, प्रार्थना, आज्ञा-पालन, सखा रूप में कृष्ण की सेवा तथा उन्हें ही सर्वस्व अर्पण।

श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भागवत ७.५.२३)

कर्मयोग तथा भक्तियोग की इन विधियों को सारे संसार में प्रसारित करने का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ कर रहा है। इन विधियों को कोई भी इसे संघ के सदस्यों के उदाहरणों का अनुसरण करने से सीख सकता है।

घर में अथवा मन्दिर में श्रीविग्रह को प्रत्येक वस्तु का स्वामी और प्रत्येक व्यक्ति को श्रीविग्रह का दास माना जाता है। भगवान् दिव्य हैं, क्योंकि वे इस सृष्टि के अंग नहीं हैं। इस श्लोक में *प्रकृते: परम्* शब्दों का इसीलिए प्रयोग हुआ है, क्योंकि इस संसार में प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति भगवान् की बहिरंगा शक्ति से हुई है, किन्तु भगवान् स्वयं इस शक्ति से उत्पन्न नहीं हैं। भगवान् सारी सृष्टि के परम अधीक्षक

हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि की गई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है और समस्त चराचर जीवों को उत्पन्न करती है और इसीके आदेश से इस जगत का बारम्बार सृजन एवं संहार होता है।"

पदार्थ की आश्चर्यजनक अन्योन्यक्रिया से जितने भी भौतिक परिवर्तन होते हैं तथा भौतिक प्रगति होती है, वह भगवान् कृष्ण की अध्यक्षता में होती है। संसार में जितनी घटनाएँ घटती हैं, वे अंधाधुंध नहीं घटतीं। यदि कोई श्रीकृष्ण का दास बना रहता है और उनकी सेवा में सब कुछ लगा देता है, तो वह भौतिक संसार में अपने जीवन-काल में ही जीवन्मुक्त मान लिया जाता है। सामान्य रूप से शरीर त्यागने के बाद मुक्ति प्राप्त होती है, किन्तु यदि कोई पृथु महाराज की भाँति रहता है, तो इसी जीवन में वह मुक्त हो जाता है। कृष्णचेतना (भक्ति) में मनुष्य के कर्मों के फल भगवदिच्छा पर निर्भर करते हैं। निस्सन्देह फल सर्वत्र ही व्यक्तिगत पटुता पर निर्भर नहीं करता, अपितु पूर्णरूपेण भगवदिच्छा पर निर्भर करता है। *फलं ब्रह्मणि संन्यस्य* का वास्तविक माहात्म्य यही है। जो जीव भगवान् की सेवा में अनुरक्त हो उसे अपने आपको कभी भी स्वामी या अधीक्षक नहीं मानना चाहिए। समर्पित भक्त को भक्तियोग के वर्णित विधि-विधानों के अनुसार अपना कार्य करते रहना चाहिए। उसके कार्यों के फल पूर्ण रूप से भगवदिच्छा पर आश्रित रहते हैं।

गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियान्वितः ।
नासज्जतेन्द्रियार्थेषु निरहम्मतिरर्कवत् ॥५२॥

शब्दार्थ

गृहेषु—घर में; वर्तमानः—उपस्थित; अपि—यद्यपि; सः—राजा पृथु; साम्राज्य—पूरा राज्य; श्रिया—ऐश्वर्य; अन्वितः—लीन; न—कभी नहीं; असज्जत—आकर्षित हुआ; इन्द्रिय-अर्थेषु—इन्द्रियतृप्ति हेतु; निः—न तो; अहम्—मैं हूँ; मतिः—विचार; अर्क—सूर्य; वत्—सदृश।

महाराज पृथु, जो अपने सारे साम्राज्य की सम्पत्ति के कारण अत्यन्त ऐश्वर्यवान् थे, घर में एक गृहस्थ की भाँति रहते थे। चूँकि वे अपने ऐश्वर्य का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के हेतु कभी नहीं करना चाहते थे, अतः वे विरक्त बने रहे, जिस प्रकार कि सूर्य सभी परिस्थितियों में अप्रभावित रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में गृहेषु शब्द महत्त्वपूर्ण है। चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास में से केवल गृहस्थ को ही स्त्री-प्रसंग की अनुमति है, अत: गृहस्थाश्रम में एक प्रकार से भक्त के लिए इन्द्रियतृप्ति की छूट है। तो भी पृथु महाराज विशिष्ट थे, क्योंकि गृहस्थ बने रहने की छूट होने और साम्राज्य का विपुल ऐश्वर्य रहने पर भी वे कभी इन्द्रियतृप्ति में प्रवृत्त नहीं हुए। यह विशेष लक्षण था, जो उनके भगवान् के विशुद्ध भक्त होने का सूचक था। शुद्ध भक्त कभी भी इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट नहीं होता, फलस्वरूप वह मुक्त रहता है। भौतिक जीवन में मनुष्य अपनी संतुष्टि के लिए इन्द्रितृप्ति में प्रवृत्त होता है, किन्तु भक्ति या मुक्त जीवन में उसका लक्ष्य भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना होता है।

इस श्लोक में महाराज पृथु की उपमा सूर्य से दी गई है (अर्कवत्)। कभी-कभी सूर्य मूत्र, मल तथा अन्य दूषित वस्तुओं पर चमकता है, किन्तु सर्वशक्तिमान होने के कारण वह इन दूषित वस्तुओं के सम्पर्क में आकर भी प्रभावित नहीं होता। उल्टे सूर्य-प्रकाश दूषित तथा गंदी जगहों को विशुद्ध और कीटाणु-रहित करता है। इसी प्रकार भले भी भक्त नाना प्रकार के भौतिक कार्यकलापों में प्रवृत्त हो, किन्तु इन्द्रियतृप्ति की इच्छा न होने से वह उनसे कभी प्रभावित नहीं होता। विपरित इसके वह समस्त भौतिक कार्यकलापों को भगवान् की सेवा की ओर मोड़ देता है। चूँकि शुद्ध भक्त जानता है कि किस प्रकार हर वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाया जाये, अत: वह भौतिक कार्यकलापों से सदा अप्रभावित रहता है। उन्हें वह अपनी दिव्य योजनाओं से ऐसे कार्यकलापों को पवित्र बना देता है। इसका वर्णन *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में हुआ है। सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्—उसका लक्ष्य भौतिक उपाधियों से प्रभावित हुए बिना भगवान् की सेवा में पूर्ण रूप से पवित्र हो जाना है।

एवमध्यात्मयोगेन कर्माण्यनुसमाचरन् ।
पुत्रानुत्पादयामास पञ्चार्चिष्यात्मसम्मतान् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; अध्यात्म-योगेन—भक्तियोग के द्वारा; कर्माणि—कर्म; अनु—सदैव; समाचरन्—करते हुए; पुत्रान्—पुत्रों को; उत्पादयाम् आस—उत्पन्न किया; पञ्च—पाँच; अर्चिषि—अपनी पत्नी अर्चि से; आत्म—निजी; सम्मतान्—इच्छा के अनुसार।

भक्ति की मुक्त अवस्था में स्थित होकर पृथु महाराज ने न केवल समस्त सकाम कर्मों को सम्पन्न किया, अपितु अपनी पत्नी अर्चि से पाँच पुत्र भी उत्पन्न किये। निस्सन्देह, उनके सारे पुत्र

उनकी निजी इच्छानुसार उत्पन्न हुए थे।

तात्पर्य : गृहस्थ के रूप में पृथु महाराज को अपनी पत्नी अर्चि से पाँच पुत्र प्राप्त हुए और ये पाँचों पुत्र उनकी इच्छानुसार उत्पन्न हुए थे। वे किसी सनक या संयोग से नहीं उत्पन्न हुए थे। अपनी इच्छानुसार किस प्रकार सन्तान उत्पन्न की जाये, इस युग (कलियुग) में एक प्रकार से अज्ञात है। इसका रहस्य पति-पत्नी द्वारा शुद्धि-विधियों का, जिन्हें संस्कार कहते हैं, अपनाया जाना है। इन संस्कारों में से पहला संस्कार गर्भाधान *संस्कार* है, जो विशेष रूप से उच्च वर्णों—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों—के लिए अनिवार्य है। जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है कि जो स्त्री-प्रसंग धर्म के विपरीत नहीं रहता वह स्वयं श्रीकृष्ण है। धार्मिक नियमों के अनुसार जब कोई सन्तान उत्पन्न करना चाहे तो उसे संभोग के पूर्व *गर्भाधान-संस्कार* सम्पन्न करना चाहिए। संभोग के पूर्व माता-पिता की जैसी मानसिकता होती है उसका प्रभाव निश्चित रूप से उत्पन्न होने वाली सन्तान की मानसिकता पर पड़ेगा। हो सकता है कामवश उत्पन्न की गई सन्तान माता-पिता की आशा के अनुरूप न निकले। शास्त्रों का कथन है—यथा योनिर्यथा बीजम्। यथा योनि: से माता का संकेत है और यथा बीजम् से पिता का। यदि संभोग के पूर्व माता-पिता की मानसिक दशा सुस्थिर है, तो उनसे जो सन्तान उत्पन्न होगी वह अवश्य ही उनकी मानसिक दशा को प्रतिबिम्बित करेगी। अत: *आत्मसम्मतान्* शब्दों से लक्षित होता है कि सन्तान उत्पन्न करने के पूर्व पृथु महाराज तथा अर्चि ने गर्भाधान-संस्कार सम्पन्न किया होगा, फलत: उनके सारे पुत्र उनकी इच्छाओं तथा विशुद्ध मानसिक दशाओं वाले उत्पन्न हुए। पृथु महाराज ने काम के वशी भूत होकर पुत्रों को जन्म नहीं दिया। न ही वे इन्द्रियतृप्ति हेतु अपनी पत्नी के प्रति आकृष्ट हुए थे। उन्होंने गृहस्थ के रूप में सारे विश्व में भविष्य में अपना शासन चलाने के लिए पुत्र उत्पन्न किये।

विजिताश्वं धूम्रकेशं हर्यक्षं द्रविणं वृकम् ।
सर्वेषां लोकपालानां दधारैक: पृथुर्गुणान् ॥ ५४॥

शब्दार्थ

विजिताश्वम्—विजिताश्व नामक; धूम्रकेशम्—धूम्रकेश नामक; हर्यक्षम्—हर्यक्ष नामक; द्रविणम्—द्रविण नामक; वृकम्—वृक नामक; सर्वेषाम्—सभी; लोक-पालानाम्—लोकों के लोकपालों का; दधार—स्वीकार किया; एकः—एक; पृथुः—पृथु महाराज; गुणान्—समस्त गुणों को।

विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण तथा वृक नामक पाँच पुत्र उत्पन्न करने के बाद भी पृथु महाराज इस लोक पर राज्य करते रहे। उन्होंने अन्य समस्त लोकों पर शासन करने वाले देवों के

समस्त गुणों को आत्मसात् किया।

तात्पर्य : प्रत्येक लोक का एक प्रधान देव होता है। भगवद्गीता से पता चलता है कि सूर्य का प्रधान देव विवस्वान है। इसी प्रकार चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों के भी प्रधान देव हैं। वास्तव में अन्य समस्त लोकों के प्रधान देव सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रधान देवों की सन्तानें हैं। इस पृथ्वी लोक में दो क्षत्रिय वंश हैं: एक सूर्य के प्रधान देव से उत्पन्न है और दूसरा चन्द्रमा के प्रधान देव से। ये वंश क्रमश: सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश कहलाते हैं। जब इस लोक पर राजतंत्र था, तो इसका मुख्य सदस्य सूर्यवंशी था और अधीन राजा चन्द्रवंश के थे। किन्तु महाराज पृथु इतने शक्तिमान थे कि वे अन्य लोकों के प्रधान देवों के समस्त गुणों से ओतप्रोत थे।

आधुनिक युग में लोगों ने पृथ्वी से चन्द्रमा तक जाने का प्रयास किया है, किन्तु वे वहाँ किसी को भी नहीं पा सके, चन्द्रमा के प्रधान देव से मिलने की बात तो दूर रही। किन्तु वैदिक साहित्य बारम्बार कहता है कि चन्द्रमा अत्यन्त बुद्धिमान निवासियों से पूर्ण है जिनकी गणना देवताओं में की जाती है; अत: हमें हमेशा सन्देह होता रहता है कि पृथ्वी के आधुनिक विज्ञानियों ने किस प्रकार की चन्द्र-यात्रा की है!

गोपीथाय जगत्सृष्टेः काले स्वे स्वेऽच्युतात्मकः ।
मनोवाग्वृत्तिभिः सौम्यैर्गुणैः संरञ्जयन्प्रजाः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

गोपीथाय—सुरक्षा के लिए; जगत्-सृष्टेः—परम स्रष्टा का; काले—यथा-समय; स्वे स्वे—अपने-अपने; अच्युत-आत्मकः—कृष्णभक्त होने से; मनः—मन; वाक्—शब्द; वृत्तिभिः—व्यवसाय से; सौम्यैः—अत्यन्त सौम्य, भद्र; गुणैः—गुण से; संरञ्जयन्—प्रसन्न रखते हुए; प्रजाः—नागरिक जन।

चूँकि महाराज पृथु भगवान् के पूर्ण भक्त थे, अत: वे सारे नागरिकों को उनकी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार प्रसन्न रखते हुए भगवान् की सृष्टि की रक्षा करना चाहते थे। अत: पृथु महाराज उन्हें अपनी वाणी, मन, कर्म तथा सौम्य आचरण से सभी प्रकार प्रसन्न रखते थे।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में बताया जाएगा, पृथु महाराज दूसरों के मन की बातों को समझ सकने की अलौकिक शक्ति के कारण सभी प्रकार के नागरिकों को प्रसन्न रखते थे। निस्सन्देह, वे इतने व्यवहार कुशल थे कि प्रत्येक नागरिक सन्तोष और पूर्ण शान्ति का अनुभव करता था। इस श्लोक में अच्युतात्मक: शब्द महत्पवूर्ण हैं, क्योंकि महाराज पृथु इस लोक में भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में

शासन करते थे। उन्हें पता था कि वे भगवान् के प्रतिनिधि हैं और भगवान् की सृष्टि की रक्षा ठीक से होनी चाहिए। सृष्टि के पीछे क्या उद्देश्य है, इसे नास्तिक नहीं समझ सकते। यद्यपि आत्म जगत की तुलना में यह भौतिक जगत हेय है, तो भी इसके पीछे कुछ न कुछ प्रयोजन है। आधुनिक विज्ञानी तथा दार्शनिक इस प्रयोजन को नहीं समझ सकते, न ही वे स्रष्टा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। वे प्रत्येक बात को वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे किसी भी वस्तु को परम स्रष्टा में केन्द्रित नहीं करते। कोई भक्त ही सृष्टि के प्रयोजन को समझ सकता है। यह प्रयोजन है उन व्यष्टि जीवात्माओं को सुविधाएँ प्रदान करना जो भौतिक प्रकृति पर अधिकार जताना चाहती हैं। अत: इस लोक के शासक को यह जानना चाहिए कि सभी निवासी, विशेष रूप से मनुष्य, इस भौतिक जगत में इन्द्रिय-सुख भोगने के लिए आये हैं। अत: शासक का कर्तव्य है कि वह उनके इन्द्रियभोग को तुष्ट करे और साथ ही उन्हें कृष्णचेतना तक उठा दे जिससे वे अन्त में भगवान् के धाम वापस जा सकें।

राजा या शासनाध्यक्ष को इस विचार को ध्यान में रखते हुए संसार में राज्य करना चाहिए। इससे हर व्यक्ति संतुष्ट रहेगा। किन्तु यह कैसे किया जाये? महाराज पृथु के समान अनेक उदाहरण हैं और इस लोक में उनके शासन का इतिहास श्रीमद्भागवत में विस्तार से वर्णित है। इस पतित युग में भी यदि शासक, अधीक्षक तथा राष्ट्रपति पृथु महाराज के उदाहरण से लाभ उठाएँ तो सारे संसार में निश्चय ही शान्ति तथा सम्पन्नता का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवापरः ।
सूर्यवद्विसृजन्गृह्णन्प्रतपंश्च भुवो वसु ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

राजा—राजा; इति—इस प्रकार; अधात्—ले लिया; नामधेयम्—नामधारी; सोम-राजः—चन्द्रलोक का राजा; इव—सदृश; अपरः—दूसरी ओर; सूर्य-वत्—सूर्यदेव के समान; विसृजन्—वितरित करते हुए; गृह्णन्—खींचते हुए; प्रतपन्—कठोर अनुशासन से; च—भी; भुवः—संसार का; वसु—कर या लगान।

महाराज पृथु चन्द्र के राजा सोमराज के समान विख्यात हो गये। वे सूर्यदेव के समान शक्तिशाली तथा कर-संग्रहणकर्ता भी थे। सूर्य ताप तथा प्रकाश बाँटता है, किन्तु साथ ही समस्त लोकों के जल को खींच लेता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में महाराज पृथु की तुलना सूर्य तथा चन्द्रमा के राजाओं से की गई है। चन्द्रमा तथा सूर्य के राजा ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिस तरह भगवान् ब्रह्माण्ड को शासित होना

देखना चाहते हैं। सूर्य ताप तथा प्रकाश वितरित करता है और साथ ही सभी लोकों के जल को खींचता रहता है। चन्द्रमा रात्रि में अत्यन्त सुहावना लगता है और दिन में सूर्य के ताप में किए कार्य से थका व्यक्ति चन्द्रमा के प्रकाश में आनन्द उठा सकता है। सूर्यदेव के समान पृथु महाराज ने अपने राज्य को सुख प्रदान करने के लिए अपना ताप तथा प्रकाश वितरित किया, क्योंकि बिना ताप तथा प्रकाश के कोई जीवित नहीं रह सकता। इसी तरह पृथु महाराज एक ओर जनता पर कर लगाते और नागरिकों तथा सरकार को इतने कड़े आदेश देते कि कोई भी उनकी अवज्ञा करने का साहस न करता। दूसरी ओर वे चाँदनी के समान सबों को प्रसन्न रखते। चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों का ही कुछ न कुछ प्रभाव होता है, जिससे ब्रह्माण्ड में व्यवस्था बनी रहती है। आधुनिक विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को ब्रह्माण्ड-पालन की भगवान् की पक्की व्यवस्था से परिचित हो लेना चाहिए।

दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निर्महेन्द्र इव दुर्जयः ।
तितिक्षया धरित्रीव द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम् ॥ ५७॥

शब्दार्थ

दुर्धर्षः—अजेय; तेजसा—तेज से; इव—सदृश; अग्निः—अग्नि; महा-इन्द्रः—स्वर्ग के राजा; इव—के समान; दुर्जयः—अजेय; तितिक्षया—सहिष्णुता द्वारा; धरित्री—पृथ्वी; इव—के सदृश; द्यौः—स्वर्ग लोक के; इव—के सदृश; अभीष्ट-दः—इच्छाओं को पूरा करने वाले; नृणाम्—मानव समाज का।

महाराज पृथु इतने प्रबल तथा शक्तिमान थे कि उनके आदेशों का उल्लंघन करना मानो अग्नि को जीतना था। वे इतने बलशाली थे कि उनकी उपमा स्वर्ग के राजा इन्द्र से दी जाती थी जिसकी शक्ति अजेय है। दूसरी ओर महाराज पृथु पृथ्वी के समान सहिष्णु भी थे और मानव समाज की विभिन्न इच्छाएँ पूरी करने में वे स्वयं स्वर्ग के समान थे।

तात्पर्य : राजा का कर्तव्य है कि प्रजा की रक्षा करे और उसकी इच्छाओं को पूरा करे। साथ ही प्रजा को चाहिए कि वह राज्य के नियमों का पालन करे। महाराज पृथु ने अच्छी सरकार के समस्त मानदण्ड बनाए रखे। वे इतने दुर्धर्ष थे कि उनके आदेशों का उल्लंघन वही कर सकता था, जो अग्नि से ताप तथा प्रकाश निकलना बन्द करा सके। वे इतने बलशाली थे कि उनकी तुलना स्वर्ग के राजा इन्द्र से की जाती थी। इस युग में आधुनिक विज्ञानी नाभिकीय हथियारों के विषय में प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु पहले के युग में ब्रह्मास्त्र छोड़े जाते थे। तो भी ये ब्रह्मास्त्र तथा नाभिकीय हथियार इन्द्र के वज्र की तुलना में नगण्य हैं। जब इन्द्र अपना वज्र छोड़ता है, तो बड़े से बड़ा पर्वत विदीर्ण हो जाता है।

दूसरी ओर महाराज पृथु पृथ्वी के समान सहिष्णु थे और वे अपनी प्रजा की सारी इच्छाओं की पूर्ति उसी तरह करते थे जैसे आकाश से जल की मूसलधार वर्षा गिरती है। बिना वर्षा के इस लोक पर विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति असम्भव है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.१४) में *कहा गया है*—पर्जन्याद् अन्न सम्भव:—अन्न तभी उत्पन्न होता है जब आकाश से वर्षा होती है। बिना अन्न के पृथ्वी पर कोई सन्तुष्ट नहीं हो सकता। फलत: कृपा के अपार वितरण की तुलना बादलों से होने वाली जल-वर्षा से की गई है। महाराज पृथु वर्षा जल के ही समान निरन्तर अपनी कृपा का वितरण करते थे। दूसरे शब्दों में, महाराज पृथु गुलाब के फूल से भी कोमल और वज्र से भी कठोर थे। इस प्रकार वे अपने साम्राज्य पर शासन करते थे।

वर्षति स्म यथाकामं पर्जन्य इव तर्पयन् ।
समुद्र इव दुर्बोध: सत्त्वेनाचलराडिव ॥५८॥

शब्दार्थ

वर्षति—बरसते; स्म—थे; यथा-कामम्—इच्छानुसार; पर्जन्य:—जल; इव—के सदृश; तर्पयन्—प्रसन्न करते हुए; समुद्र:—समुद्र; इव—के सदृश; दुर्बोध:—न समझ में आने वाला; सत्त्वेन—सत्तात्मक स्थिति से; अचल—पर्वत; राट् इव—राजा के समान।

जिस प्रकार वर्षा से हर एक की इच्छाएँ पूरी होती हैं उसी तरह महाराज पृथु सबों को तुष्ट रखते थे। वे समुद्र के समान थे, क्योंकि कोई उनकी गहराई (गम्भीरता) को नहीं समझ सकता था और उद्देश्य की दृढ़ता में वे पर्वतराज मेरु के समान थे।

तात्पर्य : दुखी मनुष्यों पर महाराज पृथु की दया अत्यधिक ताप के बाद जलवर्षा के समान होती थी। समुद्र इतना विस्तृत होता है कि इसकी लम्बाई तथा चौड़ाई नापना अत्यन्त कठिन होता है। इसी प्रकार पृथु महाराज इतने धीर तथा गंभीर थे कि कोई उनके प्रयोजनों की थाह नहीं पा सकता था। मेरु नामक पर्वत ब्रह्माण्ड की धुरी के समान स्थित है और कोई इसे एक इंच भी नहीं हिला सकता। उसी प्रकार महाराज पृथु के निश्चय कर लेने के बाद कोई उन्हें उस निश्चय से डिगा नहीं सकता था।

धर्मराडिव शिक्षायामाश्चर्ये हिमवानिव ।
कुवेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा ॥५९॥

शब्दार्थ

धर्म-राट् इव—यमराज (मृत्यु के अधीक्षक) के समान; शिक्षायाम्—शिक्षा में; आश्चर्ये—ऐश्वर्य में; हिमवान् इव—हिमालय पर्वत के समान; कुवेरः—स्वर्गलोक के कोशपति; इव—सदृश; कोश-आढ्यः—सम्पत्ति के स्वामी होने के मामले में; गुप्त-अर्थः—छिपाना; वरुणः—वरुण नामक देवता; यथा—जिस प्रकार।

महाराज पृथु की बुद्धि तथा शिक्षा मृत्यु के अधीक्षक यमराज के बिलकुल समान थी। उनका ऐश्वर्य हिमालय पर्वत से तुलनीय था, जहाँ सभी बहुमूल्य हीरे, जवाहरात तथा धातुएँ संचित हैं। उनके पास स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कुवेर के समान विपुल सम्पत्ति थी। वरुण देवता के ही समान उनके रहस्यों का किसी को पता न था।

तात्पर्य : यमराज या धर्मराज को मृत्यु के अधीक्षक के रूप में ऐसी-ऐसी पापी जीवात्माओं का निपटारा करना पड़ता है जिन्होंने जीवन भर पापकर्म किये हैं। फलस्वरूप यमराज को न्याय के मामले में पटु माना जाता है। पृथु महाराज भी अत्यधिक विद्वान् तथा नागरिकों का न्याय करने में अत्यन्त निष्पक्ष थे। उनके ऐश्वर्य की तुलना में हिमालय पर्वत के खनिज तथा रत्न ही ठहर सकते थे। अत: उनकी तुलना स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कुवेर से की जाती है। उनके जीवन-रहस्यों का कोई भी पता नहीं लगा सकता था जिस प्रकार जल, रात्रि तथा पश्चिमी आकाश के अधिपति देव वरुण के रहस्यों का कोई पता नहीं लगा सकता। वरुण सर्वज्ञाता हैं और पापों के लिए दण्ड देने वाले हैं, अत: क्षमा के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है। वह रोगों को भेजने वाले तथा कभी-कभी मित्र एवं इन्द्र के संगी भी बताये जाते हैं।

मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन महसौजसा ।
अविषह्यतया देवो भगवान्भूतराडिव ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

मातरिश्वा—वायु; इव—सदृश; सर्व-आत्मा—सर्वव्यापी; बलेन—शारीरिक बल से; महसा ओजसा—धैर्य तथा शक्ति से; अविषह्यतया—असहिष्णुता से; देवः—देवता; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; भूत-राट् इव—रुद्र या सदाशिव की तरह।

महाराज पृथु अपनी शारीरिक बल तथा ऐन्द्रिय शक्ति में वायु के समान बलशाली थे, जो कहीं भी तथा सर्वत्र आ जा सकता है। अपनी असह्यता में वे शिवजी या सदाशिव के अंश सर्वशक्तिमान रुद्र के समान थे।

कन्दर्प इव सौन्दर्ये मनस्वी मृगराडिव ।
वात्सल्ये मनुवन्नृणां प्रभुत्वे भगवानजः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

कन्दर्पः—कामदेव; इव—सदृश; सौन्दर्ये—सुन्दरता में; मनस्वी—विचारशीलता में; मृग-राट् इव—पशुओं के राजा सिंह के समान; वात्सल्ये—स्नेह में; मनु-वत्—स्वायम्भुव मनु के समान; नृणाम्—मानव समाज का; प्रभुत्वे—आधिपत्य, शासन करने के मामले में; भगवान्—स्वामी; अजः—ब्रह्मा।

वे शारीरिक सुन्दरता में कामदेव के समान तथा विचारशीलता में सिंह के समान थे। वात्सल्य में वे स्वायंभुव मनु के समान थे और अपनी नियंत्रण-क्षमता में ब्रह्माजी के समान थे।

बृहस्पतिर्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे स्वयं हरिः
भक्त्या गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्तिषु ।
ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्यामात्मतुल्यः परोद्यमे ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

बृहस्पतिः—स्वर्गलोक के पुरोहित; ब्रह्म-वादे—आध्यात्मिक ज्ञान में; आत्म-वत्त्वे—आत्म-नियंत्रण के मामले में; स्वयम्—साक्षात्; हरिः—श्रीभगवान्; भक्त्या—भक्ति में; गो—गाय; गुरु—गुरु; विप्रेषु—ब्राह्मणों में; विष्वक्सेन—भगवान्; अनुवर्तिषु—अनुयायी; ह्रिया—लज्जा से; प्रश्रय-शीलाभ्याम्—अत्यन्त भद्र आचरण से; आत्म-तुल्यः—अपने ही समान आप; पर-उद्यमे—परोपकारी कार्यों में।

पृथु महाराज के निजी आचरण में समस्त उत्तम गुण प्रकट होते थे। अपने आत्म-ज्ञान में वे ठीक बृहस्पति के समान थे। आत्म-नियंत्रण (इन्द्रियजय) में वे साक्षात् भगवान् के समान थे। जहाँ तक भक्ति का प्रश्न था, वे भक्तों के परम अनुयायी थे। जो गो-रक्षा के प्रति आसक्त और गुरु तथा ब्राह्मणों की सारी सेवा करते थे। वे परम सलज्ज थे और उनका आचरण अत्यन्त भद्र था। जब वे किसी परोपकार में लग जाते तो इस प्रकार कार्य करते थे मानो अपने लिए ही कार्य कर रहे हों।

तात्पर्य : भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम भट्टाचार्य से बात करने के बाद उन्हें बृहस्पति का अवतार कह कर सम्मानित किया था। बृहस्पति स्वर्गलोक के प्रमुख पुरोहित हैं और ब्रह्मवाद या मायावाद दर्शन के अनुयायी हैं। बृहस्पति महान् तर्क-शास्त्री भी हैं। इस कथन से प्रतीत होता है कि यद्यपि महाराज पृथु भगवान् की प्रेमाभक्ति में रहने वाले महान् भक्त थे, किन्तु वे अपने वैदिक शास्त्रों के गम्भीर ज्ञान के बल पर सभी प्रकार के निर्विशेषवादियों तथा मायावादियों को परास्त कर सकते थे। हमें महाराज पृथु से सीखना चाहिए कि एक वैष्णव या भक्त को न केवल भगवद्भक्ति में स्थिर रहना चाहिए, वरन् आवश्यकता पड़ने पर निर्विशेषवादियों से तर्क करने तथा उन्हें इस मतपर कि परम सत्य निर्विशेष है, परास्त करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

भगवान् आदर्श आत्मजयी या ब्रह्मचारी हैं। जब महाराज युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को अपने द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले राजसूय यज्ञ का अध्यक्ष चुना तो भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मचारी कहकर प्रशंसा की थी। चूँकि भीष्म पितामह स्वयं ब्रह्मचारी थे, अत: वे *व्यभिचारी* तथा *ब्रह्मचारी* में अन्तर बताने के लिए सर्वथा उपयुक्त थे। यद्यपि पृथु महाराज गृहस्थ और पाँच पुत्रों के पिता थे, फिर भी वे परम आत्मसंयमी माने जाते थे। जो व्यक्ति मानवता के लाभ हेतु कृष्णभक्त-पुत्र उत्पन्न करता है, वही वास्तविक ब्रह्मचारी है। जो कुत्ते-बिल्लियों की तरह सन्तान उत्पन्न करते हैं, वे उपयुक्त पिता नहीं हैं। ब्रह्मचारी शब्द ब्रह्म पद से कार्य करने या भक्ति करने वाले के लिए भी आता है। निर्गुण ब्रह्म विचार में कोई गतिशीलता नहीं होती, किन्तु जब भगवान् के सम्बन्ध में कोई कार्य करता है, तो वह ब्रह्मचारी कहलाता है। इस प्रकार पृथु महाराज एकसाथ आदर्श ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ थे। *विष्वक्सेनानुवर्तिषु उन भक्तों का सूचक है, जो भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। अन्य भक्तों को भी इनका अनुसरण करना चाहिए। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा है*—एइ छय गोसाञि याँर, मुञि ताँर दास—वे छहों गोस्वामियों के पदचिह्नों पर चलने वाले किसी का भी शिष्य बनने को तैयार हैं।

यही नहीं, समस्त वैष्णवों की भाँति महाराज पृथु गो-रक्षा, गुरुओं तथा योग्य ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धालु थे। वे अत्यन्त विनम्र तथा भद्र भी थे और जब भी वे जनता के लिए कोई परोपकारी या कल्याणकारी कार्य करते तो वे उसी प्रकार परिश्रम करते मानो वह उनका निजी कार्य हो। दूसरे शब्दों में, उनके परोपकारी कार्य दिखावे के लिए नहीं होते थे, अपितु निजी भावना तथा निष्ठा से किये जाते थे। समस्त परोपकारी कार्य इसी तरह किये जाने चाहिए।

कीर्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिस्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह ।
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः सतामिव ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

कीर्त्या—कीर्ति से; ऊर्ध्व-गीतया—उच्च घोषणा द्वारा; पुम्भिः—सामान्य जनता द्वारा; त्रै-लोक्ये—ब्रह्माण्ड भर में; तत्र तत्र—सर्वत्र; ह—निश्चय ही; प्रविष्टः—प्रवेश करते हुए; कर्ण-रन्ध्रेषु—कान के छेदों में; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; रामः—भगवान् रामचन्द्र; सताम्—भक्तों के; इव—सदृश।

सारे ब्रह्माण्ड भर में—उच्चतर, निम्नतर तथा मध्य लोकों में—पृथु महाराज की कीर्ति उच्च स्वर से घोषित की जा रही थी। सभी महिलाओं तथा साधु पुरुषों ने उनकी महिमा को सुना जो

भगवान् रामचन्द्र की महिमा के समान मधुर थी।

तात्पर्य : इस श्लोक में *स्त्रीणाम्* तथा *राम:* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। स्त्रियाँ कुछ वीरों की प्रशंसा को बड़े ही ध्यान से सुनती और उसका आनन्द लेती हैं। इस श्लोक से लगता है कि पृथु महाराज की ख्याति इतनी व्यापक थी कि ब्रह्माण्ड-भर की स्त्रियाँ उसे अत्यन्त चाव से सुनती थीं। साथ ही उनकी महिमा ब्रह्माण्ड भर में भक्तों को भी सुनाई पड़ती थी जो भगवान् रामचन्द्र की महिमा के ही समान सुख देने वाली थी। भगवान् रामचन्द्र का राज्य आज भी विद्यमान है और भारत में तो रामराज्य दल नामक राजनीतिक दल भी बन गया था, जो राम के राज्य के ही समान राज्य स्थापित करना चाहता था। दुर्भाग्यवश आधुनिक राजनीतिज्ञ रामराज्य तो चाहते हैं, किन्तु राम से विहीन। यद्यपि उन्होंने ईश्वरभक्ति के विचार को समाप्त कर दिया है, तो भी वे रामराज्य स्थापित करना चाहते हैं। ऐसे प्रस्ताव भक्तों को अमान्य हैं। पृथु महाराज की ख्याति साधु पुरुषों द्वारा इसलिए सुनी जाती थी, क्योंकि वे आदर्श राजा रामचन्द्र का ही प्रतिनिधित्व करते थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''चारों कुमारों से पृथु महाराज की भेंट'' नामक बाईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter तेईस

महाराज पृथु का भगवद्धाम गमन

मैत्रेय उवाच

दृष्ट्वात्मानं प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान् ।
आत्मना वर्धिताशेषस्वानुसर्गः प्रजापतिः ॥ १ ॥

जगतस्तस्थुषश्चापि वृत्तिदो धर्मभृत्सताम् ।
निष्पादितेश्वरादेशो यदर्थमिह जज्ञिवान् ॥ २ ॥

आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहाद्रुदतीमिव ।
प्रजासु विमनःस्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; दृष्ट्वा—देखकर; आत्मानम्—शरीर की; प्रवयसम्—वृद्धावस्था; एकदा—एक बार; वैन्यः—राजा पृथु ने; आत्म-वान्—आध्यात्मिक शिक्षा से पूर्ण रूप से ज्ञात; आत्मना—अपने द्वारा; वर्धित—बढ़ा हुआ; अशेष—अपार; स्व-अनुसर्गः—भौतिक ऐश्वर्य की उत्पत्ति; प्रजा-पतिः—प्रजा का रक्षक; जगतः—चल; तस्थुषः—अचल; च—भी; अपि—निश्चय ही; वृत्ति-दः—आजीविका देने वाला; धर्म-भृत्—धर्म मानने वाला; सताम्—भक्तों का; निष्पादित—पूर्णतया सम्पन्न किया गया; ईश्वर—भगवान् की; आदेशः—आज्ञा; यत्-अर्थम्—उनकी सहमति से; इह—इस संसार में; जज्ञिवान्—किया; आत्म-जेषु—अपने पुत्रों को; आत्म-जाम्—पृथ्वी को; न्यस्य—सूचित करते हुए; विरहात्—वियोग से;

रुदतीम् इव—मानो विलाप करती हुई; प्रजासु—प्रजा को; विमनःसु—दुखियारों को; एकः—अकेले; स-दारः—अपनी पत्नी सहित; अगात्—चला गया; तपः-वनम्—वन में जहाँ तप किया जा सके।

अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में, जब महाराज पृथु ने देखा कि मैं वृद्ध हो चला हूँ तो उस महापुरुष ने, जो संसार का राजा था, अपने द्वारा संचित सारे ऐश्वर्य को जड़ तथा जंगम जीवों में बाँट दिया। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के लिए धार्मिक नियमों के अनुसार आजीविका (पेंशन) की व्यवस्था कर दी और भगवान् के आदेशों का पालन करके, उनकी पूर्ण सहमति से उन्होंने अपने पुत्रों को अपनी पुत्रीस्वरूपा पृथ्वी को सौंप दिया। तब महाराज पृथु अपनी प्रजा को, जो राजा के वियोग के कारण विलख रही थी, त्याग कर तपस्या करने के लिए पत्नीसहित वन को अकेले चले गये।

तात्पर्य : महाराज पृथु भगवान् के *शक्त्यावेश* अवतारों में से एक थे, अतः वे इस पृथ्वी पर परमेश्वर के आदेशों को पूरा करने के लिए प्रकट हुए थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि परमेश्वर समस्त लोकों के स्वामी हैं और वे यह देखने के लिए उत्सुक रहते हैं कि प्रत्येक लोक के वासी सुखपूर्वक रहते हुए अपने-अपने कर्म करते रहें। ज्योंही कर्मों के पालन में कोई विषमता आने लगती है त्योंही भगवान् पृथ्वी पर प्रकट होते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.७) में इस प्रकार हुई है—*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।*

चूँकि राजा वेन के शासनकाल में अनेक विषमताएँ आ गईं थीं, अतः भगवान् ने अपने सबसे विश्वासपात्र भक्त महाराज पृथु को सब कुछ ठीक करने के लिए भेजा था। फलतः भगवान् के आदेशों को पूरा करने तथा संसार के मामलों को तय करने के बाद महाराज पृथु कार्यमुक्त होना चाह रहे थे। उनका प्रशासन आदर्श था और अब उनका कार्यमुक्ति-काल भी आदर्श होना था। फलतः उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँट दी और उन्हें संसार का शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। फिर वे अपनी पत्नी सहित वन को चले गये। इस सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण बात है कि कहा जाता है कि महाराज पृथु अकेले वन गये और फिर भी अपने साथ अपनी पत्नी को भी लेते गये। वैदिक नियमों के अनुसार गृहस्थ जीवन का परित्याग करने पर मनुष्य अपने साथ अपनी पत्नी को ले जा सकता है, क्योंकि पति तथा पत्नी एक इकाई माने जाते हैं। इस प्रकार वे दोनों मोक्ष के लिए साथ-साथ तपस्या कर सकते हैं। महाराज पृथु ने जो एक आदर्श व्यक्ति थे, इसी मार्ग का अनुसरण किया और यही

वैदिक सभ्यता की भी विधि है। मनुष्य को अन्त काल तक घर पर ही नहीं रहना चाहिए, अपितु उपयुक्त समय आने पर पारिवारिक जीवन से पृथक् होकर भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी करनी चाहिए। ईश्वर के *शक्त्यावेश* अवतार होने के कारण महाराज पृथु का जो श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि के रूप में वैकुण्ठ से आये थे, भगवद्धाम जाना निश्चित था। तो भी सभी प्रकार से आदर्श प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने तपोवन में कठिन तपस्या भी की। ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों गृहत्याग के बाद तपस्या करने के निमित्त अनेक तपोवन होते थे। दरअसल, भगवान् की शरण ग्रहण करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को तपोवन जाना अनिवार्य हुआ करता था, क्योंकि पारिवारिक जीवन से विरक्त होना और साथ ही घर में रहते रहना अत्यन्त कठिन होता है।

तत्राप्यदाभ्यनियमो वैखानससुसम्मते ।
आरब्ध उग्रतपसि यथा स्वविजये पुरा ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—भी; अदाभ्य—कठोर; नियमः—तपस्या; वैखानस—विरक्त जीवन (वानप्रस्थ) के नियम; सु-सम्मते—पूर्णतया मान्य; आरब्धः—प्रारम्भ करते हुए; उग्र—कठोर; तपसि—तपस्या; यथा—जिस प्रकार; स्व-विजये—संसार को जीतने में; पुरा—पहले।

पारिवारिक जीवन से निवृत्त होकर महाराज पृथु ने वानप्रस्थ जीवन के नियमों का कड़ाई से पालन किया और वन में कठिन तपस्या की। वे इन कार्यों में उसी गम्भीरता से जुट गये जिस तरह पहले वे शासन चलाने तथा हर एक पर विजय पाने के लिए जुट जाते थे।

तात्पर्य : जिस तरह पारिवारिक जीवन बिताते समय सक्रिय रहना अत्यावश्यक है, उसी तरह पारिवारिक जीवन से निवृत्त होने पर मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना आवश्यक है। ऐसा तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने आपको पूरी तरह भगवान् की भक्ति में लगाये रखे। वास्तव में वैदिक सामाजिक व्यवस्था का उद्देश्य मनुष्य को अन्ततः भगवान् के धाम वापस जाने के योग्य बनाना है। गृहस्थ आश्रम एक प्रकार से नियमित जीवन के साथ-साथ इन्द्रियतृप्ति के लिए छूट है। इसका उद्देश्य जीवन के बीच में ही विरक्त होकर तपस्या में पूरी तरह से संलग्न होना है, जिससे सदा-सदा के लिए भौतिक इन्द्रियतृप्ति से छुटकारा मिल जाय। फलतः जीवन की वानप्रस्थ अवस्था में तपस्या पर अत्यन्त बल दिया जाता है। महाराज पृथु ने वानप्रस्थ जीवन के समस्त नियमों का सही-सही पालन किया, जिसे *वैखानस आश्रम* कहते हैं। *वैखानस-सुसम्मते* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वानप्रस्थ जीवन में

विधि-विधानों का भी कठोरता से पालन किया जाता है। दूसरे शब्दों में, महाराज पृथु जीवन के हर क्षेत्र में आदर्श चरित्र थे। *महाजनो येन गत: स पन्था:*—मनुष्य को चाहिए कि महापुरुषों के पदचिह्नों पर चले। इस प्रकार महाराज पृथु के आदर्श चरित्र का अनुसरण करके कोई भी इस जीवन में अथवा सक्रिय जीवन से निवृत्त होने पर पूर्ण बन सकता है। इस प्रकार इस शरीर को त्याग कर मनुष्य मुक्त हो सकता है और भगवान् के धाम जा सकता है।

कन्दमूलफलाहार: शुष्कपर्णाशन: क्वचित् ।
अब्भक्ष: कतिचित्पक्षान्वायुभक्षस्तत: परम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कन्द—तना; मूल—जड़ें; फल—फल; आहारः—खाकर; शुष्क—सूखी; पर्ण—पत्तियाँ; अशनः—खाकर; क्वचित्—कभी-कभी; अप्-भक्षः—जल पीकर; कतिचित्—कई; पक्षान्—पखवारों तक; वायु—हवा; भक्षः—साँस लेकर; ततः परम्—तत्पश्चात्।

तपोवन में महाराज पृथु कभी वृक्षों के तने तथा जड़ें खाते रहे तो कभी फल तथा सूखी पत्तियाँ। कुछ हफ्तों तक उन्होंने केवल जल पिया। अन्त में वे केवल वायु ग्रहण करके उसी से निर्वाह करने लगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में योगियों को सलाह दी गई है कि वे जंगल में एकान्त में जाकर पवित्र स्थान में अकेले रहें। पृथु महाराज के आचरण से हम समझ सकते हैं कि जब वे जंगल गये तो उन्होंने कुछ भक्तों या शिष्यों द्वारा शहर से भेजा गया किसी प्रकार का पका भोजन नहीं खाया। जैसे ही कोई जंगल में रहने का व्रत लेता है, उसे केवल कन्द मूल, तने, फल, सूखी पत्तियाँ या प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुएँ खानी चाहिए। पृथु महाराज ने जंगल में रहने के लिए इन नियमों को कठोरतापूर्वक अंगीकार किया। अत: वे सूखी पत्तियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाते थे और थोड़े से जल के अतिरिक्त कुछ पीते भी नहीं थे। कभी-कभी तो वे केवल हवा पर रह जाते थे। कभी-कभी वे वृक्षों के कुछ फल खा लेते थे। इस प्रकार वे जंगल में रहकर भोजन के मामले में कठिन तपस्या करने लगे। दूसरे शब्दों में, जो आध्यात्मिक जीवन में उन्नति चाहता है उसे अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। श्री रूप गोस्वामी ने भी आगाह किया है कि अधिक खाना तथा अधिक श्रम नियमविरुद्ध हैं (*अत्याहार: प्रयासश्च*)। इनसे कभी भी आध्यात्मिक जीवन में उन्नति नहीं की जा सकती।

वैदिक आदेश के अनुसार जंगल में रहना पूर्णत: सतोगुणी, शहर में रहना रजोगुणी तथा वेश्यालय

या मदिरालय में रहना तामसिक है। किन्तु मन्दिर में रहना वैकुण्ठ में रहना है, क्योंकि वह प्रकृति के समस्त गुणों से परे होता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य को भगवान् के मन्दिर में रहने का सुअवसर प्रदान करता है, जो वैकुण्ठ के ही समान होता है। अत: कृष्णभक्त को न तो जंगल जाने की जरूरत है, न ही जंगल में रहने वाले महाराज पृथु या ऋषियों तथा मुनियों का कृत्रिम रूप से अनुकरण करने का प्रयास की।

श्री रूप गोस्वामी शासन के मंत्री पद से अवकाश पाने के बाद वृन्दावन गये और महाराज पृथु की भाँति एक वृक्ष के नीचे रहने लगे। तब से अनेक लोग रूप गोस्वामी के चरित्र का अनुकरण करके वृन्दावन गये हैं। किन्तु आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करने के बजाय उनमें से अनेक भौतिक आदतों में फँस गये हैं और वृन्दावन जाकर भी अवैध यौनाचार, द्यूत क्रीड़ा तथा नशे के शिकार हुए हैं। अब कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का सूत्रपात पाश्चात्य देशों में किया गया है। किन्तु पाश्चात्यवासियों के लिए सम्भव नहीं कि वे जंगल जाकर वैसी ही कठिन तपस्या करें जैसी पृथु महाराज या रूप गोस्वामी ने की थी। तो भी पाश्चात्यवासी या अन्य लोग श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का अनुसरण मन्दिर में रहकर कर सकते हैं, क्योंकि मन्दिर का वास जंगल वास से परे है। वे कृष्णप्रसाद के अतिरिक्त कुछ न ग्रहण करने का व्रत ले सकते हैं, विधि-विधानों का पालन कर सकते हैं और प्रतिदिन १६ माला हरे-कृष्ण-मंत्र का जप कर सकते हैं। इस प्रकार उनका आध्यात्मिक जीवन कभी भी विचलित नहीं होगा।

ग्रीष्मे पञ्चतपा वीरो वर्षास्वासारषाण्मुनिः ।
आकण्ठमग्नः शिशिरे उदके स्थण्डिलेशयः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ग्रीष्मे—गर्मी की ऋतु में; पञ्च-तपाः—पाँच प्रकार के ताप; वीरः—वीर; वर्षासु—वर्षा ऋतु में; आसारषाट्—वर्षा की झड़ी की पहुँच में रहकर; मुनिः—मुनियों की तरह; आकण्ठ—गले तक; मग्नः—डूबे हुए; शिशिरे—जाड़े में; उदके—जल के भीतर; स्थण्डिले-शयः—फर्श पर लेटे हुए।

वानप्रस्थ के नियमों तथा ऋषियों-मुनियों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए पृथु महाराज ने ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नियों का सेवन किया, वर्षा ऋतु में वे वर्षा की झड़ी में बाहर ही रहे और जाड़े की ऋतु में गले तक जल के भीतर खड़े रहे। वे भूमि पर बिना बिस्तर के सोते रहे।

तात्पर्य : जो भक्तियोग को स्वीकार नहीं कर सकते ऐसे ज्ञानी तथा योगी इस प्रकार की तपस्याएँ करते हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं जिससे भौतिक कल्मष से शुद्ध हो सकें। *पञ्च-तपा:* से पाँच प्रकार

की अग्नियों का बोध होता है। इस विधि में मनुष्य को अग्नि के वृत्त के भीतर बैठना होता है, जिसकी लपटें चारों ओर से निकलती हैं और सिर के ऊपर से सूर्य सीधे दहकता रहता है। तपस्या के लिए निर्धारित *पञ्चतपा:* में से यह एक प्रकार है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में मनुष्य को वर्षा की झड़ी में रहना होता है और शीत ऋतु में गले तक ठंडे पानी में बैठना होता है। जहाँ तक बिस्तर का सवाल है, तपस्वी को भूमि पर लेटना होता है। ऐसी कठिन तपस्या का उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का भक्त बनना है। जैसा की अगले श्लोक में बताया गया है।

तितिक्षुर्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः ।
आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तितिक्षुः—सहन करते हुए; यत—वश में करते हुए; वाक्—शब्द; दान्तः—इन्द्रियों को वश में करते हुए; ऊर्ध्व-रेताः—वीर्य स्खलन के बिना; जित-अनिलः—प्राण वायु को जीतते हुए; आरिराधयिषुः—केवल इच्छा करते हुए; कृष्णम्—कृष्ण को; अचरत्—अभ्यास किया; तपः—तपस्या; उत्तमम्—श्रेष्ठ।

अपनी वाणी तथा इन्द्रियों को वश में करने, वीर्य स्खलित न होने देने तथा अपने शरीर के भीतर प्राण-वायु को वश में करने के लिए महाराज पृथु ने ये सारी कठिन तपस्याएँ साधीं। यह सब उन्होंने श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किया। इसके अतिरिक्त उनका कोई अन्य प्रयोजन न था।

तात्पर्य : कलियुग के लिए *बृहन्नारदीय पुराण* में संस्तुति की गई है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा मान्य होने के लिए चौबीसों घण्टे भगवान् का नाम जपने की आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश जो लोग इस गुर को नहीं स्वीकार करते वे किसी और प्रकार की तपस्या का आश्रय लिए बिना अन्य प्रकार का छद्म चिन्तन पसन्द करते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि परिशुद्ध होने के लिए या तो ऊपर वर्णित तपस्या की कठिन विधि को स्वीकार किया जाये या फिर श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए भक्ति की जाये। जो व्यक्ति कृष्णभक्त होता है, वह अत्यन्त बुद्धिमान है, क्योंकि कलियुग में ऐसी कठिन तपस्याएँ कर पाना सम्भव नहीं है। हमें भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु जैसे महापुरुषों का अनुसरण करने की ही आवश्यकता है। स्वरचित *शिक्षाष्टक* में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने लिखा

है—*परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्तनम्*—श्रीकृष्ण के नाम की जय हो जो प्रारम्भ से हृदय को विशुद्ध करके तुरन्त मुक्ति प्रदान करता है। *भवमहादावाग्नि निर्वापनम्।* यदि समस्त योगों का असली उद्देश्य श्रीकृष्ण को प्रसन्न करना है, तो इस युग के लिए संस्तुत यह सरल भक्तियोग पर्याप्त है। किन्तु यह आवश्यक है कि भगवान् की सेवा में निरन्तर संलग्न रहा जाए। यद्यपि पृथु महाराज ने अपना तप श्रीकृष्ण के आविर्भाव के बहुत पहले किया था, किन्तु इसका उद्देश्य श्रीकृष्ण को ही प्रसन्न करना था।

ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो यह दावा करते हैं कि श्रीकृष्ण की पूजा केवल पाँच हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई जब भगवान् कृष्ण भारत में प्रकट हुए, किन्तु तथ्य यह नहीं है। पृथु महाराज ने श्रीकृष्ण की पूजा लाखों वर्ष पूर्व की, क्योंकि पृथु महाराज ध्रुव के वंशज थे जिन्होंने सत्ययुग में छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य किया था। यदि ध्रुव महाराज एक लाख वर्ष की आयु तक जीवित न रहे हों, वे छत्तीस हजार वर्षों तक कैसे राज्य करते रहे? बात तो यह है कि कृष्णपूजा सृष्टि के आरम्भ से ही विद्यमान थी और सत्ययुग, त्रेतायुग तथा द्वापर युग में से होते हुए अब कलियुग में चल रही है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, कृष्ण केवल ब्रह्मा के इसी कल्प में नहीं, अपितु प्रत्येक कल्प में प्रकट होते हैं। फलत: कृष्ण की पूजा प्रत्येक कल्प में की जाती है। ऐसा नहीं है कि जब पाँच हजार वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर श्रीकृष्ण प्रकट हुए तभी से यह पूजा चालू हुई। यह मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष है, जिसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से नहीं होती।

इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति *आरिराधयिषु: कृष्णमचरत्तप उत्तमम्* भी महत्त्वपूर्ण है। कृष्णपूजन के विशेष उद्देश्य के लिए महाराज पृथु ने अनेक प्रकार की कठिन तपस्याएँ कीं। किन्तु इस युग में श्रीकृष्ण विशेष रूप से दयालु हैं कि वे अपने दिव्य नाम के दिव्य उच्चारण से ही प्रकट हो जाते हैं। जैसाकि *नारद पञ्चरात्र* में कहा गया है—*आराधितो यदि हरिस्तपसा तत: किम्।* यदि कृष्ण की पूजा की जाए, यदि उन्नति के लक्ष्य वे ही हैं, तो अनेक प्रकार की कठोर तपस्याएँ करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लक्ष्य तो पहले ही प्राप्त हो चुका है। यदि सभी प्रकार की तपस्याएँ करके कोई कृष्ण को नहीं प्राप्त कर पाता तो उसकी सारी तपस्या व्यर्थ रहती है, क्योंकि बिना कृष्ण के सारी तपस्या वृथा का श्रम है। *श्रम एव हि केवलम्* (भागवत १.२.८)। अत: हमें यह सोचकर हतोत्साहित नहीं होना चाहिए कि हम जंगल जाकर कठिन तपस्या नहीं कर पा रहे। हमारा जीवन इतना अल्प है कि हमें

वैष्णव आचार्यों द्वारा बताये गये नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए और शान्तिपूर्वक कृष्णभक्ति करनी चाहिए। हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। नरोत्तमदास ठाकुर का तो कहना है—*आनन्दे बलहरि, भज वृन्दावन, श्रीगुरु-वैष्णव-पदे मजाइया मन।* दिव्य, आनन्दमय जीवन के लिए हरे-कृष्ण-मंत्र का जप करो, पवित्र स्थान वृन्दावन जाकर पूजा करो और सदैव भगवान् गुरु तथा वैष्णवों की सेवा करो। अत: यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन अत्यन्त सरल एवं निरापद है। हमें केवल भगवान् के आदेशों का पालन एवं उनकी शरण ग्रहण करनी होती है। इसमें हमें गुरु के आदेश का पालन करना होता है, कृष्णभक्ति का उपदेश देना होता है और वैष्णवों के पथ का अनुसरण करना होता है। गुरु के आदेशों का पालन करने तथा हरे-कृष्ण का जप करने से सब कुछ ठीक हो जाएगा।

तेन क्रमानुसिद्धेन ध्वस्तकर्ममलाशयः ।
प्राणायामैः सन्निरुद्धषड्वर्गश्छिन्नबन्धनः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तेन—इस तरह तपस्या करने से; क्रम—क्रमशः; अनु—निरन्तर; सिद्धेन—सिद्धि से; ध्वस्त—विनष्ट; कर्म—सकाम कर्म; मल—गंदी वस्तुएँ; आशयः—इच्छा; प्राण-आयामैः—प्राणायाम योग के अभ्यास से; सन्—होकर; निरुद्ध—रुका हुआ; षट्-वर्गः—मन तथा इन्द्रियाँ; छिन्न-बन्धनः—समस्त बन्धनों से मुक्त।

इस प्रकार कठिन तपस्या करने से महाराज पृथु क्रमशः आध्यात्मिक जीवन में स्थिर और सकाम कर्म की समस्त इच्छाओं से पूर्ण रूप से मुक्त हो गये। उन्होंने मन तथा इन्द्रियों को वश में करने के लिए प्राणायाम योग का भी अभ्यास किया जिससे वे सकाम कर्म की समस्त इच्छाओं से पूर्ण रूप से मुक्ति पा गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्राणायामैः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि *हठयोगी* तथा *अष्टांग योगी* प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, किन्तु सामान्यत: वे इसके उद्देश्य को नहीं जानते। प्राणायाम का उद्देश्य मन तथा इन्द्रियों को सकाम कर्म की ओर प्रवृत्त होने से रोकना है। पाश्चात्य देशों में जो तथाकथित प्राणायाम (योग) करते हैं उन्हें इसका रंचमात्र भी ज्ञान नहीं होता। प्राणायाम का उद्देश्य शरीर को बलवान तथा कठोर श्रम के लिए अनुकूल बनाना नहीं है। इसका उद्देश्य तो कृष्ण की पूजा करना है। पिछले श्लोक में इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि पृथु महाराज जो भी तप, प्राणायाम तथा योग करते थे उसका उद्देश्य श्रीकृष्ण का पूजन था। अत: योगियों के लिए भी पृथु महाराज एक उत्तम उदाहरण का काम कर सकते हैं। जो भी उन्होंने किया वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण को प्रसन्न

करने के लिए था।

जो सकाम कर्म में व्यस्त रहते हैं उनके मन सदैव अपवित्र इच्छाओं से पूर्ण रहते हैं। सकार्म कर्म द्वारा हम अपनी दूषित इच्छाओं को प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रकट करते हैं। जब तक मनुष्य में दूषित इच्छाएँ प्रबल रहती हैं, उसे एक के बाद दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। तथाकथित योगी योग के असली उद्देश्य को समझे बिना अपने शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए योग का अभ्यास करते हैं। इस प्रकार वे सकाम कर्म में प्रवृत्त होते हैं और इच्छाओं से बँधकर उन्हें दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। उन्हें इसका ज्ञान नहीं होता कि जीवन का चरम लक्ष्य श्रीकृष्ण तक पहुँचना है। ऐसे योगियों को विभिन्न योनियों में विचरण करते रहने से बचाने के लिए शास्त्रों की यह चेतावनी है कि इस युग में योगाभ्यास एक तरह से समय का अपव्यय है। ऊपर उठने का एकमात्र साधन हरे-कृष्ण-महामंत्र का जप है।

राजा पृथु के कार्यकलाप सत्ययुग में हुए थे। किन्तु आधुनिक युग में पतितात्माएँ योग अभ्यास को ठीक से नहीं समझ पातीं और वे इसका अभ्यास करने से असमर्थ हैं। फलत: शास्त्रों का कथन है— *कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।* निष्कर्ष यह निकला कि जब तक कर्मी, ज्ञानी तथा योगी भगवान् कृष्ण की भक्ति के बिन्दु तक नहीं पहुंच जाते, तब तक उनके तथाकथित तप तथा योग का कोई महत्त्व नहीं होता। *नाराधित:*—यदि हरि की पूजा नहीं की जाती तो ध्यान योग, कर्म योग इत्यादि करने से कोई लाभ नहीं। जहाँ तक प्राणायाम की बात है, भगवान् के नाम का कीर्तन तथा प्रेमविभोर होकर नाचना भी प्राणायाम माने जाते हैं। एक पिछले श्लोक में सनत्कुमार ने महाराज पृथु को भगवान् वासुदेव की सेवा में निरन्तर रत रहने का आदेश दिया है।

यत्पादपंकजपलाशविलासभक्त्या

कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्त:।

केवल वासुदेव को पूजने से सकाम कर्म की इच्छाओं से मुक्त हुआ जा सकता है। वासुदेव की पूजा किये बिना योगियों तथा ज्ञानियों को ऐसी इच्छाओं से मुक्ति नहीं मिल पाती।

तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-

स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।

(भागवत ४.२२.३९)

यहाँ पर प्रणायाम का कोई अन्य उद्देश्य नहीं है। वास्तविक उद्देश्य तो मन तथा इन्द्रियों को सुद्दढ़ करना है, जिससे उन्हें भक्ति की ओर प्रवृत्त किया जा सके। इस युग में यह संकल्प हरे कृष्ण नाम का कीर्तन मात्र करने से आसानी से प्राप्त हो सकता है।

सनत्कुमारो भगवान्यदाहाध्यात्मिकं परम् ।
योगं तेनैव पुरुषमभजत्पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सनत्-कुमारः—सनत्कुमार ने; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; यत्—जो; आह—कहा; आध्यात्मिकम्—जीवन की आध्यात्मिक उन्नति; परम्—चरम; योगम्—योग; तेन—उससे; एव—निश्चय ही; पुरुषम्—परम पुरुष; अभजत्—पूजा की; पुरुष-ऋषभः—मनुष्यों में श्रेष्ठ।

इस प्रकार मनुष्यों में श्रेष्ठ महाराज पृथु ने आध्यात्मिक उन्नति के उस पथ का अनुसरण किया जिसका उपदेश सनत्कुमार ने किया था; अर्थात् उन्होंने भगवान् कृष्ण की पूजा की।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि संत सनत्कुमार के उपदेशानुसार महाराज पृथु प्राणायाम योग करते हुए भगवान् की सेवा में लगे रहे। इस श्लोक में *पुरुषमभजत्पुरुषर्षभः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *पुरुषर्षभः* महाराज पृथु के लिए आया है, जो मनुष्यों में श्रेष्ठ थे और *पुरुषम्* भगवान् के लिए आया है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जो पुरुषों में श्रेष्ठ होता है, वह परम पुरुष की सेवा करता है। एक *पुरुष* शब्द पूजनीय के लिए तथा दूसरा *पुरुष* शब्द पूजक के लिए है। जब पूजा करने वाला पुरुष अर्थात् जीवात्मा अपने को परम पुरुष से एकाकार मानता है, तो वह मोहित होकर अविद्या के अंधकार में गिर जाता है। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (२.१२) में कहा है—युद्धक्षेत्र में एकत्र सभी प्राणी तथा कृष्ण भी स्वयं भूतकाल में भी व्यक्तियों के रूप में थे और भविष्य में भी रहेंगे। फलतः दोनों पुरुष—जीवात्मा तथा परमात्मा—कभी भी अपनी सत्ता नहीं खोते।

वास्तव में जो स्वरूपसिद्ध है, वह इस जन्म में तथा अगले जन्मों में भी भगवान् की सेवा में लगा रहता है। भक्तों के लिए वास्तव में इस जीवन तथा अगले जीवन में कोई अन्तर नहीं रहता। इस जीवन में नवदीक्षित भक्त को भगवान् की सेवा करने का प्रशिक्षण दिया जाता है और अगले जीवन में वह वैकुण्ठ में भगवान् के निकट पहुँच जाता है और वैसी ही सेवा करता रहता है। नवदीक्षित भक्त के लिए भी भक्ति *ब्रह्मभूयाय कल्पते* मानी जाती है। भगवद्भक्ति को कभी भी भौतिक कर्म नहीं माना

जाता। *ब्रह्मभूत* पद से कर्म करने के कारण भक्त पहले ही मुक्त हो जाता है। अत: उसे ब्रह्मभूत अवस्था तक पहुँचने के लिए किसी अन्य प्रकार के योग-साधन की आवश्यकता नहीं रहती। यदि भक्त गुरु के आदेशों पर अटल रहता है, विधि-विधानों का पालन करता है और हरे-कृष्ण-मंत्र का जप करता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने ब्रह्मभूत अवस्था पहले ही प्राप्त कर ली है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्ण भक्ति में रत और सभी परिस्थितियों में अचूक बना रहता है, वह प्रकृति के गुणों को तुरन्त पार कर लेता है और ब्रह्म के पद को प्राप्त होता है।"

भगवद्धर्मिण: साधो: श्रद्धया यतत: सदा ।
भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाभवत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भगवत्-धर्मिण:—भगवान् की भक्ति करने वाला; साधो:—भक्त का; श्रद्धया—श्रद्धा से; यतत:—प्रयास करते हुए; सदा—सदैव; भक्ति:—भक्ति; भगवति—भगवान् की; ब्रह्मणि—निर्गुण ब्रह्म की उत्पत्ति; अनन्य-विषया—बिना किसी विचलन के, दृढ़; अभवत्—हो गया।

इस प्रकार महाराज पृथु चौबीसों घंटे कठोरता से विधि-विधानों का पालन करते हुए पूर्ण रूप से भक्ति में लग गये। इससे भगवान् कृष्ण के प्रति इनमें प्रेम तथा भक्ति का उदय हुआ और वे स्थिर हो गये।

तात्पर्य : *भगवद् धर्मिण:* शब्द बताता है कि महाराज पृथु जिस धार्मिक विधि का पालन कर रहे थे वह कृत्रिमता से दूर थी। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ (१.१.२) में कहा गया है—*धर्म: प्रोज्झितकैतवोऽत्र*—जो धार्मिक नियम केवल कृत्रिम हैं, वे ठगने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वीर राघवाचार्य ने *भगवद्-धर्मिण:* की व्याख्या *निवृत्त-धर्मेण* के रूप में की है, जिससे सूचित होता है कि यह भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं से कलुषित नहीं हो सकता। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

जब कोई भौतिक इच्छाओं से प्रेरित नहीं होता, सकाम कर्म की विधियों से दूषित तथा मनगढ़त

चिन्तन से दूषित नहीं होता और अच्छी तरह भगवान् की अनुकूल सेवा में लगा रहता है, तो उसकी सेवा भगवद्धर्म या शुद्ध भक्ति कहलाती है। इस श्लोक में *ब्रह्मणि* निर्गुण ब्रह्म का सूचक नहीं है। निर्गुण ब्रह्म भगवान् के अधीन है और चूँकि निर्गुण ब्रह्म के उपासक ब्रह्म तेज से एकाकार होना चाहते हैं, अत: वे भगवद्धर्म के अनुयायी नहीं कहे जा सकते। अपने भौतिक सुख में भ्रमित होकर निर्विशेषवादी भगवान् के अस्तित्व में मिल जाना चाहता है, किन्तु भगवान् का शुद्ध भक्त ऐसा कभी नहीं चाहता। अत: शुद्ध भक्त वास्तव में भगवद्धर्मी होता है।

इस श्लोक से स्पष्ट है कि महाराज पृथु कभी भी निर्गुण *ब्रह्म* के उपासक न थे, वे सदैव भगवान् के शुद्ध भक्त ही रहे। *भगवति ब्रह्मणि* से ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जो भगवान् की भक्ति में लगा रहता है। भक्त का निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान स्वत: प्रकट हो जाता है और वह निर्गुण ब्रह्म में कभी भी एकाकार होना नहीं चाहता। महाराज पृथु अपने भक्ति सम्बन्धी कार्यों को पूरा करने में स्थिर हो गये। उन्हें कर्म, ज्ञान या योग की शरण नहीं लेनी पड़ी।

तस्यानया भगवत: परिकर्मशुद्ध-
सत्त्वात्मनस्तदनुसंस्मरणानुपूर्त्या ।
ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन
चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अनया—इससे; भगवत:—भगवान् का; परिकर्म—भक्ति के कार्य; शुद्ध—शुद्ध, दिव्य; सत्त्व—अस्तित्व; आत्मन:—मन का; तत्—परमेश्वर का; अनुसंस्मरण—निरन्तर स्मरण; अनुपूर्त्या—ठीक से किये जाने पर; ज्ञानम्—ज्ञान; विरक्ति—अनासक्ति; मत्—रखते हुए; अभूत्—प्रकट हुआ; निशितेन—उत्कट कार्यों से; येन—जिससे; चिच्छेद—पृथक् होते हैं; संशय-पदम्—संदेह की स्थिति; निज—अपनी; जीव-कोशम्—जीवात्मा का आवरण (कोश)।

निरन्तर भक्ति करते रहने से पृथु महाराज का मन शुद्ध हो गया, अत: वे भगवान् के चरणारविन्द का निरन्तर चिन्तन करने लगे। इससे वे पूरी तरह से विरक्त हो गये और पूर्णज्ञान प्राप्त करके समस्त संशयों से परे हो गये। इस तरह वे मिथ्या अहंकार तथा जीवन के भौतिक बोध से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : *नारद पञ्चरात्र* में भगवान् की भक्ति की उपमा महारानी से दी गई है। जब महारानी दर्शन देती हैं, तो अनेक सेविकाएँ उसके साथ रहती हैं। भक्ति की सेविकाएँ हैं—ऐश्वर्य, मुक्ति तथा योग शक्तियाँ। कर्मी लोग भौतिक सुख में बहुत लिप्त रहते हैं, ज्ञानी लोग भौतिक बन्धन से छुटकारा पाने

के लिए इच्छुक रहते हैं और योगी आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। *नारद पंचरात्र* से हमें ज्ञात होता है कि जिसे शुद्ध भक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है उसे सकाम कर्मों से प्राप्त होने वाले समस्त ऐश्वर्य, दार्शनिक चिन्तन तथा योग अभ्यास भी प्राप्त हो जाते हैं। अत: श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने अपने *कृष्णकर्णामृत* में प्रार्थना की है, ''हे भगवान्! यदि मुझमें आपके लिए अटूट भक्ति है, तो आप साक्षात् मेरे समक्ष प्रकट हों। फिर तो सकाम कर्मों के फल तथा दार्शनिक चिन्तन—*धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष*—ये सब मेरे अनुचर बनकर मेरे आदेश की प्रतीक्षा में खड़े रहेंगे।'' भाव यह है कि ज्ञानी लोग ब्रह्मविद्या से संस्कारित होकर भौतिक प्रकृति के चंगुल से निकलने के लिए अधिक प्रयास करते हैं। किन्तु भक्त ही ऐसा है, जो अपनी भक्ति के बल पर स्वत: अपने भौतिक शरीर से विरक्त हो जाता है। जब भक्त का आध्यात्मिक शरीर व्यक्त होने लगता है तब वह वास्तव में दिव्य जीवन के कार्यों में प्रवेश कर जाता है।

इस समय हमारा सम्पर्क भौतिक शरीर, भौतिक मन तथा भौतिक बुद्धि से बना हुआ है, किन्तु जब हम इन भौतिक अवस्थाओं से मुक्त हो जाते हैं, तो हमारे बुद्धि, मन तथा आध्यात्मिक शरीर प्रकट होते हैं। उस अध्यात्मिक अवस्था में, भक्त को कर्म, ज्ञान तथा योग के सारे लाभ प्राप्त होते हैं। यद्यपि भक्त यौगिक प्रक्रिया प्राप्त करने के लिए कभी भी सकाम कर्मों अथवा दार्शनिक चिन्तन में नहीं लगता, किन्तु वे स्वत: उसके समक्ष सेवा हेतु प्रकट हो जातेऋ हैं। भक्त किसी प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य नहीं चाहता किन्तु यह ऐश्वर्य उसके समक्ष अपने आप प्रकट हो जाता है। उसे इसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। अपनी भक्ति के कारण वह स्वत: *ब्रह्मभूत* हो जाता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्ण भक्ति में रत है और सभी परिस्थितियों में अचूक बना रहता है, वह प्रकृति के गुणों को तुरन्त पार कर लेता है और ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।''

नियमित भक्ति करते रहने के कारण भक्त को जीवन की दिव्य स्थिति प्राप्त होती है। उसका मन अध्यात्म में लगा रहने के कारण वह भगवान् के चरणकमलों के अतिरिक्त कुछ और सोच ही नहीं

सकता। *संस्मरण-अनुपूर्त्या* शब्द का अर्थ यही है। भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर चिन्तन करते हुए भक्त अविलम्ब शुद्ध सत्त्व में स्थित हो जाता है। *शुद्ध सत्त्व* वह पद है, जो सतोगुण समेत प्रकृति के गुणों से ऊपर होता है। इस भौतिक जगत में सतोगुण परम सिद्धि का सूचक है, किन्तु मनुष्य को इस गुण को भी लाँघकर *शुद्ध सत्त्व* अवस्था तक पहुँचना होता है, जहाँ भौतिक प्रकृति के तीनों गुण अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—यदि किसी की पाचन शक्ति प्रबल है, तो भोजन करने के पश्चात् उसके उदर में स्वत: इतनी अग्नि उत्पन्न हो जाती है कि बिना किसी ओषधि के सब कुछ पच सकता है। इसी प्रकार भक्ति की अग्नि इतनी प्रबल होती है कि भक्त को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने या भौतिक आकर्षण से विरक्ति के लिए अलग से कुछ नहीं करना होता। ज्ञानी ज्ञान के विषय में दीर्घकाल तक विवेचन करते रहने से भौतिक आकर्षणों से विरक्त हो सकता है और अन्त में इस तरह *ब्रह्मभूत* अवस्था तक पहुँच सकता है, किन्तु भक्त को यह सब झंझट नहीं करनी पड़ती। अपनी भक्ति के बल पर वह बिना किसी शंका के *ब्रह्मभूत* अवस्था को प्राप्त होता है। योगी तथा ज्ञानी अपनी स्वाभाविक स्थिति के सम्बन्ध में सदैव संशयग्रस्त रहते हैं, इसीलिए वे अपने को गलती से परमेश्वर से एक हो जाने की सोचते रहते हैं। किन्तु भक्त का परमेश्वर से सम्बन्ध नि:संशय रूप से स्पष्ट रहता है और उसे तुरन्त समझ में आ जाता है कि उसकी स्थिति नितान्त दास की है। ज्ञानी तथा योगी भक्ति के बिना अपने को मुक्त समझ सकते हैं, किन्तु उनकी बुद्धि भक्त जितनी विमल नहीं होती। दूसरे शब्दों में, ज्ञानी तथा योगी जब तक भक्तों की स्थिति को प्राप्त नहीं हो लेते तब तक वास्तव में मुक्त नहीं हो सकते। *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) का कथन है—

आरुह्य कृच्छ्रेन परं पदं तत:

पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रिय: ।

ज्ञानी तथा योगी ब्रह्मसाक्षात्कार के सर्वोच्च पद तक उठ सकते हैं, किन्तु भगवान् के चरणारविन्द के प्रति भक्ति के अभाव में वे पुन: भौतिक प्रकृति में आ गिरते हैं। अत: ज्ञान तथा योग को मुक्ति की असली विधि नहीं मान लेना चाहिए। महाराज पृथु ने भक्ति के द्वारा इन स्थितियों को स्वत: लाँघ लिया था। चूँकि वे भगवान् के *शक्त्यावेश* अवतार थे, अत: मुक्ति पाने के लिए उन्हें कुछ नहीं करना पड़ा।

वे पृथ्वी पर भगवान् की इच्छापूर्ति हेतु वैकुण्ठ लोक से आये थे, फलतः उन्हें ज्ञान, योग या कर्म किये बिना ही भगवान् के धाम को वापस जाना था। यद्यपि पृथु महाराज भगवान् के शुद्ध भक्त थे, फिर भी उन्होंने लोगों को जीवन के कर्तव्यों को सही ढंग से सम्पन्न करने तथा अन्ततः भगवान् के धाम वापस जाने की समुचित विधि सिखाने के लिए भक्ति की प्रक्रिया स्वीकार की।

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह-
स्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन ।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

छिन्न—पृथक् होकर; अन्य-धीः—जीवन के अन्य बोध (देहात्म बुद्धि); अधिगत—पूर्ण आश्वस्त होकर; आत्म-गतिः—आध्यात्मिक जीवन का चरम लक्ष्य; निरीहः—इच्छारहित; तत्—उसे; तत्यजे—त्याग दिया; अच्छिनत्—काट दिया था; इदम्—यह; वयुनेन—ज्ञान से; येन—जिससे; तावत्—तब तक; न—कभी नहीं; योग-गतिभिः—योग पद्धति का अभ्यास; यतिः—अभ्यास करने वाला; अप्रमत्तः—बिना किसी भ्रम के; यावत्—जब तक; गदाग्रज—कृष्ण का; कथासु—शब्द; रतिम्—आकर्षण; न—कभी नहीं; कुर्यात्—इसे करो।

जब महाराज पृथु देहात्मबुद्धि से पूर्ण रूप से मुक्त हो गये तो उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण को परमात्मा रूप में प्रत्येक के हृदय में स्थित देखा। इस प्रकार उनसे सारे आदेश पाने में समर्थ होने पर उन्होंने योग तथा ज्ञान की अन्य सारी विधियाँ त्याग दीं। ज्ञान तथा योग की सिद्धियों में भी उनकी रुचि नहीं रह गई, क्योंकि उन्होंने पूरी तरह यह अनुभव किया कि जीवन का चरम लक्ष्य तो श्रीकृष्ण की भक्ति है और जब तक योगी तथा ज्ञानी कृष्णकथा के प्रति आकृष्ट नहीं होते, संसार सम्बन्धी उनके सारे भ्रम (मोह) कभी भी दूर नहीं हो सकते।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य देहात्मबुद्धि में अत्यधिक लीन रहता है, तब तक वह आत्म-साक्षात्कार की अनेकानेक विधियों में रुचि लेता रहता है, यथा योग विधि या चिन्तन इत्यादि। किन्तु जब मनुष्य समझ लेता है कि जीवन का परम लक्ष्य श्रीकृष्ण तक पहुँचना है, तो वह अपने हृदय के भीतर कृष्ण का अनुभव करने लगता है और कृष्णभावनामृत में स्थित प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करने लगता है। वास्तव में जीवन की पूर्णता श्रीकृष्ण के विषय में सुनने की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है—*यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्।* जब तक मनुष्य कृष्ण में तथा उनकी लीलाओं में रुचि नहीं रखता तब तक योग विधि से या ज्ञान द्वारा मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

भक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद महाराज पृथु को ज्ञान तथा योग की विधियों में अरुचि हो गई, अत: उन्हें त्याग दिया। यह शुद्ध भक्तिमय जीवन की अवस्था है, जिसका वर्णन रूप गोस्वामी ने किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्मद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

वास्तविक ज्ञान का अर्थ यह समझ लेना है कि जीवात्मा भगवान् का नित्य दास है। यह ज्ञान अनेकानेक जन्मों के बाद प्राप्त होता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१९) में हुई है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।* परमहंस अवस्था में मनुष्य कृष्ण को ही सब कुछ मान लेता है—*वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:।* जब मनुष्य समझने लगता है कि श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं और कृष्णभक्ति (चेतना) ही जीवन की परम सिद्धि है, तो वह परमहंस या महात्मा हो जाता है। ऐसा महात्मा या परमहंस दुर्लभ होता है। परमहंस या शुद्ध भक्त कभी भी हठयोग या चिन्तन के प्रति आकर्षित नहीं होता। वह तो भगवान् की अमिश्रित भक्ति में ही रुचि रखता है। इन विधियों का पूर्व-अभ्यस्त व्यक्ति कभी कभी भक्ति के साथ-साथ ज्ञान तथा योग का भी अभ्यास करता है, किन्तु ज्योंही वह अमिश्रित भक्ति की अवस्था को प्राप्त होता है, वह आत्म-साक्षात्कार की अन्य समस्त विधियों को त्याग देता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य जब एक बार श्रीकृष्ण को सुस्पष्ट रूप से चरम लक्ष्य समझ लेता है, वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग या चिन्तन विधियों से मुख मोड़ लेता है।

एवं स वीरप्रवर: संयोज्यात्मानमात्मनि ।
ब्रह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेवरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स:—उसने; वीर-प्रवर:—वीरों में श्रेष्ठ; संयोज्य—प्रयुक्त करके; आत्मानम्—मन को; आत्मनि—परमात्मा में; ब्रह्म-भूत:—मुक्त होकर; दृढम्—दृढ़तापूर्वक; काले—समय आने पर; तत्याज—त्याग दिया; स्वम्—अपना; कलेवरम्—शरीर।.

समय आने पर जब पृथु महाराज को अपना शरीर त्याग करना था उन्होंने अपने मन को दृढ़तापूर्वक श्रीकृष्ण के चरणकमलों में स्थिर कर लिया और इस प्रकार से ब्रह्मभूत अवस्था में स्थित होकर उन्होंने भौतिक शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : एक बंगाली कहावत के अनुसार जीवन में मनुष्य जितनी आध्यात्मिक उन्नति करता है,

उसकी परीक्षा मृत्यु के समय होगी। *भगवद्‌गीता* (८.६) में भी इसकी पुष्टि हुई है—*यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्‌भावभावित:।* कृष्णभक्ति करने वाले जानते हैं कि उनकी परीक्षा मृत्यु के समय होनी है। यदि मरते समय भी कोई कृष्ण का स्मरण कर सकता है, तो उसे गोलोक वृन्दावन या कृष्णलोक मिलता है और इस प्रकार उसका जीवन सफल हो जाता है। पृथु महाराज जब कृष्ण के अनुग्रह से जान गये कि उनका काल निकट है, तो वे अत्यन्त आनन्दित हो उठे और ब्रह्मभूत अवस्था में योग-विधि का अभ्यास करते हुए अपना शरीर त्यागने के लिए सन्नद्ध हो गये। अगले श्लोकों में इसका पूरा वर्णन है कि स्वेच्छा से अपने शरीर को त्याग कर भगवान् के धाम को कैसे जाया जा सकता है। पृथु महाराज की भाँति मृत्यु के समय किये गये योगाभ्यास से मनुष्य शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ होते हुए भी शरीर को जल्दी से त्याग सकता है। प्रत्येक भक्त शारीरिक तथा मानसिक रूप से स्वस्थ रहते हुए शरीर त्यागना चाहता है। राजा कुलशेखर ने भी *मुकुन्द-माला-स्तोत्र* में यही कामना व्यक्त की थी—

कृष्ण त्वदीयपदपंकज-पञ्जरान्तम्
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंस:।
प्राण-प्रयाणसमये कफवातपित्तै:
कण्ठावरोधन-विधौ स्मरणं कुतस्ते॥

राजा कुलशेखर स्वस्थ रहते हुए अपना शरीर छोड़ना चाहते थे, अत: उन्होंने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि वे शरीर तथा मन से स्वस्थ रहते ही उन्हें तुरन्त मरने दें। जब मनुष्य मरता है, तो प्राय: वात, पित्त तथा कफ से उसका कण्ठ रुद्ध हो जाता है। चूँकि कण्ठ रुद्ध होने पर उच्चारण कर पाना दुष्कर हो जाता है, अत: श्रीकृष्ण की कृपा से ही मृत्यु के समय हरे-कृष्ण का जप हो पाता है। किन्तु अपने को मुक्तासन-स्थिति में रखकर योगी तुरन्त शरीर त्याग देता है और जिस लोक में चाहता है चला जाता है। सिद्ध योगी योग के बल से इच्छानुसार देह का त्याग कर सकता है।

सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयञ्छनैः ।
नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरःकण्ठशीर्षणि ॥ १४॥

शब्दार्थ

सम्पीड्य—रोककर; पायुम्—गुदाद्वार; पार्ष्णिभ्याम्—एड़ी से; वायुम्—ऊपर जाने वाली वायु को; उत्सारयन्—ऊपर धकेलकर; शनैः—धीरे-धीरे; नाभ्याम्—नाभि से; कोष्ठेषु—हृदय तथा कण्ठ में; अवस्थाप्य—स्थिर करके; हृत्—हृदय में; उरः—ऊपर की ओर; कण्ठ—गला, कंठ; शीर्षणि—दोनों भौहों के मध्य (मस्तक) में।

जब महाराज पृथु ने विशेष यौगिक आसन साधा तो उन्होंने अपनी एड़ियों से अपना गुदाद्वार बन्द कर लिया और दोनों एड़ियों को दबाया, फिर धीरे-धीरे प्राणवायु को नाभिचक्र से होते हुए वे हृदय तथा कण्ठ तक ऊपर की ओर ले गये और अन्त में उसे दोनों भौहों के मध्य पहुँचा दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर जिस आसन का वर्णन है, वह *मुक्तासन* है। योग विधि में निद्रा, भोजन तथा मैथुन को वश में करने वाले कठोर विधि-विधानों का पालन करने के बाद विभिन्न आसनों की अनुमति दी जाती है। योगी का चरम लक्ष्य इच्छानुसार अपने शरीर का त्याग करने में समर्थ होना है। जिसने योगाभ्यास में सिद्धि प्राप्त कर ली है, वह जब तक चाहता है शरीर में रहता है या जब तक वह पूर्ण नहीं होता, शरीर को ब्रह्माण्ड के भीतर या बाहर, जहाँ भी चाहे जाने देता है, जा सकता है। कुछ योगी अपना शरीर उच्चतर लोकों में जाकर वहाँ की भौतिक सुविधाओं का भोग करने के लिए छोड़ते हैं। किन्तु बुद्धिमान योगी इस संसार में व्यर्थ अपना समय गँवाना नहीं चाहते, वे उच्चतर लोकों की भौतिक सुविधाओं की भी परवाह नहीं करते। वे तो दिव्याकाश में सीधे भगवान् के धाम पहुँचने में रुचि रखते हैं।

इस श्लोक के वर्णन से पता लगता है कि महाराज पृथु उच्चतर लोकों में जाने के तनिक भी इच्छुक न थे। वे तुरन्त भगवान् के धाम लौटना चाह रहे थे। यद्यपि महाराज पृथु ने कृष्णभक्ति की प्राप्ति के पश्चात् समस्त योगाभ्यास बन्द कर दिया था, फिर भी उन्होंने पूर्व अभ्यास का लाभ उठाते हुए भगवान् के धाम जल्दी लौट जाने के लिए अपने आपको *ब्रह्मभूत* पद पर स्थापित कर लिया। इस विशेष प्रकार के आसन, मुक्तासन, का उद्देश्य कुण्डलिनी चक्र पर विजय प्राप्त करना है तथा धीरे-धीरे प्राण को *मूलाधार चक्र* से *स्वाधिष्ठान चक्र* और फिर *मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र* तथा अन्त में *आज्ञा चक्र* तक ले जाना है। जब योगी दोनों भौहों के मध्य *आज्ञाचक्र* में पहुँच जाता है, तो वह *ब्रह्मरन्ध्र* में प्रवेश करने में सक्षम होता है और तब वह किसी भी लोक को, वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक तक जा सकता है। कहने का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को भगवान् के धाम वापस जाने के लिए *ब्रह्मभूत* अवस्था पर पहुँचना होता है। किन्तु जो लोग कृष्णभक्ति करते हैं या भक्तियोग का

अभ्यास करते हैं (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्*) वे मुक्तासन का अभ्यास किये बिना ही भगवान् के पास लौट जाते हैं। मुक्तासन का उद्देश्य ब्रह्मभूत अवस्था तक जाना है, क्योंकि बिना ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त किये कोई भी दिव्याकाश में नहीं जा सकता। *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

भक्तियोग का अभ्यास करने वाला भक्तियोगी निरन्तर ब्रह्मभूत अवस्था में स्थित रहता है (*ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। यदि भक्त ब्रह्मभूत पद पर रह सकता है, तो वह मृत्यु के बाद स्वतः दिव्याकाश में प्रवेश करता है और भगवान् के पास वापस चला जाता है, अतः भक्त को इसका खेद नहीं होना चाहिए कि वह कुण्डलिनी चक्र का अभ्यास नहीं कर पाया अथवा एक के पश्चात् एक छहों चक्रों को भेद नहीं सका। जहाँ तक महाराज पृथु की बात है, वे इस विधि का पहले ही अभ्यास कर चुके थे और चूँकि वे अपनी सहज मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने *षट्चक्र* भेदन की विधि का लाभ उठाया और इच्छानुसार अपने शरीर का त्याग करके दिव्याकाश में प्रवेश किया।

उत्सर्पयंस्तु तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः ।
वायुं वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

उत्सर्पयन्—इस प्रकार स्थापित करते हुए; तु—लेकिन; तम्—वायु को; मूर्ध्नि—सिर में; क्रमेण—धीरे-धीरे; आवेश्य—रखते हुए; निःस्पृहः—समस्त इच्छाओं से मुक्त होकर; वायुम्—शरीर के वायु भाग को; वायौ—ब्रह्माण्डकोश की समग्र वायु में; क्षितौ—सम्पूर्ण पृथ्वीकोश में; कायम्—भौतिक शरीर को; तेजः—शरीर की अग्नि; तेजसि—भौतिक कोश की सम्पूर्ण अग्नि में; अयूयुजत्—मिला दिया।

इस प्रकार पृथु महाराज अपने प्राणवायु को धीरे धीरे ब्रह्मरन्ध्र तक ऊपर ले गये जिससे उनकी समस्त सांसारिक आकांक्षाएँ समाप्त हो गईं। उन्होंने धीरे-धीरे अपने प्राण वायु को समष्टि वायु में, अपने शरीर को समष्टि पृथ्वी में और अपने शरीर की अग्नि (तेज) को समष्टि अग्नि में लीन कर दिया।

तात्पर्य : आध्यात्मिक चिनगारी (*ब्रह्मज्योति*), जो बाल की नोक के दस हजारवें भाग के बराबर बताई जाती है, इस भौतिक संसार में बलपूर्वक भेजी जाती है। यह चिनगारी स्थूल भौतिक तथा सूक्ष्म

तत्त्वों से ढक जाती है। भौतिक शरीर पाँच स्थूल तत्त्वों—क्षिति, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश (ईथर)—तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों—मन, बुद्धि तथा अहंकार—से बना होता है। जब मनुष्य को मुक्ति मिलती है, तो वह इन भौतिक कोशों (आवरणों) से बाहर निकल जाता है। दरअसल, योग की सफलता इन भौतिक आवरणों से मुक्ति पाने तथा आध्यात्मिक जगत में प्रविष्ट होने में निहित है। भगवान् बुद्ध की निर्वाण सम्बन्धी शिक्षाएँ इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं। उन्होंने अपने शिष्यों को ध्यान तथा योग के सहारे इन भौतिक आवरणों को त्यागने की शिक्षा दी। उन्होंने आत्मा के विषय में कोई सूचना नहीं दी, किन्तु यदि उनके उपदेशों का ठीक से पालन किया जाये तो मनुष्य भौतिक आवरणों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

जब कोई जीवात्मा भौतिक आवरणों को त्यागता है, तो वह आत्मा के रूप में बना रहता है। इस आत्मा को ब्रह्मज्योति में मिलने के लिए चिन्मय आकाश में प्रवेश करना होता है। दुर्भाग्यवश जब तक जीवात्मा को आध्यात्मिक जगत तथा वैकुण्ठ लोकों की जानकारी नहीं रहती तब तक ९९.९ प्रतिशत सम्भावना यही रहती है कि वह पुनः भौतिक जगत में आ गिरे। किन्तु ब्रह्मज्योति से आध्यात्मिक लोक में जाने की सम्भावना बहुत कम होती है। निर्विशेषवादी इस ब्रह्मज्योति में विविधता नहीं मानते और बौद्ध लोग इसे शून्य मानते हैं। प्रत्येक दशा में, चाहे कोई दिव्याकाश को बिना विविधता के माने या शून्य, किन्तु वैकुण्ठ या कृष्णलोक जैसे आध्यात्मिक लोकों में जो दिव्य आनन्द है, वह वहाँ नहीं मिलता। विभिन्न प्रकार के आनन्द प्राप्त न होने पर आत्मा जीवन का आनन्द भोगने के लिए आकृष्ट होता है और कृष्णलोक या वैकुण्ठलोक की कोई जानकारी न होने से वह भौतिक कार्यकलापों में आ गिरता है, जिससे वह भौतिक सुख भोग सके।

खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः ।
क्षितिमम्भसि तत्तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

खानि—शरीर में विभिन्न इन्द्रियों के द्वार (छिद्र); आकाशे—आकाश में; द्रवम्—तरल पदार्थ; तोये—जल में; यथा-स्थानम्—उपयुक्त स्थान पर; विभागशः—जिस प्रकार वे विभाजित हैं; क्षितिम्—पृथ्वी; अम्भसि—जल में; तत्—वह; तेजसि—अग्नि में; अदः—अग्नि; वायौ—वायु में; नभसि—आकाश में; अमुम्—उस।

इस प्रकार पृथु महाराज ने अपनी इन्द्रियों के छिद्रों को आकाश में और अपने शरीर के द्रवों, यथा रक्त तथा विभिन्न स्त्रावों को, समष्टि जल में, पृथ्वी को जल में, फिर जल को अग्नि में,

अग्नि को वायु में और वायु को आकाश में मिला दिया (लीन कर दिया)।

तात्पर्य : इस श्लोक में महत्त्वपूर्ण शब्द हैं— *यथास्थानं विभागशः। श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध के पंचम अध्याय में ब्रह्मा ने नारद से स्पष्ट बताया है कि सृष्टि कैसे बनी और फिर इन्द्रियों के विभाग, इन्द्रियों के नियामक, इन्द्रियों के पदार्थ (तन्मात्रा) तथा भौतिक तत्त्व इत्यादि को एक-एक करके समझाया है। उन्होंने यह भी बताया है कि वे एक के पश्चात् एक—वायु आकाश से, अग्नि वायु से, जल अग्नि से, पृथ्वी जल से, किस प्रकार उत्पन्न हुए। सृष्टि की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है, जैसे जैसे यह दृश्य जगत पर लागू होता है। इसी प्रकार परमेश्वर द्वारा यह शरीर भी उसी प्रक्रिया से उत्पन्न किया जाता है। ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके भगवान् इस दृश्य जगत की उत्पत्ति उत्तरोत्तर करते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा माता के गर्भ में प्रवेश करके अपने स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर को समष्टि आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से अवयवों को ग्रहण करके संचित करता है। *यथास्थानं विभागशः* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को सृष्टि-प्रक्रिया समझनी चाहिए और इस सृष्टि प्रक्रिया के विलोम-क्रम पर विचार करना चाहिए जिससे भौतिक कल्मष से मुक्त हुआ जा सके।

इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम् ।
भूतादिनामून्युत्कृष्य महत्यात्मनि सन्दधे ॥ १७॥

शब्दार्थ

इन्द्रियेषु—इन्द्रियों में; मनः—मन; तानि—इन्द्रियों को; तत्-मात्रेषु—इन्द्रियों के पदार्थों में; यथा-उद्भवम्—जहाँ से उनकी उत्पत्ति हुई; भूत-आदिना—पाँचों तत्त्वों द्वारा; अमूनि—वे सारे इन्द्रिय पदार्थ (तन्मात्राएँ); उत्कृष्य—बाहर निकाल कर; महति—महत्तत्व में; आत्मनि—अहंकार को; सन्दधे—लीन कर दिया।.

उन्होंने स्थितियों के अनुसार मन को इन्द्रियों में और इन्द्रियों को इन्द्रियपदार्थों (तन्मात्राओं) में और अहंकार को समष्टि भौतिक शक्ति, महत् तत्त्व, में लीन कर दिया।

तात्पर्य : जहाँ तक अहंकार का प्रश्न है, सम्पूर्ण भौतिक शक्ति दो भागों में प्राप्त की जाती है—एक तो तमोगुण से विक्षुब्ध होकर तथा दूसरा रजोगुण तथा सतोगुण से विक्षुब्ध होकर। तमोगुण के विक्षोभ से पाँचों स्थूल तत्त्व उत्पन्न होते हैं। रजोगुण के विक्षोभ से मन और सतोगुण के विक्षोभ से मिथ्या अहंकार उत्पन्न होता है। मन की रक्षा एक विशेष देवता द्वारा होती है। कभी-कभी मन का अधीक्षक कोई देव या देवता भी माना जाता है। इस प्रकार समष्टि मन अर्थात् भौतिक देवता द्वारा नियंत्रित भौतिक मन इन्द्रियों में लीन कर दिया गया। इन्द्रियों को इन्द्रिय-पदार्थों (तन्मात्राओं) में लीन

किया गया। इन्द्रिय पदार्थ हैं—रूप, स्वाद, गंध, शब्द इत्यादि। शब्द (नाद) ही इन्द्रिय-पदार्थों का चरम स्रोत है। मन इन्द्रियों द्वारा और इन्द्रियाँ तन्मात्राओं द्वारा आकर्षित हुईं और इन सबों को अन्त में आकाश में लीन कर दिया गया। सृष्टि इस प्रकार से सुनियोजित है कि कारण तथा कार्य एक के बाद एक आते रहते हैं। प्रलय प्रक्रिया में मूल कार्य एवं कारण समाहित रहता है। चूँकि भौतिक जगत में चरम कारण *महत् तत्त्व* है, अत: प्रत्येक वस्तु क्रमश: समाप्त होकर महत् तत्त्व में लीन हो गई। इसकी तुलना *शून्यवाद* से की जा सकती है, किन्तु यह तो असली आध्यात्मिक मन या चेतना को शुद्ध करने की विधि है।

जब मन के समस्त भौतिक कल्मष धुल जाते हैं, तो शुद्ध चेतना काम करने लगती है। दिव्याकाश की ध्वनि लहरी (नाद) स्वत: ही समस्त कल्मषों को धो सकती है, जिसकी पुष्टि चैतन्य महाप्रभु ने की है—*चेतो-दर्पण-मार्जनम्।* समस्त भौतिक कल्मषों को मन से धो डालने के लिए हमें चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और हरे कृष्ण मंत्र का जप करना चाहिए। इस कठिन श्लोक का यही सारांश समझना चाहिए। ज्योंही जप की इस विधि से सारा भौतिक कल्मष धुल जाता है, त्योंही सारी इच्छाएँ तथा भौतिक कर्मों के फल लुप्त हो जाते हैं और असली शान्तिप्रद जीवन प्रारम्भ हो जाता है। इस कलियुग में इस श्लोक में वर्णित योग-विधि को सम्पन्न कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। जब तक कोई ऐसे योग में पटु न हो, सर्वोत्तम यही है कि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की विधि को अपनाया जाये और यह विधि है *श्रीकृष्ण संकीर्तनम्।* इस प्रकार हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, मंत्र के जप की सरल विधि से समस्त भौतिक कल्मषों से मुक्त हुआ जा सकता है। जिस तरह इस भौतिक संसार का प्रारम्भ भौतिक शब्द (नाद) से होता है उसी तरह आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ आध्यात्मिक शब्द (नाद) से होता है।

तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामये न्यधात्
तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान् ।
ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात्प्रभुः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; **सर्व-गुण-विन्यासम्**—समस्त गुणों के अगार; **जीवे**—उपाधियों को; **माया-मये**—समस्त शक्तियों का आगार; **न्यधात्**—स्थित किया; **तम्**—उस; **च**—भी; **अनुशयम्**—उपाधि; **आत्म-स्थम्**—आत्म-साक्षात्कार में स्थित; **असौ**—वह;

अनुशयी—जीवात्मा; पुमान्—भोक्ता; ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—विरक्ति; वीर्येण—वीर्य से; स्वरूप-स्थः—अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थित; अजहात्—धाम को वापस गया; प्रभुः—नियन्ता के।

तब पृथु महाराज ने जीवात्मा की सम्पूर्ण उपाधि माया के परम प्रभु (नियन्ता) को सौंप दी। ज्ञान तथा वैराग्य एवं भक्ति की आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा वे जीवात्मा की उन समस्त उपाधियों से मुक्त हो गये, जिनसे वे घिरे थे। इस प्रकार कृष्णभावना की अपनी मूल स्वाभाविक स्थिति (स्वरूप-स्थिति) में रहकर उन्होंने प्रभु (इन्द्रियों के नियन्ता) के रूप में अपने शरीर को त्याग दिया।

तात्पर्य : जैसाकि वेदों में कथित है भगवान् ही भौतिक शक्ति के स्रोत हैं। इसीलिए उन्हें कभी-कभी *मायामय* कहा जाता है, जिसका अर्थ है, वह परम पुरुष जो अपनी भौतिक शक्ति से लीलाएँ करता है। भगवान् की परम इच्छा से जीव भौतिक शक्ति के फन्दे में आ जाता है। *भगवद्गीता* से (१८.६१) हमें पता चलता है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

ईश्वर समस्त बद्धजीवों के हृदय में स्थित हैं और उन्हीं की परम इच्छा से जीवात्मा विभिन्न प्रकार के शरीरों में भौतिक प्रकृति के ऊपर शासन करने की सुविधा प्राप्त करता है। शरीर एक चलायमान यंत्र है, जो सम्पूर्ण भौतिक माया द्वारा प्रदत्त है। यद्यपि जीव तथा भगवान् दोनों ही भौतिक शक्ति (माया) के अन्तर्गत स्थित हैं, किन्तु भगवान् जीव को माया द्वारा विविध शरीर प्रदान करके उसकी गतियों को निर्देशित करता है। इस प्रकार जीव सारे ब्रह्माण्डों में विविध शरीर-रूपों में भ्रमण करता है और कर्मफलों में भाग लेते हुए विभिन्न स्थितियों में फँसता रहता है।

जब पृथु महाराज ज्ञान की वृद्धि तथा इच्छाओं से विरक्ति के कारण आध्यात्मिक रूप से सशक्त हो गये तो वे *प्रभु* अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी (कभी-कभी गोस्वामी या स्वामी भी) हो गये। इसका अर्थ यह हुआ कि अब वे माया द्वारा नियंत्रित नहीं हो रहे थे। जब मनुष्य इतना प्रबल हो जाता है कि माया का प्रभाव त्याग सके तो वह *प्रभु* कहलाता है। इस श्लोक का *स्वरूपस्थः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक जीव की वास्तविक पहचान यह है कि वह यह समझे कि मैं कृष्ण का शाश्वत दास हूँ। यह ज्ञान *स्वरूपोपलब्धि* कहलाता है। भक्ति करते रहने से भक्त धीरे-धीरे भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को

समझने लगता है। अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति का यह ज्ञान ही स्वरूपोपलब्धि है और जब कोई इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तो वह समझ सकता है कि वह भगवान् के साथ किस रूप में अर्थात् दास, मित्र या पिता अथवा प्रेमी के रूप में सम्बन्धित है। यह समझ *स्वरूपस्थ:* कहलाती है। पृथु महाराज को इस स्वरूप का अच्छी तरह ज्ञान था और अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जाएगा कि उन्होंने स्वयं ही इस संसार या शरीर को वैकुण्ठ से आये रथ पर चढ़कर छोड़ दिया।

इस श्लोक में *प्रभु* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि जब कोई पूर्ण रूप से स्वरूपसिद्ध हो जाता है और उसी स्थिति के अनुसार कार्य करता है, तो वह *प्रभु* कहलाता है। गुरु को ''प्रभुपाद'' कहा जाता है, क्योंकि वह पूर्ण रूप से स्वरूपसिद्ध जीव होता है। पाद का अर्थ है ''स्थान या पद'' अत: *प्रभुपाद* से सूचित होता है कि उसे प्रभु या भगवान् का पद प्रदान किया गया है, क्योंकि वह भगवान् की ओर से कार्य करता है। जब तक कोई इन्द्रियों का नियामक अथवा प्रभु नहीं होता वह गुरु की तरह कार्य नहीं कर सकता जिसे परम प्रभु भगवान् कृष्ण द्वारा अधिकृत किया होता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की प्रशंसा में कहा है—

साक्षाद् धरित्वेन समस्त शास्त्रैर्-

रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भि:।

''गुरु को परमेश्वर के ही समान आदर प्राप्त है, क्योंकि वह भगवान् का अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक है।'' इस प्रकार पृथु महाराज को भी प्रभुपाद या प्रभु कहा जा सकता है जैसाकि यहाँ पर कहा गया है। इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रश्न पूछा जा सकता है। चूँकि पृथु महाराज भगवान् के *शक्त्यावेशावतार* थे, अत: प्रभु बनने के लिए उन्हें विधि-विधानों को सम्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी? चूँकि वे इस पृथ्वी पर आदर्श राजा के रूप में प्रकट हुए थे और चूँकि राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को भक्ति करने का आदेश दे, अत: उन्होंने अन्यों को शिक्षा देने के लिए भक्ति के विधि-विधानों का पालन किया। इसी प्रकार यद्यपि चैतन्य महाप्रभु स्वयं कृष्ण थे, किन्तु उन्होंने हमें शिक्षा दी कि किस प्रकार भक्त के रूप में श्रीकृष्ण तक पहुँचा जाये। कहा गया है *आपनि आचरि' भक्ति शिखाइनु सबारे।* भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने अपने व्यक्तिगत कार्यों के माध्यम से आदर्श प्रस्तुत करते हुए अन्यों के समक्ष भक्ति की विधि की शिक्षा दी। इसी प्रकार से पृथु महाराज यद्यपि *शक्त्यावेश*

अवतार थे, प्रभु का पद प्राप्त करने के लिए एक भक्त सा आचरण किया। यही नहीं, *स्वरूपस्थ:* का अर्थ है ''पूर्ण मोक्ष'' जैसाकि भागवत (२.१०.६) में कहा गया है—*हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:*—जब जीव माया के कार्यों का परित्याग कर देता है और ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है, जिसमें वह भक्ति कर सके तो उसकी यह अवस्था *स्वरूपस्थ:* या पूर्णमोक्ष कहलाती है।

अर्चिर्नाम महाराज्ञी तत्पत्न्यनुगता वनम् ।
सुकुमार्यतदर्हा च यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुवः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अर्चि: नाम—अर्चि नामक; महा-राज्ञी—महारानी; तत्-पत्नी—महाराज पृथु की पत्नी; अनुगता—अपने पति के साथ जाने वाली; वनम्—वन को; सु-कुमारी—अत्यन्त कोमल शरीर वाली; अ-तत्-अर्हा—योग्य न होना; च—भी; यत्-पद्भ्याम्—जिसके चरण से; स्पर्शनम्—स्पर्श; भुवः—पृथ्वी पर।

पृथु महाराज की पत्नी महारानी अर्चि अपने पति के साथ वन को गई थीं। महारानी होने के कारण उनका शरीर अत्यन्त कोमल था। यद्यपि वे वन में रहने के योग्य न थीं, किन्तु उन्होंने स्वेच्छा से अपने चरणकमलों से पृथ्वी का स्पर्श किया।

तात्पर्य : पृथु महाराज की पत्नी महारानी और राजा की पुत्री भी थीं, अत: उन्हें पृथ्वी पर चलने का अनुभव न था, क्योंकि महारानियाँ महलों के बाहर निकलती ही नहीं थीं। वे जंगलों में तो नहीं ही गई थीं और उस सूनसान में रहने की कठिनाइयों का अनुभव नहीं किया था। वैदिक सभ्यता में महारानियों द्वारा ऐसे त्याग एवं पति के प्रति निष्ठा के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। जब रामचन्द्र वन को गये तो माता सीता भी पति के साथ-साथ गईं। भगवान् रामचन्द्र अपने पिता के आज्ञापालन हेतु वन गये थे, किन्तु माता सीता को ऐसा कोई आदेश नहीं था। फिर भी उन्होंने स्वेच्छा से अपने पति के मार्ग का अनुसरण किया। इसी प्रकार राजा धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी भी अपने पति के साथ वन को गईं। पृथु, भगवान् रामचन्द्र तथा धृतराष्ट्र जैसे महापुरुषों की पत्नियाँ होने के कारण वे सभी आदर्श पतिव्रता स्त्रियाँ थीं। ऐसी महारानियों ने भी सामान्य लोगों को, यह दिखाकर कि किस प्रकार पतिव्रता बन कर जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में पति का अनुगमन करना चाहिए, शिक्षाएँ दी हैं। यदि पति राजा होता है, तो वे उसके पार्श्व में महारानी की तरह बैठती हैं और यदि वह वन को जाता है, तो वे उसका अनुगमन करती हैं, भले ही वन में उन्हें कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़ें। इसलिए यहाँ यह कहा गया है (*अतद्-अर्हा*) कि यद्यपि वे अपना पाँव भूमि पर नहीं रखना चाहती थीं तो भी जब वे अपने पति

के साथ वन को गईं उन्होंने सारे कष्ट अंगीकार किये।

अतीव भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया
शुश्रूषया चार्षदेहयात्रया ।
नाविन्दतार्तिं परिकर्शितापि सा
प्रेयस्करस्पर्शनमाननिर्वृतिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अतीव—अत्यधिक; भर्तुः—पति का; व्रत-धर्म—सेवा का व्रत; निष्ठया—संकल्प से; शुश्रूषया—सेवा से; च—भी; आर्ष—ऋषि के समान; देह—शरीर; यात्रया—रहन-सहन; न—नहीं; अविन्दत—देखा; आर्तिम्—कोई कष्ट; परिकर्शिता अपि—दुर्बल होने पर भी; सा—वह; प्रेयः-कर—अत्यन्त सुखद; स्पर्शन—स्पर्श; मान—लगा हुआ; निर्वृतिः—आनन्द।

यद्यपि महारानी अर्चि ऐसे कष्टों को सहने की अभ्यस्त न थीं, तो भी वन में रहने के अनुष्ठानादि में उन्होंने ऋषियों की तरह अपने पति का साथ दिया। वे भूमि पर शयन करतीं और केवल फल, फूल और पत्तियाँ खातीं। चूँकि वे इन कार्यों के लिए उपयुक्त न थीं, अतः वे अत्यन्त दुर्बल हो गईं। फिर भी अपने पति की सेवा करने से उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता था उसके कारण उन्हें किसी कष्ट का अनुभव नहीं होता था।

तात्पर्य : *भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया* शब्द सूचित करते हैं कि स्त्री का धर्म है कि सभी परिस्थितियों में पति की सेवा करे। वैदिक सभ्यता में जीवन के प्रारम्भ से ही मनुष्य को ब्रह्मचारी, फिर आदर्श गृहस्थ, तब वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी बनने की शिक्षा दी जाती है। स्त्री को सभी परिस्थितियों में पति का अनुगमन करने की शिक्षा दी जाती है। ब्रह्मचर्य अवस्था के बाद मनुष्य गृहस्थ जीवन अपनाता है। स्त्री को भी माता-पिता द्वारा शिक्षा दी जाती है कि वह पतिव्रता पत्नी बने। इस प्रकार जब लड़की तथा लड़के का गठबंधन किया जाता है, तो दोनों को उच्च उद्देश्य के लिए जीवन अर्पित करने की शिक्षा दी जाती है। लड़के को शिक्षा दी जाती है कि वह जीवन के इस महदुद्देश्य के लिए अपना कर्तव्य निबाहे और लड़की से कहा जाता है कि वह पति का अनुगमन करे। पतिव्रता स्त्री का कर्तव्य है कि गृहस्थ जीवन में वह अपने पति को सभी प्रकार से प्रसन्न रखे। और जब पति पारिवारिक जीवन से निवृत्त हो, तो वह वन जाये और वानप्रस्थ जीवन या वनवासी जीवन बिताए। उस समय पत्नी को अपने पति के साथ रहकर उसकी वैसी ही देख-भाल करनी चाहिए जैसी कि गृहस्थ जीवन में करती थी। किन्तु जब पति संन्यास ग्रहण करे तो पत्नी को घर लौटकर साध्वी बनकर अपने बच्चों तथा पुत्र-वधुओं के समक्ष

आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए और उन्हें दिखाना चाहिए कि किस प्रकार तपस्वी जीवन बिताया जाये।

जब श्री चैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया, तो उनकी पत्नी विष्णुप्रियादेवी ने भी अपने पति के गृहत्याग के कारण तपस्वी जीवन बिताने का व्रत ले लिया, यद्यपि उनकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी। वे माला जपतीं और एक माला पूरी करने के पश्चात् चावल का एक दाना एकत्र करतीं। इस प्रकार वे जितनी बार माला फेरतीं उतने ही चावल एकत्र करतीं, तब उन्हें पकातीं और प्रसाद ग्रहण करतीं। इसे तपस्या कहते हैं। आज भी भारत में विधवाएँ अथवा वे स्त्रियाँ, जिनके पति संन्यास ग्रहण कर लेते हैं, अपने बच्चों के साथ रहते हुए भी तपस्या के नियमों का पालन करती हैं। पृथु महाराज की पत्नी अर्चि पत्नी का धर्म निबाहने के लिए दृढ़संकल्प थीं और जब उनके पति वन में थे तो वे केवल फल तथा पत्तियां खातीं और भूमि पर लेटती थीं। चूँकि स्त्री का शरीर पुरुष की अपेक्षा अधिक सुकोमल होता है, अत: रानी अर्चि अत्यन्त दुर्बल—*परिकर्शिता*—हो गईं। जब कोई तपस्या करता है, तो उसका शरीर प्राय: दुर्बल हो जाता है। आध्यात्मिक जीवन में मोटा होना कोई गुण नहीं, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन में लगे रहने से शरीर की सुविधाएँ—खाना, सोना, संभोग इत्यादि—न्यूनतम हो जाती हैं। जंगल में विधि-विधानों के अनुसार रहने से अत्यन्त दुर्बल हो जाने पर भी रानी अर्चि अप्रसन्न न थीं, क्योंकि उन्हें अपने महान् पति की सेवा का सुअवसर मिल रहा था।

देहं विपन्नाखिलचेतनादिकं
पत्यु: पृथिव्या दयितस्य चात्मन: ।
आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती
चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

देहम्—शरीर; विपन्न—पूर्णतया रहित; अखिल—समस्त; चेतन—जीवन से; आदिकम्—लक्षणों; पत्यु:—अपने पति के; पृथिव्या:—संसार; दयितस्य—दयालु का; च आत्मन:—तथा अपना; आलक्ष्य—देखकर; किञ्चित्—अत्यल्प; च—तथा; विलप्य—विलाप करके; सा—वह; सती—पतिव्रता; चिताम्—चिता पर; अथ—अब; आरोपयत्—रखा; अद्रि—पर्वत; सानुनि—चोटी पर।

जब महारानी अर्चि ने अपने पति को, जो उनके प्रति तथा पृथ्वी के प्रति अत्यन्त दयालु थे, जीवन के लक्षणों से रहित देखा तो उन्होंने थोड़ा विलाप किया और फिर पर्वत की चोटी पर चिता बनाकर अपने पति के शरीर को उस पर रख दिया।

तात्पर्य : यह देखकर कि उनके पति में जीवन के सभी लक्षण क्षीण हो चुके हैं, महारानी ने थोड़ी

देर तक विलाप किया। *किञ्चित्* का अर्थ है "कुछ समय के लिए।" महारानी को भली भाँति जानती थीं कि उनके पति मरे नहीं थे, भले ही जीवन के लक्षण—गति, बुद्धि तथा इन्द्रिय—बोध बन्द हो चुके थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१३) में कहा गया है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस तरह इस शरीर में देहधारी आत्मा निरन्तर बचपन से युवावस्था और फिर वृद्धावस्था में जाता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति कभी ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।"

जब जीव एक शरीर से दूसरे में स्थानान्तरित होता है, जिसे सामान्य रूप से मृत्यु कहते हैं, तो बुद्धिमान मनुष्य कभी विलाप नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि जीव मरा नहीं, केवल एक शरीर से दूसरे में स्थानान्तरित हुआ है। महारानी को अपने पति के शव के साथ वन में अकेला होने के कारण भयभीत होना चाहिए था, किन्तु महान् पुरुष की पत्नी होने के कारण वे क्षण भर तक रोईं और तुरन्त समझ गईं कि उन्हें अनेक कार्य करने हैं। अत: विलाप में अपना समय न गँवा करके, उन्होंने पर्वत की चोटी पर तुरन्त चिता तैयार की और उस पर अपने पति के शरीर को जलने के लिए रख दिया।

महाराज पृथु को यहाँ *दयित* कहा गया है, क्योंकि वे न केवल इस पृथ्वी के राजा थे, वरन् अपनी सन्तान के समान पृथ्वी की रक्षा करते थे। इसी प्रकार वे अपनी पत्नी की भी रक्षा करते थे। राजा का कर्तव्य होता था कि हर एक को, विशेष रूप से पृथ्वी या जिस भूमि का वह शासक हो तथा प्रजा और परिजनों को सुरक्षा प्रदान करे। चूँकि पृथु महाराज कुशल राजा थे, अत: उन्होंने हर एक को सुरक्षा प्रदान की। इसीलिए उन्हें यहाँ पर *दयित* कहा गया है।

विधाय कृत्यं ह्रदिनीजलाप्लुता
दत्त्वोदकं भर्तुरुदारकर्मण: ।
नत्वा दिविस्थांस्त्रिदशांस्त्रि: परीत्य
विवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादौ ॥ २२॥

शब्दार्थ

विधाय—सम्पन्न करके; कृत्यम्—अनुष्ठान; ह्रदिनी—छोटी नदी के जल में; जल-आप्लुता—अच्छी तरह स्नान करके; दत्त्वा उदकम्—जलाञ्जलि देकर; भर्तुः—अपने पति की; उदार-कर्मणः—जो अत्यन्त उदार था; नत्वा—नमस्कार करके; दिवि-स्थान्—आकाश में स्थित; त्रि-दशान्—तीन करोड़ देवता; त्रिः—तीन बार; परीत्य—परिक्रमा करके; विवेश—प्रवेश किया; वह्निम्—अग्नि में; ध्यायती—ध्यान करती हुई; भर्तृ—अपने पति के; पादौ—दोनों चरणकमल।

इसके पश्चात् महारानी ने आवश्यक दाह-कृत्य किये और जलाञ्जलि दी। फिर नदी में स्नान करके उन्होंने आकाश स्थित विभिन्न लोकों के विभिन्न देवताओं को नमस्कार किया। तब अग्नि की प्रदक्षिणा की और अपने पति के चरणकमलों का ध्यान करते हुए उन्होंने अग्नि की लपटों में प्रवेश किया।

तात्पर्य : अपने मृत पति की चिता की लपटों में सती पत्नी का प्रवेश *सह-गमन* कहलाता है। *सह-गमन* की वैदिक सभ्यता में यह प्रथा अनन्त काल से चली आ रही है, यहाँ तक कि भारत में अंग्रेजी राज्य काल में भी इसका कठोरता से पालन होता रहा। किन्तु धीरे-धीरे इसका ह्रास होता गया, यहाँ तक कि जब पत्नी अपने मृत पति के साथ अग्नि में प्रवेश करने का साहस न करती तो उसके सम्बन्धी उसे अग्नि में झोंकने लगे। इस तरह इस प्रथा को बन्द करना पड़ा। किन्तु आज भी ऐसे छिट-पुट काण्ड होते हैं जहाँ पत्नी स्वेच्छा से अपने पति के साथ अग्नि में भस्म हो जाती है। १९४० ई. के बाद भी हमने एक सती को इस प्रकार मरते देखा है।

विलोक्यानुगतां साध्वीं पृथुं वीरवरं पतिम् ।
तुष्टुवुर्वरदा देवैर्देवपत्न्यः सहस्रशः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; अनुगताम्—पति के बाद मरते; साध्वीम्—पतिव्रता स्त्री को; पृथुम्—राजा पृथु की; वीर-वरम्—परम योद्धा; पतिम्—पति; तुष्टुवुः—स्तुति की; वर-दाः—वर देने में समर्थ, वरदायिनी; देवैः—देवताओं के साथ; देव-पत्न्यः—देवताओं की पत्नियों ने; सहस्रशः—हजारों।

महान् राजा पृथु की पतिव्रता पत्नी अर्चि के इस वीरतापूर्ण कार्य को देखकर हजारों देवपत्नियों ने प्रसन्न होकर अपने पतियों सहित रानी की स्तुति की।

कुर्वत्यः कुसुमासारं तस्मिन्मन्दरसानुनि ।
नदत्स्वमरतूर्येषु गृणन्ति स्म परस्परम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

कुर्वत्यः—करते हुए; कुसुम-आसारम्—फूलों की वर्षा; तस्मिन्—उसमें; मन्दर—मन्दर पर्वत की; सानुनि—चोटी पर; नदत्सु—बजते हुए; अमर-तूर्येषु—देवताओं के नगाड़े की ध्वनि; गृणन्ति स्म—बातें कर रही थीं; परस्परम्—एक दूसरे से।

उस समय देवता मन्दर पर्वत की चोटी पर आसीन थे। उनकी पत्नियाँ चिता की अग्नि पर

फूलों की वर्षा करने लगीं और एक दूसरे से (इस प्रकार) बातें करने लगीं।

देव्य ऊचुः

अहो इयं वधूर्धन्या या चैवं भूभुजां पतिम् ।
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

देव्यः ऊचुः—देवों की पत्नियों (देवियों) ने कहा; अहो—ओह; इयम्—यह; वधूः—पत्नी; धन्या—धन्य है; या—जो; च—भी; एवम्—जिस तरह; भू—संसार का; भुजाम्—सारे राजाओं का; पतिम्—राजा को; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से; पतिम्—पति को; भेजे—पूजा की; यज्ञ-ईशम्—भगवान् विष्णु को; श्रीः—लक्ष्मी; वधूः—पत्नी; इव—समान।

देवताओं की पत्नियों ने कहा : महारानी अर्चि धन्य हैं! हम देख रही हैं कि राज राजेश्वर पृथु की इस महारानी ने अपने पति की अपने मन, वाणी तथा शरीर से उसी प्रकार सेवा की है, जिस प्रकार ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी भगवान् यज्ञेश अथवा विष्णु की करती हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव* शब्द सूचित करते हैं कि महारानी अर्चि ने अपने पति की सेवा उसी प्रकार से की जिस तरह ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी भगवान् विष्णु की करती हैं। हम इस संसार के इतिहास में भी देख सकते हैं कि जब भगवान् कृष्ण, जो परम विष्णु हैं, द्वारका में राज्य कर रहे थे तो कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी अपने हाथों से भगवान् की सेवा करती थीं, यद्यपि उनकी सहायता के लिए हजारों दासियाँ रहती थीं। इसी प्रकार वैकुण्ठलोक में लक्ष्मी जी स्वयं नारायण की सेवा करती हैं, यद्यपि भगवान् की सेवा के लिए हजारों भक्त उद्यत रहते हैं। देवताओं की पत्नियाँ भी ऐसा ही करती हैं और पुराने जमाने में सारे मनुष्यों की पत्नियाँ भी ऐसा करती थीं। वैदिक सभ्यता में स्त्री तथा पुरुष मानव निर्मित तलाक जैसे कानून से विलग नहीं होते थे। हमें मानव समाज में पारिवारिक जीवन बनाये रखने की आवश्यकता को समझना चाहिए और तलाक के कृत्रिम कानून का सदा के लिए उन्मूलन कर देना चाहिए। पति तथा पत्नी को कृष्णभक्ति करनी चाहिए और लक्ष्मी-नारायण अथवा कृष्ण-रुक्मिणी का अनुकरण करना चाहिए। इस प्रकार संसार में शान्ति तथा सामंजस्य स्थापित हो सकता है।

सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वमनु वैन्यं पतिं सती ।
पश्यतास्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; एषा—यह; नूनम्—अवश्य ही; व्रजति—जा रही है; ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर; अनु—पीछे-पीछे; वैन्यम्—वेन के पुत्र, पृथु; पतिम्—पति; सती—सती; पश्यत—जरा देखो तो; अस्मान्—हमको; अतीत्य—ऊपर से पार करके, लाँघकर; अर्चिः—अर्चि; दुर्विभाव्येन—अकल्पनीय; कर्मणा—कार्यों से।

देवों की पत्नियों ने आगे कहा : जरा देखो तो कि वह सती नारी अर्चि किस प्रकार अपने अचिन्त्य पुण्य कर्मों के प्रभाव से अब भी अपने पति का अनुगमन करती हुई ऊपर की ओर, जहाँ तक हम देख सकती हैं, चली जा रही है।

तात्पर्य : महाराज पृथु का विमान तथा महारानी अर्चि को ले जाने वाला विमान, ये दोनों ही स्वर्गलोक की नारियों की दृष्टि से ओझल हो रहे थे। ये नारियाँ आश्चर्यचकित थीं कि किस प्रकार पृथु महाराज तथा उनकी पत्नी को इतना सम्मानित पद प्राप्त हुआ है। यद्यपि वे उच्च लोक के निवासियों की पत्नियाँ थीं और पृथु महाराज निम्न लोक (पृथ्वी) के निवासी थे, किन्तु राजा अपनी पत्नी समेत देवलोक से ऊपर वैकुण्ठलोक को जा रहे थे। *ऊर्ध्वम्* (ऊपर की ओर) शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो नारियाँ बातें कर रहीं थीं वे, चन्द्रमा, सूर्य से लेकर ब्रह्मलोक या सर्वोच्च लोकों की थीं। ब्रह्मलोक के ऊपर दिव्याकाश है और उस आकाश में असंख्य वैकुण्ठ लोक हैं। अत: *ऊर्ध्वम्* शब्द सूचित करता है कि वैकुण्ठलोक इन भौतिक लोकों से परे या ऊपर हैं और पृथु तथा उनकी पत्नी अर्चि इन्हीं वैकुण्ठलोकों को जा रहे थे। इससे यह भी सूचित होता है कि पृथु तथा उनकी पत्नी अर्चि अपना-अपना भौतिक शरीर अग्नि में छोड़ते ही तुरन्त आध्यात्मिक शरीर धारण करके दिव्य विमानों में बैठ गये जो भौतिक तत्त्वों को पार कर आध्यात्मिक आकाश में पहुँच सकते थे। वे पृथक् -पृथक् विमानों में आरूढ़ थे, अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चिता में भस्म होने पर भी उनके शरीर पृथ्क-पृथ्क व्यक्ति रहे। दूसरे शब्दों में, उन्होंने कभी अपनी सत्ता नहीं खोई, अर्थात् शून्य नहीं हुए, जैसाकि निर्विशेषवादी कल्पना करते हैं।

स्वर्ग की नारियाँ ऊपर तथा नीचे दोनों ओर देखने में सक्षम थीं। जब वे नीचे देख रही थीं तो उन्हें पृथु का शरीर भस्म होते और अर्चि को चिता में प्रविष्ट होते देखा और जब वे ऊपर देख रही थीं तो उन्हें दिखा कि वे दोनों अलग-अलग विमानों में किस तरह वैकुण्ठलोक को जा रहे हैं। यह सब *दुर्विभाव्येन कर्मणा* अर्थात् अचिन्त्य कर्म द्वारा सम्भव है। पृथु महाराज शुद्ध भक्त थे और उनकी पत्नी अर्चि केवल अपने पति का अनुगमन कर रही थीं, फलत: वे दोनों शुद्ध भक्त माने जा सकते हैं जिससे वे अचिन्त्य-कर्म करने में सक्षम थे। ऐसे कर्म सामान्य व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं हैं। सचमुच ही,

सामान्य पुरुषों के लिए भक्ति करना भी सरल नहीं, न ही सामान्य स्त्रियाँ पातिव्रत्य धर्म का निर्वाह करके सभी प्रकार से अपने पतियों का साथ दे सकती हैं। स्त्री को उच्च योग्यता की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि अपने भक्त पति के चरणचिह्नों पर चलने की है। तभी पति तथा पत्नी दोनों मोक्ष प्राप्त करते हैं और वैकुण्ठलोक को जाते हैं। यह महाराज पृथु तथा उनकी पत्नी के अचिन्त्य कर्मों द्वारा प्रत्यक्ष है।

तेषां दुरापं किं त्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम् ।
भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत ॥ २७॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनके लिए; दुरापम्—प्राप्त करना कठिन, दुर्लभ; किम्—क्या; तु—लेकिन; अन्यत्—और कुछ; मर्त्यानाम्—मनुष्यों का; भगवत्-पदम्—भगवान् का राज्य; भुवि—संसार में; लोल—क्षणिक; आयुषः—जीवन अवधि; ये—वे; वै—निश्चय ही; नैष्कर्म्यम्—मोक्ष का मार्ग; साधयन्ति—पालन करते हैं; उत—सही सही।

इस संसार में प्रत्येक मनुष्य का जीवन-काल लघु है, किन्तु जो भक्ति में अनुरक्त हैं, वे भगवान् के धाम वापस जाते हैं, क्योंकि वे सचमुच मोक्ष के मार्ग पर होते हैं। ऐसे लोगों के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.३३) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।* यह संसार दुखों (*असुखम्*) से पूर्ण है और साथ ही अनित्य है, अतः मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह अपने आपको भक्ति में लगाए। मानव जीवन का यही सर्वोत्तम अन्त है। जो भक्त भगवान् के चरणकमलों की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं उन्हें न केवल समस्त भौतिक लाभ प्राप्त होते हैं, वरन् समस्त आत्मिक लाभ भी मिलते हैं, क्योंकि जीवन के अन्त समय में वे भगवान् के धाम वापस जाते हैं। उनके गन्तव्य को इस श्लोक में *भगवत्-पदम्* कहा गया है। *पदम्* शब्द का अर्थ है "धाम" है तथा *भगवत्* का अर्थ "भगवान् का।" इस प्रकार भक्तों का गन्तव्य भगवान् का धाम है।

इस श्लोक में *नैष्कर्म्यम्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "दिव्य ज्ञान।" जब तक मनुष्य दिव्य ज्ञान को प्राप्त करके भगवान् की भक्ति नहीं करता तब तक वह पूर्ण नहीं होता। सामान्यतः ज्ञान, योग तथा कर्म विधियों को जन्म-जन्मांतर करते रहने पर मनुष्य को भगवान् की शुद्ध भक्ति करने का अवसर प्राप्त होता है। यह अवसर शुद्ध भक्त की कृपा से ही मिलता है और इसी विधि से मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इस कथा के प्रसंग में देवताओं की पत्नियों को पश्चात्ताप हो रहा था क्योंकि

यद्यपि उनका जन्म स्वर्ग में हुआ, उनकी आयु लाखों वर्ष की थी और उन्हें सारी सुविधाएँ प्राप्त थी, किन्तु वे पृथु महाराज तथा उनकी पत्नी के समान भाग्यशालिनी नहीं थी, क्योंकि वे उनसे भी ऊपर जा रहे थे। दूसरे शब्दों में, पृथु महाराज तथा उनकी पत्नी को स्वर्ग तथा यहाँ तक कि ब्रह्मलोक जाने की भी इच्छा नहीं थी, क्योंकि वे जिस पद को प्राप्त कर रहे थे वह अतुलनीय थी। *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् पुष्टि करते हैं—*आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन*—"इस ससार में उच्चतम लोक से लेकर निम्नतम लोक तक सभी दुख के स्थान हैं जहाँ जन्म-मृत्यु का चक्कर लगा रहता है।" दूसरे शब्दों में, यदि कोई उच्चतमलोक, ब्रह्मलोक, को भी जाता है, तो उसे पुन: जन्म तथा मृत्यु के कष्टों में लौटना पड़ता है। *भगवद्गीता* (९.२१) में भगवान् कृष्ण बलपूर्वक कहते हैं—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

"इस प्रकार जब वे स्वर्ग का इन्द्रिय-सुख भोग लेते हैं, तो वे इस मर्त्यलोक में पुन: वापस आ जाते हैं।" इस प्रकार पुण्यों के चुक जाने पर मनुष्य को पुन: अध:लोकों में आना पड़ता है और फिर से पुण्यकर्म शुरू करने होते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (१.५.१२) में कहा गया है—*नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्*—"जब तक भगवद्भक्ति प्राप्त न हो जाए मुक्ति का मार्ग तनिक भी सुरक्षित (बाधाहीन) नहीं होता।" यदि कोई निर्गुण ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर भी ले तो भी इस भौतिक संसार में उसके आ गिरने की सम्भावना बनी ही रहती है। यदि ब्रह्मज्योति से नीचे गिरना सम्भव है, तो फिर सामान्य योगियों तथा कर्मियों का क्या कहना जो केवल उच्चतर भौतिक लोकों तक ही उठ पाते हैं? इस तरह उच्चतर लोकों के वासियों की पत्नियों ने कर्म, ज्ञान तथा योग के फल को अधिक नहीं सराहा।

स वञ्चितो बतात्मध्रुक्कृच्छ्रेण महता भुवि ।
लब्ध्वापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वञ्चितः—ठगा गया; बत—निश्चय ही; आत्म-ध्रुक्—अपने से ईर्ष्या करने वाला; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; महता—महान् कार्यों से; भुवि—इस संसार में; लब्ध्वा—पाकर; आपवर्ग्यम्—मोक्ष का मार्ग; मानुष्यम्—मनुष्य के शरीर में; विषयेषु—इन्द्रियतृप्ति के कार्य में, वासनाओं में; विषज्जते—लगा रहता है।

जो मनुष्य इस संसार में अत्यन्त संघर्षमय कार्यों को सम्पन्न करने में लगा रहता है, और जो

मनुष्य का शरीर पाकर—जो कि दुखों से मोक्ष प्राप्त करने का एक अवसर होता है—कठिन सकाम कार्यों को करता रहता है, तो उसे ठगा गया तथा अपने ही प्रति ईर्ष्यालु समझना चाहिए।

तात्पर्य : इस संसार में लोग विभिन्न कार्यों में इसलिए लगे रहते हैं कि इन्द्रियतृप्ति में उन्हें थोड़ी सफलता प्राप्त हो ले। कर्मी जन अत्यधिक कठिन कर्मों को करने में व्यस्त रहते हैं और इसलिए वे बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ खोलते हैं, विशाल नगरों का निर्माण कराते हैं, बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक खोजें करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे उच्चतर लोकों को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त महँगा त्याग करने में लगे रहते हैं। इसी प्रकार योगी ऐसे ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग की कठिन साधना करते हैं। ज्ञानी लोग भौतिक प्रकृति के फंदे से छूटने के लिए चिन्तन में मग्न रहते हैं। इस प्रकार हर व्यक्ति इन्द्रियों की तृप्ति के लिए कठिन से कठिन कार्य में संलग्न रहता है। किन्तु वे सभी इन्द्रिय तृप्ति में संलग्न माने जाते हैं, क्योंकि वे भौतिक अस्तित्व के लिए कोई न कोई सुविधा चाहते हैं। वास्तव में ऐसे कार्यों का फल क्षणिक होता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने स्वयं *भगवद्‌गीता* (७.२३) में घोषणा की है—*अन्तवत्तु फलं तेषाम्*—"(जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं उनके) फल सीमित तथा क्षणिक हैं।" इस तरह योगियों, कर्मियों तथा ज्ञानियों के कर्मों के फल क्षणिक हैं। यही नहीं, कृष्ण कहते हैं—*तद्‌भवत्यल्पमेधसाम्*—"वे केवल अल्प बुद्धि वाले मनुष्यों के लिए हैं।" *विषय* शब्द इन्द्रियतृप्ति का सूचक है। कर्मी सीधे कहते हैं कि उन्हें इन्द्रियतृप्ति चाहिए। योगियों को भी इन्द्रियतृप्ति चाहिए, किन्तु किंचित उच्चकोटि की। वे योगाभ्यास के द्वारा कुछ आश्चर्यचकित करने वाले करतब दिखाना चाहते हैं। इस प्रकार वे छोटे से छोटा या बड़े से बड़ा बनने में सफल होने का प्रयास करते हैं अथवा पृथ्वी जैसे लोक की सृष्टि कर दिखाना चाहते हैं या विज्ञानी बनकर अनेकानेक आश्चर्यजनक यंत्रों का आविष्कार करना चाहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी भी इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं, क्योंकि वे परमेश्वर से तादात्म्य चाहते रहते हैं। इस प्रकार इन सारे कर्मों का मुख्य उद्देश्य कम या अधिक मात्रा में इन्द्रियतृप्ति रहता है। किन्तु भक्तजन इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में व्यस्त नहीं होते। वे तो भगवान् की सेवा का अवसर प्राप्त करके संतुष्ट हो लेते हैं। यद्यपि वे सभी अवस्थाओं में सन्तुष्ट रहते हैं, तो भी उनके लिए ऐसा कुछ भी नहीं जिसे वे प्राप्त न कर सकते हों, क्योंकि वे भगवान् की शुद्ध भक्ति में लगे रहते हैं।

देवताओं की पत्नियाँ इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करने वालों को *वञ्चित* कहकर भर्त्सना करती हैं।

जो इस प्रकार कर्म में लगे हैं, वे निस्सन्देह *आत्महा* अर्थात् अपनी हत्या आप करने वाले हैं। *श्रीमद्भागवत* (११.२०.१७) में कहा गया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

जब मनुष्य को कोई विशाल सागर पार करना होता है, तो उसे एक सुदृढ़ नाव की आवश्यकता होती है। कहा जाता है कि अज्ञान रूपी सागर को पार करने के लिए मानव शरीर एक उत्तम नाव स्वरूप है। मनुष्य जीवन में गुरु अच्छे नाविक का काम करता है। श्रीकृष्ण की कृपा से अनुकूल हवाएँ भी मिल जाती हैं, जो श्रीकृष्ण के उपदेश तुल्य हैं। मनुष्य शरीर नाव है, श्रीकृष्ण के आदेश अनूकल हवाएँ हैं और गुरु नाविक है। गुरु जानता है कि पाल को कैसे साधा जाये कि हवा अनुकूल रहे और गन्तव्य तक नाव खे ले जाई जाये। किन्तु यदि इस अवसर का लाभ नहीं उठाया गया तो यह मनुष्य-जीवन वृथा नष्ट हो जाता है। समय तथा जीवन को नष्ट करना आत्म-घात जैसा है।

इस श्लोक में *लब्ध्वापवर्ग्यम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि श्री जीव गोस्वामी के अनुसार *आपवर्ग्यम्* अथवा मोक्ष का पथ निर्गुण ब्रह्म में लीन होना नहीं, अपितु सालोक्यादि सिद्धि है, जिसका अर्थ है उस लोक को प्राप्त करना जिसमें भगवान् निवास करते हैं। मोक्ष पाँच प्रकार के हैं जिनमें से सायुज्य मुक्ति भी एक है, जिसका अर्थ है परमेश्वर में या निर्गुण ब्रह्म के तेज में लीन होना। चूँकि ब्रह्मतेज से भौतिक आकाश में गिरने की आशंका बनी रहती है, इसलिए श्रील जीव गोस्वामी उपदेश देते हैं कि इस मानव जन्म में मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य भगवान् के धाम वापस जाना होना चाहिए। *स वञ्चितः* शब्द सूचित करते हैं कि एक बार मनुष्य जीवन प्राप्त कर लेने पर यदि वह भगवान् के धाम वापस जाने की तैयारी नहीं करता तो सचमुच ही वह ठगा जाता है। समस्त अभक्त भगवान् के धाम वापस जाने में रुचि न रखने के कारण शोच्य हैं, क्योंकि मनुष्य-जीवन भक्ति करने के लिए मिला है, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं।

मैत्रेय उवाच
स्तुवतीष्वमरस्त्रीषु पतिलोकं गता वधूः ।
यं वा आत्मविदां धुर्यो वैन्यः प्रापाच्युताश्रयः ॥ २९॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; स्तुवतीषु—स्तुति कर रही; अमर-स्त्रीषु—देवताओं की पत्नियों द्वारा; पति-लोकम्—जिस लोक में पति गया था; गता—पहुँचकर; वधूः—पत्नी; यम्—जहाँ; वा—अथवा; आत्म-विदाम्—स्वरूपसिद्ध पुरुषों का; धुर्यः—सर्वोच्च; वैन्यः—वेन का पुत्र (पृथु महाराज); प्राप—प्राप्त किया; अच्युत-आश्रयः—भगवान् का आश्रय।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, जब देवताओं की पत्नियाँ इस प्रकार परस्पर बातें कर रही थीं तो अर्चि ने उस लोक को प्राप्त कर लिया था जहाँ उनके पति सर्वोत्कृष्ट स्वरूपसिद्ध महाराज पृथु पहुँच चुके थे।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रों के अनुसार जो स्त्री अपने पति के साथ मरती है या अपने पति की जलती चिता में भस्म हो जाती है, वह अपने पति के लोक को जाती है। इस संसार में पितृलोक के ही समान *पतिलोक* भी है। किन्तु इस श्लोक में *पतिलोक* इस भौतिक ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक का सूचक नहीं है, क्योंकि सर्वोच्च स्वरूपसिद्ध व्यक्ति होने के कारण पृथु महाराज अवश्य ही भगवान् के धाम वापस गये होंगे और उन्होंने वैकुण्ठ लोक को प्राप्त किया होगा। महारानी अर्चि भी पतिलोक गईं, किन्तु यह लोक इस भौतिक ब्रह्माण्ड में नहीं है, क्योंकि वे वास्तव में अपने पति के लोक में गईं। इस भौतिक संसार में भी जब कोई स्त्री अपने पति के साथ मरती है, तो वह अगले जन्म में अपने पति से पुन: मिल जाती है। इस प्रकार महाराज पृथु तथा महारानी अर्चि वैकुण्ठ लोक में जाकर मिले। वैकुण्ठलोक में पति तथा पत्नियाँ रहते अवश्य हैं, किन्तु न तो वहाँ विषय-भोग सम्भव है, न ही सन्तानें उत्पन्न करना। वहाँ के पति-पत्नी परम सुन्दर होते हैं, एक दूसरे से आकर्षित होते हैं, किन्तु विषयी जीवन नहीं बिताते। चूँकि पति-पत्नी श्रीकृष्ण की भक्ति तथा भगवान् की महिमा के गायन तथा कीर्तन में निरन्तर लगे रहते हैं, अत: वे संभोग को आनन्ददायक नहीं मानते।

भक्तिविनोद ठाकुर का भी कहना है कि इस संसार में रहते हुए पति तथा पत्नी अपने घर को वैकुण्ठ बना सकते हैं। इस संसार में श्रीकृष्ण की भक्ति में रत रह कर तथा अपने घर में भगवान् की मूर्ति स्थापित करके और शास्त्रों के अनुसार मूर्ति की सेवा करके पति तथा पत्नी वैकुण्ठलोक का-सा जीवन बिता सकते हैं। इससे उनके मन में संभोग का विचार उत्पन्न नहीं होता। भक्ति में उन्नति की यही परीक्षा है। जो भक्ति में उन्नत है, वह कभी भी विषयी जीवन के प्रति आकृष्ट नहीं होता और ज्योंही वह विषयी जीवन से विरक्त होकर अपेक्षतया भगवान् की भक्ति में आसक्त रहता है, वह अपने को वैकुण्ठलोक में निवास करता अनुभव करता है। वास्तव में भौतिक जगत नाम का कोई जगत नहीं है,

किन्तु जब मनुष्य भगवान् की सेवा भूलकर अपनी इन्द्रियों की सेवा में तल्लीन रहता है, तो यह कहा जाता है कि वह भौतिक जगत में रह रहा है।

इत्थम्भूतानुभावोऽसौ पृथु: स भगवत्तम: ।
कीर्तितं तस्य चरितमुद्दामचरितस्य ते ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इत्थम्-भूत—इस प्रकार; अनुभाव:—अत्यन्त महान्, शक्तिमान; असौ—उस; पृथु:—राजा पृथु; स:—वह; भगवत्-तम:—स्वामियों में श्रेष्ठ; कीर्तितम्—वर्णित; तस्य—उसका; चरितम्—चरित्र; उद्दाम—अत्यन्त महान; चरितस्य—ऐसे गुणों से युक्त; ते—तुमसे।

मैत्रेय ने आगे कहा : भक्तों में महान् महाराज पृथु अत्यन्त शक्तिशाली थे और उनका चरित्र अत्यन्त उदार तथा उद्दाम था। मैंने यथासम्भव तुमसे उसका वर्णन किया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवत्तम:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि *भगवत्* शब्द विशेषतया भगवान् के लिए प्रयुक्त होता है और भगवान् शब्द इसीसे निकला है। किन्तु कभी-कभी हम देखते हैं कि भगवान् शब्द ब्रह्मा, शिव तथा नारद जैसे महापुरुषों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यही बात पृथु महाराज के साथ भी है, जिन्हें यहाँ पर भगवानों में श्रेष्ठ कहा गया है। किसी भी मनुष्य को इस प्रकार तभी सम्बोधित किया जा सकता है जब उसमें अद्वितीय तथा असामान्य गुण हों, अथवा जिसने अन्तर्धान होने पर उच्चतम लक्ष्य प्राप्त किया हो, अथवा जो ज्ञान तथा अज्ञान में अन्तर जानता हो। दूसरे शब्दों में, भगवान् शब्द का प्रयोग सामान्य पुरुषों के लिए नहीं किया जाना चाहिए।

य इदं सुमहत्पुण्यं श्रद्धयावहित: पठेत् ।
श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथो: पदवीमियात् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; इदम्—इस; सु-महत्—अत्यन्त महान्; पुण्यम्—पवित्र; श्रद्धया—श्रद्धा-समेत; अवहित:—ध्यानपूर्वक; पठेत्—पढ़ता है; श्रावयेत्—व्याख्या करता है; शृणुयात्—सुनता है; वा—अथवा; अपि—निश्चय ही; स:—वह व्यक्ति; पृथो:—राजा पृथु के; पदवीम्—पद को; इयात्—प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति श्रद्धा तथा ध्यानपूर्वक राजा पृथु के महान् गुणों को पढ़ता है, या स्वयं सुनता है अथवा अन्यों को सुनाता है, वह अवश्य ही महाराज पृथु के लोक को प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसा व्यक्ति भी वैकुण्ठलोक अर्थात् भगवान् के धाम को वापस जाता है।

तात्पर्य : भक्ति करते समय *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* पर विशेष बल दिया जाता है। इसका अर्थ है

कि विष्णु के विषय में श्रवण तथा कीर्तन से भक्ति प्रारम्भ होती है। जब हम विष्णु का नाम लेते हैं, तो उसका अर्थ ''विष्णु से सम्बन्धित बातें'' भी होता हैं। *शिवपुराण* में शिवजी ने विष्णु पूजा को सर्वोच्च बताया है, किन्तु इससे भी श्रेष्ठ है वैष्णवों या विष्णु से सम्बन्धित किसी भी वस्तु की पूजा। यहाँ यह तथ्य बताया गया है कि वैष्णव के सम्बन्ध में श्रवण तथा कीर्तन विष्णु के श्रवण-कीर्तन के समान है, क्योंकि मैत्रेय ने बताया है, जो कोई ध्यानपूर्वक पृथु महाराज के विषय में सुनता है उसे भी महाराज पृथु को मिलनेवाला लोक प्रप्त होता है। विष्णु तथा वैष्णव में कोई द्वैतभाव नहीं है। इसे *अद्वयज्ञान* कहते हैं। एक वैष्णव विष्णु के ही समान महत्त्वपूर्ण है, इसीलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने *गुरु-अष्टक* ग्रन्थ में लिखा है—

साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रै-

रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।

किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

''गुरु का सम्मान परमेश्वर के ही समान किया जाता है, क्योंकि वह भगवान् का परम विश्वसनीय सेवक होता है। इसे सभी शास्त्रों ने स्वीकार किया गया है और सभी विद्वानों ने इसका पालन किया है, अतः मैं श्रीहरि के प्रामाणिक प्रतिनिधि, अपने गुरु के चरणकमलों को नमस्कार करता हूँ।''

परम वैष्णव गुरु होता है और भगवान् से अभिन्न। कहा जाता है कि कभी-कभी भगवान् चैतन्य महाप्रभु गोपियों के नाम का जप करते थे। जब उनके कुछ शिष्य उनसे इस के बजाय श्रीकृष्ण का नाम लेने को कहते तो वे शिष्यों पर अत्यन्त रूष्ट हो जाते थे। इस घटना को लेकर इतना वितण्डा हो गया कि चैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया क्योंकि गृहस्थ आश्रय में उन्हें गम्भीरता पूर्वक नहीं लिया जाता था। चूँकि श्री चैतन्य महाप्रभु गोपियों के नाम का जप करते थे, अतः गोपियों या भगवान् के भक्तों की पूजा भगवान् की भक्ति के ही समान है। भगवान् ने स्वयं भी कहा है कि मेरे भक्तों की भक्ति करना मेरी प्रत्यक्ष भक्ति से श्रेष्ठ है। कभी-कभी *सहजिया* भक्त अन्य भक्तों के कार्य-कलापों को छोड़कर केवल श्रीकृष्ण की व्यक्तिगत लीलाओं में ही रुचि रखते हैं। ऐसा भक्त उच्चस्तरीय नहीं होता। जो भक्त तथा भगवान् को समान स्तर (पद) पर देखता है, वही आगे उन्नति करता है।

ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः ।
वैश्यः पठन्विट्पतिः स्याच्छूद्रः सत्तमतामियात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः—ब्राह्मण; ब्रह्म-वर्चस्वी—आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त हुआ; राजन्यः—राजसी; जगती-पतिः—संसार का राजा; वैश्यः—वैश्य वर्ण; पठन्—पढ़ने से; विट्-पतिः—पशुओं का स्वामी; स्यात्—हो जाता है; शूद्रः—श्रमिक वर्ग; सत्तम-ताम्—महाभक्त का पद; इयात्—प्राप्त करता है।

यदि कोई पृथु महाराज के गुणों को सुनता है और यदि वह ब्राह्मण है, तो वह ब्रह्मशक्ति में निपुण हो जाता है; यदि वह क्षत्रिय है, तो संसार का राजा बन जाता है; यदि वह वैश्य है, तो अन्य वैश्यों तथा अनेक पशुओं का स्वामी हो जाता है और यदि शूद्र हुआ तो वह उच्चकोटि का भक्त बन जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में संस्तुति की गई है कि अपनी स्थिति का, ध्यान न करते हुए मनुष्य को भक्त बनना चाहिए। चाहे मनुष्य *अकाम* हो, या *सकाम* हो अथवा *मोक्षकाम* हो, उसे भगवान् की पूजा और उनकी भक्ति करनी चाहिए। ऐसा करने से जीवन के किसी भी क्षेत्र में उसे विजय प्राप्त होती है। भक्तियोग—विशेष रूप से श्रवण तथा कीर्तन—इतना शक्तिशाली है कि इससे मनुष्य सिद्ध हो सकता है। इस श्लोक में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों का उल्लेख है, किन्तु यह समझना आवश्यक है कि यहाँ इन चारों का उल्लेख उन कुलों में ही उत्पन्न लोगों से है। चाहे कोई ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र, मात्र श्रवण तथा कीर्तन से उसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

ब्राह्मण कुल में जन्म लेना अन्तिम रूप से ध्येय नहीं है, उसमें ब्राह्मण की शक्ति होनी चाहिए जिसे *ब्रह्मतेज* कहते हैं। इसी प्रकार राज परिवार में जन्म लेना पर्याप्त नहीं, उसमें संसार में शासन करने की शक्ति होनी चाहिए। इसी प्रकार वैश्य के रूप में जन्म लेना पर्याप्त नहीं; उसके पास हजारों पशु (गाएँ) होने चाहिए और उसे अन्य वैश्यों के ऊपर शासन करने योग्य होना चाहिए जैसे कि वृन्दावन में नन्द महाराज ने किया। नन्द महाराज वैश्य थे जिनके पास नौ लाख गाएँ थीं और वे अनेक गोपों तथा ग्वाल-बालों के ऊपर शासन करते थे। शूद्र कुल में उत्पन्न व्यक्ति भक्ति करने तथा भगवान् एवं भक्तों की लीलाओं के श्रवण मात्र से ही ब्राह्मणों से भी बड़ा बन सकता है।

त्रिः कृत्व इदमाकर्ण्य नरो नार्यथवादृता ।

अप्रजः सुप्रजतमो निर्धनो धनवत्तमः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

त्रिः—तीन बार; कृत्वः—उच्चारण करके; इदम्—यह; आकर्ण्य—सुनकर; नरः—मनुष्य; नारी—स्त्री; अथवा—या; आदृता—समादरित; अप्रजः—सन्तान-हीन; सु-प्रज-तमः—अनेक सन्तानों वाला; निर्धनः—गरीब; धन-वत्—धनी; तमः—सर्वाधिक।

चाहे नर हो या नारी, जो कोई भी महाराज पृथु के इस वृत्तान्त को अत्यन्त आदरपूर्वक सुनता है, वह यदि निःसन्तान है, तो सन्तान युक्त और यदि निर्धन है, तो वह धनवान बन जाता है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी व्यक्ति, जिन्हें धन तथा परिवार अत्यन्त प्रिय हैं, विशेष रूप से देवी दुर्गा, शिवजी तथा ब्रह्मा जैसे विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं जिससे उनके मनोरथ पूरे हों। ऐसे व्यक्ति *श्रियैश्वर्य-प्रजेप्सवः* कहलाते हैं। *श्री* का अर्थ है "सौन्दर्य," *ऐश्वर्य* का अर्थ है "धन," *प्रजा* का अर्थ है "सन्तानें" तथा *ईप्सव* का अर्थ है "इच्छुक।" जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में कहा गया है, विभिन्न प्रकार के वरदानों के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करनी होती है। किन्तु यहाँ यह कहा गया है कि पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के विषय में सुनने मात्र से विपुल धन तथा सन्तान दोनों की प्राप्ति होती है। मनुष्य को पृथु महाराज के इतिहास, जीवन तथा कार्यों को केवल पढ़ना और समझना होता है। यहाँ इस बात की सलाह दी जाती है कि मनुष्य उन्हें कम से कम तीन बार पढ़े जो दीन हैं, वे भगवान् तथा उनके भक्तों के विषय में सुनने से इतना लाभ प्राप्त करेंगे कि उन्हें अन्य देवताओं के पास जाने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। इस श्लोक का *सुप्रजतमः* (अनेक बच्चों से घिरा हुआ) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सम्भव है कि किसी के अनेक सन्तानें हों, किन्तु उनमें से एक भी योग्य न निकले। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि इस प्रकार से प्राप्त सारी सन्तानें योग्य रुप से शिक्षित, धनी, सुन्दर तथा बलशाली होंगी (*सुप्रजतमः*)।

अस्पष्टकीर्तिः सुयशा मूर्खो भवति पण्डितः ।
इदं स्वस्त्ययनं पुंसाममङ्गल्यनिवारणम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अस्पष्ट-कीर्तिः—जिसका यश प्रकट न हो; सु-यशाः—अत्यन्त प्रसिद्ध; मूर्खः—निरक्षर; भवति—हो जाता है; पण्डितः—विद्वान; इदम्—यह; स्वस्ति-अयनम्—कल्याण; पुंसाम्—मनुष्यों का; अमङ्गल्य—अशुभ; निवारणम्—दूर करने वाला।

जो इस वृत्तान्त को तीन बार सुनता है, वह यदि समाज में सम्मानित नहीं है, तो अत्यन्त

विख्यात हो जाएगा और यदि निरक्षर है, तो परम विद्वान् बन जाएगा। दूसरे शब्दों में, पृथु महाराज का वृत्तान्त सुनने में इतना शुभ है कि वह समस्त दुर्भाग्य को दूर भगाता है।

तात्पर्य : इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ लाभ, सम्मान तथा ख्याति चाहता है। विभिन्न अवस्थाओं में भगवान् या उनके भक्त की संगति में रहने के कारण मनुष्य सब प्रकार से बहुत सरलता से ऐश्वर्यवान् हो सकता है। भक्ति करने तथा उपदेश देने से मनुष्य प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण बन सकता है, भले ही समाज में उसका मान न हो। जहां तक शिक्षा का प्रश्न है, केवल *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* को सुनकर वह समाज में महान् पंडित माना जा सकता है, क्योंकि इन ग्रन्थों में भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाओं का वर्णन है। यह संसार पग-पग पर विपत्तियों से भरा हुआ है, किन्तु भक्त को डर नहीं रह जाता, क्योंकि भक्ति इतनी कल्याणकारी है कि यह समस्त दुर्भाग्य का प्रतिकार स्वत: कर देती है। चूँकि पृथु महाराज के विषय में सुनना (*श्रवणम्*) भक्ति के कार्यों में से एक है, अत: स्वाभाविक है कि उसके सुनने से सौभाग्य प्राप्त होता है।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं कलिमलापहम्
धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक्सिद्धिमभीप्सुभिः ।
श्रद्धयैतदनुश्राव्यं चतुर्णां कारणं परम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

धन्यम्—धन का साधन; यशस्यम्—यश का स्रोत; आयुष्यम्—दीर्घ जीवन का स्रोत; स्वर्ग्यम्—स्वर्ग जाने का साधन; कलि—कलियुग में; मल-अपहम्—कल्मष को घटाने वाला; धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इन्द्रियतृप्ति; मोक्षाणाम्—मोक्ष का; सम्यक्—पूर्णतया; सिद्धिम्—सिद्धि; अभीप्सुभिः—इच्छुकों के द्वारा; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धा से; एतत्—यह चरित्र; अनुश्राव्यम्—सुना जाना चाहिए; चतुर्णाम्—चारों; कारणम्—कारणों का; परम्—चरम।

पृथु महाराज के चरित्र को सुनकर मनुष्य महान् बन सकता है, अपनी जीवन-अवधि (आयु) बढ़ा सकता है, स्वर्ग को जा सकता है और इस कलिकाल के कल्मषों का नाश कर सकता है। साथ ही वह धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के हितों में उन्नति ला सकता है। अत: सभी प्रकार से यही अच्छा है कि जो लोग ऐसी वस्तुओं में रुचि रखते हैं, वे पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के विषय में पढ़ें तथा सुनें।

तात्पर्य : कोई भी पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के वृत्तान्तों को पढ़कर तथा सुन कर स्वाभाविक तौर पर भक्त बन जाता है और ज्योंही वह भक्त बन जाता है उसकी सारी भौतिक इच्छाएँ

पूरी हो जाती हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) में संस्तुति की गई है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

यदि मनुष्य भगवान् के धाम वापस जाना चाहता है या शुद्ध (*अकाम*) भक्त बनना चाहता है, या कुछ भौतिक सम्पत्ति चाहता है (*सकाम* या *सर्वकाम*) या फिर परब्रह्म के तेज में लीन होना चाहता है (*मोक्षकाम*) तो उसे भक्तियोग साधने तथा भगवान् विष्णु या उनके भक्त के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने की सलाह दी जाती है। वैदिक साहित्य का यही निचोड़ है। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:* (*भगवद्गीता* १५.१५)। वैदिकज्ञान का उद्देश्य श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों को समझना है। जब भी हम श्रीकृष्ण के विषय में कुछ कहते हैं, हम उनके भक्तों की भी बात करते हैं, क्योंकि वे अकेले नहीं हैं। वे कभी भी निर्विशेष या शून्य नहीं हैं। कृष्ण विशेष से पूर्ण (सविशेष) हैं और ज्योंही कृष्ण उपस्थित हो जाते हैं, तो शून्य के लिए स्थान ही नहीं रह पाता।

विजयाभिमुखो राजा श्रुत्वैतदभियाति यान् ।
बलिं तस्मै हरन्त्यग्रे राजान: पृथवे यथा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विजय-अभिमुख:—जो विजय के लिए प्रस्थान करने वाला होता है; राजा—राजा; श्रुत्वा—सुनकर; एतत्—यह; अभियाति—प्रस्थान करता है; यान्—रथ पर; बलिम्—कर या भेंट; तस्मै—उसको; हरन्ति—भेंट करते हैं; अग्रे—समक्ष; राजान:—अन्य राजा; पृथवे—राजा पृथु को; यथा—जिस तरह करते थे।.

यदि विजय तथा शासन-शक्ति का इच्छुक कोई राजा अपने रथ पर चढ़कर प्रस्थान करने के पूर्व पृथु महाराज के चरित्र का तीन बार जप करता है, तो उसके अधीन सारे राजा उसके आदेश से ही सारा कर उसी प्रकार लाकर रखते हैं जिस प्रकार महाराज पृथु के अधीन राजा उनको दिया करते थे।

तात्पर्य : चूँकि क्षत्रिय राजा संसार पर शासन करना चाहता है, अत: वह अन्य समस्त राजाओं को अपने अधीन करना चाहता है। ऐसी ही स्थिति तब भी थी जब पृथु महाराज पृथ्वी पर शासन कर रहे थे। उस समय इस लोक के वे एकमात्र सम्राट थे। यहाँ तक कि पाँच हजार वर्ष पूर्व महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित इस लोक के एकछत्र सम्राट थे। चूँकि कभी-कभी अधीनस्थ राजा विद्रोह किया करते थे, अत: सम्राट के लिए अनिवार्य हो जाता था कि वह जाकर उन्हें दण्ड दे। पृथु महाराज के

जीवन तथा चरित्र के वृत्तान्तों के जप की यह विधि संस्तुत की जाती है, जिससे संसार में राज्य करने के अभिलाषी राजा अन्य राजाओं पर विजय पा सकें।

मुक्तान्यसङ्गो भगवत्यमलां भक्तिमुद्वहन् ।
वैन्यस्य चरितं पुण्यं शृणुयाच्छ्रावयेत्पठेत् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

मुक्त-अन्य-सङ्गः—समस्त भौतिक कल्मष से रहित होकर; भगवति—भगवान् के प्रति; अमलाम्—विशुद्ध; भक्तिम्—भक्ति; उद्वहन्—करते हुए; वैन्यस्य—महाराज वेन के पुत्र का; चरितम्—चरित्र; पुण्यम्—पवित्र; शृणुयात्—सुने; श्रावयेत्—सुनाए; पठेत्—तथा पढ़े।

शुद्ध भक्त भक्तियोग की विविध विधियों का पालन करते हुए कृष्ण-चेतना में पूर्णतया लीन होने के कारण दिव्य पद पर स्थित हो सकता है, किन्तु तो भी भक्ति करते समय उसे पृथु महाराज के जीवन तथा चरित्र के विषय में सुनना, दूसरों को सुनने की प्रेरणा देना तथा पढ़ना चाहिए।

तात्पर्य : नवदीक्षित भक्त भगवान् की लीलाओं को, विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* में वर्णित रास-लीला के विषय में सुनने का अत्यन्त इच्छुक रहता है। ऐसे भक्त को समझ लेना चाहिए कि पृथु महाराज की लीलाएँ भी भगवान् की लीलाओं से अभिन्न हैं। पृथु महाराज ने आदर्श राजा के रूप में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया कि प्रजा पर किस प्रकार शासन करना चाहिए, किस प्रकार उसे शिक्षित करना चाहिए, किस प्रकार राज्य का आर्थिक विकास करना चाहिए, किस प्रकार शत्रुओं से लड़ना चाहिए, किस प्रकार यज्ञ करने चाहिए...आदि आदि...। इस प्रकार "सहजिया" या नवदीक्षित भक्त को सलाह दी जाती है कि वह भले ही अपने को उच्च भक्ति की दिव्य स्थिति पर समझे तो भी वह पृथु महाराज के कार्यकलापों के सम्बन्ध में अवश्य सुने, जपे तथा अन्यों को सुनाए।

वैचित्रवीर्याभिहितं महन्माहात्म्यसूचकम् ।
अस्मिन्कृतमतिमर्त्यं पार्थवीं गतिमाप्नुयात् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

वैचित्रवीर्य—हे विचित्रवीर्य के पुत्र (विदुर); अभिहितम्—कहा गया; महत्—महान्; माहात्म्य—महानता; सूचकम्—उद्बुद्ध करने वाला; अस्मिन्—इसमें; कृतम्—किया हुआ; अति-मर्त्यम्—असामान्य; पार्थवीम्—पृथु महाराज के सम्बन्ध में; गतिम्—उन्नति, लक्ष्य; आप्नुयात्—प्राप्त करना चाहिए।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : हे विदुर, मैंने यथासम्भव पृथु महाराज के चरित्र के विषय में

बतलाया है, जो मनुष्य के भक्तिभाव को बढ़ाने वाला है। जो कोई भी इसका लाभ उठाता है, वह भी महाराज पृथु की तरह ही भगवान् के धाम को वापस जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में आया हुआ *श्रावयेत्* शब्द इंगित करता है कि मनुष्य को न केवल स्वयं पढ़ना चाहिए वरन् अन्यों को भी पढ़ने तथा सुनने के लिए प्रेरित करना चाहिए। यह उपदेश देना कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने इस अभ्यास की संस्तुति की है—*यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश* (*चैतन्य-चरितामृत,* मध्य ७.१२८) "जिससे भी मिलो उससे कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेशों के विषय में बातें करो या उसे कृष्ण के वृत्तान्त सुनाओ।" पृथु महाराज की भक्ति का इतिहास भगवान् की लीलाओं के वृत्तान्त के समान ही शक्तिदायक है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की लीलाओं तथा पृथु महाराज के कार्यकलापों में अन्तर न माने और जब भी अवसर मिले पृथु महाराज के विषय में सुनने के लिए अन्यों को प्रेरित करे। केवल अपने हित के लिए उनकी लीलाओं को नहीं पढ़े, अपितु अन्यों को भी उनके विषय में पढ़ने तथा सुनने के लिए प्रेरित करे। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है।

अनुदिनमिदमादरेण शृण्वन्
पृथुचरितं प्रथयन्विमुक्तसङ्गः ।
भगवति भवसिन्धुपोतपादे
स च निपुणां लभते रतिं मनुष्यः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अनु-दिनम्—प्रतिदिन; इदम्—यह; आदरेण—आदरपूर्वक; शृण्वन्—सुनते हुए; पृथु-चरितम्—पृथु महाराज के वृत्तान्त को; प्रथयन्—कीर्तन करते हुए; विमुक्त—मुक्त; सङ्गः—साथ; भगवति—भगवान् के प्रति; भव-सिन्धु—अज्ञानरूपी सागर; पोत—नाव; पादे—जिनके चरणकमल; सः—वह; च—भी; निपुणाम्—पूर्ण; लभते—प्राप्त करता है; रतिम्—आसक्ति, अनुराग; मनुष्यः—मनुष्य।

जो भी महाराज पृथु के कार्यकलापों के वृत्तान्त को नियमित रूप से अत्यन्त श्रद्धापूर्वक पढ़ता, कीर्तन करता तथा वर्णन करता है, उसका अविचल विश्वास तथा अनुराग निश्चय ही भगवान् के चरणकमलों के प्रति नित्यप्रति बढ़ता जाता है। भगवान् के चरणकमल वह नौका है, जिसके द्वारा मनुष्य अज्ञान के सागर को पार करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भवसिन्धुपोतपादे* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् के चरणकमल *महत्पदम्* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि सारा भौतिक जगत भगवान् के चरणकमलों पर निर्भर करता है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा गया है—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—मुझसे ही सब कुछ उद्भूत है। यह दृश्य जगत भी, जिसकी तुलना अज्ञान सागर से की गई है, भगवान् के चरणकमलों पर आश्रित है। फलतः शुद्ध भक्त के लिए यह अज्ञानरूपी महासागर भी घट जाता है। जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है उसे इस समुद्र को पार करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसने पहले से ही भगवान् के चरणकमलों में स्थित होने के कारण उसे पार कर लिया होता है। वह भगवान् अथवा भगवान् के भक्त की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन करने से भगवान् के चरणकमलों की सेवा में स्थिर हो जाता है। नियमित रूप से प्रतिदिन पृथु महाराज के जीवनवृत्त को सुनाकर भी यह पद आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रसंग में *विमुक्त-सङ्गः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। चूँकि हम प्रकृति के तीन गुणों से संग करते हैं, अतः इस संसार में हमारी स्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण है, किन्तु जब हम *श्रवणं कीर्तनं* द्वारा भगवान् की भक्ति में लग जाते हैं, तो हम तुरन्त *विमुक्त-सङ्गः* अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "महाराज पृथु का भगवद्धाम गमन" नामक तेईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter चौबीस

शिवजी द्वारा की गई स्तुति का गान

मैत्रेय उवाच
विजिताश्वोऽधिराजासीत्पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः ।
यवीयोभ्योऽददात्काष्ठा भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; विजिताश्वः—विजिताश्व नाम का; अधिराजा—सम्राट; आसीत्—हुआ; पृथु-पुत्रः—महाराज पृथु का पुत्र; पृथु-श्रवाः—महान् कार्यों का; यवीयोभ्यः—छोटे भाइयों को; अददात्—दे दिया; काष्ठाः—विभिन्न दिशाएँ; भ्रातृभ्यः—भाइयों को; भ्रातृ-वत्सलः—भाइयों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : महाराज पृथु का सबसे बड़ा पुत्र विजिताश्व, जिसकी ख्याति अपने पिता की ही तरह थी, राजा बना और उसने अपने छोटे भाइयों को पृथ्वी की विभिन्न दिशाओं पर राज्य करने का अधिकार सौंप दिया, क्योंकि वह अपने भाइयों को अत्यधिक चाहता था।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में महाराज पृथु के जीवन तथा चरित्र का वर्णन कर चुकने के बाद मैत्रेय

मुनि ने पृथु की वंश परम्परा में पुत्रों तथा पौत्रों का वर्णन प्रारम्भ किया। महाराज पृथु की मृत्यु के बाद उनका सबसे बड़ा पुत्र विजिताश्व इस पृथ्वी का राजा हुआ। वह अपने छोटे भाइयों के प्रति अत्यन्त स्नेह रखता था, अत: वह चाहता था कि वे संसार की विभिन्न दिशाओं पर शासन करें। अनादि काल से नियम है कि राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र सामान्यत: राजा बनता है। जब पृथ्वी पर पाण्डवों का राज्य था तब राजा पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र महाराज युधिष्ठिर ही सम्राट बने थे और उनके छोटे भाई उनकी सहायता करते थे। इसी प्रकार राजा विजिताश्व के छोटे भाई विश्व की विभिन्न दिशाओं के अधीक्षक नियुक्त हुए।

हर्यक्षायादिशत्प्राचीं धूम्रकेशाय दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं वृकसंज्ञाय तुर्यां द्रविणसे विभुः ॥ २॥

शब्दार्थ

हर्यक्षाय—हर्यक्ष को; अदिशत्—प्रदान किया; प्राचीम्—पूर्व दिशा; धूम्रकेशाय—धूम्रकेश को; दक्षिणाम्—दक्षिण दिशा; प्रतीचीम्—पश्चिम दिशा; वृक-संज्ञाय—वृक नामक भाई को; तुर्याम्—उत्तर दिशा; द्रविणसे—द्रविण को; विभुः—स्वामी।

महाराज विजिताश्व ने संसार का पूर्वी भाग अपने भाई हर्यक्ष को, दक्षिणी भाग धूम्रकेश को, पश्चिमी भाग वृक को तथा उत्तरी भाग द्रविण को प्रदान किया।

अन्तर्धानगतिं शक्राल्लब्ध्वान्तर्धानसंज्ञितः ।
अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसम्मतम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

अन्तर्धान—विलुप्त होने की; गतिम्—शक्ति; शक्रात्—इन्द्र से; लब्ध्वा—पाकर; अन्तर्धान—अन्तर्धान; संज्ञितः—नाम पड़ा; अपत्य—संतानें; त्रयम्—तीन; आधत्त—उत्पन्न कीं; शिखण्डिन्याम्—अपनी पत्नी शिखण्डिनी से; सु-सम्मतम्—सबों द्वारा अनुमत।

पूर्वकाल में महाराज विजिताश्व ने स्वर्ग के राजा इन्द्र को प्रसन्न करके उनसे अन्तर्धान की पदवी प्राप्त की थी। उनकी पत्नी का नाम शिखण्डिनी था जिससे उन्हें तीन उत्तम पुत्र हुए।

तात्पर्य : महाराज विजिताश्व अन्तर्धान नाम से विख्यात थे, जिसका अर्थ होता है ''विलुप्त होना।'' यह पदवी उन्हें इन्द्र से प्राप्त हुई थी। यह उस समय की बात है जब इन्द्र ने महाराज पृथु के घोड़े को यज्ञस्थल से चुरा लिया था। जब वह घोड़ा चुरा रहा था, तो औरों के लिए तो वह अदृश्य था, किन्तु महाराज पृथु के पुत्र विजिताश्व ने उसे देख लिया था। यह जानते हुए कि इन्द्र उसके पिता का घोड़ा चुराये ले जा रहा है विजिताश्व ने उस पर आक्रमण नहीं किया। इससे पता चलता है कि महाराज

विजिताश्व सही व्यक्तियों का सम्मान करते थे। यद्यपि इन्द्र उसके पिता का घोड़ा चुराये ले जा रहा था, किन्तु विजिताश्व को ज्ञात था कि इन्द्र कोई सामान्य चोर नहीं है। चूँकि इन्द्र एक महान् शक्तिशाली देवता था और भगवान् का सेवक था, अत: विजिताश्व ने जानबूझ कर उसे क्षमा कर दिया था यद्यपि इन्द्र गलत कार्य कर रहा था। इससे इन्द्र विजिताश्व पर परम प्रसन्न हुआ। देवताओं में इच्छानुसार प्रकट होने तथा छिपने की योगशक्ति पाई जाती है और चूँकि इन्द्र विजिताश्व पर परम प्रसन्न था, अत: उसने उसे यह योगशक्ति प्रदान की। इस प्रकार विजिताश्व अन्तर्धान कहलाया।

पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा ।
वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः ॥ ४॥

शब्दार्थ

पावकः—पावक नामक; पवमानः—पवमान नामक; च—भी; शुचिः—शुचि नामक; इति—इस प्रकार; अग्नयः—अग्निदेव; पुरा—प्राचीन काल में; वसिष्ठ—वसिष्ठ मुनि; शापात्—शाप से; उत्पन्नाः—अब उत्पन्न; पुनः—फिर से; योग-गतिम्—योगाभ्यास का पद; गताः—प्राप्त किया।.

महाराज अन्तर्धान के तीनों पुत्रों के नाम थे पावक, पवमान तथा शुचि। पूर्वकाल में ये तीनों व्यक्ति अग्निदेव थे, परन्तु वसिष्ठ ऋषि के शाप से वे महाराज अन्तर्धान के पुत्रों के रूप में उत्पन्न हुए; फलत: वे अग्निदेवों के ही समान शक्तिमान थे और फिर से अग्निदेवों के रूप में स्थित होने के कारण उन्होंने योगशक्ति का पद प्राप्त किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (६.४१-४३) में कहा गया है कि जो योगाभ्यास से नीचे गिरता है, वह स्वर्गलोक को जाता है और वहाँ सुख भोगकर पुन: पृथ्वी पर आता है तथा किसी धनी कुल में या पवित्र ब्राह्मण-कुल में जन्म लेता है। अत: यह समझना चाहिए कि जब देवता भ्रष्ट होते हैं, तो वे पृथ्वी पर अत्यन्त धनी तथा पवित्र कुलों में जन्म लेते हैं। ऐसे परिवारों में कृष्णभक्ति करने का अवसर प्राप्त होता है, जिससे उन्हें वाञ्छित गन्तव्य प्राप्त होता है। महाराज अन्तर्धान के पुत्र अग्नि के अधीक्षक देवता थे, उन्होंने अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त की थी और योगबल से वे स्वर्ग को चले गये।

अन्तर्धानो नभस्वत्यां हविर्धानमविन्दत ।
य इन्द्रमश्वहर्तारं विद्वानपि न जघ्निवान् ॥ ५॥

शब्दार्थ

अन्तर्धानः—अन्तर्धान राजा; नभस्वत्याम्—अपनी पत्नी नभस्वती से; हविर्धानम्—हविर्धान नामक; अविन्दत—प्राप्त किया; यः—जो; इन्द्रम्—राजा इन्द्र को; अश्व-हर्तारम्—जो उसके पिता का घोड़ा चुरा रहा था; विद्वान् अपि—जानते हुए भी; न जघ्निवान्—नहीं मारा।

महाराज अन्तर्धान के नभस्वती नामक एक दूसरी पत्नी थी जिससे उन्हें हविर्धान नामक एक अन्य पुत्र की प्राप्ति हुई। चूँकि महाराज अन्तर्धान अत्यन्त उदार थे, अतः उन्होंने यज्ञ से अपने पिता के घोड़े को चुराते हुए इन्द्रदेव को मारा नहीं।

तात्पर्य : अनेक शास्त्रों तथा पुराणों से ज्ञात होता है कि स्वर्ग का राजा इन्द्र चोरी करने तथा अपहरण करने में अत्यन्त दक्ष था। वह मालिक की अनदेख में किसी भी वस्तु को चुरा सकता था और बिना पहचान में आए किसी की पत्नी को हर सकता था। एक बार उसने अपनी अन्तर्धान कला से गौतम मुनि की पत्नी के साथ बलात्कार किया। इसी प्रकार अदृश्य होकर उसने महाराज पृथु का घोड़ा चुरा लिया। यद्यपि मानव-समाज में ऐसे कार्य कुत्सित समझे जाते हैं, किन्तु इन्द्र ऐसे कार्यों से नीच अर्थात् भ्रष्ट हुआ नहीं समझा गया। यद्यपि अन्तर्धान को पता चल गया था कि राजा इन्द्र उसके पिता का घोड़ा चुराये ले जा रहा था, किन्तु उसने मारा नहीं, क्योंकि वह जानता था कि कभी-कभी अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष भी ऐसा घृणित कार्य करते हैं, अत: इसकी ज्यादा परवाह नहीं करनी चाहिए। *भगवद्गीता* (९.३०) में स्पष्ट रूप से कहा गया है :

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

भगवान् कहते हैं कि यदि भक्त कुत्सित कार्य भी करे तो उसे साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् की अविचल भक्ति करता है। भगवान् के भक्त कभी भी जान-बूझकर कोई पापकर्म नहीं करते, किन्तु कभी-कभी पुरानी आदतों के कारण वे कुछ घृणित कार्य कर बैठते हैं। ऐसे कार्यों को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए, क्योंकि भगवान् के भक्त चाहे इस लोक में हों या स्वर्गलोक में, अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं। यदि किसी कारणवश वे कोई घृणित कार्य कर बैठते हैं, तो इस पर ध्यान नहीं देना चाहिए अपितु उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।

राज्ञां वृत्तिं करादानदण्डशुल्कादिदारुणाम् ।
मन्यमानो दीर्घसत्रव्याजेन विससर्ज ह ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

राज्ञाम्—राजाओं की; वृत्तिम्—जीविका का साधन; कर—लगान, टैक्स; आदान—वसूली; दण्ड—दण्ड; शुल्क—अर्थ-दण्ड; आदि—इत्यादि.; दारुणाम्—अत्यन्त कष्टप्रद; मन्यमान:—मानते हुए; दीर्घ—लम्बा; सत्र—यज्ञ; व्याजेन—बहाने से; विससर्ज—त्याग दिया; ह—प्राचीन काल में।.

जब भी परम शक्तिशाली अन्तर्धान को प्रजा से कर लेना, प्रजा को दण्ड देना या उस पर कठोर जुर्माना लगाना होता तो ऐसा करने को उनका जी नहीं चाहता था। फलतः उन्होंने ऐसे कार्यों से मुख मोड़ लिया और वे विभिन्न प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करने में व्यस्त रहने लगे।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट है कि कभी-कभी राजा होने के नाते राजा को ऐसे कार्य करने पड़ते हैं, जो वांछनीय नहीं होते। यथा, अर्जुन युद्ध करने के लिए बिल्कुल इच्छुक न था, क्योंकि अपने सम्बन्धियों तथा परिजनों से युद्ध करना या उन्हें मारना उसे बिल्कुल अच्छा नहीं लग रहा था। फिर भी क्षत्रियों को ऐसे अवांछित कार्य कर्तव्य के रूप में करने ही पड़ते थे। कर वसूलते समय या अपराध-कार्य करने के लिए प्रजा को दण्डित करते समय महाराज अन्तर्धान को तनिक भी प्रसन्नता न होती, फलत: उन्होंने यज्ञ करने के बहाने कम उम्र में ही राजसी शक्ति से मुख मोड़ दिया।

तत्रापि हंसं पुरुषं परमात्मानमात्मदृक् ।
यजंस्तल्लोकतामाप कुशलेन समाधिना ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—अपनी व्यस्तता के बावजूद; हंसम्—जो अपने सम्बन्धियों के कष्ट को दूर करता है; पुरुषम्—परम पुरुष को; परम-आत्मानम्—परम प्रिय परमात्मा; आत्म-दृक्—जिसने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है; यजन्—पूजा द्वारा; तत्-लोकताम्—उसी लोक को; आप—प्राप्त किया; कुशलेन—सरलतापूर्वक; समाधिना—समाधि में लीन रह कर।.

यद्यपि महाराज अन्तर्धान यज्ञ करने में व्यस्त रहते थे, किन्तु स्वरूपसिद्ध व्यक्ति होने के नाते वे भक्तों के समस्त भय को दूर करने वाले भगवान् की भक्ति भी करते रहे। इस प्रकार भगवान् की पूजा करते हुए महाराज अन्तर्धान समाधि में लीन रह कर सरलतापूर्वक भगवान् के ही लोक को प्राप्त हुए।

तात्पर्य : चूँकि सामान्यत: यज्ञ सकाम कर्मियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, अत: यहाँ विशेष उल्लेख है (*तत्रापि*) कि यद्यपि महाराज अन्तर्धान बाह्य रूप से यज्ञ करते थे, किन्तु उनकी वास्तविक वृत्ति तो श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भक्ति करनी थी। दूसरे शब्दों में, वे सामान्य यज्ञों को *संकीर्तन-यज्ञ* की विधि से सम्पन्न करते थे जिसकी संस्तुति यहाँ पर की गई है (भागवत ७.५.२३)

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भक्ति को *कीर्तन-यज्ञ* कहते हैं। *संकीर्तन-यज्ञ* के द्वारा मनुष्य सरलता से उस लोक को जाता है जहाँ परमेश्वर का वास है। पाँच प्रकार के मोक्षों में से जिस लोक में भगवान् रहते हैं उसे प्राप्त करके भगवान् के साथ रहने को *सालोक्य* मोक्ष कहते हैं।

हविर्धानाद्धविर्धानी विदुरासूत षट्सुतान् ।
बर्हिषदं गयं शुक्लं कृष्णं सत्यं जितव्रतम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

हविर्धानात्—हविर्धान से; हविर्धानी—हविर्धान की पत्नी ने; विदुर—हे विदुर; असूत—जन्म दिया; षट्—छह; सुतान्—पुत्रों को; बर्हिषदम्—बर्हिषत् नामक; गयम्—गय नामक; शुक्लम्—शुक्ल नामक; कृष्णम्—कृष्ण नामक; सत्यम्—सत्य नामक; जितव्रतम्—जितव्रत को।.

महाराज अन्तर्धान के पुत्र हविर्धान की पत्नी का नाम हविर्धानी था जिसने छह पुत्रों को जन्म दिया, जिनके नाम थे बर्हिषत्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य तथा जितव्रत।

बर्हिषत्सुमहाभागो हाविर्धानिः प्रजापतिः ।
क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

बर्हिषत्—बर्हिषत्; सु-महा-भागः—अत्यन्त भाग्यशाली; हाविर्धानिः—हाविर्धानि नामक; प्रजा-पतिः—प्रजापति का पद; क्रिया-काण्डेषु—सकाम कर्म करने में; निष्णातः—लीन रहने वाला; योगेषु—योगाभ्यास में; च—भी; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं में श्रेष्ठ (विदुर)!.

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, हविर्धान का अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र बर्हिषत् विभिन्न प्रकार के यज्ञादि, कर्मकाण्ड तथा योगाभ्यास में अत्यन्त कुशल था। अपने महान् गुणों के कारण वह प्रजापति कहलाया।

तात्पर्य : सृष्टि के प्रारम्भ में जीवों की संख्या अधिक न थी, अतः शक्तिशाली जीवात्माओं या देवताओं को सन्तान उत्पन्न करने तथा जनसंख्या बढ़ाने के लिए प्रजापति के रूप में नियुक्त किया जाता था। प्रजापति कई थे। ब्रह्मा, दक्ष तथा मनु को भी कभी कभी प्रजापति कहा जाता है। हविर्धान का पुत्र बर्हिषत् भी इनमें से एक था।

यस्येदं देवयजनमनुयज्ञं वितन्वतः ।
प्राचीनाग्रैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; इदम्—यह; देव-यजनम्—यज्ञों द्वारा देवों को तुष्ट करना; अनुयज्ञम्—निरन्तर यज्ञ करते रहना; वितन्वतः—करते हुए; प्राचीन-अग्रैः—पूर्व दिशा की ओर रखते हुए; कुशैः—कुशों से; आसीत्—हो गई; आस्तृतम्—बिखरे हुए; वसुधा-तलम्—पृथ्वी के ऊपर।

महाराज बर्हिषत् ने संसार भर में अनेक यज्ञ किये। उन्होंने कुश घासों को बिखेर कर उनके अग्रभागों को पूर्व की ओर रखा।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, महाराज बर्हिषत् यज्ञों के कर्मकाण्ड में गहनभाव से लीन रहते थे (*क्रिया-काण्डेषु निष्णातः*)। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्योंही एक स्थान पर यज्ञ समाप्त होता था, उसी के निकट दूसरे स्थान पर वह दूसरा यज्ञ प्रारम्भ कर देता था। आज के समय में भी सारे संसार में *संकीर्तन* यज्ञ सम्पन्न किये जाने की ऐसी ही आवश्यकता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ने विभिन्न स्थानों पर *संकीर्तन* यज्ञ सम्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया है और यह देखा गया है कि जहाँ भी ऐसा यज्ञ किया जाता है, वहाँ हजारों लोग एकत्र होते हैं और उसमें भाग लेते हैं। इस प्रकार से प्राप्त अदृश्य कल्याण को सारे संसार भर में चालू करना चाहिए। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के सदस्यों को एक के पश्चात् एक इतने *संकीर्तन* यज्ञ करने चाहिए कि लोग, हँसी-हँसी में ही सही या फिर गम्भीरतापूर्वक हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे-महामंत्र का जाप करें। इससे उनके हृदय विमल होंगे। भगवान् का पवित्र नाम (*हरेर्नाम*) इतना शक्तिशाली होता है कि चाहे हँसी में जपा जाये या गम्भीरतापूर्वक, इस मंत्र की ध्वनि चारों ओर समान रूप से फैलती है। इस समय महाराज बर्हिषत् की भाँति बारम्बार यज्ञ करना सम्भव नहीं है, किन्तु संकीर्तन यज्ञ करना तो हमारे वश में है, क्योंकि इसमें कुछ भी धन लगता नहीं। कोई कहीं भी बैठकर हरे-कृष्ण-महामंत्र का जप कर सकता है। यदि पृथ्वी तल को हरे कृष्ण मंत्र के जप से आप्लावित कर दिया जाये तो संसार के लोग परम सुखी हो जाँय।

सामुद्रीं देवदेवोक्तामुपयेमे शतद्रुतिम्
यां वीक्ष्य चारुसर्वाङ्गीं किशोरीं सुष्ठ्वलङ्कृताम् ।
परिक्रमन्तीमुद्वाहे चकमेऽग्निः शुकीमिव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सामुद्रीम्—समुद्र की कन्या को; देव-देव-उक्ताम्—परम देवता ब्रह्मा के कहने से; उपयेमे—विवाह किया; शतद्रुतिम्—शतद्रुति नामक; याम्—जिसको; वीक्ष्य—देखकर; चारु—अत्यन्त आकर्षक; सर्व-अङ्गीम्—शरीर के सभी अंग; किशोरीम्—युवती; सुष्ठु—अत्यधिक; अलङ्कृताम्—आभूषणों से सजी; परिक्रमन्तीम्—परिक्रमा करती, घूमती; उद्वाहे—विवाह में; चकमे—आकर्षित होकर; अग्निः—अग्निदेव ने; शुकीम्—शुकी को; इव—सदृश।

महाराज बर्हिषत् (आगे प्राचीनबर्हि नाम से विख्यात) को परम देवता ब्रह्माजी ने समुद्र की कन्या शतद्रुति के साथ विवाह करने का आदेश दिया था। उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुन्दर थे और वह अत्यन्त युवा थी। वह समुचित परिधानों से अलंकृत थी। जब वह विवाह-मण्डप में आकर प्रदक्षिणा करने लगी तो अग्निदेव उस पर इतने मोहित हो गये कि उन्होंने उसे संगी बना कर उसके साथ भोग करना चाहा जिस तरह पहले भी उन्होंने शुकी के साथ करना चाहा था।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सुष्ठ्वलङ्कृतम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब कन्या का विवाह वैदिक रीति से होता है, तो उसे मूल्यवानवस्त्रों तथा आभूषणों से अत्यधिक अलकृंत किया जाता है और विवाह के समय वधू वर की सात प्रदक्षिणाएँ करती है। तत्पश्चात् वर वधू एक दूसरे को देखते हैं और जीवन भर के लिए आकर्षित हो जाते हैं। जब वर बधू को अतीव सुन्दरी पाता है, तो उनके मध्य अति प्रबल आकर्षण स्थिर हो जाता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कथित है, स्त्री तथा पुरुष स्वभाव से एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं और जब वे विवाह से बँध जाते हैं, तो यह आकर्षण और भी सुदृढ़ हो जाता है। इस प्रकार अत्यधिक आकृष्ट होकर वर (दूल्हा) बढ़िया घर और अन्न उत्पन्न करने के लिए अच्छा खेत बनाना चाहता है। तब सन्तान उत्पन्न होती है, मित्र बनते हैं तथा सम्पत्ति आती है। इस प्रकार मनुष्य जीवन की भौतिकता में अधिकाधिक फँसता जाता है और सोचने लगता है, "यह मेरा है," "मैं ही काम करने वाला हूँ।" इस तरह संसार का मोह बढ़ता जाता है।

शुकीम् इव शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जब शतद्रुति प्राचीनबर्हि की प्रदक्षिणा कर रही थी अग्नीदेव उसकी सुन्दरता पर उसी तरह मोहित हो गये जिस प्रकार वे पहले सप्तर्षि की पत्नी शुकी पर मोहित हो चुके थे। जब बहुत काल पूर्व सप्तर्षि-सभा में अग्निदेव उपस्थित थे तो वे शुकी पर जब वह प्रदक्षिणा कर रही थी इसी प्रकार मोहित हुए थे। तब अग्नि की पत्नी स्वाहा ने शुकी का रूप धारण कर अग्नि के साथ संभोग किया था। न केवल अग्नि, अपितु स्वर्ग के राजा इन्द्र तथा कभी-कभी ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवता भी काममोहित होते रहे हैं। जीवात्माओं में काम-भावना

इतनी प्रबल होती है कि सारा भौतिक संसार विषय-आकर्षण के द्वारा ही संचालित हो रहा है और काम-वासना के कारण ही मनुष्य भौतिक संसार में रहने तथा विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करने के लिए बाध्य होता है। अगले श्लोक में विषयी जीवन के प्रति आकर्षण का चित्रण हुआ है।

विबुधासुरगन्धर्वमुनिसिद्धनरोरगाः ।
विजिताः सूर्यया दिक्षु क्वणयन्त्यैव नूपुरैः ॥ १२॥

शब्दार्थ

विबुध—विद्वान; असुर—असुर; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; मुनि—बड़े-बड़े साधु; सिद्ध—सिद्ध लोक के वासी; नर—पृथ्वी लोक के वासी; उरगाः—नाग लोक के वासी; विजिताः—मोहित; सूर्यया—नवेली द्वारा; दिक्षु—समस्त दिशाओं में; क्वणयन्त्या—झंकार करती हुई; एव—केवल; नूपुरैः—अपने नुपूरों से।

जब शतद्रुति का इस तरह विवाह हो रहा था, तो असुर, गन्धर्वलोक के वासी, बड़े-बड़े साधु एवं सिद्धलोक, पृथ्वीलोक तथा नागलोक के वासी, सभी परम विद्वान् होते हुए भी उसके नुपूरों की झनकार से मोहित हो रहे थे।

तात्पर्य : सामान्य रूप से कम आयु में विवाह हो जाने पर एक सन्तान को जन्म देने के पश्चात् स्त्री अधिक सुन्दर हो जाती है। सन्तान को जन्म देना नारी का प्राकृतिक कार्य है। इस प्रकार एक के बाद एक सन्तान उत्पन्न करके वह अधिकाधिक सुन्दर होती जाती है। किन्तु शतद्रुति इतनी सुन्दर थी कि उसने अपने विवाहोत्सव में ही सारे संसार को मोह लिया। दरअसल, उसने अपने नुपूरों की झनकार से ही बड़े-बड़े विद्वानों तथा महान् देवताओं को आकृष्ट कर लिया। इससे सूचित होता है कि सभी देवता उसका सौंदर्य देखना चाह रहे थे, किन्तु वस्त्राभूषणों से ढकी होने के कारण वे उसे ठीक से देख नहीं पा रहे थे। चूँकि वे उसके पाँव ही देख रहे थे, अतः नुपूरों की झनकार सुनकर ही वे मोहित हो रहे थे। उन्हें उसका पूरा सौंदर्य देखने की आवश्यकता न थी। कभी-कभी मनुष्य स्त्रियों की चूड़ियों की खनक, नुपूरों की झनकार अथवा साड़ी देखकर ही काममोहित हो उठता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि स्त्री माया का पूर्ण रूप है। यद्यपि विश्वामित्र मुनि आँखें बन्द किये योगाभ्यास में लीन थे, किन्तु जब उन्होंने मेनका की चूड़ियों की खनक सुनी तो उनका दिव्य ध्यान टूट गया। इस प्रकार विश्वामित्र मेनका के चंगुल में आ गये और उससे एक सन्तान उत्पन्न हुई जो शकुन्तला नाम से जगत्प्रसिद्ध हुई। निष्कर्ष यह है कि कोई भी अपने को नारी-आकर्षण से नहीं बचा सकता, भले ही वह महान् देवता अथवा उच्चलोक का वासी क्यों न हो। केवल भगवद्भक्त, जो कृष्ण पर आसक्त है,

स्त्री के आकर्षण से बच पाता है। एक बार कृष्ण द्वारा आकृष्ट होने पर संसार की माया उसे आकर्षित नहीं कर सकती।

प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन् ।
तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिषः—राजा प्राचीनबर्हि के; पुत्राः—पुत्र; शतद्रुत्याम्—शतद्रुति के गर्भ से; दश—दस; अभवन्—उत्पन्न हुए; तुल्य—समान; नाम—नाम; व्रताः—व्रत; सर्वे—सभी; धर्म—धार्मिकता में; स्नाताः—पूर्णतया मग्न; प्रचेतसः—सबों का प्रचेता नाम पड़ा।

राजा प्राचीनबर्हि ने शतद्रुति के गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न किये। वे सभी समान रूप से धर्मात्मा थे और प्रचेता नाम से विख्यात हुए।

तात्पर्य : *धर्म-स्नाताः* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि दसों पुत्र धर्म में पूर्णतः रत थे। साथ ही वे समस्त उत्तम गुणों से सम्पन्न थे। मनुष्य तभी पूर्ण माना जाता है जब वह पूर्ण रूप से धार्मिक हो, अपनी भक्ति के व्रत में पूर्ण हो, ज्ञान में पूर्ण हो एवं उत्तम आचरण वाला हो। सभी प्रचेतागण समान रूप से सिद्ध थे।

पित्रादिष्टाः प्रजासर्गे तपसेऽर्णवमाविशन् ।
दशवर्षसहस्राणि तपसार्चंस्तपस्पतिम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

पित्रा—पिता द्वारा; आदिष्टाः—आदेश पाकर; प्रजा-सर्गे—सन्तान उत्पन्न करने के विषय में; तपसे—तपस्या करने में; अर्णवम्—समुद्र में; आविशन्—प्रविष्ट होकर; दश-वर्ष—दस साल; सहस्राणि—हजारों; तपसा—अपनी तपस्या से; आर्चन्—पूजा की; तपः—तपस्या के; पतिम्—स्वामी की।

जब इन सभी प्रचेताओं को उनके पिता ने विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया तो सबों ने समुद्र में प्रवेश किया और दस हजार वर्षों तक तपस्या की। इस प्रकार उन्होंने समस्त तपस्या के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की उपासना की।

तात्पर्य : कभी-कभी ऋषि तथा साधु संसार के शोरगुल से दूर एकान्तवास करने के लिए हिमालय पर्वत में जाते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि एकान्तवास में तपस्या करने के लिए प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने समुद्र के भीतर प्रवेश किया। चूँकि वे दस हजार वर्षों तक तपस्या करते रहे, अतः यह घटना सत्ययुग की है, क्योंकि तब लोग एक लाख वर्ष तक जीवित रहते थे। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है

कि तपस्या करते हुए उन्होंने तपेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना की। यदि चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई तपस्या करना चाहता है, तो उसे भगवान् की कृपा प्राप्त करनी चाहिए। यदि उसे भगवत्कृपा प्राप्त हो गई तो समझिये कि उसने सारी तपस्याएँ समाप्त करके उनमें दक्षता प्राप्त कर ली है। दूसरी ओर, यदि उसे भक्ति की पूर्ण अवस्था प्राप्त नहीं हो पाती तो उसकी सारी तपस्याएं व्यर्थ हैं, क्योंकि तपस्या करने से प्राप्त होने वाले सर्वोच्च फल को परमेश्वर के बगैर कोई ग्रहण नहीं कर सकता। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है, भगवान् श्रीकृष्ण समस्त तपस्याओं तथा यज्ञों के स्वामी हैं। *भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोक महेश्वरम्।* इस प्रकार तपस्या का वांछित फल भगवान् श्रीकृष्ण से ही प्राप्त हो सकता है।

श्रीमद्भागवत (३.३३.७) में कहा गया है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्

यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या

ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

भले ही कोई चाण्डाल कुल में अर्थात् मानव समाज का सबसे निचले वर्ग में क्यों न जन्मा हो, यदि वह भगवान् के नाम का जप करता है, तो वह धन्य है, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसे जप से भक्त यह सिद्ध कर देता है कि पिछले जन्म में उसने सभी प्रकार की तपस्याएँ की थीं। भगवान् चैतन्य की कृपा से जो कोई महामंत्र (हरे कष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।) का जप करता है, वह उस परम सिद्धि को प्राप्त करता है, जिसे पहले के लोग समुद्र में प्रवेश करके दस हजार वर्षों तक तपस्या करके प्राप्त करते थे। यदि इस कलियुग में कोई हरे कृष्ण मंत्र जप करने का लाभ नहीं उठाता, जो इस युग की पतितात्माओं के लिए सबसे बड़ी छूट है, तो यह समझना चाहिए कि वह भगवान् की माया से मोहग्रस्त है।

यदुक्तं पथि दृष्टेन गिरिशेन प्रसीदता ।
तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च पूजयन्तश्च संयताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; उक्तम्—कहा गया; पथि—रास्ते में; दृष्टेन—भेंट करके; गिरिशेन—भगवान् शिव द्वारा; प्रसीदता—अत्यन्त प्रसन्न होकर; तत्—वही; ध्यायन्तः—ध्यान करते हुए; जपन्तः च—और जप करते हुए; पूजयन्तः च—और पूजते हुए; संयताः—अत्यन्त संयमपूर्वक।

जब प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने तपस्या करने के उद्देश्य से घर छोड़ दिया तो उन्हें शिवजी मिले, जिन्होंने अत्यन्त कृपा करके उन्हें परम सत्य के विषय में उपदेश दिया। प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने उनके उपदेशों को अत्यन्त सावधानी तथा मनोयोग से जपते तथा पूजा करते हुए उनके विषय में ध्यान किया।

तात्पर्य : यह स्पष्ट है कि तपस्या करने के लिए या किसी भी प्रकार की भक्ति के लिए गुरु द्वारा पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि महाराज प्राचीनबर्हि के दसों पुत्रों को भगवान् शिव के प्रकट होने से यह कृपा प्राप्त हुई और उन्होंने दयावश उन्हें तपस्या करने के विषय में उपदेश दिया। वास्तव में भगवान् शिव उन दसों के गुरु हो गये और बदले में उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को इतनी गम्भीरता से ग्रहण किया कि मात्र उन पर ध्यान करने से (*ध्यायन्तः*) वे सिद्ध हो सके। यही सफलता का रहस्य है। दीक्षा ग्रहण करके तथा गुरु से आदेश प्राप्त करके शिष्य को बिना हिचक के गुरु के उपदेशों या आदेशों के विषय में ध्यान करना चाहिए और अपने आपको किसी अन्य वस्तु से विचलित नहीं होने देना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का भी यही मत है जिन्होंने *भगवद्गीता* के (२.४१) एक श्लोक (*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन*) की व्याख्या करते हुए इंगित किया है कि शिष्य के लिए गुरु का आदेश ही जीवनाधार है। शिष्य भगवान् के धाम जा रहा है या नहीं, इसकी परवाह न करके उसका पहला कर्तव्य है गुरु के आदेश का पालन करे। इस प्रकार शिष्य को गुरु के आदेश पर ध्यान धारण करना चाहिए। यही समग्र ध्यान है। उसे न केवल उस आदेश के विषय में ध्यान करना चाहिए, अपितु उन साधनों की खोज भी करनी चाहिए जिनसे वह ठीक से उपासना कर सके और उसे पूरी कर सके।

विदुर उवाच

प्रचेतसां गिरित्रेण यथासीत्पथि सङ्गमः ।
यदुताह हरः प्रीतस्तन्नो ब्रह्मन्वदार्थवत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने पूछा; प्रचेतसाम्—समस्त प्रचेताओं की; गिरित्रेण—शिवजी द्वारा; यथा—जिस प्रकार; आसीत्—था; पथि—रास्ते में; सङ्गमः—भेंट; यत्—जो; उत आह—कहा; हरः—शिवजी ने; प्रीतः—प्रसन्न होकर; तत्—वह; नः—हमको; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; वद—कहो; अर्थ-वत्—अर्थ समझा कर।

विदुर ने मैत्रेय से पूछाः हे ब्राह्मण, प्रचेतागण रास्ते में शिवजी से क्यों मिले? कृपया मुझे बताएँ कि उनसे किस प्रकार भेंट हुई, भगवान् शिव उनसे किस प्रकार इतने प्रसन्न हो गये और उन्होंने क्या उपदेश दिया? निस्सन्देह, ऐसी बातें महत्वपूर्ण हैं और मैं चाहता हूँ कि आप कृपा करके मुझसे इनका वर्णन करें।

तात्पर्य : जब भी भक्त तथा भगवान् के बीच या उच्च भक्तों में परस्पर महत्त्वपूर्ण वार्ताएँ हों तो मनुष्य को उन्हें उत्सुकता से सुनना चाहिए। नैमिषारण्य की सभा में जहाँ सभी ऋषियों को सूत गोस्वामी *श्रीमद्भागवत* सुना रहे थे, उनसे भी महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी की वार्ताओं के विषय में पूछा गया, क्योंकि ऋषियों को विश्वास था कि उनकी वार्ताएँ भी भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन के मध्य हुई वार्ताओं के समान महत्त्वपूर्ण रही होंगी। जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति *भगवद्गीता* से पूर्णतया अवगत होना चाहता है, उसी प्रकार विदुर भी शिव तथा प्रचेताओं के बीच हुई वार्ता के विषय में ऋषि मैत्रेय से जानने के लिए उत्सुक थे।

सङ्गमः खलु विप्रर्षे शिवेनेह शरीरिणाम् ।
दुर्लभो मुनयो दध्युरसङ्गाद्यमभीप्सितम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

सङ्गमः—संग, समागम; खलु—निश्चय ही; विप्र-ऋषे—हे ब्राह्मण श्रेष्ठ; शिवेन—शिव के साथ; इह—इस संसार में; शरीरिणाम्—भौतिक देहों में बँधे हुओं का; दुर्लभः—कठिन; मुनयः—मुनिगण; दध्युः—ध्यान में लगे हुए; असङ्गात्—प्रत्येक वस्तु से विरक्त; यम्—जिसको; अभीप्सितम्—इच्छा करते हुए।

विदुर ने आगे कहा : हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, देहधारियों के लिए शिवजी के साथ साक्षात् सम्पर्क कर पाना अत्यन्त कठिन है। बड़े-बड़े ऋषि भी जिन्हें भौतिक आसक्ति से कोई लेनदेन नहीं होता, उनका समागम पाने के लिए ही, ध्यान में लीन रहने के बावजूद भी उनका संसर्ग प्राप्त नहीं कर पाते।

तात्पर्य : चूँकि बिना विशेष कारण के शिवजी अवतरित नहीं होते, अतः सामान्य व्यक्ति का उनसे सम्पर्क कर पाना कठिन है। किन्तु जब भगवान् का आदेश होता है, तो उन्हें किसी विशेष अवसर पर अवतार लेना होता है। इस प्रसंग में *पद्म पुराण* में कहा गया है कि कलियुग में मायावाद दर्शन का

उपदेश देने के लिए शिवजी ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए थे। यह दर्शन बौद्ध दर्शन के एक प्रकार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। *पद्म पुराण* का कथन है—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।

मयैव विहितं देवी कलौ ब्राह्मणमूर्तिना॥

शिवजी ने पार्वती से पहले ही बता दिया था कि वे बौद्ध दर्शन के उन्मूलन हेतु संन्यासी ब्राह्मण के वेश में मायावाद दर्शन का विस्तार करेंगे। यह संन्यासी और कोई नहीं बल्कि श्रीपाद शंकराचार्य थे। बौद्ध दर्शन के प्रभावों पर विजय पाने तथा वेदान्त दर्शन का प्रसार करने के लिए श्रीपाद शंकराचार्य को बौद्ध दर्शन के साथ कुछ समझौता करना पड़ा और उस समय की आवश्यकता के अनुसार उन्होंने केवल अद्वैतवाद का उपदेश दिया, अन्यथा उन्हें मायावाद दर्शन के उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस समय मायावाद दर्शन या बौद्ध दर्शन के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान् चैतन्य ने इन दोनों का बहिष्कार किया। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन भगवान् चैतन्य के दर्शन का प्रसार और दोनों प्रकार के मायावादी दर्शनों का बहिष्कार कर रहा है। एक प्रकार से बौद्ध दर्शन तथा शंकर दर्शन सांसारिक स्तर पर मायावाद के विभिन्न रूप हैं। इनमें से किसी का भी आध्यात्मिक महत्त्व नहीं है। आध्यात्मिक महत्त्व तो *भगवद्गीता* के दर्शन को स्वीकार करने के पश्चात् है, जो भगवान् की शरण ग्रहण करने में फलीभूत होता है। सामान्यत: लोग किसी लाभ के लिए शिवजी की पूजा करते हैं और उनका साक्षात् दर्शन किए बिना भी वे उनकी उपासना करके बड़े-बड़े भौतिक लाभ प्राप्त करते हैं।

आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य लोककल्पस्य राधसे ।
शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान्भव: ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आत्म-आराम:—आत्मतुष्ट; अपि—यद्यपि वह है; य:—जो है; तु—लेकिन; अस्य—इस; लोक—भौतिक जगत; कल्पस्य—प्रकट होने पर; राधसे—इस संसार की सहायता के लिए; शक्त्या—शक्ति से; युक्त:—साथ; विचरति—कार्य करता है; घोरया—अत्यन्त भयानक; भगवान्—भगवान्; भव:—शिव।

शिवजी जो अत्यन्त शक्तिशाली देवता हैं और वे आत्माराम हैं, जिनका नाम भगवान् विष्णु के ही बाद आता है। यद्यपि उन्हें इस भौतिक जगत में किसी वस्तु की कोई आकांक्षा नहीं है, किन्तु वे संसारी लोगों के कल्याण कार्य में सदैव व्यस्त रहते हैं और अपनी घोर शक्तियों—यथा देवी काली तथा देवी दुर्गा—के साथ रहते हैं।

तात्पर्य : शिवजी भगवान् के सबसे बड़े भक्त माने जाते हैं। वे सभी प्रकार के वैष्णवों में श्रेष्ठ माने जाते हैं (*वैष्णवानां यथा शम्भुः*)। फलतः शिवजी का एक वैष्णव सम्प्रदाय है, जिसे रुद्र सम्प्रदाय कहते हैं। जिस प्रकार ब्रह्माजी से ब्रह्म सम्प्रदाय चलता है उसी प्रकार शिवजी से रुद्र सम्प्रदाय। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (६.३.२०) में कहा गया है शिवजी बारह महाजनों में से एक हैं—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

ईश्वर की भक्ति का उपदेश करने वाले बारह महाजन हैं। *शम्भु* का अर्थ है शिवजी। उनकी शिष्य-परम्परा विष्णुस्वामी सम्प्रदाय नाम से भी ज्ञात है और वर्तमान विष्णुस्वामी सम्प्रदाय को वल्लभ सम्प्रदाय भी कहते हैं। वर्तमान ब्रह्म-सम्प्रदाय मध्व-गौड़ीय सम्प्रदाय कहलाता है। यद्यपि शिवजी मायावाद दर्शन का उपदेश करते प्रतीत होते थे, किन्तु शंकराचार्य के रूप में अपनी लीलाओं के अन्त में उन्होंने वैष्णव दर्शन—*भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते*—का उपदेश दिया। उन्होंने भगवान् कृष्ण या गोविन्द की पूजा के विषय में इस श्लोक में तीन बार बल दिया है और उन्होंने अपने शिष्यों को आगाह किया है कि वे मात्र शब्दजाल तथा व्याकरणिक गुत्थियों के द्वारा मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। यदि कोई सचमुच मुक्ति चाहता है, तो उसे भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए। यही श्रीपाद शंकराचार्य का अन्तिम उपदेश है।

यहाँ पर यह उल्लेख हुआ है कि शिवजी सदैव अपनी भौतिक शक्ति के साथ रहते हैं (*शक्त्या-घोरया*)। भौतिक शक्ति—देवी दुर्गा या देवी काली—सदैव उनके वश में रहती हैं। देवी काली तथा दुर्गा समस्त असुरों को मारकर उनकी सेवा करती हैं। कभी-कभी देवी काली इतनी क्रुद्ध हो उठती हैं कि बिना विचारे सारे असुरों का वध कर देती हैं। देवी काली के सर्वाधिक प्रचलित चित्र में उन्हें असुरों के मुंडों की माला पहने और बाएँ हाथ से एक सिर को पकड़े तथा दाएँ में एक विशाल खड्ग लिए दिखाया जाता है। महान् युद्ध काली द्वारा असुरों के विनाश के प्रतीक स्वरूप हैं और वास्तव में देवी काली द्वारा किए जाते हैं।

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका (*ब्रह्म-संहिता* ५.४४)

असुर लोग भौतिक वैभव से पूजा द्वारा देवी काली या दुर्गा को प्रसन्न रखना चाहते हैं, किन्तु जब

असुर अत्यधिक असह्य हो उठते हैं, तो देवी काली उनका बड़े पैमाने पर वध करने मे हिचकती नहीं हैं। असुरगण शिवजी की शक्ति के रहस्य को नहीं जानते और वे भौतिक लाभ के लिए देवी काली या दुर्गा या शिवजी की पूजा करते हैं। अपने आसुरी आचरण के कारण वे भगवान् की शरण में नहीं जाते जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१५) में संकेत मिलता है।

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा: ।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता: ॥

शिवजी का कार्य अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उन्हें देवी काली (या दुर्गा) की शक्ति काम में लानी पड़ती है। एक अन्य प्रचलित चित्र में देवी काली को कभी-कभी शिवजी के शरीर पर खड़ा दिखलाया जाता है, जो यह बताता है कि कभी-कभी काली द्वारा असुरों का वध बन्द करवाने के लिए शिवजी को पृथ्वी पर दण्डवत् लेटना पड़ता है। चूँकि शिवजी महान् भौतिक शक्ति (देवी दुर्गा) को अपने वश में रखते हैं, अत: शिव के उपासक इस संसार में प्रचुर ऐश्वर्य युक्त पद प्राप्त करते हैं। शिवजी के आदेश से शिवभक्त सभी भौतिक सुविधाएँ प्राप्त करता है। इसके विपरीत विष्णु के उपासक वैष्णव भौतिक सम्पत्ति में शनै-शनै निर्धन होते जाते हैं, क्योंकि भगवान् विष्णु अपने भक्तों को सांसारिक ऐश्वर्य के बन्धन में नहीं पड़ने देना चाहते। वे तो अपने भक्तों को अन्त:करण से बुद्धि प्रदान करते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

''जो निरन्तर मेरी भक्ति में रत रहते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।''

इस प्रकार भगवान् विष्णु अपने भक्त को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। चूँकि भक्त को किसी प्रकार के भौतिक वैभव से कोई सरोकार नहीं रहता, अत: वह देवी काली या दुर्गा के अधीन नहीं रहता।

शिवजी इस संसार में तमोगुण के भी अधीक्षक हैं। उनकी शक्ति, देवी दुर्गा, समस्त जीवों को अविद्या के अंधकार में रखती हुई बतायी जाती है (*या देवी सर्वभूतेषु निद्रा-रूपं संस्थिता*)। ब्रह्मा तथा

शिव दोनों ही भगवान् विष्णु के अवतार हैं, किन्तु ब्रह्मा को सृष्टि करने का भार सौंपा गया जब कि शिवजी को संहार का, जिसे वे अपनी भौतिक शक्ति देवी काली या देवी दुर्गा की सहायता से पूरा करते हैं। इस प्रकार इस श्लोक में शिवजी को ध्वंसक शक्तियों (*शक्त्या-घोरया*) के साथ रहते बताया गया है और वस्तुस्थिति भी यही है।

मैत्रेय उवाच
प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसादाय साधवः ।
दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्याद‍ृतचेतसः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—ऋषि मैत्रेय ने कहा; प्रचेतसः—राजा प्राचीबर्हि के सारे पुत्र; पितुः—पिता के; वाक्यम्—शब्द को; शिरसा—मस्तक पर; आदाय—धारण करके; साधवः—सभी पवित्र; दिशम्—दिशा की ओर; प्रतीचीम्—पश्चिमी; प्रययुः—चले गये; तपसि—तपस्या में; आद‍ृत—गम्भीरतापूर्वक स्वीकार करके; चेतसः—हृदय में।

ऋषि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, अपनी साधु प्रकृति के कारण प्राचीनबर्हि के सभी पुत्रों ने अपने पिता के वचनों को शिरोधार्य किया और पिता की आज्ञा पूरी करने के उद्देश्य से वे पश्चिम दिशा की ओर चले गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *साधवः* (पवित्र या सदाचारी) शब्द आज की परिस्थिति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह *साधु* शब्द से निकला है। पूर्ण साधु वह है, जो भगवान् की भक्ति में सदैव लगा रहता है। प्राचीनबर्हि के पुत्रों को *साधवः* कहा गया है, क्योंकि वे पिता के आज्ञाकारी थे। पिता, राजा तथा गुरु को भगवान् का प्रतिनिधि माना जाता है, अतः उनका भगवान् के ही समान आदर किया जाना चाहिए। पिता, गुरु तथा राजा का धर्म है कि वे अपने अधीनस्थों को इस प्रकार नियंत्रित करें कि अन्ततः वे भगवान् के शुद्ध भक्त बन सकें। वह तो बड़ों का कर्तव्य है और अधीनस्थों का कर्तव्य यह है कि वे आदेशों का सही तथा अनुशासित ढंग से पालन करें। *शिरसा* (अपने मस्तक पर) शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रचेताओं ने पिता के आदेश को मस्तक पर धारण कर लिया, जिसका अर्थ है कि उन्होंने उसे पूरी तरह स्वीकार कर लिया।

ससमुद्रमुप विस्तीर्णमपश्यन्सुमहत्सरः ।
महन्मन इव स्वच्छं प्रसन्नसलिलाशयम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स-समुद्रम्—समुद्र के निकट ही; उप—कुछ-कुछ; विस्तीर्णम्—अत्यन्त लम्बा चौड़ा; अपश्यन्—उन्होंने देखा; सु-महत्—अत्यन्त विशाल; सरः—जलाशय; महत्—महापुरुष; मनः—मन; इव—सदृश; सु-अच्छम्—स्वच्छ, निर्मल; प्रसन्न—प्रसन्न; सलिल—जल; आशयम्—शरण में आये हुए।

चलते-चलते प्रचेताओं ने एक विशाल जलाशय देखा जो समुद्र के समान ही विशाल दिखता था। इसका जल इतना शान्त था मानो किसी महापुरुष का मन हो और इसके जलचर इतने बड़े जलाशय की संरक्षण में होकर अत्यन्त शान्त तथा प्रसन्न प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : *स-समुद्र* का अर्थ है समुद्र के निकट। वह जलाशय खाड़ी के समान था, क्योंकि समुद्र के निकट ही था। *उप* शब्द जिस का अर्थ है ''न्यूनाधिक'' कई प्रकार से प्रयुक्त होता है यथा *उपपति* से ''कुछ-कुछ'' पति अर्थात् पति के समान प्रेमी सूचित होता है। *उप* का अर्थ 'बड़ा' 'छोटा' या 'पास' भी होता है। इन सब बातों को देखते हुए, प्रचेताओं ने जो जलाशय देखा था, वह वास्तव में एक बड़ी खाड़ी या झील (सरोवर) था। किन्तु यह जलाशय समुद्र की तरह उद्दाम लहरों से युक्त न होकर अत्यन्त शान्त था। इसका जल इतना निर्मल था मानो किसी महापुरुष का मन हो। ज्ञानी, योगी, भक्त—ये सभी महापुरुष अथवा शुद्ध भक्त हैं जो महान् आत्माएं भी कहलाती हैं, किन्तु हैं अत्यन्त दुर्लभ। योगियों तथा ज्ञानियों में अनेक महापुरुष मिलते हैं, किन्तु ऐसा महापुरुष, जो भगवान् का शुद्ध भक्त हो और भगवान् के प्रति पूर्णतः समर्पित हो, विरला ही होता है—*स महात्मा सुदुर्लभः* (*भगवद्गीता* ७.१९)। भक्त का मन सदैव शान्त एवं निष्काम होता है, क्योंकि वह सदैव *अन्याभिलाषिता शून्यम्* होता है, अर्थात् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और किसी की दास, मित्र, पिता, माता या प्रेमी के रूप में सेवा नहीं करना चाहता। कृष्ण की निरन्तर संगति के कारण भक्त सदैव अत्यन्त शान्त रहता है। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि उस जलाशय के सारे प्राणी भी अत्यधिक शान्त थे। चूँकि भक्त के शिष्य महापुरुष की शरण में रहते हैं, वे परम शान्त हो जाते हैं और भवसागर की लहरों से विचलित नहीं होते।

इस भौतिक संसार को प्रायः अज्ञान-सागर कहा जाता है। ऐसे सागर की प्रत्येक वस्तु विचलित होती रहती है। भक्त का मन भी समुद्र या जलाशय के समान है, किन्तु उसमें उद्वेलन नहीं होता। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।* जो भगवान् की सेवा में दृढ़ हैं, वे किसी तरह विचलित नहीं होते। *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।* यदि जीवन में विफलताएँ भी आएँ तो भी भक्त विचलित

नहीं होता। अत: जो भी महापुरुष या भक्त की शरण ग्रहण करता है, वह शान्त हो जाता है। *चैतन्य चरितामृत* (मध्य १९.१४९) में कहा गया है—*कृष्ण भक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।* कृष्ण का भक्त सदैव शान्त रहता है, क्योंकि वह निष्काम होता है, किन्तु योगी, कर्मी तथा ज्ञानी अनेक इच्छाओं से पूर्ण होते हैं। कोई यह तर्क कर सकता है कि भक्त भगवान् के धाम जाना चाहते हैं, अत: वे भी इच्छाओं से पूर्ण होते हैं, किन्तु ऐसी इच्छाओं से उनके मन विक्षुब्ध नहीं होते। यद्यपि भक्त भगवान् के धाम जाना चाहता है, किन्तु वह जीवन की सभी परिस्थितियों में प्रसन्न रहता है। फलत: इस श्लोक में *महन्-मन:* शब्द यह आभास देने के लिए प्रयुक्त हुआ है कि जलायश का पानी उतना ही शान्त था जितना कि भक्त का मन।

नीलरक्तोत्पलाम्भोजकह्लारेन्दीवराकरम् ।
हंससारसचक्राह्वकारण्डवनिकूजितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

नील—नील; रक्त—लाल; उत्पल—कमल; अम्भ:-ज—जल से उत्पन्न; कह्लार—कमल की एक किस्म; इन्दीवर—कमल की एक किस्म; आकरम्—खान; हंस—हंस पक्षी; सारस—एक पक्षी; चक्राह्व—चकवा नाम का पक्षी; कारण्डव—पक्षी विशेष; निकूजितम्—चहक रहे थे।.

उस विशाल सरोवर में विभिन्न प्रकार के कमल पुष्प थे। कुछ नीले थे तो कुछ लाल, कुछ रात्रि में खिलने वाले थे, तो कुछ दिन में और इन्दीवर जैसे कुछ कमल शाम को खिलने वाले थे। इन सब फूलों से सारा सरोवर पुष्पों की खान सा प्रतीत हो रहा था। फलस्वरूप सरोवर के तटों पर हंस, सारस, चक्रवाक, कारण्डव तथा अन्य सुन्दर जलपक्षी खड़े हुए थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आकरम्* (खान) शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जलाशय ऐसी खान के सदृश लग रहा था, जिसमें विभिन्न प्रकार के कमल उत्पन्न होते हों। कुछ कमल तो दिन में खिलने वाले थे, कुछ रात्रि में और कुछ सायंकाल खिलने वाले थे, और तदनुसार उनके नाम तथा रंग भिन्न-भिन्न थे, ये सभी फूल सरोवर में विद्यमान थे और सरोवर शान्त था तथा कमल पुष्पों से पूरित था अत: हंस, चक्रवाक तथा कारण्डव जैसे पक्षी किनारों पर खड़े थे और विभिन्न प्रकार के गीत गा रहे थे, जिससे सारा दृश्य मनोरम लगता था। जिस प्रकार प्रकृति के तीन गुणों के मेल से भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्य होते हैं, उसी प्रकार पक्षी, वृक्ष, भौंरे भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार ही सारी वस्तुएँ विभाजित हैं। हंस तथा सारस जैसे पक्षी, जो स्वच्छ जल तथा कमल पुष्पों का

आनन्द उठाते हैं, गंदे स्थानों पर बैठने वाले कौवों से पृथक् हैं। इसी प्रकार मनुष्य हैं—वे रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं और सतोगुणी भी। यह सृष्टि इतनी विचित्र है कि प्रत्येक समाज में भिन्नताएँ हैं। इस प्रकार कमल पुष्पों से पूरित उस विशाल सरोवर के तट पर सभी उत्तम पक्षी आनन्द ले रहे थे।

मत्तभ्रमरसौस्वर्यहृष्टरोमलताङ्घ्रिपम् ।
पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपत्पवनोत्सवम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मत्त—पागल; भ्रमर—भौंरे; सौ-स्वर्य—भिनभिनाहट के साथ; हृष्ट—प्रसन्नतापूर्वक; रोम—शरीर के बाल; लता—बेलें; अङ्घ्रिपम्—वृक्ष; पद्म—कमल; कोश—कोश, दलपुञ्ज; रजः—केशर; दिक्षु—सभी दिशाओं में; विक्षिपत्—बिखेरते हुए; पवन—वायु; उत्सवम्—उत्सव, पर्व।

उस सरोवर के चारों ओर तरह-तरह के वृक्ष तथा लताएँ थीं और उन पर मतवाले भौंरे गूँज रहे थे। भौंरों की मधुर गूँज से वृक्ष अत्यन्त उल्लसित लग रहे थे और कमल पुष्पों का केसर वायु में बिखर रहा था। इन सबसे ऐसा वातावरण उत्पन्न हो रहा था मानो कोई उत्सव हो रहा हो।

तात्पर्य : वृक्ष तथा लताएँ भी विविध प्रकार के जीव हैं। जब भौंरें इन वृक्षों तथा लताओं से मधु संचय करने के लिए आते हैं, तो ये वृक्ष अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वायु भी ऐसे अवसर का लाभ उठाकर कमल पुष्पों के केशर को बिखेर देती है। तिस पर हंसों का कलरव तथा शान्त जल। प्रचेतागण ऐसे वातावरण को एक अनवरत उत्सव मान बैठे। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि प्रचेतागण शिवलोक पहुँच गये थे, जो हिमालय पर्वत में स्थित माना जाता है।

तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य दिव्यमार्गमनोहरम् ।
विसिस्म्यू राजपुत्रास्ते मृदङ्गपणवाद्यनु ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; गान्धर्वम्—मधुर ध्वनि; आकर्ण्य—सुनकर; दिव्य—स्वर्गिक; मार्ग—समान रूप से; मनः-हरम्—सुन्दर; विसिस्म्युः—वे चकित हो गये; राज-पुत्राः—राजा बर्हिषत के पुत्र; ते—वे सब; मृदङ्ग—मृदंग, ढोल; पणव—ताशा, धौंसा; आदि—सब मिलकर; अनु—सदैव।

जब राजा के पुत्रों ने मृदंग तथा पणव के साथ-साथ अन्य राग-रागिनियों की कर्णप्रिय ध्वनि सुनी तो वे अत्यन्त विस्मित हुए।

तात्पर्य : सरोवर के निकट विभिन्न फूल तथा जीव तो थे ही, इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की राग-रागिनियाँ सुनाई पड़ रही थीं। कहाँ यह दृश्य! कहाँ निर्विशेषवादियों का अनेकरूपता से हीन

शून्यवाद! वास्तव में मनुष्य को सच्चिदानन्द की सिद्धि प्राप्त करनी होती है। चूँकि निर्विशेषवादी सृष्टि की इन विविध रूपों को स्वीकार नहीं करते, अत: वे दिव्य आनन्द का भोग नहीं कर सकते। प्रचेतागण जिस स्थान पर पहुँचे थे वह शिव का धाम था। निर्विशेषवादी सामान्यत: शिव के उपासक होते हैं, किन्तु शिवजी कभी-भी अपने धाम में विविधता के बिना नहीं रहते। इस प्रकार मनुष्य चाहे जहाँ जाये, चाहे शिव, विष्णु या ब्रह्म लोक को जाये, ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण मनुष्यों को सर्वत्र अनेकरूपता (विचित्रता) दिखाई पड़ेगी।

तर्ह्येव सरसस्तस्मान्निष्क्रामन्तं सहानुगम् ।
उपगीयमानममरप्रवरं विबुधानुगैः ॥ २४॥
तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम् ।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः ॥ २५॥

शब्दार्थ

तर्हि—इतने में; एव—निश्चय ही; सरसः—जल से; तस्मात्—उसमें से; निष्क्रामन्तम्—निकलते हुए; सह-अनुगम्—महापुरुषों के साथ; उपगीयमानम्—अनुयायियों द्वारा वन्दित; अमर-प्रवरम्—देवताओं में प्रधान; विबुध-अनुगैः—अपने संगियों के साथ; तप्त-हेम—पिघला सोना; निकाय-आभम्—शारीरिक अंग; शिति-कण्ठम्—नीला कंठ; त्रि-लोचनम्—तीन नेत्र वाले; प्रसाद—दयालु; सु-मुखम्—सुन्दर चेहरा; वीक्ष्य—देखकर; प्रणेमुः—प्रणाम किया; जात—उत्पन्न हुआ; कौतुकाः—कुतूहल।

प्रचेतागण भाग्यवान थे कि उन्होंने प्रमुख देव शिवजी को उनके पार्षदों सहित जल से बाहर आते देखा। उनकी शारीरिक कान्ति तपे हुए सोने के समान थी, उनका कंठ नीला था और उनके तीन नेत्र थे जिनसे वे भक्तों पर कृपादृष्टि डाल रहे थे। उनके साथ अनेक गन्धर्व गायक थे, जो उनका गुणगान कर रहे थे। ज्यों ही प्रेचताओं ने शिवजी को देखा उन्होंने तुरन्त ही कुतूहलवश उन्हें नमस्कार किया और वे उनके चरणों पर गिर पड़े।

तात्पर्य : *विबुधानुगैः* शब्द बताता है कि शिवजी के साथ सदैव गन्धर्व तथा किन्नर जैसे स्वर्ग के वासी रहते हैं। ये सब संगीत में अत्यन्त पटु होते हैं और निरन्तर शिवजी की पूजा करते रहते हैं। चित्रों में शिवजी को सदैव श्वेत रंग का दिखाया जाता है, किन्तु यहाँ पर उनके शरीर का रंग श्वेत न होकर गलाये गये सोने या चमकीले पीले रंग का है। अत्यन्त दयालु होने के कारण शिवजी आशुतोष कहलाते हैं। देवताओं में से शिवजी को निम्नवर्ग के लोग भी प्रसन्न कर लेते हैं, उन्हें केवल बेलपत्र चढ़ाने तथा नमस्कार करने की आवश्यकता है। इस प्रकार उनका नाम आशुतोष है, जिसका अर्थ है कि वे तुरन्त ही प्रसन्न होने वाले हैं।

सामान्यत: जो लोग भौतिक सम्पन्नता चाहते हैं, वे ऐसे वरदान के लिए शिवजी के पास जाते हैं, उनके अत्यन्त दयालु होने के कारण भक्तों को मनवांछित फल देते हैं। असुरगण उनकी इस उदारता का लाभ उठाते हैं और कभी-कभी उनसे ऐसा वर प्राप्त कर लेते हैं, जो अन्यों के लिए अत्यन्त घातक होता है। उदाहरणार्थ, वृकासुर ने शिवजी से ऐसा वर प्राप्त किया था जिसकि वह जिस किसी का सिर को छू देता उसका अन्त हो जाता था। यद्यपि कभी-कभी शिवजी अपने भक्तों को ऐसे उदारतापूर्वक वर प्रदान करते हैं, किन्तु कठिनाई यह है कि कभी-कभी असुरगण कपटी होने के कारण ऐसे वरों का दुरुपयोग करना चाहते हैं। उदाहारणार्थ, वृकासुर ने वर प्राप्त करके शिवजी के सिर का स्पर्श करना चाहा। किन्तु विष्णु के भक्त कभी-भी ऐसे वर की इच्छा नहीं रखते, न ही विष्णु अपने भक्तों को ऐसा वर देते हैं जिससे संसार भर में अशान्ति फैले।

स तान्प्रपन्नार्तिहरो भगवान्धर्मवत्सलः ।
धर्मज्ञान्शीलसम्पन्नान्प्रीतः प्रीतानुवाच ह ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—शिवजी; तान्—उनको; प्रपन्न-आर्ति-हरः—सभी प्रकार के भयों को दूर करने वाला; भगवान्—ईश्वर; धर्म-वत्सलः—अत्यन्त धार्मिक; धर्म-ज्ञान्—धर्म से अवगत पुरुष; शील-सम्पन्नान्—अत्यन्त सदाचारी; प्रीतः—प्रसन्न होकर; प्रीतान्—अत्यन्त भद्र आचरण वाला; उवाच—उनसे बातें की; ह—भूतकाल में।

शिवजी प्रचेताओं से अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि सामान्यतः शिवजी पवित्र तथा सदाचारी पुरुषों के रक्षक हैं। राजकुमारों से अत्यन्त प्रसन्न होकर वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु या कृष्ण *भक्तवत्सल* कहलाते हैं। यहाँ पर शिवजी को *धर्मवत्सल* कहा गया है। *धर्मवत्सल* उस व्यक्ति का द्योतक है, जो धार्मिक नियमों के अनुसार जीवन बिताता है। फिर भी इन दो शब्दों का अतिरिक्त महत्त्व है। कभी-कभी शिवजी का पाला ऐसे व्यक्तियों से पड़ता है, जो रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं। ऐसे व्यक्ति सदैव ही धार्मिक नहीं होते और न उनके कार्य ही पवित्र होते हैं। चूँकि वे भौतिक लाभ से वशीभूत होकर शिवजी की उपासना करते हैं, अत: कभी-कभी वे धार्मिक नियमों का पालन करते हैं। जब शिवजी देखते हैं कि उनके भक्त धर्मानुसार चलते हैं, तो वे उन्हें आशीर्वाद दे देते हैं। प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेतागण स्वभाव से अत्यन्त पवित्र एवं भद्र थे, अत: शिवजी उन पर तुरन्त प्रसन्न हो गये। शिवजी समझ गये कि ये राजकुमार किसी वैष्णव के पुत्र हैं, अत: शिवजी ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इस प्रकार प्रार्थना की।

श्रीरुद्र उवाच

यूयं वेदिषदः पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम् ।
अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्रः उवाच—शिवजी बोले; यूयम्—तुम सब; वेदिषदः—राजा प्राचीनबर्हि के; पुत्राः—पुत्र; विदितम्—जानते हुए; वः—तुम्हारी; चिकीर्षितम्—इच्छाएँ; अनुग्रहाय—तुम पर अनुग्रह के लिए; भद्रम्—तुम्हारा कल्याण हो; वः—तुम सभी; एवम्—इस प्रकार; मे—मेरा; दर्शनम्—दर्शन; कृतम्—प्राप्त किया।.

शिवजी ने कहा : तुम सभी प्राचीनबर्हि के पुत्र हो, तुम्हारा कल्याण हो। मैं जानता हूँ कि तुम क्या करने जा रहे हो, अतः मैंने तुम पर कृपा करने के लिए ही अपना दर्शन दिया है।

तात्पर्य : इन शब्दों से शिव इंगित करते हैं कि जो कुछ राजकुमार करने वाले हैं, वह उन्हें पहले से ज्ञात है। वास्तव में वे कठिन तपस्या द्वारा भगवान् विष्णु की आराधना करने जा रहे थे। यह जानकर शिवजी तुरन्त ही अत्यधिक प्रसन्न हुए जैसाकि अगले श्लोक से विदित होगा। इससे सूचित होता है कि जो व्यक्ति भगवान् का भक्त नहीं है, किन्तु उनकी सेवा करना चाहता है उसे शिव जैसे प्रधान देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त होता है, अतः भगवद्भक्त को अलग से देवताओं को प्रसन्न नहीं करना पड़ता। मात्र परमेश्वर की आराधना द्वारा वह उन सबों को प्रसन्न कर सकता है। उसे देवताओं से भी किसी भौतिक आशीर्वाद की याचना नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि देवतागण प्रसन्न होकर स्वतः सब कुछ प्रदान करते हैं। देवता तो भगवान् के दास हैं, अतः वे सभी प्रकार से भक्तों की सहायता के लिए उद्यत रहते हैं। इसीलिए श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने कहा है कि यदि मनुष्य परमेश्वर की शुद्ध भक्ति करता है, तो भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करने वाले देवों की बात तो दूर रही मुक्ति की देवी तक उसकी सेवा के लिए तैयार रहती हैं। दरअसल, सभी देवता भक्त की सेवा करने का अवसर पाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। अतः कृष्ण के भक्त को किसी ऐश्वर्य या मुक्ति के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह भक्ति के दिव्य पद पर रह कर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के सारे लाभ प्राप्त करता है।

यः परं रंहसः साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात् ।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥ २८॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; परम्—दिव्य; रंहसः—नियामक का; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; त्रि-गुणात्—प्रकृति के तीनों गुणों से; जीव-संज्ञितात्—जीव कही जाने वाली जीवात्माओं से; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; वासुदेवम्—श्रीकृष्ण का; प्रपन्नः—शरणागत; सः—वह; प्रियः—अत्यन्त प्यारा; हि—निस्सन्देह; मे—मुझे।

शिवजी ने आगे कहा : जो व्यक्ति प्रकृति तथा जीवात्मा में से प्रत्येक के अधिष्ठाता भगवान् कृष्ण के शरणागत है, वह वास्तव में मुझे अत्यधिक प्रिय है।

तात्पर्य : अब शिवजी कारण बताते हैं कि वे राजकुमारों के समक्ष साक्षात् क्यों आये। कारण यह था कि सभी राजकुमार भगवान् कृष्ण के भक्त थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्म-जन्मांतरों में जो ज्ञानी होता है, वह मुझे सब कारणों का कारण जान कर मेरी शरण ग्रहण करता है। ऐसा महापुरुष दुर्लभ होता है।"

सामान्य पुरुषों को शिवजी विरले ही दर्शन देते हैं। इसी प्रकार वासुदेव कृष्ण की शरण में जाने वाले व्यक्ति भी विरले ही हैं, क्योंकि पूर्णतः भगवान् की शरण में आये हुए लोग दुर्लभ हैं (*स महात्मा सुदुर्लभः*)। फलतः शिवजी विशेष रूप से प्रचेताओं को देखने आये थे, क्योंकि वे सब भगवान् वासुदेव के पूर्णतः शरणागत थे। वासुदेव का उल्लेख भागवत के प्रारम्भिक मंत्र में भी हुआ है—*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।* चूँकि वासुदेव चरम सत्य हैं, अतः शिवजी स्पष्ट कहते हैं कि जो भगवान् वासुदेव का भक्त है और श्रीकृष्ण का शरणागत है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। भगवान् वासुदेव, कृष्ण न केवल सामान्य जनों द्वारा पूज्य हैं, वरन् शिव, ब्रह्मा तथा अन्य देवता भी उनकी पूजा करते हैं। *यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः* (भागवत १२.१३.१)—कृष्ण की पूजा ब्रह्मा, शिव, वरुण, इन्द्र, चन्द्र तथा अन्य सभी देवता करते हैं। यही हाल भक्तों का है। जो भी कृष्णभक्ति करता है, जो यह खोजने तथा समझने का प्रयास करता होता है कि कृष्णचेतना है क्या, वह तुरन्त उनका प्रिय बन जाता है। इसी प्रकार सभी देवता इसकी ताक में रहते हैं कि कौन सचमुच भगवान् वासुदेव की शरण में है। चूँकि प्रचेता राजकुमार वासुदेव के शरणागत थे, अतः शिवजी इच्छापूर्वक उनसे भेंट करने आये।

भगवद्गीता में भगवान् वासुदेव या श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम कहा गया है। वास्तव में वे भोक्ता (पुरुष) तथा परम (उत्तम) दोनों हैं। वे हर वस्तु—प्रकृति तथा पुरुष के भोक्ता हैं। प्रकृति के तीनों

गुणों के प्रभाव से जीवात्मा प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है, किन्तु वह वास्तविक भोक्ता (पुरुष) न होकर प्रकृति है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* (७.५) में हुआ है—*अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।* इस प्रकार जीव वास्तव में प्रकृति या परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। भौतिक शक्ति (माया) के संग होने से वह प्रकृति पर अधिकार करना चाहता है। *भगवद्गीता* (१५.७) में इसकी पुष्टि हुई है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

''इस बद्ध संसार में जीवात्माएँ मेरे शाश्वत अंगस्वरूप हैं। वे बद्ध जीवन के कारण मन समेत छहों इन्द्रियों से संघर्ष करती रहती हैं।''

प्रकृति पर अधिकार करने की चेष्टा में जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए कठिन संघर्ष करता है। दरअसल सुखोपभोग के लिए वह इतना कठिन श्रम करता है कि भौतिक साधनों का ठीक से उपभोग भी नहीं कर पाता। अत: वह कभी-कभी जीव या प्रकृति कहलाता है, क्योंकि वह तटस्था शक्ति में स्थित होता है। जब जीवात्मा प्रकृति के तीनों गुणों से आच्छादित होता है, तो *जीव-संज्ञिता* कहलाती है। जीवात्माएँ दो प्रकार की होती हैं—*क्षर* तथा *अक्षर*। *क्षर* वे हैं, जो च्युत होकर बद्ध हो गई हैं और *अक्षर* वे हैं, जो बद्ध नहीं हैं। अधिकांश जीवात्माएँ आध्यत्मिक जगत में रहती हैं और *अक्षर* कहलाती हैं। वे ब्रह्म पद पर होती हैं। वे तीनों गुणों से बद्ध जीवात्माओं से भिन्न होती हैं।

क्षर तथा *अक्षर* इन दोनों से ऊपर होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण अथवा वासुदेव को *भगवद्गीता* (१५.१८) में *पुरुषोत्तम* कहा गया है। निर्विशेषवादी वासुदेव को निर्गुण ब्रह्म बताते हैं, किन्तु वास्तव में निर्गुण ब्रह्म कृष्ण के अधीन होता है, जिसकी पुष्टि भी *भगवद्गीता* (१४.२७) में हुई है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में भी पुष्टि हुई है कि श्रीकृष्ण ही निर्गुण ब्रह्म के स्रोत हैं—*यस्य प्रभा प्रभावतो जगदण्डकोटि।* निर्गुण ब्रह्म श्रीकृष्ण के शारीरिक तेज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इस तेज की किरणों में असंख्य ब्रह्माण्ड तैर रहे हैं। इस तरह सभी प्रकार से वासुदेव कृष्ण परमेश्वर हैं और शिवजी भगवान् के शरणागतों पर परम प्रसन्न रहते हैं। श्रीकृष्ण यही चाहते हैं कि समर्पण पूर्णत: हो जैसाकि *भगवद्गीता* के अन्तिम अध्याय (१८.६६) में उन्होंने इंगित किया है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।*

साक्षात् शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। तथाकथित भक्त तो अनेक हैं, किन्तु वास्तव में वे केवल कर्मी तथा ज्ञानी होते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त नहीं होते। कभी-कभी कर्मी अपने कर्म का कर्मफल वासुदेव को अर्पित कर देते हैं, जो *कर्मार्पणम्* कहलाता है। ये सकाम कर्म माने जाते हैं, क्योंकि कर्मीजन भगवान् विष्णु को भी शिव तथा ब्रह्मा जैसा देवता मानते हैं। चूँकि वे विष्णु को देवताओं के समान पद पर मानते हैं, अतः उनके अनुसार देवताओं के प्रति समर्पण वासुदेव के प्रति समर्पण जैसा है। किन्तु यहाँ पर इस मत का तिरस्कार हुआ हैं, क्योंकि यदि यह सत्य होता तो शिवजी कहते कि मुझमें, वासुदेव, विष्णु या ब्रह्मा में समर्पण एक ही है। किन्तु शिवजी ऐसा नहीं कहते, क्योंकि वे स्वयं वासुदेव की शरण में जाते हैं और जो कोई भी वासुदेव की शरण में जाता है, वह उन्हें परम प्रिय है। यहाँ पर इसका स्पष्ट वर्णन हुआ है। निष्कर्ष यह है कि शिव का भक्त शिव को प्रिय नहीं है, किन्तु भगवान् कृष्ण का भक्त शिव को अत्यन्त प्रिय है।

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम् ।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं
पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म-निष्ठः—जो अपने धर्म या वृत्ति पर स्थित रहता है; शत-जन्मभिः—एक सौ जन्मों तक; पुमान्—जीवात्मा; विरिञ्चताम्—ब्रह्मा का पद; एति—प्राप्त करता है; ततः—पश्चात्; परम्—ऊपर; हि—निश्चय ही; माम्—मुझको प्राप्त करता है; अव्याकृतम्—बिना विचलित हुए; भागवतः—भगवान् को; अथ—अतः; वैष्णवम्—भगवान् का शुद्ध भक्त; पदम्—पद; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; विबुधाः—देवतागण; कला-अत्यये—संसार के संहार के बाद।

जो व्यक्ति अपने वर्णाश्रम धर्म को समुचित रीति से एक सौ जन्मों तक निबाहता है, वह ब्रह्मा के पद को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है और इससे अधिक योग्य होने पर वह शिवजी के पास पहुँच सकता है। किन्तु जो व्यक्ति अनन्य भक्तिवश सीधे भगवान् कृष्ण या विष्णु की शरण में जाता है, वह तुरन्त वैकुण्ठलोक में पहुँच जाता है। शिवजी तथा अन्य देवता इस संसार के संहार के बाद ही इन लोक को प्राप्त कर पाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में विकास-प्रक्रम की चरम परिणति सम्बन्धी विचार प्रस्तुत हुआ है। जैसाकि वैष्णव कवि जयदेव गोस्वामी ने कहा है—*प्रलय पयोधि जले धृतवान् असि वेदम्।* आइये, हम विकास-प्रक्रम की खोज को प्रलय से प्रारम्भ करें। जिस समय सारा ब्रह्माण्ड जल से पूरित था।

उस समय अनेक मछलियाँ तथा अन्य जलचर थे, इनसे ही लताओं तथा वृक्षों का विकास हुआ। फिर इनसे कीड़े-मकोड़े तथा सरीसृपों का विकास हुआ, जिनसे पक्षी, पशु तथा मनुष्य और अन्त में सभ्य मानव का विकास हुआ। अब सभ्य मानव ऐसे चौराहे पर है जहाँ से वह आध्यात्मिक जीवन में आगे विकास कर सकता है। यहाँ यह कहा गया है कि जब जीव को जीवन का सभ्य रूप प्राप्त होता है, तो *स्वधर्म,* अर्थात् अपने कर्म तथा गुणों के अनुसार उसमें सामाजिक श्रेणियाँ होनी चाहिए (*स्वधर्मनिष्ठ:*)। *भगवद्गीता* (४.१३) में इसका संकेत है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:

"प्रकृति के तीनों गुणों तथा उनके कार्यों के अनुसार मैंने मानव-समाज के चारों वर्णों की सृष्टि की।"

सभ्य मानव-समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चार वर्ण होने चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने वर्ण के अनुसार कर्म करना चाहिए। यहाँ यह कहा गया है (*स्वधर्मनिष्ठ:*) कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य या शूद्र होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि कोई अपने पद पर अटल रहे और अपने विशिष्ट कार्य को करे तो वह सभ्य मनुष्य समझा जाता है। अन्यथा वह पशु तुल्य है। यहाँ यह भी कहा गया है कि जो भी स्वधर्म को एक सौ जन्मों तक सम्पन्न करता है (उदाहरणार्थ, ब्राह्मण एक ब्राह्मण की तरह कर्म करता रहता है) वह ब्रह्मलोक में जाने का अधिकारी बन जाता है। इसी तरह शिवलोक या सदाशिवलोक भी है, जो आध्यात्मिक तथा भौतिक (मर्त्य) जगत की सीमा पर स्थित है। यदि ब्रह्मलोक में स्थित रहने के बाद कोई अधिक योग्य बन जाता है, तो वह सदाशिवलोक को भेज दिया जाता है। इसी प्रकार यदि कोई और भी योग्य हो जाता है, तो वह वैकुण्ठलोक जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का, यहाँ तक कि देवताओं का भी, लक्ष्य वैकुण्ठलोक प्राप्त करना रहता है और एक निष्काम भक्त यदि भौतिक लाभ की इच्छा न रखता हो, तो इसे पा लेता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१६) में संकेत है, कोई भले ही ब्रह्मलोक को क्यों न प्राप्त कर ले, किन्तु भौतिक कष्टों से उसे छुटकारा नहीं मिल पाता (*आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन*)। इसी प्रकार शिवलोक तक पहुँच कर भी मनुष्य सुरक्षित नहीं रहता, क्योंकि शिवलोक तटस्थ है। किन्तु यदि कोई वैकुण्ठलोक को प्राप्त कर लेता है, तो उसे जीवन की परम सिद्धि प्राप्त हो जाती है और उसका विकास-प्रक्रम समाप्त हो

जाता है (*मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते*)। दूसरे शब्दों में, यहाँ इसकी पुष्टि की गई है कि मानव-समाज में जिस व्यक्ति ने चेतना विकसित कर ली है उसे कृष्ण-भक्ति करनी चाहिए जिससे वह इस शरीर को त्यागने के बाद तुरन्त वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक को जा सके। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन* (भगवद्गीता ४.९)। जो भक्त कृष्णभक्ति करता है और जो ब्रह्मलोक या शिवलोक जैसे किसी भी लोक से आकृष्ट नहीं होता वह कृष्णलोक को भेज दिया जाता है (*मामेति*) यही जीवन की तथा विकास-प्रक्रम की चरम परिणति है।

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान्यथा ।
न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; **भागवताः**—भक्त; **यूयम्**—तुम सब; **प्रियाः**—प्रिय; **स्थ**—तुम हो; **भगवान्**—भगवान्; **यथा**—जिस तरह; **न**—न तो; **मत्**—मेरी अपेक्षा; **भागवतानाम्**—भक्तों का; **च**—भी; **प्रेयान्**—अत्यन्त प्रिय; **अन्यः**—दूसरा; **अस्ति**—है; **कर्हिचित्**—किसी समय, कभी।

तुम सभी भगवान् के भक्त हो, अतः तुम मेरे लिए भगवान् के समान पूज्य हो। इस प्रकार से मैं यह जानता हूँ कि भक्त भी मेरा आदर करते हैं और मैं उन्हें प्यारा हूँ। इस प्रकार भक्तों को मेरे समान अन्य कोई प्रिय नहीं हो सकता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि *वैष्णवानां यथा शम्भुः*—शिवजी समस्त भक्तों में श्रेष्ठ हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण के सारे भक्त शिवजी के भी भक्त हैं। वृन्दावन में शिवजी का एक मन्दिर है, जिसे गोपीश्वर कहते हैं। गोपियाँ न केवल शिव की उपासना करती थीं, अपितु कात्यायनी या दुर्गा की भी। किन्तु उनका एकमात्र लक्ष्य कृष्ण की कृपापात्र बनना था। भगवान् कृष्ण का भक्त शिव का कभी भी अनादर नहीं करता, प्रत्युत कृष्ण के परम भक्त के रूप में उनकी पूजा करता है। अतः जब भी कोई भक्त शिव की आराधना करता है, तो वह उनसे उसे कृष्ण का कृपाभाजन बनाने की प्रार्थना करता है, वह उनसे भौतिक लाभ नहीं माँगता। *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है कि सामान्यतः लोग देवताओं की पूजा भौतिक लाभ के लिए करते हैं। *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः।* काम के वशीभूत होकर वे देवताओं की पूजा करते हैं, किन्तु भक्त ऐसा नहीं करता, क्योंकि वह कामाभिभूत कभी नहीं होता। शिवजी के लिए किसी भक्त के और असुर के आदर में यही अन्तर होता है। असुर शिव की पूजा करता है, वह कोई-न-कोई वर प्राप्त करता है, उसका दुरुपयोग करता है और अन्त में भगवान् के हाथों मारा जाता है।

भगवान् ही उसे मुक्ति प्रदान करते हैं।

चूँकि शिवजी भगवान् के महान् भक्त हैं, इसीलिए वे भगवान् के सभी भक्तों को प्यार करते हैं। शिवजी ने प्रचेताओं को बताया कि भगवान् के भक्त होने के कारण वे उन्हें प्रिय हैं। शिवजी केवल प्रचेताओं पर ही दयालु नहीं थे, उन्हें तो भगवान् का कोई भी भक्त प्रिय है। भक्तगण शिव को प्रिय ही नहीं हैं, अपितु वे उनके द्वारा भगवान् के समान ही आदरित होते हैं। इसी प्रकार भगवान् के भक्त भी शिव की पूजा भगवान् कृष्ण के परम प्रिय भक्त के रूप में करते हैं। वे उन्हें पृथक् से भगवान् के रूप में नहीं पूजते। नाम-अपराधों की सूची में यह उल्लेख है कि हर अर्थात् शिव के नाम जप को हरि के समान मानना अपराध है। भक्तों को जानना चाहिए कि विष्णु ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और शिवजी उनके भक्त हैं। भक्त का आदर भगवान् के ही समान किया जाना चाहिए और कभी-कभी तो उनसे भी बढ़कर। दरअसल, स्वयं भगवान् राम ने कभी शिव की पूजा की थी। यदि भगवान् भक्त की पूजा करते हैं, तो फिर एक भक्त दूसरे भक्त की भगवान् के समान पूजा क्यों नहीं कर सकता? यही निष्कर्ष है। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि शिवजी असुरों को औपचारिकता वश आशीर्वाद देते हैं। वास्तव में उन्हें भगवान् का ही भक्त प्यारा है।

इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम् ।
निःश्रेयसकरं चापि श्रूयतां तद्वदामि वः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; विविक्तम्—विशेष; जप्तव्यम्—सदैव जप करने के लिए; पवित्रम्—अत्यन्त शुद्ध; मङ्गलम्—कल्याणकर; परम्—दिव्य; निःश्रेयस-करम्—अत्यन्त उपयोगी; च—भी; अपि—निश्चय ही; श्रूयताम्—कृपा करके सुनें; तत्—वह; वदामि—मैं कह रहा हूँ; वः—तुमसे।

अब मैं एक मंत्र का उच्चारण करूँगा जो न केवल दिव्य, पवित्र तथा शुभ है वरन् जीवन-उद्देश्य को प्राप्त करने के इच्छुक हर एक के लिए यही श्रेष्ठ स्तुति भी है। जब मैं इस मंत्र का उच्चारण करूँ तो तुम सब सावधानी से ध्यानपूर्वक सुनना।

तात्पर्य : *विविक्तम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शिव द्वारा सुनायी गई इस स्तुति को सम्प्रदायपरक नहीं समझना चाहिए, अपितु इसे अत्यन्त रहस्यात्मक मानकर समृद्धि प्राप्त करने या शुभ जीवन-लक्ष्य के लिए शिव के आदेशों का पालन करना चाहिए और भगवान् की स्तुति तथा महिमा का गान उसी तरह करना चाहिए जैसाकि स्वयं शिवजी ने किया।

मैत्रेय उवाच

इत्यनुक्रोशहृदयो भगवानाह ताञ्छिवः ।
बद्धाञ्जलीन्राजपुत्रान्नारायणपरो वचः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; अनुक्रोश-हृदयः—अत्यन्त दयालु, करुणाई; भगवान्—भगवान् ने; आह—कहा; तान्—प्रचेताओं से; शिवः—शिवजी; बद्ध-अञ्जलीन्—हाथ जोड़े खड़े हुए; राज-पुत्रान्—राजा के पुत्रों को; नारायण-परः—नारायण के भक्त, शिवजी; वचः—शब्द।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : भगवान् नारायण के परम भक्त महापुरुष शिवजी अहैतुकी कृपावश हाथ जोड़ कर खड़े हुए राजा के पुत्रों से कहते रहे।

तात्पर्य : शिवजी स्वेच्छा से राजपुत्रों को आशीर्वाद देने और उनके हित में कुछ करने आये थे। उन्होंने स्वयं मंत्र का उच्चारण किया जिससे कि मंत्र की शक्ति बढ़ती रहे। उन्होंने राजपुत्रों को इस मंत्र को जपने का आदेश दिया। जब कोई मंत्र किसी महान् भक्त द्वारा उच्चरित होता है, तो वह अधिक शक्तिशाली हो जाता है। यद्यपि हरे कृष्ण महामंत्र स्वयं शक्तिशाली है, किन्तु दीक्षा के समय गुरु शिष्य को मंत्र देता है, क्योंकि गुरु द्वारा उच्चरित होने से मंत्र अधिक शक्तिशाली बन जाता है। शिवजी ने राजपुत्रों से मंत्र को ध्यानपूर्वक सुनने के लिए कहा, क्योंकि मन लगाये बिना मंत्र सुनना अपराध है।

श्रीरुद्र उवाच

जितं त आत्मविद्वर्यस्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे ।
भवताराधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्रः उवाच—शिवजी ने कहा; जितम्—समस्त महिमाएँ, उत्कर्ष; ते—तुम्हारे; आत्म-वित्—स्वरूपसिद्ध; वर्य—श्रेष्ठ; स्वस्तये—कल्याण के लिए; स्वस्तिः—कल्याण; अस्तु—हो; मे—मेरा; भवता—आपसे; आराधसा—सब विधि से पूर्ण (सर्वात्मक) द्वारा; राद्धम्—पूज्य; सर्वस्मै—परमात्मा; आत्मने—परमात्मा को; नमः—नमस्कार है।

शिवजी ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इस प्रकार स्तुति की: हे भगवान्, आप धन्य हैं। आप सभी स्वरूपसिद्धों में महान् हैं चूंकि आप उनका सदैव कल्याण करने वाले हैं, अतः आप मेरा भी कल्याण करें। आप अपने सर्वात्मक उपदेशों के कारण पूज्य हैं। आप परमात्मा हैं, अतः पुरुषोत्तम स्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ज्योंही भक्त भगवान् की स्तुति के लिए प्रोत्साहित होता है त्योंहीं वह प्रारम्भ में इस प्रकार बोलते हुए स्तुति करने लगता है—''हे भगवान् आप धन्य हैं।'' भगवान् की महिमा का गान

इसलिए किया जाता है, क्योंकि वे स्वरूपसिद्ध पुरुषों में प्रधान माने जाते हैं। जैसाकि वेदों में (कठोपनिषद् २.२.१३) में कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*—परम पुरुषोत्तम भगवान् ही समस्त जीवों में प्रधान पुरुष हैं। जीव कई प्रकार के होते हैं—कुछ तो इस भौतिक जगत में रहते हैं और कुछ वैकुण्ठलोक में। जो वैकुण्ठलोक में रहते हैं, वे पूर्णरूपेण स्वरूपसिद्ध होते हैं, क्योंकि आध्यात्मिक स्तर पर जीव भगवान् की सेवा करना नहीं भूलता। अतः वैकुण्ठलोक में भगवान् की भक्ति करने वाले सारे लोग शाश्वत स्थिर रहते हैं, क्योंकि वे परमेश्वर की स्थिति के साथ-साथ अपनी स्वाभाविक स्थिति से भी परिचित होते हैं। इस प्रकार स्वरूपसिद्ध जीवों में भगवान् परम स्वरूपसिद्ध पुरुष कहलाते हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* जब जीव भगवान् को परम पुरुष समझने में स्थिर हो जाता है, तो वास्तव में वह सर्वकल्याणमय स्थिति पर स्थिर हो जाता है। यहाँ पर शिवजी प्रार्थना करते हैं कि भगवान् की कृपा से उनका शुभ स्थान सदैव बना रहे।

परमेश्वर सभी प्रकार से पूर्ण हैं और उनका यही उपदेश है कि जो उन्हें पूजता है, वह भी पूर्ण हो जाता है। जैसाकि भगवद्गीता (१५.१५) में कहा गया है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* भगवान् सबों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं, किन्तु वे अपने भक्तों पर इतने दयालु रहते हैं कि उनकी सतत उन्नति के लिए उन्हें उपदेश देते रहते हैं। जब वे सर्व-परिपूर्ण से उपदेश ग्रहण करते हैं, उनके भ्रमित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (१०.१०) में इस प्रकार हुई है—*ददामि बुद्धि-योगं तं येन मामुपयान्ति ते।* भगवान् शुद्ध भक्त को उपदेश देने के लिए सतत उद्यत रहते हैं जिससे वह भक्ति में उन्नति करता चले। चूँकि भगवान् *सर्वात्मा* के रूप में उपदेश देते हैं, अतः शिवजी उन्हें *सर्वात्मा आत्मने नमः* करके सम्मान अपर्ण करते हैं। व्यष्टि जीव आत्मा कहलात है और भगवान् आत्मा तथा परमात्मा दोनों हैं। प्रत्येक हृदय में स्थित होने के कारण भगवान् परम-आत्मा कहलाते हैं। अतः उन्हें सभी नमस्कार करते हैं। इस प्रसंग में *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.८.२०) में कुन्ती की स्तुति का उल्लेख किया जा सकता है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

परमहंसों को उपदेश देने के लिए भगवान् सदैव उद्यत रहते हैं, क्योंकि वे संसार के कल्मषों से

पूर्ण रूप से मुक्त होते हैं। भगवान् ऐसे भक्तों को यह बतलाने के लिए कि भक्ति में कैसे स्थिर रहा जाये उपदेश देते हैं। इसी प्रकार *भागवत* (१.७.१०) में आत्माराम श्लोक में कहा गया है—

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

आत्माराम शब्द भौतिक जगत से विरक्त होकर आत्म-साक्षात्कार में लगे रहने वालों के लिए आया है। ऐसे स्वरूपसिद्ध पुरुष सामान्यत: दो प्रकार के होते हैं—*सगुण* तथा *निर्गुण*। किन्तु निर्विशेषवादी भी भगवान् के वैयक्तिक दिव्य गुणों के प्रति आकृष्ट होने पर भक्त बन जाते हैं। निष्कर्षत: शिवजी भगवान् वासुदेव के स्थिर भक्त बने रहना चाहते थे। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है शिवजी कभी-भी निर्विशेषवादियों की तरह परमेश्वर से तादात्म्य नहीं चाहते, अपितु वे इसे अपना सौभाग्य मानते हैं कि वे परम पुरुष रूपी भगवान् की भक्ति में स्थिर बने रहें। इसी ज्ञान से मनुष्य यह समझ पाता है कि सभी जीवात्माएँ, जिनमें ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता सम्मिलित हैं, परमेश्वर के दास हैं।

नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने ।
वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; **पङ्कज-नाभाय**—उन भगवान् को जिनकी नाभि से कमल प्रकट होता है; **भूत-सूक्ष्म**—इन्द्रिय वस्तुएँ (तन्मात्रा); **इन्द्रिय**—इन्द्रियाँ; **आत्मने**—उत्पत्ति; **वासुदेवाय**—भगवान् वासुदेव को; **शान्ताय**—सदैव शान्त रहने वाले को; **कूट-स्थाय**—अपरिवर्तित रहने वाले को; **स्व-रोचिषे**—स्वयं प्रकाश को।.

हे भगवान्, आपकी नाभि से कमल पुष्प निकलता है, इस प्रकार से आप सृष्टि के उद्गम हैं। आप इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के नियामक हैं। आप सर्वव्यापी वासुदेव भी हैं। आप परम शान्त हैं और स्वयंप्रकाशित होने के कारण आप छह प्रकार के विकारों से विचलित नहीं होते।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु गर्भोदक में शयन करते हैं और उनकी नाभि से कमल का फूल निकलता है। इस फूल से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा इस संसार की सृष्टि आरम्भ करते हैं। इस प्रकार गर्भोदकशायी विष्णु भौतिक इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के उद्गम हैं। चूँकि शिवजी अपने आपको इस संसार के पदार्थों में से एक मानते हैं, अत: उनकी इन्द्रियाँ परम स्रष्टा के अधीन हैं। परमेश्वर को हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी भी कहा जाता है, जिससे सूचित होता है कि हमारी

इन्द्रियाँ तथा तन्मात्राएँ परमेश्वर द्वारा निर्मित हैं। अत: वे हमारी इन्द्रियों को वश में रख सकते हैं और अपने अनुग्रहवश अपनी सेवा में प्रवृत्त करते हैं। बद्ध अवस्था में, जीवात्मा इस संसार में संघर्ष करता है और भौतिक तुष्टि में इन्द्रियों को लगाता है। यदि परमात्मा की अनुकम्पा हो गई तो वह इन्हीं इन्द्रियों को भगवद्भक्ति में लगा सकता है। शिवजी भौतिक इन्द्रियों द्वारा पथभ्रष्ट न होकर भौतिक कल्मष से दूर रहते हुए उन्हें भगवान् की सेवा में लगाना चाहते हैं। भगवान् वासुदेव की कृपा होने पर जो सर्वव्यापक हैं, मनुष्य अपनी इन्द्रियों को बिना विचलन के भक्ति में लगा सकता है जैसे भगवान् विचलित हुए बिना कार्य करते हैं।

इस श्लोक का *शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे* अंश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस संसार में विद्यमान रहकर भी भगवान् भवसागर की लहरों से विचलित नहीं होते हैं। किन्तु बद्धजीव छह प्रकार के विकारों से विचलित होते हैं। ये हैं—भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु। यद्यपि बद्धजीव इन सबसे बहुत जल्दी प्रभावित होता है, किन्तु परमात्मास्वरूप भगवान् वासुदेव इनसे कभी विचलित नहीं होते। इसीलिए यहाँ यह कहा गया है कि वे सदैव शान्त (*कूटस्थाय*) तथा अपने कौशल्य के कारण अविचल रहते हैं, जिसे यहाँ *स्वरोचिषे* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे अपनी दिव्य स्थिति के कारण स्वयंप्रकाशित होते हैं। दूसरे शब्दों में, जीव यद्यपि वह परमेश्वर के प्रकाश में होता है, कभी-कभी परमेश्वर के प्रकाश से अपनी क्षुद्र स्थिति के कारण नीचे गिरकर भौतिक बद्ध जीवन में प्रवेश करता है। किन्तु भगवान् इस प्रकार बद्ध नहीं होते, इसीलिए उन्हें स्वयंप्रकाशित कहा गया है। फलत: वासुदेव की शरण में रहकर या भक्ति में प्रवृत्त होकर इस संसार में कोई भी बद्धजीव पूर्ण रह सकता है।

सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च ।
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सङ्कर्षणाय—निर्माण (समन्वय) के स्वामी को; सूक्ष्माय—सूक्ष्म रूप या अव्यक्त को; दुरन्ताय—दुर्लंघ्य को; अन्तकाय—संहार के स्वामी को; च—भी; नम:—नमस्कार; विश्व-प्रबोधाय—ब्रह्माण्ड का विकास करने वाले को; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; अन्त:-आत्मने—घट-घट वासी परमात्मा को।

हे भगवान्, आप सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों के उद्गम, समस्त संघटन और संहार के स्वामी, संकर्षण नामक अधिष्ठाता तथा समस्त बुद्धि के अधिष्ठाता प्रद्युम्न हैं। अत: मैं आपको सादर

नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड संकर्षण नाम से जाने वाले परमेश्वर की संघटनकारी शक्ति से चल रहा है। भौतिक विज्ञानी भले ही गुरुत्वाकर्षण के नियम की खोज कर चुके हों जिससे भौतिक शक्ति से पदार्थों का संघटन होता है, किन्तु समस्त संघटनों का स्वामी अपने मुख से निकलने वाली प्रज्ज्वलित अग्नि से प्रलय (संहार) भी कर सकता है। इसका वर्णन भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में मिलता है, जिसमें भगवान् के विराट रूप का वर्णन है। अपनी संहारक शक्ति के कारण संघटन का स्वामी इस संसार का संहारकर्ता भी है। संकर्षण संघटन तथा संहार के अधिष्ठाता हैं, जबकि भगवान् वासुदेव के एक अन्य *रूप* प्रद्युम्न इस विश्व की वृद्धि तथा उसकी स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। *सूक्ष्माय* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर यथा मन, बुद्धि तथा अहंकार वास करते हैं। भगवान् अपने विविध रूपों (वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा संकर्षण) में इस संसार में स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों को बनाये रखते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख हुआ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश स्थूल तत्त्व हैं, जबकि मन, बुद्धि तथा अहंकार सूक्ष्म तत्त्व हैं। ये सभी भगवान् द्वारा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के रूप में नियंत्रित होते हैं और इसका और आगे वर्णन निम्नलिखित श्लोक में किया जाएगा।

नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने ।
नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

नमः—आपको नमस्कार है; **नमः**—नमस्कार है; **अनिरुद्धाय**—अनिरुद्ध को; **हृषीकेश**—इन्द्रियों के स्वामी; **इन्द्रिय-आत्मने**—इन्द्रियों के नियामक को; **नमः**—नमस्कार है; **परम-हंसाय**—परमहंस को; **पूर्णाय**—परम पूर्ण को; **निभृत-आत्मने**—उसे जो इस जगत से अलग स्थित है।

हे परम अधिष्ठाता अनिरुद्ध रूप भगवान्, आप इन्द्रियों तथा मन के स्वामी हैं। अतः मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ। आप अनन्त तथा साथ ही साथ संकर्षण कहलाते हैं, क्योंकि अपने मुख से निकलने वाली धधकती हुई अग्नि से आप सारी सृष्टि का संहार करने में समर्थ हैं।

तात्पर्य : *हृषीकेशेन्द्रियात्मने*—मन इन्द्रियों का स्वामी है और अनिरुद्ध मन के अधिष्ठाता हैं। भक्ति करने के लिए मन को कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर करना होता है, अतः शिवजी मन के अधिष्ठाता

अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि वे प्रसन्न हों जिससे उनका मन भगवान् के चरणकमलों में लगे। भगवद्गीता (९.३४) में कहा गया है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।* भक्ति करने के लिए मन को भगवान् के चरणकमलों के ध्यान में लगाना होता है। भगवद्गीता (१५.१५) में यह भी कहा गया है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति आते हैं। अतः यदि भगवान् अनिरुद्ध प्रसन्न हो जाँय तो भगवान् की भक्ति में मन लगाने में सहायता मिलती है। इस श्लोक में यह भी इंगित है कि अनिरुद्ध अपने विस्तार स्वरूप से सूर्यदेव भी हैं। चूँकि सूर्यदेव भगवान् अनिरुद्ध के ही विस्तार हैं, अतः इस श्लोक में शिवजी सूर्यदेव की भी स्तुति करते हैं।

भगवान् कृष्ण अपने चतुर्मुखी विस्तार (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध) के कारण मानसिक क्रियाओं—सोचना, अनुभव करना, इच्छा करना तथा कर्म करना—के भी स्वामी हैं। शिवजी अनिरुद्ध की सूर्यदेव के रूप में स्तुति करते हैं, जो बाह्य भौतिक *तत्त्वों* के अधिष्ठाता हैं जिनसे यह शरीर बनता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *परमहंस* शब्द सूर्यदेवता का अन्य नाम है। यहाँ पर सूर्यदेव को *निभृतात्मने* कह कर सम्बोधित किया गया है, जो इस बात का सूचक है कि वर्षा के द्वारा वह विभिन्न लोकों का पालन करते हैं। सूर्यदेव समुद्रों के जल को भाप में बदल कर बादल बनाते हैं और फिर जल को सारी भूमि पर वितरित करते हैं। पर्याप्त वर्षा होने से अन्न उत्पन्न होता है, जिससे प्रत्येक लोक के जीवों का भरण होता है। सूर्यदेव को भी यहाँ *पूर्ण* कहा गया है, क्योंकि सूर्य से निस्सृत किरणों का कोई अन्त नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही करोड़ों वर्षों से सूर्यदेव बिना किसी कमी के ताप तथा प्रकाश प्रदान करते रहे हैं। *परमहंस* शब्द उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है, जो पूर्ण रूप से विमल हैं। जब प्रचुर सूर्य प्रकाश (धूप) होता है, तो मन स्वच्छ तथा पारदर्शी रहता है। दूसरे शब्दों में, सूर्यदेव जीवात्मा के मन को परमहंस-पद पर स्थित होने में सहायक होते हैं। शिवजी अनिरुद्ध से अपने ऊपर दयालु होने की प्रार्थना करते हैं, जिससे उनका मन सदैव विमल रहे और भगवान् की भक्ति में लगा रहे। जिस प्रकार अग्नि समस्त मलिन वस्तुओं को शुद्ध करती है, उसी प्रकार सूर्य भी प्रत्येक वस्तु को शुद्ध बनाता है, विशेष रूप से मन के मैल को शुद्ध करता है, जिससे मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करने के स्तर पर उठ सकता है।

स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः ।
नमो हिरण्यवीर्याय चातुर्होत्राय तन्तवे ॥ ३७॥

शब्दार्थ

स्वर्ग—स्वर्गलोक; अपवर्ग—मोक्ष का मार्ग; द्वाराय—द्वार को; नित्यम्—शाश्वत; शुचि-षदे—परम पवित्र को; नमः—नमस्कार है; नमः—नमस्कार है; हिरण्य—स्वर्ण; वीर्याय—वीर्य को; चातुः-होत्राय—चातुर्होत्र नामक वैदिक यज्ञ को; तन्तवे—विस्तार करने वाले को।

हे भगवान् अनिरुद्ध, आपके आदेश से स्वर्ग तथा मोक्ष के द्वार खुलते हैं। आप निरन्तर जीवों के शुद्ध हृदय में निवास करते हैं, अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप स्वर्ण सदृश वीर्य के स्वामी हैं और इस प्रकार आप अग्नि रूप में चातुर्होत्र इत्यादि वैदिक यज्ञों में सहायता करते हैं। अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *स्वर्ग* शब्द स्वर्गलोक का सूचक है और *अपवर्ग* का अर्थ है मोक्ष। जो लोग वेदों में वर्णित कर्मकाण्डीय कर्मों में लगे रहते हैं, वे वास्तव में प्रकृति के तीन गुणों से बँध जाते हैं। अतः भगवद्गीता का कथन है कि मनुष्य को सकाम कर्मों के प्रक्षेत्र से ऊपर उठकर रहना चाहिए। मुक्ति कई प्रकार की होती है। सर्वश्रेष्ठ मुक्ति तो परमेश्वर की भक्ति में प्रवृत्त होना है। भगवान् अनिरुद्ध न केवल सकाम कर्मियों को उच्चतर लोकों में पहुँचने में सहायक होते हैं, अपितु अपनी अक्षय शक्ति से भक्त को भक्ति में प्रवृत्त कराते हैं। जिस प्रकार ताप भौतिक शक्ति का स्रोत है उसी प्रकार भगवान् अनिरुद्ध का प्रोत्साहन वह शक्ति है, जिससे मनुष्य भक्ति करने में प्रवृत्त हो सकता है।

नम ऊर्ज इषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे ।
तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने ॥ ३८॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; ऊर्जे—पितृलोक के पोषक को; इषे—समस्त देवताओं का भरण करने वाला; त्रय्याः—तीनों वेदों के; पतये—स्वामी को; यज्ञ—यज्ञ; रेतसे—चन्द्रलोक के प्रमुख श्रीविग्रह को; तृप्ति-दाय—उनको जो सबों को तृप्त करते हैं; च—भी; जीवानाम्—जीवात्माओं का; नमः—नमस्कार है; सर्व-रस-आत्मने—सर्वव्यापी परमात्मा को।

हे भगवन्, आप पितृलोक तथा सभी देवताओं के भी पोषक हैं। आप चन्द्रमा के प्रमुख श्रीविग्रह और तीनों वेदों के स्वामी हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि आप समस्त जीवात्माओं की तृप्ति के मूल स्रोत हैं।

तात्पर्य : जब जीव इस जगत में जन्म लेता है, विशेषतः मनुष्य के रूप में, तो देवताओं, साधु पुरुषों तथा सामान्य जीवों के प्रति उसके कई ऋण होते हैं। शास्त्रों का वचन है—*देवर्षिभूताप्तनृणां*

पितृणाम्। इस प्रकार उसका अपने पूर्वजों के प्रति भी ऋण होता है। शिवजी भगवान् अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि मुझे शक्ति दीजिये, जिससे मैं पितरों, देवों, सामान्य जीवों तथा साधुओं के प्रति अपने ऋणों से उऋण हो सकूँ और अपने आपको पूर्ण रूप से भगवान् की भक्ति में लगा सकूँ। जैसाकि *भागवत* (११.५.४१) में कहा गया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां

न किङ्करो नायमृणी च राजन्।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं

गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

मनुष्य भक्ति में पूर्ण रूप से प्रवृत्त होने से देवताओं, साधु पुरुषों, पितरों, पूर्वजों आदि के ऋण से मुक्त हो जाता है। इसीलिए शिवजी भगवान् अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें शक्ति प्रदान करें जिससे वे सभी ऋणों से मुक्त होकर भगवद्भक्ति में पूर्णरूपेण तत्पर हो सकें।

जीव को जीभ से भोजन का जो स्वाद मिलता है उसके लिए सोम अर्थात् चन्द्रमा का श्रीविग्रह उत्तरदायी है। शिवजी भगवान् अनिरुद्ध से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें ऐसी शक्ति दें जिससे वे जीभ से भगवान् के प्रसाद के अतिरिक्त अन्य किसी का स्वाद न लें। श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने एक श्लोक में लिखा है कि समस्त इन्द्रियों में जीभ ही सबसे दुर्जेय शत्रु है। जीभ पर नियंत्रण पाने से अन्य सभी इन्द्रियाँ वश में की जी सकती हैं और जीभ केवल श्रीविग्रह को अर्पित प्रसाद ग्रहण करने से वश में की जा सकती है। शिवजी द्वारा अनिरुद्ध से जो प्रार्थना की गई वह इसी प्रयोजन के लिए है (*तृप्ति-दाय*); वे उनसे यही प्रार्थना करते हैं कि वे उनकी सहायता करें जिससे वे भगवान् को अर्पित प्रसाद को ग्रहण करके प्रसन्न रह सकें।

सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे ।
नमस्त्रैलोक्यपालाय सह ओजोबलाय च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; **सत्त्व**—अस्तित्व; **आत्म**—जीव; **देहाय**—शरीर को; **विशेषाय**—विभिन्नता को; **स्थवीयसे**—भौतिक संसार को; **नमः**—नमस्कार; **त्रै-लोक्य**—तीनों लोकों के; **पालाय**—पालक; **सह**—के साथ; **ओजः**—ओज; **बलाय**—बल (शक्ति) को; **च**—भी।

हे भगवान्, आप विराटस्वरूप हैं जिसमें समस्त जीवात्माओं के शरीर समाहित हैं। आप

तीनों लोकों के पालक हैं, फलतः आप मन, इन्द्रियों, शरीर तथा प्राण का पालन करने वाले हैं। अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : जिस प्रकार जीवात्मा का शरीर असंख्य कोषों, कीटाणुओं तथा जीवाणुओं से बना है उसी प्रकार भगवान् का विराट शरीर में समस्त जीवों के शरीर समाहित हैं। शिवजी उस विराट शरीर की प्रार्थना कर रहे हैं जिसमें अन्य समस्त शरीर सम्मिलित हैं, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सशरीर भक्ति कर सके। चूँकि यह शरीर इन्द्रियों से बना है, अतः समस्त इन्द्रियों को भक्ति में लगाना चाहिए। उदाहरणार्थ, नाक को चाहिए कि भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित फूलों की सुगन्धि ले, हाथों को चाहिए कि भगवान् के मन्दिर को बुहारे, इत्यादि। निस्सन्देह, प्रत्येक जीवात्मा का प्राण होने के कारण भगवान् तीनों लोकों के पालक हैं, अतः वे प्रत्येक जीवात्मा को पूर्ण शारीरिक तथा मानसिक शक्ति के साथ-साथ जीवन को वास्तविक कर्म में प्रवृत्त करा सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा को अपने प्राण (जीवन), अर्थ (धन), बुद्धि तथा वाणी से भगवान् की सेवा करनी चाहिए। *श्रीमद्भागवत* (१०.२२.३५) में आया है—

एतावज्जन्म साफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेयआचरणं सदा॥

यदि कोई भगवद्भक्ति करना भी चाहे तो भगवान् की आज्ञा के बिना वह ऐसा नहीं कर सकता। शिवजी जीवात्माओं को यह दिखाने के लिए कि भक्ति कैसे की जाती है, इतनी प्रकार से प्रार्थना कर रहे हैं।

अर्थलिङ्गाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने ।
नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अर्थ—तात्पर्य; लिङ्गाय—प्रकट करने हेतु; नभसे—आकाश को; नमः—नमस्कार; अन्तः—भीतर; बहिः—तथा बाहर; आत्मने—अपने आपको; नमः—नमस्कार; पुण्याय—पुण्य कर्मों को; लोकाय—सृष्टि के लिए; अमुष्मै—मृत्यु के परे; भूरि-वर्चसे—परम तेज।

हे भगवान्, आप अपनी दिव्य वाणी (शब्दों) को प्रसारित करके प्रत्येक वस्तु का वास्तविक अर्थ प्रकट करने वाले हैं। आप भीतर-बाहर सर्वव्याप्त आकाश हैं और इस लोक में तथा इससे परे किये जाने वाले समस्त पुण्यकर्मों के परम लक्ष्य हैं। अतः मैं आपको पुनः पुनः

सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : वैदिक प्रमाण *शब्द-ब्रह्म* कहलाता है। ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जो हमारी अपूर्ण इन्द्रियों के निरीक्षण से परे हैं, किन्तु शब्द का प्रामाणिक साक्ष्य पूर्ण है। वेद *शब्द-ब्रह्म* कहलाते हैं, क्योंकि वेदों का प्रमाण (साक्ष्य) ही परम ज्ञान है। इसका कारण यह है कि *शब्द-ब्रह्म* या वेद भगवान् का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु *शब्द-ब्रह्म* का वास्तविक सार तो हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन है। इस दिव्य ध्वनि के उच्चारण से भौतिक तथा आध्यात्मिक सारी वस्तुओं का अर्थ प्रकट हो जाता हैं। यह हरे कृष्ण महामंत्र भगवान् से अभिन्न है। प्रत्येक वस्तु का अर्थ वायु के माध्यम से प्राप्त शब्द ध्वनि से प्रकट होता है। यह ध्वनि चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, किन्तु बिना शब्द-ध्वनि के किसी बात का कोई अर्थ समझा नहीं जा सकता। वेदों में कहा गया है—*अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याय नारायण:स्थित:*—''नारायण सर्वव्यापी हैं और वे भीतर तथा बाहर स्थित रहते हैं।'' इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१३.३४) में इस प्रकार हुई है—

यथा प्रकाशयत्येक: कृत्स्नं लोकमिमं रवि: ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

''हे भरतवंशी! जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड को अकेला सूर्य प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जीवात्मा तथा परमात्मा चेतना द्वारा सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करते हैं।''

दूसरे शब्दों में, आत्मा तथा परमात्मा की चेतना सर्वव्यापी है, आत्मा अपनी सीमित चेतना से सम्पूर्ण भौतिक शरीर में व्याप्त रहती है और भगवान् की परम चेतना सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहती है। चूँकि आत्मा शरीर के भीतर स्थित है, अत: चेतना सारे शरीर में व्याप्त रहती है। इसी प्रकार परमात्मा या श्रीकृष्ण इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, अत: हर वस्तु व्यवस्थित रूप से कार्य करती है। *मयाध्यक्षेण प्रकृति:सूयते सचराचरम्*—''हे कुन्ती पुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य कर रही है और समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है।'' (*भगवद्गीता* ९.१०)।

अत: शिवजी भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे कृपालु हों, जिससे केवल हरे कृष्ण मंत्र के जप से ही भौतिक एवं आध्यात्मिक लोकों में प्रत्येक वस्तु को समझा जा सके। इस प्रसंग में *अमुष्मै* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे उच्चलोक प्राप्त करने के बाद सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य इंगित होता है। जो कर्मी हैं,

वे अपने पूर्वकर्मों के फल के अनुसार स्वर्ग प्राप्त करते हैं और ज्ञानियों को भी जो ब्रह्म-ज्योति में लीन होना चाहते है, वाञ्छित फल मिलता है, किन्तु अन्ततः भक्त ही, जो साक्षात् भगवान् की संगति चाहते हैं, वैकुण्ठलोक या गोलोक वृन्दावन को जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* (१०.१२) में भगवान् को *पवित्रं परमम्* कहा गया है। इसकी पुष्टि इस श्लोक से होती है। शुकदेव गोस्वामी ने कहा है कि श्रीकृष्ण के साथ खेलने वाले ग्वालबाल सामान्य जीव नहीं थे। विभिन्न जन्मों में अनेक पुण्यकर्मों को संचित करते रहने से ही भगवान् का साहचर्य प्राप्त होता है। चूँकि पवित्रात्मा ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, अतः भगवान् परम शुद्ध हैं।

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे ।
नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

प्रवृत्ताय—प्रवृत्ति; निवृत्ताय—निवृत्ताय; पितृ-देवाय—पितृलोक के स्वामी को; कर्मणे—सकाम कर्मों के फल को; नमः—नमस्कार; अधर्म—अधर्म; विपाकाय—फल को; मृत्यवे—मृत्यु को; दुःख-दाय—समस्त प्रकार के दुखों का कारण; च—भी।

हे भगवान्, आप पुण्यकर्मों के फलों के दृष्टा हैं। आप प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा उनके कर्म-रूपी परिणाम (फल) हैं। आप अधर्म से जनित जीवन के दुखों के कारणस्वरूप हैं, अतः आप मृत्यु हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं और उन्हीं से जीवात्मा में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति उत्पन्न होती हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.१५) में हुई है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

''मैं प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती हैं।''

भगवान् कुछ ऐसा करते हैं जिससे असुर लोग तो उन्हें भूल जाते हैं, किन्तु भक्त उनका स्मरण करते रहते हैं। मनुष्य में निवृत्ति भी भगवान् के ही कारण है। *भगवद्गीता* के अनुसार (१६.७)—*प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः*—असुरों को यह पता नहीं रहता कि किधर प्रवृत्त हुआ जाये और किधर नहीं। यद्यपि असुर भक्ति के विरोधी हैं, किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि वे भगवान् की इच्छा से ऐसा करते हैं। चूँकि असुर भगवान् की भक्ति नहीं करना चाहते, अतः भगवान् उनके हृदय के

भीतर से उन्हें ऐसी बुद्धि देते हैं कि वे उन्हें भूल जाँय। सामान्य कर्मी पितृलोक जाना चाहते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है— *यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः*—"जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं में जन्म लेंगे और जो पितरों को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाएँगे।"

इस श्लोक का *दुःखदाय* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो अभक्त हैं, वे जन्ममरण के चक्र में निरन्तर घूमते रहते हैं। यह अत्यन्त दुखदायी अवस्था है। चूँकि कर्मों के अनुसार मनुष्य को पद प्राप्त होता है, अतः असुर या अभक्त ऐसी दुखदायी स्थितियों में पड़े रहते हैं।

नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने
नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
पुरुषाय पुराणाय साङ्ख्ययोगेश्वराय च ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; ते—तुमको; आशिषाम् ईश—हे समस्त आशीर्वादों को प्रदान करने वालों में श्रेष्ठ; मनवे—परम मन या परम मनु को; कारण-आत्मने—समस्त कारणों के कारण; नमः—नमस्कार; धर्माय—समस्त धर्मों के ज्ञाता को; बृहते—सर्वश्रेष्ठ; कृष्णाय—कृष्ण को; अकुण्ठ-मेधसे—जिनकी चेतना कभी कुण्ठित नहीं होती उन्हें; पुरुषाय—परम पुरुष को; पुराणाय—सबसे प्राचीन; साङ्ख्य-योग-ईश्वराय—सांख्य योग के नियमों के अधीश्वर को; च—तथा।

हे भगवान्, आप आशीर्वादों के समस्त प्रदायकों में सर्वश्रेष्ठ, सबसे प्राचीन तथा समस्त भोक्ताओं में परम भोक्ता हैं। आप समस्त सांख्य योग-दर्शन के अधिष्ठाता हैं। आप समस्त कारणों के कारण भगवान् कृष्ण हैं। आप सभी धर्मों में श्रेष्ठ हैं, आप परम मन हैं और आपका मस्तिष्क (बुद्धि) ऐसा है, जो कभी कुण्ठित नहीं होता। अतः मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में *कृष्णाय अकुण्ठ-मेधसे* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक विज्ञानियों ने अनिश्चितता सिद्धान्त की खोज कर लेने के बाद एक तरह से सोचना बन्द कर दिया है, किन्तु वास्तव में मनुष्य के लिए कोई भी मानसिक कार्य ऐसा नहीं है, जिसे काल तथा आकाश की सीमाओं में बाँधा न जा सके। जीवात्मा अणु है, अर्थात् परमात्मा का एक अणु है, फलतः उसका मस्तिष्क (मन) भी अणुवत् है। उसमें अनन्त ज्ञान नहीं समा सकता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रीकृष्ण का भी मस्तिष्क सीमित है। जो कुछ कृष्ण कहते या करते हैं वह समय तथा आकाश (दिक्) से बँधा नहीं है। *भगवद्गीता* (७.२६) में भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

"हे अर्जुन! भूतकाल में जो हुआ है, वर्तमान में जो कुछ हो रहा है तथा आगे जो कुछ होना है, मैं वह सब भगवान् के रूप में जानता हूँ। मैं सभी जीवों को भी जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।"

कृष्ण तो सब कुछ जानते हैं, किन्तु जब तक उनकी कृपा न हो कोई उन्हें जान नहीं सकता। अत: कृष्ण तथा उनके प्रतिनिधि के लिए अनिश्चितता सिद्धान्त का प्रश्न ही नहीं उठता। कृष्ण जो भी कहते हैं, वह अपने में पूर्ण और निश्चित है और वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य पर लागू होता है। और जो कुछ कृष्ण कहते हैं उसे जानने वाले के लिए कोई अनिश्चितता नहीं है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन भगवान् कृष्ण द्वारा कही गई *भगवद्गीता* पर आधारित है और जो इस आन्दोलन से जुड़े हुए हैं उनके लिए अनिश्चितता का कोई प्रश्न ही नहीं है।

भगवान् कृष्ण को यहाँ पर *आशिषाम् ईश* कह कर भी सम्बोधित किया गया है। महापुरुष, मुनि तथा देवता सामान्य जीवों को ही आशीष दे सकते हैं, किन्तु स्वयं वे भगवान् से आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण से आशीर्वाद पाये बिना कोई किसी अन्य को आशीर्वाद नहीं दे सकता। *मनवे* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है, "मनु को।" मनु वैदिक साहित्य के स्वायम्भुव मनु हैं, जो कृष्ण के अवतार हैं। सारे मनु कृष्ण के *शक्त्यावेश* अवतार हैं (*मन्वन्तर-अवतार*)। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु, एक मास में ४२०, एक वर्ष में ५,०४० और ब्रह्मा के जीवन-काल में कुल ५,०४,००० मनु होते हैं। चूँकि सारे मनु मानव-समाज के अधीक्षक होते हैं, अत: श्रीकृष्ण अन्तत: मानव-समाज के परम अधीक्षक हैं। *मनवे* का दूसरा अर्थ सभी प्रकार के मंत्रों की सिद्धि भी होता है। मंत्र बद्धजीव को बन्धन से छुड़ाता है, अत: हरे कृष्ण मंत्र का जप करने मात्र से ही मनुष्य का किसी भी स्थिति से उद्धार हो सकता है।

कारणात्मने—प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण होता है। इस श्लोक में भाग्यवाद के सिद्धान्त का खंडन है। चूँकि हर वस्तु का कारण होता है, अत: भाग्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। चूँकि तथाकथित विज्ञानी तथा दार्शनिक वास्तविक कारण ढूँढ पाने में असमर्थ रहते हैं, अत: वे वृथा ही

बकते हैं कि सब संयोगवश घटित होता है। *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण को समस्त कारणों का कारण कहा गया है। यहाँ उन्हें *कारणात्मने* कह कर सम्बोधित किया गया है; अत: उनका व्यक्तित्व ही प्रत्येक वस्तु का मूल कारण या बीज है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (१.१.२) में वर्णित है—*जन्माद्यस्य यत:*—परम सत्य समस्त सृष्टि का परम कारण है।

सांख्ययोगेश्वराय शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण को योगेश्वर कहा गया है। अकल्पनीय योगशक्तियों से संपन्न हुऐ बिना कोई ईश्वर नहीं माना जा सकता। इस कलिकाल में जिन्हें थोड़ी भी योगशक्ति प्राप्त है वे अपने को ईश्वर कहते हैं, किन्तु ऐसे छद्म ईश्वर निरे मूर्ख माने जा सकते हैं, क्योंकि परम पुरुष श्रीकृष्ण ही समस्त योग-शक्तियों एवं सिद्धियों से समन्वित हैं। इस समय प्रचलित सांख्य योग पद्धति का प्रवर्तन नास्तिक कपिल द्वारा हुआ, किन्तु आदि सांख्ययोग पद्धति का प्रवर्तन श्रीकृष्ण के अवतार, देवहूति के पुत्र, कपिल द्वारा किया गया था। इसी प्रकार कृष्ण के अन्य अवतार दत्तात्रेय ने भी सांख्ययोग पद्धति की व्याख्या की। इस तरह श्रीकृष्ण समस्त सांख्ययोग पद्धतियों तथा योग-शक्तियों के स्त्रोत हैं।

पुरुषाय पुराणाय शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण को *आदि पुरुष* के रूप में स्वीकार किया गया है। *भगवद्गीता* में उन्हें *पुराण पुरुष* अर्थात् सबसे प्राचीन पुरुष भी माना गया है। यद्यपि वे सभी महापुरुषों में सबसे पुराने हैं, तो भी वे सबों में तरुण, नवयौवन से पूर्ण भी हैं। एक और शब्द *धर्माय* भी महत्त्वपूर्ण है। चूँकि श्रीकृष्ण समस्त धर्मों के आदि प्रवर्तक हैं, अत: *भागवत* (६.३.१९) में कहा गया है—*धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्।* कोई भी नवीन धर्म प्रचारित नहीं कर सकता, क्योंकि श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित धर्म पहले ही विद्यमान है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण हमें मूल धर्म की जानकारी देते हैं और सभी प्रकार के धर्मों का परित्याग करने को कहते हैं। वास्तविक धर्म तो उनके प्रति समर्पण है। *महाभारत* में भी कहा गया है—

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जना:।

ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्॥

इसका सारांश यह है कि जिसने ठीक से वेदों का अध्ययन किया है, जो पूर्ण विप्र है अर्थात् वेदों का ज्ञाता है, आध्यात्मिक जीवन को समझता है, वही परम पुरुष श्रीकृष्ण को सनातन धर्म के रूप में

बताता है। अत: शिवजी हमें सनातन धर्म के नियमों की शिक्षा देते हैं।

शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहङ्कृतात्मने ।
चेतआकूतिरूपाय नमो वाचो विभूतये ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

शक्ति-त्रय—तीन प्रकार की शक्तियाँ; समेताय—आगार को; मीढुषे—रुद्र को; अहङ्कृत-आत्मने—अहंकार के स्रोत; चेतः—ज्ञान; आकूति—कार्य करने की उत्सुकता; रूपाय—रूप को; नमः—मेरा नमस्कार है; वाचः—वाणी को; विभूतये—विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्यों को।

हे भगवान्, आप कर्ता, करण और कर्म—इन तीनों शक्तियों के नियामक हैं। अतः आप शरीर, मन तथा इन्द्रियों के परम नियन्ता हैं। आप अहंकार के परम नियन्ता रुद्र भी हैं। आप वैदिक आदेशों के ज्ञान तथा उनके अनुसार किए जाने वाले कर्मों के स्रोत हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति मिथ्या अहंकार द्वारा निर्देशित होता है, अत: शिवजी मिथ्या अहंकार को भगवान् की कृपा से पवित्र करना चाह रहे हैं। चूँकि शिवजी या रुद्र ही अहंकार के नियन्ता हैं, इसलिए वे भगवान् की कृपा से अप्रत्यक्ष रूप से अपने को शुद्ध कर लेना चाहते हैं, जिससे उनका वास्तविक अहंकार जाग्रत हो सके। निस्सन्देह, आध्यात्मिक ज्ञान में रुद्र सदैव जागरूक रहते हैं, किन्तु वे हमारे लाभ के लिए ही इस प्रकार से स्तुति कर रहे हैं। निर्विशेषवादियों के लिए शुद्ध अहंकार तो *अहं ब्रह्मास्मि*—"मैं यह शरीर न होकर आत्मा हूँ" है। किन्तु वास्तव में आत्मा को भक्ति सम्बन्धी कार्य करने होते हैं। इसीलिए शिवजी वेदों के आदेशानुसार मन तथा कर्म से भगवान् की भक्ति में लगने के लिए प्रार्थना करते हैं। अहंकार को शुद्ध करने की यही विधि है। *चेत:* का अर्थ है "ज्ञान"। बिना पूर्ण ज्ञान के पूर्ण रूप से कर्म नहीं किया जा सकता। ज्ञान का असली स्रोत *वाच:* या शब्द है, शब्द जो वैदिक आदेशों से प्राप्त होता है। यहा वाच: शब्द का अर्थ है वैदिक आदेश। सृष्टि की उत्पत्ति शब्द से ही हुई और यदि शब्द स्पष्ट तथा शुद्ध हो तो पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण कर्म प्रकट होते हैं। महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—के जप से यह सब सम्भव है। इस प्रकार शिवजी ज्ञान तथा वेदों के निर्देशानुसार कर्म की शुद्धि के द्वारा अपने शरीर, मन तथा कर्मों की शुद्धि के लिए बारम्बार प्रार्थना कर रहे हैं। वे भगवान् की प्रार्थना कर रहे हैं, जिससे उनका मन, इन्द्रियाँ तथा वाणी—ये सब केवल भक्ति की ओर ही उन्मुख हों।

दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम् ।
रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

दर्शनम्—दर्शन; नः—हमारी; दिदृक्षूणाम्—देखने की इच्छा; देहि—कृपा करके दिखाएं; भागवत—भक्तों का; अर्चितम्—उनके द्वारा पूजित; रूपम्—स्वरूप; प्रिय-तमम्—सर्वाधिक प्रिय; स्वानाम्—अपने भक्तों का; सर्व-इन्द्रिय—सभी इन्द्रियाँ; गुण—गुण; अञ्जनम्—अत्यन्त मनोहर।

हे भगवान्, मैं आपको उस रूप में देखने का इच्छुक हूँ, जिस रूप में आपके अत्यन्त प्रिय भक्त आपकी पूजा करते हैं। आपके अन्य अनेक रूप हैं, किन्तु मैं तो उस रूप का दर्शन करना चाहता हूँ जो भक्तों को विशेष रूप से प्रिय है। आप मुझ पर अनुग्रह करें और मुझे वह स्वरूप दिखलाएं, क्योंकि जिस रूप की भक्त पूजा करते हैं वही इन्द्रियों की इच्छाओं को पूरा कर सकता है।

तात्पर्य : वेद-मंत्र या श्रुति में कहा गया है कि परमेश्वर *सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस:* हैं। दूसरे शब्दों में, वे *रसो वै स:* कहलाते हैं अर्थात् सभी रसमय सम्बन्धों के स्रोत। हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ हैं (देखने, स्वाद लेने, सूँघने, स्पर्श करने की शक्तियाँ इत्यादि) और हमारी इन सभी इन्द्रियों की इच्छाएँ तभी पूरी हो सकती हैं, जब इन्हें भगवान् की सेवा में लगा दिया जाये। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—"भक्ति का अर्थ है समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश में लगाना" (*नारद पंचरात्र*) किन्तु भौतिक इन्द्रियों को भगवान् की भक्ति में नहीं लगाया जा सकता, अत: मनुष्य को सभी उपाधियों से मुक्त हो जाना चाहिए। *सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।* मनुष्य को समस्त उपाधियों अथवा मिथ्या अहंकार से रहित होकर शुद्ध होना चाहिए। जब हम अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाते हैं, तो हमारी इच्छाएँ अथवा मनोवृत्तियाँ ठीक से पूरी होती हैं। अत: शिवजी भगवान् को उस रूप में देखना चाहते हैं, जो बौद्ध दार्शनिकों अथवा बौद्धों के लिए अकल्पनीय है।

निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी भी परमेश्वर का रूप देखते हैं। बौद्ध मन्दिरों में ध्यानमग्न बुद्ध की मूर्तियाँ रहती हैं, किन्तु इनकी पूजा उस रूप में नहीं होती जैसी कि वैष्णव मन्दिरों में राधाकृष्ण, सीताराम या लक्ष्मीनारायण के रूपों की होती है। विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में या तो राधाकृष्ण या लक्ष्मीनारायण की पूजा की जाती है। शिवजी भगवान् के पूर्ण रूप को उसी प्रकार देखना चाहते हैं जिस प्रकार भक्त देखना चाहते हैं। यहाँ पर *रूपं प्रियतमं स्वानाम्* का विशेष उल्लेख हुआ है, जिसका

तात्पर्य है कि शिवजी उस रूप का दर्शन करना चाहते हैं, जो भक्तों को अत्यन्त प्रिय है। *स्वानाम्* महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भगवान् को केवल भक्त ही अत्यन्त प्रिय हैं। उन्हें ज्ञानी, योगी तथा कर्मी उतने प्रिय नहीं जितने कि भक्त प्रिय हैं। कर्मी भगवान् को अपनी आवश्यकता पूर्ति करने वाले के रूप में देखना चाहते हैं, ज्ञानी उनसे तादात्म्य होने के लिए उन्हें देखना चाहते हैं। और योगी उन्हें अंशत: अपने हृदय में परमात्मा रूप में स्थित देखना चाहते हैं, किन्तु भक्तजन उन्हें सर्वांग रूप में देखना चाहते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३०) में कहा गया है—

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं

बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम् ।

कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने वंशीवादन में निपुण हैं, जिनके नेत्र खिले हुए कमलदलों के समान हैं, जिनका सिर मोरपंखों से अलंकृत है, जिनकी सुन्दरता नील-मेघों के समान है और जिनकी अद्वितीय शोभा करोड़ों कामदेवों को मोहित करती है।" इस प्रकार शिवजी की इच्छा है कि वे भगवान् के यहाँ वर्णित रूप का दर्शन करें अर्थात् उस रूप में जिस रूप में वे भागवतों या भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह कि शिवजी भगवान् के सर्वांग रूप को देखना चाहते हैं, निर्विशेषवादियों या शून्यवादियों की तरह नहीं। यद्यपि भगवान् विभिन्न रूपों में एक ही हैं (*अद्वैतमच्युतमनादिम्*) तो भी गोपियों के साथ विहार करने वाला उनका रूप तथा ग्वालबालों के संग उनका तरुण रूप (*किशोर मूर्ति*) अत्यन्त पूर्ण है। अत: वैष्णव लोग भगवान् के वृन्दावन की लीलाओं वाले रूप को प्रधान मानते हैं।

स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसङ्ग्रहम् ।
चार्वायतचतुर्बाहु सुजातरुचिराननम् ॥ ४५ ॥
पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम् ।
सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

स्निग्ध—चिकना; प्रावृट्—वर्षाकाल के; घन-श्यामम्—घने बादलों सा; सर्व—समस्त; सौन्दर्य—सुन्दरता; सङ्ग्रहम्—राशि; चारु—सुन्दर; आयत—शारीरिक अंग; चतुः-बाहु—चार भुजाओं वाले को; सु-जात—अत्यन्त सुन्दर; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; आननम्—मुख; पद्म-कोश—कमल पुष्पों का गुच्छा; पलाश—पंखड़ियाँ, दल; अक्षम्—नेत्र; सुन्दर—सुन्दर; भ्रु—भौंहें; सु-नासिकम्—उन्नत नाक; सु-द्विजम्—सुन्दर दाँत; सु-कपोल—सुन्दर मस्तक; आस्यम्—मुख; सम-कर्ण—एकसमान सुन्दर कान; विभूषणम्—पूर्णतः सज्जित।

भगवान् की सुन्दरता वर्षाकालीन श्याम मेघों के समान है। उनके शारीरिक अंग वर्षा जल के समान चमकीले हैं। दरअसल, वे समस्त सौंदर्य के समष्टि (सारसर्वस्व) हैं। भगवान् की चार भुजाएं हैं, सुन्दर मुख है और उनके नेत्र कमलदलों के तुल्य हैं। उनकी नाक उन्नत, उनकी हँसी मोहने वाली, उनका मस्तक सुन्दर तथा उनके कान सुन्दर और आभूषणों से सज्जित हैं।

तात्पर्य : ग्रीष्म ऋतु की तपन के बाद आकाश में काले-काले बादल अत्यन्त सुहावने लगते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम्।* भगवान् अपने बालों में मोर पंख धारण करते हैं, उनका शरीर श्याम बादलों के समान है। सुन्दर या स्निग्ध शब्द का अर्थ "अत्यन्त लुभावना" है। *कन्दर्प कोटि कमनीय।* श्रीकृष्ण की सुन्दरता इतनी मोहक है कि करोड़ों कामदेव भी उसकी समता नहीं कर सकते। विष्णु रूप में भगवान् का रूप समस्त ऐश्वर्यों से सुसज्जित रहता है, अतः शिवजी नारायण या विष्णु के अत्यन्त ऐश्वर्यवान रूप का दर्शन पाने का प्रयास कर रहे हैं। सामान्यतः भगवान् की पूजा नारायण या विष्णु की पूजा से प्रारम्भ होती है, किन्तु कृष्ण तथा राधा की पूजा गुप्त विधि से की जाती है। भगवान् नारायण की पूजा *पाञ्चरात्रिक* विधि से की जाती है, जबकि भगवान् कृष्ण की पूजा भागवत-विधि से की जाती है। उनकी पाञ्चरात्र विधि से पूजा किये बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् की पूजा भागवत विधि से नहीं कर सकता है। वास्तव में नवदीक्षित भक्त भगवान् की पूजा *नारद पञ्चरात्र* द्वारा निर्दिष्ट पाञ्चरात्रिक विधि से ही करते हैं। नवदीक्षित भक्त राधा कृष्ण की पूजा नहीं कर सकते, अतः मन्दिरों में विधि-विधानों के अनुसार ही लक्ष्मीनारायण की पूजा की जाती है। भले ही मन्दिर में राधाकृष्ण विग्रह हो, किन्तु नवदीक्षित भक्तों द्वारा की गयी पूजा लक्ष्मीनारायण पूजा के रूप में ही स्वीकार्य होती है। पाञ्चरात्रिक विधि से की गई पूजा *विधि-मार्ग* कहलाती है और भागवत विधि से की गई पूजा *राग-मार्ग* कहलाती है। *राग-मार्ग* के सिद्धान्त उन भक्तों के लिए हैं, जो वृन्दावन पद को प्राप्त हैं।

वृन्दावन के वासी—गोपियाँ, माता यशोदा, नन्द महाराज, गोप, गाएँ तथा अन्य सब—वास्तव में *राग-मार्ग* या *भागवत-मार्ग* के पद पर स्थित हैं। वे पाँच मूल रसों को भोगते हैं—*दास्य, सख्य,*

वात्सल्य, माधुर्य तथा *शान्त*। यद्यपि *भागवत-मार्ग* में ये पाँच रस पाये जाते हैं, किन्तु *भागवत-मार्ग* तो विशेषरूप से *वात्सल्य* तथा *माधुर्य* रसों के लिए है। परन्तु *विप्रलम्भ सख्य* भी है, जो गोपों द्वारा भोगा जाता है। यद्यपि गोपों तथा कृष्ण के मध्य मित्रता है, किन्तु यह मित्रता कृष्ण तथा अर्जुन की ऐश्वर्य-मित्रता से भिन्न है। जब अर्जुन ने भगवान् का विश्वरूप देखा तो उन्हें भय हुआ कि उन्होंने तो कृष्ण को सामान्य मित्र माना था, फलतः उन्होंने क्षमा माँगी। किन्तु वृन्दावन के ग्वालबाल जो कृष्ण के मित्र हैं, वे उनके कंधों पर चढ़ते हैं, कृष्ण को अन्यों के समान अपने ही तुल्य मानते हैं, वे उनसे कभी भी डरते नहीं, न वे कभी क्षमा माँगते हैं। इस प्रकार *राग-मार्ग* या *भागवत-मार्ग* कृष्ण के साथ उच्चतर पद पर मित्रता है। यह पद *विप्रलम्भ* मित्रता का है। वात्सल्य भाव तथा माधुर्य भाव वृन्दावन के *राग-मार्ग* में देखे जा सकते हैं।

कुछ अनैतिक लोग पांचरात्रिक विधि के *विधि-मार्ग* से कृष्ण की भक्ति किये बिना ही *राग-मार्ग* में तुरन्त कूदना चाहते हैं। इन्हें *सहजिया* कहते हैं। कुछ ऐसे अधम (असुर) भी हैं, जो अपने स्वेच्छाधारी आचरण का लाभ उठाते हुए कृष्ण तथा गोपियों के साथ उनकी लीलाओं की नकल करने में ही आनन्द लेते हैं। ऐसे अधम लोग जो *राग-मार्ग* पर पुस्तकें तथा गीत लिखकर प्रकाशित करते हैं, वे निश्चित ही नरकगामी हैं। दुर्भाग्यवश वे अपने साथ औरों को भी पतित बनाते हैं। कृष्णभक्ति में लगे हुए भक्तों को ऐसे अधमों से बचना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि लक्ष्मीनारायण की पूजा करते समय *विधि-मार्ग* का कठोर अनुसरण करे, भले ही मन्दिर में भगवान् राधाकृष्ण-रूप में क्यों न हों। राधाकृष्ण में लक्ष्मीनारायण निहित हैं, अतः *विधि-मार्ग* से ही पूजा करनी चाहिए और लक्ष्मीनारायण के ही रूप में भगवान् सेवा स्वीकार करते हैं। *भक्ति-रसामृत-सिंधु* नामक कृति में राधाकृष्ण या लक्ष्मीनारायण के *विधि-मार्ग*-पूजा सम्बन्धी आवश्यक निर्देश दिये गये हैं। यद्यपि *विधि-मार्ग* पूजा में चौंसठ प्रकार के अपराध हो सकते हैं, किन्तु *राग-मार्ग* पूजा में ऐसे अपराधों पर विचार नहीं किया जाता, क्योंकि उस पद पर स्थित भक्त अत्यन्त उन्नत होते हैं, उनके द्वारा अपराध का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यदि *विधि-मार्ग* स्तर (पद) पर विधि-विधानों का पालन न करके अपराधों को ढूँढने में ही दृष्टि जमा दी जाये तो प्रगति नहीं हो सकती।

शिवजी ने कृष्ण के सौंदर्य-वर्णन में *चार्वायतचतुर्बाहु सुजातरुचिराननम्* शब्दों का प्रयोग नारायण

या विष्णु के सुन्दर चतुर्भुज रूप के लिए किया है। जो श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं, वे उन्हें *सुजातरुचिराननम्* के रूप में वर्णन करते हैं। *विष्णु तत्त्व* में परमेश्वर के लाखों-करोड़ों रूप रहते हैं, किन्तु इन सबमें श्रीकृष्ण का रूप ही सुन्दरतम है। इसलिए जो कृष्ण-पूजक हैं उनके लिए *सुजात-रुचिराननम्* शब्द का प्रयोग हुआ है।

भगवान् विष्णु के चारों हाथ भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए हैं। जिन दो हाथों में कमल तथा शंख धारण किये हैं, वे भक्तों के लिए हैं और शेष दो जिनमें चक्र तथा गदा धारण किये रहते हैं, असुरों के लिए हैं। वास्तव में उनके चारों हाथ कल्याणप्रद हैं, चाहे वे कमल तथा शंख धारण किये हों या चक्र तथा गदा। जिन असुरों का भगवान् विष्णु के चक्र तथा गदा से वध होता है, वे दिव्य-लोक को जाते हैं। जिस तरह कमल तथा शंख वाले हाथों द्वारा रक्षित भक्त भी दिव्य लोक को जाते हैं। किन्तु जो असुर दिव्यलोक को जाते हैं, वे निर्गुण ब्रह्मज्योति में स्थित होते हैं, जबकि भक्तों को वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट होने दिया जाता है। कृष्ण के भक्त तुरन्त गोलोक वृन्दावनलोक को भेज दिये जाते हैं।

भगवान् के सौन्दर्य की उपमा वर्षा से दी गई है, क्योंकि जब वर्षा ॠतु में वर्षा होती है, तो यह लोगों को अधिकाधिक भाती है। ग्रीष्म की भीषण तपन के बाद लोग वर्षा ॠतु का अत्यधिक आनन्द लेते हैं। यही नहीं, गाँवों के लोग घर के बाहर निकल कर वर्षा का प्रत्यक्ष आनन्द लेते हैं। इस प्रकार भगवान् के शारीरिक अंगों की तुलना वर्षाकालीन बादलों से की गई है। भक्त भगवान् के सौन्दर्य का आनन्द लेते हैं, क्योंकि यह समस्त प्रकार की सुन्दरताओं का संग्रह होता है। इसीलिए *सर्व सौन्दर्य संग्रहम्* शब्द का प्रयोग हुआ है। कोई यह नहीं कह सकता कि भगवान् के शरीर का कोई अंग कम सुन्दर है। यह *पूर्णम्* होता है। प्रत्येक वस्तु पूर्ण रहती है। चाहे वह ईश्वर की सृष्टि हो, ईश्वर की सुन्दरता हो या उनके शारीरिक अंग हों—वे सब इतने पूर्ण होते हैं कि भगवान् के सौंदर्य को देखकर किसी की भी इच्छा पूरी हो जाती है। *सर्व सौन्दर्य* शब्द सूचित करता है कि भौतिक जगत में तथा वैकुण्ठलोक में भिन्न-भिन्न प्रकार की सुन्दरताएँ होती हैं और भगवान् में वे सब रहती हैं। भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी समान रूप से भगवान् के सौंदर्य का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। चाहे असुर हों या देवता, भौतिकतावादी हों या अध्यात्मवादी, भगवान् सबों को आकृष्ट करने वाले हैं, इसीलिए वे कृष्ण कहलाते हैं। इसी प्रकार उनके भक्त भी सबों को आकृष्ट करने वाले हैं। जैसाकि षड्गोस्वामी स्तोत्र में

उल्लेख है— *धीराधीर जनप्रियौ*—गोस्वामी धीर (भक्त) तथा अधीर (असुर) दोनों को समान रूप से प्रिय हैं। जब श्रीकृष्ण वृन्दावन में थे तो वे असुरों को प्रिय नहीं थे, किन्तु वृन्दावन में रहते हुए छहों गोस्वामी असुरों को प्रिय थे। अपने भक्तों के साथ बर्ताव में भगवान् की यही विशिष्टता है। कभी-कभी वे अपने भक्तों को अपने से भी बढ़कर श्रेय देते हैं। उदाहरणार्थ, कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में भगवान् कृष्ण युद्ध के लिए केवल आदेश दे रहे थे। युद्ध का सारा श्रेय तो अर्जुन को मिला। *निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्*—"हे सव्यसाची (अर्जुन)! तुम इस युद्ध में केवल कारणस्वरूप बनो" (*भगवद्गीता* ११.३३)। हर योजना कृष्ण की थी, किन्तु विजय का श्रेय मिला अर्जुन को। इसी प्रकार कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में प्रत्येक घटना भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु की भविष्यवाणी के अनुसार घट रही है, किन्तु श्रेय मिलता है श्री चैतन्य महाप्रभु के आज्ञाकारी सेवकों को। इस प्रकार यहाँ पर भगवान् को *सर्व सौन्दर्य संग्रह* के रूप में वर्णित किया गया है।

प्रीतिप्रहसितापाङ्गमलकै रूपशोभितम् ।
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कदुकूलं मृष्टकुण्डलम् ॥ ४७॥
स्फुरत्किरीटवलयहारनूपुरमेखलम् ।
शङ्खचक्रगदापद्ममालामण्युत्तमर्द्धिमत् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

प्रीति—अनुग्रहपूर्ण; प्रहसित—हास्य; अपाङ्गम्—तिरछी चितवन; अलकैः—घुँघराले वालों से; रूप—सौंदर्य; शोभितम्—सुशोभित; लसत्—चमकता हुआ; पङ्कज—कमल का; किञ्जल्क—केशर; दुकूलम्—वस्त्र; मृष्ट—झलमलाते; कुण्डलम्—कान के आभूषण; स्फुरत्—चमचमाता; किरीट—मुकुट; वलय—कंकण; हार—गले की माला; नूपुर—पाँव का घुँघुरूदार आभूषण; मेखलम्—करधनी; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; पद्म—कमल का फूल; माला—फूल की माला; मणि—मोती; उत्तम—श्रेष्ठ; ऋद्धि-मत्—इस कारण और भी सुन्दर।

भगवान् अपने मुक्त तथा दयापूर्ण हास्य तथा भक्तों पर तिरछी चितवन के कारण अनुपम सुन्दर लगते हैं। उनके बाल काले तथा घुँघराले हैं। हवा में उड़ता उनका वस्त्र कमल के फूलों में से उड़ते हुए केशर-रज के समान प्रतीत होता है। उनके झलमलाते कुण्डल, चमचमाता मुकुट, कंकण, बनमाला, नूपुर, करधनी तथा शरीर के अन्य आभूषण शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प से मिलकर उनके वक्षस्थल पर पड़ी कौस्तुभमणि की प्राकृतिक शोभा को बढ़ाते हैं।

तात्पर्य : *प्रहसितापाङ्ग* शब्द जो कृष्ण की मुस्कान तथा चितवन का द्योतक है, गोपियों के साथ भगवान् कृष्ण के व्यवहार के प्रसंग में प्रयुक्त है। जब गोपियों के हृदय में वे मार्धुय रस की वृद्धि करते

हैं, तो भगवान् सदैव विनोद मुद्रा में रहते हैं। शंख, चक्र, गदा तथा पद्म या तो उनके हाथों में या हथेली में दिखाये जाते हैं। हस्तरेखा ज्योतिष के अनुसार जिसकी हथेली में ये चिह्न पाये जाते हैं, वह महापुरुष होता है और ये भगवान् को सूचित करने वाले हैं।

सिंहस्कन्धत्विषो बिभ्रत्सौभगग्रीवकौस्तुभम् ।
श्रियानपायिन्या क्षिप्तनिकषाश्मोरसोल्लसत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सिंह—शेर; स्कन्ध—कंधे; त्विषः—बालों की लटें; बिभ्रत्—धारण किये हुए; सौभग—भाग्यवाली; ग्रीव—गर्दन; कौस्तुभम्—कौस्तुभ मणि; श्रिया—सुन्दरता; अनपायिन्या—कभी न घटने वाली; क्षिप्त—मात करने वाली; निकष—कसौटी; अश्म—पत्थर; उरसा—वक्षस्थल के साथ; उल्लसत्—झिलमिलाती है।

भगवान् के कन्धे सिंह के समान हैं। इन पर मालाएँ, हार एवं घुँघराले बाल पड़े हैं, जो सदैव झिलमिलाते रहते हैं। इनके साथ ही साथ कौस्तुभमणि की सुन्दरता है और भगवान् के श्याम वक्षस्थल पर श्रीवत्स की रेखाएँ हैं, जो लक्ष्मी के प्रतीक हैं। इन सुवर्ण रेखाओं की चमाहट सुवर्ण कसौटी पर बनी सुवर्ण लकीरों से कहीं अधिक सुन्दर है। दरअसल ऐसा सौन्दर्य सुवर्ण कसौटी को मात करने वाला है।

तात्पर्य : सिंह के कंधों पर घुँघराले बाल अत्यधिक सुन्दर लगते हैं। भगवान् के कंधे सिंह के ही समान थे और उनके कंधे पर पड़ी मालाओं, *हार* तथा कौस्तुभमणि की माला के कारण उनकी सुन्दरता सिंह से भी बढ़ गई थी। भगवान् के वक्षस्थल पर श्रीवत्स की रेखाएँ हैं, जो लक्ष्मी के चिह्न हैं। फलत: उनका वक्षस्थल सोने की कसौटी की सुन्दरता को भी मात करता है। काली कसौटी का पत्थर जिस पर सोने की शुद्धता परखने के लिए सोना रगड़ा जाता है सोने की रेखाएँ बन जाने के कारण अत्यन्त सुन्दर लगने लगता है। भगवान् का वक्षस्थल अपनी शोभा में कसौटी की शोभा से भी बढ़कर है।

पूररेचकसंविग्नवलिवल्गुदलोदरम् ।
प्रतिसङ्क्रामयद्विश्वं नाभ्यावर्तगभीरया ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पूर—श्वास; रेचक—नि:श्वास; संविग्न—चलायमान; वलि—उदर में पड़ने वाली सिलवटें; वल्गु—सुन्दर; दल—बरगद के पत्ते के समान; उदरम्—पेट; प्रतिसङ्क्रामयत्—नीचे की ओर भँवरदार; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; नाभ्या—नाभि; आवर्त—कुण्डली; गभीरया—गहराई में।

भगवान् का उदर (पेट) त्रिवली के कारण सुन्दर लगता है। गोल होने के कारण उनका

उदर वटवृक्ष के पत्ते के समान जान पड़ता है और जब वे श्वास-प्रश्वास लेते हैं, तो इन सलबटों का हिलना-जुलना अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता हैं। भगवान् की नाभि के भीतर की कुण्डली इतनी गहरी है मानो सारा ब्रह्माण्ड उसी में से उत्पन्न हुआ हो और पुनः उसी में समा जाना चाहता हो।

तात्पर्य : यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान् की नाभि से निकले कमलनाल से उत्पन्न हुआ। तब ब्रह्माजी ने इस कमलनाल के ऊपर आसीन होकर सारे ब्रह्माण्ड की रचना की। भगवान् की नाभि इतनी गहरी तथा चक्करदार है कि मानो सारा ब्रह्माण्ड उनकी शोभा से आकृष्ट होकर पुन: उसी के भीतर समा जाना चाहता है। नाभि तथा उदर की त्रिवली से भगवान् का शारीरिक सौन्दर्य बढ़ जाता है। भगवान् के शारीरिक अंगो का विवरण विशेषत: पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का सूचक है। निर्विशेषवादी भगवान् के सुन्दर शरीर को नहीं समझ सकते, जिसका वर्णन शिवजी द्वारा की गई स्तुति में यहाँ हुआ है। यद्यपि निर्विशेषवादी शिवजी की पूजा में लगे रहते हैं, किन्तु शिवजी ने भगवान् विष्णु के शारीरिक अंगों का जो स्तवन किया है, उसे समझने में वे असमर्थ रहते हैं। भगवान् विष्णु को *भागवत* (११.५.३३) में *शिवविरिञ्चिनुतम्* कहा गया है, क्योंकि वे ब्रह्मा तथा शिवजी द्वारा सदैव पूजित हैं।

श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णुदुकूलस्वर्णमेखलम् ।
समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरुनिम्नजानुसुदर्शनम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्याम—श्याम वर्ण का; श्रोणि—कमर के निचे वाला भाग; अधि—अतिरिक्त; रोचिष्णु—सुहावना; दुकूल—वस्त्र; स्वर्ण—सुनहली; मेखलम्—करधनी; सम—समान; चारु—सुन्दर; अङ्घ्रि—चरणकमल; जङ्घ—पिंडली; ऊरु—जाँघें; निम्न—निचली; जानु—घुटने; सु-दर्शनम्—सुघड़, दर्शनीय।

भगवान् की कटि का अधोभाग श्यामल रंग का है और पीताम्बर से ढका है। उसमें सुनहली, जरीदार करधनी है। उनके एक समान चरणकमल, पिंडलियाँ, जाँघें तथा घुटने अनुपम सुन्दर हैं। निस्सन्देह, भगवान् का सम्पूर्ण शरीर अत्यन्त सुडौल प्रतीत होता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (६.३.२०) में जिन बारह महाजनों का उल्लेख है उनमें शिवजी भी एक हैं। ये हैं—स्वयम्भू, नारद, शम्भु, कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, वैयासकी या शुकदेव गोस्वामी तथा यमराज। शिव की पूजा करने वाले निर्विशेषवादियों को चाहिए कि भगवान् के दिव्य सच्चिदानन्द विग्रह के विषय में जानें। यहाँ पर शिवजी अत्यन्त कृपा करके भगवान् के अंगों का वर्णन कर रहे हैं। अत: निर्विशेषवादियों का यह तर्क कि भगवान् का कोई स्वरूप नहीं होता, किसी

भी दशा में स्वीकार्य नहीं है।

पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा
नखद्युभिर्नोऽन्तरघं विधुन्वता ।
प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं
पदं गुरो मार्गगुरुस्तमोजुषाम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

पदा—चरणकमल द्वारा; शरत्—शरद ऋतु; पद्म—कमल पुष्प; पलाश—दल; रोचिषा—अत्यन्त मनोहर; नख—नाखून; द्युभि:—तेज से; न:—हमारा; अन्त:-अघम्—मल; विधुन्वता—धो सकने वाला; प्रदर्शय—दिखलाइये; स्वीयम्—अपना; अपास्त—घटता हुआ; साध्वसम्—जगत का कष्ट; पदम्—चरणकमल; गुरो—हे गुरु; मार्ग—पथ; गुरु:—गुरु; तम:-जुषाम्—अज्ञान के कारण कष्ट उठाने वाले व्यक्ति।

हे भगवन्, आपके दोनों चरणकमल इतने सुन्दर हैं मानो शरत् ऋतु में उगने वाले कमल पुष्प के खिलते हुए दो दल हों। दरअसल आपके चरणकमलों के नाखूनों से इतना तेज निकलता है कि वह बद्धजीव के हृदय के सारे अंधकार को तुरन्त छिन्न कर देता है। हे स्वामी, मुझे आप अपना वह स्वरूप दिखलायें जो किसी भक्त के हृदय के अन्धकार को नष्ट कर देता है। मेरे भगवन्, आप सबों के परम गुरु हैं, अत: आप जैसे गुरु के द्वारा अज्ञान के अंधकार से आवृत सारे बद्धजीव प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : शिवजी ने इस प्रकार से भगवान् के स्वरूप का प्रामाणिक रूप से वर्णन किया है। अब वे भगवान् के चरणकमलों का दर्शन करना चाहते हैं। जब कोई भक्त भगवान् के दिव्य रूप का दर्शन करना चाहता है, तो वह अपना ध्यान सबसे पहले भगवान् के चरणकमलों पर केन्द्रित करता है। *श्रीमद्भागवत* को भगवान् की दिव्य वाणी माना जाता है और इसके बारह स्कंध भगवान् के दिव्य रूप के अनुसार विभाजित हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम दो स्कंध भागवत के चरण हैं, अत: शिवजी ने सुझाया है कि मनुष्य को पहले भगवान् के चरणों का दर्शन करना चाहिए। इसका यह भी अर्थ होता है कि यदि कोई गहन भाव से *श्रीमद्भागवत* पढ़ना चाहता है, तो उसे पहले प्रथम तथा द्वितीय स्कंध पढ़ने चाहिए।

भगवान् के चरणकमलों की सुन्दरता की उपमा शरदकालीन कमलदलों से दी गई है। प्रकृति का नियम है कि शरत् ऋतु में नदियों तथा सरोवरों का गंदा जल निर्मल हो जाता है। उस समय उनमें खिलने वाले कमल अत्यन्त चमकीले तथा सुन्दर लगते हैं। कमल पुष्प की तुलना भगवान् के चरणों से

की गई है और कमलदलों की तुलना भगवान् के पाँव के नाखूनों से। भगवान् के चरणों के नाखून अत्यन्त चमकीले हैं जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* द्वारा होती है—*आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वल-विग्रहस्य*— भगवान् के दिव्य शरीर का अंग-प्रत्यंग *आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वल* हैं। इस तरह प्रत्येक अंग निरन्तर उज्ज्वल रहता है। जिस प्रकार धूप से संसार का अंधकार भाग जाता है, उसी तरह भगवान् के शरीर का तेज बद्धजीव के अन्त:करण के अंधकार को दूर कर देता है। दूसरे शब्दों में, जो कोई भी दिव्य विज्ञान को समझना चाहता है तथा भगवान् के दिव्य शरीर का दर्शन करना चाहता है उसे चाहिए कि वह पहले *श्रीमद्भागवत* के प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धों को पढ़कर भगवान् के चरणकमलों का दर्शन प्राप्त करने का यत्न करे। भगवान् के चरणकमलों का दर्शन होने से अन्त:करण से सभी प्रकार के सन्देह तथा भय दूर हो जाते हैं।

भगवद्गीता (१६.१) में कहा गया है कि आत्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को निर्भय होना चाहिए। *अभयं सत्त्वसंशुद्धि:।* भय तो भौतिकता में निमग्न होने का प्रतिफल है। *श्रीमद्भागवत* (११.२.३७) में यह भी कहा गया है—*भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात्*—भय तो देहात्मबुद्धि से उपजता है। जब तक मनुष्य सोचता रहता है कि वह शरीर है तब तक वह डरता है और ज्योंही वह इस भौतिक बोध से मुक्त हो जाता है, तो वह तुरन्त *ब्रह्मभूत* अर्थात् स्वरूपसिद्ध होकर निर्भय हो जाता है। *ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा* (*भगवद्गीता* १८.५४)। निर्भय हुए बिना प्रसन्न नहीं रहा जा सकता। भक्त सदैव निर्भय तथा प्रसन्नमुख रहते हैं, क्योंकि वे निरन्तर भगवान् के चरणकमलों की सेवा में लगे रहते हैं। कहा भी गया है (*भागवत* १.२.२०)—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगत:।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

भगवद्भक्ति योग के अभ्यास से मनुष्य निर्भय तथा प्रसन्न रहता है। जब तक मनुष्य निर्भय तथा प्रसन्न नहीं रहता, वह भगवद् विज्ञान को समझ नहीं पाता। *भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते।* यह श्लोक उनके लिए है, जो इस संसार के भय से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुके हैं। इस प्रकार मुक्त होकर ही भगवान् के दिव्य रूप को समझा जा सकता है। अत: शिवजी सबों को भगवद् भक्तियोग का अभ्यास करने का उपदेश देते हैं। अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा कि ऐसा करने से सचमुच मुक्त हुआ जा

सकता है और आध्यात्मिक आनन्द उठाया जा सकता है।

कहा भी गया है—

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

भगवान् परम गुरु हैं और परमेश्वर का प्रामाणिक प्रतिनिधि भी गुरु होता है। भगवान् अपने चरणकमलों के नाखूनों के तेज से भक्त को भीतर से प्रकाशित करते हैं और उनका प्रतिनिधि गुरु बाहर से करता है। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने तथा सदा गुरु का उपदेश ग्रहण करने से ही आध्यात्मिक जीवन में प्रगति तथा वैदिक ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

इस प्रकार वेदों (*श्वेताश्वर उपनिषद्* ६.२३) का मत है कि भगवान् के चरणकमलों में तथा गुरु में अटल श्रद्धा होने पर ही वास्तविक वैदिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् ।
यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; रूपम्—रूप; अनुध्येयम्—ध्यान करना चाहिए; आत्म—स्व; शुद्धिम्—शुद्धि; अभीप्सताम्—इच्छा रखने वालों का; यत्—जो; भक्ति-योगः—भक्ति; अभय-दः—निर्भय कराने वाली; स्व-धर्मम्—अपने वृत्तिपरक कार्यों को; अनुतिष्ठताम्—करने में।

हे भगवन्, जो लोग अपने जीवन को परिशुद्ध बनाना चाहते हैं, उन्हें उपर्युक्त विधि से आपके चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए। जो अपने वर्ण के अनुरूप कार्य को पूरा करने की धुन में हैं और जो भय से मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें भक्तियोग की इस विधि का अनुसरण करना चाहिए।

तात्पर्य : कहा गया है कि भगवान् का दिव्य नाम, स्वरूप, लीलाएँ तथा उनके संगीजनों को कोरी इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता; अतः इन इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए भक्ति करनी होती है, जिससे भगवान् के दर्शन हो सकें। किन्तु यहाँ पर यह बताया गया है कि जो भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करते हैं उनकी इन्द्रियाँ भौतिक कल्मषों से पवित्र हो जाती हैं और वे भगवान् का

प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। इस युग में सामान्य लोगों के बीच "ध्यान" शब्द अत्यन्त लोकप्रिय है, किन्तु वे इसके वास्तविक अर्थ को नहीं समझते। किन्तु वैदिक साहित्य से पता चलता है कि योगीजन भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करते हैं। *ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:* (भागवत १२.१३.१)। योगियों का यही वास्तविक कार्य है; भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना। अत: शिवजी उपदेश देते हैं कि जो वास्तव में परिशुद्ध होना चाहते हैं, उन्हें इस प्रकार के ध्यान में या योग में लगना चाहिए जिससे न केवल अन्त:करण में भगवान् का निरन्तर दर्शन किया जा सकता है वरन् साक्षात् उनका दर्शन हो सकता है और वैकुण्ठलोक या गोलोक वृन्दावन में उनका पार्षद बना जा सकता है।

स्वधर्मम् (यथा *स्वधर्मम् अनुतिष्ठताम्* में) शब्द सूचित करता है कि यदि जीवन में सचमुच सुरक्षा चाहिए तो –वर्णाश्रम धर्म जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के वृत्तिपरक कार्यों का द्योतक है और जो मानवता के लिए उपयुक्त व्यवस्था है–के साथ-साथ भक्तियोग ग्रहण करना चाहिए। सामान्यत: लोग सोचते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्मों को करने या कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी का कर्तव्य पूरा कर लेने से ही वे निर्भय हो जाते हैं या उन्हें निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त हो जाता है, किन्तु वस्तुत: जब तक इन सारे कर्मों को भक्तियोग के साथ-साथ सम्पन्न नहीं किया जाता तब तक कोई निर्भय नहीं हो सकता। *भगवद्गीता* में कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि के वर्णन मिलते हैं, किन्तु जब तक भक्तियोग तक नहीं पहुँचा जाता, अन्य सारे योग जीवनसिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। दूसरे शब्दों में, भक्तियोग ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। *चैतन्य-चरितामृत* में भी भगवान् चैतन्य तथा रामानन्द राय के मध्य इस जगत से मोक्ष प्राप्त करने के सम्बन्ध में जो वार्ता है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उस वार्ता में रामानन्द राय ने वर्णाश्रम धर्म के पालन का प्रसंग उठाया तो भगवान् चैतन्य ने इंगित किया कि वर्णाश्रम धर्म केवल बाह्य है (*एहो बाह्य*), अकेले वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों के पालन से मोक्ष की कोई गारंटी नहीं है। अन्त में रामानन्द राय ने भक्तियोग का उल्लेख किया—*स्थाने स्थिता: श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि:* (*भागवत* १०.१४.३)। मनुष्य चाहे जिस अवस्था में रहे, यदि वह भक्तियोग करता है, जिसका शुभारम्भ भक्तों के मुख से भगवान् के दिव्य सन्देश को सुनने (*श्रुतिगताम्*) से होता है, तो वह क्रमश: अजेय ईश्वर को जीत

लेता है।

ईश्वर को अजेय माना जाता है, किन्तु जो व्यक्ति स्वरूपसिद्ध पुरुषों की वाणी को विनयपूर्वक सुनता है, वह अजेय को जीत लेता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मनुष्य को केवल वर्णाश्रम धर्म का ही पालन नहीं करना चाहिए, अपितु किसी स्वरुपसिद्ध पुरुष से सुनना आरम्भ करके भक्तियोग में भी लगना चाहिए। इस विधि से भक्त अजेय भगवान् को जीत सकेगा और इस भौतिक शरीर को त्यागने के बाद उनका पार्षद बनेगा।

भवान्भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम् ।
स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्गतिः ॥५४॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; भक्ति-मता—भक्त द्वारा; लभ्यः—प्राप्य; दुर्लभः—प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन; सर्व-देहिनाम्—अन्य समस्त देहधारियों (जीवात्माओं) का; स्वाराज्यस्य—स्वर्ग के राजा का; अपि—भी; अभिमतः—अन्तिम लक्ष्य; एकान्तेन—तादात्म्य के द्वारा; आत्म-वित्—स्वरूपसिद्ध का; गतिः—गन्तव्य।

हे भगवन्, स्वर्ग का राजा इन्द्र भी जीवन के परम लक्ष्य—भक्ति—को प्राप्त करने का इच्छुक रहता है। इसी प्रकार जो अपने को आपसे अभिन्न मानते हैं (*अहं ब्रह्मास्मि*), उनके भी एकमात्र लक्ष्य आप ही हैं। किन्तु आपको प्राप्त कर पाना उनके लिए अत्यन्त कठिन है जब कि भक्त सरलता से आपको पा सकता है।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में आया है— *वेदेषु दुर्लभमदुर्लमात्मभक्तौ।* इससे सूचित होता है कि वैदिक साहित्य या वेदान्त दर्शन के अध्ययन-मात्र से जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर पाना और परम गंतव्य वैकुण्ठ लोक या गोलोक वृन्दावन तक पहुंच पाना कठिन है, किन्तु भक्तों को यह सर्वोच्च सिद्धि अवस्था सहज ही प्राप्य है। *ब्रह्म-संहिता* की उक्त पद का यही अर्थ है। शिवजी ने भी इस श्लोक में यही बात कही है। कर्मयोगियों, ज्ञान योगियों और ध्यान योगियों के लिए भगवान् को पाना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जो भक्तियोगी हैं उनके लिए यह रंच मात्र भी दुष्कर नहीं है। *स्वाराज्यस्य* शब्द में *स्वर* से स्वर्गलोक और *स्वाराज्य* से स्वर्गलोक के राजा इन्द्र का बोध होता है। सामान्यतः सभी कर्मी स्वर्ग जाना चाहते हैं, किन्तु स्वयं स्वर्ग का राजा इन्द्र चाहता है कि वह भक्तियोग में निष्णात बने। जो लोग अपने आपको *अहं ब्रह्मास्मि* कहते हैं, वे भी वैकुण्ठलोक या गोलोक वृन्दावन पहुँच कर पूर्ण मोक्ष चाहते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है।—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत: ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

''भगवान् को यथारूप में केवल भक्ति द्वारा ही जाना जा सकता है और जब मनुष्य ऐसी भक्ति से भगवान् की पूर्ण चेतना में स्थित होता है, तो वह ईश्वर के धाम में प्रवेश कर सकता है।''

अत: स्वर्ग में जाने के इच्छुक व्यक्ति को भक्तियोग के द्वारा भगवान् को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। मात्र भक्तियोग के अभ्यास से मनुष्य भगवान् को वास्तव में समझ सकता है किन्तु भक्तियोग समझे बगैर मनुष्य दिव्य लोक में प्रवेश नहीं कर सकता। कोई भले ही स्वर्गलोक को प्राप्त हो ले या अपने को ब्रह्म समझ ले (*अहं ब्रह्मास्मि*), किन्तु यह साक्षात्कार की इति नहीं है। मनुष्य को पहले भक्तियोग द्वारा भगवान् की स्थिति को समझना चाहिए, तभी उसे जीवन की वास्तविक सिद्धि प्राप्त हो सकेगी।

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया ।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहि: ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (तुमको); दुराराध्यम्—पूजा करना अत्यन्त कठिन; आराध्य—पूजा करके; सताम् अपि—सत्पुरुषों के लिए भी; दुरापया—प्राप्त कर पाना दुष्कर; एकान्त—शुद्ध; भक्त्या—भक्ति से; क:—ऐसा कौन है; वाञ्छेत्—चाहेगा; पाद-मूलम्—चरणकमल; विना—रहित; बहि:—बाहरी लोग।

हे भगवन्, शुद्ध भक्ति कर पाना तो मुक्त पुरुषों के लिए भी कठिन है, किन्तु आप हैं कि एकमात्र भक्ति से ही प्रसन्न हो जाते हैं। अत: जीवन-सिद्धि का इच्छुक ऐसा कौन पुरुष होगा जो आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियों को अपनाएगा?

तात्पर्य : *सताम्* शब्द अध्यात्मवादियों के लिए आया है। अध्यात्मवादी तीन प्रकार के होते हैं—*ज्ञानी, योगी* तथा *भक्त*। इन तीनों में से भगवान् के पास पहुँचने वाला सर्वाधिक उपयुक्त प्रतिभागी केवल भक्त है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि जो भक्ति नहीं करते, वे भगवान् के चरणकमलों की खोज नहीं करते हैं। कभी कभी मुर्ख लोग यह मानते हैं कि ईश्वर किसी भी तरह से—*कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग* से—प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु यहाँ पर यह अभिमत स्पष्ट रूप से व्यक्त है कि केवल *भक्तियोग* से ही भगवत्कृपा प्राप्त हो सकती है। यहाँ पर *दुराराध्य* शब्द विशेष प्रयोजनीय है। भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी विधि से भगवान् के चरणकमल प्राप्त करना

दुष्कर है।

यत्र निर्विष्टमरणं कृतान्तो नाभिमन्यते ।
विश्वं विध्वंसयन्वीर्यशौर्यविस्फूर्जितभ्रुवा ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—**जहाँ**; **निर्विष्टम् अरणम्**—**शरणागत प्राणी**; **कृत-अन्तः**—**दुर्दम्य काल**; **न अभिमन्यते**—**आक्रमण नहीं करता**; **विश्वम्**—**समूचा ब्रह्माण्ड**; **विध्वंसयन्**—**संहार द्वारा**; **वीर्य**—**पराक्रम**; **शौर्य**—**प्रभाव**; **विस्फूर्जित**—**मात्र विस्तार से**; **भ्रुवा**—**भौंहों के**।

उनके भृकुटि-विस्तार-मात्र से जो दुर्जेय काल तत्क्षण सारे ब्रह्माण्ड का संहार कर सकता है, वही दुर्जेय काल आपको चरणकमलों की शरण में गये भक्त के निकट तक नहीं पहुँच पाता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहा गया है कि मृत्युरूप में भगवान् मनुष्य के सारे वैभव को ध्वस्त कर देते हैं। *मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—"मैं सबों को निगलने वाला काल हूँ।" भगवान् मृत्यु के रूप में बद्धजीव द्वारा बनाई गई सारी वस्तुएँ छीन लेते हैं। इस संसार में प्रत्येक वस्तु काल के साथ विनष्ट होती रहती है। किन्तु काल अपनी सारी शक्ति के होते हुए भी भक्त के कार्यों में अवरोध उत्पन्न नहीं कर पाता, क्योंकि भक्त को भगवान् के चरणकमलों का पूर्ण आश्रय जो प्राप्त है। इसी कारण भक्त दुर्जेय काल से मुक्त है। जिन कर्मियों तथा ज्ञानियों का भक्ति से कोई वास्ता नहीं है उनके सारे कार्य कलाप काल के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। कर्मियों की भौतिक उन्नति को विनष्ट होना ही है, इसी प्रकार ज्ञानियों द्वारा निर्गुण साक्षात्कार भी समय के साथ विनष्ट हो जाता है।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः

पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।

(*भागवत* १०.२.३२)

कर्मियों की तो छोड़िये, ज्ञानी तो निर्गुण ब्रह्मज्योति प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु उन्हें भगवान् के चरणकमल प्राप्त नहीं होते, वे पुनः इस संसार में आ गिरते हैं। जब तक कोई शुद्ध भक्ति में स्थित न हो तब तक मोक्ष की कोई गारंटी नहीं रहती, भले ही उसे स्वर्गलोक या निर्गुण ब्रह्मज्योति ही क्यों न प्राप्त हो। किन्तु भक्त की उपलब्धि काल के प्रभाव से नष्ट नहीं होती। यदि भक्त ठीक से भक्ति नहीं भी कर पाता तो वह अगले जन्म में फिर वहीं से साधना प्रारम्भ करता है जहाँ से

छूट गई थी। किन्तु कर्मियों तथा ज्ञानियों को ऐसी सुविधा प्राप्त नहीं है, क्योंकि उनकी उपलब्धियाँ विनष्ट हो जाती हैं। भक्त की उपलब्धि कभी नष्ट नहीं होती, वह निरन्तर बनी रहती है, चाहे पूरी हो या अधूरी। यही वैदिक शास्त्रों का मत है। *शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।* यदि मनुष्य भक्तियोग को पूरा नहीं कर पाता तो उसे अगले जीवन में शुद्ध भक्त के परिवार में या धनी परिवार में जन्म लेकर उसे पूरा करने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे परिवारों में उसे भक्ति में और आगे प्रगति करने का अच्छा अवसर मिल पाता है।

मृत्यु का अधीक्षक यमराज जब अपने गणों को आदेश दे रहा था, तो उसने उन्हें भक्तों के पास न जाने को कह दिया। उसका कहना था, ''भक्तों का सम्मान करो, किन्तु उनके निकट मत जाओ।'' इस प्रकार भगवद्भक्त यमराज के अधिकार क्षेत्र में नहीं आते। यमराज भगवान् का प्रतिनिधि है और वह प्रत्येक जीव की मृत्यु को नियंत्रित करता है, तो भी उसे भक्तों से कुछ लेना-देना नहीं होता। वह काल जो पलक मारने की अवधि में समग्र दृश्य जगत का संहार कर सकता है, किन्तु उसे भक्तों से कोई सरोकार नहीं रहता। दूसरे शब्दों में, भक्त अपने जीवन-काल में जितनी भक्ति करता है, वह काल द्वारा नष्ट नहीं हो सकता। काल के प्रभाव से परे होने के कारण यह आध्यात्मिक सम्पत्ति सनातन बनी रहती है।

क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥५७॥

शब्दार्थ

क्षण-अर्धेन—आधा क्षण; **अपि**—भी; **तुलये**—तुलना कर सकता; **न**—कभी नहीं; **स्वर्गम्**—स्वर्गलोक; **न**—न तो; **अपुनः-भवम्**—ब्रह्म से तादात्म्य; **भगवत्**—भगवान् के; **सङ्गि**—संगी; **सङ्गस्य**—संग का लाभ उठाने वाला; **मर्त्यानाम्**—बद्धजीव का; **किम् उत**—वहाँ क्या है; **आशिषः**—आशीर्वाद।

संयोग से भी यदि कोई क्षण भर के लिए भक्त की संगति पा जाता है, तो उसे कर्म और ज्ञान के फलों का तनिक भी आकर्षण नहीं रह जाता। तब उन देवताओं के वरदानों में उसके लिए रखा ही क्या है, जो जीवन और मृत्यु के नियमों के अधीन हैं?

तात्पर्य : यहाँ कर्मियों, ज्ञानियों तथा भक्तों में से भक्त को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती का गीत है—*कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाशपुष्पायते* (चैतन्य-चन्द्रामृत)। *कैवल्य* का अर्थ है भगवान् के तेज में लीन होना तथा *त्रिदशपूर देवताओं* के निवासस्थान स्वर्गलोक

का द्योतक है। इस प्रकार भक्त के लिए *कैवल्य-सुख* नरक के समान है, क्योंकि भक्त अपने व्यक्तित्व को खोकर ब्रह्मतेज में मिलने को आत्मघात मानता है। भक्त सदैव अपने व्यक्तित्व को बनाये रखना चाहता है, जिससे वह भगवान् की सेवा कर सके। दरअसल, वह स्वर्ग जाने को मायाजाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानता। भक्त के लिए क्षणिक सुख कोई अर्थ नहीं रखता। वह इतने उच्च पद पर रहता है कि उसे कर्म या ज्ञान के कर्मों में कोई रुचि नहीं रहती। आध्यात्मिक पद पर स्थित भक्त के लिए कर्म या ज्ञान के फल भी तुच्छ हैं। भक्तियोग ही भक्त को सारा सुख प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) में कहा गया है—*ययात्मा सुप्रसीदति।* मनुष्य केवल भक्ति से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट रह सकता है और यह भक्त की संगति से सम्भव है। शुद्ध भक्त से आशीर्वाद पाये बिना कोई न तो पूर्ण तुष्ट हो सकता है, न भगवान् की दिव्य स्थिति को ही समझ सकता है।

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयो-
रन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां
स्यात्सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; अनघ-अङ्घ्रेः—भगवान् के, जिनके चरण समस्त पापों को नष्ट करने वाले हैं; तव—तुम्हारी (आपकी); कीर्ति—कीर्ति महिमा; तीर्थयोः—पवित्र गंगा जल; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; स्नान—स्नान करना; विधूत—धोया हुआ; पाप्मनाम्—मन की दूषित अवस्था; भूतेषु—सामान्य जीवों को; अनुक्रोश—कृपा या वर; सु-सत्त्व—पूर्णतया सतोगुण में; शीलिनाम्—ऐसे गुणों वालों का; स्यात्—हो; सङ्गमः—साथ, समागम; अनुग्रहः—कृपा; एषः—यह; नः—हमको; तव—तुम्हारी (आपकी)।

हे भगवन्, आपके चरणकमल समस्त कल्याण के कारण हैं और समस्त पापों के कल्मष को विनष्ट करने वाले हैं। अतः मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप मुझे अपने भक्तों की संगति का आशीर्वाद दें, क्योंकि आपके चरणकमलों की पूजा करने से वे पूर्णतया शुद्ध हो चुके हैं और बद्धजीवों पर अत्यन्त कृपालु हैं। मेरी समझ में तो आपका असली आशीर्वाद यही होगा कि आप मुझे ऐसे भक्तों की संगति करने की अनुमति दें।

तात्पर्य : गंगा-जल सभी प्रकार के पापों के फलों का निवारण करने वाला माना जाता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति गंगा में स्नान करता है, तो उसके जीवन-भर के कल्मष धुल जाते हैं। गंगाजल की ऐसी महिमा का कारण यह है कि गंगाजी भगवान् के चरणकमलों से निकलती हैं। इसी प्रकार जो

प्रत्यक्ष भगवान् के चरणकमल के सम्पर्क में रहते हैं और जो उनके गुणों का गायन करते हैं, वे सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे शुद्ध भक्त ही सामान्य बद्धजीवों पर अनुग्रह कर सकते हैं। श्रील वृन्दावन दास ठाकुर का गीत है कि भगवान् चैतन्य के भक्त इतने शक्तिशाली हैं कि उनमें से प्रत्येक भक्त एक ब्रह्माण्ड को बन्धन से मुक्ति दिला सकता है। दूसरे शब्दों में, भक्तों का कार्य है कि वे भगवान् की महिमा का उपेदश करें और सभी बद्धजीवों को शुद्ध सत्त्व पद तक पहुँचाएँ। यहाँ पर *सु-सत्त्व* शब्द का अर्थ शुद्ध सत्त्व है, जो भौतिक सत्त्व से आगे की दिव्य अवस्था है। शिवजी अपनी विशिष्ट स्तुति के द्वारा हमें यह शिक्षा देते हैं कि सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भगवान् विष्णु तथा उनके वैष्णव भक्तों की शरण में जाया जाये।

न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं
तमोगुहायां च विशुद्धमाविशत् ।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा
मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; चित्तम्—हृदय; बहिः—बाहरी; अर्थ—रुचि; विभ्रमम्—मोहित; तमः—अंधकार; गुहायाम्—कूप (गुफा) में; च—भी; विशुद्धम्—शुद्ध; आविशत्—प्रवेश किया; यत्—जो; भक्ति-योग—भक्ति; अनुगृहीतम्—कृपा प्राप्त; अञ्जसा—प्रसन्नतापूर्वक; मुनिः—विचारवान; विचष्टे—देखता है; ननु—फिर भी; तत्र—वहाँ; ते—तुम्हारे; गतिम्—कार्यकलाप।

जिसका हृदय भक्तियोग से पूर्ण रूप से पवित्र हो चुका हो तथा जिस पर भक्ति देवी की कृपा हो, ऐसा भक्त कभी भी अंधकूप सदृश माया द्वारा मोहग्रस्त नहीं होता। इस प्रकार समस्त भौतिक कल्मष से रहित होकर ऐसा भक्त आपके नाम, यश, स्वरूप, कार्य इत्यादि को अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक समझ सकता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२५) में कहा गया है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

शुद्ध भक्तों की संगति-मात्र से भगवान् के दिव्य नाम, यश, गुण तथा कार्य समझ में आ जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने बारम्बार कहा है—

'साधु-संग' 'साधु-संग'—सर्व शास्त्रे कय।

लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

(*चैतन्य-चरितामृत मध्य* २२.५४)

केवल शुद्ध भक्त की संगति करने से ही मनुष्य कृष्णचेतना में आश्चर्यजनक रूप से अग्रसर होता है। *साधु-संग* का अर्थ है हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करते हुए कृष्णचेतना (भक्ति) में लगे रहना और कृष्ण के लिए ही कार्य करना। हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन से मनुष्य शुद्ध हो जाता है, इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस कीर्तन पर बल दिया है। *चेतो-दर्पण-मार्जनम्*—श्रीकृष्ण के नाम-जप से हृदय रूपी दर्पण स्वच्छ हो जाता है और भक्त को बाह्य बातों में अरुचि होने लगती है। जब मनुष्य भगवान् की माया के वश में रहता है, तो हृदय अशुद्ध रहता है; और जब हृदय शुद्ध नहीं रहता तो उसे यह नहीं दिखता कि वस्तुएँ भगवान् से किस प्रकार सम्बन्धित हैं। *इदं हि विश्वं भगवानिवेतर:* (*भागवत* १.५.२०)। जिसका हृदय शुद्ध है उसके लिए यह सारा दृश्य जगत भगवान् के अतिरिक्त कुछ नहीं है, किन्तु जिसका हृदय दूषित होता है उसे वस्तुएँ दूसरी तरह से दिखती हैं। अत: सत्संग से ही मनुष्य का हृदय पूरी तरह से शुद्ध हो सकता है।

जिसका हृदय शुद्ध होता है, वह कभी भी माया द्वारा आकृष्ट नहीं होता, क्योंकि माया प्रत्येक जीव को प्रकृति पर अधिकार जताने के लिए आकर्षित करती है। जब भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि के द्वारा भक्ति करता रहता है, तो उसका शुद्ध हृदय विचलित नहीं होता। भक्ति करने की कुल नौ विधियाँ हैं। शुद्ध मानस वाला भक्त कभी भी विचलित नहीं होता। भक्तियोग में महामंत्र का जप करते हुए दस अपराधों से तथा श्रीविग्रह की पूजा करते हुए चौंसठ अपराधों से बचना चाहिए। जब भक्त इन समस्त विधि-विधानों का पालन करता है, तो भक्तिदेवी उस पर परम प्रसन्न होती हैं और तब वह किसी बाहरी वस्तु से विचलित नहीं होता। भक्त को मुनि भी कहते हैं। मुनि का अर्थ है "विचारवान।" भक्त उतना ही विचारवान होता है जितना कि एक अभक्त कल्पनाशील। अभक्त की कल्पना अशुद्ध रहती है, किन्तु भक्त के विचार शुद्ध होते हैं। कपिल तथा शुकदेव गोस्वामी भी मुनि कहलाते हैं, किन्तु व्यासदेव को महामुनि कहा जाता है। भक्त को तभी मुनि कहते हैं जब वह भगवान् को शुद्धतापूर्वक समझ सके। निष्कर्ष यह निकला कि जब मनुष्य का हृदय भक्तों के सत्संग से तथा भगवान् के कीर्तन तथा पूजा करते समय अपराधों से बचने से शुद्ध हो जाता है, तो भगवान् अपना दिव्य नाम, रूप तथा कार्यकलाप

प्रकट करते हैं।

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत् ।
तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; इदम्—यह; व्यज्यते—प्रकट है; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; विश्वस्मिन्—दृश्य जगत में; अवभाति—प्रकट होता है; यत्—जो; तत्—वह; त्वम्—तुम (आप); ब्रह्म—निर्गुण ब्रह्म; परम्—दिव्य; ज्योतिः—तेज; आकाशम्—अकाश; इव—सदृश; विस्तृतम्—फैला हुआ।

हे भगवन्, निर्गुण ब्रह्म सूर्य के प्रकाश अथवा आकाश की भाँति सर्वत्र फैला हुआ है। और जो सारे ब्रह्माण्ड भर में फैला है तथा जिसमें सारा ब्रह्माण्ड दिखाई देता है, वह निर्गुण ब्रह्म आप ही हैं।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सारा दृश्य जगत ब्रह्मज्योति पर आश्रित है। किन्तु निर्विशेषवादी यह नहीं समझ पाते कि इतना विशाल दृश्य जगत एक व्यक्ति पर किस प्रकार से टिका है। इस प्रकार भगवान् की यह अकल्पनीय शक्ति उनकी समझ में नहीं आती; इसीलिए वे चकित रहते हैं और परमेश्वर को व्यक्ति रूप में सदा ही अस्वीकार करते रहते हैं। इस भ्रम को शिवजी स्वयं यह कर दूर करते हैं कि सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त निर्गुण ब्रह्म भगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् अपने ब्रह्म स्वरूप के कारण धूप के समान सर्वव्यापी हैं। यह उदाहरण समझ पाना अत्यन्त सरल है। सारे लोक सूर्य के प्रकाश (धूप) पर टिके हैं, तो भी धूप तथा धूप का स्रोत (सूर्य) इन लोकों से पृथक् हैं। इसी प्रकार आकाश या वायु भी सर्वत्र फैले हैं। वायु घट के भीतर भी है और गन्दे तथा पवित्र स्थानों का भी एक जैसा स्पर्श करती है। किन्तु प्रत्येक दशा में आकाश अदूषित रहता है। इसी प्रकार धूप भी अपवित्र तथा पवित्र स्थानों का स्पर्श करती है और यद्यपि ये दोनों सूर्य द्वारा ही उत्पन्न हैं, किन्तु प्रत्येक दशा में सूर्य समस्त गन्दी वस्तुओं से पृथक् रहता है। इसी प्रकार भगवान् सर्वत्र स्थित हैं। इस जगत में पवित्र तथा अपवित्र दोनों प्रकार की वस्तुएँ हैं, किन्तु शास्त्रों के अनुसार पवित्र वस्तुएँ भगवान् के सामने का भाग तथा अपवित्र वस्तुएँ भगवान् का पिछला भाग बताई गई हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

''मेरे अव्यक्त रूप द्वारा यह सारा ब्रह्माण्ड व्याप्त है। सारे जीव मुझमें स्थित हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।''

भगवद्गीता का यह श्लोक बताता है कि भगवान् अपने ब्रह्म स्वरूप के कारण सर्वत्र व्याप्त हैं। प्रत्येक वस्तु उन पर टिकी है, किन्तु वे उसमें नहीं रहते। इससे निष्कर्ष यह निकला कि बिना भक्तियोग के निर्विशेषवादी भी ब्रह्मतत्त्व को नहीं समझ सकते। वेदान्त सूत्र का कथन है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।* इसका अर्थ है कि हमें ब्रह्म, परमात्मा या परब्रह्म को समझना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* में भी परम सत्य को अद्वितीय बताया गया है, किन्तु उनका बोध तीन रूपों में किया जाता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान्। भगवान् ही अन्तिम सत्य हैं और इस श्लोक में शिवजी पुष्टि करते हैं कि परम सत्य व्यक्ति हैं। वे स्पष्ट कहते हैं—*तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम्।* यहाँ एक सामान्य उदाहरण दिया जा रहा है—एक सफल व्यापारी के कई फैक्टरियाँ तथा आफिस हैं और उसके आदेश से सारे कार्य चलते हैं। यदि कोई यह कहे कि सारा व्यापार अमुक व्यक्ति पर निर्भर है, तो उसके कहने का प्रयोजन यह नहीं है कि सारी फैक्टरियाँ तथा आफिस उस व्यक्ति के सर पर टिके हैं। अपितु इसका अर्थ यह है कि वह अपने मस्तिष्क से या अपनी शक्ति के विस्तार द्वारा अबाध रूप से अपना व्यापार चला रहा है। इसी प्रकार भगवान् की बुद्धि तथा शक्ति से भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत का कार्य चल रहा है। यहाँ पर अद्वैतवाद का जो सिद्धान्त बताया गया है, वह इस तथ्य से मेल खाता है कि समस्त शक्ति के परम स्रोत भगवान् कृष्ण हैं। इसका स्पष्ट वर्णन हुआ है। यह भी बताया गया है कि श्रीकृष्ण के निर्गुण स्वरूप को कैसे जाना जा सकता है—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

''हे कुन्तीपुत्र! मैं जल का स्वाद हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश हूँ; वैदिक मंत्रों में ॐ अक्षर हूँ, मैं आकाश में शब्द और मनुष्य में पौरुष हूँ।'' (*भगवद्गीता* ७.८)

इस प्रकार कृष्ण को प्रत्येक वस्तु की योग शक्ति माना जा सकता है।

यो माययेदं पुरुरूपयासृजद्

बिभर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः ।
यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया
त्वमात्मतन्त्रं भगवन्प्रतीमहि ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; मायया—माया से; इदम्—यह; पुरु—अनेक; रूपया—रूपों के द्वारा; असृजत्—उत्पन्न किया; बिभर्ति—पालन करता है; भूयः—पुनः; क्षपयति—संहार करता है; अविक्रियः—बिना किसी परिवर्तन के; यत्—जो; भेद-बुद्धिः—अन्तर करने की बुद्धि; सत्—शाश्वत; इव—सदृश; आत्म-दुःस्थया—अपने आपको कष्ट देते हुए; त्वम्—तुमको; आत्म-तन्त्रम्—पूर्णतया स्वतंत्र; भगवन्—हे भगवन्; प्रतीमहि—मैं समझता हूँ।

हे भगवन्, आपकी शक्तियाँ अनेक हैं और वे नाना रूपों में प्रकट होती हैं। आपने ऐसी ही शक्तियों से इस दृश्य जगत की उत्पत्ति की है और यद्यपि आप इसका पालन इस प्रकार करते हैं मानो यह चिरस्थायी हो, किन्तु अन्त में आप इसका संहार कर देते हैं। यद्यपि आप कभी-भी ऐसे परिवर्तनों द्वारा विचलित नहीं होते, किन्तु जीवात्माएँ इनसे विचलित होती रहती हैं, इसलिए वे इस दृश्य जगत को आपसे भिन्न अथवा पृथक् मानती हैं। हे भगवन्, आप सर्वदा स्वतंत्र हैं और मैं तो इसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि श्रीकृष्ण की अनेक शक्तियाँ हैं, जिन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है—बहिरंगा शक्ति, अन्तरंगा शक्ति तथा तटस्था शक्ति। दृश्य जगत भी भिन्न-भिन्न हैं—यथा आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) तथा भौतिक जगत। इसी प्रकार जीवात्माएँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं—कुछ बद्ध हैं और कुछ नित्य मुक्त। नित्यमुक्त जीवात्माएँ कभी-भी माया के सम्पर्क में नहीं आतीं। किन्तु इस जगत में कुछ जीवात्माएँ बद्ध होती हैं और वे अपने को परमेश्वर से विलग मानती हैं। माया के सम्पर्क में रहने से इनका अस्तित्व सदा संकट में रहता है। सदैव संकट में रहने के कारण बद्धजीव माया को अत्यन्त कष्टप्रद समझता है। एक वैष्णव कवि ने इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है—

कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख।

अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

जब जीवात्मा परमात्मा को भूल जाता है और परमात्मा की नकल करते हुए स्वतंत्र रूप से भोग करना चाहता है, तो वह अपने को मिथ्या ही भोक्ता मान बैठता है और परमात्मा से विलग हो जाता है। अतः माया पराशक्ति जीवात्मा के लिए अत्यन्त कष्टप्रद है, किन्तु परमात्मा के लिए रंचमात्र भी नहीं। परमात्मा के लिए माया तथा पराशक्ति एकसमान हैं। इस श्लोक में शिवजी बताते हैं कि माया

कभी भी भगवान् के लिए कष्टप्रद नहीं होती। वे परम स्वतंत्र हैं, किन्तु जीवात्मा के स्वतंत्र न होने से माया कष्टप्रद है। फलत: अपरा शक्ति भेद उत्पन्न करती है।

किन्तु मायावादी विचारक इसे नहीं समझ सकते, इसलिए वे माया से मुक्ति चाहते हैं। किन्तु वैष्णव चिन्तक भगवान् को भलीभाँति समझता है, अत: माया में उसे किसी प्रकार का उपद्रव नहीं दिखता। इसका कारण यही है कि वह भगवान् की सेवा में माया का उपयोग करना जानता है। अपराध विभाग तथा प्रशासन विभाग भले ही नागरिकों की दृष्टि में पृथक्-पृथक् प्रतीत हों, किन्तु सरकार के लिए तो ये दोनों विभाग एक जैसे हैं। अपराध विभाग अपराधियों के लिए कष्टप्रद है, किन्तु आज्ञाकारी नागरिकों के लिए नहीं। इसी प्रकार यह माया भले ही बद्धजीव के लिए कष्टप्रद हो, किन्तु भगवान् की सेवा में लगे हुए मुक्तजीवों से इसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। *पुरुष अवतार* महाविष्णु के माध्यम से भगवान् ने इस समग्र दृश्य जगत की उत्पत्ति की। केवल श्वास से ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति करके वे भगवान् विष्णु के रूप में दृश्य जगत का पालन करते हैं। तब संकर्षण रूप में वे उसका संहार करते हैं। सृष्टि, पालन तथा संहार के बावजूद भगवान् अप्रभावित (निर्लिप्त) बने रहते हैं। भगवान् के ये कार्यकलाप तुच्छ जीवों के लिए भले ही उद्विग्न करने वाले हों, किन्तु अत्यन्त महान् होने के कारण भगवान् पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भेद-बुद्धि द्वारा दृष्टिहीन हुए बिना शिवजी या कोई भी शुद्ध भक्त इसे स्पष्ट देख सकता है। भक्त के लिए भगवान् परमात्मा हैं और चूँकि वे परम शक्तिमान हैं, अत: उनकी शक्तियाँ भी दिव्य होती हैं। भक्त के लिए कुछ भी भौतिक नहीं होता, क्योंकि भौतिक जगत का अर्थ है भगवान् को विस्मृत करना।

क्रियाकलापैरिदमेव योगिन:
श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये ।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

क्रिया—कार्य; कलापैः—विधियों से; इदम्—यह; एव—निश्चय ही; योगिनः—योगीजन; श्रद्धा-अन्विताः—श्रद्धा तथा दृढ़ निश्चय से; साधु—उचित रीति से; यजन्ति—पूजा करते हैं; सिद्धये—सिद्धि के लिए; भूत—भौतिक शक्ति; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अन्तः-करण—हृदय; उपलक्षितम्—के द्वारा लक्षित; वेदे—वेदों में; च—भी; तन्त्रे—शास्त्रों में; च—भी; ते—आप; एव—निश्चय ही; कोविदाः—पटु, मर्मज्ञ।

हे भगवन्, आपका विराट रूप, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार (जो भौतिक हैं) तथा

आपके अंश रूप सर्व नियामक परमात्मा इन सभी पाँच तत्त्वों से बना है। भक्तों के अतिरिक्त अन्य योगी—यथा कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी—अपने-अपने पदों में अपने-अपने कार्यों द्वारा आपकी पूजा करते हैं। वेदों में तथा शास्त्रों में जो वेदों के निष्कर्ष हैं, कहा गया है कि केवल आप ही पूज्य हैं। सभी वेदों का यही अभिमत है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में शिवजी भगवान् के उस रूप का दर्शन करना चाहते थे जिसमें भक्तों की रुचि सदा रहती है। भौतिक जगत में भगवान् के अन्य रूप भी प्रकट होते हैं जिसमें ब्रह्मा तथा अन्य देवता सम्मिलित हैं और भौतिकतावादी लोग इन्हीं की पूजा करते हैं। *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध के तृतीय अध्याय (श्लोक १०) में कहा गया है कि जो लोग भौतिक लाभ चाहते हैं उन्हें विभिन्न देवताओं की पूजा करनी चाहिए। निष्कर्ष रूप में भागवत् की संस्तुति है :-

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

भक्त, ज्ञानी (मोक्षकाम) तथा कर्मी (सर्वकाम) सभी भगवान् विष्णु की पूजा करना चाहते हैं। यज्ञ करते समय, जैसाकि यहाँ कहा गया है (*यज्ञकामै:*), मनुष्य को स्मरण रखना चाहिए कि देवता परमेश्वर के दूत हैं। वास्तव में पूजनीय तो यज्ञेश्वर विष्णु हैं। इस प्रकार भले ही वैदिक तथा तांत्रिक यज्ञों में विभिन्न देवों की पूजा की जाती हो, यज्ञ के वास्तविक लक्ष्य तो भगवान् विष्णु हैं। अत: *भगवद्गीता* (९.२३) में उल्लेख है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता: ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

''हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य जो कुछ भी अन्य देवों को अर्पित करे, वह वास्तव में मेरे लिए ही होता है, किन्तु वह बिना वास्तविक ज्ञान के अर्पित किया गया होता है।''

इस प्रकार विभिन्न देवताओं के उपासक भी भगवान् की ही पूजा करते हैं, किन्तु वे नियामक सिद्धान्तों के विपरीत ऐसा करते हैं। अनुष्ठानों का प्रयोजन भगवान् विष्णु को तुष्ट करना है। *विष्णुपुराण* (३.८.९) में इसी बात की पुष्टि की गई है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम् ॥

यहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख है कि कर्मी, ज्ञानी या योगी—वस्तुत: हर कोई-यदि वह वेदों तथा तंत्रों का वास्तव में मर्मज्ञ होता है, तो वह भगवान् विष्णु को ही पूजता है। *कोविदा:* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह भगवान् के भक्तों का सूचक है। केवल भक्त ही इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं कि भगवान् विष्णु सर्वव्यापी हैं। भौतिक शक्ति (माया) के अन्तर्गत वे पाँच तत्त्वों तथा मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहंकार द्वारा व्यक्त हैं। उन्हें एक अन्य शक्ति—जीव—के द्वारा भी प्रदर्शित किया जाता है और भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत में जितने भी प्राकट्य हैं, वे सब मिलकर भगवान् की विभिन्न शक्तियों को ही प्रदर्शित करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् एक हैं और उनका विस्तार हर वस्तु में होता है। इसे वैदिक सूक्ति—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—से समझा जा सकता है। जो इसे जानता है, वह भगवान् विष्णु की आराधना में ही अपनी समस्त शक्ति को केन्द्रित करता है।

त्वमेक आद्य: पुरुष: सुप्तशक्ति-
स्तया रज:सत्त्वतमो विभिद्यते ।
महानहं खं मरुदग्निवार्धरा:
सुरर्षयो भूतगणा इदं यत: ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एक:—अकेले; आद्य:—आदि; पुरुष:—पुरुष; सुप्त—सोई हुई; शक्ति:—शक्ति; तया—उससे; रज:—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; तम:—अज्ञान, तमोगुण; विभिद्यते—अनेक भेद हो जाते हैं; महान्—समष्टि शक्ति; अहम्—अहंकार; खम्—आकाश; मरुत्—वायु; अग्नि—अग्नि; वा:—जल; धरा:—पृथ्वी; सुर-ऋषय:—देवता तथा ऋषिगण; भूत-गणा:—जीव; इदम्—यह सब; यत:—जिससे।

हे भगवन्, आप समस्त कारणों के कारण एकमात्र परम पुरुष हैं। इस भौतिक जगत की सृष्टि के पूर्व आपकी भौतिक शक्ति सुप्त रहती है, किन्तु जब आपकी शक्ति गतिमान होती है, तो आपके तीनों गुण—सत्त्व, रज तथा तमो गुण—क्रिया करते हैं। फलस्वरूप समष्टि भौतिक शक्ति अर्थात् अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा विभिन्न देवता एवं ऋषिगण प्रकट होते हैं। इस प्रकार भौतिक जगत की उत्पत्ति होती है।

तात्पर्य : यदि सारी सृष्टि एक है अर्थात् परमेश्वर या विष्णु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तो फिर मर्मज्ञ अध्यात्मवादी क्योंकर इस श्लोक में दी गई कोटियों का उल्लेख करते हैं? विद्वान् तथा विशेषज्ञ क्योंकर पदार्थ तथा आत्मा में भेद मानते हैं? इन प्रश्नों के उत्तरस्वरूप शिवजी कहते हैं कि आत्मा तथा

पदार्थ विचारकों द्वारा निर्मित नहीं हैं, अपितु भगवान् विष्णु द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है—*त्वमेक आद्य: पुरुष: ।* यद्यपि भौतिक तथा आध्यात्मिक कोटियाँ भगवान् द्वारा ही बनाई गई हैं, किन्तु भगवान् की सेवा में निरत जीवों के लिए ऐसा कोई विभेद नहीं होता। जो लोग भगवान् की नकल करके भोक्ता बनना चाहते हैं उनके लिए भौतिक जगत ही सब कुछ है। दरअसल यह भौतिक जगत सभी के सृष्टा आदि भगवान् की विस्मृति ही है। पदार्थ तथा आत्मा का अन्तर भगवान् की सुप्त शक्ति का फल है, क्योंकि भगवान् उन जीवों को कुछ सुविधा प्रदान करना चाहते हैं, जो भगवान् के भोगों का अनुकरण करना चाहते हैं। केवल ऐसे जीवों के लिए ही भगवान् की सुप्त शक्ति से इस भौतिक जगत की उत्पत्ति हुई है। उदाहरणार्थ, कभी-कभी बच्चे अपनी माता के अनुकरण पर रसोईघर में भोजन पकाना चाहते हैं। ऐसे अवसर पर माता कुछ खिलौने लाकर रख देती है, जिससे बच्चे भोजन पकाने में लग जाँय और उसका अनुकरण कर सकें। इसी प्रकार जब कुछ जीव भगवान् के कार्यों का अनुकरण करना चाहते हैं, तो उनके लिए भगवान् इस दृश्य जगत की उत्पत्ति करता है। इस प्रकार भौतिक सृष्टि भगवान् की भौतिक शक्ति (माया) द्वारा उत्पन्न होती है। भगवान् के दृष्टिपात करने से ही माया गतिशील होती है। उस समय प्रकृति के तीनों गुण गतिशील हो जाते हैं और सर्वप्रथम भौतिक शक्ति का प्राकट्य *महत् तत्त्व* के रूप में, फिर क्रमश: अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के रूप में होता है। सृष्टि के पश्चात् जीव दृश्य जगत में घुल-मिल जाते हैं और वे ब्रह्मा तथा सप्त ऋषियों के रूप में बाहर निकलते हैं, फिर विभिन्न देवता प्रकट होते हैं। देवताओं से मनुष्य, पशु, वृक्ष, पक्षी तथा अन्य सभी पदार्थ निकलते हैं। किन्तु आदि कारण तो भगवान् हैं जिसकी पुष्टि यहाँ पर—*त्वमेक आद्य: पुरुष:* द्वारा—हुई है। *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में भी इसकी पुष्टि मिलती है—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।
अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम् ॥

जो लोग भौतिक शक्ति अर्थात् माया के वश में हैं, वे यह नहीं समझ सकते कि प्रत्येक वस्तु का उद्भव भगवान् कृष्ण से हुआ है। इसका सारांश वेदान्त की इस उक्ति *जन्माद्यस्य यत:* (*वेदान्त सूत्र* १.१.२)—में मिलता है। *भगवद्गीता* (१०.८) में कृष्ण ने भी इसी की पुष्टि की है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

''मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का उद्गम हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझी से उद्भूत है। बुद्धिमान लोग इसे भली भाँति जानते हुए मेरी सेवा में रत होते हैं और अपने अन्तःकरण से मेरी पूजा करते हैं।''

जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे प्रत्येक वस्तु के उद्गम हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवो*), तो उनका अभीष्ट यही रहता है कि वे ब्रह्मा, शिव, पुरुष अवतारों, भौतिक जगत तथा इस जगत के समस्त जीवों के भी उद्गम हैं। वस्तुतः *प्रभव* (सृष्टि) शब्द इस भौतिक जगत के लिए ही प्रयुक्त है, क्योंकि आध्यात्मिक जगत तो शाश्वत है, उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। चतुःश्लोकी *श्रीमद्भागवत* में कृष्ण कहते हैं—*अहमेवासमेवाग्रे*—''मैं सृष्टि के पूर्व विद्यमान था'' (भागवत २.९.३३)। वेदों में भी कहा गया है—*एको नारायणःआसीत्*—''सृष्टि के पूर्व केवल नारायण थे।'' शंकराचार्य ने भी इसी की पुष्टि की है। *नारायणः परोऽव्यक्तात्*—''नारायण इस सृष्टि से परे हैं'' (*गीताभाष्य*)। चूँकि नारायण के सारे कार्य आध्यात्मिक हैं, अतः जब उन्होंने कहा, ''सृष्टि हो'' तो वह सृष्टि आध्यात्मिक थी। ''भौतिक'' शब्द तो उनके मनों में विद्यमान हैं, जो यह भूल गये हैं कि नारायण ही आदि कारण हैं।

सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्ट-
श्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन ।
अथो विदुस्तं पुरुषं सन्तमन्तर्
भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारघं यः ॥ ६४॥

शब्दार्थ

सृष्टम्—सृष्टि में; स्व-शक्त्या—अपनी ही शक्ति से; इदम्—इस दृश्य जगत में; अनुप्रविष्टः—प्रवेश करते हुए; चतुः-विधम्—चार प्रकार के; पुरम्—शरीर; आत्म-अंशकेन—अपने ही अंश रूप; अथो—अतः; विदुः—जानो; तम्—उस; पुरुषम्—भोक्ता को; सन्तम्—स्थित; अन्तः—भीतर; भुङ्क्ते—भोग करता है; हृषीकैः—इन्द्रियों द्वारा; मधु—मिठास; सार-घम्—मधु, शहद; यः—जो।

हे भगवन्, आप अपनी शक्तियों के द्वारा सृष्टि कर लेने के बाद, सृष्टि में चार रूपों में प्रवेश करते हैं। आप जीवों के अन्तःकरण में स्थित होने के कारण उन्हें जानते हैं और यह भी जानते हैं कि वे किस प्रकार इन्द्रिय-भोग कर रहे हैं। इस भौतिक जगत का तथाकथित सुख ठीक वैसा ही है जैसा कि शहद के छत्ते में मधु एकत्र होने के बाद मधुमक्खी द्वारा उसका आस्वाद।

तात्पर्य : यह दृश्य जगत भगवान् की बहिरंगा शक्ति का प्रदर्शन है और चूँकि निर्जीव पदार्थ स्वत: गतिमान नहीं हो सकता, इसलिए भगवान् स्वयं इस भौतिक सृष्टि में अपने अंश रूप में (परमात्मा) प्रवेश करते हैं। वे अपने पृथक्-पृथक् अंशों (जीवों) के रूप में भी प्रविष्ट होते हैं। दूसरे शब्दों में, जीव तथा भगवान् दोनों ही भौतिक सृष्टि को गतिशील करने के लिए इसमें प्रवेश करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.५) में कहा गया है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

''हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक परा प्रकृति भी है, जिसमें सभी जीव समाहित हैं, जो भौतिक प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं और ब्रह्माण्ड को बनाये रखते हैं।''

किन्तु भौतिक जगत स्वत: कार्य नहीं कर सकता, अत: जीव चार प्रकार के शरीरों में इस के भीतर प्रवेश करते हैं। इस श्लोक का *चतुर्विधम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस जगत में चार प्रकार के जीव उत्पन्न हैं—ये हैं *जरायुज* (गुण से उत्पन्न), *अण्डज* (अण्डे से उत्पन्न), *स्वेदज* (स्वेद से उत्पन्न) तथा *उद्भिज* (बीज से उत्पन्न)। ये जीव भले ही देखने मे कैसे ही लगें, ये सभी इन्द्रियभोग में लगे रहते हैं।

यहाँ पर भौतिकतावादी वैज्ञानिकों के इस विचार का निषेध हो जाता है कि मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य जीवों में आत्मा नहीं होती। चाहे वे भ्रूण, अंडे, पसीने या बीज से क्यों न उत्पन्न हों, जीवों की चौरासी लाख योनियाँ भगवान् के ही अंश हैं, अत: इनमें से प्रत्येक में अलग से एक दिव्य ज्योति की चिनगारी तथा आत्मा है। जीव की कोटि का ध्यान न करते हुए कि वह मनुष्य है, पशु है, वनस्पति है, कीटाणु अथवा जीवाणु है, भगवान् प्रत्येक जीव के अन्त:करण में स्थित रहते हैं। वे ही सभी जीवों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए निर्देश देते हैं क्योंकि सभी जीव इस संसार में इन्द्रिय भोग की इच्छा पूरी करने के लिए आते हैं। इस तरह परमात्मा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रत्येक जीव की इच्छाओं से परिचित हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—

सर्वस्व चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

''मैं प्रत्येक जीव के अन्त:करण में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते

हैं।''

समस्त जीवों के अन्त:करण में स्थित होने के कारण भगवान् उन्हें स्मृति (स्मरण शक्ति) प्रदान करते हैं जिससे वे वस्तुओं का भोग कर सकें। इस प्रकार जीव अपने-अपने मधुकोष (छत्ते) बनाकर उनका सुख लूटते हैं। मधुमक्खी का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि जब मधुमक्खियाँ अपने मधुकोष का भोग करना चाहती हैं, तो उन्हें अन्य मक्खियों के दंश सहने पड़ते हैं। इस प्रकार जब मधुमक्खियाँ मधु की मिठास का आनन्द लूटती होती हैं, तो उसी के साथ ही उन्हें कष्ट भी सहने होते हैं क्योंकि मक्खियां एक दूसरे को काटती है। दूसरे शब्दों में, जीवों को कष्ट तथा आनन्द उठाने होते हैं, किन्तु भगवान् उनके सुखभोग की सारी योजनाओं से परिचित होने के कारण पृथक् रहते हैं। उपनिषदों में एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों का दृष्टान्त दिया गया है। एक पक्षी (जीव) वृक्ष के फल का भोग करता है और दूसरा पक्षी (परमात्मा) केवल उसे देखता रहता है। *भगवद्गीता* (१३.२३) में भगवान् को परमात्मा के रूप में *उपद्रष्टा* (साक्षी) तथा *अनुमन्ता* (अनुमति प्रदान करने वाला) कहा गया है।

इस प्रकार भगवान् जीवों के मात्र साक्षी बनकर उन्हें इन्द्रियभोग की अनुमति प्रदान करते हैं। परमात्मा ही बुद्धि के दाता हैं जिससे मधुमक्खियाँ छत्ता बनाती हैं, विभिन्न फूलों से मधु लाकर उसका संग्रह करती हैं और फिर उसका भोग करती हैं। यद्यपि परमात्मा जीवों से पृथक् रहता है, किन्तु उनके मनोभावों से परिचित होने के कारण उन्हें सुविधाएँ प्रदान करता है, जिससे वे अपने कर्मों के फल को भोग सकें। मानव-समाज मधुकोष के समान है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न स्रोतों से मधु अथवा धन एकत्र करने तथा समष्टि सुख के लिए बड़े-बड़े राज्य बनाने में व्यस्त रहता है। किन्तु राज्य बन जाने पर अन्य राष्ट्र अपना दंशन प्रारम्भ करते हैं। कभी-कभी वे जब परस्पर युद्ध छेड़ देते हैं, तो मनुष्यों के मधुकोष दुख के मूल बन जाते हैं। यद्यपि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के मधु को भोगने के लिए अपने-अपने मधुकोश निर्मित करते हैं, किन्तु उसी के साथ वे अन्य व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों के दंशन को भी सहते हैं। परमात्मा के रूप में भगवान् इन सारी गतिविधियों को देखते रहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् तथा जीव दोनों ही इस भौतिक जगत में प्रवेश करते हैं। परमात्मा पूज्य है, क्योंकि उसने भौतिक जगत में जीवों के सुख की व्यवस्था की। किन्तु भौतिक जगत होने के कारण बिना मादकता

के कोई भी जीव किसी प्रकार का सुख भोग नहीं सकता। भौतिक सुख का अर्थ ही है मादकता, जबकि आध्यात्मिक भोग का अर्थ है, भगवान् के संरक्षण में विशुद्ध आनन्द।

स एष लोकानतिचण्डवेगो
विकर्षसि त्वं खलु कालयानः ।
भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो
घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; लोकान्—सारे लोकों को; अति—अत्यधिक; चण्ड-वेगः—प्रचण्ड वेग; विकर्षसि—नष्ट करता है; त्वम्—तुम; खलु—फिर भी; काल-यानः—समय आने पर; भूतानि—सभी जीव; भूतैः—अन्य जीवों से; अनुमेय-तत्त्वः—परम सत्य का अनुमान लगाया जा सकता है; घन-आवलीः—बादल; वायुः—वायु; इव—सदृश; अविषह्यः—असह्य।

हे भगवन्, आपकी परम सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता, किन्तु संसार की गतिविधियों को देखकर कि समय आने पर सब कुछ विनष्ट हो जाता है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। काल का वेग अत्यन्त प्रचण्ड है और प्रत्येक वस्तु किसी अन्य वस्तु के द्वारा विनष्ट होती जा रही है—जैसे एक पशु दूसरे पशु द्वारा निगल लिया जाता है। काल प्रत्येक वस्तु को उसी प्रकार तितर-बितर कर देता है, जिस प्रकार आकाश में बादलों को वायु छिन्न-भिन्न कर देती है।

तात्पर्य : प्रकृति के नियमानुसार विनाशलीला चलती रहती है। इस संसार के भीतर कुछ भी स्थायी नहीं है, यद्यपि विज्ञानी, विचारक, कर्मी तथा अन्य लोग वस्तुओं को स्थायी बनाने का प्रयास कर रहे हैं। एक सिरफिरे विज्ञानी ने हाल ही में घोषित किया है कि अन्ततः जीवन को विज्ञान के द्वारा स्थायी बना दिया जाएगा। कुछ तथाकथित विज्ञानी प्रयोगशाला में जीवों का निर्माण करने का भी प्रयास कर रहे हैं। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण भगवान् के अस्तित्व एवं उसकी परम सत्ता को नकारने में व्यस्त है। फिर भी भगवान् इतने शक्तिमान हैं कि वे मृत्यु के रूप में प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर देते हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहते हैं—*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—"मैं सबों को कालकवलित करने वाली मृत्यु हूँ।" भगवान् नास्तिकों के लिए मृत्यु-तुल्य हैं, क्योंकि भौतिक संसार में वे जो कुछ एकत्र करते हैं उसे भगवान् उठा लेता है। प्रह्लाद का पिता हिरण्यकशिपु भगवान् के अस्तित्व को नहीं मानता था और वह अपने पाँच वर्ष के पुत्र को ही मार डालना चाहता

था, क्योंकि उस बालक की भगवान् पर अटूट श्रद्धा थी। किन्तु समय आने पर भगवान् नृसिंहदेव के रूप में प्रकट हुए और पुत्र के समक्ष ही हिरण्यकशिपु का वध कर दिया। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.१३.४७) में कहा गया है वध का यह कार्य प्राकृतिक है। *जीवो जीवस्य जीवनम्*—"एक पशु दूसरे पशु का भोजन है।" मेंढक को साँप खाता है, साँप को नेवला और नेवले को कोई अन्य जीव खाता है। इस प्रकार भगवान् की इच्छानुसार विनाश का क्रम चलता रहता है। यद्यपि इसमें हमें प्रत्यक्ष रूप से भगवान् का कोई हाथ नहीं दिखता, किन्तु भगवान् की विनाशलीला से अनुभव होता है कि इसमें उनका हाथ है। हम यह देख सकते हैं कि वायु के द्वारा बादल तितर-बितर होते हैं, भले ही हम यह न देख पाएँ कि ऐसा किस प्रकार हो रहा है, क्योंकि वायु को देख पाना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार भले ही हम प्रत्यक्ष रूप से भगवान् को न देखें, किन्तु इतना तो हम देखते ही हैं कि किस प्रकार विनाशलीला उनके वश में है। भगवान् के नियंत्रण में विनाशलीला जोरों से चलती रहती है, किन्तु नास्तिक उसे देख नहीं पाते।

प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

प्रमत्तम्—पागल पुरुष; उच्चैः—जोर से; इति—इस प्रकार; कृत्य—किये जाने वाले; चिन्तया—ऐसी इच्छा से; प्रवृद्ध—अत्यधिक अग्रसर; लोभम्—लालच; विषयेषु—भौतिक सुख में; लालसम्—ऐसा चाहते हुए; त्वम्—तुम; अप्रमत्तः—पूर्णतया समाधि में; सहसा—एकाएक; अभिपद्यसे—उन्हें पकड़ लेता है; क्षुत्—भूखा; लेलिहानः—लालची जीभ से; अहिः—साँप; इव—सदृश; आखुम्—चूहे को; अन्तकः—विनष्ट करने वाला, काल।

हे भगवन्, इस संसार के सारे प्राणी कुछ-न-कुछ योजना बनाने में पागल हैं तथा यह या वह करते रहने की इच्छा से काम में जुटे रहते हैं। अनियंत्रित लालच के कारण यह सब होता है। जीवात्मा में भौतिक सुख की लालसा सदैव बनी रहती है, किन्तु आप नित्य सतर्क रहते हैं और समय आने पर आप उस पर उसी प्रकार टूट पड़ते हैं जिस प्रकार सर्प चूहे पर झपटता है और आसानी से निगल जाता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति लोभी होता है और वह भौतिक सुख के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाता है। भौतिक सुख की लालसा के कारण प्रत्येक जीवात्मा को प्रमत्त (पागल) कहा गया है।

भगवद्गीता (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"प्रकृति के तीन गुणों के वशीभूत होकर मोहग्रस्त आत्मा अपने को कर्मों का कर्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।"

हर कार्य प्रकृति के नियमों के अनुसार सम्पन्न होता है और ये नियम श्रीभगवान् के नियंत्रण में रहते हैं। नास्तिक या मूढ़ इसे नहीं जानते। वे अपनी योजनाएँ बनाने में और बड़े-बड़े राष्ट्र अपने साम्राज्य विस्तृत करने में लगे रहते हैं। फिर भी हम जानते हैं कि समय समय पर अनेक राज्य इस तरह बने और नष्ट हो गये। जनता की निदी मूर्खता से अनेक राज-परिवार अस्तित्व में आये, किन्तु कालक्रम में वे सब परिवार तथा राज्य नष्ट हो गये। तब भी मूढ़ नास्तिक लोग भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करते। ऐसे मूर्ख लोग अनावश्यक रूप से भगवान् की परम सत्ता को माने बगैर अपने-अपने कार्य गढ़ते रहते हैं। तथाकथित राजनीतिज्ञ अपने-अपने राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाने के लिए योजनाएँ बनाने में लगे रहते हैं, किन्तु सच तो यह है कि वे अपने पद को ऊपर उठाने में ही लगे रहते हैं। भौतिक पद की अपनी लालसा के लिए वे जनता के समक्ष अपने को नेता रूप में प्रस्तुत करते हैं और उनसे वोट बटोरते हैं यद्यपि वे पूर्ण रूप से प्रकृति के नियमों की पकड़ में होते हैं। ये आधुनिक सभ्यता के कुछ दोष हैं। ईश्वर-भक्ति तथा भगवान् की श्रेष्ठता को स्वीकार किये बिना जीवात्माएँ अन्ततः अपनी ही योजनाओं से उद्विग्न और भ्रमित हो उठती हैं। आर्थिक विकास की अवैध योजनाओं के फलस्वरूप विश्वभर में वस्तुओं के दाम प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं जिससे निर्धन वर्ग का जीवन दूभर गया है और वे इस का परिणाम भोग रहे हैं। कृष्णचेतना (भक्ति) के अभाव से लोग तथाकथित नेताओं तथा योजना बनाने वालों से ठगे जाते हैं। फलस्वरूप लोगों के कष्ट बढ़ते जाते हैं। प्रकृति के नियमों के अनुसार जो परमेश्वर से अनुमोदित है, इस जगत में कुछ भी स्थायी नहीं हो सकता; अतः अपनी रक्षा के लिए सबों को परमेश्वर की शरण ग्रहण करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"मुनिजन मुझे ही समस्त यज्ञों तथा तपों का परम प्रयोजन, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर तथा समस्त जीवों का उपकारी एवं शुभचिन्तक समझ करके भौतिक कष्टों से शान्ति प्राप्त करते हैं।"

यदि कोई अपनी मन:शान्ति तथा समाज में अमन चैन चाहता है, तो उसे भगवान् को वास्तविक भोक्ता मान लेना चाहिए। भगवान् सारे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु का स्वामी (अधिष्ठाता) और साथ ही सारे जीवों का परम मित्र भी है। इसे समझकर ही लोग व्यष्टि तथा समष्टि रूप से प्रसन्नता से तथा शान्तिपूर्वक रह सकते हैं।

कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो
यस्तेऽवमानव्ययमानकेतन: ।
विशङ्कयास्मद्गुरुरर्चति स्म यद्
विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश ॥ ६७॥

शब्दार्थ

क:—कौन; त्वत्—तुम्हारे; पद-अब्जम्—चरणकमल; विजहाति—अवहेलना करेगा; पण्डित:—विद्वान; य:—जो; ते—तुमको; अवमान—उपेक्षा करते हुए; व्ययमान—घटाते हुए; केतन:—यह शरीर; विशङ्कया—बिना किसी सन्देह के; अस्मत्—हमारे; गुरु:—गुरु, पिता; अर्चति स्म—पूजा करता था; यत्—जो; विना—बिना; उपपत्तिम्—विक्षोभ; मनव:—मनुगण; चतु:-दश—चौदह।

हे भगवन्, कोई भी विद्वान् पुरुष जानता है कि आपकी पूजा के बिना सारा जीवन व्यर्थ है। भला यह जानते हुए वह आपके चरणकमलों की उपासना क्यों त्यागेगा? यहाँ तक कि हमारे गुरु तथा पिता ब्रह्मा ने बिना किसी भेदभाव के आपकी आराधना की और चौदहों मनुओं ने उनका अनुसरण किया।

तात्पर्य : *पंडित* शब्द का अर्थ है, "ज्ञानी मनुष्य या ज्ञानवान्।" वास्तव में ज्ञानी मनुष्य कौन है? *भगवद्गीता* (७.१९) में ज्ञानी मनुष्य को इस प्रकार बताया गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:॥

"अनेक जन्मजन्मांतरों के बाद जो वास्तव में ज्ञानवान है, वह मुझे समस्त कारणों का कारण तथा मैं ही सब कुछ हूँ, समझ कर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।"

इस तरह जब कोई ज्ञानी मनुष्य अनेक जन्मों तथा आत्म-साक्षात्कार के अनेक सनकी प्रयासों के बाद सचमुच ज्ञानी बनता है, तो वह भगवान् कृष्ण की शरण में जाता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति या महात्मा जानता है कि वासुदेव कृष्ण ही सब कुछ हैं (*वासुदेवः सर्वमिति*)। पंडितजन सदैव सोचते हैं कि बिना कृष्ण की पूजा किये या उनका भक्त बने यह जीवन व्यर्थ है। श्रील रूप गोस्वामी भी कहते हैं कि जब मनुष्य महान् भक्त बन जाता है, तो उसकी समझ में आता है कि उसे संयत तथा धैर्यवान् (*क्षान्तिः*) होना चाहिए और उसे समय न गँवाकर भगवान् की सेवा करनी चाहिए (*अव्यर्थ कालत्वम्*)। उसे समस्त भौतिक आकर्षण से विरक्त होना चाहिए (*विरक्तिः*) और उसे अपने कर्मों के बदले में किसी प्रकार के सम्मान की कामना नहीं करनी चाहिए (*मानशून्यता*); उसे विश्वास होना चाहिए कि श्रीकृष्ण उस पर कृपा करेंगे(*आशाबन्धः*); उसे सदैव भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक रहना चाहिए (*समुत्कण्ठा*)। ज्ञानी सदैव कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भगवान् की महिमा का गान करने के लिए उत्सुक रहता है (*नाम-गाने सदा रुचिः*) और भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन करते अघाता नहीं (*आसक्तिस्तद्गुणाख्याने*)। उसे भगवान् की लीलास्थलियों के प्रति भी आकर्षण होना चाहिए (*प्रीतिस्तद्वसतिस्थले*)। ये सिद्ध भक्त के लक्षण हैं।

एक महान् भक्त या पूर्ण पुरुष जो वास्तव में पंडित है, वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा का परित्याग नहीं कर सकता। यद्यपि ब्रह्मा की आयु दीर्घ (४,३२,००,००,००० वर्ष ब्रह्मा के एक दिन अथवा १२ घंटे के बराबर है) है, तो भी ब्रह्माजी मृत्यु से भयभीत रहते हैं और भगवान् की भक्ति करते हैं। इसी प्रकार सारे मनु भी, जो ब्रह्मा के दिन में प्रकट होते तथा विलुप्त होते रहते हैं, भगवान् की भक्ति करते हैं। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु प्रकट होते तथा लुप्त होते हैं। प्रथम मनु स्वायम्भुव मनु हैं। प्रत्येक मनु ७१ युगों तक जीवित रहता है जिनमें से प्रत्येक युग ४३,२०००० वर्षों का होता हैं। इस तरह यद्यपि मनुओं की आयु काफी लम्बी होती है, किन्तु वे अगले जीवन के लिए भगवान् की भक्ति करते रहकर तैयारी करते हैं। इस युग में मनुष्य केवल साठ से अस्सी वर्ष तक जीवित रहता है और यह लघु आयु भी क्रमशः घटती जा रही है। इसलिए मनुष्यों के लिए और भी आवश्यक है कि भगवान् चैतन्य महाप्रभु के बताये हरे कृष्ण मंत्र के सतत कीर्तन द्वारा भगवान् के चरणकमलों की पूजा करें।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

(*शिक्षाष्टक* ३)

जब कोई भक्ति में व्यस्त रहता है, तो उसके चारों ओर ईर्ष्यालु लोग रहते हैं और प्राय: उसके शत्रु उसे परास्त करना चाहते हैं या उसकी भक्ति को भंग करना चाहते हैं। इस युग के लिए यह कोई नई बात नहीं है, क्योंकि प्राचीन काल में भी भगवद्भक्ति में व्यस्त प्रह्लाद महाराज को उनके असुर पिता हिरण्यकशिपु ने यातना पहुँचाई थी। नास्तिक सदैव भक्त को तंग करने के लिए उद्यत रहते हैं; अत: चैतन्य महाप्रभु ने सुझाव दिया है कि मनुष्य को ऐसे लोगों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए। तो भी मनुष्य को हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करते रहना चाहिए और उसका उपदेश भी करना चाहिए, क्योंकि ऐसे उपदेश तथा कीर्तन से ही जीवन-सिद्धि मिलती है। मनुष्य को सभी प्रकार से अपने जीवन को पूर्ण रूप से सिद्ध बनाने की आवश्यकता का प्रचार करना चाहिए और कीर्तन करना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की भक्ति में लगा रहे और ब्रह्मा इत्यादि पूर्व आचार्यों के पदचिह्नों पर चले।

अथ त्वमसि नो ब्रह्मन्परमात्मन्विपश्चिताम् ।
विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः ॥ ६८॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; त्वम्—तुम, हे स्वामी; असि—हो; नः—हमारे; ब्रह्मन्—हे परब्रह्म; परम-आत्मन्—हे परमात्मा; विपश्चिताम्—विद्वान मनुष्यों के लिए; विश्वम्—सारा ब्रह्माण्ड; रुद्र-भय—रुद्र से भयभीत; ध्वस्तम्—संहार किया हुआ; अकुतश्चित्-भया—निश्चित रूप से निर्भर, भयशून्य; गतिः—गन्तव्य, आश्रय।

हे भगवन्, जो वास्तव में विद्वान् मनुष्य हैं, वे सभी आपको परब्रह्म एवं परमात्मा के रूप में जानते हैं। यद्यपि सारा ब्रह्माण्ड भगवान् रुद्र से भयभीत रहता है, क्योंकि वे अन्ततः प्रत्येक वस्तु को नष्ट करने वाले हैं, किन्तु विद्वान् भक्तों के लिए आप निर्भय आश्रय हैं।

तात्पर्य : इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए तीन महाधीश हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव (महेश्वर)। प्रलय के समय यह भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है। विराट शरीर तथा जीव का लघु शरीर दोनों ही चरम अन्त में विनाशशील हैं। किन्तु भक्तों को शरीर-विनाश का कोई भय नहीं रहता, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास होता है कि विनाश के बाद वे अपने घर अर्थात् भगवान् के धाम

वापस जायेंगे (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेतिसोऽर्जुन*)।

यदि कोई दृढ़तापूर्वक भक्तियोग का अनुसरण करता है, तो उसे मृत्यु का भय नहीं रह जाता, क्योंकि उसका भगवान् के धाम वापस जाना पूर्वनिश्चित है। अभक्त ही मृत्यु से डरते हैं, क्योंकि उन्हें इसकी कोई गारंटी नहीं होती कि वे कहाँ जाएँगे या अगले जन्म में उन्हें किस प्रकार का शरीर प्राप्त होगा। इस श्लोक का *रुद्रभय* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि रुद्र अर्थात् शिवजी ही 'रुद्रभय' की बात कर रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि रुद्र भी कई हैं—इनकी संख्या ग्यारह है और ये रुद्र (शिव), जो भगवान् की स्तुति कर रहे हैं, अन्य रुद्रों से भिन्न हैं, यद्यपि ये भी उन्हीं के समान शक्तिमान हैं। निष्कर्ष यह निकला कि एक रुद्र दूसरे रुद्र से भयभीत रहता है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक इस दृश्य जगत के संहार में लगा रहता है। किन्तु भक्त की दृष्टि में तो प्रत्येक व्यक्ति रुद्र से डरता है, यहाँ तक कि स्वयं रुद्र भी। भक्त कभी भी रुद्र से नहीं डरता, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों की शरण में रहने से वह सदैव सुरक्षित रहता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.३१) में कहा है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—"हे अर्जुन! तुम यह स्पष्ट घोषणा कर सकते हो कि मेरा (भगवान् श्रीकृष्ण का) शुद्ध भक्त किसी भी दशा में विनष्ट नहीं होता।"

इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः ॥६९॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; जपत—जपते हुए; भद्रम्—समस्त कल्याण; वः—तुम सभी; विशुद्धाः—शुद्ध; नृप-नन्दनाः—राजा के पुत्र; स्व-धर्मम्—अपने-अपने कार्य; अनुतिष्ठन्तः—करते हुए; भगवति—भगवान् को; अर्पित—अर्पित कर; आशयाः—समस्त आज्ञाकारिता से युक्त।

हे राजपुत्रो, तुम लोग विशुद्ध हृदय से राजाओं की भाँति अपने-अपने नियत कर्म करते रहो। भगवान् के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर करते हुए इस स्तुति (स्तोत्र) का जप करो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा, क्योंकि इससे भगवान् तुम पर अत्यधिक प्रसन्न होंगे।

तात्पर्य : शिवजी द्वारा की गई स्तुति अत्यन्त प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण है। अपने कर्म में लगे रहते हुए भी परमेश्वर की स्तुति करने मात्र से मनुष्य पूर्ण बन सकता है। जीवन का असली उद्देश्य तो भगवद्भक्त बनना है। इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए कि उसकी सामाजिक स्थिति क्या है। चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अमरीकी, अंग्रेज, भारतीय, इस संसार में कहीं भी रहकर

श्रीभगवान् की स्तुति करके भक्ति की जा सकती है। हरे कृष्ण महामंत्र भी स्तुति ही है, क्योंकि स्तुति में भगवान् को नाम से सम्बोधित किया जाता है और भगवान् से विनय की जाती है कि वे सौभाग्य का वरदान देकर अपनी भक्ति में लगायें। हरे कृष्ण महामंत्र भी कहता है, "हे भगवान् कृष्ण, हे भगवान् राम, हे भगवान् की शक्ति हरे! कृपया मुझे अपनी सेवा में लगाइये।" भले ही कोई निम्न वर्ग का क्यों न हो, वह हर अवस्था में भक्ति कर सकता है जैसाकि *भागवत* (१.२.६) में कहा गया है—*अहैतुक्यप्रतिहता:*—"भक्ति को किसी भी भौतिक दशा में रोका नहीं जा सकता।" भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने भी यही विधि बताई है।

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव

जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।

स्थाने स्थिता: श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-

र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

(भागवत *१०.१४.३*)

मनुष्य अपनी स्थिति में रहते हुए अथवा अपना कर्म करते हुए सिद्ध पुरुषों से भगवान् के सन्देश को सुन सकता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इसी सिद्धान्त पर आधारित है और हम लोग संसार भर में श्रीकृष्ण के सन्देश को सुनने का अवसर प्रदान करने के लिए विभिन्न केन्द्र खोल रहे हैं जिससे लोग अपने घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जा सकें।

तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; एव—निश्चय ही; आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—अपने हृदय में; सर्व—समस्त; भूतेषु—प्रत्येक जीव में स्थित; अवस्थितम्—स्थित; पूजयध्वम्—उनकी पूजा करो; गृणन्त: च—सदैव कीर्तन करते हुए; ध्यायन्त: च—ध्यान करते हुए; असकृत्—निरन्तर; हरिम्—श्रीभगवान् का।

अत: हे राजकुमारो, भगवान् सबके हृदयों में स्थित हैं। वे तुम लोगों के भी हृदयों में हैं, अत: भगवान् की महिमा का जप करो और निरन्तर उसी का ध्यान करो।

तात्पर्य : *असकृत्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ 'कुछ पलों के लिए' नहीं, अपितु "अनवरत रूप से" है। यही आदेश भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने अपने *शिक्षाष्टक* में दिया है। *कीर्तनीय:*

सदा हरिः—"भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन चौबीसों घण्टे करना चाहिए।" अतः इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में भक्तों को नित्यप्रति सोलह बार माला का जप करने के लिए कहा जाता है। वास्तव में ठाकुर हरिदास की भाँति भगवन्नाम का चौबीसों घण्टे जप ही करना चाहिए। वे दिन में ३ लाख बार नाम-जप करते थे। दरअसल इसके सिवाय उनके पास कोई दूसरा काम ही न था। रघुनाथ दास गोस्वामी जैसे अन्य कुछ गोस्वामी भी नियमपूर्वक जप करते तथा नमस्कार करते थे। जैसाकि *षड्-गोस्वामी-अष्टक* में श्रीनिवासाचार्य ने स्तुति की है—*सङ्ख्यापूर्वक नाम गान-नतिभिः कालावसानीकृतौ। संख्यापूर्वक* शब्द का अर्थ है "गिनती को स्थिर बनाये रखते हुए।" रघुनाथ दास गोस्वामी न केवल भगवन्नाम का जप करते थे, वरन् उसी त्वरा से वे नमस्कार भी करते थे।

चूँकि ये राजकुमार भगवान् की पूजा के लिए पहले से तपस्या करने जा रहे थे, अतः शिवजी ने उन्हें उपदेश दिया कि वे भगवान् का निरन्तर जप तथा ध्यान करते रहें। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि शिवजी ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की वैसी ही स्तुति की जैसी कि उनके पिता ब्रह्मा ने उन्हें बतलाई थी। इस प्रकार से वे परम्परा-पद्धति के अनुसार राजकुमारों को उपदेश दे रहे थे। मनुष्य को चाहिए कि वह न केवल गुरु से प्राप्त आदेशों के अनुसार आचरण करे वरन् अपने शिष्यों में भी इस ज्ञान का वितरण करता चले।

आत्मानमात्मस्थं सर्व भूतेष्ववस्थितम् शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सारे जीवों के उद्गम हैं। चूँकि सारे जीव उनके भिन्नांश हैं, अतः वे सबके पिता हैं। प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित होने के कारण परमेश्वर को अपने हृदय के भीतर खोजा जा सकता है। इस श्लोक में भगवान् की पूजा-विधि को अत्यन्त सरल एवं पूर्ण बताया गया है, क्योंकि कहीं भी और किसी भी अवस्था में होते हुए भगवान् के नाम का केवल जप करना चाहिए। कीर्तन तथा श्रवण से स्वतः ही मनुष्य ध्यान में लग जाता है।

योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः ।
समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

योग-आदेशम्—भक्तियोग का यह आदेश; उपासाद्य—निरन्तर पढ़ते हुए; धारयन्तः—तथा आत्मसात करते हुए; मुनि-व्रताः—मुनियों का व्रत, मौन व्रत लो; समाहित—मन में सदैव स्थिर, एकाग्रभाव से; धियः—बुद्धि से; सर्वे—तुम सब; एतत्—यह; अभ्यसत—अभ्यास करो; आदृताः—अत्यन्त आदरपूर्वक।

हे राजपुत्रो, मैंने स्तुति के रूप में तुम्हें पवित्र नाम-जप की योगपद्धति बतला दी है। तुम सब इस स्तोत्र को अपने मनों में धारण करते हुए इस पर दृढ़ रहने का व्रत लो जिससे तुम महान् मुनि बन सको। तुम्हें चाहिए कि मुनि की भाँति मौन धारण करके तथा ध्यानपूर्वक एवं आदर सहित इसका पालन करो।

तात्पर्य : हठयोग पद्धति में मनुष्य को ध्यान, धारणा, आसन इत्यादि शारीरिक आसन करने होते हैं। उसे एक स्थान पर विशेष आसन लगा करके अपनी नाक के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी होती है। हठयोग पद्धति में इतने सारे विधि-विधान हैं कि इस युग में उन्हें कर पाना कठिन है। किन्तु भक्तियोग की वैकल्पिक पद्धति न केवल इस युग के लिए वरन् अन्य युगों के लिए भी अत्यन्त सहज है, क्योंकि इस योग-पद्धति का उपदेश शिवजी द्वारा महाराज प्राचीन बर्हिषत् के पुत्रों को दिया गया था। भक्तियोग-पद्धति कोई नवीन नहीं है, क्योंकि पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान् कृष्ण ने भक्तियोग को सर्वोच्च योग के रूप में बतलाया था। *भगवद्गीता* (६.४७) में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

''योगियों में से जो अत्यन्त श्रद्धापूर्वक प्रेमाभक्ति में मेरी पूजा करता है, वह योग में मुझसे भली-भाँति संयुक्त रहता है और सबों में सर्वोच्च है।''

सर्वोच्च योगी वह है, जो अपने भीतर श्रीकृष्ण का निरन्तर ध्यान करता है और भगवान् की महिमा का कीर्तन करता रहता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार का भक्तियोग अनन्त काल से चला आ रहा है और अब इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में चालू है।

इस प्रसंग में *मुनि-व्रतः* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहते हैं, उन्हें मौन रहना चाहिए। मौन का अर्थ है केवल कृष्ण-कथा की बात करना या कृष्ण का गुणानुवाद। यह मौन महाराज अम्बरीष जैसा है—*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठ-गुणानुवर्णने*—''राजा अम्बरीष ने सदैव भगवान् के चरणकमल में ही अपने मन को स्थिर रखा और और उन्हीं का गुणानुवाद किया'' (*भागवत* ९.४.१९)। हमें चाहिए कि हम इस जीवन के अवसर को

महान् संत बनने में लगाएं और इसका उपयोग अवांछित व्यक्तियों से व्यर्थ बातें करने में न करें। हमें या तो कृष्ण का गुणानुवाद करना चाहिए या हरे कृष्ण का कीर्तन करना चाहिए। यह मुनिव्रत कहलाता है। बुद्धि को अत्यन्त प्रखर होना चाहिए (*समाहित-धिय*) तथा कृष्णभक्ति की दिशा में कार्य करना चाहिए। *एतदभ्यसतादृता:* शब्द बताते हैं कि यदि इन आदेशों को गुरु से आदरपूर्वक प्राप्त किया जाये और विधिपूर्वक इनका अभ्यास किया जाये तो यह भक्तियोग अत्यन्त सरल लगेगा।

इदमाह पुरास्माकं भगवान्विश्वसृक्पतिः ।
भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षुः संसिसृक्षताम् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; आह—कहा; पुरा—पहले; अस्माकम्—हमसे; भगवान्—स्वामी; विश्व-सृक्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; पतिः—स्वामी; भृगु-आदीनाम्—भृगु इत्यादि ऋषियों का; आत्मजानाम्—उनके पुत्रों का; सिसृक्षुः—उत्पत्तिके इच्छुक; संसिसृक्षताम्—सृष्टि के लिए उत्तरदायी।.

सर्वप्रथम समस्त प्रजापतियों के स्वामी ब्रह्मा ने हमें यह स्तुति सुनायी थी। भृगु आदि प्रजापतियों को भी इसी स्तोत्र की शिक्षा दी गई थी, क्योंकि वे सन्तानोत्पत्ति करना चाह रहे थे।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया; फिर ब्रह्मा ने शिव तथा भृगुमुनि इत्यादि अन्य ऋषियों—मरीचि, आत्रेय, वसिष्ठ तथा अन्य—को उत्पन्न किया। इन सब ऋषियों को सन्तान उत्पन्न करने का भार सौंपा गया था। चूँकि प्रारम्भ में जीवों की संख्या अधिक न थी, अत: विष्णु ने सन्तान उत्पन्न करने का कार्य ब्रह्मा को सौंपा और ब्रह्मा ने सृष्टि बनाये रखने के लिए हजारों देवता तथा ऋषि उत्पन्न किये। साथ ही ब्रह्मा ने अपने पुत्रों तथा शिष्यों को यह स्तुति, जिसे शिवजी सुना रहे हैं, सुनाकर सचेत किया कि भौतिक सृष्टि का अर्थ है भौतिक व्यस्तता, किन्तु इस व्यस्तता का निराकरण भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को सदैव स्मरण करते हुए किया जा सकता है, जैसाकि शिवजी द्वारा की गई इस स्तुति में बताया गया है। इस प्रकार से हम भगवान् के निरन्तर सम्पर्क में रह सकते हैं। इस तरह सृष्टि में व्यस्तता के बावजूद हम कृष्ण-भक्ति के पथ से विचलित नहीं होंगे। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन विशेष रूप से इसी प्रयोजन से चलाया गया है। इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म में बताये गये वृत्तिपरक कर्म में लगा रहता है। यह ठीक है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने काम में लगे हुए हैं, किन्तु यदि वे अपने पहले कर्तव्य—भगवान् से निरन्तर सम्पर्क रखने—को स्मरण रखते हैं, तो सब कुछ सफल हो जाएगा। यदि वे केवल वर्णाश्रम धर्म का ही पालन

करने में लगे रहते हैं और भगवान् से अपने शाश्वत सम्बन्ध का स्मरण नहीं करते तो उनका सारा व्यापार तथा सारा वर्णाश्रम धर्म मात्र समय का अपव्यय होगा। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२.८) में इसकी पुष्टि की गई है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विश्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

निष्कर्ष यह है कि अपने-अपने वृत्तिपरक कर्म को निबाहते हुए कृष्णभक्ति के कार्य में बाधा नहीं पहुँचने देना चाहिए। मात्र *श्रवणं कीर्तनं* की भक्ति करनी चाहिए। अपने कर्म (धर्म) को नहीं छोड़ना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.४६) में कहा गया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

''मनुष्य अपना कर्म करता हुआ जीवों के उद्गम तथा सर्वव्यापी भगवान् की पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है।''

इस प्रकार मनुष्य अपना कर्म करता रह सकता है, किन्तु यहाँ पर शिवजी ने जो स्तुति बताई है यदि उससे मनुष्य भगवान् की पूजा करता है, तो उसका जीवन पूर्णरूपेण सफल हो जाता है। *स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्* (*भागवत* १.२.१३)। हमें अपना कर्म तो करना ही चाहिए, किन्तु यदि हम अपने कर्मों से भगवान् को प्रसन्न कर सकें तो हमारा जीवन सफल हो जाये।

ते वयं नोदिताः सर्वे प्रजासर्गे प्रजेश्वराः ।
अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

ते—उसके द्वारा; वयम्—हम सब; नोदिताः—आज्ञापित; सर्वे—सभी; प्रजा-सर्गे—प्रजा उत्पन्न करते समय; प्रजा-ईश्वराः—समस्त जीवों के नियन्ता; अनेन—इसके द्वारा; ध्वस्त-तमसः—सभी प्रकार के अज्ञान से मुक्त होकर; सिसृक्ष्मः—हमने उत्पन्न किया; विविधाः—अनेक प्रकार के; प्रजाः—जीव।.

जब ब्रह्मा द्वारा हम सब प्रजापतियों को प्रजा उत्पन्न करने का आदेश हुआ तो हमने भगवान् की प्रशंसा में इस स्तोत्र का जप किया जिससे हम समस्त अविद्या से पूरी तरह से मुक्त हो गये। इस तरह हम विविध प्रकार के जीवों की उत्पत्ति कर पाये।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह समझ में आता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में एकसाथ अनेक प्रकार के

जीव उत्पन्न हुए। यहाँ पर अर्थहीन डार्विन का विकासवाद लागू नहीं होता। ऐसा नहीं है कि लाखों वर्ष पूर्व बुद्धिमान मनुष्य का अस्तित्व न था। उल्टा यह पता चलता है कि सबसे बुद्धिमान प्राणी ब्रह्माजी सबसे पहले उत्पन्न हुए। तब ब्रह्माजी ने मरीचि, भृगु, आत्रेय, वसिष्ठ तथा शिव जैसे साधु पुरुषों को उत्पन्न किया। तब उन्होंने कर्मों के अनुसार विभिन्न प्रकार के जीव उत्पन्न किए। *श्रीमद्भागवत* में कपिल देव ने अपनी माता को बताया है कि जीवात्मा को अपने कर्म के अनुसार विशेष शरीर प्राप्त होता है और उच्चतर अधिकारी ही इस शरीर के विषय में निर्णय करते हैं। ये उच्चतर अधिकारी भगवान् द्वारा नियुक्त होते हैं और इनके नाम हैं—ब्रह्मा, मनु तथा अन्य प्रजापति। इस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ से ही यह देखा जा सकता है कि सब से पहला जीव सबसे अधिक बुद्धिमान था। ऐसा नहीं है कि तथाकथित आधुनिक बुद्धि विकास की क्रमिक प्रक्रिया से विकसित हुई हो। जैसाकि *ब्रह्म-वैवर्त पुराण* में कहा गया है, क्रमिक विकास होता तो है, किन्तु शरीर का विकास नहीं होता। सारे शारिरिक रूप पहले से रहते हैं। केवल शरीर के भीतर का आत्म स्फुलिंग ही प्रकृति के नियमों द्वारा श्रेष्ठ अधिकारी के अधीक्षण में प्रगति करता है। इस श्लोक से यह समझ में आता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से विभिन्न प्रकार के जीव विद्यमान थे। ऐसा नहीं है कि उनमें से कुछ विलुप्त हो गये हैं। सब कुछ यहाँ पर हैं, केवल ज्ञान के अभाव के कारण हम वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में नहीं देख पा रहे हैं।

इस श्लोक का *ध्वस्त-तमस:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अज्ञान से मुक्त हुए बिना विभिन्न प्रकार के जीवों की उत्पत्ति को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.३१.१) में कहा गया है—*दैवनेत्रेण*—श्रेष्ठ अधिकारियों के नियंत्रण में ही शरीर मिलता है। यदि ये श्रेष्ठ अधिकारी सभी प्रकार की अपूर्णताओं से मुक्त नहीं होंगे तो वे जीवों के विकास को किस प्रकार नियंत्रित कर सकेंगे? वैदिक अनुदेशों के माननेवाले डार्विन के विकासवाद को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि यह अधूरे ज्ञान के कारण विकसित है।

अथेदं नित्यदा युक्तो जपन्नवहितः पुमान् ।
अचिराच्छ्रेय आप्नोति वासुदेवपरायणः ॥७४॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; इदम्—यह; नित्यदा—नियमित रूप से; युक्तः—मनोयोग से; जपन्—मन के भीतर जपने से; अवहितः—पूर्ण रूप से सतर्क; पुमान्—मनुष्य; अचिरात्—अविलम्ब; श्रेयः—कल्याण; आप्नोति—प्राप्त करता है; वासुदेव-परायणः—भगवान् कृष्ण का भक्त।

भगवान् कृष्ण के भक्त जिसका मन सदैव उन्हीं में लीन रहता है और जो अत्यन्त ध्यान तथा आदरपूर्वक इस स्तोत्र का जप करता है शीघ्र ही जीवन की परम सिद्धि प्राप्त होगी।

तात्पर्य : सिद्धि का अर्थ है भगवान् कृष्ण का भक्त बनना। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध (१.२.२८) में कहा गया है—*वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।* जीवन का चरम लक्ष्य वासुदेव या श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण का कोई भी भक्त केवल स्तुति करने से समस्त सिद्धि, भौतिक लाभ तथा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। बड़े-बड़े ऋषियों तथा महापुरुषों ने, ब्रह्मा तथा शिव ने, भगवान् कृष्ण की अनेक प्रकार से स्तुतियाँ की हैं। भगवान् कृष्ण *शिवविरिञ्चिनुतम्* कहलाते हैं (*भागवत* ११.५.३३)। *शिव* अर्थात्, भगवान् शिव तथा *विरिञ्चि* अर्थात् ब्रह्मा। ये दोनों देवता भगवान् वासुदेव कृष्ण की स्तुति करते रहते हैं। यदि हम इन महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलें और भगवान् कृष्ण के भक्त बन सकें तो हमारा जीवन सार्थक हो जाये। दुर्भाग्यवश लोग इस रहस्य को नहीं जानते। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—"वे नहीं जानते कि जीवन का वास्तविक प्रयोजन तथा परम सिद्धि भगवान् विष्णु (कृष्ण) की पूजा है (*भागवत* ७.५.३१)। माया से समझौता करके प्रसन्न रहना असम्भव है। श्रीकृष्ण का भक्त बने बिना मनुष्य केवल दिग्भ्रमित तथा कुंठित बन सकता है। जीवों को इस विपदा से बचाने के लिए ही *भगवद्गीता* (७.१९) में भगवान् कृष्ण ने संकेत किया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद ज्ञानी मनुष्य भली भाँति यह जानते हुए कि वासुदेव रूप में मैं ही सब कुछ हूँ, मेरी शरण में आ जाता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।"

वासुदेव के भक्त बनकर हम जो चाहे वही वर प्राप्त कर सकते हैं।

श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम् ।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ

श्रेयसाम्—समस्त उपलब्धियों का; इह—इस संसार में; सर्वेषाम्—प्रत्येक पुरुष का; ज्ञानम्—ज्ञान; निःश्रेयसम्—परम लाभ; परम्—दिव्य; सुखम्—सुख; तरति—लाँघ जाता है; दुष्पारम्—दुस्तर; ज्ञान—ज्ञान रूपी; नौः—नाव; व्यसन—खतरा; अर्णवम्—समुद्र।

इस संसार में उपलब्धि के अनेक प्रकार हैं, किन्तु इन सबों में ज्ञान की उपलब्धि सर्वोपरि मानी जाती है, क्योंकि ज्ञान की नौका में आरूढ़ होकर ही अज्ञान के सागर को पार किया जा सकता है। अन्यथा यह सागर दुस्तर है।

तात्पर्य : वास्तव में इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति अज्ञान के कारण कष्ट उठा रहा है। प्रतिदिन यह देखने में आता है कि ज्ञानहीन मनुष्य किसी तरह का आपराधिक कृत्य कर बैठता है और बाद में पकड़ा जाता है और दण्डित होता है। जब कि उसे अपने इस पापकर्म का बोध नहीं रहा होता है। ऐसा अज्ञान संसार-भर में पाया जाता है। लोग यह समझ ही नहीं पाते कि अवैध कामी आदत से वे अपने जीवन को संकट में डाल रहे हैं, अपने स्वाद के लिए पशुओं को मारते हैं और मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ा में मस्त रहते हैं। यह अत्यन्त शोचनीय है कि संसार के नेता इन पापकर्मों के प्रभावों को नहीं जानते। बजाय इसके वे सारी घटनाओं को सहज भाव से लेते हुए अज्ञान सागर को और चौड़ा बनाने में सफल होते जाते हैं।

ऐसे अज्ञान के विपरीत इस भौतिक संसार में पूर्णज्ञान महानतम उपलब्धि है। व्यावहारिक जीवन में हम देख सकते हैं कि ज्ञानवान् व्यक्ति जीवन के अनेक खतरनाक उतार चड़ावों से बच जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*—"जब मनुष्य वास्तव में ज्ञानवान बन जाता है, तो वह परमात्मा की शरण में जाता है।" *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*—"ऐसा महापुरुष विरले ही पाया जाता है।"

यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन उन तथाकथित नेताओं की आँखें खोलने के लिए कृत्यसंकल्प है, जो अज्ञान से भरे हुए हैं और इस प्रकार उन्हें जीवन के अनेक उतार-चड़ावों तथा घातक परिस्थितियों से बचाता है। सबसे बड़ा खतरा है मनुष्य से निम्नतर योनि को प्राप्त होना। इस मनुष्य देह को बड़ी ही कठिनाई से इसीलिए प्राप्त किया गया जिससे इसका लाभ उठाकर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। शिवजी उपदेश देते हैं कि जो उनके स्तोत्र का लाभ उठायेंगे वे शीघ्र ही भगवान् के भक्त बनेंगे और अज्ञान सागर को पार करने तथा जीवन को पूर्ण बनाने

में समर्थ हो सकेंगे।

य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम् ।
अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; इमम्—यह; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; युक्तः—अनुरक्तिपूर्वक; मत्-गीतम्—मेरे द्वारा रचित गीत या मेरे द्वारा गाया गीत; भगवत्-स्तवम्—भगवान् की प्रार्थना; अधीयानः—नियमित पाठ द्वारा; दुराराध्यम्—पूजा करना अत्यन्त कठिन; हरिम्—भगवान् को; आराधयति—किन्तु पूजा कर सकता है; असौ—ऐसा मनुष्य।

यद्यपि भगवान् की भक्ति करना एवं उनकी पूजा करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु यदि कोई मेरे द्वारा रचित एवं गाये गये इस स्तोत्र का केवल पाठ करता है, तो वह सरलतापूर्वक भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : यह विशेष तौर पर महत्त्वपूर्ण बात है कि शिवजी भगवान् वासुदेव के शुद्ध भक्त हैं। *वैष्णवानां यथा शम्भुः*—"समस्त वैष्णवों में शिवजी सर्वोच्च हैं।" फलतः शिवजी का एक वैष्णव शिष्य परम्परा का सम्प्रदाय चला आया है, जिसे रुद्र-सम्प्रदाय कहते हैं। इस समय जो वैष्णवों का विष्णुस्वामी सम्प्रदाय है, वह रुद्र या शिव से सम्बन्धित है। भगवान् कृष्ण या वासुदेव का भक्त होना अत्यन्त कठिन है। इसी लिए *दुराराध्यम्* शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। देवताओं की पूजा उतनी कठिन नहीं है, किन्तु भगवान् कृष्ण या वासुदेव का भक्त बनना इतना आसान नहीं है। यदि कोई महापुरुषों के आदर्शों तथा उनके पदचिह्नों पर चले तो वह सरलता से भगवान् वासुदेव का भक्त बन सकता है, जैसाकि शिवजी ने उपदेश दिया है। प्रह्लाद महाराज द्वारा भी इसकी पुष्टि हुई है। भक्ति का अभ्यास मनोधर्मियों के द्वारा सम्भव नहीं। भक्ति एक विशेष उपलब्धि है, जिसे वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसने शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण की है। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने पुष्टि की है—*महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्*—"जब तक सभी प्रकार के भौतिक दोषों से मुक्त शुद्ध भक्त के चरणकमलों की धूल को धारण नहीं की जाती, तब तक भगवान् की भक्ति में प्रविष्ट नहीं हुआ जा सकता।" (*भागवत* ७.५.३२)।

विन्दते पुरुषोऽमुष्माद्यद्यदिच्छत्यसत्वरम् ।
मद्गीतगीतात्सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात् ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

विन्दते—प्राप्त करता है; पुरुषः—भक्त; अमुष्मात्—भगवान् से; यत् यत्—जो जो; इच्छति—कामना करता है; असत्वरम्—स्थिर होकर; मत्-गीत—मेरे द्वारा गाया हुआ; गीतात्—गीत से; सु-प्रीतात्—भगवान् से, जो अत्यन्त प्रसन्न होते हैं; श्रेयसाम्—समस्त आशीर्वादों (वर) में से; एक—एक; वल्लभात्—प्रियतम से।

समस्त शुभ आशीर्वादों में से सर्वप्रिय वस्तु भगवान् हैं। जो मनुष्य मेरे द्वारा गाये गये इस गीत को गाता है, वह भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। ऐसा भक्त भगवान् की भक्ति में स्थिर होकर परमेश्वर से मनवाञ्छित फल प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः*—यदि किसी को भगवान् की कृपा प्राप्त हो जाये तो उसमें किसी प्रकार की आकांक्षा या इच्छा शेष नहीं रहती। जब ध्रुव महाराज तप के द्वारा पूर्ण बन गये और जब उन्होंने भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर लिया तो उनसे मनवांछित वर माँगने को कहा गया, किन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि मुझे कुछ भी नहीं चाहिए, क्योंकि मैं भगवान् के दर्शन प्राप्त करने से ही सन्तुष्ट हूँ। भगवान् की सेवा के अतिरिक्त हम जो कुछ भी माँगते हैं वह माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'* (*चैतन्य-चरितामृत, मध्य* २०.१०८)। प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का शाश्वत दास है, अतः जब कोई भगवान् की भक्ति में लग जाता है, तो उसे जीवन की परमसिद्धि प्राप्त हो जाती है। आज्ञाकारी दास अपने स्वामी के अनुग्रह से किसी भी इच्छा की पूर्ति कर सकता है और जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को लगा लेता है, उसे तो और कुछ भी नहीं चाहिए। उसकी सारी इच्छाओं की पूर्ति भगवान् की निरन्तर सेवा करने में ही हो जाती है। शिवजी हमें बताते हैं कि यदि कोई भी भक्त उनके द्वारा सुनाई गई स्तुति का जप करता है, तो वह सफल हो सकता है।

इदं यः कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः ।
शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह स्तुति; यः—जो भक्त; कल्ये—प्रातःकाल; उत्थाय—उठकर; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़ कर; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; अन्वितः—लीन रहकर; शृणुयात्—स्वयं जपता तथा सुनता है; श्रावयेत्—तथा सुनाता है; मर्त्यः—ऐसा मनुष्य; मुच्यते—मुक्त हो जाता है; कर्म-बन्धनैः—सकाम कर्मों से उत्पन्न सभी प्रकार के कर्म बन्धनों से।

जो भक्त प्रातःकाल उठकर हाथ जोड़कर शिवजी के द्वारा गाई गई इस स्तुति का जप करता

है और अन्यों को सुनाता है, वह निश्चय ही समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : मुक्ति का अर्थ है सकाम कर्मों के फल से मुक्त होना। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.१०.६) में आया है—*मुक्तिः हित्वान्यथारूपम्।* मुक्ति का अर्थ है अन्य सभी कार्यों का परित्याग और अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थिर हो जाना (*स्वरूपेण व्यवस्थितिः*)। इस बद्ध अवस्था में हम एक के बाद दूसरे सकाम कर्म में उलझे रहते हैं। कर्म-बन्धन का अर्थ है "सकाम कर्म का बन्धन।" जब तक मनुष्य का मन सकाम कर्मों में लगा रहता है, तब तक उसे सुखी रहने की योजनाएँ बनानी पड़ती हैं। किन्तु भक्तियोग सर्वथा भिन्न है। इसमें तो परम सत्य के आदेशानुसार कार्य करना होता है। जब हम किसी परम सत्ता के निर्देशानुसार कर्म करते हैं, तो हम कर्मफलों से नहीं बँधते। उदाहरणार्थ, अर्जुन ने इसलिए युद्ध किया, क्योंकि भगवान् चाहते थे, अतः युद्ध के परिणाम के लिए अर्जुन जिम्मेदार न था। जहाँ तक भक्ति का प्रश्न है श्रवण तथा कीर्तन भी उतना ही अच्छा है जितना कि शरीर, मन तथा इन्द्रियों से कर्म करना। वास्तव में, श्रवण तथा कीर्तन भी इन्द्रियों के कर्म ही हैं। जब इन्द्रियों का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाता है, तो वे मनुष्य को कर्म में फँसा देती हैं, किन्तु जब उनका उपयोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है, तो वे उसे भक्ति में स्थापित कर देती हैं।

गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः
परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम् ।
जपन्त एकाग्रधियस्तपो महत्
चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम् ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

गीतम्—गाया गया; मया—मेरे द्वारा; इदम्—यह; नरदेव-नन्दनाः—हे राजपुत्रो; परस्य—परमेश्वर का; पुंसः—भगवान्; परम-आत्मनः—प्रत्येक का परमात्मा; स्तवम्—प्रार्थना, स्तोत्र; जपन्तः—जप करते हुए; एक-अग्र—पूर्ण मनोयोग से; धियः—बुद्धि; तपः—तपस्या; महत्—महान; चरध्वम्—तुम अभ्यास करो; अन्ते—अन्त में; ततः—तत्पश्चात्; आप्स्यथ—प्राप्त करोगे; ईप्सितम्—अभीष्ट, वांछित फल।

हे राजकुमारो, मैंने तुम्हें जो स्तुति गाकर सुनाई वह परमात्मा स्वरूप भगवान् को प्रसन्न करने के निमित्त थी। मैं तुम्हें इस स्तुति को गाने की सलाह देता हूँ, क्योंकि यह बड़ी-से-बड़ी तपस्या के समान प्रभावशाली है। इस प्रकार जब तुम सब परिपक्व हो जाओगे तो तुम्हारा जीवन सफल होगा और तुम्हें सारे अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त हो सकेंगे।

तात्पर्य : यदि हम अध्यवसायपूर्वक भक्ति करते रहें तो निश्चित रूप से समय आने पर हमारी सारी इच्छाएँ पूरी होंगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत ''शिव द्वारा की गई स्तुति का गान'' नामक चौबीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पच्चीस

राजा पुरञ्जन के गुणों का वर्णन

मैत्रेय उवाच
इति सन्दिश्य भगवान्बार्हिषदैरभिपूजितः ।
पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; सन्दिश्य—उपदेश देकर; भगवान्—सर्वशक्तिमान; बार्हिषदैः—राजा बर्हिषत् के पुत्रों द्वारा; अभिपूजितः—पूजा किया जाकर; पश्यताम्—उनके देखते-देखते; राज-पुत्राणाम्—राजा के पुत्रों का; तत्र—वहाँ; एव—निश्चय ही; अन्तर्दधे—अर्न्तधान हो गये; हरः—शिवजी।.

महर्षि मैत्रैय ने विदुर से आगे कहा : हे विदुर, शिवजी ने इस प्रकार से राजा बर्हिषत् के पुत्रों को उपदेश दिया। राजकुमारों ने भी शिवजी की अगाध भक्ति के साथ तथा श्रद्धापूर्वक पूजा की। अन्त में वे राजकुमारों की दृष्टि से ओझल हो गये।

तात्पर्य : इस अध्याय से प्राचीन काल में राजा के अधीन साम्राज्य सम्बन्धी एक महान् शिक्षा प्राप्त होती है। राजा बर्हिषत् ने राजकार्य से निवृत्त होने के पूर्व अपने पुत्रों को तप करने के लिए भेज दिया जिससे वे प्रजा की भलाई करने योग्य आदर्श राजा बन सकें। इसी के साथ ही राजा बर्हिषत् नारद मुनि से भौतिक जगत तथा इसका उपभोग करने वाले जीवात्मा के विषय में उपदेश ग्रहण कर रहे थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का भार ग्रहण करने के पूर्व राजा तथा राजकुमारों को किस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता था। प्रजा के कल्याण-कार्यों का लक्ष्य भगवान् को समझना होता था। यह मनुष्य-जीवन ईश्वर तथा उनसे अपने सम्बन्ध को समझने तथा उनकी सेवा में कार्य करने के लिए विशेष रूप से प्राप्त होता है। चूँकि प्रजा की आध्यात्मिक शिक्षा का दायित्व राजा के ऊपर रहता था, अत: राजा तथा प्रजा दोनों ही कृष्णभक्ति में प्रसन्न रहते थे। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना होगा कि प्राचीन बर्हिषत् का राज-वंश नारद मुनि के प्रसिद्ध शिष्य तथा भगवद्भक्त महाराज ध्रुव से चला आ रहा है। राजा प्राचीन

बर्हिषत् विभिन्न प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करने के कारण सकाम कर्मों में अत्यधिक व्यस्त रहते थे। ऐसे यज्ञों के करने से कोई स्वर्गलोक की प्राप्ति कर सकता है, किन्तु उसकी मुक्ति अथवा भगवद्धाम जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब नारद मुनि ने देखा कि महाराज ध्रुव का वंशज इस प्रकार के सकाम कर्मों में लगा रहकर पथभ्रष्ट हो रहा है, तो नारद जी को उस पर दया आई और वे स्वयं उसे जीवन के परम वरदान, भक्तियोग, का उपदेश देने के लिए आये। इस पच्चीसवें अध्याय में अत्यन्त रोचक ढंग से इसका वर्णन हुआ है कि नारद मुनि ने किस प्रकार राजा प्राचीन बर्हिषत् को परोक्ष रूप में भक्तियोग से अवगत कराया।

रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः ।
जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले ॥ २॥

शब्दार्थ

रुद्र-गीतम्—शिवजी द्वारा गाया गया गीत; भगवतः—भगवान् का; स्तोत्रम्—स्तुति; सर्वे—सभी; प्रचेतसः—प्रचेता नामक राजकुमार; जपन्तः—उच्चारण करते हुए; ते—उन सबों ने; तपः—तपस्या; तेपुः—साधना की; वर्षाणाम्—वर्षों की; अयुतम्—दस हजार; जले—जल के भीतर।

सभी प्रचेतागण दस हजार वर्षों तक जल के भीतर खड़े रहकर शिवजी द्वारा दिये गये स्तोत्र का जप करते रहे।

तात्पर्य : निस्सन्देह, इस युग में यह सुनकर किसी के भी अत्यन्त आश्चर्य होगा कि वे राजकुमार दस हजार वर्षों तक किस प्रकार जल में खड़े रहे। किन्तु चाहे वायु में खड़ा रहना हो या जल के भीतर—दोनों एकसमान हैं। केवल सीखना-भर है कि इसे कैसे किया जाये। जलचर तो जल के भीतर आजीवन रहते हैं। जल में रह सकने के लिए विशेष अनुकूल स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। उन दिनों लोग एक लाख वर्ष तक जीवित रहते थे। यदि इस अवधि में से कोई दस हजार वर्ष तपस्या में लगा देता था, तो उसका भावी जीवन सफल हो जाता था। अत: यह कोई आश्चर्यजनक बात न थी। यद्यपि इस युग में ऐसा चमत्कार असम्भव है, किन्तु सतयुग में संभव था।

प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम् ।
नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिषम्—राजा प्राचीनबर्हिषत् को; क्षत्तः—हे विदुर; कर्मसु—सकाम कर्मों में; आसक्त—रत; मानसम्—चित्त; नारदः—नारदमुनि ने; अध्यात्म—अध्यात्मविद्या; तत्त्व-ज्ञः—विशारद, सत्य का ज्ञाता; कृपालुः—कृपा करके; प्रत्यबोधयत्—उपदेश दिया।

जब राजकुमार जल के भीतर कठिन तपस्या कर रहे थे तो उनके पिता विभिन्न प्रकार के सकाम कर्म सम्पन्न करने में रत थे। उसी समय समस्त आध्यात्मिक जीवन के ज्ञाता तथा शिक्षक परम सन्त नारद ने राजा पर अत्यन्त कृपालु होकर उन्हें आध्यात्मिक जीवन के विषय में उपदेश देने का निश्चय किया।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् चैतन्य के परम भक्त प्रबोधानन्द सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है, *कैवल्य* अर्थात् ब्रह्मतेज के साथ तादात्म्य, एक प्रकार से नरक को जाना है। इसी प्रकार स्वर्गिक जीवन का आनन्द उठाने के लिए स्वर्ग जाने की इच्छा भी मायाजाल है। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त कभी भी ज्ञानियों तथा कर्मियों के अन्तिम लक्ष्य को कोई महत्त्व प्रदान नहीं करता। कर्मियों का अन्तिम लक्ष्य स्वर्गलोक को प्राप्त करना है और ज्ञानियों का लक्ष्य ब्रह्मतेज के साथ तदाकार होना है। जैसाकि भगवान् चैतन्य ने पुष्टि की है, ज्ञानी निस्सन्देह, कर्मियों से श्रेष्ठ हैं। *कोटि कर्मनिष्ठमध्ये एक 'ज्ञानी' श्रेष्ठ*—"एक ज्ञानी अर्थात् निर्विशेषवादी हजारों सकाम कर्मियों से श्रेष्ठ होता है" (*चैतन्य-चारितामृत, मध्य* १९.१४७) अतः भक्त कभी भी कर्म के पथ में प्रविष्ट नहीं होता। जब नारद मुनि ने राजा को सकाम कर्म में व्यस्त देखा तो उन्हें दया आई। इसमें सन्देह नहीं कि संसारी कर्मियों की तुलना में यज्ञ सम्पन्न करके उच्चलोक की आकांक्षा करने वाले श्रेष्ठ हैं, किन्तु शुद्ध भक्ति में कर्म तथा ज्ञान दोनों ही माया के मोहक गुण माने जाते हैं।

श्रेयस्त्वं कतमद्राजन्कर्मणात्मन ईहसे ।
दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्रेयः—चरम अशीर्वाद, वर; त्वम्—तुम; कतमत्—वह क्या है?; राजन्—हे राजा; कर्मणा—सकाम कार्म द्वारा; आत्मनः—आत्मा का; ईहसे—चाहते हो; दुःख-हानिः—समस्त कष्टों का लोष; सुख-अवाप्तिः—समस्त सुखों की प्राप्ति; श्रेयः—आशीर्वाद; तत्—वह; न—कभी नहीं; इह—इस प्रसंग में; च—तथा; इष्यते—प्राप्य है।

नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् से पूछाः हे राजन्, तुम इन सकाम कर्मों के द्वारा कौन सी इच्छा पूरी करना चाहते हो? जीवन का मुख्य उद्देश्य तो समस्त कष्टों से छुटकारा पाना तथा सुख भोगना है, किन्तु इन दोनों को सकाम कर्म द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : इस संसार में मोह ने वास्तविक बुद्धि को अच्छादित कर रखा है। रजोगुणी व्यक्ति किञ्चित् लाभ के लिए कठोर श्रम करने को उद्यत रहता है, किन्तु उसे इसका ज्ञान भी नहीं रहता कि काल उसे सदा के लिए कुछ भी भोगने नहीं देगा। श्रम की तुलना में मनुष्य को जो लाभ मिलता है, वह उपयोगी नहीं होता और यदि उपयोगी हुआ भी, तो निरापद नहीं होता। यदि कोई मनुष्य पैदायती धनी नहीं है और वह घर, मोटर तथा अन्य भौतिक वस्तुएँ खरीदना चाहता है, जिसके लिए उसे वर्षों अहर्निश श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार बिना कुछ कष्ट उठाये सुख की प्राप्ति नहीं होती।

वास्तव में इस संसार के भीतर विशुद्ध सुख तो मिल ही नहीं सकता। यदि हम कोई सुखोपभोग करना चाहते हैं, तो बदले में कोई दूसरा कष्ट उठाना होगा। कुल मिलाकर दुख इस संसार की प्रकृति बन चुका है और हम जो भी सुख भोगना चाहते हैं वह मात्र छलावा (मोह) है। अन्ततः हम सबों को जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के कष्ट सहने पड़ते हैं। भले ही हम बढ़िया से बढ़िया दवाएँ खोज निकालें, किन्तु रोग या मृत्यु द्वारा उत्पन्न कष्टों को रोक पाना असम्भव है। वस्तुतः दवा, रोग अथवा मृत्यु के लिए निराकरण नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि इस संसार में कहीं भी सुख नहीं है, किन्तु मोहग्रस्त व्यक्ति तथाकथित सुख के लिए कठिन श्रम करता है। निस्सन्देह कठिन श्रम करने को ही सुख मान लिया जाता है। यही मोह है।

इसीलिए नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् से पूछा कि वे इतने व्ययसाध्य यज्ञों को करके क्या पाना चाह रहे हैं। यदि कोई स्वर्गलोक पा भी ले तो उसे जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु से छुटकारा नहीं मिल सकता। चाहे तो कोई यह तर्क कर सकता है कि भक्तों को भी भक्ति के लिए कठिन तपस्या करते समय अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। निस्सन्देह, नवदीक्षितों के लिए भक्ति-साधना अत्यन्त कष्टप्रद लग सकती है, किन्तु उन्हें यह आशा तो बनी रहती है कि अन्ततः उनके सारे कष्ट दूर होंगे और उन्हें सुख की चरम अवस्था प्राप्त हो सकेगी। सामान्य कर्मियों को ऐसी आशा नहीं रहती, क्योंकि उन्हें स्वर्गलोक की प्राप्ति हो भी जाय तो जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु से मुक्ति का कोई आश्वासन प्राप्त नहीं रहता। यहाँ तक कि सर्वोच्च लोक (ब्रह्मलोक) में स्थित ब्रह्मा को भी मरना पड़ता है। भले ही ब्रह्मा का जन्म तथा मृत्यु सामान्य व्यक्ति के जन्म तथा मृत्यु से भिन्न हो, किन्तु इस संसार में वे भी जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के दुख से बच नहीं पाते। अतः यदि कोई सचमुच इन कष्टों से मुक्ति का इच्छुक

है, तो उसे भक्ति करनी चाहिए। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.९) में की है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

''हे अर्जुन! जो व्यक्ति मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति से अवगत है, वह इस शरीर को त्यागने पर इस भौतिक जगत में पुन: जन्म नहीं लेता वरन् मेरे धाम को प्राप्त होता है।''

इस प्रकार भक्त पूर्ण कृष्णभक्ति प्राप्त करने पर मृत्यु के पश्चात् इस संसार में फिर नहीं आता। वह भगवान् के धाम को वापस जाता है। यही सुख की चरमावस्था है, जिसमें दुख का लेशमात्र भी नहीं रहता।

राजोवाच
न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः ।
ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः ॥५॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने उत्तर दिया; न—नहीं; जानामि—जानता हूँ; महा-भाग—हे महापुरुष; परम्—दिव्य; कर्म—कर्मों के द्वारा; अपविद्ध—बींधी जाकर; धीः—मेरी बुद्धि; ब्रूहि—कृपया बताइये; मे—मुझको; विमलम्—विशुद्ध; ज्ञानम्—ज्ञान; येन—जिससे; मुच्येय—मैं छुटकारा पा सकूँ; कर्मभिः—कर्मों से।

राजा ने उत्तर दिया: हे महात्मन् नारद, मेरी बुद्धि सकाम कर्मों में उलझी हुई है, अत: मुझे अपने जीवन के चरम लक्ष्य का ज्ञान नहीं रह गया है। कृपा करके मुझे विशुद्ध ज्ञान प्रदान कीजिये जिससे मैं सकाम कर्मों के बन्धन से छुटकारा पा सकूँ।

तात्पर्य : श्री नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—

सत्संग छाडि' कैनु असते विलास।

ते-कारणे लागिल ये कर्म-बन्ध-फाँस॥

जब तक मनुष्य सकाम कर्मों से बँधा रहेगा उसे एक के बाद दूसरा शरीर धारण करना होगा। यह *कर्म-बन्ध-फाँस* कहलाती है। चाहे कोई पुण्यकर्मों से बँधा रहे या पापकर्मों से, दोनों ही भौतिक शरीरों में बँधे रहने के कारण हैं। पुण्यकर्मों के कारण मनुष्य समृद्ध परिवार में जन्म लेकर अच्छी शिक्षा तथा सुन्दर शरीर प्राप्त कर सकता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसको जीवन के दुखों से छुटकारा मिल गया। पाश्चात्य देशों में न तो समृद्ध परिवार में जन्म लेना कोई असामान्य बात है, न उच्च

शिक्षा तथा सुन्दर शरीर प्राप्त करना ही, किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि पाश्चात्य लोग जीवन के कष्टों से मुक्त हैं। यद्यपि आजकल पाश्चात्य देशों की तरुण पीढ़ी को पर्याप्त शिक्षा, शारीरिक सुन्दरता तथा धन उपलब्ध है और यद्यपि वहाँ पर्याप्त भोजन, वस्त्र तथा इन्द्रियतृप्ति की समस्त सुविधाएँ सुलभ हैं, किन्तु वे दुखी हैं। दरअसल वे इतने दुखी हैं कि वे हिप्पी बन रहे हैं और प्रकृति के नियम उन्हें अत्यन्त दुखमय जीवन बिताने के लिए बाध्य करते हैं। वे मैले-कुचैले घूमते हैं। न तो उनके कोई आश्रय है, न भोजन है। वे सड़कों में सोते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई पुण्यकर्म करने से ही सुखी नहीं बन सकता। यह सच नहीं है कि जो राजसी ठाठ-बाट में जीवन बिताते हैं, वे जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के भौतिक कष्टों से मुक्त हैं। अत: कोई पुण्य या पापकर्मों के आधार पर ही सुखी नहीं हो सकता। ऐसे कर्मों से केवल बन्धन तथा एक शरीर से दूसरे में देहान्तर होता है। नरोत्तम दास ठाकुर इसे ही *कर्म-बन्ध-फाँस* कहते हैं।

राजा प्राचीनबर्हिषत् ने इसे स्पष्टत: स्वीकार करते हुए नारद मुनि से प्रश्न किया कि वे इस *कर्म-बन्ध-फाँस* से किस प्रकार निकल सकते हैं। *वेदान्त सूत्र* के प्रथम श्लोक में वस्तुत: यही बात कही गई है—*अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।* जब मनुष्य *कर्म-बन्ध-फाँस* का निर्वाह करते हुए हताश दशा को प्राप्त हो जाता है, तो वह जीवन के वास्तविक महत्त्व के विषय में जिज्ञासा प्रकट करता है। यही *ब्रह्म-जिज्ञासा* है। जीवन के चरमलक्ष्य के विषय में जिज्ञासा करने के लिए वेदों का (*मुण्डकोपनिषद्* ११.२.१२) आदेश है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—"तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए।"

राजा प्राचीनबर्हिषत् को नारद मुनि जैसे परम गुरु मिले, अत: उन्होंने उस ज्ञान के विषय में प्रश्न किया जिससे *कर्म-बन्ध-फाँस* से छूटा जा सके। मानव जीवन का यही वास्तविक उद्देश्य है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१०) में कहा गया है *जीवस्य तत्व-जिज्ञासा जाथेयिश चेह कर्मभि:* मनुष्य का एकमात्र कार्य है कि वह प्रामाणिक गुरु से *कर्म-बन्ध-फाँस* से निकलने का उपाय पूछे।

गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्रदारधनार्थधी: ।
न परं विन्दते मूढो भ्राम्यन्संसारवर्त्मसु ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; कूट-धर्मेषु—छद्म धर्म में; पुत्र—पुत्र; दार—स्त्री; धन—सम्पत्ति; अर्थ—जीवन लक्ष्य पुरुषार्थ; धीः—मानने वाला; न—नहीं; परम्—परम; विन्दते—प्राप्त करता है; मूढः—दुष्ट; भ्राम्यन्—घूमता हुआ; संसार—संसार के; वर्त्मसु—रास्तों पर।

जो तथाकथित सुन्दर जीवन अर्थात् सन्तान तथा स्त्री में फँस कर गृहस्थ के रूप में रहने तथा सम्पत्ति के पीछे लगे रहने में ही रुचि रखते हैं, वे इन्हीं वस्तुओं को जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठते हैं। ऐसे लोग जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त किये बिना इस संसार में ही विभिन्न देहों में घूमते रहते हैं।

तात्पर्य : जो लोग गृहस्थ जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं—जिसका अर्थ है स्त्री, बच्चों, सम्पत्ति तथा घर गृहस्थी से बँधे रहना—वे कूट धर्म में लगे रहते हैं। प्रह्लाद महाराज ने इस *कूट धर्म* को *अन्धकूप* कहा है। उन्होंने जान बूझकर इसे *अन्धकूप* कहा है, क्योंकि यदि मनुष्य इस कुएँ में गिर जाता है, तो वह मर जाता है। भले ही वह सहायता के लिए चीखे चिल्लाये, किन्तु कोई सुनेगा नहीं या कोई उसकी सहायता के लिए आगे नहीं आता।

भ्राम्यन् संसार-वर्त्मषु पद महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१५१) में श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट बताया है—*ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।* सभी जीवात्माएँ विभिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न शरीर धारण करके विचरण करती हैं और यदि घूमते घूमते भगवत्कृपा से किसी भक्त से उनकी भेंट हो जाती है, तो उनके जीवन सार्थक हो जाते हैं। यद्यपि राजा प्राचीनबर्हिषत् सकाम कर्म में लगे हुए थे, किन्तु नारदमुनि उनके समक्ष प्रकट हुए। राजा अत्यन्त भाग्यवान था कि उसे नारद की संगति प्राप्त हो सकी। उन्होंने उसे आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया। समस्त सन्तों का कर्तव्य है कि वे नारद मुनि के चरणचिह्नों पर चलते हुए संसार भर के प्रत्येक देश तथा गाँव में विचरण करें और मोहग्रस्त व्यक्तियों को जीवन-उद्देश्य के विषय में उपदेश देकर उन्हें कर्म-बन्ध-फाँस से छुड़ाएँ।

नारद उवाच
भो भोः प्रजापते राजन्पशून्पश्य त्वयाध्वरे ।
संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान्निर्घृणेन सहस्रशः ॥ ७॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने उत्तर दिया; भोः भोः—हे, अरे; प्रजा-पते—हे प्रजा के शासक; राजन्—हे राजा; पशून्—पशुओं को; पश्य—देखो; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अध्वरे—यज्ञ में; संज्ञापितान्—मारे गये; जीव-सङ्घान्—पशु समूह; निर्घृणेन—निर्दयतापूर्वक; सहस्रशः—हजारों।

नारद मुनि ने कहा : हे प्रजापति, हे राजन्, तुमने यज्ञस्थल में जिन पशुओं का निर्दयतापूर्वक

वध किया है, उन्हें आकाश में देखो।

तात्पर्य : चूँकि वेदों में पशु-यज्ञ की संस्तुति है, अत: समस्त धार्मिक अनुष्ठानों में पशुबलि दी जाती है। किन्तु शास्त्रों में दी गई विधि से पशुबलि करके संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। मनुष्य को इन अनुष्ठानों से ऊपर उठकर वास्तविक सत्य—जीवन लक्ष्य—जानने का प्रयत्न करना चाहिए। नारद मुनि ने राजा को जीवन के असली लक्ष्य का उपदेश देकर उसके हृदय में वैराग्य की भावना जगानी चाही। ज्ञान तथा वैराग्य ही जीवन के चरमलक्ष्य हैं। बिना ज्ञान के मनुष्य भौतिक सुखों को नहीं छोड़ सकता और भौतिक सुख से विरक्त हुए बिना मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता। कर्मी प्राय: इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं और इसके लिए वे अनेक सारे पापकर्म कर सकते हैं। पशुवध तो ऐसे पापकर्मों में से एक है। फलत: नारदमुनि ने अपनी योगशक्ति से राजा प्राचीनबर्हिषत् को वे सारे मृत पशु दिखलाये जिनका राजा ने वध किया था।

एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव ।
सम्परेतमय:कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यव: ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एते—ये सब; त्वाम्—तुम्हारी; सम्प्रतीक्षन्ते—प्रतीक्षा कर रहे हैं; स्मरन्त:—स्मरण करते हुए; वैशसम्—पीड़ा; तव—तुम्हारी; सम्परेतम्—मृत्यु के पश्चात्; अय:—लोहे के; कूटै:—सींगों से; छिन्दन्ति—छेदेंगे; उत्थित—जागृत; मन्यव:—क्रोध।

ये सारे पशु तुम्हारे मरने की प्रतीक्षा कर रहे हैं जिससे वे उन पर किये गये आघातों का बदला ले सकें। तुम्हारी मृत्यु के बाद वे अत्यन्त क्रोधपूर्वक तुम्हारे शरीर को लोहे के अपने सींगों से बेध डालेंगे।

तात्पर्य : नारद मुनि का उद्देश्य राजा प्राचीनबर्हिषत् का ध्यान यज्ञों में होने वाले अत्यधिक पशुवध के अत्याचार की ओर आकृष्ट करना था। शास्त्रों का कथन है कि यज्ञ में पशुओं का वध करने से उन्हें मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। इसी प्रकार जो क्षत्रिय युद्धभूमि में न्यायोचित उद्देश्य से अपने शत्रुओं से लड़ते हुए अपने शत्रुओं को मारते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् स्वर्गलोक प्राप्त करते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह हत्यारे को इसी जीवन में दण्डित करे जिससे अपने अपराधों के लिए उसे अगले जन्म में कष्ट न भोगना पड़े। इसी आधार पर नारद मुनि राजा को आगाह कर रहे हैं कि उसके द्वारा यज्ञ में जितने पशुओं का वध हुआ है वे उसकी मृत्यु के बाद अपना बदला

लेने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। नारद मुनि यहाँ पर अपनी बात का खंडन नहीं कर रहे हैं। नारद मुनि राजा को विश्वास दिलाना चाहते थे कि अत्यधिक पशुवध खतरनाक है, क्योंकि यदि ऐसे यज्ञ में थोड़ी-सी भी त्रुटि रह जाती है, तो बलि किया गया पशु मनुष्य देह नहीं पा सकता। फलतः यज्ञ करने वाले पुरुष को ऐसे पशु की मृत्यु के लिए उत्तरदायी होना पड़ेगा, ठीक वैसे जैसे कोई हत्यारा अन्य व्यक्ति की हत्या के लिए जिम्मेदार होता है जब किसी बूचड़खाने में पशुओं का वध किया जाता है, तो उस वध के लिए छः व्यक्ति उत्तरदायी होते हैं, जो उस वध से सम्बधित हैं। जो व्यक्ति पशुवध की आज्ञा देता है, जो वध करता है, जो उसकी सहायता करता है, जो उसके मांस को खरीदता है, जो उसके मांस को पकाता है तथा जो उसे खाता है—ये सब हत्या के लिए उत्तरदायी बनते हैं। नारद मुनि राजा का ध्यान इसी तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाह रहे थे। इस प्रकार से यज्ञ में भी पशुवध को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

अत्र ते कथयिष्येऽमुमितिहासं पुरातनम् ।
पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मम ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ पर; **ते**—तुमसे; **कथयिष्ये**—कहूँगा; **अमुम्**—इस प्रसंग में; **इतिहासम्**—इतिहास; **पुरातनम्**—अत्यन्त प्राचीन; **पुरञ्जनस्य**—पुरञ्जन के विषय में; **चरितम्**—उसका चरित्र, आख्यान; **निबोध**—समझने का यत्न करो; **गदतः मम**—मैं सुना रहा हूँ।.

इस सम्बन्ध में मैं एक प्राचीन इतिहास सुनाना चाहता हूँ जो पुरञ्जन नामक राजा के चरित से सम्बन्धित है। इसे ध्यानपूर्वक सुनो।

तात्पर्य : नारद मुनि एक दूसरे प्रसंग की ओर मुड़ गये—यह था राजा पुरञ्जन का इतिहास। यह राजा प्राचीनबर्हिषत् का इतिहास है, जिसे भिन्न ढंग से कहा गया है। दूसरे शब्दों में, यह रूपक या अन्योक्ति है। *पुरञ्जन* शब्द का अर्थ है "जो देह का भोग करता है।" इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले कुछ अध्यायों में मिलती है। चूँकि भौतिक कर्मों में रत व्यक्ति भौतिक कार्यों से सम्बद्ध कहानियाँ सुनना चाहता है, अतः नारद ने राजा पुरञ्जन का चरित सुनाना प्रारम्भ किया जो एक तरह से प्राचीनबर्हिषत् का ही इतिहास था। नारद मुनि ने प्रत्यक्षरूप से यज्ञों की भर्त्सना नहीं की जिनमें पशुबलि दी जाती थी; किन्तु भगवान् बुद्ध ने प्रत्यक्ष रूप से ऐसा किया। श्रील जयदेव गोस्वामी ने कहा—*निन्दसि यज्ञ विधेरहह श्रुतिजातम्। श्रुतिजातम्* शब्द बताता है कि वेदों में पशुयज्ञ की संस्तुति है, किन्तु भगवान् बुद्ध

ने पशुयज्ञ बन्द कराने के लिए वैदिक प्रमाण का विरोध किया। फलत: जो वेदों के अनुयायी हैं, वे भगवान् बुद्ध को नहीं मानते। चूँकि वे वेदों के प्रमाण को नहीं मानते, इसलिए उन्हें नास्तिक के रूप में चित्रित किया जाता है। नारद मुनि वेदों के प्रमाण की अवहेलना नहीं कर सकते, किन्तु वे राजा प्राचीनबर्हिषत् को बता देना चाहते थे कि कर्मकाण्ड का मार्ग अत्यन्त कठिन एवं खतरनाक है।

मूर्ख लोग इन्द्रियसुख के लिए कर्मकाण्ड के कठिन मार्ग का अनुसरण करते हैं और जो लोग इन्द्रियसुख के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं, वे मूढ़ (दुष्ट) कहलाते हैं। मूढ़ अत्यन्त कठिनाई से जीवन के चरम लक्ष्य को समझ पाते हैं। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को अग्रसर करते समय हमें सचमुच यह देखने को मिलता है कि अनेक लोग इसके प्रति आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि वे सकाम कर्म में लगे रहने वाले मूढ़ हैं। कहा भी गया है—*उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।* यदि मूर्ख व्यक्ति को उपदेश दिया जाता है, तो वह क्रुद्ध होता है और उपदेश से लाभ उठाने के बजाय उसके विरुद्ध कार्य करता है। चूँकि नारद मुनि इससे भली-भाँति परिचित थे, अत: उन्होंने अप्रत्यक्ष रीति से राजा को उसका पूरा इतिहास बताकर उपदेश देना चाहा। सोने या हीरे की नथुनी या बाली पहनने के लिए नाक या कान छिदवाना पड़ता है। इन्द्रियतृप्ति के लिए इस प्रकार की पीड़ा कर्मकाण्ड के मार्ग पर सह ली जाती है। यदि कोई भविष्य में सुख चाहता है, तो उसे वर्तमान में कष्ट उठाना पड़ेगा। यदि कोई भविष्य में करोड़पती बनकर सुखोपभोग करना चाहता है, तो उसे इस जीवन में धन संचित करने के लिए अत्यधिक श्रम करना होगा। यही *कर्म-काण्ड* है। जो इस मार्ग के प्रति अनुरक्त हैं उन्हें खतरे तो सहने ही पड़ते हैं। नारद मुनि राजा प्राचीनबर्हिषत् को दिखा देना चाहते थे कि सकाम कर्म में लगे रहने के लिए कितने महान् कष्ट सहने पड़ते हैं। जो व्यक्ति भौतिक कर्म के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है, वह *विषयी* कहलाता है। *विषयी* का अर्थ है विषय का भोग करने वाला, जिसका अर्थ है खाना, सोना, संभोग करना तथा अपनी रक्षा करना। नारद मुनि राजा पुरञ्जन की कथा के माध्यम से यह बताना चाह रहे हैं कि खाना, सोना, संभोग करना तथा अपनी रक्षा करना—ये सारे कर्म अत्यन्त कष्टप्रद एवं खतरनाक हैं।

इतिहासम् तथा *पुरातनम्* शब्द यह बताते हैं कि यद्यपि जीवात्मा भौतिक शरीर के भीतर रहता है, किन्तु उसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्ति विनोद ठाकुर का गीत है—

अनादि कर्मफले, पड़ि'भवार्णवजले, तरिबारे ना देखि उपाय—"अपने पूर्वकर्मों के कारण मैं संसार रूपी सागर के जल में गिर गया हूँ और अब मुझे इसमें से निकलने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा।" इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीवात्मा अपने विगत कर्मों के कारण दुख उठा रहा है, अत: हर एक का अपना-अपना प्राचीन इतिहास है। मूर्ख भौतिक विज्ञानियों ने विकास सम्बन्धी अपने-अपने सिद्धान्त बनाये हैं जिनका सम्बन्ध केवल भौतिक शरीर से है। किन्तु वास्तव में यही असली विकास नहीं है। असली विकास तो जीवात्मा का इतिहास है, जो *पुरञ्जन* अर्थात् शरीर के भीतर रहने वाला है। श्री नारद मुनि इस विकास सिद्धान्त की व्याख्या विज्ञ पुरुषों के लिए भिन्न रूप में करेंगे।

आसीत्पुरञ्जनो नाम राजा राजन्बृहच्छ्रवाः ।
तस्याविज्ञातनामासीत्सखाविज्ञातचेष्टितः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आसीत्—था; पुरञ्जनः—पुरञ्जन; नाम—नामक; राजा—राजा; राजन्—हे राजा; बृहत्-श्रवाः—यशस्वी, जिसके कार्य महान् थे; तस्य—उसका; अविज्ञात—अविज्ञात, ज्ञात न होना; नामा—नामक; आसीत्—था; सखा—मित्र; अविज्ञात—अज्ञात; चेष्टितः—जिसके कर्म।

हे राजन्, प्राचीन काल में पुरुञ्जन नामक एक राजा था, जो अपने महान् कार्यों के लिए विख्यात था। उसके एक मित्र था जिसका नाम अविज्ञात (अज्ञात) था। अविज्ञात के कार्यों को कोई भी नहीं समझ सकता था।

तात्पर्य : प्रत्येक जीवात्मा *पुरञ्जन* है। *पुरम्* शब्द का अर्थ है "इस शरीर के भीतर या इस रूप के भीतर" तथा *जन* का अर्थ है "जीवात्मा"। अत: प्रत्येक व्यक्ति *पुरञ्जन* है। प्रत्येक जीवात्मा अपने शरीर का राजा माना जा सकता है, क्योंकि जीवात्मा को अपनी इच्छानुसार शरीर का उपभोग करने की छूट है। वह अपने शरीर को सामान्यत: इन्द्रियतृप्ति में लगाता है, क्योंकि जिसे देहात्मबुद्धि प्राप्त है, वह इन्द्रियों की सेवा को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझता है। यह *कर्मकाण्ड* विधि है। जिसे आन्तरिक ज्ञान नहीं है, जो यह नहीं जानता कि वह वास्तव में शरीर के भीतर का जीवात्मा है और जो इन्द्रियों के आदेशों का ही पालन करता है, वह भौतिकतावादी है। ऐसा व्यक्ति जो मात्र इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखता है *पुरञ्जन* कहलाता है। चूँकि ऐसा व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का उपभोग अपनी सनक के अनुसार करता है, अत: उसे राजा भी कहा जा सकता है। एक गैर जिम्मेदार राजा अपने राजसी पद को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानकर इन्द्रियतृप्ति के हेतु अपने कोष का दुरुपयोग करने लगता है।

बृहच्छ्रवा: शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *छ्रव:* शब्द का अर्थ है ''यश''। जीवात्मा अत्यन्त प्राचीन काल से विख्यात है जैसाकि *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है—*न जायते म्रियते वा*—''जीवात्मा न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है।'' शाश्वत होने से, जीवात्मा के कर्म भी शाश्वत हैं, भले ही वह उन्हें विभिन्न शरीरों में सम्पन्न करे। *न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—''इस शरीर का विनाश हो जाने पर भी वह मरता नहीं।'' इस प्रकार जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तर करता है और विभिन्न कर्म करता रहता है। प्रत्येक शरीर में जीवात्मा न जाने कितने कार्य करता है। कभी वह वीर बनता है—जैसे हिरण्यकशिपु तथा कंस या कि आधुनिक युग में नैपोलियन या हिटलर। ऐसे पुरुषों के कार्य सचमुच महान् होते हैं, किन्तु उनके शरीर का नाश होते ही सभी कुछ नष्ट हो जाता है। केवल उनका नाम रह जाता है। अत: जीवात्मा को *बृहच्छ्रवा:* कहा जा सकता है; वह नाना प्रकार के कार्यों के फलस्वरूप विख्यात हो सकता है। तो भी उसके एक मित्र होता है, जिसे वह नहीं जानता। भौतिकतावादी पुरुष यह नहीं जानते कि परमात्मा रूप में ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान है। यद्यपि परमात्मा जीवात्मा के निकट मित्र रूप में आसीन रहता है, किन्तु जीवात्मा उसे नहीं जान पाता। फलस्वरूप उसे *अविज्ञात-सखा* कहा गया है, जिसका अर्थ है ''जिसके एक अज्ञात मित्र है।'' *अविज्ञात-चेष्टित:* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जीवात्मा को परमात्मा के निर्देशानुसार कठिन श्रम करना पड़ता है और वह प्राकृतिक नियमों के द्वारा संचालित होता है। तो भी वह अपने को ईश्वर तथा प्रकृति के कठोर नियमों से स्वतंत्र मानता है। *भगवद्गीता* (२.२४) में कहा गया है—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्य: सर्वगत: स्थाणुरचलोऽयं सनातन: ॥

''यह व्यष्टि आत्मा अटूट तथा अघुलनशील है। न तो इसे जलाया जा सकता है न सुखाया जा सकता है। यह नित्य, सर्वव्यापी, अपरिवर्तनशील, अचर तथा सनातन (शाश्वत) है।''

जीवात्मा सनातन (शाश्वत) है। चूँकि इसे न तो किसी हथियार से मारा जा सकता है, न अग्नि से जलाया जा सकता है, न जल से भिगोया जा सकता है, न वायु से सुखाया जा सकता है, अत: इसे भौतिक प्रतिक्रियाओं से निर्लिप्त माना गया है। यद्यपि वह शरीर बदलता रहता है, किन्तु उस पर भौतिक परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह भौतिक परिस्थितियों में रहकर अपने मित्र

परमात्मा के आदेशानुसार कार्य करता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।" इस प्रकार भगवान् परमात्मा रूप में प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है और जीवात्मा जिस दिशा में कार्य करना चाहता है उसे वैसे ही निर्देशित करता है। जीवात्मा को यह पता नहीं है कि इस जन्म में तथा विगत जन्मों में भगवान् उसे सभी प्रकार की इच्छाएँ पूरी करने का अवसर प्रदान करता रहा है। भगवान् की स्वीकृति के बिना कोई भी इच्छा पूरी नहीं हो सकती। भगवान् द्वारा प्रदत्त समस्त सुविधाओं के प्रति बद्धजीव अचेत रहता है।

सोऽन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः ।
नानुरूपं यदाविन्ददभूत्स विमना इव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—वह राजा पुरञ्जन; अन्वेषमाणः—खोजता हुआ; शरणम्—आश्रय; बभ्राम—घूमा; पृथिवीम्—सम्पूर्ण पृथ्वीलोक पर; प्रभुः—स्वतंत्र स्वामी बनने के लिए; न—कभी नहीं; अनुरूपम्—इच्छानुकूल, उपयुक्त; यदा—जब; अविन्दत्—पा सका; अभूत्—हुआ; सः—वह; विमनाः—खिन्न; इव—सदृश।

राजा पुरञ्जन अपने रहने के लिए उपयुक्त स्थान खोजने लगा और इस तरह वह सारा संसार घूम आया। फिर भी कड़ी दौड़-धूप के बाद भी उसे अपनी इच्छा के अनुकूल कोई स्थान नहीं मिला। अन्त में वह अत्यन्त खिन्न और निराश हो उठा।

तात्पर्य : पुरञ्जन का भ्रमण ठीक वैसा ही था जैसाकि आज के हिप्पियों का। सामान्यतः ये हिप्पी उच्चकुल के तथा बड़े बाप की सन्तानें होते हैं। ऐसा नहीं है कि वे सदैव निर्धन ही रहे हों। वे किसी न किसी तरह अपने धनी माता-पिता के आश्रय को त्याग कर सारे विश्व भर में घूमते रहते हैं। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख किया गया है, जीवात्मा *प्रभु* बनना चाहता है। *प्रभु* का अर्थ है "स्वामी" किन्तु वस्तुतः जीवात्मा स्वामी नहीं होता, वह तो ईश्वर का नित्य दास है। जब जीवात्मा भगवान् श्रीकृष्ण की शरण त्याग कर स्वतंत्र रूप से प्रभु बनना चाहता है, तो वह सारी सृष्टि का चक्कर लगाता है। जीवन की चौरासी लाख योनियाँ हैं और इस सृष्टि में अरबों-खरबों लोक हैं। जीवात्मा इन समस्त योनियों तथा विभिन्न लोकों में भटकता रहता है और वह राजा पुरञ्जन के समान है, जिसने अपने अनुकूल स्थान की खोज करने के लिए सारे विश्व का भ्रमण किया था।

श्री नरोत्तमदास ठाकुर के गीत की पंक्तियाँ हैं—*कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड*—"कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के पथ विष के मजबूत बर्तन के तुल्य हैं।" *अमृत बलिया येबा खाय, नाना योनि सदा फिरे*—"जो धोखे से इस विष को अमृत समझ कर पीता है, वह विभिन्न योनियों में घूमता रहता है।" *कदर्य भक्षण करे*—"और वह अपने शरीर के अनुसार सभी प्रकार की घृणित वस्तुएँ खाता है।" उदाहरणार्थ, जब जीवात्मा शूकर का शरीर धारण करता है, तो वह विष्टा खाता है। जब वह कौवे के रूप में रहता है, तो सभी प्रकार का मल, यहाँ तक कि पीब तथा मज्जा भी खाता है और प्रसन्न होता है। इस प्रकार नरोत्तमदास ठाकुर यह इंगित करते हैं कि जीवात्मा विभिन्न शरीरों में भ्रमण करता और कुत्सित से कुत्सित पदार्थ खाता रहता है और जब वह अन्तत: सुखी नहीं हो पाता तो या तो खिन्न रहने लगता है या फिर हिप्पी बन जाता है।

अत: इस श्लोक में कहा गया है कि राजा को कहीं भी कोई उपयुक्त स्थान नहीं मिल पाया (*न अनुरूपम्*)। इसका कारण यह है कि किसी भी योनि में तथा संसार के किसी भी लोक में जीवात्मा सुखी नहीं रह सकता क्योंकि इस संसार की प्रत्येक वस्तु आत्मा के अनुकूल नहीं है। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, जीवात्मा स्वतंत्र होकर प्रभु बनना चाहता है, किन्तु ज्योंही वह इस विचार को अपने मन से निकाल देता है और ईश्वर अर्थात् श्रीकृष्ण का दास बन जाता है, तो वह तुरन्त सुखी हो जाता है। इसीलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर गाते हैं—*मिछे मायार वशे, याच्छ भेसे', खाच्छ हाबुडुबु भाइ*—"हे जीव! तुम माया की तरंगों में क्यों बहे जा रहे हो?" *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है और उन सभी जीवों का निर्देशन कर रहा है, जो माया रूपी यंत्र पर आरूढ़ हैं।"

जीवात्मा शरीर रूपी यंत्र द्वारा अनेक योनियों में से होकर न जाने कितने-कितने लोकों में ले जाया जाता है। इसीलिए भक्तिविनोद ठाकुर जीवात्मा से पूछते हैं कि उसे क्यों इन शारीरिक यंत्रों द्वारा इतनी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में ले जाया जा रहा है। उनका उपदेश है कि कृष्ण की शरण में जाने से माया

की तरंगों को पार किया जा सकता है—*जीव कृष्णदास, ए विश्वास, कर्ले त'आर दुःख नाइ।* ज्योंही कृष्ण से हमारा साक्षात्कार हो जाता है, भगवान् आदेश देते हैं कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"सभी प्रकार के धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सारे पापकर्मों से मुक्त कर दूँगा। डरो नहीं। (*भगवद्गीता* १८.६६)।

इस प्रकार हम तुरन्त ही एक शरीर से दूसरे में और एक लोक से दूसरे लोक में विचरण करने की झंझट से मुक्त हो जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव* (*चैतन्य-चरितामृत, मध्य* १९.१५१)। यदि कोई भ्रमण करता हुआ जीवात्मा इतना भाग्यशाली हुआ कि भक्तों की संगति कर सके और कृष्णभावनाभावित हो सके तो वास्तव में यहीं से उसका असली जीवन प्रारम्भ हो जाता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन सभी भटकती हुई जीवात्माओं को श्रीकृष्ण की शरण में जाने का तथा इस प्रकार सुखी बनने का अवसर प्रदान करता है।

इस श्लोक के *विमना इव* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस भौतिक जगत में स्वर्ग का राजा इन्द्र भी चिन्ता से पूर्ण रहता है। जहाँ ब्रह्मा तक चिन्तित हों वहाँ इस लोक के सामान्य प्राणियों का क्या कहना? *भगवद्गीता* (८.१६) भी पुष्टि करती है—*आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*—"इस भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम लोक तक—ये सभी दुख के आगार हैं, जहाँ जन्म तथा मृत्यु बारम्बार होते रहते हैं।" इस जगत में जीवात्मा कभी सन्तुष्ट नहीं होता। यहाँ तक कि ब्रह्मा, इन्द्र या चन्द्र का पद प्राप्त करके भी मनुष्य चिन्तित रहता है, क्योंकि वह इस संसार को सुख का स्थान मानता है।

न साधु मेने ताः सर्वा भूतले यावतीः पुरः ।
कामान्कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; साधु—अच्छा; मेने—सोचा था; ताः—उनको; सर्वाः—सब; भू-तले—इस पृथ्वी पर; यावतीः—सभी प्रकार के; पुरः—आवास स्थान; कामान्—इन्द्रियभोग के साधन; कामयमानः—इच्छा करते हुए; असौ—वह राजा; तस्य—उसका; तस्य—उसका; उपपत्तये—प्राप्त करने के लिए।

राजा पुरञ्जन की इन्द्रियभोग की लालसाएँ असीम थीं, अतः वह सारे संसार में ऐसा स्थान

खोजने के लिए भ्रमण करता रहा जहाँ उसकी इच्छाएँ पूरी हो सकें। किन्तु हाय! उसे सर्वत्र अभाव की अनुभूति ही प्रतीत हुई।

तात्पर्य : महान् वैष्णव कवि श्रील विद्यापति का गीत है—*तातल सैकते, वारिबिन्दुसम सुतमितरमणीसमाजे*—यहाँ पर समाज, मित्रता तथा प्यार से युक्त भौतिक इन्द्रियतृप्ति की तुलना मरुस्थल में गिरने वाली पानी की बूँद से की गई है। मरुस्थल की प्यास बुझाने के लिए तो अनेक सागरों का जल चाहिए, अत: यदि उसके ऊपर पानी की एक बूँद गिरे तो उससे क्या लाभ? इसी प्रकार जीवात्मा परम पुरुष भगवान् का अंश स्वरूप है जिन्हें *वेदान्त सूत्र* में *आनन्दमयोऽभ्यासात्* अर्थात् आनन्द से पूर्ण कहा गया है। किन्तु भगवान् के अंश होने पर जीव पूर्ण भोग (सुख) प्राप्त करने का प्रयास करता है किन्तु भगवान् से पृथक् रहकर वह पूर्ण सुख नहीं पा सकता। भले ही अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ जीवात्मा किसी एक शरीर में किसी प्रकार का भोग प्राप्त कर ले, किन्तु किसी भी भौतिक देह में इन्द्रियों का पूर्ण भोग प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार पुरञ्जन जीवात्मा विभिन्न देहों में घूमता है, किन्तु भोग के प्रयास में उसे सर्वत्र निराशा हाथ लगती है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ से आच्छादित जीवात्मा को किसी भी दशा में इन्द्रियों का पूर्ण भोग प्राप्त नहीं हो सकता। कोई मृग शिकारी द्वारा किये गये संगीतमय नाद में लीन हो सकता है, किन्तु परिणाम क्या होता है—मृत्यु! इसी प्रकार मछली अपनी जीभ की तृप्ति में परम कुशल है, किन्तु जब वह मछुए द्वारा फेंके गये चारे को खा लेती है, तो उसे जान से हाथ धोना पड़ता है। यहाँ तक कि परम बलशाली हाथी भी हथिनी के साथ संभोग करते हुए पकड़े जाने पर अपनी स्वतंत्रता खो देता है। प्रत्येक योनि में जीवात्मा को अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए एक शरीर प्राप्त होता है, किन्तु एकसाथ वह सारी इन्द्रियों का भोग नहीं कर सकता। किन्तु मनुष्य जीवन में जीवात्मा को अपनी समस्त इन्द्रियों को तृप्त करने का अवसर मिलता है, किन्तु इन्द्रियतृप्ति के प्रयास में वह इतना तंग आ जाता है कि अन्तत: खिन्न हो उठता है। अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए वह जितना अधिक प्रयास करता है, उतना ही अधिक वह उलझता जाता है।

स एकदा हिमवतो दक्षिणेष्वथ सानुषु ।
ददर्श नवभिर्द्वार्भिः पुरं लक्षितलक्षणाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—उस राजा पुरञ्जन ने; एकदा—एक बार; हिमवतः—हिमालय पर्वत के; दक्षिणेषु—दक्षिणी; अथ—तत्पश्चात्; सानुषु—शिखरों पर; ददर्श—देखा; नवभिः—नौ; द्वार्भिः—द्वारों से युक्त; पुरम्—नगर; लक्षित—दृश्य; लक्षणाम्—सुलक्षणों वाला।

एक बार, इस प्रकार से विचरण करते हुए, उसने हिमालय पर्वत के दक्षिण में, भारतवर्ष नामक देश में एक नगर देखा जिसमें चारों ओर नौ दरवाजे थे और जो समस्त सुलक्षणों से युक्त था।

तात्पर्य : हिमालय पर्वत के दक्षिण का भूभाग भारतवर्ष है। जो जीव भारतवर्ष में जन्म लेता है, वह अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता है। निस्सन्देह, चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि'कर पर-उपकार॥

(*चै. च. आदि* ९.४१)

इस प्रकार जो भी भारतभूमि में जन्म लेता है, उसे जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। वह भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए इन सुविधाओं का उपयोग करके अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। जीवन-उद्देश्य प्राप्त करने के पश्चात्, मनुष्य अपने ज्ञान तथा अनुभव को मानव-हित में सारे संसार में वितरित कर सकता है। दूसरे शब्दों में, जो मनुष्य अपने पूर्व-पुण्यों के कारण भारतवर्ष में जन्म लेता है, उसे इस मनुष्य-जीवन को विकसित करने की पूरी सुविधा मिलती है। भारतवर्ष की जलवायु ऐसी है कि कोई भी इसमें भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना शान्तिपूर्वक जीवन बिता सकता है। दरअसल, महाराज युधिष्ठिर या भगवान् रामचन्द्र जी के काल में लोग समस्त चिन्ताओं से मुक्त रहते थे। न तो अधिक शीत होती थी, न अधिक गर्मी पड़ती थी। भगवान् रामचन्द्र अथवा महाराज युधिष्ठिर के काल में तीनों प्रकार के ताप (अध्यात्मिक, अधिभौतिक तथा अधिदैविक) थे ही नहीं। किन्तु इस समय, अन्य देशों की तुलना में भारत कृत्रिमतः विक्षुब्ध है। इन सब भौतिक हलचलों के बावजूद इस देश की संस्कृति ऐसी है कि मनुष्य सरलता से जीवन का लक्ष्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस तरह भारतवर्ष में जन्म लेने के लिए मनुष्य को पूर्वजन्म में पुण्य करने होते हैं।

इस श्लोक का *लक्षित-लक्षणाम्* शब्द सूचित करता है कि भारतवर्ष में शरीर धारण करना अत्यन्त शुभ है। वैदिक संस्कृति ज्ञानमय है और इस देश में जन्म लेने वाला मनुष्य यहाँ के वैदिक ज्ञान तथा

सांस्कृतिक पद्धति का, जिसे *वर्णाश्रम-धर्म* कहते हैं, लाभ उठा सकता है। आज भी विश्व में भ्रमण करते समय बहुत से ऐसे देश हमारी दृष्टि में आये हैं जहाँ मनुष्यों को सारी भौतिक सुविधाएँ हैं, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति के लिए कोई सुविधा नहीं हैं। हमें सर्वत्र या तो सुविधाओं का अभाव मिलता है या एकांगी सुविधाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। अंधा चल सकता है, किन्तु देख नहीं सकता और लँगड़ा चल नहीं सकता, किन्तु देख सकता है। *अन्ध-पङ्गु-न्याय।* अंधा व्यक्ति लँगड़े को अपने कंधे पर बिठा सकता है और लँगड़ा आदमी उसे रास्ता बता सकता है। इस प्रकार वे सहयोग से काम चला लेते हैं, किन्तु अलग-अलग वे देखने या चलने का काम ठीक से नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह मनुष्य देह आध्यात्मिक जीवन एवं भौतिक सुविधाओं को व्यवस्थित रखने के लिए प्राप्त हुई है। पाश्चात्य देशों में तो विशेष रूप से भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु किसी को आध्यात्मिक उन्नति का कोई ज्ञान नहीं है। अनेक लोग आध्यात्मिक ज्ञान के पीछे दीवाने हैं, किन्तु बीच में अनेक ठग आकर उनका धन ले कर उन्हें उल्लू बनाकर चले जाते हैं। सौभाग्यवश कृष्णभावनामृत-आन्दोलन भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करता है। इसलिए पाश्चात्य देशों के लोगों को चाहिए कि इस आन्दोलन का लाभ उठाएँ। भारत के गाँव, जो आज भी औद्योगिक शहरों से अछूते हैं, वहाँ कोई चाहे जिस भी अवस्था में हो उस में रह सकता है और आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस शरीर को नौ द्वारों से युक्त नगर कहा गया है। ये नौ द्वार हैं—दो नेत्र, दो कान, दो नथुने, एक मुँह, उपस्थ तथा गुदा। जब नवों द्वार स्वच्छ रहें और ठीक से कार्य करें तो समझना चाहिए कि शरीर स्वस्थ है। भारतवर्ष में ग्रामीणों द्वारा ये नौ द्वार स्वच्छ रखे जाते हैं, क्योंकि वे प्रात:काल जल्दी उठकर नदी या कुएँ में स्नान करते हैं, मन्दिर में जाकर मंगल-आरती करते हैं और हरे कृष्ण महामंत्र का उच्चारण करके प्रसाद ग्रहण करते हैं। इस प्रकार मनुष्य जीवन की प्रत्येक सुविधा का लाभ उठाया जा सकता है। हम पाश्चात्य देशों में अपने संघ के विभिन्न केन्द्रों में इस पद्धति को क्रमश: लागू कर रहे हैं। जो इसका लाभ उठाता है, वह आध्यात्मिक जीवन की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता है। इस समय भारतवर्ष की तुलना लँगड़े व्यक्ति से की जा सकती है और पाश्चात्य देशों की अंधे व्यक्ति से। विगत दो हजार वर्षों से भारतवर्ष विदेशी शासकों के अधीन रहा है, जिससे उसकी प्रगति लँगड़ी हो चुकी है। पाश्चात्य देशों में भौतिक ऐश्वर्य की चमक-दमक से लोगों की आँखें अंधी हो चुकी हैं। इस

कृष्णाभावनामृत-आन्दोलन में भारतवर्ष के लँगड़े व्यक्ति तथा पाश्चात्य देश के अंधे व्यक्ति को मिल जाना चाहिए। तब भारत का लँगड़ा मनुष्य पाश्चात्य देश के अंधे वासी की सहायता से चल सकता है और पाश्चात्य देश का अंधा भारत के लँगड़े की सहायता से देख सकता है। संक्षेप में, पाश्चात्य देशों की भौतिक उन्नति तथा भारत की आध्यात्मिक निधि को समस्त मानव समाज की उन्नति के लिए एकसाथ जोड़ दिया जाना चाहिए।

प्राकारोपवनाट्टालपरिखैरक्षतोरणैः ।
स्वर्णरौप्यायसैः शृङ्गैः सङ्कुलां सर्वतो गृहैः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

प्राकार—दीवालें; उपवन—उद्यान; अट्टाल—अटारियाँ, मीनारें; परिखैः—खाइयों से; अक्ष—खिड़कियों; तोरणैः—द्वारों से; स्वर्ण—सोना; रौप्य—चाँदी; अयसैः—लोहे से निर्मित; शृङ्गैः—कंगूरों या शिखरों से; सङ्कुलाम्—खचाखच भरा हुआ; सर्वतः—चारों ओर; गृहैः—घरों से।

वह नगर चारों ओर दीवालों तथा उद्यानों से घिरा था और उसके भीतर मीनारें, नहरें, खिड़कियाँ तथा झरोखे थे। वहाँ के घर सोने, चाँदी तथा लोहे के बने गुम्बदों से अलंकृत थे।

तात्पर्य : शरीर की सुरक्षा के लिए त्वचा की दीवाल होती है। शरीर के रोम उद्यानों के तुल्य हैं तथा नाक तथा मस्तक जैसे उच्चस्थ भाग मीनारों के समान हैं। शरीर में पड़ी हुई झुर्रियाँ खाइयों या नहरों के तुल्य हैं, आँखें झरोखे हैं और पलकें सुरक्षात्मक दरवाजे हैं। तीन प्रकार की धातुएँ—सोना, चाँदी तथा लोहा—ये प्रकृति के तीन गुणों के सूचक हैं। सोना सतोगुण का, चाँदी रजोगुण का तथा लोहा तमोगुण का प्रतीक है। इस शरीर को कभी-कभी तीन तत्त्वों (त्रिधातुओं) से युक्त एक थैला कहा जाता है। ये त्रिधातुएँ हैं—कफ, पित्त तथा वायु। *यस्मात्बुद्धिः कुणपे त्रिधातुके। भागवत* के अनुसार (१०.८४.१३) जो व्यक्ति कफ, पित्त तथा वात के इस थैले को आत्मा (स्व) मानता है, वह गाय या गधे के तुल्य है।

नीलस्फटिकवैदूर्यमुक्तामरकतारुणैः ।
क्लिप्तहर्म्यस्थलीं दीप्तां श्रिया भोगवतीमिव ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नील—नीलम; स्फटिक—स्फटिक; वैदूर्य—हीरे; मुक्ता—मोती; मरकत—पन्ना; अरुणैः—लालों से; क्लिप्त—सजा हुआ; हर्म्य-स्थलीम्—राजमहल की फर्शें; दीप्ताम्—दीप्ति युक्त; श्रिया—सौंदर्य से; भोगवतीम्—भोगवती नामक स्वर्ग की नगरी; इव—सदृश।

उस नगर के घरों की फर्शें नीलम, स्फटिक, हीरे, मोती, पन्ना तथा लाल से निर्मित थीं। घरों की कान्ति के कारण यह नगर भोगवती नामक स्वर्गीय नगरी के समान लग रहा था।

तात्पर्य : इस शरीर रूपी नगर की राजधानी हृदय है। जिस प्रकार किसी राज्य की राजधानी में ऊँचे-ऊँचे तथा कान्तिमय प्रासाद रहते हैं, उसी प्रकार हृदय अनेक इच्छाओं तथा विषयभोग की अनेक योजनाओं से पूर्ण होता है। ऐसी योजनाओं की तुलना कभी कभी नीलम, स्फटिक, पन्ना, मोती इत्यादि से की जा सकती है। इस प्रकार हृदय भौतिक सुख की समस्त योजनाओं का केन्द्र बना रहता है।

सभाचत्वररथ्याभिराक्रीडायतनापणैः ।
चैत्यध्वजपताकाभिर्युक्तां विद्रुमवेदिभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सभा—सभा भवन; चत्वर—चौराहे; रथ्याभिः—सड़कों से; आक्रीड-आयतन—द्यूतक्रीड़ा स्थल; आपणैः—दूकानों से; चैत्य—विहार स्थल; ध्वज-पताकाभिः—ध्वज तथा पताकाओं से; युक्ताम्—सुसज्जित; विद्रुम—वृक्षरहित; वेदिभिः—चबूतरों से।

उस नगर में अनेक सभाभवन, चौराहे, सड़कें, खान-पान-गृह, द्यूतक्रीड़ा-स्थल, बाजार, विश्रामालय, झंडियाँ, पताकाएँ तथा सुन्दर उद्यान थे। वह नगर इन सबसे घिरा था।

तात्पर्य : राजधानी का इस प्रकार से वर्णन हुआ है। राजधानी में अनेक सभागार तथा चौराहे, अनेक सड़कें तथा वीथियाँ, द्यूतक्रीड़ा स्थल, बाजार, विश्राम-गृह हुआ करते हैं, जो तरह-तरह की झंडियों तथा पताकाओं से सजे होते हैं। चौराहों में चारों ओर वेदिका स्तम्भ लगे रहते हैं और ये चौराहे वृक्षों से रहित होते हैं। शरीर का हृदय सभागार के समान है, क्योंकि जीवात्मा परमात्मा सहित हृदय के भीतर स्थित रहता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* यह हृदय ही समस्त स्मृति, विस्मृति तथा विचार विमर्ष का केन्द्र होता है। शरीर में आँखें, कान तथा नाक इन्द्रियभोग के आकर्षण-स्थल के तुल्य हैं तथा शरीर के भीतर चलने वाली वायु इधर-उधर जाने वाली सड़कों के तुल्य हैं। शरीर के भीतर तथा स्नायुओं में वायु को नियमित करने की योगविधि *सुषुम्ना* कहलाती है, जिसका अर्थ है मोक्ष का मार्ग। यह शरीर विश्रामालय के तुल्य है, क्योंकि जीवात्मा थककर इस शरीर में ही विश्राम करता है। हथेलियाँ तथा तलवे झंडे तथा झंडियों के तुल्य माने जा सकते हैं।

**पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले ।
नदद्विहङ्गालिकुलकोलाहलजलाशये ॥ १७॥**

शब्दार्थ

पुर्याः—नगर के; तु—तब; बाह्य-उपवने—बाहरी उद्यान में; दिव्य—अत्यन्त सुन्दर; द्रुम—वृक्ष; लता—बेलों; आकुले—से पूरित; नदत्—शब्द करते हुए; विहङ्ग—पक्षी; अलि—भौंरा; कुल—समूह; कोलाहल—गुंजार; जल-आशये—सरोवर में।

उस नगर के बाहर एक सुन्दर सरोवर के चारों ओर अनेक सुन्दर वृक्ष तथा लताएँ थीं। उस सरोवर में पक्षियों तथा भौंरों के झुंड के झुंड थे, जो सदैव कूजते तथा गुंजार करते थे।

तात्पर्य : चूँकि यह शरीर एक विशाल नगर के तुल्य है, अत: उसमें इन्द्रियभोग के लिए जलाशयों तथा उद्यानों की व्यवस्था होनी चाहिए। शरीर के विभिन्न अंगों में से जो इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले हैं, उनकी चर्चा यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से हुई है। चूँकि शरीर में जननेद्रियाँ होती हैं, अत: उम्र आने पर, चाहे नर हो या नारी, कामोत्तेजना उत्पन्न होती है। व्यक्ति जब तक बालक रहता है, सुन्दर स्त्री को देखकर उसके मन में उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती। इन्द्रियों के होते हुए भी जब तक परिपक्व अवस्था नहीं होती, कामोत्तेजना उत्पन्न नहीं होती। यहाँ पर कामोत्तेजना उत्पन्न करने वाली अनुकूल परिस्थितियों की उपमा सुन्दर उद्यान से दी गई है। जब कोई स्त्री को देखता है, तो सहज ही कामोत्तेजना उत्पन्न होती है। कहा जाता है कि यदि मनुष्य एकान्त स्थान में स्त्री को देखे और उसका मन उत्तेजित न हो, तो वह ब्रह्मचारी समझा जाता है। किन्तु ऐसा कर पाना प्राय: असम्भव है। काम वासना इतनी प्रबल होती है कि स्त्री के दर्शन, स्पर्श या बोलने से या उसका विचार आने जैसे ऐसे कई कारणों से मनुष्य उत्तेजित हो उठता है। फलत: ब्रह्मचारी या संन्यासी को स्त्री के संग में, विशेष रूप से एकान्त में रहने के लिए वर्जित किया जाता है। शास्त्रों का मत है कि स्त्री से एकान्त में बातें नहीं करनी चाहिए, भले ही वह अपनी पुत्री, बहिन या माता ही क्यों न हो। कामोत्तेजना इतनी प्रबल होती है कि विद्वान् से विद्वान् पुरुष ऐसी परिस्थितियों में उत्तेजित (कामुक) हो उठता है। यदि ऐसी स्थिति है, तो भला सुन्दर उद्यान में सुन्दर तरुणी को देखकर कोई कैसे शान्त रह सकता है?

**हिमनिर्झरविप्रुष्मत्कुसुमाकरवायुना ।
चलत्प्रवालविटपनलिनीतटसम्पदि ॥ १८॥**

शब्दार्थ

हिम-निर्झर—हिमाच्छादित पर्वत प्रपातों से; विप्रुट्-मत्—जलकणों को ले जाकर; कुसुम-आकर—वासन्ती; वायुना—वायु से; चलत्—हिलते हुए; प्रवाल—शाखाएँ; विटप—वृक्ष; नलिनी-तट—कमलिनी से भरे सरोवर के तट पर; सम्पदि—ऐश्वर्यवान।

सरोवर के तट पर खड़े हुए वृक्षों की शाखाएँ उन जलकणों को ग्रहण कर रही थीं जो हिमाच्छादित पर्वत से गिरने वाले झरनों से वासन्ती वायु द्वारा ले जाये जा रहे थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *हिम-निर्झर* शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जलप्रपात (झरना) *रस* (सम्बन्ध) का द्योतक है। शरीर में अनेक प्रकार के रस हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ रस *आदि-रस* (शृंगार रस) कहलाता है। जब *आदि-रस* कामदेव द्वारा प्रेरित वासन्ती वायु के सम्पर्क में आता है, तो यह उत्तेजित हो उठता है। दूसरे शब्दों में, ये सब रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श के प्रतिरूप हैं। वायु स्पर्श है, प्रपात रस (स्वाद) है, वासन्ती वायु (*कुसुमाकर*) सुगन्धि है। ये विविध भोग जीवन को मोहक बनाते हैं और हम भौतिक संसार के वशीभूत हो जाते हैं।

नानारण्यमृगव्रातैरनाबाधे मुनिव्रतैः ।
आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नाना—विभिन्न; अरण्य—वन; मृग—पशु; व्रातैः—समूहों से; अनाबाधे—अहिंसा के मामले में; मुनि-व्रतैः—मुनियों के तुल्य; आहूतम्—मानो बुलाये जा रहे हों; मन्यते—सोचता है; पान्थः—यात्री, पथिक; यत्र—जहाँ; कोकिल—कोयल के; कूजितैः—कू-कू करने से।

ऐसे वातावरण में वन के पशु भी मुनियों के समान ही अहिंसक एवं ईर्ष्याहीन हो गये थे, अतः वे किसी पर आक्रमण नहीं करते थे। यही नहीं, सर्वत्र कोयलें कूज रही थीं। उस रास्ते से निकलने वाले किसी भी पथिक को मानो उस सुन्दर उद्यान में विश्राम करने का निमंत्रण दिया जा रहा हो।

तात्पर्य : स्त्री तथा बच्चों से भरापूरा परिवार वन के शान्त वातावरण के सदृश है। बच्चों की तुलना अहिंसक पशुओं से की गई है। कभी-कभी स्त्रियों तथा बच्चों को *स्वजनाख्य-दस्यु* कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि स्वजनों के नाम से लुटेरे। मनुष्य अत्यन्त परिश्रम से धन कमाता है, किन्तु उसकी पत्नी तथा बच्चों द्वारा उसका धन उसी प्रकार हथिया लिया जाता जिस प्रकार जंगल के रास्ते से जाने वाले व्यक्ति को चोर तथा लुटेरे लूट लेते हैं। फिर भी परिवार के भीतर पत्नी तथा बच्चों की यह धमा-चौकड़ी पारिवारिक उद्यान में कोयल की कूक के समान प्रतीत होती है। ऐसे वातावरण द्वारा आमंत्रित

किया जाकर मनुष्य जो आनन्दमय पारिवारिक जीवन बिताता है अपने परिवार को हर हालपर अपने साथ रखना चाहता है।

यद‍ृच्छयागतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम् ।
भृत्यैर्दशभिरायान्तीमेकैकशतनायकैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यद‍ृच्छया—अचानक, बिना किसी प्रयोजन के; आगताम्—आयी हुई; तत्र—वहाँ; ददर्श—देखा; प्रमदा—एक स्त्री; उत्तमाम्—अत्यन्त सुन्दरी; भृत्यैः—सेवकों से घिरी; दशभिः—दस; आयान्तीम्—आगे आती हुई; एक-एक—प्रत्येक; शत—सौ; नायकैः—मुखिया, पति के साथ।

उस अद्भुत उद्यान में विचरण करते हुए राजा पुरञ्जन ने अचानक एक सुन्दर स्त्री देखी जो अनायास ही चली आ रही थी। उसके साथ दस नौकर थे और प्रत्येक नौकर के साथ सैकड़ों पत्नियाँ थीं।

तात्पर्य : शरीर की उपमा सुन्दर उद्यान से दी जा चुकी है। युवावस्था में कामवासना जाग्रत होती है और स्त्री के साथ सहवास करने के लिए बुद्धि अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार उन्मुख होती है। प्रत्यक्ष रूप से न सही, बुद्धि या कल्पना के द्वारा प्रत्येक स्त्री या पुरुष विपरीत लिंग की खोज में रहता है। बुद्धि मन को प्रेरित करती है और मन दसों इन्द्रियों को वश में करता है। इनमें से पाँच तो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। प्रत्येक इन्द्रिय न जाने कितनी इच्छाएँ पूरा करने की चाह रखती है। ऐसी स्थिति है इस शरीर की तथा शरीर के स्वामी पुरञ्जन की, जो शरीर के भीतर बसा है।

पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां प्रतीहारेण सर्वतः ।
अन्वेषमाणामृषभमप्रौढां कामरूपिणीम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच; शीर्ष—सिर; अहिना—सर्प द्वारा; गुप्ताम्—रक्षित; प्रतीहारेण—अंगरक्षक द्वारा; सर्वतः—चारों ओर; अन्वेषमाणाम्—खोज करती हुई; ऋषभम्—पति; अप्रौढाम्—भोली-भाली, किशोरी; काम-रूपिणीम्—अत्यन्त आकर्षक।

वह स्त्री पाँच फनों वाले एक सर्प द्वारा चारों ओर से रक्षित थी। वह अत्यन्त सुन्दरी तथा तरुणी थी और उपयुक्त पति खोजने के लिए अत्यधिक उत्सुक प्रतीत हो रही थी।

तात्पर्य : जीव के शरीर के भीतर प्राण-शक्ति के रूप में पाँच प्रकार के वायु—प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान—कार्य करते हैं। प्राण की तुलना सर्प से की गई है, क्योंकि वह केवल हवा पीकर

रह सकता है। वायु द्वारा ले जाये गये प्राण को प्रतिहार या अंगरक्षक के रूप में वर्णित किया गया है। प्राण के बिना कोई एक पल भी जीवित नहीं रह सकता। दरअसल, सारी इन्द्रियाँ प्राण के अधीन कार्य करती हैं।

वह स्त्री, जो बुद्धि की प्रतीक है, पति की तलाश में थी। इससे पता चलता है कि बुद्धि चेतना के बिना कार्य नहीं कर सकती। सुन्दर स्त्री जब तक उपयुक्त पति द्वारा रक्षित नहीं होती, तब तक वह व्यर्थ है। बुद्धि को सदैव नवीन रहना चाहिए, इसीलिए यहाँ *अप्रौढाम्* (तरुणी) शब्द प्रयुक्त हुआ है। भौतिक भोग का अर्थ है रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श के लिए बुद्धि का प्रयोग।

सुनासां सुदतीं बालां सुकपोलां वराननाम् ।
समविन्यस्तकर्णाभ्यां बिभ्रतीं कुण्डलश्रियम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सु-नासाम्—अत्यन्त सुन्दर नाक; सु-दतीम्—अत्यन्त सुन्दर दाँत; बालाम्—तरुणी; सु-कपोलाम्—सुन्दर मस्तक; वर-आननाम्—सुन्दर मुख; सम—समान रूप से; विन्यस्त—व्यवस्थित; कर्णाभ्याम्—दोनों कान; बिभ्रतीम्—चमचमाते हुए; कुण्डल-श्रियम्—सुन्दर कुण्डलों (बालियों) वाली।.

उस स्त्री के नाक, दाँत तथा मस्तक सभी अतीव सुन्दर थे। उसके कान भी समान रूप से सुन्दर थे और चमचमाते कुण्डलों से सुशोभित थे।

तात्पर्य : बुद्धि का शरीर इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं को भोगता है, जो उसे ऊपर से ढके हैं—यथा गंध, दृष्टि तथा ध्वनि। *सुनासाम्* (सुन्दर नाक) शब्द गंध के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की इन्द्रिय को सूचित करता है। इसी प्रकार स्वाद के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का यंत्र मुख है, क्योंकि किसी वस्तु को चबा कर तथा जीभ से स्पर्श करके उसका स्वाद जाना जा सकता है। *सुकपोलाम्* (सुन्दर मस्तक) उस विमल मस्तिष्क (मन) का सूचक है, जो वस्तुओं को उसी रूप में जानने में समर्थ है। बुद्धि द्वारा सारी वस्तुएँ व्यवस्थित की जा सकती हैं। दोनों कानों में पहने गये कुण्डल बुद्धि की ही करामात हैं। इस प्रकार यहाँ पर ज्ञान प्राप्त करने की विधियों का वर्णन-आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

पिशङ्गनीवीं सुश्रोणीं श्यामां कनकमेखलाम् ।
पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलन्तीं नूपुरैर्देवतामिव ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पिशङ्ग—पीला; नीवीम्—वस्त्र; सु-श्रोणीम्—सुन्दर कमर; श्यामाम्—श्याम रंग की; कनक—सुनहली; मेखलाम्—करधनी; पद्भ्याम्—पाँवों से; क्वणद्भ्याम्—शब्द करती हुए; चलन्तीम्—चलते हुए; नूपुरैः—नूपुरों से; देवताम्—स्वर्ग का वासी; इव—सदृश।.

उस स्त्री की कमर तथा नितम्ब अत्यन्त सुन्दर थे। वह पीली साड़ी और सुनहरी करधनी पहने थी। चलते समय उसके नूपुर खनक रहे थे। वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो स्वर्ग की निवासिनी हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में उन्नत नितम्बों तथा उरोजों वाली स्त्री को, जो आकर्षक साड़ी पहने हो तथा आभूषणों से सजी हो, देखकर मन में जो आह्लाद उत्पन्न होता है उसी को व्यक्त किया गया है।

स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ समवृत्तौ निरन्तरौ ।
वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं व्रीडया गजगामिनीम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

स्तनौ—दो उरोजों; व्यञ्जित—सूचित करने वाले; कैशोरौ—किशोरावस्था; सम-वृत्तौ—समान गोलाकार; निरन्तरौ—सटे हुए, अत्यन्त निकट स्थित; वस्त्र-अन्तेन—साड़ी के आँचल से; निगूहन्तीम्—ढकने का प्रयास करती हुई; व्रीडया—लज्जावश; गज-गामिनीम्—हाथी के समान चलने वाली।.

स्त्री अपनी साड़ी के अञ्चल से अपने समवर्तुल एवं सटे हुए स्तनों को ढकने का प्रयास कर रही थी। वह हाथी के समान चलती हुई लज्जावश अपने स्तनों को बारम्बार ढकने का प्रयास कर रही थी।

तात्पर्य : दोनों स्तन राग तथा द्वेष के प्रतीक हैं। *भगवद्गीता* (३.३४) में राग तथा द्वेष के लक्षणों का वर्णन हुआ है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।

''देहधारी जीवों द्वारा इन्द्रिय-पदार्थों के प्रति आकर्षण तथा विकर्षण का अनुभव होता है, किन्तु मनुष्य को इन्द्रियों तथा इन्द्रिय-पदार्थों (विषयों) के वशीभूत नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में अवरोधक हैं।''

राग तथा द्वेष के ये प्रतिनिधि आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के लिए सर्वथा प्रतिकूल हैं। मनुष्य को स्त्री के स्तनों के प्रति आकृष्ट नहीं होना चाहिए। महान् सन्त शंकराचार्य ने स्त्री के स्तनों को रक्त तथा पेशियों का समुच्चय माना है, अत: उन्नत स्तनों के अग्रभाग की मोहक शक्ति से आकृष्ट नहीं होना

चाहिए। ये माया के दूत हैं, जो पुरुष को शिकार बनाते हैं। चूँकि स्तन समान रूप से आकर्षक होते हैं, अत: उन्हें *समवृत्तौ* कहा गया है। कामोत्तेजना वृद्ध पुरुष के भी मन में मृत्यु पर्यन्त रहती है। इस उत्तेजना से मुक्ति पाने के लिए यामुनाचार्य के समान अत्युच्च आध्यात्मिक चेतना होनी चाहिए। उन्होंने कहा है—

यदवधि मम चेत: कृष्णपादारविन्दे

नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत्।

तदवधि बत नारीसङ्गमे स्मर्यमाणे

भवति मुखविकार: सुष्ठु निष्ठावनं च।

"चूँकि मैं श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर मग्न रहता हूँ, जिससे मुझे नित नूतन आनन्द प्राप्त होता है, अत: जब भी मैं काम (विषय) के आनन्द के विषय में सोचता हूँ तो इस विचार पर मैं थू-थू करता हूँ और मेरे होंठ बुरे स्वाद से अकड़ जाते हैं।" जो आध्यात्मिक रूप से आगे बढ़ा है, वह मांस तथा रुधिर के लोथड़ों से, जो नारी के स्तनस्वरूप हैं, आकृष्ट नहीं होता। *निरन्तरौ* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यद्यपि स्तन अलग-अलग स्थान पर स्थित रहते हैं, किन्तु वे एक-सा प्रभाव दिखाते हैं। हमें राग तथा द्वेष में कोई अन्तर नहीं मानना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.३७) में कहा गया है—ये दोनों रजोगुण से उत्पन्न हैं (*काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:*)।

निगूहन्तीम् (ढकने का प्रयत्न करती हुई) शब्द सूचित करता है कि भले ही कोई काम, क्रोध, लोभ आदि से रंजित क्यों न हो, किन्तु कृष्णभक्ति (चेतना) से ये सारे नष्ट हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, काम (विषय) का उपयोग कृष्ण की सेवा के लिए किया जा सकता है। काम से प्रेरित सामान्य कर्मी अहर्निश श्रम करता है; इसी प्रकार भक्त भी कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए अहर्निश काम कर सकता है। जिस प्रकार कर्मी काम-क्रोध की तुष्टि के लिए कठिन श्रम करते हैं भक्तों को चाहिए कि कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए उसी प्रकार कार्य करें। इसी प्रकार क्रोध का उपयोग भी कृष्ण की सेवा में किया जा सकता है। उसका उपयोग अभक्त असुरों पर किया जाता है। हनुमान जी ने अपने क्रोध का ऐसा ही उपयोग किया। वे भगवान् रामचन्द्र के महान् भक्त थे। उन्होंने अभक्त असुर रावण के राज्य में अग्नि लगाकर अपने क्रोध का सदुपयोग किया। इस प्रकार काम का उपयोग श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने और

क्रोध का उपयोग असुरों को दण्ड देने के लिए किया जा सकता है। जब इन दोनों का उपयोग श्रीकृष्ण की सेवा में किया जाता है, तो इनकी भौतिक महत्ता जाती रहती है और इन्हें आध्यात्मिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है।

तामाह ललितं वीरः सव्रीडस्मितशोभनाम् ।
स्निग्धेनापाङ्गपुङ्खेन स्पृष्टः प्रेमोद्भ्रमद्भ्रुवा ॥ २५॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; आह—सम्बोधित किया; ललितम्—अत्यन्त धीमे से; वीरः—वीर ने; स-व्रीड—लज्जा से युक्त; स्मित—हँसते हुए; शोभनाम्—अत्यन्त सुन्दर; स्निग्धेन—काम वासना से; अपाङ्ग-पुङ्खेन—चितवन के तीर से; स्पृष्टः—इस प्रकार बिंधा हुआ; प्रेम-उद्भ्रमत्—प्रेम उत्पन्न करने वाली; भ्रुवा—भौंहों से।

वीर पुरञ्जन उस सुन्दर रमणी की भौंहो तथा मुख की मुसकान से अत्यधिक आकृष्ट हुआ और उसके कामवासना रूपी तीरों से तुरन्त बिंध गया। जब वह लजाती हुई हँसी तो पुरञ्जन को और भी सुन्दर लगी, अतः वीर होते हुए भी वह उसको सम्बोधित करने से अपने को रोक न सका।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव दो तरह से वीर होता है। जब वह माया का शिकार होता है, तो वह भौतिक जगत में महान् वीर की तरह महान् नेता, राजनीतिज्ञ, व्यापारी, उद्योगपति इत्यादि की तरह कार्य करता है और उसके वीरतापूर्ण कार्यों से सभ्यता की प्रगति होती है। वह इन्द्रियों के स्वामी, गोस्वामी के रूप में भी वीर बन सकता है। भौतिक कार्यकलाप तो झूठे वीरतापूर्ण कार्य हैं, जबकि भौतिक विषयों से इन्द्रियों को मोड़ना महान् वीरता है। कोई भौतिक जगत में कितना ही बड़ा वीर क्यों न हो वह स्त्रियों के मांस एवं रक्त के पिंड रूपी स्तनों से तुरन्त पराजित हो जाता है। इस संसार में भौतिक कार्यो के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं—जैसे रोम का वीर अन्टोनी, जो क्लियोपात्रा की सुन्दरता पर मोहित हो गया। इसी प्रकार महाराष्ट्र की राजनीति में भारतीय वीर बाजीराव एक स्त्री का शिकार होकर पराजित हो गया। इतिहास से पता चलता है कि पहले के राजनीतिज्ञ सुन्दरियों का उपयोग प्रशिक्षित विषकन्या के रूप में किया करते थे। इन सुन्दरियों के शरीर में जीवन के प्रारम्भ से विष का टीका लगाया जाता था, जिससे वे विष के प्रभाव से प्रतिरक्षित हो जाती थी और स्वयं इतनी विषैली कि, यदि वे किसी पुरुष का चुम्बन कर लें तो वह मर जाए। इन विषकन्याओं का उपयोग शत्रु को चुम्बन मात्र से मारने के लिए किया जाता था। इस प्रकार मानव इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते

हैं जब वीरों को स्त्रियों के द्वारा ही ध्वस्त कर दिया गया। श्रीकृष्ण का अंश होने से, जीव निश्चय ही महान् वीर होता है, किन्तु अपनी इसी एक दुर्बलता के कारण वह भौतिक शरीर के प्रति आकृष्ट होता है—

कृष्ण बहिर्मुख हञा भोग-वाञ्छा करे।

निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे।

प्रेमविवर्त में कहा गया है कि जब जीवात्मा प्रकृति को भोगना चाहता है, तो माया उस पर तुरन्त झपट्टा मारती है। जीवात्मा को जबर्दस्ती इस भौतिक जगत में नहीं भेजा जाता। वह स्त्री-आकर्षण के कारण स्वेच्छा से आता है। प्रत्येक जीव को छूट है कि वह प्रकृति द्वारा आकृष्ट हो या फिर वीर की तरह आकर्षण का विरोध करे। यह केवल जीव द्वारा आकर्षित होने या न होने का प्रश्न है। माया के सम्पर्क में जबर्दस्ती आने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो प्रकृति के आकर्षण का प्रतिरोध करके स्थिर बना रहता है, वह वास्तव में वीर है और गोस्वामी कहलाने का पात्र है। इन्द्रियों का स्वामी बने बिना कोई गोस्वामी नहीं हो सकता। जीव इस जगत में इन दोनों स्थितियों में से एक का चयन कर सकता है। चाहे तो वह इन्द्रियों का दास बन सकता है अथवा उनका स्वामी बन सकता है। इन्द्रियों का दास बनकर मनुष्य महान् भौतिक वीर बन सकता है और इन्द्रियों का स्वामी बनकर वह आध्यात्मिक वीर अथवा गोस्वामी बन सकता है।

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यासीह कुतः सति ।
इमामुप पुरीं भीरु किं चिकीर्षसि शंस मे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वम्—तुम; कञ्ज-पलाश—कमल की पंखड़ियों के समान; अक्षि—आँखें; कस्य—किसकी; असि—हो; इह—यहाँ; कुतः—कहाँ से; सति—हे साध्वी; इमाम्—यह; उप—निकट; पुरीम्—नगर; भीरु—हे डरपोक; किम्—क्या; चिकीर्षसि—करना चाहती हो; शंस—कृपा करके बताओ; मे—मुझे।

हे कमलनयनी, कृपा करके मुझे बताओ कि तुम कहाँ से आ रही हो, तुम कौन हो और तुम किसकी पुत्री हो? तुम अत्यन्त साध्वी लगती हो। यहाँ आने का तुम्हारा क्या प्रजोजन है? तुम क्या करना चाह रही हो? कृपया ये सारी बातें मुझसे कहो।

तात्पर्य : *वेदान्त सूत्र* की प्रथम सूक्ति है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।* मनुष्य देह पाकर अपने आपसे तथा अपनी बुद्धि से अनेक प्रश्न करने चाहिए। मनुष्य से निम्न जीवों में उनकी बुद्धि जीवन की मूल

आवश्यकताओं—खाने, सोने, संभोग करने तथा स्वयं की रक्षा करने—से ऊपर नहीं उठ पाती। कुत्ते, बिल्लियाँ तथा बाघ भी कुछ-न-कुछ खाने के लिए, कहीं-न-कहीं सोने के लिए, अपनी रक्षा के लिए तथा सफलतापूर्वक संभोग करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु मनुष्य का शरीर पाकर उसे इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि स्वयं से यह पूछे कि मैं कौन हूँ? मैं इस संसार में क्यों आया? मेरा क्या कर्तव्य है? परम नियन्ता कौन है? जड़ तथा जंगम में क्या अन्तर है? इत्यादि ऐसे अनेक प्रश्न हैं। जो बुद्धिमान है उसे तो प्रत्येक वस्तु के आदि स्रोत के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।* हर जीव में कुछ-न-कुछ बुद्धि होती है, किन्तु मनुष्य का रूप मिलने पर जीव को अपने आध्यात्मिक स्वरूप के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। यही वास्तविक मानवीय बुद्धि है। कहा गया है कि जो केवल अपने शरीर के विषय में ही जागरूक रहता है, वह पशु के तुल्य है भले ही वह मानव देह-धारी हो। *भगवद्गीता* (१५.१५) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबके हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।'' पशु रूप में जीव ईश्वर से अपने सम्बन्ध को बिल्कुल भूला रहता है। यह *अपोहनम्* या विस्मृति है। किन्तु मनुष्य रूप में यह चेतना अधिक विकसित रहती है, अतः मनुष्य को ईश्वर के साथ अपना सम्बन्ध समझने का अवसर मिलता है। मनुष्य देह धारण करके उसे अपनी बुद्धि का उपयोग ऐसे ही प्रश्नों के पूछने में करना चाहिए जिस प्रकार कि पुरञ्जन जीव अज्ञात तरुणी से पूछता है कि वह कहाँ से आई है, उसका क्या काम है इत्यादि। ये *आत्मतत्त्व* के विषय में जिज्ञासाएँ हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जब तक जीव आत्मतत्त्व (आत्म-साक्षात्कार) के विषय में जिज्ञासु नहीं होता, तब तक वह पशु के समान है।

क एतेऽनुपथा ये त एकादश महाभटाः ।
एता वा ललनाः सुभ्रु कोऽयं तेऽहिः पुरःसरः ॥ २७॥

शब्दार्थ

के—कौन; एते—ये सब; अनुपथाः—अनुचर; ये—जो; ते—तुम्हारे; एकादश—ग्यारह; महा-भटाः—अत्यन्त शूरवीर अंग रक्षक; एताः—ये सब; वा—भी; ललनाः—स्त्रियाँ; सु-भ्रु—हे सुलोचनी; कः—कौन; अयम्—यह; ते—तुम्हारा; अहिः—सर्प; पुरः—सामने; सरः—चलने वाला।

हे कमलनयनी, तुम्हारे साथ के ग्यारह बलिष्ट अंगरक्षक और ये दस विशिष्ट सेवक कौन हैं? इन दस सेवकों के पीछे-पीछे ये स्त्रियाँ कौन हैं तथा तुम्हारे आगे-आगे चलने वाला यह सर्प

कौन है?

तात्पर्य : मन के दस बलिष्ट नौकर हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। ये दसों मन की अधीक्षण में कार्य करते हैं। मन समेत ये दसों—कुल मिलकर ग्यारह—प्रबल अंगरक्षक बनते हैं। इन्द्रियों के अधीन सैकड़ों स्त्रियों को यहाँ पर *ललना:* कहा गया है। मन बुद्धि के अधीन रहकर कार्य करता है और ये दसों इन्द्रियाँ मन के अधीन रहती हैं और दस इन्द्रियों के अधीन असंख्य इच्छाएँ हैं जिनकी पूर्ति होनी है। किन्तु ये सब प्राण पर आश्रित हैं जिसे यहाँ सर्प के रूप में प्रदर्शित किया गया है। जब तक प्राण रहता है तभी तक मन कार्य करता है और मन के अधीन सारी इन्द्रियाँ काम करती हैं और इन इन्दियों से अनेक भौतिक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। वास्तव में पुरञ्जन नामक जीव इतने सारे ताम-झाम से अत्यधिक उलझन में रहता है। यह सारा ताम-झाम अनेक प्रकार की चिन्ताओं को जन्म देता है, किन्तु जो व्यक्ति श्रीभगवान् की शरण में चला जाता है और सारा कार्य उन्हीं पर छोड़ देता है, वह ऐसी सारी चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। अत: प्रह्लाद महाराज क्षणिक भौतिक जीवन को स्वीकार करने वाले व्यक्ति को भगवान् की शरण ग्रहण करने और सारी चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए तथा कथित जिम्मेदारियों को छोड़ देने का उपदेश देते हैं।

त्वं ह्रीर्भवान्यस्यथ वाग्रमा पतिं
विचिन्वती किं मुनिवद्रहो वने ।
त्वदङ्घ्रिकामाप्तसमस्तकामं
क्व पद्मकोश: पतित: कराग्रात् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; ह्री:—लज्जा; भवानी—शिव की पत्नी; असि—हो; अथ—कि; वाक्—सरस्वती, विद्या की देवी; रमा—लक्ष्मी; पतिम्—पति के; विचिन्वती—विचार में मग्न, खोज में रत; किम्—क्या तुम हो; मुनि-वत्—मुनि के समान; रह:—एकान्त स्थान में; वने—वन में; त्वत्-अङ्घ्रि—तुम्हारे पाँव; काम—इच्छुक; आप्त—प्राप्त; समस्त—सभी; कामम्—इच्छित वस्तुएँ; क्व—कहाँ हैं; पद्म-कोश:—कमल पुष्प; पतित:—गिरा हुआ; कर—हाथ के; अग्रात्—अग्रभाग या हथेली से।

हे सुन्दर बाला, तुम साक्षात् लक्ष्मी या भगवान् शिव की पत्नी भवानी अथवा ब्रह्मा की पत्नी अर्थात् विद्या की देवी सरस्वती के समान हो। यद्यपि तुम अवश्यमेव इनमें से एक हो, किन्तु मैं तुम्हें इस वन में अकेले विचरण करती देख रहा हूँ। निस्सन्देह, तुम मुनियों की भाँति मौन हो। ऐसा तो नहीं है कि तुम अपने पति को खोज रही हो? चाहे तुम्हारा पति जो कोई भी हो, किन्तु जिस तन्मयता से तुम उसे खोज रही हो यह देखकर उसे सारे ऐश्वर्य प्राप्त हो जाएँगे। मैं सोचता हूँ

कि तुम लक्ष्मी हो, किन्तु तुम्हारे हाथ में कमल पुष्प नहीं है, अतः मैं पूछ रहा हूँ कि तुमने उसे कहाँ फेंक दिया?

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति सोचता है, वह सबसे बुद्धिमान है। कभी वह अपनी बुद्धि को शिव की पत्नी उमा की पूजा में लगाता है, जिससे सुन्दर स्त्री प्राप्त हो। कभी कभी कोई ब्रह्मा के समान विद्वान् बनना चाहता है, तो वह अपनी बुद्धि को विद्या की देवी सरस्वती की पूजा में लगाता है। कभी-कभी जब कोई विष्णु के समान ऐश्वर्यशाली बनना चाहता है, तो वह लक्ष्मी की पूजा करता है। इस श्लोक में पुरञ्जन नामक मोहग्रस्त जीव इतनी सारी जिज्ञासाएँ करता है और यह नहीं समझ पाता कि वह अपनी बुद्धि किस तरह लगाए। बुद्धि का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए करना चाहिए। जब मनुष्य इस प्रकार अपनी बुद्धि लगाता है, तो ऐश्वर्य की देवी स्वतः अनुकूल हो जाती हैं। ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी जी कभी भी अपने पति विष्णु के बिना नहीं रहतीं, अतः जब कोई विष्णु को पूजता है, तो लक्ष्मी जी स्वतः अनुकूल हो जाती है। मनुष्य को रावण के समान अकेले लक्ष्मी की पूजा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे दीर्घकाल तक बिना पति के नहीं रह सकतीं। इसीलिए उनका एक नाम चञ्चला है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि उस तरुणी से बात करने वाला पुरञ्जन हमारी बुद्धि का प्रतीक है। वह उस तरुणी की लज्जाशीलता की प्रशंसा ही नहीं करता, वरन् उस लज्जा के कारण क्रमशः उसके प्रति और अधिक आकृष्ट होता जाता है। वह वास्तव में उसका पति बनना चाह रहा है, इसीलिए वह पूछता है कि क्या वह भावी पति के विषय में सोच रही है या कि वह विवाहित है। यह भोग-इच्छा का उदाहरण है। जो ऐसी इच्छाओं से आकर्षित होता है, वह इस संसार से बँध जाता है और जो आकर्षित नहीं होता उसे मोक्ष प्राप्त होता है। राजा पुरञ्जन उस तरुणी की सुन्दरता की प्रशंसा कर रहा था मानो वह लक्ष्मी हो, किन्तु साथ ही वह सतर्क था कि लक्ष्मी का भोग विष्णु के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता। चूँकि उसे सन्देह था कि वह तरुणी लक्ष्मी है या नहीं, इसीलिए वह पूछता है कि वह कमल क्यों नहीं धारण किये है? यह संसार भी लक्ष्मी के समान है, क्योंकि माया भगवान् विष्णु के निर्देशानुसार कार्य करती हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* का कथन है (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)।

कोई भी जीव इस संसार का भोग नहीं कर सकता। यदि कोई इसका भोग करना चाहता है, तो वह तुरन्त रावण, हिरण्यकशिपु या कंस जैसा असुर बन जाता है। चूँकि रावण ऐश्वर्य की देवी,

सीतादेवी, का भोग करना चाहता था, अत: वह अपने परिवार, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य सहित विनष्ट हो गया। किन्तु यदि भगवान् विष्णु चाहें तो माया को भोगा जा सकता है। अपनी इन्द्रियों तथा इच्छाओं की तुष्टि का अर्थ है लक्ष्मी का नहीं, अपितु माया का भोग।

नासां वरोर्वन्यतमा भुविस्पृक्
पुरीमिमां वीरवरेण साकम् ।
अर्हस्यलङ्कर्तुमदभ्रकर्मणा
लोकं परं श्रीरिव यज्ञपुंसा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आसाम्—इनके; वरोरु—हे सुभगे; अन्य-तमा—कोई भी; भुवि-स्पृक्—पृथ्वी को छूते हुए; पुरीम्—नगरी; इमाम्—यह; वीर-वरेण—महान् वीर; साकम्—सहित; अर्हसि—पात्र हो; अलङ्कर्तुम्—अलंकृत करने के लिए; अदभ्र—यशस्वी; कर्मणा—कार्यों से; लोकम्—संसार; परम्—दिव्य; श्री:—लक्ष्मी; इव—सदृश; यज्ञ-पुंसा—समस्त यज्ञों के भोक्ता सहित।.

हे परम सौभाग्यशालिनी, ऐसा लगता है कि मैंने जिन स्त्रियों के नाम गिनाये हैं उनमें से तुम कोई नहीं हो, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे पाँव पृथ्वी का स्पर्श कर रहे हैं। किन्तु यदि तुम इस लोक की कोई सुन्दरी हो, तो जिस प्रकार लक्ष्मी जी विष्णु के साथ वैकुण्ठलोक की श्रीवृद्धि करती हैं, उसी प्रकार तुम भी मेरे साथ संगति करके इस नगरी की सुन्दरता बढ़ाओ। तुम्हें ज्ञात हो कि मैं महान् वीर हूँ और इस लोक का अत्यन्त पराक्रमी राजा हूँ।

तात्पर्य : आसुरी तथा भक्तिमयी अभिरुचि में अन्तर है। भक्त यह अच्छी तरह जानते हैं कि लक्ष्मी जी जो विष्णु या नारायण की चिरसंगिनी हैं किसी जीव द्वारा भोग्या नहीं हैं। यह उच्च भावना कृष्णचेतना (भक्ति) कहलाती है। तो भी प्रत्येक व्यक्ति नारायण की समृद्धि का अनुकरण करते हुए सुखी रहना चाहता है। इस श्लोक में पुरञ्जन उस तरुणी को एक सामान्य स्त्री के रूप में मानता है, किन्तु उससे आकृष्ट होने के कारण वह उससे अनुरोध करता है कि वह उसकी संगिनी बनकर लक्ष्मी सदृश सुखी बन जाये। इस प्रकार वह अपना परिचय अत्यन्त प्रभावशाली राजा के रूप में देता है, जिससे वह स्त्री उसे अपना पति बना ले और लक्ष्मी की भाँति सुखी हो सके। भगवान् का दास बन कर इस संसार को भोगने की इच्छा देव तुल्य है, किन्तु असुर लोग भगवान् को माने बिना इस संसार का भोग करना चाहते हैं। एक असुर तथा देवता में यही अन्तर होता है।

इस श्लोक में उल्लिखित *भुवि-स्पृक्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब कभी देवता पृथ्वी पर उतरते हैं, तो

वे भूमि का स्पर्श नहीं करते। पुरञ्जन यह जान गया कि यह तरुणी किसी दिव्य लोक अथवा उच्चतर लोकों से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि उसके पैर भूमि का स्पर्श कर रहे थे। चूँकि इस संसार की प्रत्येक युवती चाहती है कि उसका पति प्रभावशाली धनी और बलवान हो, अतः पुरञ्जन अपने को ऐसा ही व्यक्ति बताकर उसे बहकाना चाहता था। इस भौतिक जगत में चाहे वह नर हो या नारी, प्रत्येक व्यक्ति भोग करना चाहता है। नर सुन्दर नारी का भोग चाहता है और स्त्री शक्तिशाली ऐश्वर्यवान् पुरुष को भोगना चाहती है। इस प्रकार की भौतिक इच्छाओं से युक्त प्रत्येक जीव पुरुष या भोक्ता कहलाता है। ऊपरी तौर से ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री भोग्या है और पुरुष भोक्ता, किन्तु भीतर से प्रत्येक जीव भोक्ता है, इसीलिए इस जगत की प्रत्येक वस्तु *माया* कहलाती है।

यदेष मापाङ्गविखण्डितेन्द्रियं
सव्रीडभावस्मितविभ्रमद्भ्रुवा ।
त्वयोपसृष्टो भगवान्मनोभवः
प्रबाधतेऽथानुगृहाण शोभने ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; एषः—यह; मा—मुझको; अपाङ्ग—तुम्हारी चितवन ने; विखण्डित—विचलित; इन्द्रियम्—जिसकी इन्द्रियाँ अथवा मन; स-व्रीड—लज्जायुत; भाव—प्यार; स्मित—हँसती हुई; विभ्रमत्—मोहने वाली; भ्रुवा—भौंहों वाली; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उपसृष्टः—प्रभावित होकर; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; मनः-भवः—कामदेव; प्रबाधते—पीड़ित कर रहा है; अथ—अतः; अनुगृहाण—कृपा करो; शोभने—हे सुन्दरी।

सचमुच तुम्हारी चितवन ने आज मेरे मन को अत्यन्त विचलित कर दिया है। तुम्हारी मुस्कान लज्जायुक्त होकर भी अत्यन्त कामयुक्त होने के कारण मेरे अन्तर में परम शक्तिशाली कामदेव को जाग्रत कर रही है। अतः हे सुन्दरी, मैं तुमसे कृपा की याचना करता हूँ।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति के भीतर कामेच्छाएँ होती हैं और ज्योंही मनुष्य किसी सुन्दरी की भौंहों की गति से विचलित होता है कि भीतर से कामदेव अपना बाण हृदय पर चलाता है। इस प्रकार मनुष्य सुन्दरी की भौंहों की गति (चितवन) से तुरन्त परास्त हो जाता है। जब मनुष्य कामेच्छा से विचलित हो जाता है, तो उसकी इन्द्रियाँ सभी प्रकार के विषयों से (यथा वाणी, स्पर्श, रूप, गंध, स्वाद इत्यादि भोग्य वस्तुओं से) आकर्षित होती हैं। ये आकर्षक इन्द्रिय-वस्तुएँ (विषय) उसे स्त्री के वश में होने के लिए बाध्य कर देती हैं। इस प्रकार जीव का बद्ध जीवन प्रारम्भ होता है। बद्ध जीवन का अर्थ है स्त्री के वश में होना और जीव निश्चित रूप से स्त्री या पुरुष का कृपाकांक्षी रहता है। इस प्रकार जीव एक

दूसरे के बन्धन में रहते हैं और इस तरह माया द्वारा मोहित होकर वे बद्ध जीवन बिताते रहते हैं।

त्वदाननं सुभ्रु सुतारलोचनं
व्यालम्बिनीलालकवृन्दसंवृतम् ।
उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं
यद्व्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारा; आननम्—मुख; सु-भ्रु—सुन्दर भौंहों वाली; सु-तार—सुन्दर पुतलियों वाली; लोचनम्—आँखें; व्यालम्बि—छितरे हुए; नील—नीले रंग के; अलक-वृन्द—केश राशि; संवृतम्—घिरे हुए; उन्नीय—ऊपर उठाकर; मे—मुझको; दर्शय—दिखाओ; वल्गु-वाचकम्—सुनने में मधुर शब्दों वाली; यत्—जो; व्रीडया—लज्जा से; न—नहीं; अभिमुखम्—समक्ष, आमने-सामने; शुचि-स्मिते—हे सुन्दर हँसी वाली स्त्री, सुहासिनी।

हे सुन्दरी, सुन्दर भौंहों तथा आँखों से युक्त तुम्हारा मुख अत्यन्त सुन्दर है, जिस पर नीले केश बिखरे हुए हैं। साथ ही तुम्हारे मुख से मधुर ध्वनि निकल रही है। फिर भी तुम लज्जा से इतनी आवृत हो कि मेरी ओर देख नहीं पा रही। अतः हे सुन्दरी, मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम हँसो और अपना सिर उठाकर मुझे देखो तो।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति किसी स्त्री से आकृष्ट होता है, तो ऐसा ही कहता है। प्रकृति द्वारा इस प्रकार बँध जाना मोह कहलाता है। जब कोई माया की सुन्दरता से इस प्रकार मोहित होता है, तो वह उसे भोगने के लिए अति आतुर हो उठता है। इसका विस्तृत वर्णन पुरञ्जन के इस उदाहरण से प्राप्त होता है, जो एक सुन्दरी पर मोहित है। बद्ध जीवन में जीव मुख, भौंहों, आँखों, वाणी या अन्य किसी वस्तु से आकर्षित होता है। यदि संक्षेप में कहें तो प्रत्येक वस्तु आकर्षक बन जाती है। जब स्त्री या पुरुष एक दूसरे द्वारा आकृष्ट होते हैं, तो सुन्दर या असुन्दर का कोई अर्थ नहीं रह जाता। प्रेमी को प्रेमिका के मुख पर हर चीज अत्यन्त सुन्दर दिखती है और इस तरह से वह मोहित हो जाता है। इसी आकर्षण के कारण जीव का इस भौतिक जगत में पतन होता है। *भगवद्गीता* (७.२७) में इसका वर्णन मिलता है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

"हे अर्जुन! हे शत्रुओं के विजेता! समस्त जीवात्माएँ मोह में जन्म लेती हैं और इच्छा तथा द्वेष के द्वन्द्वों के कारण परास्त होती हैं।"

जीवन की यह अवस्था *अविद्या* कहलाती है। अविद्या का विलोम है वास्तविक ज्ञान। *श्रीईशोपनिषद्* में *विद्या* तथा *अविद्या* का अन्तर बताया गया है। अविद्या के द्वारा मनुष्य बद्ध होता है और विद्या से मुक्त होता है। पुरञ्जन ने यहाँ स्वीकार किया है कि वह अविद्या से आकृष्ट हुआ है। अब वह अविद्या का पूर्ण स्वरूप देखना चाहता है, अत: वह सुन्दरी से प्रार्थना करता है कि वह अपना सिर उठाए जिससे वह प्रत्यक्ष उसे देख सके। इस तरह वह उन विभिन्न अंगों को देखने का इच्छुक है, जिससे अविद्या आकर्षक बनती है।

नारद उवाच
इत्थं पुरञ्जनं नारी याचमानमधीरवत् ।
अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीर मोहिता ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

नारद: उवाच—नारद मुनि ने कहा; इत्थम्—इसके पश्चात्; पुरञ्जनम्—पुरञ्जन को; नारी—स्त्री; याचमानम्—याचना करते हुए; अधीर-वत्—अत्यन्त अधीर होकर; अभ्यनन्दत—उसने सम्बोधित किया; तम्—उस; वीरम्—वीर को; हसन्ती—हँसते हुए; वीर—हे वीर; मोहिता—उससे आकृष्ट होकर।

नारद ने आगे कहा : हे राजन्, जब राजा उस सुन्दरी का स्पर्श करने तथा उसका भोग करने के लिए अत्यधिक मोहित एवं अधीर हो उठा तो वह बाला भी उसके शब्दों से आकृष्ट हुई और उसने हँसते हुए उसकी याचना स्वीकार कर ली। इस समय तक वह राजा के प्रति निश्चय ही आकृष्ट हो चुकी थी।

तात्पर्य : इस घटना से हम यह समझ सकते हैं कि जब मनुष्य आक्रान्त हो जाता है और स्त्री से प्रणय-याचना करने लगता है, तो स्त्री भी पुरुष के प्रति आकृष्ट हो जाती है। *भागवत* (५.५.८) में इस क्रिया को *पुंस:स्त्रिया मिथुनीभावमेतम्* कहा गया है। यह आकर्षण विषयी जीवन के स्तर पर उत्पन्न होता है। इस प्रकार कामोत्तेजना भौतिक बंधन का आगम स्थल है। अत: यह बद्ध जीवन अर्थात् भौतिक संभोग का आगम स्थल ही आध्यात्मिक जीवन की विस्मृति का कारण है। इस प्रकार से जीव की मूल कृष्णचेतना दब जाती है या फिर भौतिक चेतना में बदल जाती है और इस प्रकार से मनुष्य इन्द्रियतृप्ति में लग जाता है।

न विदाम वयं सम्यक्कर्तारं पुरुषर्षभ ।

आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं नाम च यत्कृतम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

न—नहीं; विदाम—जानती हूँ; वयम्—मैं (हम); सम्यक्—भली-भाँति; कर्तारम्—पैदा करने वाले को; पुरुष-ऋषभ—हे मनुष्यों में श्रेष्ठ; आत्मनः—अपना; च—तथा; परस्य—औरों का; अपि—भी; गोत्रम्—गोत्र, वंश का इतिहास; नाम—नाम; च—तथा; यत्-कृतम्—कौन किसके द्वारा बनाया गया है।.

उस युवती ने कहा : हे मनुष्यश्रेष्ठ, मैं नहीं जानती कि मुझे किसने उत्पन्न किया है? मैं तुम्हें यह ठीक-ठीक नहीं बता सकती। न ही मैं अपने या दूसरों के गोत्र के नामों को जानती हूँ।

तात्पर्य : जीव अपनी उत्पत्ति को नहीं जानता। वह यह नहीं जानता कि इस जगत की रचना क्यों हुई, दूसरे लोग इस जगत में क्यों काम कर रहे हैं और इस जगत का चरम स्रोत क्या है। कोई भी इन प्रश्नों के उत्तर नहीं जानता। यही अज्ञान या अविद्या है। जीवन की उत्पत्ति के विषय में खोज करने पर कुछ विख्यात विज्ञानी रासायनिक संघटनों की कोशिकाओं के समुच्चय को ढूँढ पाये हैं, किन्तु वास्तव में इस जगत में जीवन के मूल स्रोत को कोई भी नहीं जानता। *ब्रह्मजिज्ञासा* पद का प्रयोग इस जगत में अपने अस्तित्व के मूल स्रोत को जानने की उत्सुकता को सूचित करने के लिए किया जाता है। कोई दार्शनिक, विज्ञानी या राजनीतिज्ञ ठीक-ठीक नहीं जानता है कि हम कहाँ से आये, हम अपने अस्तित्व के लिए क्यों विकट संघर्ष कर रहे हैं और फिर हम कहाँ जाएँगे। सामान्यत: लोगों का यह मत है कि हम सब यहाँ संयोगवश आये हैं और जब हमारे ये शरीर नष्ट हो जाएँगे तो हमारे सारे नाटकीय कार्य-कलाप बन्द हो जाएँगे और हम शून्य हो जाएँगे। ऐसे विज्ञानी तथा विचारक निर्विशेषवादी एवं शून्यवादी हैं। इस श्लोक में सुन्दरी जीव की वास्तविक स्थिति बता रही है। वह पुरञ्जन को अपने पिता का नाम नहीं बता सकती, क्योंकि उसे यह ज्ञात नहीं है कि वह कहाँ से आई और न वह यह जानती है कि वह उस स्थान में क्यों आई है। वह साफ-साफ कह देती है कि इन सब बातों के विषय में वह अनजान है। इस भौतिक जगत में जीव की यही स्थिति है। कहने को तो अनेक विज्ञानी, दार्शनिक तथा बड़े-बड़े नेता हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि वे कहाँ से आये हैं और न यह जानते हैं कि तथाकथित सुख पाने के लिए वे इस जगत में व्यस्त क्यों हैं। इस जगत में रहने के लिए अनेक सुविधाएँ हैं, किन्तु हम इतने मूर्ख हैं कि कभी यह नहीं पूछते कि किसने इस संसार को हमारे रहने योग्य बनाया और इसकी इतने सुन्दर ढंग से व्यवस्था की है? प्रत्येक वस्तु व्यवस्थित रूप से चल रही है; किन्तु अज्ञानी लोग सोचते हैं कि इस संसार में सारी वस्तुएँ संयोग से बनी हैं और मृत्यु के पश्चात् वे शून्य हो

जाएँगी। वे सोचते हैं कि यह सुन्दर आवास स्थल अपने आप इसी तरह बना रहेगा।

इहाद्य सन्तमात्मानं विदाम न ततः परम् ।
येनेयं निर्मिता वीर पुरी शरणमात्मनः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

इह—यहाँ; अद्य—आज; सन्तम्—विद्यमान; आत्मानम्—जीवात्माएँ; विदाम—इतना ही जानते हैं; न—नहीं; ततः परम्—इसके आगे; येन—जिससे; इयम्—यह; निर्मिता—उत्पन्न की गई; वीर—हे वीर; पुरी—नगरी; शरणम्—विश्रामस्थल; आत्मनः—समस्त जीवों का।

हे वीर, हम इतना ही जानते हैं कि हम इस स्थान में हैं। हम यह नहीं जानते कि आगे क्या होगा। दरअसल, हम इतने मूर्ख हैं कि यह भी जानने का प्रयत्न नहीं करते कि हमारे रहने के लिए किसने इतना सुन्दर स्थान बनाया है?

तात्पर्य : कृष्णचेतना का अभाव ही अविद्या (अज्ञान) है। *श्रीमद्भागवत* (५.५.५) में इसे *पराभवस्तावदबोधजात:* कहा गया है। प्रत्येक व्यक्ति अज्ञानी रूप में उत्पन्न होता है, यही *भागवत* का कथन है। अपनी अज्ञानता के कारण हम राष्ट्रवाद, परोपकारवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद, विज्ञान, दर्शन इत्यादि कई अन्य चीजों को जन्म देते हैं। इन सबके मूल में हमारा अज्ञान काम करता है। यदि अज्ञान ही मूल सिद्धान्त हो तो फिर ज्ञान की इतनी उन्नति से क्या लाभ? जब तक मनुष्य कृष्णभक्ति नहीं करता तब तक उसके सारे कार्य व्यर्थ हैं। यह मनुष्य जीवन अज्ञान को भगाने के लिए मिला है, किन्तु लोग बिना जाने हुए कि अज्ञान को कैसे भगाया जाये, तरह-तरह की योजनाएँ बनाते रहते हैं और मृत्यु के बाद ये सारी योजनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

एते सखायः सख्यो मे नरा नार्यश्च मानद ।
सुप्तायां मयि जागर्ति नागोऽयं पालयन्पुरीम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

एते—ये सब; सखायः—पुरुष मित्र; सख्यः—स्त्री संगीजन; मे—मेरे; नराः—मनुष्य; नार्यः—स्त्रियाँ; च—तथा; मान-द—हे अत्यन्त सम्माननीय; सुप्तायाम्—सोते हुए; मयि—मैं हूँ; जागर्ति—जगता रहता है; नागः—सर्प; अयम्—यह; पालयन्—रक्षा करते हुए; पुरीम्—इस नगरी की।

हे भद्र पुरुष, ये सारे पुरुष तथा स्त्रियाँ जो मेरे साथ हैं, मेरे मित्र हैं और यह साँप सदैव जागता रहता है तथा मेरे सोते समय भी इस पुरी की रक्षा करता है। मैं इतना ही जानती हूँ, इसके आगे कुछ भी नहीं जानती।

तात्पर्य : पुरञ्जन ने उस सुन्दरी से उन ग्यारह पुरुषों तथा उनकी पत्नियों एवं सर्प के विषय में पूछा। उस सुन्दरी ने इन सबका संक्षिप्त उत्तर दिया। उसे स्पष्टत रूप से अपने इर्द-गिर्द के पुरुषों, स्त्रियों तथा सर्प का पूरा-पूरा ज्ञान न था। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सर्प जीव के प्राण का प्रतीक है। प्राण तब भी जाग्रत रहता है जब शरीर तथा इन्द्रियाँ थक जाती है और कोई कार्य नहीं कर सकतीं। यहाँ तक कि अचेतनावस्था में, जब हम सोते रहते हैं, तो यह प्राण रूपी सर्प ज्यों का त्यों जाग्रत रहता है, फलत: हम सोते समय स्वप्न देखते हैं। जब जीव इस भौतिक शरीर को त्यागता है, तो भी प्राण अक्षत रहता है और दूसरे भौतिक शरीर में ले जाया जाता है। इसे देहान्तर कहते हैं और इस प्रक्रिया को हम मृत्यु कहते हैं। वास्तव में मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं है। प्राण सदैव आत्मा के संग रहता है और जब आत्मा अपनी तथाकथित निद्रा से उठता है, तो वह अपने ग्यारह मित्रों, अर्थात् इन्द्रियों तथा मन एवं उनकी विभिन्न इच्छाओं को (पत्नियाँ) देखता है। प्राण तो शाश्वत है। यहाँ तक कि जब हम सोते रहते हैं, तो श्वास चलती रहती है और यह सर्प शरीर के भीतर आने वाली वायु को खाकर जीवित रहता है। वायु श्वास के रूप में प्रकट होती है और जब तक श्वास चलती है तब तक हम समझ सकते हैं कि सोने वाला व्यक्ति जीवित है। जब यह स्थूल शरीर निद्रा में होता है, तो प्राण क्रियाशील रहता है और शरीर की रक्षा करता रहता है। इस प्रकार सर्प सजीव बताया गया है तथा शरीर को जीवित रखने के लिए वायु का भक्षण करता है।

दिष्ट्यागतोऽसि भद्रं ते ग्राम्यान्कामानभीप्ससे ।
उद्वहिष्यामि तांस्तेऽहं स्वबन्धुभिररिन्दम ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—मेरे सौभाग्य से; आगत: असि—यहाँ आये हो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; ग्राम्यान्—विषय भोग की; कामान्—इच्छित वस्तुएँ; अभीप्ससे—भोग करना चाहते हो; उद्वहिष्यामि—पूरा करूँगी; तान्—उन सबको; ते—तुमको; अहम्—मैं; स्व-बन्धुभि:—अपने समस्त मित्रों सहित; अरिम्-दम—हे शत्रु संहारक।

हे शत्रुसंहारक, तुम किसी न किसी तरह यहाँ पर आये, यह मेरे लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें अपनी इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने की उत्कष्ठा है, अत: मैं तथा मेरे सभी मित्र तुम्हारी इच्छाओं को पूरा करने का भरसक प्रयास करेंगे।

तात्पर्य : जीव इस जगत में इन्द्रियतृप्ति के लिए आता है और उसकी बुद्धि, जो स्त्रीस्वरूपा है उसे सही मार्ग बताती है, जिससे वह अपनी इच्छाओं को जी भर कर पूरा कर सकता है। किन्तु वास्तव में

बुद्धि तो परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से प्राप्त होती है, जो इस भौतिक जगत में आये प्रत्येक जीव को सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

"इस अध्यात्म पथ के अनुगामी अपने उद्देश्य में दृढ़संकल्प रहते हैं और उनका लक्ष्य एक ही होता है। परन्तु हे कुरुनन्दन! जो दृढ़संकल्प नहीं हैं, उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त होती है।"

जब भक्त आत्म-साक्षात्कार की ओर अग्रसर होता रहता है, तो उसका एकमात्र लक्ष्य भगवान् की सेवा करना रहता है। वह किसी अन्य भौतिक या आध्यात्मिक कर्म की परवाह नहीं करता। राजा पुरञ्जन एक सामान्य जीव का प्रतीक है और स्त्री उस जीव की बुद्धि है। दोनों के मिलने से जीव अपनी इन्द्रियों का भोग करता है और बुद्धि उसके भोग की सारी सामग्री जुटाती है। जैसे ही जीव को मनुष्य देह मिलती है, वह परिवार की परम्परा, राष्ट्रीयता, रीति-रिवाजों इत्यादि से बँध जाता है। ये सब कुछ भगवान् की माया द्वारा दिलाया जाता है। इस प्रकार जीव देहात्मबोध में अपनी बुद्धि का उपयोग अपनी इन्द्रियों की यथासम्भव तुष्टि के लिए करता है।

इमां त्वमधितिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो ।
मयोपनीतान्गृह्णानः कामभोगाञ्शतं समाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

इमाम्—इस; त्वम्—तुम; अधितिष्ठस्व—जरा ठहरो; पुरीम्—नगरी में; नव-मुखीम्—नौ द्वारों वाली; विभो—मेरे स्वामी; मया—मेरे द्वारा; उपनीतान्—व्यवस्थित; गृह्णानः—ग्रहण करते हुए; काम-भोगान्—इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुएँ; शतम्—सौ; समाः—वर्ष।

हे स्वामी, मैंने तुम्हारे लिए ही इस नौ द्वारों वाली नगरी की व्यवस्था की है, जिससे सभी प्रकार से तुम्हारी इन्द्रिय-तुष्टि हो सके। तुम यहाँ सौ वर्षों तक रह सकते हो और तुम्हें भोग की सारी सामग्री प्रदान की जायेगी।

तात्पर्य : *धर्मार्थकाममोक्षाणां द्वाराः सम्प्राप्तिहेतवः।* धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के क्षेत्र में सभी प्रकार की सफलता का कारण स्त्री है। जब पुरुष पत्नी ग्रहण करता (विवाह करता) है, तो यह माना जाता है कि उसे मोक्ष की दिशा में प्रगति के लिए सहायता मिल रही है। जीवन के प्रारम्भ में मनुष्य

को ब्रह्मचारी के रूप में शिक्षित किया जाता है और फिर उपयुक्त लड़की के साथ विवाह करके गृहस्थ जीवन बिताने दिया जाता है। यदि गृहस्थाश्रम की ठीक से शिक्षा मिले तो मनुष्य को मानव जीवन की समस्त सुविधाएँ—भोजन, नींद, संभोग तथा सुरक्षा—प्राप्त हो जाती हैं। यदि विधि-विधान के अनुसार सब कुछ किया जाये तो प्रत्येक सुविधा उपलब्ध है।

कं नु त्वदन्यं रमये ह्यरतिज्ञमकोविदम् ।
असम्परायाभिमुखमश्वस्तनविदं पशुम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

कं—किससे; नु—तब; त्वत्—तुम्हारी अपेक्षा; अन्यं—अन्य; रमये—मैं भोग करूँगी; हि—निश्चय ही; अरति-ज्ञम्—कामसुख न जानने वाला; अकोविदम्—अत:, मूर्ख; असम्पराय—अगले जीवन के ज्ञान से रहित; अभिमुखम्—आगे देखते हुए; अश्वस्तन-विदम्—जो यह नहीं जानता कि आगे क्या हो रहा है; पशुम्—पशु तुल्य।

भला मैं अन्यों के साथ कैसे रमण करने की अपेक्षा कर सकती हूँ, क्योंकि न तो उन्हें रति का ज्ञान है, न वे जीवित अवस्था में अथवा मरने के बाद इस जीवन का भोग करना जानते हैं? ऐसे मूर्ख व्यक्ति पशुतुल्य हैं क्योंकि वे इन्द्रिय-भोग की क्रिया को न इस जीवन में और न ही मृत्यु के उपरान्त जानते हैं।

तात्पर्य : चूँकि जीवों की चौरासी लाख योनियाँ हैं, अत: जीवन की परिस्थितियाँ भी अनेक हैं। जीवन की निम्न कोटियों में (पौधों में) संभोग की कोई व्यवस्था नहीं रहती, किन्तु उच्चतर कोटियों में (यथा पक्षी तथा मधुमक्खियों में) संभोग होता है फिर भी कीड़े-मकौड़े और पशु विषयी जीवन को भोगना नहीं जानते। किन्तु मनुष्य को पूरा-पूरा ज्ञान रहता है कि किस प्रकार रति-सुख उठाया जाये। दरअसल ऐसे अनेक तथाकथित ज्ञानी हैं, जो विषयी जीवन भोगने का निर्देश देते हैं। यहाँ तक कि *कामशास्त्र* नामक एक विज्ञान भी है, जो काम-विज्ञान ही है। मनुष्य जीवन में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास जैसे आश्रम भी हैं। इनमें से केवल गृहस्थाश्रम में विषयी जीवन पाया जाता है। ब्रह्मचारी को संभोग की अनुमति नहीं है, वानप्रस्थ स्वेच्छा से संभोग से विरत होता है और संन्यासी तो पूर्णत: विरक्त रहता है। कर्मी लोग ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ अथवा संन्यास जीवन नहीं बिताते, क्योंकि उन्हें गृहस्थ जीवन अत्यन्त प्रिय है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य भौतिकता के प्रति अत्यधिक उन्मुख रहते हैं। वे गृहस्थ जीवन इसीलिए पसन्द करते हैं, क्योंकि इस में संभोग की छूट है। वे सोचते हैं कि अन्य आश्रम पशु-जीवन से भी हेय हैं, क्योंकि पशुओं में मैथुन या संभोग तो होता है, जबकि ब्रह्मचारी,

वानप्रस्थ तथा संन्यासी संभोग से पूर्णत: विरक्त रहते हैं। फलत: कर्मी लोग आध्यात्मिक जीवन के इन आश्रमों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः ।
लोका विशोका विरजा यान्न केवलिनो विदुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धार्मिक अनुष्ठान; हि—निश्चय ही; अत्र—यहाँ (गृहस्थाश्रम में); अर्थ—आर्थिक विकास; कामौ—इन्द्रियतृप्ति; च—तथा; प्रजा-आनन्दः—सन्तति का सुख; अमृतम्—त्याग का फल; यशः—यश, प्रतिष्ठा; लोकाः—लोक; विशोकाः—शोकरहित; विरजाः—रोगरहित; यान्—जो; न—कभी नहीं; केवलिनः—योगी; विदुः—जानते हैं।

सुन्दरी ने आगे कहा : इस संसार में गृहस्थ जीवन में ही धर्म, अर्थ, काम तथा पुत्र-पौत्र इत्यादि सन्ततियाँ उत्पन्न करने का सारा सुख है। इसके पश्चात् चाहे तो मोक्ष तथा भौतिक यश भी प्राप्त किया जा सकता है। गृहस्थ ही यज्ञ के फल का रस ग्रहण कर सकता है, जिससे उसे श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति होती है। योगियों (यतियों) के लिए यह भौतिक सुख अज्ञात जैसा है। वे ऐसे सुख की कल्पना भी नहीं कर सकते।

तात्पर्य : वैदिक अनुदेशों के अनुसार मानवीय कर्मों के दो मार्ग हैं—एक *प्रवृत्ति-मार्ग* दूसरा *निवृत्ति-मार्ग।* इन दोनों मार्गों का मूल सिद्धान्त धार्मिक जीवन है। पशुजीवन में केवल प्रवृत्ति मार्ग होता है। प्रवृत्ति-मार्ग का अर्थ है इन्द्रिय सुख भोगना और निवृत्ति-मार्ग का अर्थ है आध्यात्मिक प्रगति। पशुओं तथा असुरों के जीवन में निवृत्ति-मार्ग की कोई अवधारणा नहीं पाई जाती और न प्रवृत्ति मार्ग की ही सचमुच कोई धारणा होती है। प्रवृत्ति-मार्ग बताता है कि इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति का पाया जाना बुरा नहीं, किन्तु उसे वैदिक आदेशों के अनुसार होना चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यक्ति में विषयी जीवन की प्रवृत्ति होती है, किन्तु आसुरी सभ्यता में विषय-सुख अप्रतिबन्धित रूप से भोगा जाता है। वैदिक संस्कृति में काम (विषय) -सुख वैदिक आदेशों के अनुसार भोगा जाता है। इस प्रकार वेद सभ्य मनुष्यों को दिशा-निर्देश देते हैं कि किस प्रकार इन्द्रियतृप्ति के लिए उनकी प्रवृत्ति की तुष्टि की जाये।

किन्तु निवृत्ति-मार्ग में विषय-सुख पूर्णत: वर्जित है। सामाजिक व्यवस्था चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—में विभाजित है और इनमें से वैदिक आदेशों के अनुसार केवल गृहस्थाश्रम में प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है। अन्य तीन आश्रमों—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ

एवं संन्यास—में काम (विषय) के लिए कोई सुविधा नहीं है।

इस श्लोक में स्त्री केवल प्रवृत्ति-मार्ग की बात कर रही है और निवृत्ति-मार्ग के लिए हतोत्साहित कर रही है। वह स्पष्ट कहती है कि यतियों को तो मात्र *कैवल्य* से ही प्रयोजन रहता है, अत: वे प्रवृत्ति-मार्ग के सुख के विषय में सोच भी नहीं पाते। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति वैदिक सिद्धान्तों पर चलता है, वह भौतिक जीवन का सुख न केवल इस जीवन में सुखी रहकर भोगता है वरन् वह अगले जीवन में स्वर्ग को पाकर भी भोगता है। ऐसा व्यक्ति इस जीवन में सभी प्रकार का ऐश्वर्य—यथा पुत्र तथा पौत्र इत्यादि प्राप्त करता है, क्योंकि वह सदैव धार्मिक कृत्यों में लगा रहता है। भौतिक कष्ट हैं—जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु, किन्तु प्रवृत्ति मार्ग में रुचि रखने वाले लोग जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु के समय नाना प्रकार के धार्मिक कृत्य करते रहते हैं। वे जन्म, जरा इत्यादि की तनिक भी परवाह किये बिना वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठान करते रहते हैं।

किन्तु वस्तुत: प्रवृत्ति मार्ग विषयी जीवन पर आधारित है। *श्रीमद्भागवत* (७.९.४५) का वचन है—*यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छम्।* जो गृहस्थ प्रवृत्ति मार्ग में अत्यधिक अनुरक्त रहता है, वह गृहस्थ नहीं वरन् *गृहमेधि* कहलाता है। यद्यपि गृहस्थ इन्द्रियतृप्ति की इच्छा करता है, किन्तु वह वैदिक अनुदेशों के अनुसार चलता है, परन्तु *गृहमेधि* केवल इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखता है, उसे वैदिक आदेशों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। *गृहमेधि* विषयी जीवन का समर्थक होता है, वह अपने लड़के-बच्चों को भी विषय में प्रवृत्त होने देता है और अन्त में सभी प्रकार के यश से वंचित रहता है। गृहस्थ इस जीवन में तो विषयी जीवन बिताता ही है और अगले जीवन में भी वैसा ही करता है, किन्तु *गृहमेधि* को यह पता नहीं रहता कि अगला जीवन क्या है, क्योंकि वह इसी जीवन में विषय-सुख भोगने में ही लगा रहता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जो काम (विषय) के प्रति अत्यधिक उन्मुख रहता है, वह दिव्य आध्यात्मिक जीवन की परवाह नहीं करता। इस कलियुग में तो विशेषत: लोग आध्यात्मिक उन्नति की परवाह नहीं करते। यदि कभी-कभी वह इस ओर उन्मुख होता है, तो यह देखा जाता है कि अनेक धूर्तों के बहकावे में आकर वह आध्यात्मिक जीवन की नकली पद्धति अपना सकता है।

पितृदेवर्षिमर्त्यानां भूतानामात्मनश्च ह ।
क्षेम्यं वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन्यद्गृहाश्रमः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पितृ—पूर्वज, पितरगण; देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; मर्त्यानाम्—सामान्य मनुष्यों का; भूतानाम्—जीवों का; आत्मनः—अपना; च—भी; ह—निश्चय ही; क्षेम्यम्—लाभप्रद; वदन्ति—कहते हैं; शरणम्—शरण; भवे—भौतिक जगत में; अस्मिन्—इस; यत्—जो; गृह-आश्रमः—गृहस्थ जीवन।

उस स्त्री ने आगे कहा : अधिकारियों के अनुसार गृहस्थ जीवन न केवल अपने को वरन् समस्त पितरों, देवताओं, ऋषियों, साधु पुरुषों तथा अन्य सबों को अच्छा लगने वाला है। इस प्रकार गृहस्थ जीवन अत्यन्त उपयोगी है।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति के अनुसार जो भी इस संसार में पैदा हुआ है उसके ऊपर अनेक ऋृण होते हैं। वह देवताओं का—जैसे सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण इत्यादि का—ऋृणी है, क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं को ये ही पूरा करते हैं। देवताओं की कृपा से ही हमें धूप, प्रकाश, जल तथा अन्य आवश्यक प्राकृतिक सुविधाएं प्राप्त होती हैं। हम अपने पूर्वजों के भी ऋृणी हैं, क्योंकि उन्होंने हमें शरीर, सम्पत्ति, बुद्धि, समाज, मित्रता तथा प्यार प्रदान किया है। इसी प्रकार हम राजनीति तथा समाज विज्ञान के लिए सामान्य जनता के ऋृणी हैं। हम घोड़े, गाय, गधे, कुत्ते तथा बिल्ली जैसे निम्न पशुओं के भी ऋृणी हैं। इस प्रकार जन्म लेते ही मनुष्य पर अनेक ऋण चढ़ते जाते हैं जिनसे उसे उऋण होना होता है। यदि वह उनसे उऋृण नहीं होता तो जन्म-मरण के चक्कर में पुनः फँसना पड़ता है। गृहमेधी भौतिक वस्तुओं में अत्यधिक लगा रहने के कारण जान ही नहीं पाता कि यदि वह मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ले तो वह सारे ऋणों से तुरन्त उऋण हो जाता है। दुर्भाग्यवश गृहमेधी को कृष्णभक्ति में कोई रुचि नहीं होती। प्रह्लाद महाराज कहते हैं—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा

मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।

(भागवत ७.५.३०)

गृहव्रत गृहमेधी ही है। जो विषयी जीवन को सब कुछ मानता है उसे कृष्णभक्ति अटपटी लगती है। वह या तो अपने आप से या अन्यों से शिक्षा ग्रहण करके या फिर उनसे बातें करके विषय वासनाओं में इतना अनुरक्त रहता है कि कृष्णभक्ति कर ही नहीं सकता।

का नाम वीर विख्यातं वदान्यं प्रियदर्शनम् ।
न वृणीत प्रियं प्राप्तं मादृशी त्वादृशं पतिम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; नाम—निस्सन्देह; वीर—हे वीर पुरुष; विख्यातम्—सुप्रसिद्ध; वदान्यम्—उदार; प्रिय-दर्शनम्—सुन्दर; न—नहीं; वृणीत—स्वीकार करेगा; प्रियम्—सरलता से; प्राप्तम्—प्राप्त हुआ; मादृशी—मुझ जैसी; त्वादृशम्—तुम्हारे समान; पतिम्—पति।

हे वीर पुरुष, इस संसार में ऐसी कौन (स्त्री) होगी जो तुम जैसे पति को स्वीकार नहीं करेगी? तुम इतने प्रसिद्ध, उदार, इतने सुन्दर तथा सुलभ हो।

तात्पर्य : प्रत्येक पति निस्सन्देह, अपनी पत्नी के लिए वीर होता है। दूसरे शब्दों में, यदि स्त्री किसी पुरुष को प्यार करती है, तो वह उसे अत्यन्त सुन्दर एवं उदार दिखता है। जब तक कोई दूसरे को सुन्दर न दिखे, भला उसको कौन अपना सारा जीवन अर्पित कर देगा? पति अत्यन्त उदार माना जाता है, क्योंकि वह पत्नी को जितनी वह चाहे उतनी सन्तान प्रदान करता जाता है। प्रत्येक स्त्री को बच्चों की चाह रहती है, अत: कोई भी पति, जो काम की तुष्टि कर सके और इच्छानुसार बच्चे उत्पन्न कर सके, अत्यन्त उदार माना जाता है। न केवल सन्तानें उत्पन्न करके पति उदार बनता है, वरन् अपनी पत्नी को आभूषण, अच्छा भोजन तथा वस्त्र देकर वह उसे अपने वश में कर लेता है। इस प्रकार से संतुष्ट पत्नी कभी भी अपने पति का साथ नहीं छोड़ती। *मनु-संहिता* की संस्तुति है कि पत्नी को सन्तुष्ट रखने के लिए पति को चाहिए कि उसे कुछ गहने दे, क्योंकि स्त्रियो को सामान्यत: घर, गहनों, वस्त्रों तथा बच्चों इत्यादि की चाह होती है। इस प्रकार स्त्री ही सारे भौतिक सुखों की केन्द्रबिन्दु है।

इस प्रसंग में *विख्यातम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य सदैव सुन्दर स्त्री के साथ छेड़छाड़ करता है, जिसे कभी-कभी बलात्कार कहते हैं। यद्यपि बलात्कार वैध नहीं है, किन्तु यह तथ्य है कि स्त्रियाँ ऐसे मनुष्य को चाहती हैं, जो बलात्कार में पटु होता है।

कस्या मनस्ते भुवि भोगिभोगयो:
स्त्रिया न सज्जेद्भुजयोर्महाभुज ।
योऽनाथवर्गाधिमलं घृणोद्धत
स्मितावलोकेन चरत्यपोहितुम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कस्या:—किसका; मन:—मन; ते—तुम्हारा; भुवि—इस संसार में; भोगि-भोगयो:—सर्प के समान शरीर वाला; स्त्रिया:—स्त्री का; न—नहीं; सज्जेत्—आकर्षित हो जाता है; भुजयो:—भुजाओं द्वारा; महा-भुज—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले, महाबाहु; य:—

जो; अनाथ-वर्गा—हम जैसी अनाथ स्त्रियों का; अधिम्—मन का सन्ताप; अलम्—सक्षम; घृणा-उद्धत—छेड़छाड़ से; स्मित-अवलोकेन—आकर्षक हँसी से; चरति—विचरण करता है; अपोहितुम्—कम (शान्त) करने के लिए।

हे महाबाहु, इस संसार में ऐसा कौन है, जो सर्प के शरीर जैसी तुम्हारी भुजाओं से आकृष्ट न हो जाये? वास्तव में तुम अपनी मोहक मुस्कान तथा अपनी छेड़छाड़ युक्त दया से हम जैसी पतिविहीन स्त्रियों के सन्ताप को दूर करते हो। हम सोचती हैं कि तुम केवल हमारे हित के लिए ही पृथ्वी पर विचरण कर रहे हो।

तात्पर्य : जब किसी पतिविहीन स्त्री के साथ कोई आक्रमक पुरुष छेड़छाड़ करता है, तो वह इसे कृपा समझती है। स्त्रियाँ सामान्यत: पुरुषों की लम्बी-लम्बी भुजाओं से अत्यधिक आकर्षित होती हैं। सर्प का शरीर गोल होता है और पूँछ की ओर पतला होता जाता है। मनुष्य की सुन्दर भुजाएँ स्त्रियों को सर्पों की भाँति प्रतीत होती हैं और वे ऐसी भुजाओं का आलिंगन चाहती हैं।

इस श्लोक में *अनाथवर्गा* शब्द अत्यन्त सार्थक है। "*नाथ*" का अर्थ है "पति" और "अ" का अर्थ है "रहित"। जिस तरुणी के पति नहीं होता वह *अनाथ* कहलाती है, अर्थात् उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं होता। किशोरावस्था प्राप्त करते ही स्त्री के मन में कामवासना हिलोरें लेने लगती है। अत: पिता का धर्म है कि वय:सन्धि आते ही वह अपनी पुत्री का विवाह कर दे; अन्यथा पति न होने से वह अत्यधिक सन्तप्त रहेगी। इस आयु में जो भी व्यक्ति उसकी कामवासना को तृप्त कर दे, वही उसके लिए सन्तोष देने वाला बन जाता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि वय:सन्धि में जो भी व्यक्ति स्त्री की कामवासना को तृप्त कर दे, उसे वह आजीवन प्यार करेगी, चाहे वह जो भी हो। इस प्रकार से इस संसार में तथाकथित प्रेम काम-तुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

नारद उवाच

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः ।
तां प्रविश्य पुरीं राजन्मुमुदाते शतं समाः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; इति—इस प्रकार; तौ—वे दोनों; दम्-पती—पति तथा पत्नी; तत्र—वहाँ; समुद्य—समान रूप से उत्साही; समयम्—स्वीकार करते हुए; मिथः—परस्पर; ताम्—उस स्थान में; प्रविश्य—प्रवेश करके; पुरीम्—नगरी में; राजन्—हे राजा; मुमुदाते—जीवन का भोग किया; शतम्—एक सौ; समाः—वर्ष।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजन्, वे दोनों—स्त्री तथा पुरुष—एक दूसरे का पारस्परिक सौहार्द द्वारा समर्थन करते हुए उस नगरी में प्रविष्ट हुए और उन्होंने एक सौ वर्षों तक जीवन का

सुख भोगा।

तात्पर्य : इस प्रसंग में 'एक सौ वर्ष' महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को एक सौ वर्ष तक जीवित रहने की छूट है। सूर्य से दूरी के अनुसार विभिन्न लोकों में जीवन की यह अवधि भिन्न-भिन्न है। दूसरे शब्दों में, इस लोक की सौ वर्ष की अवधि अन्य लोकों के सौ वर्ष की अवधि से भिन्न हो सकती है। ब्रह्मलोक में समय की गणना के अनुसार ब्रह्माजी एक सौ वर्ष तक जीवित रहते हैं, किन्तु ब्रह्मा का एक दिन इस लोक के करोड़ों वर्षों के बराबर होता है। इसी प्रकार स्वर्गलोक का एक दिन इस लोक के छह मास के बराबर होता है। फिर भी प्रत्येक लोक में मनुष्य की आयु सौ वर्ष के आस-पास रहती है। विभिन्न लोकों में जीवन-अवधि के अनुसार ही उनके जीवन-स्तरों में भी भिन्नता रहती है।

उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः ।
क्रीडन्परिवृतः स्त्रीभिर्ह्रदिनीमाविशच्छुचौ ॥ ४४॥

शब्दार्थ

उपगीयमानः—गाया जाकर; ललितम्—अत्यन्त सुन्दर ढंग से; तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; च—भी; गायकैः—चारणों द्वारा; क्रीडन्—खेलते हुए; परिवृतः—घिरा हुआ; स्त्रीभिः—स्त्रियों से; ह्रदिनीम्—नदी के जल में; आविशत्—घुसा; शुचौ—जब वह बहुत गर्म होता तो।

राजा पुरञ्जन की महिमा तथा महिमामय कार्यों का गान अनेक चारण किया करते थे। ग्रीष्म ऋतु में जब बहुत गर्मी पड़ती तो वह जलाशय में प्रवेश करता था। उसके चारों ओर अनेक स्त्रियाँ होती थीं और वह उनके संग आनन्द उठाता।

तात्पर्य : जीव अपने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न कार्य करता है। इनमें से एक अवस्था *जाग्रत* है और दूसरी *स्वप्न* की। तीसरी अवस्था *सुषुप्ति* अर्थात् अचेतावस्था है और अन्तिम अवस्था मृत्यु के पश्चात् आती है। पिछले श्लोक में जाग्रत अवस्था का वर्णन हुआ है—अर्थात् पुरुष तथा स्त्री का विवाह हो गया और वे एक सौ वर्षों तक आनन्द से रहे। इस श्लोक में स्वप्नावस्था का वर्णन है, क्योंकि पुरञ्जन जो भी कार्य दिन में करता वे उसे रात्रि में स्वप्न में दिखते। पुरञ्जन अपनी पत्नी के साथ इन्द्रियसुख के लिए रहता था और रात्रि में यही इन्द्रियसुख विभिन्न रूपों में दिखता था। जब मनुष्य अत्यधिक थक जाता है, तो उसे अच्छी नींद आती है और जब कोई धनी पुरुष थकता है, तो वह अनेक स्त्री-मित्रों सहित विहार-स्थल में जाता है और उनके साथ जलक्रीड़ा करता है। इस

संसार में जीव की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है। जीव कभी भी स्त्री से तुष्ट नहीं हो सकता जब तक उसे ब्रह्मचर्य की शिक्षा न प्राप्त हो। सामान्यत: मनुष्य अनेक स्त्रियों के साथ भोग करना चाहता है, यहाँ तक कि बुढ़ापे में भी उनकी कामेच्छा इतनी प्रबल रहती है कि वह तरुणियों के संग रहना चाहता है। इस प्रकार प्रबल कामेच्छा के कारण ही जीव इस संसार से अधिकाधिक उलझता जाता है।

सप्तोपरि कृता द्वार: पुरस्तस्यास्तु द्वे अध: ।
पृथग्विषयगत्यर्थं तस्यां य: कश्चनेश्वर: ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; उपरि—ऊपर; कृता:—निर्मित; द्वार:—द्वार; पुर:—नगरी के; तस्या:—उस; तु—तब; द्वे—दो; अध:—नीचे; पृथक्—भिन्न-भिन्न; विषय—स्थानों तक; गति-अर्थम्—जाने के लिए; तस्याम्—उस नगरी में; य:—जो; कश्चन—कोई भी; ईश्वर:—स्वामी, अधीक्षक।

उस नगरी के नौ द्वारों में से सात तो भूतल पर थे और दो पृथ्वी के नीचे थे। कुल नौ द्वार बनाए गए थे और ये नवों द्वार भिन्न-भिन्न स्थानों को जाते थे। इन सारे द्वारों का उपयोग उस नगरी का अधीक्षक करता था।

तात्पर्य : शरीर के सात द्वार जो ऊपर स्थित हैं, वे हैं—दो आँखें, दो नथुने, दो कान तथा एक मुँह। दो अधोमुखी द्वार हैं—गुदा तथा जननेन्द्रियाँ। इन समस्त द्वारों का उपयोग शरीर का राजा, जो कि जीव है, भिन्न भिन्न भौतिक आनन्द उठाने के लिए करता है। विभिन्न स्थानों के लिए भिन्न-भिन्न द्वारों का होना आज भी भारत के प्राचीन नगरों में पाया जाता है। पहले राजधानी चारों ओर से दीवालों से घिरी रहती थी और विभिन्न शहरों या दिशाओं में जाने के लिए विभिन्न द्वारों से होकर जाना होता था। पुरानी दिल्ली में आज भी कश्मीरी द्वार (गेट), लाहोरीद्वार (गेट) जैसे विभिन्न द्वार तथा चाहारदीवारी के ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। इसी प्रकार अहमदाबाद में दिल्ली द्वार है। इस उपमा की मुख्य बात यह है कि जीव विभिन्न भौतिक ऐश्वर्यों का भोग करना चाहता है और प्रकृति ने इस हेतु शरीर में अनेक छिद्र बनाये हैं, जिन्हें वह इन्द्रियभोग के लिए काम में ला सकता है।

पञ्च द्वारस्तु पौरस्त्या दक्षिणैका तथोत्तरा ।
पश्चिमे द्वे अमूषां ते नामानि नृप वर्णये ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच; द्वारः—द्वार; तु—तब; पौरस्त्याः—पूर्व दिशा की ओर; दक्षिणा—दक्षिणी; एका—एक; तथा—भी; उत्तरा—उत्तर की ओर एक; पश्चिमे—इसी प्रकार पश्चिमी दिशा में; द्वे—दो; अमूषाम्—उनमें से; ते—तुमसे; नामानि—नाम; नृप—हे राजा; वर्णये—मैं वर्णन करूँगा।

हे राजन्, नौ द्वारों में से पाँच पूर्व की ओर, एक उत्तर तथा एक दक्षिण दिशा को और दो पश्चिम की ओर जाते थे। अब मैं इन विभिन्न द्वारों के नाम बताने का प्रयास करूँगा।

तात्पर्य : सतह के सात द्वारों अर्थात् दो आँखें, दो नथुने, दो कान तथा मुँह में से पाँच सामने देखते हैं, जिन्हें पूर्व दिशा की ओर जाते बताया गया है। चूँकि सामने देखने का अर्थ है सूर्य को देखना, अत: इन्हें पूर्वी द्वार कहा गया है, क्योंकि सूर्य पूर्व में उदय होता है। उत्तरी तथा दक्षिणी दिशाओं के एक-एक द्वार दोनों कानों के सूचक हैं और पश्चिम दिशा के दो द्वार गुदा तथा जननेन्द्रिय सूचक हैं। इन समस्त द्वारों का वर्णन नीचे किया गया है।

खद्योताविर्मुखी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते ।
विभ्राजितं जनपदं याति ताभ्यां द्युमत्सखः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

खद्योता—खद्योता नामक; आविर्मुखी—आविर्मुखी नामक; च—भी; प्राक्—पूर्व दिशा की ओर; द्वारौ—दो द्वार; एकत्र—एक स्थान पर; निर्मिते—बनाये गये थे; विभ्राजितम्—विभ्राजित नामक; जन-पदम्—नगरी; याति—जाता था; ताभ्याम्—उनसे; द्युमत्—द्युमान नामक; सखः—अपने मित्र के साथ।

खद्योता तथा आविर्मुखी नाम के दो द्वार पूर्व की ओर स्थित थे, किन्तु वे दोनों एक स्थान पर ही बनाये गये थे। राजा इन दोनों द्वारों से होकर विभ्राजित नामक नगरी को अपने मित्र द्युमान के साथ जाया करता था।

तात्पर्य : खद्योता तथा आविर्मुखी ये दोनों नाम "जुगनू" तथा "प्रकाश स्तम्भ" के सूचक हैं। इससे सूचित होता है कि दोनों आँखों में से बाईं आँख की देखने की शक्ति कम है। यद्यपि दोनों आँखें एक ही स्थान पर स्थित हैं, किन्तु दाईं आँख अधिक देखती है और बाईं कम। राजा अथवा जीव इन दोनों द्वारों का उपयोग वस्तुओं को ठीक ढंग से देखने के लिए करता है, किन्तु वह उन्हें तब तक ठीक से नहीं देख सकता जब तक उसके साथ द्युमान् नामक मित्र न हो। यह मित्र सूर्य है। यद्यपि दोनों आँखें एक स्थान पर स्थित हैं, किन्तु वे सूर्य के बिना देख नहीं सकतीं। *विभ्राजितं जनपदम्।* यदि कोई कुछ स्पष्ट देखना चाहता है (*विभ्राजितम्*) तो उसे दोनों आँखों से देखना चाहिए तथा उनके मित्र सूर्य की सहायता लेनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति इस शरीर का राजा है, क्योंकि वह अपनी इच्छानुसार विभिन्न

द्वारों का उपयोग करता है। यद्यपि उसे अपने देखने तथा सुनने की शक्ति पर गर्व रहता है, किन्तु वह प्रकृति की सहायता पर बहुत कुछ आश्रित है।

नलिनी नालिनी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते ।
अवधूतसखस्ताभ्यां विषयं याति सौरभम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

नलिनी—नलिनी नामक; नालिनी—नालिनी नामक; च—भी; प्राक्—पूर्वी; द्वारौ—दो द्वार; एकत्र—एक स्थान पर; निर्मिते—निर्मित; अवधूत—अवधूत नामक; सखः—अपने मित्र के साथ; ताभ्याम्—उन दोनों द्वारों से; विषयम्—स्थान; याति—जाता था; सौरभम्—सौरभ नामक।

इसी प्रकार पूर्व में नलिनी तथा नालिनी नामक (अन्य) दो द्वार थे और ये भी एक स्थान पर बनाये गये थे। इन द्वारों से राजा अपने मित्र अवधूत के साथ सौरभ नगर को जाया करता था।

तात्पर्य : *नलिनी* तथा *नालिनी* नामक दो द्वार दोनों नथुने हैं। जीव इन दोनों द्वारों का उपयोग विभिन्न अवधूतों अर्थात् वायुओं—के द्वारा करता है। यह श्वास क्रिया है। इन द्वारों से जीव सौरभ नगर को अर्थात् सुगन्ध को जाता है। दूसरे शब्दों में, नथुने अपने मित्र वायु की सहायता से संसार में विभिन्न सुगन्धों का भोग करते हैं। नलिनी तथा नालिनी नथुनों के मार्ग हैं, जिनसे जीव श्वास लेता तथा निकालता है। इस प्रकार वह इन्द्रिय सुख की सुगन्ध का आनन्द लेता है।

मुख्या नाम पुरस्ताद्द्वास्तयापणबहूदनौ ।
विषयौ याति पुरराड्रसज्ञविपणान्वितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

मुख्या—मुख्यता या मुख्य; नाम—नामक; पुरस्तात्—पूर्व दिशा में; द्वाः—द्वार; तया—उससे; आपण—आपण नामक; बहूदनौ—बहूदन नामक; विषयौ—दो स्थान; याति—जाता था; पुर-राट्—नगर का राजा (पुरञ्जन); रस-ज्ञ—रसज्ञ नामक; विपण—विपण नामक; अन्वितः—के साथ।

पूर्व दिशा में स्थित पाँचवें द्वार का नाम मुख्या अर्थात् मुख्य था। इस द्वार से वह रसज्ञ तथा विपण नामक दो मित्रों के साथ बहूदन तथा आपण नामक दो स्थानों को जाता था।

तात्पर्य : यहाँ पर मुख को मुख्य अर्थात् सबसे महत्त्वपूर्ण द्वार बतलाया गया है। मुख इसलिए महत्त्वपूर्ण द्वार है, क्योंकि इससे दो कार्य सम्पन्न होते हैं। पहला खाने का तथा दूसरा बोलने का। खाने का काम रसज्ञ अर्थात् जीभ नामक मित्र के द्वारा सम्पन्न होता है, क्योंकि जीभ विभिन्न प्रकार के भोजनों का स्वाद ले सकती है। जीभ से बोलने का भी काम लिया जाता है—चाहे भौतिक सुख की बात हो

या वैदिक ज्ञान हो। लेकिन यहाँ पर भौतिक इन्द्रिय-सुख पर बल है इसीलिए *रसज्ञ* शब्द व्यवहृत हुआ है।

पितृहूर्नृप पुर्या द्वार्दक्षिणेन पुरञ्जनः ।
राष्ट्रं दक्षिणपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः ॥५०॥

शब्दार्थ

पितृहूः—पितृहू नामक; नृप—हे राजा; पुर्याः—पुरी को; द्वाः—द्वार; दक्षिणेन—दक्षिण का; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; राष्ट्रम्—राष्ट्र; दक्षिण—दक्षिणी; पञ्चालम्—पञ्चाल नामक; याति—जाता था; श्रुत-धर-अन्वितः—अपने मित्र श्रुतधर के साथ।

नगर के दक्षिणी द्वार का नाम पितृहू था, जिससे होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र श्रुतधर के साथ दक्षिण-पञ्चाल नामक नगर देखने जाया करता था।

तात्पर्य : दाहिना कान कर्मकाण्डीय अर्थात् सकाम कर्मों के लिए प्रयुक्त होता है। जब तक मनुष्य भौतिक सुखोपभोग से जुड़ा रहता है, वह अपने दाहिने कान से सुनता है और अपनी पंचेन्द्रियों का उपयोग पितृलोक जैसे उच्चतर लोक जाने के लिए करता है। इसीलिए दाहिने कान को यहाँ पितृहू द्वार कहा गया है।

देवहूर्नाम पुर्या द्वा उत्तरेण पुरञ्जनः ।
राष्ट्रमुत्तरपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः ॥५१॥

शब्दार्थ

देवहूः—देवहू; नाम—नाम से विख्यात; पुर्याः—पुरी का; द्वाः—द्वार; उत्तरेण—उत्तरी दिशा में; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; राष्ट्रम्—देश; उत्तर—उत्तरी; पञ्चालम्—पंचाल; याति—जाता था; श्रुत-धर-अन्वितः—अपने मित्र श्रुतधर के साथ।

उत्तर दिशा में देवहू नामक द्वार था जिससे होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र श्रुतधर के साथ उत्तर-पञ्चाल नामक स्थान को जाया करता था।

तात्पर्य : दोनों कान उत्तर तथा दक्षिण दिशा में स्थित हैं। दक्षिण दिशा में स्थित कान अत्यन्त प्रबल है और वह इन्द्रियभोग की बातें सुनने के लिए उत्सुक रहता है। किन्तु उत्तर दिशा में स्थित कान गुरु से दीक्षा लेने तथा चिदाकाश (परव्योम) जाने के काम आता है। दाहिना कान *पितृहू* कहलाता है, जिसका अर्थ है कि इससे उच्चतर लोक तथा पितृ लोक की प्राप्ति की जाती है, किन्तु बायाँ कान, जो *देवहू* कहलाता है और भी अधिक उच्चतर लोकों, जैसे महर्लोक, तपोलोक तथा ब्रह्मलोक या इनसे भी ऊपर के लोकों को जहां मनुष्य स्थायी रूप से स्थित होने की इच्छा रखता है प्राप्त करने के काम आता

है। *भगवद्गीता* (९.२५) में इसकी व्याख्या की गई है—

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

"जो देवताओं को पूजते हैं, वे देवताओं के बीच उत्पन्न होंगे, जो भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं, वे उनके बीच जन्म लेंगे, जो पूर्वजों (पितरों) को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे पास रहते हैं।"

जो लोग इस जन्म में तथा अगले जन्म में सुखी रहना चाहते हैं, वे पितृलोक जाना चाहते हैं। ऐसे लोग वैदिक आदेशों को दायें कान से सुनते हैं। किन्तु जो तपोलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक जाना चाहते हैं, उन्हें ऐसे लोकों में पहुँचने के लिए गुरु से दीक्षा लेनी होनी है।

आसुरी नाम पश्चाद्द्वास्तया याति पुरञ्जनः ।
ग्रामकं नाम विषयं दुर्मदेन समन्वितः ॥५२॥

शब्दार्थ

आसुरी—आसुरी; नाम—नामक; पश्चात्—पश्चिम दिशा में; द्वाः—द्वार; तया—उससे; याति—जाया करता था; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; ग्रामकम्—ग्रामक; नाम—नामक; विषयम्—विषय भोग की नगरी; दुर्मदेन—दुर्मद से; समन्वितः—के साथ-साथ।

पश्चिम दिशा में आसुरी नामक एक द्वार था, जिससे होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र दुर्मद के साथ ग्रामक नाम की नगरी को जाया करता था।

तात्पर्य : नगरी की पश्चिमी दिशा में आसुरी नाम का द्वार था, क्योंकि यह विशेषकर असुरों के लिए था। असुर शब्द उनके लिए प्रयुक्त होता है, जो इन्द्रियतृप्ति में विशेषकर कामवासना की तृप्ति में लगे रहते हैं, क्योंकि वे विषयी जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं। इस प्रकार पुरञ्जन जीव अपनी कामेन्द्रियों से भरपूर भोग करता है। फलतः वह *ग्रामक* नामक स्थान को जाया करता था। भौतिक इन्द्रियतृप्ति *ग्राम्य* भी कहलाती है और वह स्थान जहाँ कामेच्छा तुष्ट की जाती है, *ग्रामक* कहलाता है। *ग्रामक* जाते समय पुरञ्जन अपने साथ *दुर्मद* को ले लेता था। *विषय* शब्द भोजन, शयन, संभोग तथा सुरक्षा (भय) इन चार शारीरिक आवश्यकताओं के लिए प्रयुक्त होता है। *दुर्मदेन* शब्द का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—*दुर्* अर्थात् "दुष्ट या पापी" और *मद* अर्थात् "पागलपन"। प्रत्येक जीवात्मा, जो भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में है, *मद* या पागल कहलाता है। कहा जाता है—

पिशाची पाइले येन मतिच्छन्न हय।

मायाग्रस्त जीवेर हय से भाव उदय॥

(*प्रेम-विवर्त*)

जब मनुष्य पर भूत सवार होता है, तो वह पागल हो जाता है और वह अनाप-शनाप बोलता है। अत: इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त रहने के लिए दुर्मद जैसे मित्र को अर्थात् जो भवरोग से बुरी तरह ग्रस्त हो मित्र बनाया जाता है।

आसुरी नाम पश्चाद् द्वा: शब्द एक दूसरे अर्थ के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। सूर्य सर्वप्रथम पूर्व दिशा में—बंगाल की खाड़ी में—दिखता है और धीरे-धीरे यह पश्चिम को जाता है। ऐसा अनुभव किया जाता है कि पश्चिम के लोग इन्द्रियतृप्ति में अधिक आसक्त होते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं इसकी पुष्टि की है—*पश्चिमेर लोक सब मूढ अनाचार* (*चैतन्यचरितामृत,* आदि १०.८९)। जितना ही पश्चिम चलते जाइये, लोग आध्यात्मिक जीवन में उतना ही कम रुचि रखने वाले दिखेंगे। वे वैदिक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करते मिलेंगे। इसके फलस्वरूप पश्चिम के लोग इन्द्रियतृप्ति के प्रति अधिक आसक्त हैं। इसी *भागवत* में पुष्टि हुई है कि *आसुरीनाम पश्चाद् द्वा:।* दूसरे शब्दों में, पश्चिमी देश के लोग आसुरी सभ्यता में अर्थात् भौतिकतावादी जीवन में रुचि रखते हैं। इसीलिए भगवान् चैतन्य की इच्छा थी कि संसार की पश्चिमी दिशा में कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का प्रचार हो, जिससे इन्द्रियतृप्ति में आसक्त लोग इसके उपदेशों से लाभ उठा सकें।

निर्ऋतिर्नाम पश्चाद् द्वारस्तया याति पुरञ्जनः ।
वैशसं नाम विषयं लुब्धकेन समन्वितः ॥ ५३॥

शब्दार्थ

निर्ऋतिः—निर्ऋति; **नाम**—नामक; **पश्चात्**—पश्चिमी; **द्वाः**—द्वार; **तया**—जिससे; **याति**—जाया करता था; **पुरञ्जनः**—राजा पुरञ्जन; **वैशसम्**—वैशस; **नाम**—नामक; **विषयम्**—स्थान को; **लुब्धकेन**—अपने मित्र लुब्धक; **समन्वितः**—के साथ-साथ।

पश्चिम दिशा का दूसरा द्वार निर्ऋति कहलाता था। पुरञ्जन इस द्वार से होकर अपने मित्र लुब्धक के साथ वैशस नामक स्थान को जाया करता था।

तात्पर्य : यह संकेत गुदा के लिए है। गुदा को नाक, कान तथा आँख की पश्चिम दिशा में स्थित माना जाता है। यह द्वार विशेष रूप से मृत्यु के लिए है। जब कोई साधारण जीवात्मा शरीर को त्यागता

है, तो वह गुदा से होकर निकलता है। अत: यह पीड़ाजनक होता है। जब कोई मल विसर्जन करता है, तो भी पीड़ा होती है। जीव के साथ उसका मित्र *लुब्धक* अर्थात् 'लालच' भी इसी मार्ग से जाता है। लालचवश हम जरूरत से ज्यादा खाते हैं, फलत: मल त्याग के समय पीड़ा होती है। निष्कर्ष यह निकला कि यदि ठीक से मल त्याग हो तो मनुष्य चंगा अनुभव करता है। यह द्वार निर्ऋति अर्थात् कष्टप्रद द्वार कहलाता है।

अन्धावमीषां पौराणां निर्वाक्पेशस्कृतावुभौ ।
अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति च ॥५४॥

शब्दार्थ

अन्धौ—अन्धा; अमीषाम्—उनमें से; पौराणाम्—निवासियों से; निर्वाक्—निर्वाक् नामक; पेशस्कृतौ—पेशस्कृत नाम का; उभौ—दोनों; अक्षण्-वताम्—आँख वाले व्यक्तियों को; अधिपतिः—शासक; ताभ्याम्—उन दोनों के साथ; याति—जाया करता था; करोति—कार्य करता था; च—तथा।

इस नगरी के अनेक निवासियों में निर्वाक् तथा पेशस्कृत नामक दो व्यक्ति थे। यद्यपि राजा पुरञ्जन आँख वाले व्यक्तियों (दिठियारों) का शासक था, किन्तु वह इन दोनों अंधों के साथ रहता था। वह उनके साथ जहाँ-तहाँ जाता था और नानाविध कार्य किया करता था।

तात्पर्य : यहाँ पर जीव के हाथों तथा पाँवों की ओर संकेत है। दोनों पाँव बोलते नहीं और अंधे होते हैं। यदि कोई चलने के लिए अपने पाँवों पर ही आश्रित रहे तो वे उसे किसी गड्ढे में गिरा सकते हैं या किसी से टक्कर करा सकते हैं। इस प्रकार अंधे पाँवों द्वारा मार्ग दर्शन किये जाने पर मनुष्य का जीवन संकटग्रस्त हो सकता है।

काम करने वाली इन्द्रियों में हाथ तथा पाँव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इनके आँखें नहीं होतीं। इसका अर्थ यह हुआ कि हाथों तथा पाँवों में छिद्र नहीं होते। सिर में तो कई छिद्र होते हैं यथा दो आँखें, दो नथने, दो कान तथा एक मुख, किन्तु अधोभाग में मुखाओं और टांगो में कोई छिद्र नहीं होते। फलत: हाथों तथा पाँवों को अन्ध कहा गया है। यद्यपि जीव के शरीर में अनेक छिद्र होते हैं, तो भी उसे हाथों तथा पाँवों से ही कार्य करना होता है। यद्यपि जीव अन्य अनेक इन्द्रियों का स्वामी है, किन्तु जब उसे कहीं जाना होता है या कुछ कार्य करना होता है अथवा किसी को छूना होता है, तो उसे अपने अंधे हाथों तथा पाँवों को ही प्रयोग में लाना होता है।

स यर्ह्यन्तःपुरगतो विषूचीनसमन्वितः ।
मोहं प्रसादं हर्षं वा याति जायात्मजोद्भवम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; यर्हि—जब; अन्तः-पुर—अपने रनिवास में; गतः—जाता था; विषूचीन—मन के; समन्वितः—सहित; मोहम्—मोह; प्रसादम्—संतोष; हर्षम्—हर्ष; वा—अथवा; याति—अनुभव करता था; जाया—पत्नी; आत्म-ज—पुत्र; उद्भवम्—से उत्पन्न।

कभी-कभी वह अपने एक मुख्य दास (मन) विषूचीन के साथ अपने अन्तःपुर जाया करता था। उस समय उसकी पत्नी तथा पुत्रों से मोह, संतोष तथा हर्ष उत्पन्न होते थे।

तात्पर्य : वैदिक मत के अनुसार आत्मा तो हृदय के भीतर स्थित है। जैसाकि वैदिक भाषा में कहा गया है—*हृद्ययमात्मा प्रतिष्ठितः*—आत्मा तो अपने अन्तःकरण में है। किन्तु भौतिक अवस्था में आत्मा भौतिक गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—से ढका रहता है और हृदय के भीतर ये तीनों गुण क्रिया करते हैं। उदाहरणार्थ, सतो गुण में रहने पर प्रसन्नता का अनुभव होता है। रजोगुण होने पर भौतिक सुख के कारण संतोष मिलता है और तमोगुण के कारण मोह उत्पन्न होता है। ये सारे कार्य मन के हैं और ये सोचने, अनुभव करने तथा इच्छा के द्वारा क्रियाशील होते हैं।

जब जीव अपनी पत्नी, सन्तान तथा घर से घिरा होता है, तो वह मानसिक धरातल पर कार्य करता है। कभी वह प्रसन्न रहता है, तो कभी संतुष्ट, कभी असंतुष्ट रहता है, तो कभी मोहग्रस्त हो जाता है। समाज, मित्रता तथा प्रेम से मोहग्रस्त होकर जीव सोचता है कि उसके तथाकथित समाज, मित्रता तथा प्रेम, राष्ट्रीयता, जाति इत्यादि उसे संरक्षण प्रदान करेंगे। उसे यह पता ही नहीं रहता कि मृत्यु के पश्चात् वह प्रबल प्रकृति के हाथों में फेंक दिया जायेगा जो उसे वर्तमान कार्य के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर प्रदान करेगी। हो सकता है कि यह शरीर मनुष्य का न भी हो। इस प्रकार समाज, स्त्री तथा मित्रता के मध्य जीव के सुरक्षित बने रहने का विचार मात्र मोह ही है। विभिन्न भौतिक शरीरों में बद्ध सभी देहधारी जीव वर्तमान भौतिक सुख के कार्यों द्वारा मोहग्रस्त रहते हैं। वे अपना मुख्य कार्य, जो भगवान् के धाम को वापस जाने का है, भूल जाते हैं।

ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को, जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, मोहग्रस्त समझना चाहिए। भौतिक वस्तुओं से उसे जो तथाकथित हर्ष तथा संतोष प्राप्त होता है, उसे भी मोह ही समझना चाहिए। वास्तव में मनुष्य को समाज, मित्रता, प्रेम या अन्य कोई माया के आक्रमण से नहीं बचा सकता जो जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग के रूप में होता रहता है। इस मोहावस्था से एक भी जीव को निकाल पाना कठिन है,

अत: भगवान् श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (७.१४) में कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"यह मेरी दैवी माया तीन गुणों से युक्त है और इसे जीत पाना कठिन है। किन्तु जो मेरी शरण ग्रहण कर चुके हैं, वे इसे सरलता से पार कर सकते हैं।" अत: जब तक मनुष्य श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक वह प्रकृति के तीन गुणों के बंधन से निकल नहीं पाता।

एवं कर्मसु संसक्तः कामात्मा वञ्चितोऽबुधः ।
महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कर्मसु—कर्मों में; संसक्तः—अत्यन्त आसक्त; काम-आत्मा—कामी; वञ्चितः—ठगा गया; अबुधः—अल्पज्ञानी; महिषी—पटरानी; यत् यत्—जो जो; ईहेत—चाहती थी; तत् तत्—वही वही; एव—निश्चय ही; अन्ववर्तत—पालन करता था।.

इस प्रकार विभिन्न प्रकार के मानसिक उहापोह तथा सकाम कर्मों में फँसा रह कर राजा पुरञ्जन पूर्ण रूप से भौतिक बुद्धि के वश में हो गया और ठगा गया। वह दरअसल ही अपनी रानी की समस्त इच्छाओं को पूरा किया करता था।

तात्पर्य : जब जीव इतना मोहग्रस्त हो जाता है कि वह अपनी पत्नी या भौतिक बुद्धि के वशीभूत हो जाता है, तो उसे अपनी तथाकथित पत्नी की बुद्धि की तुष्टि करनी पड़ती है और उसी के आदेशानुसार कार्य करना होता है। विभिन्न शास्त्रों का उपदेश है कि भौतिक सुविधा के लिए मनुष्य को चाहिए कि आभूषण प्रदान करके तथा उसके समस्त आदेशों का पालन करते हुए अपनी पत्नी को सदैव प्रसन्न रखे। इस प्रकार पारिवारिक जीवन में किसी तरह की परेशानी न होगी। अत: अपने सामाजिक हित के लिए मनुष्य को चाहिए कि अपनी पत्नी को प्रसन्न रखे। इस प्रकार जब वह अपनी पत्नी का दास हो जाता है, तो उसे पत्नी के इच्छानुसार कार्य करना होता है। इस प्रकार वह अधिकाधिक फँसता जाता है। बंगाल में कहावत है कि जो अपनी पत्नी का आज्ञाकारी दास बन जाता है, वह अपनी ख्याति खो देता है। किन्तु कठिनाई तो यह है कि जब तक पत्नी का दास न बना जाये तब तक पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त रहता है। पाश्चात्य देशों में इसी उपद्रव के कारण तलाक,

विवाह-विच्छेद का कानून जन्म लेता है और भारत जैसे पूर्वी देशों में सम्बन्ध-विच्छेद चालू है। अब भारत में तलाक का नया कानून चालू हो जाने से इस उपद्रव की पुष्टि हो जाती है। अन्त:करण के भीतर मन कार्य करता है, सोचता है, अनुभव करता है और इच्छा करता है और अपनी पत्नी के वश में होने का अर्थ है भौतिक बुद्धि के वश में होना। इस प्रकार मनुष्य अपनी पत्नी से सन्तान उत्पन्न करता है और मानसिक आडम्बर के वश में आकर अनेक प्रकार के कार्यों में फँस जाता है।

क्वचित्पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः ।
अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति जक्षत्यां सह जक्षिति ॥ ५७॥
क्वचिद्गायति गायन्त्यां रुदत्यां रुदति क्वचित् ।
क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्यामनु जल्पति ॥ ५८॥
क्वचिद्धावति धावन्त्यां तिष्ठन्त्यामनु तिष्ठति ।
अनु शेते शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम् ॥ ५९॥
क्वचिच्छृणोति शृण्वन्त्यां पश्यन्त्यामनु पश्यति ।
क्वचिज्जिघ्रति जिघ्रन्त्यां स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित् ॥ ६०॥
क्वचिच्च शोचतीं जायामनु शोचति दीनवत् ।
अनु हृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनु मोदते ॥ ६१॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी कभी; पिबन्त्याम्—पीते हुए; पिबति—वह पीता था; मदिराम्—शराब; मद-विह्वलः—उन्मत्त; अश्नन्त्याम्—जब वह खाती; क्वचित्—कभी; अश्नाति—खाता था; जक्षत्याम्—जब चबाती; सह—उसके साथ; जक्षिति—वह चबाता था; क्वचित्—कभी; गायति—गाता था; गायन्त्याम्—अपनी पत्नी के गाने पर; रुदत्याम्—जब वह रोती; रुदति—वह भी रोता; क्वचित्—कभी; क्वचित्—कभी; हसन्त्याम्—जब वह हँसती; हसति—हँसता था; जल्पन्त्याम्—जब वह अनाप-शनाप बोलती; अनु—साथ-साथ; जल्पति—वह बकता; क्वचित्—कभी; धावति—वह दौड़ता था; धावन्त्याम्—जब वह दौड़ती; तिष्ठन्त्याम्—उसके शान्त खड़े रहने पर; अनु—साथ-साथ; तिष्ठति—खड़ा रहता था; अनु—उसके साथ; शेते—सोता था; शयानायाम्—जब वह सोती थी; अनु—उसके साथ; आस्ते—वह भी बैठता था; क्वचित्—कभी; आसतीम्—जब वह बैठती थी; क्वचित्—कभी; शृणोति—सुनता था; शृण्वन्त्याम्—जब वह सुनने में व्यस्त होती; पश्यन्त्याम्—जब वह कुछ देखती होती; अनु—उसके साथ; पश्यति—वह भी देखता था; क्वचित्—कभी; जिघ्रति—सूँघता था; जिघ्रन्त्याम्—जब उसकी पत्नी सूँघती होती; स्पृशन्त्याम्—जब वह कुछ स्पर्श करती; स्पृशति—वह भी छूता था; क्वचित्—उस समय; क्वचित् च—कभी कभी; शोचतीम्—जब विलाप करती; जायाम्—उसकी पत्नी; अनु—उसके साथ; शोचति—वह भी विलाप करता; दीन-वत्—दीन व्यक्ति के समान; अनु—उसके साथ; हृष्यति—प्रसन्न होता था; हृष्यन्त्याम्—जब वह प्रसन्न होती; मुदिताम्—जब वह सन्तुष्ट होती; अनु—उसके साथ; मोदते—उसे भी संतोष होता।.

जब रानी मद्यपान करती तो राजा पुरञ्जन भी मदिरा पीने में व्यस्त रहता। जब रानी भोजन करती तो वह भी उसके साथ-साथ खाता; जब वह चबाती तो वह भी साथ-साथ चबाता। जब रानी गाती तो राजा भी गाता। इसी प्रकार जब रानी रोती तो वह रोता और जब-जब रानी हँसती तो वह भी हँसता। जब रानी अनाप-शनाप बोलती तो वह भी उसी तरह बोलता करता और जब

रानी चलती तो वह उसके पीछे हो लेता। जब रानी शान्त भाव से खड़ी होती तो वह भी खड़ा रहता और जब रानी बिस्तर में लेट जाती तो वह भी लेट जाता। जब रानी बैठती तो वह भी बैठ जाता और जब रानी कुछ सुनती तो वह भी वही सुनता। जब रानी कोई वस्तु देखती तो वह भी उसी को देखता और जब रानी कुछ सूँघती तो राजा भी उसी को सूँघने लगता। जब रानी कुछ छूती तो राजा भी उसे छूता था और जब उसकी प्रिया रानी शोकमग्न होती तो बेचारा राजा भी शोक में उसका साथ देता। इसी तरह रानी को जब सुख मिलता उसका भोग राजा भी करता और जब रानी सन्तुष्ट हो जाती तो राजा भी तुष्टि का अनुभव करता।

तात्पर्य : मन ही वह स्थान है जहाँ आत्मा स्थित है और मन बुद्धि के द्वारा संचालित होता है। जीवात्मा हृदय के भीतर स्थित होने से बुद्धि का अनुसरण करता है। बुद्धि को यहाँ पर रानी के रूप में चित्रित किया गया है और मन के वश में होकर आत्मा भौतिक बुद्धि का उसी तरह अनुसरण करता है, जिस प्रकार राजा अपनी पत्नी का कर रहा था। निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धि ही जीव के बन्धन का कारण है। बात यह है कि इस जाल से निकलने के लिए मनुष्य को आध्यात्मिक बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है।

महाराज अम्बरीष के जीवन में हम यह देखते हैं कि उन्होंने अपना मन पहले श्रीकृष्ण के चरणकमलों में लगाया जिससे उनकी बुद्धि विमल हो गई। महाराज अम्बरीष ने अपनी अन्य इन्द्रियों को भी भगवान् की सेवा में लगाये रखा। वे अपने नेत्रों का प्रयोग मन्दिर में फूलों से सुन्दर रीति से सजे विग्रह को देखने में करते थे, अपनी घ्राणशक्ति को फूलों की सुगन्ध सूँघने में और अपने पाँवों को मन्दिर तक जाने में प्रयुक्त करते थे। उनके हाथ मन्दिरों की सफाई करने में लगे रहते और उनके कान श्रीकृष्ण का गुणानुवाद सुनते थे। उनकी जीभ दो कार्य करती—एक तो श्रीकृष्ण का गुणगान और दूसरे श्रीविग्रह पर चढ़ा प्रसाद चखने में। भौतिकता-ग्रस्त व्यक्ति, जो पूरी तरह बुद्धि के वश में हैं, ये सारे कार्य नहीं कर सकते। इस प्रकार वे जाने या अनजाने भौतिक बुद्धि के आदेशों के वश में हो जाते हैं। इस तथ्य को अगले श्लोक में सार रूप में दिया गया है।

विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः ।

नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात्क्रीडामृगो यथा ॥ ६२॥

शब्दार्थ

विप्रलब्धः—बन्दी; महिष्या—महिषी (पटरानी) द्वारा; एवम्—इस प्रकार; सर्व—समस्त; प्रकृति—अस्तित्व; वञ्चितः—ठगा जाकर; न इच्छन्—न चाहते हुए; अनुकरोति—अनुकरण करता था; अज्ञः—मूर्ख राजा; क्लैब्यात्—बलपूर्वक; क्रीडा-मृगः—पालतू जानवर; यथा—के समान।

इस प्रकार राजा पुरञ्जन अपनी सुन्दर पत्नी के द्वारा बन्दी बना हुआ था और ठगा जा रहा था। वास्तव में वह संसार में अपने सम्पूर्ण अस्तित्व में ठगा जा रहा था। बेचारा वह मूर्ख राजा अपनी इच्छा के विरुद्ध अपनी पत्नी के वश में उसी प्रकार रहता जिस प्रकार कोई पालतू जानवर अपने स्वामी की इच्छानुसार नाचता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विप्रलब्ध* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *वि* अर्थात् ''विशेष रूप से'' और *प्रलब्ध* अर्थात् ''प्राप्त''। राजा ने अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए रानी को प्राप्त किया और इस प्रकार वह सारे भौतिक संसार द्वारा ठगा गया। यद्यपि वह ऐसा करना नहीं चाहता था, किन्तु बुद्धि के वश में रहकर वह पालतू जानवर का-सा आचरण कर रहा था। जिस प्रकार पालतू बन्दर अपने स्वामी के इच्छानुसार नाचता है उसी प्रकार राजा पुरञ्जन अपनी रानी के इशारों पर नाच रहा था। *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में कहा गया है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*—यदि कोई किसी सन्त पुरुष या भक्त की संगति करता है, तो उसका मोक्ष-मार्ग स्पष्ट हो जाता है। किन्तु यदि वह स्त्री का या किसी ऐसे व्यक्ति का साथ करता है, जो स्त्री पर अत्यन्त आसक्त रहता हो तो उसके बन्धन का मार्ग प्रशस्त होता है।

कुल मिलाकर, मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्त्री की संगति छोड़ देनी चाहिए। संन्यास आश्रम का यही तात्पर्य है। संन्यास लेने के पूर्व मनुष्य को अवैध स्त्री प्रसंग से बचने का अभ्यास करना होता है। विषयी जीवन, चाहे वह वैध हो या अवैध, एक-सा होता है, किन्तु अवैध स्त्री के प्रसंग से मनुष्य अधिकाधिक बँधता जाता है। अपने विषयी जीवन को नियमित करने से सम्भावना रहती है कि उसे अन्ततः काम वासना या स्त्री-संग से मुक्ति मिल जाये। यदि ऐसा हो सके तो आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ना आसान हो जाता है।

नारद मुनि ने इस अध्याय में बतलाया है कि मनुष्य किस प्रकार अपनी प्रियतमा पत्नी की संगति से मोहित होता है। अपनी पत्नी के प्रति आकर्षण का अर्थ है भौतिक गुणों के प्रति आकर्षण। जो तमोगुण के भौतिक गुण से आकृष्ट होता है, वह जीवन की अधोगति में रहता है और जो सतोगुण से

आकृष्ट होता है, वह उत्तम स्थिति में रहता है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि जब मनुष्य सतोगुण पद पर आसीन होता है, तो वह ज्ञान के अनुशीलन के प्रति आकृष्ट होता है। वास्तव में यह स्थिति श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान के कारण भक्ति अपनाने में वरीयता आती है। जब तक मनुष्य ज्ञान के पद अर्थात् ब्रह्मभूत अवस्था को प्राप्त नहीं होता, वह भक्ति में आगे प्रगति नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.५४) में कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषू मद्भक्तिं लभते पराम्॥

''जो इस प्रकार आध्यात्मिक रूप से स्थित होता है, उसे तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार होता है और वह पूर्ण रूप से प्रसन्न हो जाता है। उसे किसी वस्तु के लिए न तो इच्छा होती है, न शोक होता है; वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त कर लेता है।''

ज्ञान की स्थिति लाभकारी है, क्योंकि यह एक ऐसा साधन है इससे भक्ति का पद प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यदि कोई सीधे भक्ति करता है, तो बिना प्रयास के ही ज्ञान प्रकट होता है। इसकी पुष्टि *भागवत* (१.२.७) में इस प्रकार हुई है।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

भक्ति स्वतःही हमारे सांसारिक ज्ञान को प्रकट कर देती है। जो पर्याप्त रूप से ज्ञानी होता है, वह तुरन्त ही तथाकथित समाज, परिवार तथा प्रेम के साथ-साथ अन्य सारी वस्तुओं से विरक्त हो जाता है। जब तक मनुष्य इनसे लगाव रखता है तब तक न तो ज्ञान का प्रश्न उठता है, न ही भक्ति का। किन्तु सीधे भक्ति करने पर मनुष्य ज्ञान तथा विरक्ति दोनों से पूरित हो उठता है। इस प्रकार जीवन सार्थक बन जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''राजा पुरञ्जन के गुणों का वर्णन'' नामक पच्चीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter छब्बीस

राजा पुरञ्जन का आखेट के लिए जाना और रानी का क्रुद्ध

होना

नारद उवाच
स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम् ।
द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम् ॥ १ ॥
एकरश्म्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम् ।
पञ्चप्रहरणं सप्तवरूथं पञ्चविक्रमम् ॥ २ ॥
हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः ।
एकादशचमूनाथः पञ्चप्रस्थमगाद्वनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; सः—राजा पुरञ्जन; एकदा—एक बार; महा-इष्वासः—विशाल धनुष बाण लेकर; रथम्—रथ; पञ्च-अश्वम्—पाँच घोड़े; आशु-गम्—तेजी से चलने वाले; द्वि-ईषम्—दो तीर; द्वि-चक्रम्—दो पहिए; एक—एक; अक्षम्—धुरी; त्रि—तीन; वेणुम्—ध्वजाएँ; पञ्च—पाँच; बन्धुरम्—अवरोध, डोरियाँ; एक—एक; रश्मि—लगाम; एक—एक; दमनम्—सारथी; एक—एक; नीडम्—बैठने का स्थान; द्वि—दो; कूबरम्—जुए; पञ्च—पाँच; प्रहरणम्—आयुध; सप्त—सात; वरूथम्—आवरण अथवा शरीर के अवयव; पञ्च—पाँच; विक्रमम्—चालें; हैम—सुनहला; उपस्करम्—आभूषण; आरुह्य—चढ़ कर, सवार होकर; स्वर्ण—सोने का; वर्मा—कवच; अक्षय—न समाप्त होने वाला; इषु-धिः—तरकस; एकादश—ग्यारह; चमू-नाथः—सेनापतियों; पञ्च—पाँच; प्रस्थम्—गन्तव्य; अगात्—गया; वनम्—वन में।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजन्, एक बार राजा पुरञ्जन ने अपना विशाल धनुष लिया और सोने का कवच धारण करके तरकस में असंख्य तीर भर कर वह अपने ग्यारह सेनापतियों के साथ अपने रथ पर बैठ गया, जिसे पाँच तेज घोड़े खींच रह थे और पञ्चप्रस्थ नामक वन में गया। उसने अपने साथ उस रथ में दो विस्फोटक तीर ले लिये। यह रथ दो पहियों तथा एक घूमते हुए धुरे पर स्थित था। रथ पर तीन ध्वजाएँ, एक लगाम, एक सारथी, एक बैठने का स्थान, दो काठी (जुए), पाँच आयुध तथा सात आवरण थे। यह रथ पाँच भिन्न-भिन्न शैलियों से गति कर रहा था और उसके सामने पाँच अवरोध थे। रथ की सारी साज-सज्जा सोने की बनी थी।

तात्पर्य : इन तीनों श्लोकों में बताया गया है कि किस प्रकार जीव का भौतिक शरीर बहिरंगा शक्ति के तीन गुणों के नियंत्रण में रहता है। यह शरीर रथ है और जीव ही इस शरीर का स्वामी है जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१३) में कहा गया है—*देहिनोऽस्मिन्यथा देहे।* शरीर (देह) का *स्वामी देही* कहलाता है और वह इस शरीर के भीतर, विशेषत: हृदय के भीतर, विद्यमान रहता है। जीव एक सारथी द्वारा चलाया जाता है। यह रथ तीन गुणों से बना है, जो कि प्रकृति के तीनों गुण हैं, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.६१) में हुई है—*यन्त्रारूढानि मायया।* यंत्र का अर्थ है वाहन। यह शरीर प्रकृति

द्वारा प्रदत्त है और इस शरीर का चालक है परमात्मा। जीव रथ के भीतर बैठा रहता है। ऐसी है वास्तविक स्थिति।

जीवात्मा सदैव तीन गुणों—सत्त्व, रज तथा तम—द्वारा प्रभावित होता रहता है। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१३) में हुई है—*त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः*—जीवात्मा प्रकृति के तीन गुणों द्वारा मोहग्रस्त होता रहता है। इस श्लोक में इन तीनों गुणों को तीन पताकाएँ कहा गया है। पताका से कोई भी व्यक्ति जान सकता है कि यह रथ किसका है। इसी प्रकार प्रकृति के तीनों गुणों से यह जाना जा सकता है कि रथ किस दिशा में जा रहा है। दूसरे शब्दों में, जिसके आँखें हैं वह समझ सकता है कि प्रकृति के किसी विशेष गुण द्वारा यह शरीर किधर जा रहा है। इन तीनों श्लोकों में यह बताया गया है कि मनुष्य धार्मिक बनना चाहते हुए भी किस प्रकार तमोगुण से प्रभावित होता है। नारद मुनि प्राचीनबर्हिषत् को दिखा देना चाहते थे कि राजा तमोगुण से प्रभावित है, यद्यपि वह परम धर्मात्मा माना जाता था।

कर्मकाण्डीय के अनुसार मनुष्य वेदों द्वारा निर्देशित विविध यज्ञ सम्पन्न करता है और उन सभी यज्ञों में पशुबलि का आदेश है, ताकि मारे जाने वाले पशुओं के जीवन पर वैदिक मंत्रों की शक्ति की परीक्षा हो सके। पशुबलि निश्चय ही तमोगुण के अधीन होकर की जाती है। भले ही कोई कितना धार्मिक प्रवृत्ति वाला क्यों न हो, पशुबलि की संस्तुति सभी शास्त्रों में, न केवल वेदों में, वरन् अन्य सम्प्रदायों के आधुनिक शास्त्रों तक में है। ये पशु-यज्ञ धर्म के नाम पर किये जाते हैं, किन्तु वास्तव में ये तो तमोगुण वाले व्यक्तियों के निमित्त होते हैं। जब ऐसे लोग पशुओं का वध करते हैं, तो वे धर्म की दुहाई देते हैं। किन्तु जहाँ धर्म दिव्य पद्धति हो—यथा वैष्णव धर्म—वहाँ पशुबलि (यज्ञ) को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। ऐसे दिव्य धर्म की संस्तुति श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६६) में की है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"तुम सभी धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें समस्त पाप-बन्धनों से मुक्त कर दूँगा। तुम डरो नहीं।" चूँकि राजा प्राचीनबर्हिषत् विविध यज्ञों के करने में व्यस्त था जिनमें पशुओं की हत्या की जाती थी, अतः नारद मुनि ने उसे बताया कि ऐसे यज्ञ तमोगुण से प्रभावित होने के कारण किये जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* के तो प्रारम्भ में ही (१.१.२) कहा गया है—*प्रोज्झित कैतवोऽत्र।* ऐसे

सारे धर्मों को जो ठगी में लगे हैं *श्रीमद्भागवत* में स्थान प्राप्त नहीं है। *भगवद्धर्म* जो भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को बताता है—पशुबलि की संस्तुति नहीं की जाती। संकीर्तन-यज्ञ में, जिसमें—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे—महामंत्र का जप किय जाता है, कहीं भी पशुबलि की संस्तुति नहीं है।

इन तीनों श्लोकों में राजा पुरञ्जन का पशुओं को मारने के लिए जंगल को प्रस्थान करना प्रतीकात्मक रूप से तमोगुण से प्रेरित जीव का विभिन्न इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में लगना है। यह भौतिक शरीर स्वयं बताता है कि जीवात्मा प्रकृति के तीन गुणों द्वारा प्रभावित है और उसे भौतिक वस्तुओं का भोग करने के लिए प्रवृत्त किया जा रहा है। जब शरीर तमोगुण से प्रभावित होता है, तो संक्रमण अत्यन्त बिकट होता है। जब शरीर रजोगुण से प्रभावित होता है, तो संक्रमण लक्षणात्मक स्तर पर होता है, किन्तु जब शरीर सतोगुण से प्रभावित होता है, तो यही सांसारिक भौतिक संक्रमण परिशुद्ध हो जाता है। विभिन्न धर्मों में बताये गये धार्मिक अनुष्ठान सतोगुण-स्तर पर ही होते हैं, किन्तु इस भौतिक जगत में कभी-कभी सतोगुण भी अन्य गुणों से दूषित हो जाता है, अत: कभी-कभी सतोगुणी व्यक्ति भी तमोगुण के प्रभाव में आ जाता है।

यहाँ पर इसका वर्णन हुआ है कि एक बार राजा पुरञ्जन पशुओं का वध करने के लिए जंगल में गया। इसका अर्थ यही होता है कि जीवात्मा तमोगुण के प्रभाव में आ गया। जिस जंगल में राजा आखेट करने लगा उसका नाम *पञ्चप्रस्थ* था। *पञ्च* का अर्थ ''पाँच'' होता है, अत: यह पाँच इन्द्रिय वस्तुओं (विषयों) का सूचक है। शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं—हाथ, पाँव, जीभ, गुदा तथा जननेद्रिय। इन कर्मेन्द्रियों का पूरा-पूरा लाभ उठाकर शरीर भौतिक जीवन का भोग करता है। रथ को पाँच घोड़े खींच रहे हैं, जो पाँच इन्द्रियों—आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जीभ-के प्रतीक हैं। ये इन्द्रियाँ विषयों के प्रति शीघ्र आकृष्ट होती हैं, फलस्वरूप घोड़ों को तेजी से चलने वाला बताया गया है। राजा पुरञ्जन के रथ में दो विस्फोटक आयुध हैं जिनकी तुलना अहंकार से की जा सकती है। इस अहंकार की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं—मैं यह शरीर हूँ (*अहन्ता*) और मेरे सभी शारीरिक सम्बन्धी मेरे हैं (*ममता*)।

रथ के दोनों पहिए दो गतियील सुविधाओं जैसे हैं—पापी जीवन तथा धार्मिक जीवन। रथ तीन

पताकाओं से सुसज्जित है, जो प्रकृति के तीनों गुणों के द्योतक हैं। पाँच प्रकार के अवरोध पंचवायु हैं, जो शरीर के भीतर प्रवाहित होते हैं। ये हैं—प्राण, अपान, उदान, समान तथा व्यान। शरीर में सात आवरण पाये जाते हैं—ये हैं त्वचा, पेशी, वसा, रक्त, मज्जा, अस्थि तथा वीर्य। जीव तीन सूक्ष्म तथा पाँच स्थूल तत्त्वों से ढका है। ये वास्तव में वे अवरोध हैं, जो जीव को भौतिक बन्धन से मोक्ष के मार्ग में जाते हुए मिलते हैं।

इस श्लोक में *रश्मि* (रस्सी) शब्द मन का सूचक है। *नीड* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि *नीड* तो पक्षियों का घोंसला होता है। यहाँ पर *नीड* हृदय है जहाँ पर जीवात्मा स्थित है। जीवात्मा केवल एक स्थान पर बैठता है। उसके बन्धन के दो कारण होते हैं—शोक तथा मोह। इस संसार में जीवात्मा उसी वस्तु के पीछे दौड़ता है, जो उसे कभी मिल नहीं सकती। अत: वह मोह में पड़ा रहता है। ऐसी मोहग्रस्त दशा में होने से वह सदैव शोक करता रहता है। इस प्रकार शोक तथा मोह *द्विकूबर* अर्थात् बन्धन के दो स्थान कहे गये हैं।

जीवात्मा अपनी सारी इच्छाएँ पाँच विभिन्न विधियों से पूरी करता है, जो उसकी कर्मेन्द्रियों को सूचित करती हैं। सुनहरे आभूषण तथा वस्त्र सूचित करते हैं कि जीवात्मा रजोगुण से प्रभावित है। जिस व्यक्ति के पास अकूत धन होता है, वह विशेष रूप से रजोगुण के वश में होता है। रजोगुण के कारण वह इस संसार में अनेक वस्तुओं का भोग करना चाहता है। ग्यारह सेनापति दस इन्द्रियों तथा मन के सूचक हैं। मन सदैव दस सेनापतियों के साथ मिलकर संसार के भोग की योजनाएँ बनाता रहता है। पञ्चप्रस्थ नामक जंगल, जहाँ राजा आखेट करने गया था, पाँच इन्द्रिय विषयों—रूप, स्वाद, शब्द, गंध तथा स्पर्श—का जंगल है। इस प्रकार इन तीन श्लोकों में नारद मुनि भौतिक शरीर की स्थिति तथा इसके भीतर जीवात्मा के बन्दी होने का वर्णन करते हैं।

चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः ।
विहाय जायामतदर्हां मृगव्यसनलालसः ॥ ४॥

शब्दार्थ

चचार—किया (खेला); मृगयाम्—आखेट, शिकार; तत्र—वहाँ; दृप्तः—गर्वपूर्वक; आत्त—लेकर; इषु—तीर; कार्मुकः—धनुष; विहाय—त्याग कर; जायाम्—अपनी पत्नी को; अ-तत्-अर्हाम्—यद्यपि असम्भव; मृग—आखेट, मृगया; व्यसन—बुरी लत; लालसः—से प्रोत्साहित होकर।

यद्यपि राजा पुरञ्जन के लिए अपनी रानी को एक पल भर भी छोड़ना कठिन था। तो भी उस

दिन उसे शिकार का ऐसा शौक लगा कि अपनी पत्नी की परवाह किये बिना वह बड़े गर्व से धनुष-बाण लेकर जंगल चला गया।

तात्पर्य : एक प्रकार का शिकार स्त्री-शिकार कहलाता है। बद्धजीव कभी भी एक पत्नी से संतुष्ट नहीं होता। जिनकी इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं होतीं वे विशेष रूप से अनेक स्त्रियों की तलाश में रहते हैं। राजा पुरञ्जन द्वारा अपनी धर्मपत्नी को छोड़ना बद्धजीव द्वारा इन्द्रियतृप्ति के लिए अनेक स्त्रियों की खोज का प्रतीक है। राजा जहाँ भी जाता है, उसे अपनी पत्नी को साथ ले जाना होता है, किन्तु जब राजा या जीव इन्द्रियतृप्ति की लालसा से त्रस्त हो जाता है, तो वह धार्मिक नियमों की परवाह नहीं करता। बजाय इसके वह गर्व के साथ आसक्ति तथा घृणा का धनुष बाण धारण करता है। हमारी चेतना सदैव दो प्रकार से कार्य करती है—एक तो सही मार्ग से तथा दूसरे गलत मार्ग से। जब किसी को रजोगुण के अधीन होने से अपने पद का गर्व हो जाता है, तो वह सही मार्ग त्याग कर गलत मार्ग अपना लेता है। क्षत्रिय राजाओं को कभी-कभी सलाह दी जाती है कि वे जंगल जाकर खूँख्वार पशुओं का शिकार करें जिससे वे वध करना सीख सकें, किन्तु इसका उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति कभी नहीं है। मांस खाने के लिए पशुओं का वध करना मनुष्यों के लिए वर्जित है।

आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः ।
न्यहनन्निशितैर्बाणैर्वनेषु वनगोचरान् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आसुरीम्—आसुरी; वृत्तिम्—व्यापार; आश्रित्य—ग्रहण करने से; घोर—कठोर; आत्मा—चेतना, हृदय; निरनुग्रहः—दयाहीन; न्यहनत्—वध किया; निशितैः—तीखे; बाणैः—बाणों से; वनेषु—वन में; वन-गोचरान्—जंगली पशुओं को।

उस समय राजा पुरञ्जन आसुरी वृत्तियों के प्रभाव में आ गया था, जिसके कारण उसका हृदय कठोर तथा दयाशून्य हो गया था, अतः उसने अपने तीखे बाणों से बिना सोचे-विचारे अनेक निर्दोष जंगली पशुओं का वध कर दिया।

तात्पर्य : जब किसी मनुष्य को अपने पद का गर्व हो जाता है, तो वह रजो तथा तमो गुणों के प्रभाव में आकर बिना रोक-टोक के अपनी इन्द्रियों का भोग करना चाहता है। इस तरह उसे आसुरी कहा जाता है। आसुरी होने पर लोग निरीह पशुओं के प्रति दयावान नहीं रह जाते; फलतः वे अनेक कसाईघर चलाते हैं। इसे *सूना* या *हिंसा* कहते हैं। कलियुग में रजो तथा तमोगुण में वृद्धि होने से प्रायः

सभी लोग आसुरी हैं, अतः उन्हें मांस खाना प्रिय है, जिसके लिए वे अनेक कसाईघर चलाते हैं।

इस कलिकाल में दया की वृत्ति प्रायः शून्य हो गई है; अतः मनुष्यों तथा राष्ट्रों के बीच सदैव संघर्ष तथा युद्ध चलते रहते हैं। मनुष्य यह नहीं समझते कि जिस प्रकार वे बिना रोक-टोक के अनेक पशुओं का वध करते हैं उसी प्रकार से महायुद्धों में उनका भी वध होगा। यह पाश्चात्य देशों में तो बहुत ही स्पष्ट दिखता है। पश्चिमी देशों में कसाईघरों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, इसीलिए प्रति पाँचवें या दसवें वर्ष महायुद्ध होता है, जिसमें असंख्य लोग पशुओं से भी बुरी दशा में मारे जाते हैं। कभी-कभी युद्ध के समय सैनिक-शत्रुओं को बन्दी शिविरों में रखकर उनकी नृशंस हत्या कर दी जाती है। कसाईघरों में तथा जंगल में शिकारियों द्वारा निर्बन्ध पशु-वध का ही यह दुष्परिणाम है। अभिमानी आसुरी लोग न तो प्रकृति के नियमों से, न ही ईश्वरीय नियमों से परिचित होते हैं; इसीलिए वे परवाह किये बिना बे-रोकटोक पशुओं का वध करते रहते हैं। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में पशुवध सर्वथा वर्जित है। अतः किसी को तब तक इसके प्रामाणिक छात्र के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता जब तक वह चार विधि-विधानों का व्रत नहीं ले लेता। ये हैं—पशु-वध न करना, मादक द्रव्य का सेवन न करना, अवैध स्त्री संसर्ग न करना तथा जुआ न खेलना। यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा इस कलिकाल में मनुष्यों के पापकर्मों का निवारण किया जा सकता है।

तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु राजा मेध्यान्पशून्वने ।
यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तीर्थेषु—पवित्र स्थानों में; प्रतिदृष्टेषु—वेदों के आदेशानुसार; राजा—राजा; मेध्यान्—वध के योग्य; पशून्—पशुओं को; वने—वन में; यावत्—जब तक; अर्थम्—आवश्यकतानुसार; अलम्—इससे अधिक नहीं; लुब्धः—लालची बनकर; हन्यात्—वध करे; इति—इस प्रकार; नियम्यते—नियमित करता है।

यदि राजा मांस खाने का अत्यधिक इच्छुक हो तो वह यज्ञ के लिए शास्त्रों में दिये गये आदेशों के अनुसार बन जाकर कुछ केवल वध्य पशुओं का वध करे। किसी को वृथा ही या बिना रोकटोक पशुओं के वध की अनुमति नहीं है। वेद उन मूर्ख पुरुषों के द्वारा अंधाधुंध पशुवध को नियमित करते हैं, जो तमोगुण तथा अविद्या द्वारा प्रभावित रहते हैं।

तात्पर्य : यह प्रश्न किया जा सकता है कि जीव द्वारा इन्द्रियतृप्ति पर क्यों प्रतिबन्ध लगाया जाये? यदि राजा वध सीखने के लिए जंगल जाकर पशुओं का वध कर सकता है, तो फिर इन्द्रियधारी जीव

को निर्बन्ध इन्द्रियतृप्ति क्यों न करने दी जाये? इस समय यह तर्क उन तथाकथित स्वामियों तथा योगियों द्वारा भी दिया जाता है, जो यह खुले आम कहते हैं कि जब हमारे पास इन्द्रियाँ हैं, तो फिर उनकी तृप्ति क्यों न की जाये। किन्तु ये मूर्ख स्वामी तथा योगी शास्त्रों के आदेशों को नहीं जानते। कभी-कभी इनमें से कुछ मूढ़ तो शास्त्रों का विरोध तक करते हैं। यहाँ तक कि वे भरी सभा में घोषित करते हैं कि शास्त्रों या अन्य ग्रन्थों की कोई आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं "मेरे पास आओ, मेरे स्पर्श करते ही तुम तुरन्त ब्रह्मभूत हो जाओगे।"

चूँकि आसुरी लोग चाहते हैं कि वे ठगे जाँय, अत: उन्हें ठगने वालों की कमी नहीं है। कलियुग में इस समय तो सम्पूर्ण मानव-समाज ऐसे ठगों एवं ठगे जाने वालों से भरा पड़ा है। इसीलिए वैदिक शास्त्रों ने इन्द्रियतृप्ति के लिए समुचित आदेश दिये हैं। इस युग में प्रत्येक व्यक्ति मांस तथा मछली खाना, शराब पीना और विषयभोग में लिप्त रहना चाहता है, किन्तु वैदिक आदेशानुसार संभोग की अनुमति केवल विवाहित जीवन में है, मांस-भक्षण केवल उन पशुओं का विहित है, जो मार कर देवी काली पर चढ़ाये गये हों तथा मादक द्रव्य-सेवन की केवल सीमित रूप में अनुमति है। इस श्लोक का *नियम्यते* शब्द सूचित करता है कि पशु-वध, मादक-द्रव्य सेवन तथा विषयभोग नियमित होना चाहिए।

नियम मनुष्यों के लिए होते हैं, पशुओं के लिए नहीं। सड़क-परिवहन के नियम कि दाहिने या बाएँ चलो मनुष्यों के लिए बने हैं न कि पशुओं के लिए। यदि कोई पशु इन नियमों का उल्लंघन करे तो उसे दण्डित नहीं किया जाता, किन्तु मनुष्य को किया जाता है। वेद पशुओं के लिए नहीं, अपितु मानव-समाज द्वारा समझे जाने के लिए हैं। जो व्यक्ति बिना विवेक के वेदों द्वारा दिये गये विधि-विधानों का अतिक्रमण करता है, वह दण्डनीय है। अत: मनुष्य को चाहिए कि अपनी कामवासनाओं के अनुसार इन्द्रियों का भोग न करे, वरन् वेदों में दिये गये नियमों के अनुसार अपने को नियमित करे। यदि राजा को जंगल में आखेट करने की अनुमति है, तो वह उसकी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं है। हम वध करने की कला के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकते। यदि राजा चोर-उचक्कों से डरता है, किन्तु दीन पशुओं को मार कर बड़े ही आनन्द से घर पर उनका मांस खाता है, तो उसे राजा बने रहने का कोई औचित्य नहीं है। उससे उसका पद ले लिया जाना चाहिए। चूँकि इस युग में राजाओं में आसुरी वृत्तियाँ

होती हैं, इसीलिए प्रत्येक देश में प्रकृति के नियमों द्वारा राजतंत्र का सफाया हो रहा है।

इस युग में लोग इतने गिर चुके हैं कि एक ओर वे बहुविवाह पर प्रतिबन्ध लगा रहे हैं और दूसरी ओर नाना प्रकार से स्त्रियों की खोज में रहते हैं। अनेक व्यापारिक प्रतिष्ठान विज्ञापित करते रहते हैं कि अमुक क्लब या दूकान में टापलेस (नंगी) युवतियाँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार आधुनिक समाज में स्त्रियाँ इन्द्रियभोग की साधन बन गई हैं। किन्तु वेदों का वचन है कि यदि किसी को एक से अधिक स्त्री को भोगने की रुचि है—जैसाकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और कभी-कभी शूद्र वर्णों में होता है—तो वह एक से अधिक विवाह कर सकता है। विवाह का अर्थ है स्त्री का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना और बिना विषयासक्ति के शान्तिपूर्वक रहना। किन्तु इस समय विषयासक्ति अनियंत्रित है। तो भी समाज में यह नियम बनाया जाता है कि कोई एक से अधिक विवाह नहीं कर सकता। यह आसुरी समाज का अनोखापन है।

य एवं कर्म नियतं विद्वान्कुर्वीत मानवः ।
कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते ॥ ७॥

शब्दार्थ

यः—जो; एवम्—इस प्रकार; कर्म—कार्य; नियतम्—नियमित; विद्वान्—विद्वान्; कुर्वीत—करना चाहिए; मानवः—मनुष्य; कर्मणा—ऐसे कार्यों से; तेन—इससे; राज-इन्द्र—हे राजा; ज्ञानेन—ज्ञान से; न—कभी नहीं; सः—वह; लिप्यते—लिप्त होता है।

नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् से आगे कहा : हे राजा, जो व्यक्ति शास्त्रानुमोदित कर्मों का आचरण करता है, वह सकाम कर्मों में लिप्त नहीं होता।

तात्पर्य : जिस प्रकार से सरकार नागरिकों को विशेष रूप से कार्य के लिए कुछ व्यापार-अनुमति पत्र बनाती है, उसी प्रकार वेदों में ऐसे आदेश हैं, जो हमारे सकाम कर्मों को नियंत्रित एवं नियमित करते हैं। सभी जीव इस संसार में अपने आप भोग के लिए आये हैं; फलतः इन्द्रियभोग को नियमित करने के लिए वेद हैं। जो व्यक्ति वैदिक नियमों के अनुसार इन्द्रिय भोग करता है, वह अपने कर्मों एवं उनके फलों में बँधता नहीं। *भगवद्गीता* (३.९) में आया है—*यज्ञार्थात् कर्मणः*—मनुष्य को यज्ञ के लिए अर्थात् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए कर्म करना चाहिए। *अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—अन्यथा कोई भी कर्मफल जीव के बन्धन का कारण बनेगा। मनुष्य विशेष रूप से जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के निमित्त है। अतः उसे वैदिक नियमों के अनुसार आचरण करना होता

है, जिससे वह अपनी इन्द्रियतृप्ति की इच्छाओं को पूरा कर ले और साथ ही धीरे-धीरे भवबन्धन से भी मुक्त हो ले। ऐसे नियमों के अनुसार किया गया कर्म ज्ञान कहलाता है। वस्तुतः, वेद शब्द का अर्थ ही ''ज्ञान'' है। *ज्ञानेन न स लिप्यते* बताता है कि वैदिक नियमों का पालन करने से मनुष्य कर्मों तथा उनके फलों के बन्धन में नहीं फँसता।

इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को वैदिक आदेशानुसार आचरण करने का उपदेश दिया जाता है न कि गैर जिम्मेदार तरीके से। जब कोई व्यक्ति किसी राज्य के नियमों तथा लाइसेंसों के अनुसार कार्य करता है, तो वह किसी अपराधिक कृत्य में नहीं फंसता। किन्तु मानवनिर्मित नियम सदैव दोषपूर्ण होते हैं, क्योंकि वे ऐसे व्यक्तियों द्वारा बनाये जाते हैं, जो त्रुटियाँ कर सकते हैं, मोहग्रस्त हो सकते हैं, ठगे जा सकते हैं और अपूर्ण इन्द्रियों वाले होते हैं। किन्तु वैदिक आदेश इनसे भिन्न हैं, क्योंकि उनमें ये चारों दोष नहीं पाये जाते। वैदिक आदेशों में त्रुटि नहीं हो सकती। वैदिक ज्ञान सीधे ईश्वर से प्राप्त होता है, अतः उसमें ठगी, मोह, त्रुटियों, इन्द्रियों की अपूर्णता का प्रश्न ही नहीं उठता। सारा वैदिक ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि वह परम्परा द्वारा ईश्वर से प्राप्त हुआ है। *श्रीमद्भागवत* (१.१.१) में कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये।* इस ब्रह्माण्ड के आदि प्राणी को, जो आदि कवि या ब्रह्मा कहलाता है, श्रीकृष्ण द्वारा अन्तःकरण में उपदेश दिया गया था। श्रीकृष्ण से इन आदेशों को प्राप्त करके ब्रह्मा ने इस ज्ञान को परम्परा विधि से नारद को प्रदान किया और नारद ने इसे व्यास को दिया। इस प्रकार वैदिक ज्ञान परिपूर्ण है। यदि हम वैदिक ज्ञान के अनुसार आचरण करते हैं, तो पापकर्मों में फँसने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अन्यथा कर्म कुर्वाणो मानारूढो निबध्यते ।
गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यधः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—नहीं तो; कर्म—सकाम कर्म; कुर्वाणः—करते हुए; मान-आरूढः—अभिमान के वशीभूत होकर; निबध्यते—फँस जाता है; गुण-प्रवाह—गुणों के प्रभाव से; पतितः—गिरा हुआ, पतित; नष्ट-प्रज्ञः—बुद्धिभ्रष्ट; व्रजति—जाता है; अधः—गर्त में, नीचे।

अन्यथा जो मनुष्य मनमाना कर्म करता है, वह मिथ्या अभिमान के कारण नीचे गिर जाता है और इस तरह प्रकृति के तीनों गुणों में फँस जाता है। इस प्रकार से जीव अपनी वास्तविक बुद्धि से रहित हो जाता है और जन्म-मृत्यु के चक्र में सदा-सदा के लिए खो जाता है। इस प्रकार वह

मल के एक सूक्ष्म जीवाणु से लेकर ब्रह्मलोक में उच्च पद तक ऊपर-नीचे आता-जाता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। पहला है *अन्यथा* ''नहीं तो,'' जो उस की ओर संकेत करता है, जिसे वैदिक विधि-विधानों की परवाह नहीं रहती। वेदों द्वारा निर्दिष्ट विधि-विधान *शास्त्र-विधि* कहलाते हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि जो *शास्त्र-विधि* को स्वीकार नहीं करता है और मनमाना कार्य करता है अथवा मिथ्या गर्व से फूला रहता है, उसे इस जीवन में न तो कभी सिद्धि प्राप्त होती है और न सुख अथवा भौतिकता से मुक्ति ही मिलती है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

''जो शास्त्रों के आदेशों की अवहेलना करता है और मनमाने ढंग से कार्य करता है उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख अथवा परम धाम'' (*भगवद्गीता* १६.२३)। इस प्रकार जो जानबूझ कर शास्त्र-विधि का उल्लंघन करता है, वह अपने ही कारण से प्रकृति के गुणों द्वारा उतना ही इस संसार में फँसता जाता है। अतः मानव-समाज को जीवन के वैदिक नियमों का पालन करना चाहिए जिनका सार *भगवद्गीता* में उपलब्ध हैं। अन्यथा भौतिक संसार में ही जीवन बिताना होगा। मूर्ख लोग नहीं जानते कि जीव चौरासी लाख योनियों में घूमता रहता है। क्रमिक विकास-विधि के द्वारा जब किसी को मनुष्य का रूप प्राप्त होता है, तो उससे आशा की जाती है कि वह वेदों द्वारा निर्दिष्ट विधि-विधानों का पालन करेगा। श्री चैतन्य महाप्रभु का कहना है कि अनादि काल से जीव अपनी आसुरी प्रवृत्ति के कारण प्रकृतिजन्य त्रयतापों को सहता आ रहा है; यह प्रवृत्ति भगवान् के प्रति विद्रोह करने की भावना है। श्रीकृष्ण ने भी *भगवद्गीता* (१५.७) में इसकी पुष्टि की है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

''इस बद्ध जगत में जीवात्माएँ मेरे शाश्वत अंश के रूप में हैं। बद्ध जीवन के कारण उन्हें मन समेत अपनी छहों इन्द्रियों से अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता है।'' प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का अंश है, अतः उसे इस संसार के त्रयतापों में डाले जाने का कोई कारण नहीं है, किन्तु जीव अपने को झूठे ही भोक्ता मान कर स्वेच्छा से इस भौतिक अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। उसे इस भयावह स्थिति से

बचाने के लिए ही भगवान् ने व्यासदेव का अवतार लेकर सारा वैदिक साहित्य प्रदान किया है। इसीलिए कहा गया है—

कृष्ण भुलि' सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख।

अतएव माया तारे देय संसार-दु:ख॥

"श्रीकृष्ण को भुलाने के कारण जीव अनादिकाल से भौतिकतावादी बन गया है। अत: श्रीकृष्ण की माया उसे इस जगत में नाना प्रकार के कष्ट दे रही है।"(*श्रीचैतन्य-चरितामृत,* मध्य २०.११७)।

माया-मुग्ध जीवेर नाहि स्वत: कृष्ण-ज्ञान।

जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण॥

"जब जीव माया द्वारा मुग्ध कर लिया जाता है, तो उसकी कृष्णचेतना पुनरूज्जीवित नहीं हो पाती। ऐसी परिस्थिति में कृष्ण ने कृपा करके चार वेद तथा अठारह पुराण प्रदान किये हैं।" (*चैतन्य चरितामृत,* मध्य २०.१२२)। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को वैदिक आदेशों का लाभ उठाना चाहिए, अन्यथा वह मनमाने कार्य करेगा और बिना किसी मार्गदर्शक के रह जाएगा।

इस श्लोक में *मानारूढ:* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। महान् विचारक तथा वैज्ञानिक बनने के बहाने विश्वभर के लोग मानसिक स्तर पर कार्य कर रहे हैं। ऐसे व्यक्ति सामान्यत: अभक्त होते हैं, क्योंकि वे प्रथम जीव ब्रह्माजी को भगवान् द्वारा दिये गये उपदेशों की परवाह नहीं करते। इसीलिए *भागवत* का (५.१८.१२) कथन है—

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहि:।

जो व्यक्ति भक्त नहीं है (अभक्त) वह बौद्धिक स्तर पर कार्य करने के कारण सुपात्र नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को समय-समय पर अपने ज्ञान का मानक बदलना पड़ता है। फलस्वरूप हम देखते हैं कि एक दार्शनिक दूसरे से सहमत नहीं होता और एक वैज्ञानिक दूसरे वैज्ञानिक के सर्वथा विपरीत सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकता है। इसका एकमात्र कारण ज्ञान के किसी मानक (आदर्श) के बिना मानसिक स्तर पर काम करते रहना है। किन्तु वैदिक आदेशों में ज्ञान का मानक स्वीकृत है—भले ही कभी-कभी कथन परस्पर विरोधी लगे। चूँकि वेद ज्ञान के मानक हैं, अत: भले वे विरोधी लगें, किन्तु उन्हें मानना

चाहिए। यदि उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता तो फिर भव-बन्धन में पड़े रहना होता है।

इस श्लोक में भौतिक परिस्थितियों को *गुण-प्रवाह* कहा गया है। अतः श्रीभक्ति-विनोद ठाकुर ने अपने एक गीत में कहा है—*मिछे मायार वशे, याच्छ भेसे 'खाच्छा हाबुडुबु भाइ*—"तुम क्यों कष्ट उठा रहे हो? तुम कभी प्रकृति की तरंगों में ऊपर और कभी नीचे क्यों जा रहे हो।" *जीव कृष्ण दास, ए विश्वास, कर्ले त'आर दुःख नाइ*—"अतः तुम अपने आपको कृष्ण का दास मान लो। तब तुम्हारे सारे कष्ट दूर हो जायेंगे।" ज्योंही कोई कृष्ण की शरण में आता है और *भगवद्गीता* को ज्ञान के पूर्ण मानक रूप में स्वीकार कर लेता है, वह प्रकृति के गुणों से बाहर आ जाता है और वह कभी नीचे नहीं गिरता तथा अपने ज्ञान को नहीं खोता।

नष्टप्रज्ञः । प्रज्ञ का अर्थ है "पूर्ण ज्ञान," और *नष्टप्रज्ञ* का अर्थ है "जिसे पूर्ण ज्ञान नहीं है।" जिसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता उसके पास केवल अनुमान (मनोधर्म) रहता है। ऐसे मनोधर्म से मनुष्य नीचे की ओर गिरता हुआ नारकीय अवस्था को प्राप्त होता है। शास्त्रों द्वारा निर्धारित नियमों का उल्लंघन करने से मनुष्य का हृदय शुद्ध नहीं हो सकता और जब हृदय शुद्ध नहीं होता तो वह प्रकृति के तीनों भौतिक गुणों के अनुसार कार्य करता है। इन कार्यों का सुन्दर वर्णन *भगवद्गीता* के सत्रहवें अध्याय में श्लोक १ से लेकर ६ में हुआ है। *भगवद्गीता* (२.४५) में यह भी बताया गया है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

"वेदों में प्रकृति के तीन गुणों के विषय में ही मुख्य रूप से वर्णन है। हे अर्जुन! इन तीन गुणों से ऊपर उठो। इन सबसे परे (अतीत) हो जाओ। समस्त द्वन्द्वों तथा लाभ और सुरक्षा की समस्त चिन्ताओं से मुक्त बनो और आत्मपरायण होओ।" सम्पूर्ण संसार तथा सारा भौतिक ज्ञान इन तीन गुणों में निहित है। मनुष्य को इन तीनों से ऊपर उठना होता है और इस दिव्य पद को पाने के लिए भगवान् के आदेशों का पालन करना होता है। इस प्रकार यह जीवन सार्थक हो जाता है। अन्यथा वह भौतिक प्रकृति के तीन गुणों की लहरों से नीचे फेंक दिया जाएगा। इसकी आगे की व्याख्या प्रह्लाद महाराज के शब्दों में *श्रीमद्भागवत* (७.५.३०) में प्राप्त है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।

अन्दान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥

भौतिकतावादी व्यक्ति भौतिक सुखों में इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि उन्हें अपने भौतिक अनुभवों के अतिरिक्त कुछ भी पता नहीं रहता और वे प्रकृति के गुणों की लहर में बह जाते हैं। वे चर्वितचर्वण का जीवन व्यतीत करते हैं और वे अपनी अनियंत्रित इन्द्रियों द्वारा संचालित होते हैं। इस प्रकार वे नारकीय जीवन के अंधकारमय स्थानों में जाते हैं।

तत्र निर्भिन्नगात्राणां चित्रवाजैः शिलीमुखैः ।
विप्लवोऽभूद्दुःखितानां दुःसहः करुणात्मनाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; निर्भिन्न—भिदकर; गात्राणाम्—शरीरों वाले; चित्र-वाजैः—तरह तरह के पंखों वाले; शिली-मुखैः—तीरों द्वारा; विप्लवः—विनाश, संहार; अभूत्—हुआ; दुःखितानाम्—अत्यन्त दुखितों का; दुःसहः—असह्य; करुण-आत्मनाम्—अत्यन्त दयालु पुरुषों का।

जब राजा पुरञ्जन इस प्रकार आखेट करने लगा तो तीक्ष्ण बाणों से भिदकर जंगल में अनेक पशु अत्यधिक पीड़ा से अपना प्राण त्यागने लगे। राजा के इन विनाशकारी निर्दयतापूर्ण कार्यों को देखकर दयालु पुरुष अत्यन्त खिन्न हो गए। इस प्रकार के दयालु पुरूष यह सारा वध देख कर सहन नहीं कर सके।

तात्पर्य : जब आसुरी लोग पशुओं का वध करते हैं, तो देवता या भगवान् के भक्त इस वध से अत्यन्त आहत होते हैं। इस आधुनिक युग की आसुरी सभ्यताओं में विश्वभर में अनेक प्रकार की बध-शालाएँ (कसाईघर) चालू हैं। धूर्त स्वामी तथा योगी मूर्ख लोगों को मांस खाने तथा पशुओं का वध करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते हैं और उसी के साथ-साथ वे अपना तथाकथित ध्यान एवं योग भी चालू रखते हैं। ये सारे कार्य अत्यन्त जघन्य हैं और कोई भी दयालु व्यक्ति तथा भगवान् का भक्त ऐसा दृश्य देखकर अत्यन्त अप्रसन्न होता है। आखेट की क्रिया भी एक भिन्न प्रकार से चल रही है, जैसाकि हम पहले कह चुके हैं। स्त्रियों का आखेट, विभिन्न प्रकार की शराबें पीना, नशे में रहना, पशुओं का वध तथा मैथुन-सुख—ये सब आधुनिक सभ्यता के आधार हैं। वैष्णवजन संसार की ऐसी दशा देखकर अत्यन्त अप्रसन्न रहते हैं, इसीलिए वे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के प्रसार में व्यस्त हैं।

जंगल में पशुओं के शिकार तथा वध, कसाईघरों में पशुओं का सामूहिक वध तथा वेश्यालयों में जो क्लबों और संस्थाओं के विभिन्न नामों के अन्तर्गत चलाये जाते हैं, और तरुणियों का शोषण—इन

सब को देखकर भक्तजन दुखी होते हैं। यज्ञ में पशुओं के वध के प्रति अत्यन्त दयालु होने के कारण नारद ने राजा प्राचीनबर्हिषत् को उपदेश देना प्रारम्भ किया। इन उपदेशों में उन्होंने बताया कि मेरे जैसे भक्त मानव-समाज में प्रचलित इस प्रकार के वध से अत्यन्त दुखी हैं। इस प्रकार के वध से न केवल सन्त पुरुष दुखी होते हैं, वरन् भगवान् भी दुखी होते हैं और बुद्ध के अवतार के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए जयदेव गोस्वामी गाते हैं—*सदयहृदयदर्शितपशुघातम्।* मात्र पशुओं की हत्या रोकने के लिए भगवान् बुद्ध दयावश प्रकट हुए। कुछ धूर्त यह मत व्यक्त करते हैं कि पशुओं के आत्मा नहीं होता, अथवा वे जड़ हैं। इस प्रकार वे अपना औचित्य स्थापित करते हैं कि पशु की हत्या में कोई पाप नहीं होता। वस्तुत: पशु जड़ नहीं हैं, अपितु उनका वध करने वालों का हृदय जड़ होता है। अत: उन्हें कोई तर्क या दर्शन नहीं भाता। वे कसाईघरों को चालू रखते हैं और जंगल में पशुओं का वध करते रहते हैं। निष्कर्षत: जो व्यक्ति नारद जैसे साधु पुरुषों एवं उनकी परम्परा के उपदेशों की परवाह नहीं करता, वह निश्चय ही *नष्टप्रज्ञ* की कोटि में पहुँचकर नरक को जाता है।

शशान्वराहान्महिषान्गवयान्रुरुशल्यकान् ।
मेध्यानन्यांश्च विविधान्विनिघ्नन्श्रममध्यगात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

शशान्—खरगोशों; **वराहान्**—सुअरों; **महिषान्**—भैंसों; **गवयान्**—नीलगायों; **रुरु**—कृष्ण मृग; **शल्यकान्**—साहियों; **मेध्यान्**—शिकारी जानवरों; **अन्यान्**—अन्यों को; **च**—तथा; **विविधान्**—विभिन्न; **विनिघ्नन्**—मार करके; **श्रमम् अध्यगात्**—अत्यधिक थक गया।

इस प्रकार राजा पुरञ्जन ने अनेक पशुओं का वध किया जिसमें खरगोश, सुअर, भैंसे, नीलगाय, श्याम हिरण, साही तथा अन्य शिकारी जानवर शामिल थे। लगातार शिकार करते रहने से राजा अत्यधिक थक गया।

तात्पर्य : तमोगुणी मनुष्य अनेक पापकर्म करता है। श्रील रूप गोस्वामी अपने *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में कहते हैं कि मनुष्य केवल अज्ञान से पापी बनता है। पापमय जीवन का परिणाम है कष्ट भोगना। जो नियमों को नहीं जानते और आदर्श नियमों का उल्लंघन करते हैं, वे कानून द्वारा दण्डित होते हैं। इसी प्रकार प्रकृति के नियम भी बड़े कठोर हैं। यदि बालक परिणाम जाने बिना अग्नि को छूता है, तो वह जल जाता है, भले ही वह बच्चा ही क्यों न हो। यदि कोई बालक प्रकृति के नियम का उल्लंघन करता है, तो उसके साथ कोई अनुकम्पा नहीं बरती जाती। मनुष्य केवल अज्ञानवश ही प्रकृति के नियमों का

उल्लंघन करता है और जब उसे ज्ञान हो जाता है, तो वह और आगे पापकर्म नहीं करता।

राजा अनेक पशुओं का वध कर लेने के बाद अत्यन्त थक गया। जब मनुष्य किसी सन्त पुरुष के सम्पर्क में आता है, तो उसे प्रकृति के कठोर नियमों का पता चलता है और वह धार्मिक बन जाता है। अधार्मिक मनुष्य पशु-तुल्य है, किन्तु कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में ऐसे मनुष्य को वस्तुओं का सही-सही ज्ञान हो जाता है और वह चार वर्जित कार्यों को त्याग देता है। ये हैं—अवैध मैथुन, मांस भक्षण, द्यूत-क्रीड़ा तथा मद्यसेवन। यही धार्मिक जीवन का सूत्रपात है। जो अपने को तथाकथित रूप से धार्मिक कह कर इन चार वर्जित कर्मों में लगाते हैं, वे कपटी हैं। धार्मिक जीवन तथा पापकर्म एक दूसरे के साथ-साथ नहीं चल सकते। यदि कोई सचमुच धार्मिक जीवन या मोक्ष-पथ का अनुसरण करना चाहता है, तो उसे इन चार मूलभूत नियमों पर दृढ़ रहना होगा। कोई कितना ही पापी क्यों न हो यदि उसे उपयुक्त गुरु से ज्ञान प्राप्त होता है और वह अपने विगत पापकर्मों के लिए पश्चात्ताप करता है और उन्हें बन्द कर देता है, तो वह तुरन्त घर लौटने अर्थात् भगवान् के धाम वापस जाने का पात्र बन जाता है। यह तभी सम्भव है जब शास्त्र-विधियों का तथा गुरु के उपदेशों का पालन किया जाये।

इस समय सारा संसार अंधी भौतिकतावादी सभ्यता से विरक्ति लेने के कगार पर है, जिसकी तुलना जंगल में पशुओं के आखेट से की जा सकती है। लोगों को इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का लाभ उठाना चाहिए और उन्हें हत्या करने के इस कष्टप्रद जीवन से विराम लेना चाहिए। कहा जाता है कि पशुओं के हत्यारों को न तो जीना चाहिए न मरना। यदि वे पशुओं को मारने तथा स्त्रियों के साथ भोग करने के लिए जीवित रहते हैं, तो उनका जीवन अधिक सम्पन्न नहीं रहता। और ज्योंही हत्यारा मरता है, वह निम्न योनि में जन्म-मरण के चक्कर में प्रवेश करता है। यह भी वांछनीय नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि हत्यारों को हत्या करनी बन्द कर देनी चाहिए और जीवन को सफल बनाने के लिए कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित होना चाहिए। आत्महत्या करके ऐसा भ्रमित एवं हताश व्यक्ति कभी विश्राम प्राप्त नहीं करता, क्योंकि आत्महत्या से उसे निम्नयोनि में जाना होगा या भूत-प्रेत बनना होगा, क्योंकि उसे स्थूल देह नहीं प्राप्त होगी। अत: सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि पापकर्मों से पूर्ण विरक्ति ले ली जाये और कृष्णभक्ति की जाये। इस प्रकार मनुष्य पूर्ण बनकर घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जा सकता है।

ततः क्षुत्तृट्परिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेयिवान् ।
कृतस्नानोचिताहारः संविवेश गतक्लमः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ततः—पत्पश्चात्; क्षुत्—भूख से; तृट्—प्यास से; परिश्रान्तः—अत्यधिक थक कर; निवृत्तः—विराम या विरक्ति लेकर; गृहम् एयिवान्—अपने घर वापस आया; कृत—करके; स्नान—स्नान; उचित-आहारः—समुचित भोजन; संविवेश—विश्राम किया; गत-क्लमः—थकान से रहित होकर।

इसके बाद अत्यन्त थका-माँदा, भूखा एवं प्यासा राजा अपने राजमहल लौट आया। लौटने के बाद उसने स्नान किया और यथोचित भोजन किया। तब उसने विश्राम किया और इस तरह सारी थकान से मुक्त हो गया।

तात्पर्य : भौतिकतावादी मनुष्य पूरे सप्ताह अत्यधिक परिश्रम करता है। वह सदैव पूछता रहता है, ''धन कहाँ है? धन कहाँ है?'' फिर सप्ताहान्त में वह इन कार्यों से छुट्टी लेकर विश्राम करने के लिए किसी एकान्त स्थान में जाना चाहता है। राजा पुरञ्जन अपने घर इसलिए लौट आया, क्योंकि जंगल में पशुओं का शिकार करते-करते वह अत्यधिक थक चुका था। इस प्रकार उसके अन्त:करण ने उसे और पापकर्म करने से मना करके उसे अपने घर लौटने के लिए विवश किया। *भगवद्गीता* में भौतिकतावादी व्यक्तियों को *दुष्कृतिन:* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे सदा पापकर्मों में लगे रहते हैं। जब मनुष्य को चेत होता है कि वह पापकर्मों में लगा है, तो उसका विवेक जागता है, जिसे यहाँ पर रूपक के अलंकार की भाषा में महल कहा गया है। सामान्यत: भौतिकतावादी मनुष्य रजो तथा तमो गुणों से प्रभावित होता है। रजो तथा तमों गुणों का परिणाम होता है काम तथा लोभ। भौतिकतावादी मनुष्य के जीवन में कर्मठता का अर्थ है काम तथा लोभ के वशीभूत होकर कार्य करना। किन्तु जब उसे चेत होता है, तो वह निवृत्ति चाहता है। वैदिक सभ्यता में ऐसी निवृत्ति के लिए संस्तुति की गई है और जीवन के इस भाग को वानप्रस्थ कहते हैं। भौतिकतावादी के लिए तो वानप्रस्थ और भी आवश्यक है, क्योंकि वह पापमय जीवन के कार्यों से निवृत्त होना चाहता है।

राजा पुरञ्जन का घर आना, स्नान करना और उपयुक्त भोजन करना-ये बताते हैं कि भौतिकतावादी मनुष्य को पापमय जीवन से निवृत्ति ले लेनी चाहिए और गुरु स्वीकार करके शुद्ध होकर उससे जीवन के मूल्य के बारे में सुनना चाहिए। ऐसा करने पर उसे ताजगी (नवीनता) महसूस होगी जिस प्रकार कि स्नान करने से होती है। प्रामाणिक गुरु से दीक्षा प्राप्त करके उसे सभी प्रकार के पापकर्मों का, यथा

अवैध मैथुन, मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा तथा मांसाहार का परित्याग कर देना चाहिए।

इस श्लोक में *उचिताहारः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *उचित* का अर्थ है उपयुक्त। मनुष्य को उपयुक्त भोजन ही करना चाहिए। जिस तरह सुअर विष्ठा के लिए दौड़ता है, उस तरह हमें भोजन के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। *भगवद्गीता* (१७.८) में मनुष्य के भोज्य पदार्थों का सात्त्विक आहार के शीर्षक से वर्णन किया गया है। मनुष्य को रजो तथा तमोगुणी भोजन नहीं करना चाहिए। यही *उचिताहार* या उपयुक्त भोजन करना है। जो लोग सदैव मांस खाते या मद्य पीते हैं, जो रजो तथा तमो गुणों का आहार है उन्हें इन वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए जिससे उनकी वास्तविक चेतना जाग्रत हो सके। इससे मनुष्य शान्त तथा तरोताजा हो सकता है। यदि कोई अशान्त या थका हुआ रहे तो ईश्वर-ज्ञान को नहीं समझ सकता। *श्रीमद्भागवत* (१.२.२०) में कहा गया है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते ॥

जब तक मनुष्य रजो तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त नहीं हो लेता, उसे शान्ति नहीं मिलती और बिना शान्ति के ईश्वर-ज्ञान को समझ पाना कठिन है। राजा पुरञ्जन का अपने घर लौटना मनुष्य का अपनी पूर्व चेतना में लौटने का सूचक है। यह पूर्व चेतना ही कृष्णचेतना है। जिसने अनेक पापकर्म किये हों, विशेष रूप से वन में पशुओं का वध या शिकार किया हो, उसके लिए तो कृष्ण-चेतना (भक्ति) नितान्त आवश्यक है।

आत्मानमर्हयां चक्रे धूपालेपस्त्रगादिभिः ।
साध्वलङ्कृतसर्वाङ्गो महिष्यामादधे मनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—अपने आप; अर्हयाम्—मानो किया जाना हो; चक्रे—किया; धूप—सुगंधित पदार्थ; आलेप—चन्दन से शरीर को पोतना; स्त्रक्—माला; आदिभिः—इत्यादि से; साधु—अच्छे स्वभाव का, सुन्दर ढंग से; अलङ्कृत—सजा हुआ; सर्व-अङ्गः—सारे शरीर पर; महिष्याम्—रानी को; आदधे—दिया, किया; मनः—ध्यान।

तत्पश्चात् राजा पुरञ्जन ने अपने शरीर में उपयुक्त आभूषण धारण किये। उसने अपने शरीर के ऊपर चन्दन का लेप किया और फूलों की माला पहनी। इस प्रकार वह पूर्णतः तरोताजा (विश्रान्त) हो गया। इसके बाद वह अपनी रानी की खोज करने लगा।

तात्पर्य : जब मनुष्य में उत्तम चेतना जगती है और वह किसी साधु पुरुष को अपना गुरु बना लेता

है, तो वह अनेक वैदिक उपदेश सुनता है, जो दर्शन, कथा, भक्तों के आख्यान तथा ईश्वर एवं भक्तों के मध्य कथोपकथन के आदान-प्रदान के रूप में होते हैं। इस प्रकार वह मन में ताजगी (नवीनता) का अनुभव करता है, जिस प्रकार सारे शरीर में चन्दन लेप करने तथा आभूषण पहनने से अनुभव होता है। इन अलंकरणों की तुलना धार्मिक तथा आत्मज्ञान से की जा सकती है। ऐसे ज्ञान से मनुष्य भौतिक जीवन से विरक्त होता है और अपने आपको *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य सुनने में लगाता है। इस श्लोक में प्रयुक्त *साध्व-अलंकृत* शब्द बताता है कि मनुष्य को चाहिए कि साधु पुरुषों के उपदेशों से संचित ज्ञान में लीन रहे। जिस प्रकार राजा पुरञ्जन अपनी प्राणप्रिया रानी को ढूँढने लगा उसी प्रकार साधु पुरुषों से प्राप्त किये ज्ञान से अलंकृत मनुष्य को अपनी मूल चेतना—कृष्णभावनामृत—को ढूँढने का यत्न करना चाहिए। जब तक साधु पुरुष अपने उपदेशों से कृपा नहीं दिखाते तब तक किसी के लिए कृष्णचेतना प्राप्त करना कठिन है। अत: श्रील नरोत्तमदास ठाकुर गाते हैं—*साधु-शास्त्र-गुरु-वाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य।* यदि हम साधु पुरुष बनना चाहते हैं या अपनी मूल कृष्णचेतना को प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें साधु, शास्त्र तथा गुरु की संगति करनी चाहिए। यही प्रक्रिया है।

तृप्तो हृष्टः सुदृप्तश्च कन्दर्पाकृष्टमानसः ।
न व्यचष्ट वरारोहां गृहिणीं गृहमेधिनीम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तृप्तः—तुष्ट; हृष्टः—प्रसन्न; सु-दृप्तः—अत्यन्त गर्वित; च—भी; कन्दर्प—कामदेव से; आकृष्ट—आकर्षित; मानसः—उसका मन; न—नहीं; व्यचष्ट—प्रयत्न किया; वर-आरोहाम्—उच्चतर चेतना; गृहिणीम्—पत्नी को; गृह-मेधिनीम्—जो अपने पति को भौतिक जीवन में रखती है।

भोजन कर लेने तथा अपनी भूख और प्यास बुझा लेने के बाद पुरञ्जन को मन में कुछ प्रफुल्लता हुई। वह उच्चतर चेतना तक न पहुँच कर कामदेव द्वारा मोहित हो गया और उसे अपनी पत्नी को ढूँढने की इच्छा हुई जिसने उसे गृहस्थ जीवन में प्रसन्न कर रखा था।

तात्पर्य : यह श्लोक उन लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण है, जो अपने को कृष्णचेतना तक ऊपर उठाना चाहते हैं। जब कोई भक्त गुरु से दीक्षा लेता है, तो वह अपनी आदतें बदल देता है और मांस खाना, अवैध मैथुन करना, जुआ खेलना तथा शराब पीना छोड़ देता है। शास्त्रों में सात्त्विक आहार के अन्तर्गत गेहूँ, चावल, तरकारी, फल, दूध, चीनी तथा दूध की वस्तुएँ बताई गई हैं। चावल-दाल, रोटी, तरकारी,

दूध तथा चीनी जैसे सामान्य आहार सन्तुलित होते हैं, किन्तु कभी-कभी यह देखा जाता है कि दीक्षाप्राप्त पुरुष प्रसाद के नाम पर अत्यन्त विलासी (गरिष्ठ) भोजन करता है। अपने पूर्व पापमय जीवन के कारण वह कामदेव द्वारा आकृष्ट होता है और खूब डट कर अच्छा भोजन करता है। यह स्पष्ट देखा गया है कि जब नवदीक्षित कृष्णभक्त अधिक भोजन करता है, तो उसका पतन हो जाता है। वह शुद्ध कृष्णचेतना (भक्ति) तक न उठकर कामदेव द्वारा आकृष्ट हो जाता है। तथाकथित ब्रह्मचारी स्त्री के द्वारा विचलित हो जाता है और वानप्रस्थ पुन: अपनी पत्नी से संभोग करने के लिए आकृष्ट होता है, अथवा वह किसी नई पत्नी की तलाश करने लगता है। हो सकता है कि भावनावश वह अपनी पत्नी छोड़कर भक्तों एवं गुरु की संगति में चला जाए, किन्तु अपने पूर्व पापकर्मों के कारण वह वहाँ ठहर नहीं पाता। वह कामदेव द्वारा आकृष्ट होने से, कृष्णचेतना को प्राप्त करने के बजाय नीचे गिर जाता है और इन्द्रियसुख के लिए दूसरी पत्नी ले आता है। नारद मुनि ने *श्रीमद्भागवत* (१.५.१७) में कृष्णचेतना से भौतिक जीवन में नवदीक्षित भक्त के पतन का वर्णन किया है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे

र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मत: ॥

इससे सूचित होता है कि यद्यपि नवदीक्षित भक्त अपरिपक्वता के कारण कृष्णभावनामृत से नीचे गिर सकता है, किन्तु उसकी कृष्णसेवा व्यर्थ नहीं जाती। किन्तु जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन में अथवा तथाकथित सामाजिक एवं पारिवारिक कर्तव्यों में अडिग रहता है और कृष्णभक्ति नहीं करता उसे कोई लाभ नहीं होता। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत को स्वीकार करता है उसे अत्यन्त सावधान रहना चाहिए और वर्जित कार्यों से दूर रहना चाहिए जिसका उल्लेख रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* में किया है—

अत्याहार प्रयासश्र्च प्रजल्पो नियमाग्रह: ।

जन संगश्र्च लौल्यं च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति॥

नवदीक्षित भक्त को न तो ज्यादा खाना चाहिए और न ही आवश्यकता से अधिक धनसंग्रह करना चाहिए। अधिक खाना और अधिक धनसंग्रह करना *अत्याहार* कहा जाता है। ऐसे *अत्याहार* के लिए

काफी प्रयत्न करना पड़ता है। यह *प्रयास* कहलाता है। हो सकता है कि ऊपर-ऊपर से कोई अपने को विधि-विधानों के प्रति अत्यन्त निष्ठावान दिखाए, किन्तु साथ ही भीतर-भीतर उनके पालन करने में दृढ़ न रह सके। यह *नियमाग्रह* कहलाता है। अवांछित व्यक्तियों के साथ मिलने से अर्थात् *जनसङ्ग* से वह काम तथा लोभ से दूषित हो जाता है और भक्ति के पथ से नीचे गिर जाता है।

अन्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छद्विमना इव वेदिषत् ।
अपि वः कुशलं रामाः सेश्वरीणां यथा पुरा ॥ १४॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुर—रनिवास की; **स्त्रियः**—स्त्रियों से; **अपृच्छत्**—पूछा; **विमनाः**—अत्यन्त उत्सुक होकर; **इव**—मानो; **वेदिषत्**—हे राजा प्राचीनबर्हि; **अपि**—क्या; **वः**—तुम्हारी; **कुशलम्**—कुशल मंगल; **रामाः**—हे सुन्दरियो; **स-ईश्वरीणाम्**—अपनी मालकिन या स्वामिनी सहित; **यथा**—जिस तरह; **पुरा**—पहले।

उस समय राजा पुरञ्जन कुछ-कुछ उत्सुक हुआ और उसने रनिवास की स्त्रियों से पूछाः हे सुन्दरियो, तुम सब अपनी स्वामिनी सहित पहले के समान प्रसन्न तो हो?

तात्पर्य : इस श्लोक में *वेदिषत्* शब्द राजा प्राचीनबर्हि का सूचक है। जब मनुष्य भक्तों की संगति में आकर अपने में नवीनता पाता है और उसमें कृष्णभक्ति जगती है, तो वह अपने मनोरथ से सलाह लेता है—अर्थात् सोचता, अनुभव करता तथा चाहता है—और यह निश्चय करता है कि वह भौतिक कार्यों में लौट जाये या कि आध्यात्मिक चेतना में अडिग रहे। *कुशलम्* शब्द जो कुछ शुभ है उसका सूचक है। यदि मनुष्य भगवान् विष्णु की भक्ति में लग जाये तो वह अपने घर को पूर्णतः शुभ बना सकता है। जब कोई विष्णु भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में लगता है, अर्थात् भौतिक कार्यों में लगता है, तो वह सदैव चिन्ताओं से ग्रस्त रहता है। विचारवान् व्यक्ति को चाहिए कि अपने मन से सलाह ले और तय करे कि मन की इन प्रवृत्तियों का किस प्रकार उपयोग किया जाये। यदि कोई श्रीकृष्ण के विषय में ही निरन्तर सोचता है, उनकी सेवा करने का विचार करता है और उन्हीं की आज्ञा पालन करने की कामना करता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने अपनी बुद्धि से अच्छी शिक्षा प्राप्त की है, क्योंकि बुद्धि तो माता है। यद्यपि राजा विश्रान्त हो चुका था फिर भी उसने अपनी पत्नी के विषय में पूछा। इस तरह वह सलाह ले रहा था, सोच रहा था और चाह रहा था कि वह अपनी स्थिर उत्तम चेतना की ओर फिर से कैसे लौटे। मन सलाह दे सकता है कि विषय-भोग से मनुष्य प्रसन्न रह सकता है, किन्तु जब वह कृष्णचेतना में आगे बढ़ जाता है, तो भौतिक कार्यों में उसे सुख नहीं

मिलता। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (२.५९) में की गई है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

"देहधारी जीव को इन्द्रिभोग से रोका जा सकता है, परन्तु विषयासक्ति बनी रहती है। किन्तु उच्च रस के अनुभव द्वारा ऐसे व्यापारों को त्यागकर वह चेतना (बुद्धियोग) में स्थिर हो जाता है।" जब तक मनुष्य अपने को भक्ति के श्रेष्ठ व्यापार में न लगा ले वह इन्द्रिय-विषयों से विरक्त नहीं हो सकता। *परं दृष्ट्वा निवर्तते।* कोई तभी भौतिक कार्यों को छोड़ सकता है जब वह सचमुच भक्ति करने में लग जाये।

न तथैतर्हि रोचन्ते गृहेषु गृहसम्पदः
यदि न स्याद्गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता ।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—पूर्ववत्; एतर्हि—इस क्षण; रोचन्ते—अच्छे लगते हैं; गृहेषु—घर में; गृह-सम्पदः—घरेलू साज-सामान; यदि—अगर; न—नहीं; स्यात्—हो; गृहे—घर में; माता—माँ; पत्नी—भार्या; वा—अथवा; पति-देवता—पति-परायण; व्यङ्गे—पहियों से रहित; रथे—रथ में; इव—सदृश; प्राज्ञः—विद्वान मनुष्य; कः—ऐसा कौन है; नाम—निस्सन्देह; आसीत—बैठेगा; दीन-वत्—दीन के समान।

राजा पुरञ्जन ने कहा : मेरी समझ में नहीं आ रहा कि मेरे घर का सारा साज-सामान पहले की भाँति मुझे अच्छा क्यों नहीं लग रहा? मैं सोचता हूँ कि यदि घर में माता अथवा पति-परायण पत्नी न हो तो घर पहियों से विहीन रथ की तरह प्रतीत होता है। ऐसा कौन मूर्ख है, जो ऐसे व्यर्थ के रथ पर बैठेगा?

तात्पर्य : परम राजनीतिज्ञ चाणक्य पण्डित ने कहा है—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥

"यदि किसी के घर पर अपनी माता या प्रियवादिनी पत्नी न हो तो उसे घर छोड़कर जंगल चले जाना चाहिए, क्योंकि उसके लिए जंगल तथा घर में कोई अन्तर नहीं होता।" वास्तविक माता भगवद्भक्ति है और असली पत्नी वह है, जो भक्ति के कार्यों में अपने पति की सहायता करती है।

सुखी घर के लिए ये दोनों बातें आवश्यक हैं।

वास्तव में स्त्री को पुरुष की शक्ति माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्येक महापुरुष के पीछे या तो माता रही हैं या उसकी पत्नी। यदि घर में अच्छी पत्नी तथा माता हों तो गृहस्थ जीवन सुखी रहता है। ऐसी दशा में गृहस्थी के सारे कार्य तथा घर का सारा साज-सामान मन को भाता है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु को अच्छी माता तथा प्रियवादिनी पत्नी दोनों प्राप्त थीं और वे अपने घर में अत्यन्त सुखी थे। फिर भी सारी मानवता के लाभ के लिए उन्होंने संन्यास ले लिया और अपनी माता तथा पत्नी दोनों को त्याग दिया। दूसरे शब्दों में, घर पर सुखी रहने के लिए आवश्यक है कि माता तथा पत्नी दोनों रहें, अन्यथा गृहस्थ जीवन कोई अर्थ नहीं रखता। जब तक मनुष्य धर्म के क्षेत्र में बुद्धि द्वारा पथ-प्रदर्शन प्राप्त नहीं करता और भगवान् की भक्ति नहीं करता तब तक उसका घर सन्त पुरुषों को प्रिय नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, यदि किसी के अच्छी माता या अच्छी पत्नी हो तो, जब तक नितान्त आवश्यक न हो, संन्यास लेने की आवश्यकता नहीं है, जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु के साथ हुआ।

क्व वर्तते सा ललना मज्जन्तं व्यसनार्णवे ।
या मामुद्धरते प्रज्ञां दीपयन्ती पदे पदे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; वर्तते—इस समय है; सा—वह; ललना—स्त्री; मज्जन्तम्—डूबते हुए; व्यसन-अर्णवे—संकट के सागर में; या—जो; माम्—मुझको; उद्धरते—उबारती है; प्रज्ञाम्—सद्बुद्धि; दीपयन्ती—जागृत करके; पदे पदे—प्रत्येक पग पर।

कृपया मुझे उस सुन्दरी का पता बताओ जो मुझे सदैव संकट के समुद्र में डूबने से उबारती है। वह मुझे पग-पग पर सद्बुद्धि प्रदान करके बचाती है।

तात्पर्य : अच्छी पत्नी तथा सद्बुद्धि में कोई अन्तर नहीं होता। जिसके सद्बुद्धि होती है, वह ठीक से विचार-विमर्श कर सकता है और अपने आपको संकटों से बचा सकता है। इस संसार में पग-पग पर संकट है। *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.५८) में कहा गया है—*पदं-पदं यद् विपदां न तेषां।* यह भौतिक संसार वास्तव में बुद्धिमान लोगों या भक्तों के रहने का स्थान नहीं है, क्योंकि पग-पग पर संकट हैं। भक्त के लिए तो वैकुण्ठ ही असली स्थान है, जहाँ न चिन्ता है और न संकट। सद्बुद्धि का अर्थ है कृष्णभक्त होना। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है—*कृष्ण ये भजे से बड़ चतुर।* जब तक कोई कृष्णभक्त नहीं बनता उसे बुद्धिमान (चतुर) नहीं कहा जा सकता।

यहाँ हम देखते हैं कि राजा पुरञ्जन अपनी सुभार्या को खोज रहा है, जो उसे इस संसार में मिलने वाली संकटमय परिस्थितियों से बचाती रहती थी। जैसा पहले कहा जा चुका है असली पत्नी धर्मपत्नी होती है, जिसे धार्मिक नियमों के अनुसार स्वीकार किया गया हो। धर्मपत्नी से उत्पन्न सन्तानें पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती हैं, किन्तु अविवाहिता पत्नी से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। *धर्मपत्नी* शब्द पतिव्रता पत्नी का भी सूचक है। पतिव्रता पत्नी वह है, जो विवाह के पूर्व किसी भी पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यदि एक बार स्त्री को अपनी युवावस्था में सभी प्रकार के पुरुषों से मिलने-जुलने दिया जाता है, तो उसका पतिव्रता रह पाना कठिन हो जाता है। सामान्यत: वह पतिव्रता नहीं रह सकती। जब मक्खन को आग के निकट लाया जाता है, तो वह पिघल जाता है। स्त्री अग्नि के समान है और पुरुष मक्खन के समान। किन्तु यदि मनुष्य को पतिव्रता पत्नी मिल जाये जो धार्मिक विवाह संस्कार के द्वारा स्वीकृत की गई है, तो वह संकटमय परिस्थितियों में अत्यधिक सहायक हो सकती है। वास्तव में ऐसी पत्नी समस्त सद्बुद्धि का उद्गम है। ऐसी पत्नी होने से यदि परिवार भगवद्भक्ति करता है, तो वह घर वास्तव में गृहस्थाश्रम बन जाता है।

रामा ऊचु:

नरनाथ न जानीमस्त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति ।
भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन् ॥ १७॥

शब्दार्थ

रामा: ऊचु:—स्त्रियों ने कहा; नर-नाथ—हे राजा; न जानीम:—हम नहीं जानतीं; त्वत्-प्रिया—तुम्हारी प्रिया ने; यत् व्यवस्यति—क्यों इस प्रकार का जीवन धारण कर रखा है; भू-तले—पृथ्वी पर; निरवस्तारे—बिना बिस्तर के; शयानाम्—लेटी हुई; पश्य—देखो; शत्रु-हन्—हे शत्रुओं का वध करने वाले।

सभी स्त्रियों ने राजा को सम्बोधित किया: हे प्रजा के स्वामी, हम यह नहीं जानतीं कि आपकी प्रिया ने क्यों ऐसी स्थिति बना रखी है। हे शत्रुओं के संहारक ! कृपया देखें। वे बिना बिस्तर के जमीन पर लेटी हुई हैं। हम नहीं समझ पा रहीं कि वे ऐसा क्यों कर रही हैं।

तात्पर्य : जब मनुष्य विष्णुभक्ति से रहित होता है, तो वह अनेक पापकर्म करता है। राजा पुरञ्जन ने घर छोड़कर अपनी पत्नी की उपेक्षा की और स्वयं पशुओं के वध में लग गया। ऐसी स्थिति समस्त भौतिकतावादी मनुष्यों की है। वे अपनी विवाहिता धर्मपत्नी की परवाह नहीं करते। वे पत्नी को अपनी इन्द्रियतृप्ति का साधन मानते हैं, भक्ति का नहीं। निर्बाध विषयी जीवन बिताने के लिए कर्मी कठोर श्रम

करते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि किसी भी स्त्री के साथ संभोग करके उसे धन देकर चुकता कर दो, मानो वह कोई व्यापार की वस्तु हो। इस प्रकार वे ऐसी भौतिक उपलब्धि के लिए कठोर श्रम करते हैं। ऐसे लोग अपनी सद्बुद्धि खो चुके होते हैं। उन्हें अपने अन्तःकरण में बुद्धि की खोज करनी चाहिए। जिस व्यक्ति की शास्त्र के नियमों के अनुसार विवाहित धर्मपत्नी नहीं होती वह सदैव मोहग्रस्त बुद्धि वाला होता है।

राजा पुरञ्जन की पत्नी भूमि पर लेटी थी, क्योंकि पति द्वारा उसकी उपेक्षा हुई थी। वास्तव में पति द्वारा स्त्री की सदैव रक्षा होनी चाहिए। हम सभी कहते हैं कि लक्ष्मी जी नारायण के वक्षस्थल पर विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में, पत्नी को अपने पति की प्यारी और सुरक्षिता होना चाहिए। जिस प्रकार लोग धन बचाकर उसे अपने पास सुरक्षित रखते हैं, उसी तरह पत्नी की सुरक्षा अपने निजी देखरेख में की जानी चाहिए। जिस प्रकार बुद्धि सदैव हृदय के भीतर रहती है, उसी प्रकार साध्वी पत्नी को अपने प्रिय पति के हृदय में सदैव स्थान मिलना चाहिए। पति तथा पत्नी का यही वास्तविक सम्बन्ध है। इसीलिए पत्नी अर्धांगिनी कहलाती हैं। कोई एक पाँव, एक हाथ या शरीर के किसी एक अंग से काम नहीं चला सकता। इसी प्रकार पति तथा पत्नी को प्रकृति के व्यवस्था के अनुसार एकसाथ रहना चाहिए। निम्न योनियों में, विशेष रूप से पक्षियों तथा पशुओं में नर तथा मादा साथ-साथ रहते हैं। यह प्राकृतिक व्यवस्था है। इसी प्रकार मानव जीवन में पति तथा पत्नी का एकसाथ रहना आदर्श जीवन है। घर को भक्ति का स्थान होना चाहिए, पत्नी को पतिव्रता होना चाहिए और अनुष्ठान द्वारा स्वीकार की गई होना चाहिए। इस प्रकार से मनुष्य घर में सुखी रह सकता है।

नारद उवाच
पुरञ्जनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधुतां भुवि ।
तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; स्व-महिषीम्—अपनी रानी को; निरीक्ष्य—देखकर; अवधुताम्—साधु की तरह; भुवि—पृथ्वी पर; तत्—उसके; सङ्ग—साथ से; उन्मथित—प्रोत्साहित; ज्ञानः—जिसका ज्ञान; वैक्लव्यम्—मोहग्रस्त; परमम्—परम; ययौ—हो गया।.

महर्षि नारद ने कहा : हे राजा प्राचीनबर्हि, जैसे ही राजा पुरञ्जन ने अपनी रानी को अवधूत की भाँति पृथ्वी पर लेटे देखा, वह तुरन्त मोहग्रस्त हो गया।

तात्पर्य : इस श्लोक का *अवधुताम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उस साधु के लिए प्रयुक्त होता है, जिसे अपने शरीर की सुधि-बुधि नहीं रहती। चूँकि रानी बिना बिस्तर के अस्त-व्यस्त वस्त्रों सहित जमीन पर लेटी थी, इसलिए राजा पुरञ्जन अत्यधिक दुखी हुआ। दूसरे शब्दों में, उसे इसका पश्चात्ताप हुआ कि उसने अपनी बुद्धि की उपेक्षा की है और स्वयं जंगल जाकर पशुवध में व्यस्त रहा है। तात्पर्य यह कि जब मनुष्य अपनी बुद्धि की उपेक्षा करता है या उससे विलग हो जाता है, तो वह पापकर्म में प्रवृत्त होता है। अपनी सद्बुद्धि या कृष्णचेतना की उपेक्षा के कारण वह मोहग्रस्त होता है और पापकर्मों में लग जाता है। जब इसका एहसास होता है, तो वह पश्चात्ताप करता है। ऐसे पश्चात्ताप का वर्णन नरोत्तमदास ठाकुर ने किया है—

हरि-हरि विफले जनम गोङाइनु

मनुष्य-जन्म पाइया; राधा कृष्ण ना भजिया

जानिया शुनिया विष खाइनु

वे कहते हैं कि मुझे अपना मनुष्य-जन्म बर्बाद करने तथा जानबूझ कर विष पीने का पछतावा है। कृष्ण-भक्त न बनकर मनुष्य जानबूझ कर भौतिक जीवन का विषपान करता है। सारांश यह है कि अपनी सतीसाध्वी पत्नी के अभाव में या यह कहें कि जब वह अपनी बुद्धि खो देता है और कृष्णभक्ति नहीं करता तो मनुष्य निश्चित रूप से पापकर्म में प्रवृत्त होता है।

सान्त्वयन्श्लक्ष्णया वाचा हृदयेन विदूयता ।
प्रेयस्याः स्नेहसंरम्भलिङ्गमात्मनि नाभ्यगात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सान्त्वयन्—**समझाते हुए**; श्लक्ष्णया—**मीठे**; वाचा—**वचनों से**; हृदयेन—**हृदय से**; विदूयता—**अत्यधिक पछताते हुए**; प्रेयस्याः—**अपनी प्रेयसी के**; स्नेह—**प्यार से**; संरम्भ—**क्रोध का**; लिङ्गम्—**लक्षण**; आत्मनि—**हृदय में**; न—**नहीं**; अभ्यगात्—**उठा**।

दुखित हृदय से राजा अपनी पत्नी से अत्यन्त मीठे शब्द कहने लगा। यद्यपि वह दुखी था और उसे प्रसन्न करने का प्रयास कर रहा था, किन्तु उसने अपनी प्राणप्रिया पत्नी के हृदय में क्रोध का एक भी लक्षण नहीं देखा।

तात्पर्य : राजा को अत्यन्त दुख हुआ कि वह अपनी पत्नी को अकेले छोड़ पापकर्म में प्रवृत्त होने जंगल गया था। जब कोई अपने पापकर्मों अर्थात् कृष्ण-भक्ति तथा सद्बुद्धि को छोड़ने के लिए पश्चात्ताप

करता है, तो भवसागर के बन्धनों से छुटकारा पाने का उसका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। *श्रीमद्‌भागवत* (५.५.५) में कहा गया है—*पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।* जब मनुष्य अपनी कृष्णभावना तथा आत्म-साक्षात्कार के प्रति रुचि खो बैठता है, तो वह पापकर्म में लगता है। कृष्ण-भक्ति से विहीन जीवन के सारे कार्य वृथा हैं और जीवन को पराजय और दुरूपयोग की ओर ले जाते हैं। स्वाभाविक है कि जिसे कृष्ण-भक्ति प्राप्त होती है, वह मनुष्य-जीवन के पूर्व पापकर्मों के लिए पश्चात्ताप करता है। इसी विधि से भौतिक जीवन में अविद्या के चंगुल से छुटकारा पाया जा सकता है।

अनुनिन्येऽथ शनकैर्वीरोऽनुनयकोविदः ।
पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्सङ्गलालिताम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अनुनिन्ये—मनाना आरम्भ किया; अथ—इस प्रकार; शनकैः—धीरे-धीरे; वीरः—वीर; अनुनय-कोविदः—मनाने में निपुण; पस्पर्श—स्पर्श किया; पाद-युगलम्—दोनों पाँव; आह—कहा; च—भी; उत्सङ्ग—गोद में; लालिताम्—इस प्रकार आलिंगन करते हुए।

चूँकि राजा मनाने में अत्यन्त निपुण था, अतः उसने रानी को धीरे-धीरे मनाना प्रारम्भ किया। पहले उसने उसके दोनों पाँव छुये, फिर उसका आलिंगन किया और अपनी गोद में बैठाकर इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : मनुष्य को सर्वप्रथम अपने पूर्वकर्मों के लिए पश्चात्ताप करके अपनी कृष्ण-भक्ति जाग्रत करनी होती है। जिस प्रकार राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी को मनाना प्रारम्भ किया, उसी प्रकार जानबूझ कर मनुष्य को कृष्णभक्ति के पद तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने के लिए गुरु के पाद-पद्मों का स्पर्श करना चाहिए। स्वतः प्रयास से कृष्णभक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः मनुष्य को चाहिए कि स्वरूपसिद्ध कृष्णभक्त के पास पहुँचकर उसके चरणकमलों का स्पर्श करे। इसीलिए प्रह्लाद महाराज (*भागवत* ७.५.३२) कहते हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥

जब तक मनुष्य ऐसे व्यक्ति के चरणकमल की धूल को अपने मस्तक पर धारण नहीं करता जो महात्मा या भक्त बन चुका है तब तक उसका कृष्ण-भक्ति के द्वार तक प्रवेश नहीं होता। यह आत्मसमर्पण का शुभारम्भ है। भगवान् कृष्ण चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उनकी शरण में आये और यह आत्मसमर्पण का कार्य तब शुरू होता है जब मनुष्य प्रामाणिक गुरु के चरण-स्पर्श करता है। निष्ठापूर्वक गुरु की सेवा करने से ही कृष्णभक्तिमय जीवन का शुभारम्भ होता है। गुरु के चरण-स्पर्श करने का अर्थ है मिथ्या गर्व का त्याग और भौतिक जगत में अपने पद पर व्यर्थ न फूलना। जो लोग अपने उच्च स्थान के कारण वृथा ही भौतिक जीवन के अंधकार में रहते हैं—जैसे तथाकथित वैज्ञानिक एवं विचारक—वे वास्तव में नास्तिक हैं। वे प्रत्येक वस्तु के चरम कारण को नहीं जानते। यद्यपि वे मोहग्रस्त रहते हैं, किन्तु वे ऐसे व्यक्ति के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करने में हिचकते हैं, जो वस्तुओं को उनके सही-सही रूप में जानता है। दूसरे शब्दों में, केवल कोरे ज्ञान से कृष्णभक्ति जाग्रत नहीं की जा सकती। मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की शरण में जाना ही होगा। इसी विधि से उसे सहायता मिल सकती है।

पुरञ्जन उवाच
नूनं त्वकृतपुण्यास्ते भृत्या येष्वीश्वराः शुभे ।
कृतागःस्वात्मसात्कृत्वा शिक्षादण्डं न युञ्जते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पुरञ्जनः उवाच—पुरञ्जन ने कहा; नूनम्—निश्चय ही; तु—तब; अकृत-पुण्याः—जो पुण्यात्मा नहीं है, अभागा; ते—वे; भृत्याः—दास; येषु—जिनको; ईश्वराः—स्वामी; शुभे—हे शुभ लक्षणों वाली; कृत-आगःसु—पाप करके; आत्मसात्—अपना कर; कृत्वा—करके; शिक्षा—उपदेश के रूप में; दण्डम्—दण्ड; न युञ्जते—नहीं देते।

राजा पुरञ्जन ने कहा : हे सुन्दरी, जब स्वामी किसी मनुष्य को दास रूप में स्वीकार तो कर लेता है, किन्तु उसके अपराधों के लिए उसे दण्ड नहीं देता तो उस दास को समझना चाहिए कि वह अभागा है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार घरेलू पशुओं तथा दासों के साथ अपने पुत्र के तुल्य व्यवहार करना चाहिए। कभी-कभी घरेलू पशु तथा बालक किसी बदले की भावना से नहीं, अपितु प्यारवश दण्डित किये जाते हैं। इसी तरह कभी-कभी स्वामी अपने दास को रास्ते पर लाने के लिए किसी बदले की भावना से नहीं वरन् प्यारवश दण्ड देता है। इस प्रकार राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी द्वारा दिये गये

दण्ड को अपने ऊपर किया गया अनुग्रह समझा। उसने अपने को रानी का आज्ञाकारी सेवक माना। वह उस पर पापकर्म करने—जंगल में शिकार करने तथा उसे घर पर छोड़ देने—के लिए नाराज थी। राजा पुरञ्जन ने इस दण्ड को अपनी पत्नी के वास्तविक प्यार के रूप में ग्रहण किया। इसी प्रकार जब मनुष्य को ईश्वर की इच्छा से प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ता है, तो उसे विचलित नहीं होना चाहिए। वास्तविक भक्त इसी तरह सोचता है। जब भक्त किसी विषम स्थिति को प्राप्त होता है, तो वह इसे ईश्वर का अनुग्रह मानता है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(*भागवत* १०.१४.८)

इस श्लोक से पता चलता है कि भक्त जीवन की पराजयों को भगवान् के वरदान के रूप में मानता है और यह सोचकर भगवान् को अधिक नमस्कार करता है तथा प्रार्थना करता है कि उसके पूर्व दुष्कर्मों का यह हल्का दण्ड मिल रहा है। यदि कोई त्रुटि करे तो सरकार या ईश्वर द्वारा प्रदत्त दण्ड वास्तव में कल्याणकारी होता है। *मनुसंहिता* में कहा गया है कि जब राजा किसी हत्यारे को मृत्यु दण्ड देता है, तो उसे दयालु समझना चाहिए क्योंकि हत्यारा इस जीवन में दण्डित होकर पापकर्म से मुक्त हो जाता है और अगले जीवन में वह समस्त पापों से मुक्त हो कर जन्म लेता है। यदि कोई स्वामी द्वारा दिये गये दण्ड को पुरस्कार मानता है, तो वह इतना बुद्धिमान हो जाता है कि फिर कभी उस दुष्कर्म को नहीं करता।

परमोऽनुग्रहो दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितः ।
बालो न वेद तत्तन्वि बन्धुकृत्यममर्षणः ॥ २२॥

शब्दार्थ

परमः—परम; अनुग्रहः—कृपा; दण्डः—दण्ड; भृत्येषु—दासों पर; प्रभुणा—स्वामी द्वारा; अर्पितः—दिया गया; बालः—मूर्ख; न—नहीं; वेद—जानता है; तत्—उस; तन्वि—हे तन्वंगी; बन्धु-कृत्यम्—मित्र का कर्तव्य; अमर्षणः—क्रुद्ध।

हे तन्वंगी, जब कोई स्वामी अपने सेवक को दण्ड देता है, तो उसे परम अनुग्रह समझ कर

स्वीकार कर लेना चाहिए। जो क्रुद्ध होता है, वह अत्यन्त मूर्ख है और वह यह नहीं जानता कि ऐसा करना तो उसके मित्र का कर्तव्य होता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि यदि मूर्ख को अच्छी बात भी सिखाई जाये तो वह उसे नहीं मानता। उल्टे वह क्रुद्ध होता है। ऐसे क्रोध की उपमा सर्प-विष से दी जाती है, क्योंकि जब साँप को दूध और केला खिलाया जाता है, तो इससे उसका विष बढ़ता ही है। दयालु और नम्र होने की बजाय अच्छी वस्तुएँ खिलाये जाने पर साँप अपना विष बढ़ाता है। इसी प्रकार मूर्ख को उपदेश देने पर वह अपने को सुधारने के बजाय उल्टे क्रुद्ध होता है।

सा त्वं मुखं सुदति सुभ्वनुरागभार-
व्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम् ।
नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः
स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह (तुम, मेरी पत्नी); त्वम्—तुम; मुखम्—अपना मुँह; सु-दति—सुन्दर दाँतों वाली; सु-भ्रु—सुन्दर भौंहों वाली; अनुराग—प्यार, आसक्ति से; भार—बोझिल; व्रीडा—लज्जा; विलम्ब—नीचे झुके; विलसत्—चमकते हुए; हसित—हँसते हुए; अवलोकम्—चितवन से; नील—नीले; अलक—बाल से युक्त; अलिभिः—भौंरों के समान; उपस्कृतम्—इस प्रकार सुन्दर बनकर; उन्नसम्—उठी हुई (उन्नत) नाक से युक्त; नः—मुझको; स्वानाम्—तुम्हारा अपना हूँ; प्रदर्शय—दिखलाओ; मनस्विनि—हे विचारमग्न सुन्दरी; वल्गु-वाक्यम्—मीठे वचनों से।

हे प्रिये, तुम अत्यन्त सुन्दर दाँतों वाली हो। तुम अपने आकर्षक अंगों के कारण अत्यन्त मनस्वी लगती हो। तुम अपना क्रोध त्याग कर मुझ पर कृपा करो और अत्यन्त प्यार से तनिक मुस्कराओ। जब मैं तुम्हारे सुन्दर मुखमण्डल की मुसकान, तुम्हारे नीले रंग वाले बाल एवं तुम्हारी उन्नत नासिका को देखूँगा तथा तुम्हारे मीठे वचनों को सुनूंगा तो तुम मुझे और भी सुन्दर लगोगी और अपनी ओर आकृष्ट करती प्रतीत हो ओगी। तुम मेरी अत्यन्त आदरणीया स्वामिनी हो।

तात्पर्य : स्त्रैण पति अपनी पत्नी की बाह्य सुन्दरता से आकृष्ट होकर उसका आज्ञाकारी दास बनना चाहता है। इसीलिए श्रीपाद शंकराचार्य ने उपदेश दिया है कि हमें स्त्री के हाड़-मांस से आकृष्ट नहीं होना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक कहानी कही जाती है कि एक बार एक मनुष्य किसी स्त्री की सुन्दरता पर आसक्त हो गया और इस तरह प्रेम दर्शाने लगा कि उस स्त्री ने उसे अपनी सुन्दरता के सारे

अवयवों को दिखाने की योजना बनाई। उस स्त्री ने उस मनुष्य से भेंट करने की, एक तिथि निश्चित की और उस दिन उसने जुलाब ले लिया जिससे रात-दिन वह केवल दस्त करती रही और सारा मल एक पात्र में संग्रह करती रही। दूसरी रात्रि को जब वह व्यक्ति उस स्त्री से मिलने आया तो वह उसे अत्यन्त कुरूप तथा दुर्बल दिखी। अत: उस व्यक्ति ने पूछा कि वह स्त्री कहाँ है, जिसके साथ उस की नियुक्ति थी? इस पर उस स्त्री ने कहा कि मैं ही वह स्त्री हूँ। उस व्यक्ति को विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उसे नहीं पता था कि उस का सौन्दर्य उसके जुलाब लेने के कारण लुप्त हो चुका था जिससे वह दिन रात दस्त करती रही थी जब वह पुरुष उस से तर्क करने लगा, तो उस स्त्री ने पुन: कहा कि वह सुन्दर नहीं लग रही, क्योंकि उसकी सुन्दरता के अवयव उससे विलग हो चुके हैं। जब उस पुरुष ने पूछा कि वे अवयव किस प्रकार विलग हो सके तो स्त्री ने कहा—"चलिए, आपको दिखा दूँ।" उसने उसे मल तथा वमन से युक्त वह पात्र दिखाया। इस प्रकार मनुष्य को पता चला कि सुन्दर स्त्री केवल रक्त, मल, मूत्र तथा इसी प्रकार के घृणित अवयवों से बनी हुई है। यह वास्तविकता है, किन्तु मनुष्य मोहक सौंदर्य से आकृष्ट होकर माया का शिकार बनता रहता है।

राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी से प्रार्थना की कि वह पूर्व सुन्दरता को प्राप्त हो। वह उसे उसी प्रकार सचेष्ट कर रहा था जिस प्रकार जीवात्मा अपनी मूल चेतना को जाग्रत करता है, जो अत्यन्त सुन्दर होती है। रानी के समस्त सुन्दर अंगों की तुलना कृष्णभक्ति के सुन्दर स्वरूप से की जा सकती है। जब मनुष्य मूल कृष्णचेतना को लौटता है, तो वह स्थिर हो जाता है और उसका जीवन सफल हो जाता है।

तस्मिन्दधे दममहं तव वीरपत्नि
योऽन्यत्र भूसुरकुलात्कृतकिल्बिषस्तम् ।
पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्या-
मन्यत्र वै मुररिपोरितरत्र दासात् ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसको; दधे—दूँगा; दमम्—दण्ड; अहम्—मैं; तव—तुमको; वीर-पत्नि—हे वीर की पत्नी; य:—जो; अन्यत्र—इसके अतिरिक्त; भू-सुर-कुलात्—इस पृथ्वी पर देवताओं के कुल से (ब्राह्मणों से); कृत—किया हुआ; किल्बिष:—अपराध; तम्—उसको; पश्ये—मैं देखता हूँ; न—नहीं; वीत—रहित; भयम्—डर; उन्मुदितम्—चिन्तारहित; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में; अन्यत्र—और कहीं; वै—निश्चय ही; मुर-रिपो:—मुर के शत्रु (कृष्ण) का; इतरत्र—दूसरी ओर; दासात्—दास की अपेक्षा।

हे वीरपत्नी, मुझे बताओ कि क्या किसी ने तुम्हें अपमानित किया है? मैं ऐसे व्यक्ति को

यदि वह ब्राह्मण कुल का नहीं है, दण्ड देने के लिए तैयार हूँ, मैं मुररिपु (श्रीकृष्ण) के दास के अतिरिक्त तीनों लोकों में किसी को भी क्षमा नहीं करूँगा। तुम्हें अपमानित करके कोई स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण नहीं कर सकता, क्योंकि मैं उसे दण्ड देने के लिए तैयार हूँ।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार ब्राह्मण तथा, जो मुरा नामक असुर का शत्रु होने के कारण मुरद्विष कहलाने वाले कृष्ण का भक्त कहलाते हैं, राज्य के विधि-विधानों से बँधे नहीं होते। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के अतिरिक्त राज्य के नियमों को भंग करने वाला प्रत्येक व्यक्ति दण्डनीय है। ब्राह्मण तथा वैष्णव नियम-भंग से उत्पन्न होने वाले कर्मफलों से भली-भाँति परिचित रहते हैं, अत: वे राज्य या प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं करते। यदि कभी वे नियमों की अवज्ञा करते हुए प्रतीत भी हों तो भी वे राजा द्वारा दण्डनीय नहीं होते। यही उपदेश नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् को दिया। राजा पुरञ्जन राजा प्राचीनबर्हिषत् का प्रतिनिधि था। नारद मुनि राजा प्राचीनबर्हिषत् को उनके पूर्वज महाराज पृथु का स्मरण करा रहे थे जिन्होंने कभी ब्राह्मणों अथवा वैष्णवों को दण्ड नहीं दिया था।

मनुष्य की शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना भौतिक कार्यकलापों के कारण दूषित हो जाती है। त्याग, दान, पुण्यकर्म इत्यादि के द्वारा शुद्ध चेतना जाग्रत की जा सकती है, किन्तु जब कोई ब्राह्मण या वैष्णव के प्रति अपराध करके कृष्णचेतना को दूषित कर लेता है, तो उसे जाग्रत कर पाना कठिन हो जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णव अपराध को प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये अपराध के तुल्य बताया है। मनुष्य को ब्राह्मण या वैष्णव के प्रति अपराध न करने के प्रति सतर्क रहना चाहिए। दुर्वासा जैसे महान् योगी को भी महाराज अम्बरीष जैसे वैष्णव का अपमान करने के लिए, जो न तो ब्राह्मण थे, न संन्यासी, अपितु सामान्य गृहस्थ थे, सुदर्शन चक्र की यातना सहनी पड़ी थी। महाराज अम्बरीष वैष्णव थे; इसीलिए दुर्वासा मुनि को दण्डित होना पड़ा।

निष्कर्ष यह है कि यदि कृष्णचेतना भौतिक पापों से आवृत हो जाये तो हरे कृष्ण मंत्र का उच्चारण करके पापों को दूर किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई ब्राह्मण या वैष्णव का अपमान करके कृष्णचेतना को दूषित कर लेता है, तो वह तब तक अपनी चेतना को प्राप्त नहीं कर पाता जब तक कि अपमानित ब्राह्मण या वैष्णव को वह प्रसन्न न कर ले। दुर्वासा मुनि को इसी पथ का अनुसरण करना

पड़ा था, क्योंकि उन्हें महाराज अम्बरीष की शरण में जाना पड़ा था। वैष्णव का अपराध तभी मिट सकता है जब अपराधकर्ता क्षमायाचना करे इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं हैं।

वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्षं
संरम्भभीममविमृष्टमपेतरागम् ।
पश्ये स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ
बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वक्त्रम्—मुख; न—कभी नहीं; ते—तुम्हारा; वितिलकम्—निरलंकृत; मलिनम्—मलिन; विहर्षम्—खिन्न; संरम्भ—क्रोध से; भीमम्—भयानक; अविमृष्टम्—कान्तिहीन; अपेत-रागम्—स्नेहशून्य; पश्ये—मैने देखा है; स्तनौ—तुम्हारे स्तन; अपि—भी; शुचा-उपहतौ—तुम्हारे आँसुओं से सिक्त; सु-जातौ—इतने सुन्दर; बिम्ब-अधरम्—बिम्बा के समान लाल होंठ; विगत—रहित; कुङ्कुम-पङ्क—केशर के; रागम्—रंग।

प्रिये, आज तक मैंने कभी भी तुम्हारे मुख को तिलक से रहित नहीं देखा, न ही मैंने तुम्हें कभी खिन्न तथा कान्ति या स्नेह से रहित देखा है। न ही मैंने तुम्हारे दोनों स्तनों को नेत्र अश्रुओं से सिक्त देखा है। न ही मैंने तुम्हारे बिम्बा फलों के समान लाल-लाल होठों को कभी लालिमा से रहित देखा है।

तात्पर्य : प्रत्येक स्त्री तिलक तथा सिन्दूर लगाने पर अत्यन्त सुन्दर लगती है। जब स्त्री के होंठ लाल केशर या सिन्दूर से रंजित रहते हैं, तो स्त्री अत्यधिक आकर्षक लगती है। किन्तु जब मनुष्य की चेतना तथा बुद्धि कृष्ण की विमल चेतना से रहित होती है, तो ये खिन्न तथा कान्तिहीन लगते हैं जिससे मनुष्य तीक्ष्ण बुद्धि होते हुए भी कोई लाभ नहीं उठा पाता।

तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य
स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य ।
का देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेग-
विस्रस्तपौंस्नमुशती न भजेत कृत्ये ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मुझसे; प्रसीद—प्रसन्न हो जाओ; सु-हृदः—अभिन्न मित्र; कृत-किल्बिषस्य—पापकर्म किये जाने पर; स्वैरम्—स्वतंत्र रूप से; गतस्य—गये हुए का; मृगयाम्—आखेट के लिए; व्यसन-आतुरस्य—पापपूर्ण इच्छा से प्रभावित होकर; का—कौन स्त्री; देवरम्—पति को; वश-गतम्—अपने वश में; कुसुम-अस्त्र-वेग—कामदेव के तीर से बिंधा; विस्रस्त—छिन्न; पौंस्नम्—धैर्य; उशती—अत्यन्त सुन्दर; न—कभी नहीं; भजेत—प्यार करते; कृत्ये—कर्तव्य में।

हे रानी, मैं अपनी पापपूर्ण इच्छाओं के कारण तुमसे बिना पूछे शिकार करने जंगल चला गया। अतः मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझसे अपराध हुआ। फिर भी मुझे अपना अन्तरंग समझ

कर तुम्हें अत्यन्त प्रसन्न होना चाहिए। मैं वास्तव में अत्यधिक दुखी हूँ, किन्तु कामदेव के बाणों से बिद्ध होने के कारण मैं कामुक हो रहा हूँ। भला ऐसी कौन सुन्दरी होगी जो अपने कामुक पति को त्याग देगी और उससे मिलना अस्वीकार कर देगी?

तात्पर्य : स्त्री तथा पुरुष दोनों एक दूसरे को चाहते हैं, यह इस संसार की रीति है। स्त्रियाँ अपने को सदैव आकर्षक बनाये रखती हैं जिससे वे अपने कामुक पतियों को आकर्षक लगें। जब कभी कोई कामुक पुरुष अपनी पत्नी के समक्ष आता है, तो वह उसकी छेड़छाड़ का लाभ उठाकर जीवन का आनन्द लेती है। सामान्यत: जब पुरुष स्त्री पर टूट पड़ता है चाहे वह उसका पति हो या अन्य कोई हो तो उसे आनन्द आता है। दूसरे शब्दों में, जब मनुष्य की बुद्धि का सदुपयोग होता है, तो बुद्धि तथा बुद्धिमान पुरुष दोनों को परम संतोष मिलता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (७.९.४५) में कहा गया है—

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं

कण्डूयनेन करयोरिव दु:खदु:खम्।

कर्मियों का वास्तविक सुख विषयी-जीवन है। वे घर के बाहर कठिन श्रम करते हैं और इस परिश्रम की तुष्टि के लिए वे घर आकर विषयी-जीवन का भोग करते हैं। राजा पुरञ्जन जंगल में आखेट करने गया और वहाँ कठिन श्रम करके घर लौट आया जिससे विषयसुख उठा सके। यदि मनुष्य एक सप्ताह भी घर से बाहर किसी और शहर में रहता है, तो वह सप्ताह के अन्त में घर जाने तथा घर में अपनी पत्नी के साथ विषय-सुख लूटने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहता है। *श्रीमद्भागवत* में इसकी पुष्टि हुई है—*यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्*—कर्मी लोग विषयसुख के लिए ही इतना श्रम करते हैं। आधुनिक मानव-समाज ने अनियंत्रित विषयी-जीवन को छूट देकर जीवन की भौतिकतावादी धारा में सुधार किया है। इसे पश्चिमी जगत में स्पष्ट देखा जा सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत ''राजा पुरञ्जन का आखेट के लिए जाना और रानी का क्रुद्ध होना'' नामक छब्बीसवें अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter सत्ताईस

राजा पुरञ्जन की नगरी पर चण्डवेग का धावा और कालकन्या का चरित्र

नारद उवाच
इत्थं पुरञ्जनं स्रयग्वशमानीय विभ्रमैः ।
पुरञ्जनी महाराज रेमे रमयती पतिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; पुरञ्जनम्—राजा पुरञ्जन को; स्रयक्—पूर्णतया; वशमानीय—अपने वश में करके; विभ्रमैः—अपने आकर्षण से; पुरञ्जनी—राजा पुरञ्जन की पत्नी ने; महा-राज—हे राजा; रेमे—भोग किया; रमयती—समस्त तुष्टि प्रदान करती; पतिम्—अपने पति को।.

महर्षि नारद ने आगे कहा : हे राजन्, अनेक प्रकार से अपने पति को मोहित करके अपने वश में करती हुई राजा पुरञ्जन की पत्नी उसे सारा आनन्द प्रदान करने लगी और उसके साथ विषयी जीवन व्यतीत करने लगी।

तात्पर्य : वन में आखेट करने के पश्चात् राजा पुरञ्जन घर लौटा और स्नान करने तथा अच्छा भोजन कर लेने के बाद उसने अपनी पत्नी को ढूँढा। जब उसने देखा कि वह बिना बिस्तर के भूमि में लेटी है और कोई उपयुक्त वस्त्र धारण नहीं किये हैं, तो वह अत्यन्त दुखी हुआ। तब वह उसके प्रति आकृष्ट हुआ और फिर उसके साथ में रहकर भोग करने लगा। इसी प्रकार से संसारी जीव पापकर्मों में प्रवृत्त रहता है। उसके ये पापकर्म पुरञ्जन द्वारा किये गये आखेट के समान हैं।

पापमय जीवन का निराकरण कई धार्मिक विधियों से किया जा सकता है—यथा यज्ञ, व्रत तथा दान। इस प्रकार मनुष्य अपने पापकर्मों के फल से मुक्त होकर अपनी मूल कृष्णचेतना को भी जगा सकता है। घर आकर, स्नान करके, भोजन कर लेने, तरोताजा होने तथा अपनी स्त्री की खोज करने पर पुरञ्जन को अपने पारिवारिक जीवन का चेत हुआ। दूसरे शब्दों में, वेदों में आदिष्ट निर्दिष्ट गृहस्थ जीवन पापमय अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन से अच्छा है। यदि कृष्णचेतना में स्त्री तथा पुरुष मिल जाँय और शान्तिपूर्वक रहें तो अत्युत्तम है। किन्तु यदि पति अपनी पत्नी के प्रति अधिक आसक्त रहकर अपने जीवन-कार्यों को भूल जाता है, तो, भौतिक जीवन की उलझनें फिर शुरू हो जाएँगी। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी ने संस्तुति की है—*अनासक्तस्य विषयान्* (*भक्तिरमामृत सिन्धु* १.२.२५५)। पति तथा पत्नी विषयवासना से रहित होकर आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए एकसाथ रह सकते हैं। पति

को भक्ति करनी चाहिए और पत्नी को वैदिक आदेशों के अनुसार धार्मिक तथा श्रद्धावान् होना चाहिए। ऐसा संयोग उत्तम होता है। किन्तु यदि पति विषयभोग के कारण पत्नी के प्रति अधिक आसक्त होता है, तो स्थिति गम्भीर हो जाती है। स्त्रियाँ सामान्यत: अधिक कामुक होती हैं। कहा जाता है कि स्त्री की कामवासना पुरुष की अपेक्षा नौगुनी प्रबल होती है। अत: पुरुष का यह कर्तव्य है कि वह स्त्री को सुन्दर आभूषण, भोजन तथा वस्त्र प्रदान करके तथा उसे धार्मिक कृत्यों की ओर उन्मुख करके अपने वश में रखे। निस्सन्देह स्त्री के सन्तान भी होनी चाहिए। इससे वह पुरुष के लिए बाधा न बनेगी। दुर्भाग्यवश यदि मनुष्य स्त्री के प्रति केवल कामवासना से आकृष्ट होता है, तो गृहस्थ जीवन घृणित बन जाता है।

महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य पंडित ने कहा है—*भार्या रूपवती शत्रु:*—सुन्दर पत्नी शत्रु होती है। निस्सन्देह, प्रत्येक स्त्री अपने पति की दृष्टि में रूपवती है। भले ही अन्यों की दृष्टि में वह अत्यन्त सुन्दरी न प्रतीत हो, किन्तु पति के लिए तो वह अत्यन्त सुन्दरी होती है क्योंकि वह उससे बहुत अधिक आकृष्ट होता है। यदि पति की दृष्टि में पत्नी अत्यन्त सुन्दरी है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि पति उस पर अत्यधिक मोहित है। यह आकर्षण काम का आकर्षण है। सारा संसार दो प्रकार के गुणों—रजोगुण तथा तमोगुण—से मोहित है। सामान्यत: स्त्रियाँ अधिक रजोगुणी और मन्द बुद्धि होती हैं, अत: मनुष्य को उनके रजो तथा तमो गुणों के वश में नहीं होना चाहिए। भक्तियोग करने से मनुष्य सतोगुण पद को प्राप्त हो सकता है। यदि सतोगुण में स्थित पति रजो तथा तमोगुणी पत्नी को अपने वश में रखता है, तो स्त्री को लाभ पहुँचता है। वह रजो तथा तमो गुणों को भूलकर अपने पति की आज्ञाकारिणी बन जाती है, जो कि सतोगुण में स्थित होता है। ऐसा जीवन अभिनन्दनीय है। तब स्त्री तथा पुरुष दोनों की बुद्धियाँ मिलकर अच्छी तरह कार्य करने लगती हैं और वे आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रगति कर सकते हैं; अन्यथा पति अपनी पत्नी के वश में रहकर अपने सतोगुण को खोकर रजोगुण तथा तमोगुण के अधीन हो जाता है। इस प्रकार सारी स्थिति दूषित हो जाती है।

निष्कर्ष यह निकला कि गृहस्थ-जीवन अनुत्तरदायित्वपूर्ण पापमय जीवन से श्रेयस्कर होता है, किन्तु यदि पति अपनी पत्नी के अधीन हो जाता हैं, तो पुन: भौतिक जीवन का बंधन प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य का भौतिक बन्धन बढ़ता जाता है। इसीलिए वैदिक प्रणाली के अनुसार कुछ वर्ष

के बाद मनुष्य के लिए गृहस्थ-जीवन छोड़कर वानप्रस्थ तथा संन्यास की संस्तुति की जाती है।

स राजा महिषीं राजन्सुस्नातां रुचिराननाम् ।
कृतस्वस्त्ययनां तृप्तामभ्यनन्ददुपागताम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—उस; राजा—राजा ने; महिषीम्—रानी को; राजन्—हे राजा; सु-स्नाताम्—अच्छी तरह नहाई हुई; रुचिर-आननाम्—आकर्षक मुख वाली; कृत-स्वस्ति-अयनाम्—शुभ वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित; तृप्ताम्—तृप्त; अभ्यनन्दत्—स्वागत किया; उपागताम्—पास जाकर।

रानी ने स्नान किया और शुभ वस्त्रों तथा आभूषणों से अपने को सुसज्जित किया। भोजन करने तथा परम संतुष्ट होने के बाद वह राजा के पास आई। उस अत्यन्त सुसज्जित तथा आकर्षक मुख वाली को देखकर राजा ने उसका तन्मयता अभिनन्दन किया।

तात्पर्य : स्त्री सामान्यत: अच्छे वस्त्र धारण करती है और सुन्दर आभूषण पहनती है। कभी-कभी वह बालों में फूल भी धारण करती है। स्त्रियाँ प्राय: अपने को संध्या समय सुसज्जित करती हैं, क्योंकि उसी समय उनके पति काम से घर वापस आते हैं। यह तो स्त्री का कर्तव्य है कि जब उसका पति काम से वापस आये तो वह अपने आप को सुन्दर ढंग से सजाए जिससे उस का पति उसे देख कर आकृष्ट हो और सन्तुष्ट रहे। दूसरे शब्दों में, स्त्री समस्त सद्बुद्धि को प्रेरणा देती है। अपनी पत्नी को सुसज्जित देखकर मनुष्य अपने परिवार के विषय में गम्भीरता से विचार कर सकता है। जब मनुष्य पारिवारिक मामलों में अत्यधिक उलझता है, तो वह पारिवारिक कार्यों को ठीक से नहीं कर पाता। अत: स्त्री को प्रेरणाप्रद समझा जाता है और उसे पति की बुद्धि को सुचारु रखना चाहिए जिससे दोनों मिलकर पारिवारिक मामलों को ठीक से चला सकें।

तयोपगूढः परिरब्धकन्धरो
रहोऽनुमन्त्रैरपकृष्टचेतनः ।
न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं
दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तया—रानी के द्वारा; उपगूढः—आलिंगन किया; परिरब्ध—आलिंगित; कन्धरः—कंधे; रहः—एकान्त में; अनुमन्त्रैः—विनोदपूर्वक; अपकृष्ट-चेतनः—चेतना को नीचे गिराकर; न—नहीं; काल-रंहः—समय बीतने के साथ; बुबुधे—ज्ञान था; दुरत्ययम्—जीतना असम्भव; दिवा—दिन; निशा—रात्रि; इति—इस प्रकार; प्रमदा—स्त्री द्वारा; परिग्रहः—मोहित।

रानी पुरञ्जनी ने राजा का आलिंगन किया और राजा ने भी उसे बाहों में भर लिया। इस

प्रकार एकान्त में वे विनोद करते रहे और राजा पुरञ्जन अपनी सुन्दर स्त्री पर इतना मोहित रहने लगा कि उसे अच्छे-बुरे का विचार न रहा। वह भूल गया कि रात तथा दिन बीतने का अर्थ है व्यर्थ ही आयु का घटते जाना।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रमदा* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सुन्दर स्त्री अपने पति के लिए प्रेरणादायक अवश्य है, किन्तु साथ ही अवनति का कारण भी है। *प्रमदा* का अर्थ है ''प्रेरणादायक'' तथा ''प्रमत्त करने वाली।'' सामान्यत: गृहस्थ दिन-रात के बीते रहने पर गम्भीरता से ध्यान नहीं देता। अज्ञानी मनुष्य इतना ही समझता है कि दिन आता है और उसके बीत जाने पर रात आती है। यह तो प्रकृति का नियम है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि जब प्रात:काल सूर्योदय होता है, तो उसकी आयु उसी के अनुसार क्षीण होती जाती है। इस प्रकार दिन-प्रति-दिन जीवन-काल घटता है और मनुष्य अपने कर्तव्य को भूलकर एकान्त में अपनी पत्नी के साथ विषय-भोग में लगा रहता है। ऐसी अवस्था *अपकृष्ट-चेतन* अर्थात् अवनत चेतना कहलाती है। मानवीय चेतना का सदुपयोग कृष्णचेतना (भक्ति) तक ऊपर उठने के लिए होना चाहिए, किन्तु अपनी पत्नी तथा पारिवारिक मामलों में अत्यधिक आसक्त रहने के कारण मनुष्य कृष्णचेतना की परवाह नहीं करता। इस प्रकार वह अपक्रमित होता है और उसे इसका पता भी नहीं रहता कि वह लाखों डालर खर्च करके भी बीते हुए एक भी क्षण को मोल नहीं ले सकता। जीवन की सबसे बड़ी क्षति है श्रीकृष्ण को जाने बिना जीवन बिता देना। हमें जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए और जीवन के समुचित उपयोग का अर्थ है भगवान् की भक्ति बढ़ाना। बिना भगवद्भक्ति के जीवन के सारे कार्य समय के अपव्यय-मात्र हैं। *श्रम एव हि केवलम्।* केवल कर्तव्यनिष्ठ बनकर हम जीवन का लाभ नहीं उठा सकते। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.८) में पुष्टि हुई है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

यदि ठीक से अपना कर्तव्य करने के बाद कृष्णचेतना में प्रगति नहीं होती तो यह समझना चाहिए सारा श्रम व्यर्थ रहा।

शयान उन्नद्धमदो महामना
महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः ।
तामेव वीरो मनुते परं यत-
स्तमोऽभिभूतो न निजं परं च यत् ॥ ४॥

शब्दार्थ

शयानः—लेटा हुआ; उन्नद्ध-मदः—अत्यधिक मोहग्रस्त; महा-मनाः—मनस्वी; महा-अर्ह-तल्पे—बहुमूल्य शय्या पर; महिषी—रानी की; भुज—बाँहें; उपधिः—तकिया; ताम्—उसको; एव—निश्चय ही; वीरः—वीर; मनुते—उसने मान लिया था; परम्—जीवन लक्ष्य; यतः—जिससे; तमः—अज्ञान से; अभिभूतः—आवृत; न—नहीं; निजम्—अपना; परम्—परमेश्वर; च—तथा; यत्—जो।

इस प्रकार अत्यधिक मोहग्रस्त होने से मनस्वी होते हुए भी राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी की भुजाओं के तकिये पर अपना सिर रखे सदैव लेटा रहता था। इस प्रकार वह उस रमणी को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानने लगा। अज्ञान के आवरण से ढका होने के कारण उसे आत्म-साक्षात्कार का स्वयं का अथवा भगवान् का कोई ज्ञान न रहा।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन आत्म-साक्षात्कार के लिए है। पहले मनुष्य को अपने आपका दर्शन करना होता है, जिसे इस श्लोक में *निजम्* कहा गया है। तब उसे परमात्मा को समझना होता है। किन्तु मनुष्य जब भौतिकता में अत्यधिक अनुरक्त हो जाता है, तो वह स्त्री को ही सब कुछ मानने लगता है। भौतिक आसक्ति का यह मूल सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में वह न तो अपने आपका और न ही भगवान् का साक्षात्कार कर पाता है। *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में कहा गया है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्*। यदि वह महात्माओं या भक्तों की संगति करता है, तो उसकी मुक्ति का द्वार खुल जाता है। किन्तु यदि वह स्त्रियों के प्रति या स्त्रियों में अनुरक्त रहने वाले पुरुषों के प्रति अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्त्रियों के प्रति आकृष्ट होता है, तो उसके लिए *तमो-द्वारम्* अर्थात् नारकीय जीवन के अंधकारमय क्षेत्र का द्वार खुल जाता है।

राजा पुरञ्जन महात्मा, बुद्धिमान तथा उन्नत चेतनावाला व्यक्ति था, किन्तु स्त्री के प्रति अत्यधिक अनुरक्ति के कारण उसकी चेतना मलिन हो गई थी। आधुनिक युग में शराब, स्त्री तथा मांस-भक्षण के कारण लोगों की चेतना अत्यधिक मलिन हो गई। अतः लोग आत्म-साक्षात्कार की दिशा में तनिक भी प्रगति नहीं कर पाते। आत्म-साक्षात्कार की पहली सीढ़ी है अपने आपको शरीर से भिन्न आत्मा मानना। दूसरी सीढ़ी है प्रत्येक आत्मा, अर्थात् प्रत्येक जीव को परमात्मा का अंश-रूप मानना। *भगवद्गीता* (१५.७) में इसकी पुष्टि हुई है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

"इस बद्ध जगत में जीवात्माएँ मेरे शाश्वत अंश हैं। बद्धजीवन के कारण वे मन समेत अपनी छहों इन्द्रियों द्वारा अत्यधिक कठिन संघर्ष करती रहती हैं।"

सभी जीवात्माएँ परमेश्वर के अंशरूप हैं। दुर्भाग्यवश, वर्तमान संस्कृति में स्त्रियों तथा पुरुषों को प्रारम्भ से ही एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होने दिया जाता है; फलस्वरूप वे आत्म-साक्षात्कार की स्थिति तक कभी नहीं पहुँच पाते। उन्हें इसका पता ही नहीं रहता कि बिना आत्म-साक्षात्कार के इस मनुष्य जीवन में सर्वाधिक क्षति होती है। हृदय में स्त्री का निरन्तर चिन्तन करना बहुमूल्य शैय्या पर स्त्री के साथ शयन करने के तुल्य है। हृदय ही असली शैय्या है और वही सर्वाधिक मूल्यवान शैय्या है। जब मनुष्य स्त्री तथा धन के विषय में सोचता है, तो वह अपनी पत्नी की भुजाओं में लेट जाता है और अत्यधिक विषयवासना में फँसकर आत्म-साक्षात्कार के अयोग्य बन जाता है।

तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः ।
क्षणार्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः ॥५॥

शब्दार्थ

तया—उसके साथ; एवम्—इस प्रकार; रममाणस्य—रमण करते हुए; काम—काम से पूर्ण; कश्मल—पापपूर्ण; चेतसः—उसका हृदय; क्षण-अर्धम्—आधे क्षण में; इव—सदृश; राज-इन्द्र—हे राजा; व्यतिक्रान्तम्—बीत गया; नवम्—नया; वयः—वायु, जीवन।

हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, इस प्रकार राजा पुरञ्जन काम तथा पापमय कर्मफलों से पूरित हृदय से अपनी पत्नी के साथ भोग-विलास करने लगा और इस तरह आधे ही क्षण में उनका नव जीवन तथा युवावस्था बीत गयी।

तात्पर्य : श्रील गोविन्ददास ठाकुर का गीत है—

ए-धन, यौवन, पुत्र, परिजन

इथे कि आछे परतीति रे

कमल-दल-जल, जीवन टलमल

भज हुं हरिपद नीति रे

वे इस गीत में बताते हैं कि युवावस्था के भोगविलास में कोई आनन्द नहीं है। युवावस्था में मनुष्य

सभी प्रकार के विषयों को भोगने के लिए आतुर हो उठता है। रूप, स्वाद, गंध, स्पर्श तथा शब्द—ये इन्द्रियविषय हैं। आधुनिक वैज्ञानिक विधि इन पाँचों इन्द्रियों के भोग को बढ़ावा देती है। नई पीढ़ी सुन्दर रूप देखने, रेडियो समाचार सुनने तथा इन्द्रियों को सुख देने वाले गीत सुनने, सुगन्ध तथा सुन्दर पुष्प सूँघने, तरुणी के नरम शरीर या स्तन को छूने तथा कामेन्द्रियों को सहलाने में अति प्रसन्न होती है। यह सब पशुओं को भी सुखकर लगता है, इसीलिए मानव समाज में पाँच विषयों के भोग पर प्रतिबन्ध है। यदि वह इनका पालन नहीं करता तो वह पशुतुल्य बन जाता है।

इस प्रकार इस श्लोक में स्पष्ट कथन है—*कामकश्मलचेतस:*—राजा पुरञ्जन की चेतना कामेच्छाओं तथा पापकर्मों के कारण दूषित हो चुकी थी। पिछले श्लोक में कहा गया है कि यद्यपि पुरञ्जन की चेतना उन्नत थी, किन्तु वह अपनी पत्नी के साथ कोमल शैय्या पर लेटा रहता था। इससे सूचित होता है कि वह अत्यधिक कामासक्त था। इस श्लोक के *नवं वय:* शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। ये शब्द सोलह से तीस वर्ष की अवस्था बताते हैं। ये तेरह या पन्द्रह वर्ष ऐसे हैं जिसमें कोई अपनी इन्द्रियों का अत्यधिक भोग कर सकता है। जब मनुष्य इस आयु को प्राप्त करता है, तो वह सोचता है कि जीवन इसी प्रकार चलता रहेगा और इन्द्रियों का भोग होता रहेगा, किन्तु समय तथा ज्वार कभी किसी की प्रतीक्षा नहीं करते। युवावस्था तुरन्त ढल जाती है। जो युवावस्था को पापकर्म करने में ही लगा देता है, वह युवावस्था के बीत जाने पर निराश होता है। युवावस्था के भौतिक सुख उस व्यक्ति को भाते हैं जिसे किसी प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा नहीं मिली रहती। यदि उसे केवल देहात्मबुद्धि की शिक्षा मिली रहती है, तो उसे निराश जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि चालीस वर्ष के अन्दर इन्द्रिय-सुख समाप्त हो जाता है, चालीस वर्ष के बाद उसे मोहरहित जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि उसे आध्यात्मिक ज्ञान नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति के लिए युवावस्था का अन्त आधे ही क्षण में हो जाता है। इस प्रकार राजा पुरञ्जन का आनन्द, जिसे वह अपनी पत्नी के साथ लेट कर लूट रहा था, तुरन्त ही बीत गया।

काम-कश्मलचेतस: से भी यह सूचित होता है कि मनुष्य जीवन में प्रकृति के नियमों के द्वारा इन्द्रियभोग की निर्बाध छूट नहीं है। यदि वह निर्बाध होकर इन्द्रियों का भोग करता है, तो उसका जीवन पापमय हो जाता है। पशु प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं करते। उदाहरणार्थ, पशुओं में वर्ष

के कुछ महीनों में ही कामेच्छा अत्यन्त प्रबल रहती है। सिंह अत्यन्त शक्तिशाली होता है—वह मांसभक्षी है और अत्यन्त बलिष्ठ होता है। किन्तु यह वर्ष में केवल एक बार संभोग करता है। इसी प्रकार धार्मिक आदेशों के अनुसार मनुष्य को भी मास में केवल एक बार स्त्री के रजोदर्शन के पश्चात् मैथुन करने की छूट है और यदि पत्नी गर्भवती हो तो संभोग की अनुमति नहीं है। यही मनुष्यों के लिए नियम है। मनुष्य को एक से अधिक पत्नी रखने की अनुमति प्राप्त है, क्योंकि पत्नी के गर्भिणी रहने पर वह उससे संभोग नहीं कर सकता। यदि वह ऐसे समय में संभोग करना चाहता है, तो वह दूसरी पत्नी के पास जा सकता है। ये नियम *मनु संहिता* तथा अन्य शास्त्रों में वर्णित हैं।

ये नियम तथा शास्त्र मनुष्यों के निमित्त हैं, अत: यदि कोई इन नियमों का अतिक्रमण करता है, तो वह पापी है। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अनियंत्रित इन्द्रिय-भोग का अर्थ है पापमय कर्म। अवैध स्त्रीमैथुन वह है, जिससे शास्त्रों के नियमों का उल्लंघन होता है। जब कोई शास्त्रों या वेदों के नियमों का अतिक्रमण करता है, तो वह पापकर्म करता है। जो मनुष्य पापकर्म करता है, वह अपनी चेतना नहीं बदल सकता। हमारा वास्तविक कार्य है कि हम अपनी चेतना को *कश्मल* से परम शुद्ध कृष्णचेतना में बदलें। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*)। श्रीकृष्ण ही परम विशुद्ध हैं और यदि हम अपनी चेतना को भौतिक सुख से कृष्ण की ओर मोड़ते हैं, तो हम शुद्ध बनते हैं। इसी विधि की संस्तुति भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने *चेतो-दर्पण-मार्जनम्* प्रक्रिया के नाम से की है।

तस्यामजनयत्पुत्रान्पुरञ्जन्यां पुरञ्जनः ।
शतान्येकादश विराडायुषोऽर्धमथात्यगात् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस; अजनयत्—उत्पन्न किये; पुत्रान्—पुत्र; पुरञ्जन्याम्—पुरञ्जनी से; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन ने; शतानि—सौ; एकादश—ग्यारह; विराट्—हे राजा; आयुषः—जीवन का; अर्धम्—आधा; अथ—इस तरह; अत्यगात्—उसने व्यतीत किया।

तब नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् को सम्बोधित करते हुए कहा : हे विराट, इस प्रकार राजा पुरञ्जन के अपनी पत्नी पुरञ्जनी के गर्भ से १,१०० पुत्र उत्पन्न हुए। किन्तु इस कार्य में उसका आधा जीवन व्यतीत हो गया।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जिनमें सबसे पहले *एकादश शतानि हैं*। पुरञ्जन को

अपनी पत्नी से ११०० पुत्र उत्पन्न हुए और इस प्रकार उसका आधा जीवन व्यतीत हो गया। वास्तव में हर मनुष्य के साथ ऐसा होता है। यदि कोई सौ वर्ष तक जीवित रहता है, तो इसमें से पचास वर्ष की आयु तक उसके पुत्र उत्पन्न होते रहते हैं। दुर्भाग्यवश इस समय लोग सौ वर्ष भी जीवित नहीं रहते तो भी वे साठ वर्ष की आयु तक सन्तान उत्पन्न करते हैं। दूसरी बात यह कि पहले के लोग एक सौ से दो सौ तक पुत्र तथा पुत्रियाँ उत्पन्न करते थे। जैसाकि अगले श्लोक से पता चलेगा, राजा पुरञ्जन के १,१०० पुत्रों के साथ-साथ ११० पुत्रियाँ भी पैदा हुई। इस समय के लोग इतनी अधिक सन्तानें उत्पन्न नहीं कर सकते। उल्टे, वे गर्भनिरोधक विधियों द्वारा जनसंख्या को रोकने के लिए प्रयत्नशील हैं।

हमें वैदिक साहित्य में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जिसमें गर्भनिरोधक विधियों का प्रयोग हुआ हो, यद्यपि वे सैकड़ों संतानें उत्पन्न करते थे। गर्भनिरोधक विधि से जनसंख्या पर नियंत्रण एक अन्य पापकर्म है, किन्तु इस कलियुग में लोग इतने पापी हो गये हैं कि वे अपने पापमय जीवन के फलों की तनिक भी परवाह नहीं करते। राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी पुरञ्जनी के साथ लेटा रहता था और उसने अनेक सन्तानें उत्पन्न कीं, किन्तु इन श्लोकों में कहीं कोई उल्लेख नहीं कि उसने गर्भनिरोधक विधि का उपयोग किया हो। वैदिक शास्त्रों के अनुसार गर्भनिरोधक विधि तो विषयी जीवन पर संयम रखना होनी चाहिए। इसमें ऐसा नहीं है कि निर्बाध गति से संभोग तो किया जाये, किन्तु गर्भाधान को रोककर सन्तानें न उत्पन्न होने दी जाँय। यदि मनुष्य की चेतना ठीक है, तो वह अपनी धर्मपत्नी की राय लेता है और फिर बुद्धिपूर्वक जीवन-मान निर्धारित करता है। दूसरे शब्दों में, यदि सौभाग्यवश अच्छी प्रयत्नशील पत्नी प्राप्त हुई तो पारस्परिक विचार-विमर्श से मनुष्य यह निश्चित कर सकता है कि यह जीवन कृष्णचेतना में प्रगति के निमित्त है, अनेक सन्तानें उत्पन्न करने के लिए नहीं। सन्तानें परिणाम हैं और जब मनुष्य अपनी सद्बुद्धि की राय लेता है, तो वह देख सकता है कि उसकी कृष्णचेतना का विस्तार ही उसकी सन्तानें अथवा परिणाम होने चाहिए।

दुहितृर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करीः ।
शीलौदार्यगुणोपेताः पौरञ्जन्यः प्रजापते ॥७॥

शब्दार्थ

दुहितृः—कन्याएँ; दश-उत्तर—दस अधिक; शतम्—एक सौ; पितृ—पिता; मातृ—तथा माता के समान; यशस्करीः—यशस्वी; शील—उत्तम आचरण; औदार्य—उदारता; गुण—गुण; उपेताः—से युक्त; पौरञ्जन्यः—पुरञ्जन की कन्याएँ; प्रजा-पते—हे प्रजापति!.

हे प्रजापति राजा प्राचीनबर्हिषत्, इस तरह राजा पुरञ्जन के ११० कन्याएँ भी उत्पन्न हुईं। ये सब-की-सब अपने पिता तथा माता के समान यशस्विनी थी; उनका आचरण भद्र था, ये उदार थीं और अन्य उत्तम गुणों से युक्त थीं।

तात्पर्य : शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार उत्पन्न सन्तानें माता-पिता के ही समान उत्तम गुणों वाली होती हैं, किन्तु अवैध रूप से उत्पन्न सन्तानें *वर्णसंकर* हो जाती हैं। वर्णसंकर सन्तान अपने परिवार, कुल, यहाँ तक कि अपने प्रति भी अनुत्तरदायित्वपूर्ण होती है। प्राचीन काल में गर्भाधान संस्कार का पालन करके वर्णसंकर सन्तानों पर रोक रखी जाती थी। इस श्लोक में यद्यपि हम राजा पुरञ्जन के अनेक सन्तानें पाते हैं, किन्तु वे वर्णसंकर नहीं थीं। वे सबकी सब उत्तम आचरण वाली सन्तानें थीं और उनमें अपने माता-पिता के ही समान सारे उत्तम गुण थे।

भले ही हम अनेक उत्तम सन्तानें उत्पन्न कर लें, किन्तु संभोग के लिए निर्धारित विधि से परे की हमारी आकांक्षा पापपूर्ण तो है ही। किसी भी इन्द्रिय का अत्यधिक भोग पापपूर्ण कार्य को जन्म देता है। अतः मनुष्य को जीवन के अन्त में स्वामी या गोस्वामी बनना पड़ता है। मनुष्य पचास वर्ष तक सन्तान उत्पन्न कर सकता है, किन्तु इसके बाद उसे सन्तान उत्पन्न करना बन्द करके वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार उसे घर छोड़कर संन्यासी बनना होता है। संन्यासी की पदवी *स्वामी* या *गोस्वामी* है, जिसका अर्थ है कि वह भोग से सर्वथा दूर रहता है। मनुष्य को सनक में आकर संन्यासी नहीं बनना चाहिए, उसे पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि वह विषयवासनाओं को पूरी तरह रोक सकेगा। निस्सन्देह, राजा पुरञ्जन का गृहस्थ जीवन अत्यन्त सुखी था। जैसा यहाँ वर्णित है, उसके ११०० पुत्र तथा ११० पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसके पुत्र तथा पुत्रियाँ उत्पन्न हों और चूँकि राजा पुरञ्जन की पुत्रियों की संख्या पुत्रों से कम थी, इससे ऐसा लगता है कि उसका गृहस्थ जीवन अत्यन्त सुखी एवं सुविधाजनक था।

स पञ्चालपतिः पुत्रान्पितृवंशविवर्धनान् ।
दारैः संयोजयामास दुहितृः सदृशैर्वरैः ॥८॥

शब्दार्थ

सः—वह; पञ्चाल-पतिः—पञ्चाल का राजा; पुत्रान्—पुत्र; पितृ-वंश—पिता का वंश; विवर्धनान्—बढ़ाते हुए; दारैः—पत्नियों सहित; संयोजयाम् आस—विवाह किया; दुहितृः—कन्याएँ; सदृशैः—योग्य; वरैः—पतियों के साथ।

तत्पश्चात् पञ्चाल देश के राजा पुरञ्जन ने अपने पैतृक कुल की वृद्धि के लिए अपने पुत्रों का विवाह योग्य वधुओं के साथ और अपनी कन्याओं का विवाह योग्य वरों के साथ कर दिया।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार हर व्यक्ति को विवाहित होना चाहिए। मनुष्य को इसलिए पत्नी ग्रहण करनी पड़ती है कि वह सन्तान उत्पन्न कर सके और ये सन्तानें आगे चलकर भोजन तथा दाह-क्रिया जैसे कार्य सम्पन्न कर सकें जिससे पुरखे प्रसन्न रह सकें। भगवान् विष्णु के नाम पर दिया गया अर्पण *पिण्डोदक* कहलाता है और किसी भी वंश के वंशजों के लिए आवश्यक है कि अपने पितरों को पिण्ड प्रदान करे।

पञ्चाल का राजा पुरञ्जन न केवल अपने विषयी जीवन से तुष्ट था, अपितु उसने अपने ११०० पुत्रों तथा ११० पुत्रियों को विवाहित उनके काम-भोग जीवन की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार निरंकुश परिवार को वंश के पद तक उठाया जा सकता है। इस श्लोक की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुरञ्जन ने अपने पुत्रों तथा पुत्रियों सभी का विवाह करा दिया। माता-पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रों तथा पुत्रियों के विवाह की व्यवस्था करे। वैदिक समाज में यह अनिवार्य है। विवाह के पूर्व पुत्रों तथा पुत्रियों को विपरीत लिंगी लोगों से स्वच्छन्दतापूर्वक मिलने नहीं दिया जाना चाहिए। इस वैदिक सामाजिक संगठन की विशेष बात यही है कि इससे अवैध स्त्री-प्रसंग या कि वर्णसंकरता रुकती है, जो कि इस समय विविध नामों के रूप में प्रचलित है। दुर्भाग्यवश इस युग में माता-पिता अपनी सन्तानों को विवाहित करने के लिए चिन्तित रहते हैं, किन्तु सन्तानें माता-पिता द्वारा व्यवस्थित विवाह करने से मना कर देती हैं। इसीलिए संसार में विभिन्न नामों के अन्तर्गत वर्णसंकरों की इतनी वृद्धि हो रही है।

पुत्राणां चाभवन्पुत्रा एकैकस्य शतं शतम् ।
यैर्वै पौरञ्जनो वंशः पञ्चालेषु समेधितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पुत्राणाम्—पुत्रों के; च—भी; अभवन्—उत्पन्न हुए; पुत्राः—पुत्र; एक-एकस्य—प्रत्येक के; शतम्—एक सौ; शतम्—सौ; यैः—जिनसे; वै—निश्चय ही; पौरञ्जनः—राजा पुरञ्जन का; वंशः—वंश; पञ्चालेषु—पंचाल देश में; समेधितः—फैल गया।

इन अनेक पुत्रों में से प्रत्येक के कई सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार राजा पुरञ्जन के पुत्रों तथा

पौत्रों से सारा पंचाल देश भर गया।

तात्पर्य : हमें स्मरण रखना चाहिए कि पुरञ्जन जीव है और पंचाल देश शरीर है। शरीर जीव की कर्मभूमि है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ।* अंग दो होते हैं—एक तो जीव (क्षेत्रज्ञ) तथा, दूसरा जीव का शरीर (क्षेत्र)। यदि कोई थोड़ा भी विचार करे तो स्पष्ट हो जाएगा कि प्रत्येक जीव शरीर से ढका हुआ है और शरीर ही उसकी सम्पत्ति है। व्यावहारिक अनुभव तथा शास्त्रों से यह जाना जा सकता है। *भगवद्गीता* (२.१३) में कहा गया है—*देहिनोऽस्मिन्यथा देहे।* शरीर का स्वामी—आत्मा—इस शरीर के भीतर रहता है। यह शरीर पंचाल देश है जहाँ जीव गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द के द्वारा इन्द्रियों का भोग कर सकता है। इस संसार में प्रत्येक जीव सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्वों से आवृत होकर कर्म तथा कर्मफल उत्पन्न करता है, जिन्हें रूपक के रूप में पुत्र तथा पौत्र कहा गया है। ये कर्मफल दो प्रकार के होते हैं—पवित्र तथा अपवित्र। इस प्रकार हमारा जीवन विभिन्न कर्मफलों से आवृत होता रहता है। इस प्रसंग में श्रील नरोत्तम दास ठाकुर लिखते हैं—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड

अमृत बलिया येबा खाय

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे

तार जन्म अध:पाते याय

"कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड विष के प्याले के तुल्य हैं। जो भी इन्हें अमृत समझ कर पीता है उसे नाना शरीरों में अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। ऐसा मनुष्य सभी प्रकार के भक्ष्याभक्ष्य खाता है और अपने इन्द्रियभोग के कारण सर्वत्र घृणित बनता है।"

इस प्रकार जिससे वंश-वृद्धि होती है, वह कर्मफलों का क्षेत्र विषयी जीवन से प्रारम्भ होता है। पुरञ्जन ने अपने वंश की वृद्धि पुत्र तथा पौत्र उत्पन्न करके की। इस प्रकार जीवात्मा इन्द्रियतृप्ति में लगकर हजारों कर्मों तथा कर्मफलों में फँसता है। इस प्रकार वह इस संसार में इन्द्रियतृप्ति के लिए रहता है और एक शरीर से दूसरे में अन्तरण करता रहता है। अनेक पुत्र तथा पौत्र उत्पन्न करने की इस विधि से तथाकथित समाज, राष्ट्र, जाति इत्यादि का जन्म होता है। ये सब विषयी जीवन के प्रतिफल हैं। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा है (भागवत ७.९.४५)—*यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।*

गृहमेधी वह है, जो इस संसार में बना रहना चाहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह इस शरीर या समाज के भीतर रह कर मित्रता, प्रेम तथा वंश-सुख भोगना चाहता है। उसका एकमात्र सुख है कि इन्द्रियसुखार्थियों की संख्या बढ़े। वह स्त्री-संभोग करता है, पुत्र उत्पन्न करता है, जिनके विवाह के पश्चात् पौत्र उत्पन्न होते हैं। ये पौत्र भी विवाह करके सन्तानें उत्पन्न करते हैं। इससे सारा संसार आवश्यकता से अधिक आबाद हो जाता है और तब प्रकृति युद्ध, भुखमरी, रोग, भूकम्प इत्यादि के रूप में नाना प्रकार के कर्मफल उत्पन्न करती है। इस तरह सारी जनसंख्या विनष्ट होकर पुन: जन्म लेती है। *भगवद्गीता* (८.१९) में बारम्बार सृजन तथा प्रलय की यह क्रिया वर्णित है—*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।* कृष्णाचेतना के अभाव में यह सारी सृष्टि तथा विनाश मानव-सभ्यता के नाम पर चलते रहते हैं। आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के अभाव में यह चक्र निरन्तर चलता जाता है।

तेषु तद्रिक्थहारेषु गृहकोशानुजीविषु ।
निरूढेन ममत्वेन विषयेष्वन्वबध्यत ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तेषु—उनमें; तत्-रिक्थ-हारेषु—इस धन के लुटेरे; गृह—घर; कोश—खजाना; अनुजीविषु—सेवकों के लिए; निरूढेन—गहरी; ममत्वेन—आसक्ति से; विषयेषु—विषयों में; अन्वबध्यत—बद्ध हो गया।

ये पुत्र तथा पौत्र एक प्रकार से पुरञ्जन के घर, खजाना, नौकर, सचिव एवं दूसरे सारे साज-सामान समेत सारी धन-सम्पदा को लूटने वाले थे तथा अन्य साज-सामान सारी धन सम्पदा को लूटने वाले थे। राजा पुरञ्जन का इन वस्तुओं से प्रगाढ़ सम्बन्ध था।

तात्पर्य : इस श्लोक का *रिक्थहारेषु* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "धन को लूटने वाले।" किसी के भी पुत्र, पौत्र तथा अन्य वंशज अन्तत: उसकी संचित सम्पत्ति के लुटेरे ही तो होते हैं। ऐसे अनेक विख्यात व्यापारी तथा उद्योगपति हैं, जो अनन्त सम्पत्ति अर्जित करते हैं और जिनकी जनता में काफी प्रतिष्ठा रहती है, किन्तु अन्त में उनकी सारी सम्पत्ति उनके पुत्रों तथा पौत्रों द्वारा लूट ली जाती है। हमने भारत में एक ऐसा उद्योगपति देखा है, जो राजा पुरञ्जन की ही तरह अत्यन्त विषयी था और जिसके आधा दर्जन पत्नियाँ थीं। इन पत्नियों में से हर एक के लिए पृथक्-पृथक् आवास का प्रबन्ध था, जिसमें हजारों रुपये खर्च होते थे। जब मैं उससे बातें कर रहा था, तो मैंने देखा कि वह अपने प्रत्येक पुत्र तथा पुत्री के लिए कम-से-कम पाँच लाख रुपये जुटाने के लिए प्रयत्नशील था। इस

तरह ऐसे उद्योगपति, व्यापारी या कर्मी शास्त्रों में *मूढ* कहे जाते हैं। वे कठिन श्रम करते हैं, धन जोड़ते हैं और इसमें सुख पाते हैं कि उनके पुत्र तथा पौत्र उस धन को लूटें। ऐसे लोग अपनी सम्पत्ति को वास्तविक मालिक के पास लौटाना नहीं चाहते। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—समस्त सम्पत्ति का असली स्वामी तथा भोक्ता परमेश्वर है तथाकथित धन कमाने वाले वे हैं, जो व्यापार तथा उद्योग के नाम पर भगवान् के धन को छीनने के दाव-पेच जानते हैं। इस धन को संग्रह करने के बाद उन्हें इससे अपने पुत्रों तथा पौत्रों द्वारा लुटता देखकर आनन्द होता है। यह जीवन की भौतिकतावादी शैली है। इसमें मनुष्य शरीर के भीतर बन्दी रहता है और मिथ्या अहंकार के द्वारा मोहग्रस्त रहता है। इस प्रकार वह सोचता है, "मैं यह शरीर हूँ," "मैं मनुष्य हूँ," "मैं अमरीकी या भारतीय हूँ।" यह देहात्मबुद्धि अहंकार के कारण उत्पन्न होती है। इसी मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर मनुष्य अपने को परिवार, राष्ट्र या समुदाय से अपने को एकाकार समझता है। इस प्रकार भौतिक जगत से उसकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है और फिर जीव के लिए इस बंधन से निकल पाना कठिन हो जाता है। ऐसे लोगों का वर्णन *भगवद्गीता* में सोलहवें अध्याय (१६.१३-१५) में इस प्रकार हुआ है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

"आसुरी पुरुष सोचता है : आज मेरे पास इतना धन है और कल तक मैं अपनी योजनाओं द्वारा इतना और जोड़ लूँगा। इस समय मेरी सम्पत्ति इतनी है और भविष्य में बढ़कर इतनी हो जायेगी। वह मेरा शत्रु है, मैने उसे मार दिया है और मेरे अन्य शत्रु भी मारे जायेंगे। मैं हर वस्तु का स्वामी हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ, मैं पूर्ण हूँ, शक्तिमान तथा सुखी हूँ। मैं सबसे धनी व्यक्ति हूँ और अपने कुलीन परिजनों से घिरा हुआ हूँ। मेरे समान कोई अन्य शक्तिशाली तथा सुखी नहीं है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और सुख

भोगूँगा, इस प्रकार ऐसे व्यक्ति अविद्या द्वारा मोहित किये जाते हैं।''

इस प्रकार लोग विभिन्न श्रमसाध्य कार्यों में लगे रहते हैं और शरीर, घर, परिवार, राष्ट्र इत्यादि के प्रति उनकी आसक्ति गहराती जाती है।

ईजे च क्रतुभिर्घोरैर्दीक्षितः पशुमारकैः ।
देवान्पितॄन्भूतपतीन्नानाकामो यथा भवान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ईजे—पूजा की; च—भी; क्रतुभिः—यज्ञों से; घोरैः—नृशंस; दीक्षितः—प्रोत्साहित होकर; पशु-मारकैः—जिसमें पशुओं का वध किया जाता है; देवान्—देवतागण; पितॄन्—पूर्वज, पुरखे; भूत-पतीन्—मानव समाज के बड़े-बड़े नेता; नाना—विविध; कामः—इच्छाओं से युक्त; यथा—जिस प्रकार; भवान्—तुम।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, तुम्हारी ही तरह राजा पुरञ्जन भी अनेक इच्छाओं में उलझा हुआ। इसलिए उसने देवताओं, पितरों तथा सामाजिक नेताओं की पूजा विविध यज्ञों द्वारा की, किन्तु ये सारे यज्ञ नृशंस थे, क्योंकि उनके पीछे पशुओं के वध की भावना काम कर रही थी।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि कहते हैं कि वे पुरञ्जन के चरित्र द्वारा राजा प्राचीनबर्हिषत् को उपदेश देना चाहते हैं। वास्तव में राजा प्राचीनबर्हिषत् के कार्यों का यह सारा वर्णन अलंकारमयी भाषा में है। इस श्लोक में नारद स्पष्ट कहते हैं—*यथा भवान्* अर्थात् तुम्हारी तरह, जिससे सारा सन्देह दूर हो जाता है और संकेत मिलता है कि राजा पुरञ्जन स्वयं राजा प्राचीनबर्हिषत् है। परम वैष्णव होने के नाते नारद मुनि यज्ञों में पशुवध को बन्द कराना चाह रहे थे। वे जानते थे कि यदि वे राजा को यज्ञ बन्द करने के लिए कहेंगे तो वह नहीं मानेगा; इसीलिए वे पुरञ्जन का चरित सुना रहे हैं। किन्तु वे इस श्लोक में अपने मनोभाव को चाहे अपूर्ण रूप से, ''तुम्हारी तरह'' कहकर प्रकट कर देते हैं। सामान्यतः कर्मी जनों को जिनकी आसक्ति अपने वंशजों की संख्या बढ़ाने में होती है उनको अनेक यज्ञ करने होते हैं और भविष्य के लिए अनेक देवाताओं की पूजा करनी होती है तथा अनेक नेताओं, राजनीतितज्ञों, विचारकों तथा विज्ञानियों को प्रसन्न रखना होता है ताकि आने वाली पीढ़ियाँ ठीक तरह से रह सकें। तथाकथित वैज्ञानिक भावी पीढ़ियों की सुख-सुविधा के लिए अत्यधिक उत्सुक दिखते हैं, इसीलिए वे इंजनों, कारों, वायुयानों इत्यादि को चलाने के लिए तरह-तरह से ऊर्जा उत्पन्न करने के उपायों की खोज करने का प्रयास कर रहे हैं। अब तो पेट्रोल कम हो रहा है। ये सारे कार्यकलाप

भगवद्गीता (२.४१) में वर्णित हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

"जो लोग आध्यात्मिक पथ पर हैं, वे अपने उद्देश्य के प्रति दृढ़संकल्प हैं और उनका लक्ष्य एक है। हे कुरुनन्दन! जो लोग संकल्पशील नहीं हैं उन्हीं की बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त होती है।"

वास्तव में जो सब कुछ जानते हैं, वे कृष्णभक्ति करने के लिए तत्पर रहते हैं, किन्तु जो मूढ़ हैं, *दुष्कृतना:* हैं और *नराधम* हैं—जो समस्त प्रकार की बुद्धि से रहित हैं (*माययापहृतज्ञाना:*) और जो आसुरी जीवन बिताते हैं (*आसुरं भावम् आश्रित:*), वे कृष्ण भक्ति में कोई रुचि नहीं दिखाते। फलत: वे नाना प्रकार के कर्मों में फँसते रहते हैं। ऐसे कार्य मुख्य रूप से पशुवध पर केन्द्रित होते हैं। आधुनिक सभ्यता पशु-वध पर केन्द्रित है। कर्मी लोग विज्ञापित करते हैं कि बिना मांसाहार के विटामिन-आपूर्ति सम्भव नहीं है और उनका बल घटेगा, अत: अपने को काम करने के योग्य बनाये रखने के लिए मांस खाना चाहिए, फिर इस मांस को पचाने के लिए मदिरा पीनी चाहिए और फिर मदिरापान और मांस भक्षण में संतुलन रखने के लिए गधे की तरह घोर परिश्रम करने के लिए प्रचुर संभोग भी करना चाहिए।

पशु-वध की दो विधियाँ हैं। एक धार्मिक यज्ञों के नाम पर पशु-वध किया जाता है। बौद्ध धर्म को छोड़कर संसार के सारे धर्मों में पूजा के निमित्त पशुओं के वध किये जाने की व्यवस्था है। वैदिक सभ्यता के अनुसार मांसाहारियों को कतिपय विधि-विधानों के अनुसार कालीमन्दिर में बकरे की बलि देने की छूट है, जिसके मांस को खाया जा सकता है। इसी प्रकार चण्डिका देवी की पूजा करके सुरा पीने का भी विधान है। इसका उद्देश्य प्रतिबन्ध है, किन्तु लोगों ने सारे प्रतिबन्धों को तिलांजलि दे दी है। वे नियमित रूप से मद्यशालाएँ तथा कसाईघर खोलते जा रहे हैं और मद्यपान तथा मांसाहार करते रहते हैं। नारद मुनि जैसे वैष्णव आचार्य को ज्ञात था कि धर्म के नाम पर पशुओं का वध करने वाले जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ते रहते हैं और जीवन के असली उद्देश्य जो परम-धाम को वापस जाना है, उसका भूल जाते हैं।

इस प्रकार महर्षि नारद जब व्यास मुनि को *श्रीमद्भागवत* का उपदेश दे रहे थे तो उन्होंने वेदों में

वर्णित कर्मकाण्ड विधियों की भर्त्सना की। उन्होंने व्यास से कहा—

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः

स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।

यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो

न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥

''सामान्यतः लोगों में भोग की सहज प्रवृत्ति होती है और तुमने तो धर्म के नाम पर उन्हें ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया है। यह गर्हित और निष्प्रयोजनीय है। चूँकि वे तुम्हारे आदेशों से निर्देशित होते हैं, वे ऐसे कार्यों को धर्म के नाम पर स्वीकार करेंगे और वर्जनाओं की तनिक भी परवाह नहीं करेंगे (भागवत १.५.१५)।''

श्रील नारद ने व्यासदेव को अनेक उपवेदों का संकलन करने के लिए धिक्कारा है, जो साधारण मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए हैं। नारद ने इनकी भर्त्सना की है, क्योंकि इनमें सीधी भक्ति का नामोल्लेख भी नहीं है। नारद के ही आदेशों पर व्यासदेव ने भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा का विधान किया जिसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। निष्कर्ष यह है कि न तो भगवान् विष्णु, न ही उनका भक्त धर्म के नाम पर पशुवध की अनुमति देता है। निस्सन्देह, धर्म के नाम पर पशुवध को समाप्त करने के उद्देश्य से ही कृष्ण ने भगवान् बुद्ध के रूप में अवतार लिया। तमोगुण के प्रभाव से ही धर्म के नाम पर पशुवध किया जाता है जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.३१-३२) में इंगित किया गया है—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

''हे पार्थ! वह अपूर्ण बुद्धि राजसी है, जो धर्म तथा अधर्म, करणीय तथा अकरणीय में अन्तर नहीं कर पाती। जो बुद्धि अधर्म को धर्म तथा धर्म को अधर्म मानती है और मोह तथा अंधकार में रहकर सदैव विपरीत दिशा में लगी रहती है, उसे तामसी बुद्धि कहते हैं।''

जो तमोगुणी हैं, वे पशुओं के वध के लिए धार्मिक प्रणालियाँ गढ़ते हैं। वास्तव में धर्म दिव्य है।

जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा है, हमें समस्त धर्मों का परित्याग करके उन्हीं की शरण में जाना चाहिए (*सर्वधर्मान्परित्यज्य*)। इस प्रकार भगवान्, उनके भक्त तथा प्रतिनिधि सभी दिव्य धर्म की शिक्षा देते हैं, जिसमें पशुवध के लिए कोई स्थान नहीं है। सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस समय भारत में अनेक तथाकथित मिशनरी धर्म के नाम पर अधर्म फैला रहे हैं। वे सामान्य व्यक्ति को ईश्वर मानते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को, जिसमें तथाकथित संन्यासी भी सम्मिलित हैं, मांस खाने को कहते हैं।

युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य कुटुम्बासक्तचेतसः ।
आससाद स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

युक्तेषु—उपयोगी कर्मों में; एवम्—इस प्रकार; प्रमत्तस्य—असावधान रहकर; कुटुम्ब—परिवार के प्रति; आसक्त—अनुरक्त; चेतसः—चेतना; आससाद—आ गया; सः—वह; वै—निश्चय ही; कालः—मृत्यु, समय; यः—जो; अप्रियः—अच्छा न लगने वाला; प्रिय-योषिताम्—जो पुरुष स्त्रियों में अनुरक्त रहते हैं, उनके लिए।

इस प्रकार राजा पुरञ्जन कर्मकाण्ड में तथा अपने परिवार के प्रति अनुरक्त रहकर और दूषित चेतना होने से अन्ततः ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया जिसे भौतिक वस्तुओं में बुरी तरह अनुरक्त लोग बिल्कुल नहीं चाहते।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रिययोषिताम्* तथा *अप्रियः* अत्यन्त सार्थक शब्द हैं। *योषित्* का अर्थ है "स्त्री" और प्रिय का अर्थ है "प्यारा" या "मनभावन।" मृत्यु उन्हें प्रिय नहीं लगती जो भौतिक सुख के प्रति अधिक अनुरक्त रहते हैं और जिसका अन्त संभोग में होता है। इस प्रसंग में एक अत्यन्त शिक्षाप्रद कहानी है। एक बार एक साधु पुरुष मार्ग पर जा रहा था, तो उसे एक राजकुमार मिला। उसने उसे यह कह कर आशीर्वाद दिया, "राजकुमार! तुम सदा जीते रहो।" फिर उसे एक अन्य साधु पुरुष मिला तो उससे उसने कहा, "चाहो तो जिओ या मरो।" फिर उसे एक ब्रह्मचारी भक्त मिला तो उसे आशीर्वाद दिया, "हे भक्त! तुम तुरन्त मर जाओ।" अन्त में उसे एक शिकारी मिला। उसने कहा, "न तो जिओ, न मरो।" बात ऐसी है कि जो लोग कामी हैं और इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं, वे मरना नहीं चाहते। सामान्य रूप से राजकुमार के पास इन्द्रियभोग के लिए पर्याप्त धन होता है, इसीलिए साधु ने कहा कि तुम सदा जीते रहो, क्योंकि जब तक वह जीवित रहेगा सुख भोगेगा और मरने के बाद नरक जाएगा। चूँकि ब्रह्मचारी भक्त तपस्वी जीवन बिता रहा था जिससे कि वह भगवान् के धाम जाए, इसलिए साधु पुरुष ने उसे आशीर्वाद दिया कि वह तुरन्त मर जाए जिससे वृथा श्रम करते रहना न पड़े

और वह भगवद्धाम जा सके। साधु पुरुष चाहे मरे या जीवित रहे क्योंकि जीवन के दौरान वह भगवान् की सेवा में लगा है और मृत्यु के बाद भी वह भगवान् की सेवा ही करेगा उसका अत: वर्तमान जीवन तथा अगला जीवन एक सा ही है क्यो्कि वह दोनों प्रकार से भगवान् की सेवा करता है। चूँकि शिकारी पशुओं के वध का जघन्य कार्य करता है और चूँकि मरने पर वह नरक जायेगा, इसीलिए उसे उपदेश दिया गया कि वह चाहे जिये या मरे।

अन्त में राजा पुरञ्जन को बुढ़ापा आ गया। बुढ़ापे में इन्द्रियाँ शिथिल पड़ने लगती हैं और यद्यपि वृद्धपुरुष इद्रियों को भोगना चाहता है, विशेष रूप से विषयसुख, किन्तु ऐसा करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि इन्द्रियाँ साथ नहीं दे पातीं। ऐसे कामी पुरुष कभी मरना नहीं चाहते। ऐसे लोग निरन्तर जीवित रहना तथा तथाकथित वैज्ञानिक विधि से अपने जीवन को बढ़ाना चाहते हैं। कुछ मूर्ख रूसी विज्ञानी भी दावा करते हैं कि वैज्ञानिक प्रगति से वे मनुष्य को अमर बनाने जा रहे हैं। ऐसे ही सिरफिरों के नेतृत्व में सभ्यता आगे बढ़ रही है। किन्तु निर्मम मृत्यु इन सबों को समेट लेती है, यद्यपि वे सदा जीवित रहना चाहते हैं। हिरण्यकशिपु में ऐसी ही प्रवृत्ति देखने को मिलती है, किन्तु जब समय आ गया तो भगवान् ने स्वयं क्षण-भर में उसका अन्त कर दिया।

चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप ।
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

चण्डवेगः—चण्डवेग; इति—इस प्रकार; ख्यातः—विख्यात; गन्धर्व—गन्धर्वलोक का वासी; अधिपतिः—राजा; नृप—हे राजा; गन्धर्वाः—अन्य गन्धर्व; तस्य—उसके; बलिनः—अत्यन्त बलशाली सैनिक; षष्टि—साठ; उत्तर—अधिक; शत—सौ; त्रयम्—तीन।

हे राजन्, गन्धर्वलोक में चण्डवेग नाम का एक राजा है। उसके अधीन ३६० अत्यन्त शक्तिशाली गन्धर्व सैनिक हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर आलंकारिक ढंग से काल का वर्णन चण्डवेग के रूप में हुआ है। क्योंकि समय और ज्वार किसी की प्रतीक्षा नहीं करते, यहां काल को चण्डवेग कहा गया है, जिसका अर्थ होता है, ‘‘अत्यन्त तेजी से गुजरने वाला।’’ ज्यों-ज्यों काल बीतता है इसकी गणना वर्षों के रूप में की जाती है। एक वर्ष में ३६० दिन होते हैं और चण्डवेग के सैनिकों की भी संख्या इस श्लोक में इतनी ही बताई गई है। समय तेजी से बीतता है और चण्डवेग के सैनिक हमारे जीवन-दिनों को तेजी से लेते

जाते हैं। ज्योंही सूरज उदय तथा अस्त होता है हमारी जीवन-अवधि घटती जाती है। इस प्रकार एक दिन बीतने के साथ ही हमारे जीवन का एक दिन चला जाता है। इसीलिए कहा गया है कि जीवन की अवधि को बचा के नहीं रखा जा सकता। किन्तु यदि मनुष्य भक्ति में लग जाता है, तो सूर्य उससे समय को छीन नहीं सकता। जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* (२.३.१७) में कहा गया है—*आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ।* तात्पर्य यह कि यदि कोई अमर होना चाहता है, तो उसे इन्द्रियतृप्ति त्याग देनी चाहिए। भक्ति में लगने से मनुष्य क्रमशः भगवान् के नित्य धाम में प्रवेश कर सकता है।

कभी-कभी मृगतृष्णा तथा अन्य भ्रमपूर्ण वस्तुओं को गन्धर्व कहा जाता है। हमारी जीवन अवधि (आयु) की क्षति को हमारी बढ़ती आयु कहा जाता है; इस प्रकार जीवन के दिनों का बिना देखे अप्रत्यक्ष रूप से व्यतीत होना आलंकारिक ढंग से गंधर्व के रूप में वर्णित है। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया जायेगा, ये गन्धर्व स्त्री तथा पुरुष दोनों होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अदृश्य रूप से कालवश अपनी आयु खोते हैं जिसे यहाँ पर चण्डवेग के रूप में वर्णित किया गया है।

गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः ।
परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

गन्धर्व्यः—गन्धर्विनियाँ; **तादृशीः**—उसी प्रकार; **अस्य**—चण्डवेग की; **मैथुन्यः**—मिथुन की संगिनी; **च**—भी; **सित**—श्वेत; **असिताः**—श्याम; **परिवृत्त्या**—घेरे हुए; **विलुम्पन्ति**—लूटती हैं; **सर्व-काम**—सभी प्रकार की इच्छित वस्तुएँ; **विनिर्मिताम्**—बनी हुई।

चण्डवेग के साथ-साथ गंधर्विनियों की संख्या सैनिकों के ही समान थी और वे बारम्बार इन्द्रियसुख की सारी सामग्री लूट रही थीं।

तात्पर्य : दिनों की तुलना चण्डवेग के सैनिकों से की गई है। सामान्यतः रात्रि विषयसुख का समय होता है। दिन श्वेत माने जाते हैं और रात्रियाँ श्याम, या दूसरी दृष्टि से रात्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—श्याम तथा श्वेत। ये दिन तथा रातें मिलकर दोनों हमारी आयु को तथा हम जो कुछ इन्द्रिय तृप्ति के लिए बनाते है, उसे क्षीण करते हैं। भौतिक कर्म का अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुओं का निर्माण। विज्ञानी शोध में रत हैं कि हम अपनी इन्द्रियों की तुष्टि किस प्रकार अधिक से अधिक कर सकते हैं। इस कलियुग में इन्द्रियतृप्ति की क्रिया को सुविधाजनक बनाने के लिए नाना प्रकार के यंत्र

बनाये जा रहे हैं। विभिन्न घरेलू कार्यों के लिए अनेक यंत्र बन चुके हैं—यथा आजकल बर्तन धोने, फर्श साफ करने, दाढ़ी बनाने, बाल बनाने, इन सबके लिए मशीनें हैं। इन्द्रियतृप्ति की ये सारी सुविधाएँ इस श्लोक में *सर्व-काम-विनिर्मिताम्* के रूप में वर्णित हैं। किन्तु काल इतना प्रबल है कि न केवल हमारी आयु क्षीण होती जाती है, वरन् इन्द्रियतृप्ति की सारी मशीनें तथा सुविधाएँ भी क्षीण होती जाती हैं। इसीलिए इस श्लोक में *विलुम्पन्ति* (लुट रहे हैं) शब्द का प्रयोग हुआ है। हमारे जीवन के प्रारम्भ से ही हर वस्तु लूटी जा रही है।

हमारी वस्तुओं तथा हमारी आयु की यह लूट हमारे जन्म लेने के दिन से ही चालू है। एक दिन आयेगा जब मृत्यु सबका सफाया कर देगी और जीव को जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ करने के लिए नये शरीर में प्रवेश करना होगा और भौतिक भोग के इस चक्र को फिर से युद्ध करना होगा। प्रह्लाद महाराज इस क्रिया को *पुन: पुनश्चर्वितचर्वणानाम्* (भागवत ७.५.३०) कहते हैं। भौतिक जीवन का अर्थ ही चर्वितचर्वण होता है। भौतिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु इन्द्रियतृप्ति है। विभिन्न शरीरों में जीव विविध इन्द्रियों का भोग करता है और विभिन्न सुविधाएँ जुटा कर वह चर्वितचर्वण करता है। चाहे हम गन्ने को अपने दाँतों से चूसें या मशीन से, बात एक ही है—गन्ने का रस मिलता है। हम गन्ने से रस निकालने की अनेक युक्तियाँ निकाल सकते हैं, किन्तु परिणाम वही रहता है।

ते चण्डवेगानुचरा: पुरञ्जनपुरं यदा ।
हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत्प्रजागर: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे सब; चण्डवेग—चण्डवेग के; अनुचरा:—सेवक; पुरञ्जन—राजा पुरञ्जन की; पुरम्—पुरी, शहर को; यदा—जब; हर्तुम्—लूटना; आरेभिरे—प्रारम्भ किया; तत्र—वहाँ; प्रत्यषेधत्—रक्षा किया; प्रजागर:—बड़े सर्प ने।

जब राजा गन्धर्वराज (चण्डवेग) तथा उसके सेवक पुरञ्जन की नगरी को लूटने लगे तो पाँच फनों वाले एक सर्प ने नगरी की रखवाली करनी शुरू कर दी।

तात्पर्य : जब मनुष्य सोता है, तो विभिन्न स्वप्नों में प्राण सक्रिय रहता है। सर्प के पाँच फन सूचित करते हैं कि प्राण पाँच प्रकार की वायुओं से घिरा है—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। जब शरीर निष्क्रिय होता है, तो प्राण सक्रिय रहता है। पचास वर्ष की आयु तक मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए क्रियाशील रहता है, किन्तु इसके बाद शक्ति घटने लगती है, यद्यपि अधिक बल लगाकर वह दो या

तीन वर्ष और—अधिक से अधिक पचपन वर्ष तक–कार्य कर सकता है। इसीलिए सरकारी नियमों में अवकाश प्राप्त करने की आयु पचपन वर्ष ही है। पचास वर्ष के बाद शक्ति जिस प्रकार क्षीण होती है उसे आलंकारिक रूप से यहाँ पर पाँच फन वाले सर्प के रूप में दिखाया गया है।

स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः ।
पुरञ्जनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युयुधे बली ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; सप्तभिः—सात; शतैः—सौ से; एकः—अकेले; विंशत्या—बीस सहित; च—भी; शतम्—सौ; समाः—वर्ष; पुरञ्जन—राजा पुरञ्जन का; पुर-अध्यक्षः—नगर की रखवाली करने वाला; गन्धर्वैः—गन्धर्वों से; युयुधे—युद्ध किया; बली—अत्यन्त वीर।

वह पाँच फनों वाला सर्प, जो राजा पुरञ्जन की पुरी का रक्षक था, गन्धर्वों से एक सौ वर्षों तक लड़ता रहा। वह उनसे अकेला ही लड़ा यद्यपि उनकी संख्या ७२० थी।

तात्पर्य : ३६० दिन तथा ३६० रातें मिलकर चण्डवेग (काल) के ७२० सैनिक हैं। मनुष्य को इन सैनिकों से जन्म के प्रारम्भ के लेकर मृत्यु पर्यन्त लड़ना पड़ता है। यह जीवन-संघर्ष कहलाता है। इतने संघर्ष के बाद भी जीवात्मा मरता नहीं। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.२०) में पुष्टि की गई है यह जीवात्मा शाश्वत है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

"आत्मा के लिए न तो कभी जन्म है न कभी मृत्यु। एक बार जन्म लेकर वह कभी मरता नहीं। वह अजन्मा, शाश्वत, न मरने वाला तथा पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर उसका वध नहीं होता।" वास्तव में जीवात्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है, किन्तु उसे जीवन-भर प्रकृति के कठोर नियमों से संघर्ष करना पड़ता है। उसे अनेक कष्ट भी उठाने पड़ते हैं। इतना होते हुए भी जीवात्मा मोहवश सोचता है कि इन्द्रियतृप्ति के लिए वह ठीक से रह रहा है।

क्षीयमाणे स्वसम्बन्धे एकस्मिन्बहुभिर्युधा ।

चिन्तां परां जगामार्तः सराष्ट्रपुरबान्धवः ॥ १७॥

शब्दार्थ

क्षीयमाणे—कमजोर पड़ने पर; स्व-सम्बन्धे—उसके अभिन्न मित्र; एकस्मिन्—अकेला; बहुभिः—अनेक वीरों के साथ; युधा—युद्ध द्वारा; चिन्ताम्—चिन्ता; पराम्—अत्यधिक, परम; जगाम—प्राप्त किया; आर्तः—दुखी होकर; स—सहित; राष्ट्र—राज्य के; पुर—नगरी के; बान्धवः—मित्र तथा सम्बन्धी।

चूँकि उसे अकेले इतने सैनिकों से लड़ना था, जो सारे के सारे महावीर थे, अतः पाँच फनों वाला सर्प क्षीण पड़ने लगा। यह देखकर कि उसका अभिन्न मित्र क्षीण पड़ रहा है, राजा पुरञ्जन तथा उस नगरी में रहने वाले उसके सारे मित्र तथा नागरिक अत्यन्त चिन्तित हो उठे।

तात्पर्य : जीव तो शरीर के भीतर निवास करता है और शरीर के अंगों से अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है, जिन्हें यहाँ पर नागरिक तथा मित्र की संज्ञा प्रदान की गई है। कोई मनुष्य अनेक सैनिकों से अकेला कुछ काल तक लड़ता रह सकता है, किन्तु सदा के लिए नहीं। शरीर के भीतर जीव सौ वर्षों तक सही ढंग से लड़ता रह सकता है, किन्तु इसके बाद नहीं। इसके बाद जीव घुटने टेक देता है। इस प्रसंग में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत द्दष्टव्य है—*वृद्ध काल आओल सब सुख भागल।* जब मनुष्य बूढ़ा हो जाता है, तो भौतिक सुख भोग पाना कठिन हो जाता है। सामान्यतः लोग सोचते हैं कि धर्म तथा धर्मनिष्ठा जीवन के अन्त समय आते हैं और उस समय लोग अधिक ध्यानमग्न रहने लगते हैं तथा ध्यान के नाम पर यौगिक अभ्यास करते हैं। किन्तु जिन लोगों ने इन्द्रियतृप्ति में जीवन बिताया है उनके लिए ध्यान बहकावा है। जैसाकि *भगवद्‌गीता* के छठे अध्याय में कहा गया है कि ध्यान (धारणा) कठिन होता है और इसे युवावस्था से सीखना होता है। ध्यान धरने के लिए आवश्यक है कि सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति से विमुख रहा जाय। दुर्भाग्यवश ध्यान उन लोगों के लिए फैशन बन गया हो जो विषय-वासनाओं में अत्यधिक लिप्त रहते हैं। जीवन के लिए संघर्ष करते रहने से ऐसे ध्यान का कोई अर्थ नहीं रह जाता। कभी-कभी ऐसी ध्यान विधियाँ आध्यात्मिक ध्यान के लिए होती है। जीव रूपी राजा पुरञ्जन ने, जीवन-संघर्ष से ऊब कर अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों सहित दिव्य ध्यान की शरण ली।

स एव पुर्यां मधुभुक्पञ्चालेषु स्वपार्षदैः ।
उपनीतं बलिं गृह्णन्स्त्रीजितो नाविदद्भयम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निश्चय ही; पुर्याम्—नगरी के भीतर; मधु-भुक्—विषयी जीवन भोगते हुए; पञ्चालेषु—अपने राज्य पञ्चाल में (पाँच विषय); स्व-पार्षदैः—अपने पार्षदों सहित; उपनीतम्—लाया जाकर; बलिम्—कर; गृह्णन्—स्वीकार करके; स्त्री-जितः—स्त्रियों के वश में हुआ; न—नहीं; अविदत्—समझ सका; भयम्—मृत्यु भय को।

राजा पुरञ्जन पञ्चाल नामक नगरी से कर एकत्र करता और विषय-भोग में लगा रहता। स्त्रियों के पूरी तरह वश में होने से वह समझ ही नहीं पाया कि उसका जीवन बीता जा रहा है और वह मृत्यु के निकट पहुँच रहा है।

तात्पर्य : सरकारी व्यक्ति जिनमें राजा, राष्ट्रपति, सचिव तथा मंत्री सम्मिलित हैं, संचित किये जाने वाले कर का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि कलियुग में राज्य के सारे कर्मचारी (*राजन्य*) तथा वे जो सरकार से सम्बन्धित हैं और उच्चमंत्री, सचिव तथा राष्ट्रपति केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए कर एकत्र करेंगे। सरकार का खर्च अधिक होता है और कर में वृद्धि किये बिना सरकारें चल नहीं सकतीं। जब कर एकत्र हो जाता है, तो उसका उपयोग सरकारी अफसरों की इन्द्रियतृप्ति के लिए होता है। ऐसे गैरजिम्मेदार अफसर यह भूल जाते हैं कि एक समय ऐसा आयेगा जब मृत्यु आकर उनके सारे इन्द्रियसुख को अपने साथ लेती जायेगी। कुछ लोगों का विश्वास है कि जीवन के पश्चात् सब कुछ नष्ट हो जाता है। यह नास्तिकता का सिद्धान्त बहुत समय पूर्व चार्वाक नामक दार्शनिक ने चलाया था। उसने कहा था कि मनुष्य को चाहिए कि माँग कर, उधार लेकर अथवा चुराकर ठाठ से रहे। उसने यह भी कहा था कि मनुष्य को मृत्यु, अगले जीवन, विगत जीवन या अपवित्र जीवन से भयभीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि शरीर के जल जाने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। यह दर्शन उन लोगों का है, जो भौतिकता में लिप्त रहने के अत्यधिक आदी हैं। ऐसे दार्शनिक विचारों से कोई न तो मृत्यु के भय से बच सकता है और न अगले घृणित जन्म से बचा रह पाता है।

कालस्य दुहिता काचित्त्रिलोकीं वरमिच्छती ।
पर्यटन्ती न बर्हिष्मन्प्रत्यनन्दत कश्चन ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कालस्य—काल की; दुहिता—कन्या, पुत्री; काचित्—कोई; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों में; वरम्—पति; इच्छती—की आंकाक्षा से; पर्यटन्ती—सारे संसार में घूमती हुई; न—कभी नहीं; बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; प्रत्यनन्दत—प्रस्ताव स्वीकार कर लिया; कश्चन—कोई।

हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, इसी समय काल की कन्या तीनों लोकों में पति की खोज कर रही

थी। यद्यपि उसे ग्रहण करने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ, किन्तु वह घूमती रही।

तात्पर्य : समय बीतने पर जब शरीर वृद्ध हो जाता है, तो एक प्रकार से अक्षम हो जाता है और जरा या बुढ़ापा घेर लेता है। इस संसार में मूलत: चार प्रकार के कष्ट हैं—जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु। न तो कोई विज्ञान, न ही कोई विचारक इन चारों प्रकार के कष्टों का कोई हल प्रस्तुत कर पाया है। यहाँ पर जरा की अक्षमता को आलंकारिक ढंग से काल की कन्या के रूप में व्यक्त किया गया है। यद्यपि उसे कोई नहीं चाहता, किन्तु वह किसी को भी अपना पति बनाने के लिए उत्सुक रहती है। कोई भी वृद्ध तथा अक्षम नहीं बनना चाहता, किन्तु यह सबों के लिए अनिवार्य है।

दौर्भाग्येनात्मनो लोके विश्रुता दुर्भगेति सा ।
या तुष्टा राजर्षये तु वृतादात्पूरवे वरम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दौर्भाग्येन—दुर्भाग्य से; आत्मन: —अपने आप; लोके—संसार में; विश्रुता—विख्यात; दुर्भगा—अत्यन्त भाग्यहीन; इति—इस प्रकार; सा—वह; या—जो; तुष्टा—संतुष्ट होकर; राज-ऋषये—महान् राजा को; तु—लेकिन; वृता—स्वीकार होकर; अदात्—दे दिया; पूरवे—राजा पूरु को; वरम्—वर।

काल की कन्या (जरा) बड़ी अभागिन थी। फलत: लोग उसे दुर्भगा कहते थे। किन्तु एक बार वह एक महान् राजा पर प्रसन्न हो गई और चूँकि राजा ने उसे स्वीकार कर लिया था, इसलिए उसने उसे वरदान दिया।

तात्पर्य : जैसाकि भक्ति विनोद ठाकुर गाते हैं—*सब सुख भागल*—बुढ़ापे में सारे सुख लुप्त हो जाते हैं, इसीलिए कोई जरा (बुढ़ापा) को पसन्द नहीं करता। काल की कन्या के रूप में जरा को अत्यन्त हतभाग्या कहा जाता है। किन्तु एक बार राजा ययाति ने इसे स्वीकार किया था। ययाति के श्वसुर शुक्राचार्य ने शाप दिया था कि वह उसे स्वीकार करे। जब शुक्राचार्य की कन्या राजा ययाति को ब्याही गई तो उसके साथ शर्मिष्ठा नामक उसकी सहेली भी उसके साथ गई। बाद में राजा ययाति शर्मिष्ठा पर अत्यधिक आसक्त हो गये तो शुक्राचार्य की कन्या ने अपने पिता से शिकायत की। फलत: शुक्राचार्य ने राजा ययाति को समय से पूर्व वृद्ध होने का शाप दे दिया। राजा ययाति के पाँच तरुण पुत्र थे और उसने अपने पाँचों पुत्रों से बुढ़ापे के बदले अपना यौवन देने की विनती की। केवल सबसे छोटा पुत्र पुरु इसके लिए राजी हुआ। ययाति का बुढ़ापा स्वीकार करने पर उसे सारा राजपाट मिल गया। कहा जाता है कि ययाति के दो अन्य पुत्रों को, जो आज्ञाकारी नहीं थे, भारत के बाहर, सम्भवत:

तुर्की तथा ग्रीस के राज्य दिये गये। तात्पर्य यह कि मनुष्य सभी प्रकार की सम्पत्ति तथा वैभव एकत्र कर सकता है, किन्तु बुढ़ापे में कोई उसका भोग नहीं कर पाता। यद्यपि पुरु को अपने पिता का सारा राज्य प्राप्त हुआ था, किन्तु वह सारे वैभव का उपभोग नहीं कर पाया, क्योंकि उसने अपने यौवन को अर्पित कर दिया था। मनुष्य को कृष्णभक्त बनने के लिए बुढ़ापे की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। बुढ़ापे की अशक्तता के कारण, कोई कितना भी धनवान क्यों न हो, कृष्णभक्ति में प्रगति नहीं कर पाता।

कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम् ।
वव्रे बृहद्व्रतं मां तु जानती काममोहिता ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—एक बार; अटमाना—घूमती हुई; सा—वह; ब्रह्म-लोकात्—ब्रह्मलोक से; महीम्—पृथ्वी पर; गतम्—आ कर; वव्रे—प्रस्ताव रखा; बृहत्-व्रतम्—नैष्ठिक ब्रह्मचारी; माम्—मुझको; तु—तब; जानती—जानते हुए; काम-मोहिता—कामासक्त।

एक बार जब मैं सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक से इस पृथ्वी पर आ रहा था, तो संसार भर का भ्रमण करते हुए काल की कन्या से मेरी भेंट हुई। वह मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी जान कर मुझपर अत्यन्त कामातुर हो गई और उसने प्रस्ताव रखा कि मैं उसे अपना लूँ।

तात्पर्य : नारद मुनि *नैष्ठिक ब्रह्मचारी* थे अर्थात् वे विषयी जीवन से आजीवन विमुख रहे। फलत: वे परम तरुण थे। उन पर जरा का कोई प्रभाव न था। बुढ़ापे (जरा) की अशक्तता सामान्य मनुष्य को व्याप सकती है, किन्तु नारद मुनि तो सर्वथा भिन्न थे। तो भी नारद मुनि को सामान्य व्यक्ति समझ कर काल-कन्या ने उनके सामने अपनी कामेच्छा व्यक्त की। स्त्री के आकर्षण से विरत होने के लिए अगाध शक्ति की आवश्यकता होती है। बूढ़े लोगों के लिए भी ऐसा कर पाना कठिन हो तो युवकों के लिए क्या कहा जाये! जो लोग ब्रह्मचारी के रूप में रहते हैं उन्हें नारद मुनि के चरणचिह्नों पर चलना चाहिए, जिन्होंने जरा के प्रस्ताव को कभी भी स्वीकार नहीं किया। जो लोग कामवासना के प्रति अत्यन्त लिलायित रहते हैं, वे जरा के शिकार बनते हैं और शीघ्र ही उनकी आयु क्षीण हो जाती है। जो मनुष्य जीवन का उपयोग कृष्णभक्ति के लिए नहीं कर पाते वे जरा के शिकार होकर इस संसार में बहुत जल्दी मर जाते हैं।

मयि संरभ्य विपुलमदाच्छापं सुदु:सहम् ।

स्थातुमर्हसि नैकत्र मद्याच्ञाविमुखो मुने ॥ २२॥

शब्दार्थ

मयि—मुझको; संरभ्य—क्रुद्ध होकर; विपुल—अपार; मदात्—मोहवश; शापम्—शाप; सु-दु:सहम्—असहनीय; स्थातुम् अर्हसि—रुकना चाहोगे; न—कभी नहीं; एकत्र—एक स्थान में; मत्—मेरी; याच्ञा—याचना; विमुख:—नकार कर; मुने—हे मुनि।

महर्षि नारद ने आगे कहा : जब मैंने उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी तो वह मुझपर अत्यन्त क्रुद्ध हुई और मुझे घोर शाप देने लगी। चूँकि मैंने उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी थी, अत: उसने कहा कि तुम किसी एक स्थान पर अधिक काल तक टिक नहीं सकोगे।

तात्पर्य : नारद मुनि को दिव्य देह प्राप्त थी; अत: उन पर जरा, रोग, जन्म तथा मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। नारद भगवान् के सर्वाधिक दयावान भक्त हैं और उनका एकमात्र कार्य है सारे ब्रह्माण्ड में विचरण करना तथा भगवद्भक्ति का उपदेश करना। दूसरे शब्दों में, उनका एकमात्र कार्य हर एक को वैष्णव बनाना है। अत: उन्हें किसी भी स्थान पर उपदेश देने के बाद रुकने की आवश्यता नहीं होती है। चूँकि वे अपने इच्छानुसार पहले से सारे विश्व का विचरण करते रहते हैं, इसलिए काल-कन्या का शाप सौभाग्यपूर्ण बताया गया है। नारद मुनि के ही समान अन्य अनेक भक्त विविध ब्रह्माण्डों में भिन्न-भिन्न स्थानों में भगवान् की महिमा का उपदेश करने में लगे हुए हैं। ऐसे महापुरुषों पर भौतिक नियम लागू नहीं होते।

ततो विहतसङ्कल्पा कन्यका यवनेश्वरम् ।
मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

तत:—तत्पश्चात्; विहत-सङ्कल्पा—निराश होकर; कन्यका—काल की कन्या; यवन-ईश्वरम्—अछूतों के राजा को; मया उपदिष्टम्—मेरे द्वारा सूचित; आसाद्य—पास आकर; वव्रे—स्वीकार कर लिया; नाम्ना—नामक; भयम्—भय; पतिम्—पति रूप में।

इस प्रकार जब वह मेरी ओर से निराश हो गई तो मेरी अनुमति से वह यवनों के राजा के पास गई जिसका नाम भय था और उसे ही अपने पति रूप में स्वीकार कर लिया।

तात्पर्य : परम वैष्णव होने के कारण श्री नारद मुनि अन्यों का हित करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं, भले ही कोई उन्हें शाप ही क्यों न दे रहा हो। यद्यपि काल-कन्या को नारद मुनि ने मना कर दिया था, किन्तु उसे शरण प्रदान की गई। एक वैष्णव के अतिरिक्त ऐसी हतभाग्या कन्या को भला और कौन शरण दे सकता है! जब जरा का आक्रमण होता है, तो हर व्यक्ति क्षुद्र बनकर समाप्त होने लगता

है। नारद मुनि ने काल-कन्या को शरण दी और सामान्य कर्मियों पर करारा प्रहार किया। यदि कोई नारद मुनि के उपदेशों को मानता है, तो उनकी कृपा से भय का सागर हट जाता है।

ऋषभं यवनानां त्वां वृणे वीरेप्सितं पतिम् ।
सङ्कल्पस्त्वयि भूतानां कृतः किल न रिष्यति ॥ २४॥

शब्दार्थ

ऋषभम्—श्रेष्ठ; यवनानाम्—अछूतों में; त्वाम्—तुमको; वृणे—मैं स्वीकार करती हूँ; वीर—हे वीर; ईप्सितम्—वांछित; पतिम्—पति; सङ्कल्पः—दृढ़ निश्चय; त्वयि—तुमको; भूतानाम्—समस्त जीवों का; कृतः—यदि किया गया; किल—निश्चय ही; न—कभी नहीं; रिष्यति—विफल नहीं होता।

यवनों के राजा के पास पहुँचकर काल-कन्या ने उसे वीर रूप में सम्बोधित करते हुए कहा : महाशय, आप अछूतों में श्रेष्ठ हैं। मैं आपको प्रेम करती हूँ और आपको पति रूप में ग्रहण करना चाहती हूँ। मैं जानती हूँ कि यदि कोई आपसे दोस्ती करता है, तो वह निराश नहीं होता।

तात्पर्य : *यवनानाम् ऋषभ* शब्द यवनों के राजा के सूचक हैं। *यवन* तथा *म्लेच्छ* शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होते हैं, जो वैदिक नियमों को नहीं मानते। वैदिक नियमों के अनुसार मनुष्य को प्रातः-काल उठकर स्नान करना चाहिए, हरे कृष्ण का जाप करना चाहिए, अर्चा-विग्रह की मंगल-आरती करनी चाहिए, वैदिक साहित्य पढ़ना चाहिए, प्रसाद ग्रहण करना चाहिए और अर्चा-विग्रह का साज-श्रृंगार करने में लग जाना चाहिए। मनुष्य को मंदिर बनाने के लिए भी धन संग्रह करना चाहिए और यदि वह गृहस्थ है, तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र के निर्दिष्ट कार्य करने चाहिए। इस प्रकार उसे आध्यात्मिक सूझबूझ का जीवन बिताना चाहिए, यही वैदिक सभ्यता है। जो इन सारे नियमों का पालन नहीं करता, वही यवन या म्लेच्छ कहलाता है। हमें इन शब्दों से किन्हीं अन्य देशों की जातियाँ नहीं समझना चाहिए। इनके लिए राष्ट्रीयता कोई सीमा नहीं है—कोई भारत में रहे या बाहर, यदि वह वैदिक नियमों का पालन नहीं करता तो वह *म्लेच्छ* या *यवन* कहलाता है। जो मनुष्य वैदिक नियमों में बताये गये स्वच्छता सम्बन्धी नियमों का पालन नहीं करता उसे अनेक छुआछूत के रोग होते रहते हैं। चूँकि कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में विद्यार्थियों को वैदिक नियम पालन करने की सलाह दी जाती है, इसलिए वे स्वभावतः स्वच्छ रहते हैं।

यदि कोई मनुष्य कृष्णभक्त है, तो वह सत्तर-अस्सी वर्ष का होकर भी तरुण की भाँति कार्य कर सकता है। इस प्रकार काल-कन्या किसी वैष्णव को परास्त नहीं कर सकती। श्रील कृष्णदास

कविराजगोस्वामी जब बहुत बूढ़े हो गये तो उन्होंने *श्रीचैतन्य-चरितामृत* लिखना प्रारम्भ किया, फिर भी उन्होंने भगवान् चैतन्य की लीलाओं के सम्बन्ध में सबसे अधिक आश्चर्यजनक साहित्य प्रस्तुत किया। श्रील रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी ने भी अपने आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ अत्यन्त वृद्धावस्था में किया अर्थात् जब वे अपने वृत्तिपरक कार्य और पारिवारिक जीवन से मुक्त हो चुके थे, फिर भी उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए प्रचुर मूल्यवान साहित्य का सृजन किया। इसकी पुष्टि श्रील श्रीनिवास आचार्य द्वारा गोस्वामियों की प्रशंसा से होती है—

नानाशास्त्रविचारणैकनिपुणौ सद्धर्मसंस्थापकौ
लोकानां हितकारिणौ त्रिभुवने मान्यौ शरण्याकरौ।
राधाकृष्णपदारविन्दभजनानन्देन मत्तालिकौ
वन्दे रूपसनातनौ रघुयुगौ श्रीजीवगोपलकौ॥

"मैं छहों गोस्वामियों—श्री सनातन गोस्वामी, श्री रूप गोस्वामी, श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी, श्री रघुनाथ दास गोस्वामी, श्री जीव गोस्वामी तथा श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी को सादर नमस्कार करता हूँ जो मानवता के कल्याण हेतु शाश्वत धार्मिक नियमों की स्थापना के उद्देश्य से शास्त्रों की छानबीन करते रहते हैं। इस प्रकार उनका तीनों लोकों में सम्मान है और वे शरण लेने योग्य हैं, क्योंकि वे गोपियों के भाव में लीन रहते हैं और राधाकृष्ण की दिव्य सेवा में लगे रहते हैं।"

जरा भक्त को कष्ट नहीं देती, क्योंकि भक्त नारद मुनि के आदेशों तथा संकल्प का अनुसरण करता है। सभी भक्त नारद मुनि की शिष्य-परम्परा में आते हैं, क्योंकि वे नारद के आदेशों के अनुसार—यथा *नारद पञ्चरात्र* अथवा *पाञ्चरात्रिका* विधि के अनुसार अर्चा-विग्रह की पूजा करते हैं। भक्त *पाञ्चरात्रिका-विधि* के साथ *भागवत-विधि* के भी नियमों का पालन करता है। *भागवत-विधि* में उपदेश कार्य भी सम्मिलित है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः।* *पाञ्चरात्रिका* विधि में, *अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनं* सम्मिलित हैं। चूँकि भक्त नारद मुनि के आदेशों का पालन करता है, इसलिए उसे जरा, रोग या मृत्यु का भय नहीं रहता। वह देखने में भले ही वृद्ध लगे, किन्तु वह सामान्य व्यक्ति की भाँति बुढ़ापे से हार नहीं मानता। फलस्वरूप बुढ़ापा भक्त को मृत्यु से भयभीत नहीं बनाता जितना कि सामान्य व्यक्ति मृत्यु से भयभीत रहता है। जब जरा किसी भक्त की शरण ग्रहण करती है, तो काल-कन्या भक्त के भय को

कम कर देती है। भक्त जानता रहता है कि मृत्यु के बाद उसे भगवान् के धाम वापस जाना है, अत: उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। इस प्रकार अधिक उम्र (बुढ़ापा) भक्त को हतोत्साहित न करके उसे निडर बनाती है, जिससे वह सुखी रहता है।

द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ ।
यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो प्रकार के; इमौ—ये; अनुशोचन्ति—पश्चात्ताप करते हैं; बालौ—अज्ञानी; असत्—मूर्ख; अवग्रहौ—पथ का अनुसरण करते हुए; यत्—जो; लोक—प्रथानुसार; शास्त्र—शास्त्रों के अनुसार; उपनतम्—प्रस्तुत; न—कभी नहीं; राति—पालन करता है; न—कभी नहीं; तत्—वह; इच्छति—इच्छा करता है।.

जो लोकरीति के अनुसार अथवा शास्त्रों के आदेशानुसार दान नहीं देता और जो इस प्रकार के दान का ग्रहण नहीं करता, उन दोनों को ही तमोगुणी समझना चाहिए। ऐसे लोग मूर्खों के पथ का अनुसरण करते हैं। निश्चित ही उन्हें अन्त में पछताना पड़ता है।

तात्पर्य : यहाँ इसका उल्लेख है कि यदि कोई वास्तव में शुभ जीवन बिताना चाहता है, तो उसे शास्त्रों का पालन करना चाहिए। *भगवद्गीता* (१६.२३) में इसी को इस प्रकार कहा गया है—

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत: ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

''जो मनुष्य शास्त्रों के आदेशों का उल्लंघन करके मनमाने ढंग से आचरण करता है उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख और न परम धाम।'' जो वैदिक आदेशों का कठोरता से पालन नहीं करता उसे जीवन में सफलता या सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती, भगवान् के धाम वापस जाना तो कोसों दूर की बात है।

एक शास्त्रीय आदेश बताता है कि यदि कोई स्त्री स्वेच्छा से पत्नी बनने का अनुरोध करे तो गृहस्थ, क्षत्रिय या शासक को उसके अनुरोध को ठुकराना नहीं चाहिए। चूँकि नारद मुनि ने काल-कन्या को यवन राजा के प्रति समर्पित होने के लिए निर्दिष्ट किया था, इसलिए यवनराज उसे इनकार नहीं कर सका। सभी कार्यकलाप शास्त्रों के आदेशों के अनुसार सम्पन्न किये जाने चाहिए। शास्त्रीय आदेशों की नारद मुनि जैसे ऋषियों द्वारा पुष्टि की गई है। जैसाकि नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—*साधु शास्त्र गुरु वाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य।* मनुष्य को चाहिए कि साधु पुरुषों, शास्त्रों तथा गुरु के नियमों

पर चले। इस प्रकार जीवन में सफलता अवश्य मिलती है। कालकन्या यवनराज के समक्ष साधु, शास्त्र तथा गुरुसम्मत विधि से ही उपस्थित हुई थी। अत: उसे अस्वीकार किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

अथो भजस्व मां भद्र भजन्तीं मे दयां कुरु ।
एतावान्पौरुषो धर्मो यदार्तानुकम्पते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अथो—अत:; भजस्व—स्वीकार करो; माम्—मुझको; भद्र—हे महाशय; भजन्तीम्—सेवा करने के लिए इच्छुक; मे—मुझको; दयाम्—दया; कुरु—करो; एतावान्—इस तरह के; पौरुष:—किसी पुरुष के लिए; धर्म:—धर्म; यत्—वह; आर्तान्—आर्त को; अनुकम्पते—दयालु है।

काल कन्या ने आगे कहा : हे भद्र, मैं आपकी सेवा के लिए उपस्थित हूँ। कृपया मुझे स्वीकार करके मेरे ऊपर दया करें। पुरुष का सबसे बड़ा कर्तव्य है कि दुखी व्यक्ति पर अनुकम्पा करे।

तात्पर्य : यवनराज चाहता तो काल-कन्या को अस्वीकार कर देता, किन्तु उसने उसकी प्रार्थना पर विचार किया, क्योंकि यह नारद मुनि का आदेश था। इस तरह उसने काल-कन्या को भिन्न रूप में स्वीकार कर लिया। दूसरे शब्दों में, नारद मुनि के आदेश या भक्ति-पथ तीनों लोकों में प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा मान्य है और यवनराज के लिए तो विशेष रूप से। स्वयं भगवान् चैतन्य ने हर एक से संसार के प्रत्येक कोने-कोने में प्रत्येक ग्राम तथा नगर में, भक्तियोग सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए कहा। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के उपदेशकों ने सचमुच अनुभव किया है कि नारद मुनि की *पाञ्चरात्रिका* विधि के बल पर यवनों तथा म्लेच्छों तक ने आध्यात्मिक जीवन स्वीकार किया है। जब मानव जाति चैतन्य महाप्रभु द्वारा बताई गई शिष्य-परम्परा का पालन करेगी तो संसार भर के लोग इससे लाभान्वित होंगे।

कालकन्योदितवचो निशम्य यवनेश्वर: ।
चिकीर्षुर्देवगुह्यं स सस्मितं तामभाषत ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

काल-कन्या—काल की पुत्री द्वारा; उदित—कहे गये; वच:—शब्द; निशम्य—सुनकर; यवन-ईश्वर:—यवनों का राजा; चिकीर्षु:—पालन करने की इच्छा से; देव—विधाता का; गुह्यम्—गुप्त कार्य; स:—उसने; स-स्मितम्—हँसते हुए; ताम्—उसको; अभाषत—सम्बोधित किया।

कालकन्या का कथन सुनकर यवनराज हँसने लगा और विधाता का गुप्त कार्य पूरा करने की युक्ति खोजने लगा। तब उसने काल-कन्या को इस प्रकार सम्बोधित किया।

तात्पर्य : *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (आदि ५.१४२) में कहा गया है—

एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।

यारे यैछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य॥

वास्तव में परम नियन्ता तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, शेष सभी उनके दास है। यवनराज भी श्रीकृष्ण का दास था, अत: वह भी कालकन्या के माध्यम से श्रीकृष्ण का ही कार्य करना चाह रहा था। यद्यपि कालकन्या का अर्थ जरा या बुढ़ापा है, किन्तु यवनराज कालकन्या को सर्वत्र प्रवेश करा कर कृष्ण की सेवा करना चाह रहा था। इस प्रकार जो भी विवेकी पुरुष है, वह बुढ़ापा प्राप्त करने पर काल (मृत्यु) से भयभीत रहेगा। मूर्ख लोग भौतिक कार्यों में इस प्रकार लिप्त रहते हैं मानो वे सदैव जीवित रहेंगे और भौतिक सुख का भोग करेंगे, किन्तु वास्तव में भौतिकता में उन्नति है ही नहीं। मोहवश लोग सोचते हैं कि ऐश्वर्य उनकी रक्षा करेगा, किन्तु भौतिक विज्ञान में काफी प्रगति होने पर भी मानव समाज की समस्याएँ—जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग—जैसी की तैसी बनी हुई हैं। तो भी मूर्ख विज्ञानी सोचते हैं कि उन्होंने भौतिक प्रगति की है। जब कालकन्या अर्थात् बुढ़ापा उन पर आक्रमण करता है, तो वे काल से भयभीत होते हैं यदि वे विवेकी हों। जो अविवेकी हैं, वे मृत्यु की परवाह नहीं करते और न ही इस जीवन में ही यह जानते हैं कि मृत्यु के बाद क्या होने वाला है। उनकी यह भ्रान्त धारण बनी हुई कि मृत्यु के बाद जीवन नहीं है, अत: वे इस जीवन में अत्यन्त गैरजिम्मेदारी से काम करते हैं और निर्बाध होकर विषयसुख भोगते हैं। बुद्धिमान मनुष्य के लिए बुढ़ापे का प्रकट होना आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रेरित करता है। आमतौर से लोग आनेवाली मृत्यु से डरते हैं। यवनराज ने कालकन्या का उपयोग इस कार्य के लिए करना चाहा।

मया निरूपितस्तुभ्यं पतिरात्मसमाधिना ।
नाभिनन्दति लोकोऽयं त्वामभद्रामसम्मताम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; निरूपितः—निश्चित किया गया; तुभ्यम्—तुम्हारे लिए; पतिः—पति; आत्म—मन के; समाधिना—ध्यान से; न—कभी नहीं; अभिनन्दति—स्वागत है; लोकः—लोग; अयम्—ये; त्वाम्—तुमको; अभद्राम्—अशुभ; असम्मताम्—अस्वीकार्य।

यवनराज ने उत्तर दिया: मैंने बहुत सोच-विचार के बाद तुम्हारे लिए एक पति निश्चित किया है। वास्तव में सबों की दृष्टि में तुम अशुभ तथा उत्पाती हो। चूँकि तुम्हें कोई भी पसन्द नहीं करता, अतः तुम्हें कोई पत्नी रूप में कैसे स्वीकार कर सकता है?

तात्पर्य : काफी सोच-विचार के बाद यवनराज ने बुरे अवसर का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहा। काल-कन्या किसी को पसन्द नहीं थी, किन्तु भगवान् की सेवा के लिए हर वस्तु का उपयोग हो सकता है। इसलिए यवनराज ने उसे किसी-न-किसी काम में लगाना चाहा। इस उद्देश्य को पहले ही बताया जा चुका है—जरा रूप में काल-कन्या सभी लोगों में भय उत्पन्न कर सकती है, जिससे वे डर कर श्रीकृष्ण की भक्ति में लगकर अगले जीवन की तैयारी में लग सकें।

त्वमव्यक्तगतिर्भुङ्क्ष्व लोकं कर्मविनिर्मितम् ।
या हि मे पृतनायुक्ता प्रजानाशं प्रणेष्यसि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; अव्यक्त-गतिः—जिसकी गति अलक्षित हो; भुङ्क्ष्व—भोग करो; लोकम्—यह संसार; कर्म-विनिर्मितम्—सकाम कर्मों द्वारा निर्मित; या—जो; हि—निश्चय ही; मे—मेरा; पृतना—सैनिक की; युक्ता—सहायता से; प्रजा-नाशम्—जीवों का संहार; प्रणेष्यसि—बिना बाधा के कर सकोगी।

यह संसार सकाम कर्मों का प्रतिफल है। अतः तुम सभी लोगों पर अलक्षित रह कर आक्रमण कर सकती हो। मेरे सैनिकों के बल की सहायता से तुम बिना किसी विरोध के उनका संहार कर सकती हो।

तात्पर्य : *कर्म विनिर्मितम्* का अर्थ है, "सकाम कर्मों द्वारा निर्मित।" यह समग्र भौतिक जगत, विशेष रूप से आजकल, सकाम कर्मों का प्रतिफल है। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार को सड़कों, मोटरों, बिजली, गगनचुम्बी भवनों, उद्योगों, व्यापारों से अलंकृत करने में व्यस्त है। यह उन व्यक्तियों के लिए अत्यन्त सुखद लगता है, जो इन्द्रियतृप्ति में लगे हैं और आध्यात्मिक स्वरूप से अपरिचित हैं। *श्रीमद्भागवत* (५.५.४) में वर्णन हुआ है कि—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म

यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।

न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-

मसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥

जो आत्मा के ज्ञान से रहित हैं, वे भौतिक कर्मों के पीछे दीवाने रहते हैं और इन्द्रियतृप्ति के लिए पापमय कर्म करते रहते हैं। ऋषभदेव के अनुसार ऐसे कार्य अशुभ हैं, क्योंकि इनसे मनुष्य को अगले जीवन में घृणित देह धारण करनी पड़ती है। यह हम सबका अनुभव है कि शरीर को कितना ही सुखी क्यों न रखा जाये, वह सदैव कष्ट देता रहता है और तीन प्रकार के क्लेशों से घिरता रहता है। अन्यथा इतने सारे अस्पतालों, कल्याण-परिषदों तथा जीवन-बीमा प्रतिष्ठानों की क्या आवश्यकता थी? वास्तविकता तो यह है कि इस संसार में सुख है ही नहीं; लोग दुखों का सामना करने का प्रयत्न कर रहे हैं। मूर्ख लोग दुख को ही सुख मानते हैं, इसलिए यवनराज ने ऐसे लोगों पर अदृश्य रूप में जरा, रोग तथा असामयिक मृत्यु के द्वारा वार करने का निश्चय किया। निस्सन्देह, मृत्यु के पश्चात् जन्म होता है, अतः यवनराज ने ठीक ही सोचा कि वह समस्त कर्मियों को काल-कन्या के माध्यम से मार दे और उन्हें बता दे कि भौतिक प्रगति वास्तव में प्रगति नहीं हैं। प्रत्येक जीव एक आध्यात्मिक जीव है और फलस्वरूप आध्यात्मिक प्रगति के बिना मनुष्य जीवन चौपट हो जाता है।

प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वं च मे भगिनी भव ।
चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रज्वारः—प्रज्वार नामक; अयम्—यह; मम—मेरा; भ्राता—भाई; त्वम्—तुम; च—भी; मे—मेरी; भगिनी—बहिन; भव—बन जाओ; चरामि—मैं विचरण करूँगा; उभाभ्याम्—तुम दोनों के द्वारा; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; अव्यक्तः—अप्रकट; भीम—भयंकर; सैनिकः—सैनिकों सहित।

यवनराज ने कहा : यह मेरा भाई प्रज्वार है। तुम्हें मैं अपनी बहिन के रूप में स्वीकार करता हूँ। मैं तुम दोनों का तथा अपने भयंकर सैनिकों का उपयोग इस संसार के भीतर अदृश्य रूप से करूँगा।

तात्पर्य : नारद मुनि ने कालकन्या को यवनराज के पास इस उद्देश्य से भेजा था कि वह उसकी पत्नी बन जाये, किन्तु यवनराज ने उसे पत्नी के रूप में स्वीकार न करके बहिन के रूप में स्वीकार किया। जो लोग वैदिक नियमों को नहीं जानते वे मनमाना संभोग करते हैं; फलतः कभी-कभी वे अपनी बहिनों तक के साथ संभोग करने में नहीं हिचकते। इस कलियुग में तो ऐसे अनेक उदाहरण

मिलते हैं। यद्यपि यवनराज ने नारद का मान रखने के लिए उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, किन्तु वह लगातार अवैध स्त्री-प्रसंग के विषय में सोचता रहा। इसका कारण यह था कि वह यवनों तथा म्लेच्छों का राजा था।

प्रज्वार: शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ है "भगवान् विष्णु द्वारा भेजा गया ज्वर।" ऐसा ज्वर सदैव १०७ डिग्री पर रहता है, जिस ताप पर मृत्यु हो जाती है। इसीलिए म्लेच्छों तथा यवनों के राजा ने काल-कन्या से प्रार्थना की कि वह उसकी बहिन बन जाये। उसे पत्नी बनने के लिए कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि यवन तथा म्लेच्छ विषयी जीवन में कोई भेदभाव नहीं मानते। इस प्रकार ऊपर से चाहे बहिन हो, माता या पुत्री लगे, फिर भी संभोग कर सकता है। यवनराज का भाई प्रज्वार था और कालकन्या तो साक्षात् अक्षमता थी ही। ये दोनों यवनराज की सेना—गंदगी, अवैध स्त्री-प्रसंग तथा ज्वर के कारण मृत्यु के साथ मिलकर और उससे शक्ति प्राप्त करके भौतिक जीवनशैली को ध्वंस करने में समर्थ थे। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि नारद पर जरा का कोई प्रभाव न था। इसी प्रकार नारद मुनि के सेवक या शुद्ध वैष्णव पर भी जरा आक्रमण नहीं कर सकती।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "राजा पुरञ्जन की नगरी पर चण्डवेग का धावा और कालकन्या का चरित्र" नामक सत्ताईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter अट्ठाईस

अगले जन्म में पुरञ्जन को स्त्री-योनि की प्राप्ति

नारद उवाच
सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन्दिष्टकारिण: ।
प्रज्वारकालकन्याभ्यां विचेरुरवनीमिमाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नारद: उवाच—नारद मुनि ने कहा; सैनिका:—सैनिक; भय-नाम्न:—भय के; ये—जो; बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; दिष्ट-कारिण:—काल की आज्ञा के पालक; प्रज्वार—प्रज्वार; काल-कन्याभ्याम्—तथा कालकन्या सहित; विचेरु:—घूमने लगे; अवनीम्—पृथ्वी पर; इमाम्—इस।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, तत्पश्चात् यवनराज साक्षात् भय, प्रज्वार, काल-कन्या तथा अपने सैनिकों सहित सारे संसार में विचरने लगा।

तात्पर्य : मृत्यु के पूर्व की जीवन-अवस्था अत्यन्त भयावह होती है, क्योंकि प्राय: इसी में

निर्बलता तथा अनेक रोगों का शिकार बनना पड़ता है। शरीर पर आक्रमण करने वाले रोगों की तुलना यहाँ पर सैनिकों से की गई है। ये सैनिक भी कोई साधारण सैनिक नहीं, इनका संचालन यवनराज करता है। *दिष्ट-कारिण:* शब्द सूचित करता है कि वह उनका संचालक है। जब मनुष्य जवान होता है, तो वह बुढ़ापे की परवाह नहीं करता और मन-भर कर स्त्री-संभोग करता है, जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। तब तो वह मृत्यु को बुलाने लगता है। जो मनुष्य युवावस्था में जितना ही स्त्री-संभोग करता है, वह बुढ़ापे में उतना ही कष्ट पाता है।

त एकदा तु रभसा पुरञ्जनपुरीं नृप ।
रुरुधुर्भौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एकदा—एक बार; तु—तब; रभसा—अत्यन्त वेग से; पुरञ्जन-पुरीम्—पुरञ्जन की नगरी को; नृप—हे राजा; रुरुधुः—घेर लिया; भौम-भोग-आढ्याम्—इन्द्रियभोग से परिपूर्ण; जरत्—बूढ़ा; पन्नग—सर्प द्वारा; पालिताम्—सुरक्षित।

एक बार इन भयानक सैनिकों ने पुरञ्जन-नगरी पर बड़े वेग से आक्रमण किया। यद्यपि यह नगरी भोग की सारी सामग्री से परिपूर्ण थी, किन्तु इसकी रखवाली एक बूढ़ा सर्प कर रहा था।

तात्पर्य : इन्द्रियतृप्ति में संलग्न रहने से शरीर दिन प्रतिदिन जर्जर होता जाता है। अन्त में शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि इसकी तुलना बूढ़े सर्प से की जाती है। पहले ही प्राण की तुलना सर्प से की जा चुकी है। जब शरीर के भीतर का प्राण क्षीण होने लगता है, तो शरीर भी क्षीण हो जाता है। इस समय मृत्यु के लक्षण चारों ओर मँडराने लगते हैं—अर्थात् यमराज के भयानक दूत दिखने लगते हैं और घोर आक्रमण करने लगते हैं। वैदिक प्रथा के अनुसार ऐसी अवस्था प्राप्त होने के पूर्व ही मनुष्य को घर छोड़कर ईश्वर के सन्देश का उपदेश करने के लिए आजीवन संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। किन्तु यदि मनुष्य घर पर रहता है और उसकी प्रिया पत्नी तथा पुत्र उसकी सेवा करते हैं, तो इन्द्रिय-तृप्ति के कारण वह निश्चय ही क्षीण होता चला जाता है और जब अन्त में मृत्यु आती है, तो ऐसा मनुष्य अपने पीछे आध्यात्मिक सम्पत्ति विहीन शरीर छोड़ जाता है। वर्तमान समय में तो बूढ़ा से बूढ़ा व्यक्ति भी अपने परिवार को नहीं छोड़ता, वह अपनी पत्नी, बच्चों, धन, ऐश्वर्य, घर इत्यादि से बँधा रहता है। इस प्रकार जीवन के अन्तकाल में मनुष्य को चिन्ता रहती है कि उसकी पत्नी की रक्षा कैसे होगी और वह परिवार को कैसे सँभालेगी। इस प्रकार सामान्यत: मृत्यु के पूर्व लोग अपनी पत्नी के

विषय में सोचते हैं। *भगवद्गीता* के (८.६) अनुसार—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

"मरते समय मनुष्य जिस किसी स्थिति के विषय में स्मरण करता है, उस स्थिति को वह निश्चित रूप से प्राप्त करता है।"

जीवन के अन्तकाल में मनुष्य सोचता है कि सारे जीवन में उसने क्या-क्या किया है और इस तरह जीवन के अन्त में उसके जो भी विचार तथा इच्छाएँ होती हैं उसी के अनुसार उसे दूसरा शरीर (देहान्तर) प्राप्त होता है। जो जीवन-भर घर में ही लिप्त रहता है उसके लिए स्वाभाविक है कि अन्तकाल में अपनी प्राणप्रिया पत्नी के विषय में सोचे। अत: अगले जीवन में उसे स्त्री का शरीर प्राप्त होता है और साथ में उसे पुण्य या पापकर्मों का फल भी मिलता है। इस अध्याय में राजा पुरञ्जन द्वारा स्त्री-देह प्राप्ति के विषय में विस्तार से बताया गया है।

कालकन्यापि बुभुजे पुरञ्जनपुरं बलात् ।
ययाभिभूत: पुरुष: सद्यो नि:सारतामियात् ॥ ३॥

शब्दार्थ

काल-कन्या—काल की पुत्री ने; अपि—भी; बुभुजे—अधिकार कर लिया; पुरञ्जन-पुरम्—पुरञ्जन की नगरी पर; बलात्—बलपूर्वक; यया—जिसके द्वारा; अभिभूत:—चंगुल में फँसकर; पुरुष:—मनुष्य; सद्य:—तुरन्त; नि:सारताम्—निकम्मापन; इयात्—प्राप्त करता है।

धीरे-धीरे कालकन्या ने घातक सैनिकों की सहायता से पुरञ्जन की नगरी के समस्त वासियों पर आक्रमण कर दिया और उन्हें सभी प्रकार से निकम्मा बना दिया।

तात्पर्य : जीवन के अन्त समय जब मनुष्य पर बुढ़ापे का आक्रमण होता है, तो उसका शरीर किसी काम के लायक नहीं रह जाता। इसीलिए वैदिक शिक्षा कहती है कि मनुष्य बचपन में ब्रह्मचर्य का अभ्यास करे अर्थात् वह पूर्ण रूप से भगवान् की सेवा में लगा रहे और स्त्रियों से किसी प्रकार का सम्पर्क न रखे। जब बालक बड़ा होता है और २०-२५ वर्ष का होता है, तो उसका विवाह होता है। समय से विवाह होने पर तुरन्त ही उसके स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट बच्चे उत्पन्न होते हैं। इस समय लड़कियों की संख्या बढ़ रही है, क्योंकि तरुण लोग संभोग के मामले में निर्बल हैं। लड़का (पुत्र) तभी उत्पन्न हो सकता है जब पुरुष का वीर्य स्त्री से प्रबल हो और यदि स्त्री प्रबल हुई तो लड़की उत्पन्न होती है।

अत: यदि कोई विवाह के बाद पुत्र की उत्पत्ति चाहता है, तो उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। पचास वर्ष की आयु प्राप्त होते ही मनुष्य को गृहस्थ जीवन का परित्याग कर देना चाहिए। उस समय तक पुत्र को बड़ा हो जाना चाहिए जिससे परिवार का सारा उत्तरदायित्व उसे सौंपा जा सके। तब पति-पत्नी को विरक्त जीवन बिताने के लिए दूर-दूर तीर्थस्थलों की यात्रा करनी चाहिए। जब पति-पत्नी घर तथा परिवार से विरक्त हो जाते हैं, तो पत्नी अपनी प्रौढ़ सन्तानों के संरक्षण में रहने के लिए घर वापस लौट आती है और गृहस्थी के कार्यों से अलग रहती है। तब पति भगवान् की कुछ सेवा करने के उद्देश्य से संन्यास ले लेता है।

यह सभ्यता की पूर्ण पद्धति है। मनुष्य-जीवन विशेष रूप से ईश्वर-साक्षात्कार के लिए है। यदि कोई जीवन के प्रारम्भ से कृष्णभक्ति नहीं करता तो जीवन के अन्त में उसे स्वीकार कराने का अभ्यास कराना चाहिए। दुर्भाग्यवश न तो बचपन में ऐसी शिक्षा का कोई प्रबन्ध है और न अन्तिम काल में ही कोई अपना परिवार छोड़ पाता है। ऐसी स्थिति है पुरञ्जन की नगरी इस देह की।

तयोपभुज्यमानां वै यवनाः सर्वतोदिशम् ।
द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन्सकलां पुरीम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तया—कालकन्या द्वारा; उपभुज्यमानाम्—अधिकृत; वै—निश्चय ही; यवनाः—यवनगण; सर्वतः-दिशम्—सभी दिशाओं से; द्वार्भिः—द्वारों से; प्रविश्य—घुस कर; सु-भृशम्—अत्यधिक; प्रार्दयन्—कष्ट देते हुए; सकलाम्—सर्वत्र; पुरीम्—नगरी में।

जब कालकन्या ने शरीर पर आक्रमण किया, तो यवनराज के घातक सैनिक विभिन्न द्वारों से नगरी में घुस आये। फिर वे सभी नागरिकों को अत्यधिक कष्ट देने लगे।

तात्पर्य : शरीर में नौ द्वार हैं—दो आँखें, दो नथुने, दो कान, एक मुँह, गुदा तथा शिश्न। जब मनुष्य को बुढ़ापा सताता है, तो शरीर के विभिन्न द्वारों पर रोगों का प्राकट्य होता है। उदाहरणार्थ, आँखों की ज्योति कम पड़ जाती है, जिससे चश्मे की जरूरत पड़ने लगती है और कानों से भी कम सुनाई पड़ने लगता है; अतः सुनने के सहायक यंत्र लगाने पड़ते हैं। नथुने कफ से सट जाते हैं और मनुष्य को सूँघने वाली अमोनिया की शीशी रखनी पड़ती है। इसी प्रकार मुँह के भीतर दाँत ठीक से चबा नहीं सकते, जिससे नकली दाँतों की आवश्यकता पड़ती है। गुदा भी कष्ट देने लगती है और ठीक से शौच नहीं हो पाता। कभी-कभी एनीमा लेना पड़ता है। मूत्र ठीक से न निकलने से कभी-कभी

अन्य सर्जिकल नली व्यवहार में लानी पड़ती है। इस प्रकार से सैनिकों ने पुरञ्जन की नगरी के विभिन्न द्वारों पर धावा बोल दिया। इस प्रकार बुढ़ापे में शरीर के सभी द्वार रोगों से अवरुद्ध हो जाते हैं और मनुष्य को अनेक ओषधियों तथा शल्य उपकरणों की सहायता लेनी पड़ती है।

तस्यां प्रपीड्यमानायामभिमानी पुरञ्जनः ।
अवापोरुविधांस्तापान्कुटुम्बी ममताकुलः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस नगरी के; **प्रपीड्यमानायाम्**—विभिन्न कष्टों में पड़ कर; **अभिमानी**—अत्यधिक लिप्त; **पुरञ्जनः**—राजा पुरञ्जन ने; **अवाप**—प्राप्त किया; **उरु**—अनेक; **विधान्**—प्रकार के; **तापान्**—क्लेश; **कुटुम्बी**—परिवार वाले; **ममता-आकुलः**—परिवार से लगाव के कारण अत्यधिक व्यग्र।

जब इस प्रकार वह नगरी सैनिकों तथा कालकन्या के द्वारा विपदाग्रस्त हो गई तो अपने परिवार की ममता में लिप्त राजा पुरञ्जन यवनराज तथा काल-कन्या के आक्रमण से संकट में पड़ गया।

तात्पर्य : जब हम शरीर का उल्लेख करते हैं, तो उसमें बाहरी स्थूल शरीर के विविध अंग, मन, बुद्धि तथा अहंकार सम्मिलित होते हैं। वृद्धावस्था में ये सब अत्यन्त निर्बल हो जाते हैं जिससे अनेक रोग आ घेरते हैं। शरीर का स्वामी आत्मा ठीक से काम न कर सकने के कारण अत्यन्त दुखी होता है। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि जीवात्मा ही इस शरीर का स्वामी (क्षेत्रज्ञ) है और यह शरीर कर्मभूमि (क्षेत्र) है। जब खेत में तरह-तरह के झाड़झंखाड़ उग आते हैं, तो खेत के स्वामी के लिए कार्य कर पाना कठिन हो जाता है। यही स्थिति आत्मा की हो जाती है, जब शरीर रोग के कारण भार बन जाता है। शरीर के ठीक से काम न करने तथा चिन्ता के कारण शरीर पर अतिरिक्त भार लदता रहता है।

कन्योपगूढो नष्टश्रीः कृपणो विषयात्मकः ।
नष्टप्रज्ञो हृतैश्वर्यो गन्धर्वयवनैर्बलात् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कन्या—कालकन्या के द्वारा; **उपगूढः**—आलिंगित होकर; **नष्ट-श्रीः**—समस्त सौंदर्य से रहित; **कृपणः**—कंजूस; **विषय-आत्मकः**—इन्द्रियतृप्ति में लिप्त; **नष्ट-प्रज्ञः**—बुद्धि से विहीन; **हृत-ऐश्वर्यः**—ऐश्वर्य से वंचित; **गन्धर्व**—गन्धर्वों; **यवनैः**—तथा यवनों द्वारा; **बलात्**—बलपूर्वक।

कालकन्या द्वारा आलिंगन किए जाने से धीरे-धीरे राजा पुरञ्जन का सारा शारीरिक सौंदर्य

जाता रहा। अत्यधिक विषयासक्त होने से उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई और उसका सारा ऐश्वर्य नष्ट हो गया। सभी कुछ खो जाने पर गन्धर्वों तथा यवनों ने उसे बलपूर्वक जीत लिया।

तात्पर्य : जब मनुष्य बुढ़ापे का शिकार हो जाता है, किन्तु फिर भी इन्द्रियतृप्ति में लगा रहता है, तो उसका व्यक्तिगत सौंदर्य, बुद्धि तथा सारी सम्पत्ति क्रमशः नष्ट हो जाती है। इस प्रकार वह कालकन्या के प्रबल आक्रमण को सह नहीं पाता।

विशीर्णां स्वपुरीं वीक्ष्य प्रतिकूलाननादृतान् ।
पुत्रान्पौत्रानुगामात्याञ्जायां च गतसौहृदाम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

विशीर्णाम्—छिन्न-भिन्न; स्व-पुरीम्—अपनी नगरी को; वीक्ष्य—देखकर; प्रतिकूलान्—प्रतिकूल बातें; अनादृतान्—अनादृत होकर; पुत्रान्—पुत्रों को; पौत्र—नाती; अनुग—नौकर; अमात्यान्—मंत्रीगण को; जायाम्—स्त्री को; च—यथा; गत-सौहृदाम्—प्रतिकूल।

तब राजा पुरञ्जन ने देखा कि उसकी नगरी अस्त-व्यस्त हो गई है और उसके पुत्र, पौत्र, नौकर तथा मंत्री सभी क्रमशः उसके विरोधी बनते जा रहे हैं। उसने यह भी देखा कि उसकी पत्नी स्नेहशून्य एवं अन्यमनस्क हो रही है।

तात्पर्य : जब मनुष्य अशक्त हो जाता है, तो उसकी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, अर्थात् वे उसके वश में नहीं रह जातीं। तब इन्द्रियाँ तथा विषय-वस्तुएँ उसका विरोध करना प्रारम्भ कर देती हैं। जब मनुष्य कष्टमय स्थिति में होता है, तो उसके परिवार के सदस्य भी—पुत्र, पौत्र तथा पत्नी तक—अनादर करने लगते हैं। तब वे घर के मालिक के वश में नहीं रहते। जिस प्रकार इन्द्रियतृप्ति के लिए इन्द्रियाँ आवश्यक हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों को बदले में शरीर से शक्ति की आवश्यकता होती है। मनुष्य अपने सुख के लिए परिवार बसाता है। इसी तरह परिवार के सदस्य घर के मुखिया से सुख चाहते हैं। जब उन्हें पर्याप्त धन नहीं मिलता तो उन्हें अरुचि उत्पन्न होती है और वे उसकी आज्ञाओं अथवा इच्छाओं का पालन नहीं करते। यह सब उसकी कृपणता के कारण होता है। *कृपण* शब्द छठे श्लोक में आया है और यह *ब्राह्मण* शब्द के विरोध में आया है। मनुष्य-जीवन पा करके उसे ब्राह्मण बनना चाहिए जिसका अर्थ होता है ब्रह्म की स्वाभाविक स्थिति को समझना और वैष्णव रूप में उसकी सेवा करना। हमें मनुष्य-जीवन में ही यह सुविधा मिलती है और यदि हम इस अवसर का सदुपयोग नहीं कर पाते तो हम कृपण बन जाते हैं। कृपण वह है, जिसके पास धन तो रहता है, किन्तु उसको वह ठीक से

खर्च नहीं करता। यह मनुष्य-जीवन विशेषत: ब्रह्म को समझने तथा ब्राह्मण बनने के लिए मिला है और यदि हम इसका ठीक से उपयोग नहीं करते तो हम कृपण बने रहते हैं। हम वास्तव में देख सकते हैं कि जिस मनुष्य के पास धन होता है, किन्तु वह उसे खर्चता नहीं तो वह कृपण बना रहता है और कभी सुखी नहीं रहता। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि इन्द्रियतृप्ति के कारण भ्रष्ट हो जाती है, वह आजीवन कृपण बना रहता है।

आत्मानं कन्यया ग्रस्तं पञ्चालानरिदूषितान् ।
दुरन्तचिन्तामापन्नो न लेभे तत्प्रतिक्रियाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—अपने आपको; कन्यया—कालकन्या द्वारा; ग्रस्तम्—आलिंगित; पञ्चालान्—पञ्चाल; अरि-दूषितान्—शत्रुओं से दूषित; दुरन्त—अलंघ्य; चिन्ताम्—चिन्ता; आपन्नः—प्राप्त करके; न—नहीं; लेभे—प्राप्त किया; तत्—उसका; प्रतिक्रियाम्—उपाय।

जब राजा पुरञ्जन ने देखा कि उसके परिवार के समस्त प्राणी, उसके सम्बन्धी, अनुचर, दास, मंत्री तथा अन्य सभी उसके विरुद्ध हो गये हैं, तो वह अत्यन्त चिन्तित हुआ। किन्तु उसे इस स्थिति से छूटने का कोई उपाय न दिखाई दिया, क्योंकि वह कालकन्या द्वारा बुरी तरह परास्त कर दिया गया था।

तात्पर्य : जब मनुष्य वृद्धावस्था के कारण निर्बल हो जाता है, तो परिवार के सदस्य, नौकर तथा मंत्रीगण उसकी परवाह नहीं करते। तब वह इसका प्रतिकार करने में समर्थ नहीं रहता, वह अधिकाधिक चिन्तित होता है और अपनी दयनीय स्थिति पर पछताता रहता है।

कामानभिलषन्दीनो यातयामांश्च कन्यया ।
विगतात्मगतिस्नेहः पुत्रदारांश्च लालयन् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कामान्—सुख के साधन; अभिलषन्—अभिलाषा करते हुए; दीनः—बेचारा; यात-यामान्—बासी; च—भी; कन्यया—कालकन्या के प्रभाव से; विगत—खोया हुआ; आत्म-गति—जीवन का असली लक्ष्य; स्नेहः—आसक्ति; पुत्र—पुत्रों; दारान्—पत्नी; च—तथा; लालयन्—दुलारते हुए।

कालकन्या के प्रभाव से विषयभोग की सारी वस्तुएँ बासी पड़ गई थीं। अपनी कामेच्छाओं के बने रहने के कारण राजा पुरञ्जन अत्यन्त दीन बन चुका था। उसे अपने जीवन-लक्ष्य का भी पता न था। वह अब भी अपनी पत्नी तथा बच्चों के प्रति अत्यन्त आसक्त था और उनके पालन

के सम्बन्ध में चिन्तित था।

तात्पर्य : आजकल की सभ्यता की यह सही-सही स्थिति है। प्रत्येक व्यक्ति शरीर, घर तथा परिवार के पालन में लगा हुआ है। फलत: प्रत्येक व्यक्ति जीवन के अन्तिम समय में भ्रमित हो जाता है और उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि आध्यात्मिक जीवन क्या है और जीवन का लक्ष्य क्या है। इन्द्रियतृप्ति की सभ्यता में भला आध्यात्मिक जीवन कैसे चल सकता है! क्योंकि मनुष्य केवल इस जीवन के विषय में सोचता रहता है। यद्यपि अगला जीवन एक तथ्य है, किन्तु उसे इसके विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती।

गन्धर्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दिताम् ।
हातुं प्रचक्रमे राजा तां पुरीमनिकामतः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

गन्धर्व—गन्धर्व सैनिकों; यवन—तथा यवन सैनिकों द्वारा; आक्रान्ताम्—हराया हुआ; काल-कन्या—कालकन्या द्वारा; उपमर्दिताम्—कुचला हुआ; हातुम्—त्यागने के लिए; प्रचक्रमे—बाध्य हुआ; राजा—राजा पुरञ्जन; ताम्—उस; पुरीम्—पुरी को; अनिकामतः—अनिच्छित।

राजा पुरञ्जन की नगरी गन्धर्व तथा यवन सैनिकों द्वारा जीत ली गई और यद्यपि राजा इस नगरी को त्यागना नहीं चाहता था, किन्तु परिस्थितिवश उसे ऐसा करना पड़ा, क्योंकि कालकन्या ने उसे कुचल दिया था।

तात्पर्य : जीव भगवान् की संगति से विलग होकर इस भौतिक जगत को भोगने का प्रयत्न करता है। उसे विशेष प्रकार का शरीर धारण करके, जो ब्रह्मा के शरीर से लेकर सूक्ष्म जीव तक का हो सकता है, इस संसार को भोगने का अवसर प्रदान किया जाता है। उत्पत्ति के वैदिक इतिहास से हमें पता चलता है कि ब्रह्मा पहला प्राणी था जिसने ब्रह्माण्ड की जनसंख्या बढ़ाने के लिए सात ऋषियों तथा प्रजापतियों को उत्पन्न किया। इस प्रकार प्रत्येक जीव अपने विगत कर्म के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त करता है, जो ब्रह्मा से लेकर मल में रहने वाले सूक्ष्मजीवाणु तक का हो सकता है। विशेष प्रकार के शरीर की दीर्घकालीन संगति तथा कालकन्या और माया के अनुग्रह से मनुष्य इस भौतिक शरीर के प्रति अत्यधिक आसक्त हो जाता है, यद्यपि यह शरीर पीड़ा का आगार है। भले ही कोई मनुष्य सूक्ष्म जीव को मल से विलग करने का प्रयास करे, किन्तु वह उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। वह लौटकर फिर मल में जाता है। इसी प्रकार सुअर प्राय: गन्दे स्थानों में रहता है, मल

खाता है और यदि कोई उसे हटाकर स्वच्छ स्थान में रखना चाहे तो वह फिर वहीं लौट आता है। इस प्रकार यदि हम प्रत्येक जीव का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि वह अधिक सुविधाप्रद स्थान में जाने का प्रतिकार करता है। यद्यपि राजा पुरञ्जन पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे थे, किन्तु वह अपनी नगरी को छोड़ने को तैयार न था। दूसरे शब्दों में, जीव चाहे जैसी स्थिति में हो शरीर को त्यागना नहीं चाहता, किन्तु उसे छोड़ना ही पड़ेगा, क्योंकि भौतिक शरीर शाश्वत नहीं है।

जीव इस भौतिक जगत को विविध प्रकार से भोगना चाहता है, इसीलिए प्रकृति के नियम उसे एक शरीर से दूसरे में जाने की छूट देते हैं, जिस प्रकार मनुष्य शिशु से बालक तथा बालक से तरुण और फिर प्रौढ़ के शरीर को प्राप्त करता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। अन्तिम अवस्था में जब शरीर वृद्ध तथा अक्षम हो जाता है, तो जीव इसे छोड़ने में आनाकानी करता है, जब कि यह आगे किसी काम की नहीं रह जाती। यद्यपि यह संसार तथा भौतिक देह आरामदेह नहीं हैं, तो भी जीव इन्हें क्यों नहीं छोड़ना चाहता? ज्योंही मनुष्य को भौतिक देह प्राप्त होती है उसे इसके पालन के लिए कठिन श्रम करना पड़ता है। वह तरह-तरह के कार्यों में जुट जाता है और प्रत्येक दशा में उसे इस शरीर के पालन-हेतु श्रम करना ही पड़ता है। दुर्भाग्यवश समाज को आत्मा के देहान्तर के विषय में जानकारी नहीं है। चूँकि जीवात्मा सच्चिदानन्द रूप के शाश्वत साम्राज्य में प्रवेश करने की आशा नहीं रखता, इसलिए वह वर्तमान शरीर से चिपका रहना चाहता है, भले ही वह व्यर्थ क्यों न हो चुका हो। फलस्वरूप इस संसार में सबसे बड़े कल्याणकार्य कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को आगे बढ़ाना होगा।

यह आन्दोलन मानव-समाज को ईश्वर के धाम के विषय में यह जानकारी प्रदान करता है कि ईश्वर है, कृष्ण हैं और प्रत्येक जीव ईश्वर के पास लौटकर निरन्तर आनन्द तथा ज्ञान में रह सकता है। जो कृष्णभक्त है, वह इस शरीर को त्यागने से भयभीत नहीं रहता, क्योंकि उसकी स्थिति सदैव शाश्वत है। कृष्णभक्त सदैव भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है और शरीर त्यागने के बाद भी भगवान् की सेवा में निरन्तर बना रहा। भक्तजन सदैव मुक्त रहते हैं जबकि कर्मीजन इस जर्जर भौतिक देह को छोड़ने में अत्यधिक भयभीत रहते हैं।

भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः ।

ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भय-नाम्नः—भय नामक; अग्र-जः—बड़ा; भ्राता—भाई; प्रज्वारः—प्रज्वार ने; प्रत्युपस्थितः—वहाँ उपस्थित होकर; ददाह—आग लगा दी; ताम्—उस; पुरीम्—पुरी में; कृत्स्नाम्—पूरी तरह से; भ्रातुः—अपने भाई को; प्रिय-चिकीर्षया—प्रसन्न करने के लिए।

ऐसी दशा में यवनराज के बड़े भाई प्रज्वार ने अपने छोटे भाई भय को प्रसन्न करने के लिए नगरी में आग लगा दी।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार शव का ही अग्निदाह किया जाता है, किन्तु मृत्यु के पूर्व भी एक दूसरी अग्नि या ज्वर होता है, जिसे प्रज्वार या विष्णुज्वार कहा जाता है। चिकित्सा विज्ञान इसकी पुष्टि करता है कि यदि मनुष्य का ताप १०७ डिग्री से अधिक बढ़ जाता है, तो मनुष्य तुरन्त मर जाता है। यह प्रज्वार जीव को जीवन की अन्तिम अवस्था में दहकती अग्नि में छोड़ देता है।

तस्यां सन्दह्यमानायां सपौरः सपरिच्छदः ।
कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या उपातप्यत सान्वयः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस पुरी के; सन्दह्यमानायाम्—अग्नि में प्रज्वति होने पर; स-पौरः—समस्त पुरवासियों सहित; स-परिच्छदः—समस्त नौकरों तथा भृत्यों सहित; कौटुम्बिकः—अनेक सम्बन्धियों वाला राजा; कुटुम्बिन्या—अपनी पत्नी सहित; उपातप्यत—उस अग्नि का ताप सहने लगा; स-अन्वयः—अपने अनुचरों सहित।

जब सारी नगरी जलने लगी तो सारे नागरिक तथा राजा के नौकर, उसके परिवार के सदस्य, पुत्र, पौत्र, पत्नियाँ तथा अन्य सम्बन्धी अग्नि की चपेट में आ गये। इस प्रकार राजा पुरञ्जन अत्यन्त दुखी हो गया।

तात्पर्य : शरीर के अनेक भाग होते हैं जैसे इन्द्रियां, अंग, त्वचा, पेशियाँ, रक्त रस और जिन्हें यहाँ पर आलंकारिक ढंग से पुत्र, पौत्र, नागरिक तथा नौकर-चाकर कहा गया है। जब शरीर पर *विष्णुज्वार* का आक्रमण होता है, तो इतना ताप उत्पन्न होता है कि मनुष्य को मूर्छा आ जाती है—इसका अर्थ यह है कि शरीर में इतनी पीड़ा होती है कि व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है उसे इस बात का पता ही नहीं चलता कि उसके शरीर में क्या हो रहा है। दरअसल, मृत्यु के समय मनुष्य इतना विवश हो जाता है कि न चाहते हुए भी उसे अपना शरीर त्याग करके दूसरे में प्रवेश करना पड़ता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य भले ही वैज्ञानिक प्रगति के बल पर अपने रहन-सहन की स्थिति में अस्थायी रूप से सुधार कर ले, किन्तु वह जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के कष्टों को दूर नहीं कर सकता। ये सब प्रकृति

के माध्यम से भगवान् के वश में हैं। मूर्ख व्यक्ति इस सीधी-सी बात को नहीं समझ सकता। आजकल लोग समुद्र के गर्भ में पेट्रोलियम की खोज कर रहे हैं, उन्हें भविष्य की चिन्ता है, किन्तु वे जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु की स्थितियों को सुधारने का कोई प्रयास नहीं करते। इस प्रकार अज्ञानी पुरुष अपने भविष्य के विषय में कुछ भी न जानने के कारण अपने सारे कार्यों में परास्त होता रहता है।

यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया ।
पुर्यां प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यवन—यवनों द्वारा; उपरुद्ध—आक्रमण किया गया; आयतनः—अपना घर; ग्रस्तायाम्—अधिकार में किया गया; काल-कन्यया—कालकन्या द्वारा; पुर्याम्—नगरी; प्रज्वार-संसृष्टः—प्रज्वार द्वारा निकट पहुँचा जाकर; पुर-पालः—नगरी का पालक; अन्वतप्यत—अत्यन्त दुखी हुआ।

जब नगरी की रखवाली करने वाले सर्प ने देखा कि नागरिकों पर काल-कन्या का आक्रमण हो रहा है, तो वह यह देखकर अत्यन्त सन्तप्त हुआ कि यवनों ने आक्रमण करके उसके घर में आग लगा दी है।

तात्पर्य : जीव दो प्रकार के शरीरों को ओढ़े रहता है—सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर। मृत्यु के समय यह स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर द्वारा जीव किसी दूसरे स्थूल शरीर में ले जाया जाता है। आधुनिक युग के तथाकथित वैज्ञानिक यह नहीं देख सकते कि किस प्रकार सूक्ष्म शरीर एक शरीर से दूसरे में आत्मा को ले जाने का कार्य करता है। इस सूक्ष्म शरीर को नगरी के रक्षक सर्प के रूप में वर्णित किया गया है। जब चारों ओर आग लगी हो तो नगर का रक्षक (पुलिस अधीक्षक) भी भगकर नहीं निकल सकता। जब नगरी में सुरक्षा स्थापित रहती है और आग का अभाव होता है, तो पुलिस अधीक्षक नागरिकों पर अपना अधिकार जता सकता है, किन्तु जब नगरी में चारों ओर से आक्रमण हो रहा हो तो वह निरुपाय बन जाता है। ज्योंही प्राण स्थूल शरीर को त्यागने को उद्यत था, तो सूक्ष्म शरीर भी पीड़ा का अनुभव करने लगा।

न शेके सोऽवितुं तत्र पुरुकृच्छ्रोरुवेपथुः ।
गन्तुमैच्छत्ततो वृक्षकोटरादिव सानलात् ॥ १४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; शेके—समर्थ; सः—वह; अवितुम्—रक्षा करने में; तत्र—वहाँ; पुरु—अत्यधिक; कृच्छ्र—कठिनाई; उरु—बड़ी; वेपथुः—पीड़ा; गन्तुम्—बाहर जाने के लिए; ऐच्छत्—इच्छा की; ततः—वहाँ से; वृक्ष—वृक्ष के; कोटरात्—कोटर से; इव—सदृश; स-अनलात्—अग्नि लगे हुए।

जिस प्रकार जंगल में आग लगने पर वृक्ष के कोटर में रहने वाला सर्प उस वृक्ष को छोड़ना चाहता है, उसी प्रकार वह नगर अधीक्षक सर्प भी अग्नि के प्रचण्ड ताप के कारण नगरी छोड़ने के लिए इच्छुक हो उठा।

तात्पर्य : जंगल में आग लगने पर सर्पों के लिए जंगल छोड़ पाना कठिन हो जाता है। अन्य पशु तो अपनी लम्बी टांगों के बल से भग जाते हैं, किन्तु बेचारे सर्प रेंगकर चल सकने के कारण प्राय: अग्नि में जल जाते हैं। अन्तिम अवस्था में शरीर के अन्य अंग उतने प्रभावित नहीं होते जितना कि प्राण।

शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हृतपौरुषः ।
यवनैररिभी राजन्नुपरुद्धो रुरोद ह ॥ १५॥

शब्दार्थ

शिथिल—ढीले; अवयवः—अंग-प्रत्यंग; यर्हि—जब; गन्धर्वैः—गन्धर्वों के द्वारा; हृत—पराजित; पौरुषः—शारीरिक शक्ति; यवनैः—यवनों के द्वारा; अरिभिः—शत्रुओं द्वारा; राजन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; उपरुद्धः—रोके जाने पर; रुरोद—जोर से चिल्लाया; ह—वस्तुतः।

गन्धर्वों तथा यवन सैनिकों द्वारा उस सर्प के शरीर के अंग जर्जर कर दिए गए, क्योंकि उन्होंने उसकी शारीरिक शक्ति को परास्त कर दिया था। जब उसने शरीर त्यागना चाहा तो उसके शत्रुओं ने रोक लिया। अपने प्रयास में विफल होने के कारण वह जोर से चीत्कार करने लगा।

तात्पर्य : जीवन की अन्तिम अवस्था में रोग के प्रभाव से शरीर के विभिन्न द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं जिसका कारण है कफ, पित्त और वात का असंतुलन। इससे जीव अपने कष्ट को व्यक्त नहीं कर पाता और उसके चारों ओर खड़े रहने वाले सम्बन्धी मरणासन्न मनुष्य से *घुर-घुर* की आवाज सुनते हैं। राजा कुलशेखर ने अपने *मुकुन्दमाला स्तोत्र* में कहा है—

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपञ्जरान्तम्

अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।

प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः

कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

"हे कृष्ण! मुझे जल्दी मृत्यु दो जिससे मेरा मनरूपी हंस आपके चरणकमलों की नाल से घिर जाय। अन्यथा मेरी अन्तिम श्वास के समय जब मेरा गला रुद्ध हो जायेगा तो मैं आपके विषय में कैसे सोच पाऊँगा?" हंस को पानी के भीतर डुबकी मारने तथा कमलनालों से घिरे रहने में बड़ा आनन्द आता है। यह फँसना एक प्रकार का विलास है। यदि हम स्वस्थ रहते हुए भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करते हुए मरते हैं, तो यह परम सौभाग्य है। बुढ़ापे में, मृत्यु के समय गला कभी-कभी कफ से सँध जाता है या हवा से अवरुद्ध हो जाता है। ऐसी अवस्था में हरे कृष्ण महामंत्र का उच्चारण नहीं हो पाता। इस तरह मनुष्य कृष्ण को भूल जाता है। निस्सन्देह, जो कृष्णभक्ति में दृढ़ हैं, वे जीवन की किसी भी अवस्था में, विशेष करके जब उन्हें मृत्यु की सूचना मिल जाती है, कृष्ण को नहीं भूल सकते क्योंकि वे हरे कृष्ण मंत्र जपने के अभ्यस्त होते हैं।

दुहितृः पुत्रपौत्रांश्च जामिजामातृपार्षदान् ।
स्वत्वावशिष्टं यत्किञ्चिद्गृहकोशपरिच्छदम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दुहितृः—पुत्रियों; पुत्र—पुत्रों; पौत्रान्—नातियों के विषय में; च—तथा; जामि—बहुओं; जामातृ—दामादों; पार्षदान्—पार्षदों; स्वत्व—सम्पत्ति; अवशिष्टम्—शेष; यत् किञ्चित्—जो कुछ भी; गृह—घर; कोश—खजाना; परिच्छदम्—घरेलू साज-सामान।

तब राजा पुरञ्जन अपनी पुत्रियों, पुत्रों, पौत्रों, पुत्रवधुओं, जामाता, नौकरों तथा अन्य पार्षदों के साथ-साथ अपने घर, घर के सारे साज-सामान तथा जो कुछ भी सञ्चित धन था, उन सबके विषय में सोचने लगा।

तात्पर्य : प्राय: देखा गया है कि जिन्हें देह से बहुत मोह होता है वे डाक्टर से कुछ काल के लिए जीवन बढ़ा देने के लिए याचना करते हैं। यदि तथाकथित विज्ञानी आक्सीजन तथा अन्य ओषधियों के बल से रोगी की आयु कुछ मिनटों के लिए बढ़ा देते हैं, तो वे इसे महान् सफलता मानते हैं, यद्यपि रोगी को अन्तत: मरना पड़ता है। यही जीवन-संघर्ष कहलाता है। रोगी तथा डाक्टर मृत्यु के समय जीवन की अवधि बढ़ाने के विषय में सोचते हैं, जबकि पहले से शरीर के सभी अवयव प्राय: मृतप्राय हो चुके होते हैं।

अहं ममेति स्वीकृत्य गृहेषु कुमतिर्गृही ।

दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते ॥ १७॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; स्वी-कृत्य—स्वीकार करके; गृहेषु—घर में; कु-मतिः—दुर्बुद्धि; गृही—गृहस्थ; दध्यौ—ध्यान दिया; प्रमदया—अपनी पत्नी सहित; दीनः—अत्यन्त निर्धन; विप्रयोगे—जब वियोग; उपस्थिते—आ उपस्थित हुआ।

राजा पुरञ्जन अपने परिवार के प्रति तथा "मैं" और "मेरे" विचार में अत्यधिक आसक्त था। चूँकि वह अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक मोहित था, इसलिए वह पहले से दीन बन चुका था। वियोग के समय वह अत्यन्त दुखी हो गया।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि मरते समय भौतिक सुख के विचार कहीं नहीं जाते। यह सूचित करता है कि जीवात्मा सूक्ष्म शरीर—मन, बुद्धि तथा अहंकार—द्वारा ले जाया जाता है। अहंकार के कारण जीव अब भी भौतिक सुख भोगना चाहता है और उसको न भोग पाने से वह दुखी हो जाता है। वह अपने अस्तित्व को बढ़ाने के लिए बौद्धिक योजना बनाता है और स्थूल शरीर त्यागने पर भी वह सूक्ष्म शरीर द्वारा दूसरे स्थूल शरीर में ले जाया जाता है। सूक्ष्म शरीर का देहान्तरण इन भौतिक आँखों से नहीं दिखता, अत: जब मनुष्य स्थूल देह छोड़ता है, तो हम सोचते हैं कि वह मर गया। सूक्ष्म शरीर भौतिक सुख की योजनाएँ बनाता है, स्थूल शरीर तो उनको भोगने का साधन मात्र है। इस प्रकार इस स्थूल देह की उपमा पत्नी से दी जा सकती है, क्योंकि पत्नी ही वह साधन है, जो इन्द्रियतृप्ति की सारी सामग्री प्रस्तुत करती है। स्थूल शरीर से दीर्घकालीन संगति के कारण जीव को इससे बिछुड़ते हुए दुख होता है। जीव की मानसिक क्रियाशीलता उसे दूसरा स्थूल शरीर धारण करने के लिए बाध्य करती है।

स्त्री संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है "विस्तार।" स्त्री के माध्यम से ही मनुष्य पुत्र, पुत्रियाँ, पौत्र इत्यादि के रूप में अपना विस्तार करता है। मृत्यु के समय परिवार के सदस्यों के प्रति अनुराग प्रखर हो जाता है। प्राय: यह देखा जाता है कि मृत्यु के निकट आने पर मनुष्य अपने प्रिय पुत्र को बुलाकर उस पर अपनी पत्नी तथा अन्य साज-सामान की रक्षा का भार डाल देता है और कहता है, "मेरे बेटे! मैं जाने को बाध्य हूँ, तुम परिवार की देखभाल करना।" वह अपने गन्तव्य को न जानते हुए भी इस प्रकार कहता है।

**लोकान्तरं गतवति मय्यनाथा कुटुम्बिनी ।
वर्तिष्यते कथं त्वेषा बालकाननुशोचती ॥ १८ ॥**

शब्दार्थ

लोक-अन्तरम्—अन्य जीवन में; गतवति मयि—मेरे चले जाने पर; अनाथा—पतिविहीन; कुटुम्बिनी—अपने परिवार से घिरी; वर्तिष्यते—रहेगी; कथम्—कैसे; तु—तब; एषा—यह स्त्री; बालकान्—बच्चों को; अनुशोचती—विलाप करती हुई।

राजा पुरञ्जन अत्यन्त चिन्तित होकर सोचने लगा, ''हाय! मेरी पत्नी इतने सारे बच्चों से परेशान होगी। जब मैं यह शरीर छोड़ दूँगा तो यह किस प्रकार परिवार के इन सभी सदस्यों का पालन करेगी? हाय! वह परिवार पालन के विचार से अत्यधिक कष्ट पाएगी।''

तात्पर्य : अपनी पत्नी के विषय में उसके इतने सारे विचार यह सूचित करते हैं कि राजा स्त्री के विचार में कितना निमग्न था। सामान्यत: पतिपरायण स्त्री अत्यन्त आज्ञाकारिणी पत्नी होती है। इससे पति अपनी पत्नी के प्रति आकृष्ट होता है और मृत्यु के समय वह अपनी पत्नी के विषय में बहुत अधिक सोचता है। यह अत्यन्त घातक स्थिति है, जैसाकि राजा पुरञ्जन के जीवन से स्पष्ट है। यदि मृत्यु के समय कोई कृष्ण के बजाय अपनी स्त्री के विषय में सोचता है, तो वह निश्चय ही भगवान् के धाम वापस नहीं जा सकता, अपितु उसे स्त्री का शरीर धारण करके भौतिक जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ करना पड़ता है।

**न मय्यनाशिते भुङ्क्ते नास्नाते स्नाति मत्परा ।
मयि रुष्टे सुसन्त्रस्ता भर्त्सिते यतवाग्भयात् ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; मयि—जब तक मैं; अनाशिते—खा नहीं लेता था; भुङ्क्ते —वह खाती थी; न—नहीं; अस्नाते—स्नान नहीं कर लेता था; स्नाति—नहाती थी; मत्-परा—मेरे प्रति अनुरक्त; मयि—जब मैं; रुष्टे—नाराज होता था; सु-सन्त्रस्ता—अत्यन्त डरी रहती थी; भर्त्सिते—जब मैं डाँटता फटकारता था; यत-वाक्—संयमित वाणी; भयात्—डर से।

राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के साथ अपने पुराने व्यवहारों को सोचने लगा। उसे याद आया कि उसकी पत्नी तब तक भोजन नहीं करती थी, जब तक वह स्वयं खा नहीं चुकता था; वह तब तक नहीं नहाती थी जब तक वह नहीं नहा लेता था और वह उस पर सदा इतनी अधिक अनुरक्त थी कि यदि वह कभी झिड़क देता था और उस पर नाराज हो जाता था, तो वह मौन रहकर उसके दुर्व्यवहार को सह लेती थी।

तात्पर्य : पत्नी अपने पति के प्रति सदैव विनम्र रहती है। विनम्रता, सदाचार तथा सेवाभाव पत्नी के ऐसे गुण हैं जिससे पति उसके प्रति अत्यन्त भावुक रहता है। पारिवारिक जीवन में पति का पत्नी पर

अनुरक्त रहना हितकर होता है, किन्तु आध्यात्मिक विकास के लिए यह अधिक उपयुक्त नहीं होता।अत: घर–घर में कृष्णभक्ति की नींव पड़नी चाहिए। यदि कृष्णभक्ति में पति तथा पत्नी एक दूसरे पर अनुरक्त हैं, तो वे दोनों लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि कृष्ण ही उनके अस्तित्व का केन्द्रबिन्दु है। अन्यथा यदि पति अपनी पत्नी के प्रति अधिक अनुरक्त रहता है, तो अगले जन्म में वह स्त्री बनता है। इसी प्रकार पति पर अत्यधिक अनुरक्त होने से स्त्री को अगले जन्म में पुरुष बनना होता है। निस्सन्देह, पुरुष बनना स्त्री के हित में है, किन्तु पुरुष के लिए स्त्री बनना तनिक भी लाभप्रद नहीं है।

प्रबोधयति माविज्ञं व्युषिते शोककर्शिता ।
वर्त्मैतद्गृहमेधीयं वीरसूरपि नेष्यति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रबोधयति—अच्छी सलाह देती है; **मा**—मुझको; **अविज्ञम्**—मूर्ख; **व्युषिते**—मेरे बाहर जाने पर; **शोक**—शोक से; **कर्शिता**—दुख से सूखी हुई; **वर्त्म**—रास्ता; **एतत्**—यह; **गृह-मेधीयम्**—गृहस्थी के कार्यों का; **वीर-सू:**—वीरों की जननी; **अपि**—यद्यपि; **नेष्यति**—क्या कर सकेगी।.

राजा पुरञ्जन सोचता रहा कि उसके मोहग्रस्त होने पर किस तरह उसकी पत्नी उसे अच्छी सलाह देती थी और उसके घर से बाहर चले जाने पर वह कितनी दुखी हो जाती थी। यद्यपि वह अनेक पुत्रों एवं वीरों की माता थी तो भी राजा को डर था कि वह गृहस्थी का भार नहीं ढो सकेगी।

तात्पर्य : मृत्यु के समय राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के विषय में सोच रहा था। यह दूषित चेतना कहलाती है। जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१५.७) में बतलाया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।
मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

"इस बद्ध जगत में जितने जीव हैं, वे मेरे शाश्वत अंश हैं। बद्धजीवन के कारण वे मन समेत छहों इन्द्रियों द्वारा अत्यधिक श्रम में लगे हुए हैं।"

जीव आखिर परमेश्वर श्रीकृष्ण का ही अंश है। गुणात्मक रूप से कृष्ण तथा जीव की स्वाभाविक स्थितियाँ एक सी हैं; अन्तर केवल इतना ही है कि जीवात्मा सदैव परमात्मा का सूक्ष्म कण है। *ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।* इस बद्ध जीवन के संसार में परमात्मा का अंश, यह जीवात्मा, अपने दूषित मन तथा चेतना के कारण संघर्ष में लगा रहता है। परमेश्वर का अंश होने से यह आशा की

जाती है कि जीवात्मा श्रीकृष्ण के विषय में सोचेगा, किन्तु यहाँ पर हम देखते हैं कि जीवस्वरूप राजा पुरञ्जन केवल स्त्री के विषय में सोच रहा है। किसी इन्द्रिय विषय में ऐसी मानसिक व्यस्तता के कारण ही जीव को इस भौतिक संसार में जीवन-संघर्ष करना पड़ता है। चूँकि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के विषय में सोचता है, अत: इस जगत में उसका जीवन-संघर्ष उसकी मृत्यु के साथ समाप्त नहीं होगा। जैसाकि अगले श्लोकों से विदित होगा, उसे अपनी पत्नी के ही विचार में लीन रहने के कारण अगले जन्म में स्त्री का शरीर धारण करना पड़ा। इस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक, छद्मधार्मिक, राष्ट्रीय तथा जातीय भावों में मन को लीन रखना ही बन्धन का कारण है। इस बन्धन से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को अपने जीवनकाल में अपने कार्यकलापों को बदलना पड़ता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (३.९) में हुई है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:।* यदि हम इसी जीवन में अपनी चेतना नहीं बदलते तो जो कुछ भी हम सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय कल्याण के नाम पर कार्य करते हैं वह सब हमारे बन्धन का कारण बनता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें आगे भी भौतिक बद्धजीवन बिताना पड़ता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.७) में कहा गया है—*मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।* जब मन तथा इन्द्रियाँ भौतिक कार्यों में लगी रहती हैं, तो जीवन-संघर्ष करना पड़ता है और सुख के लिए संघर्ष करना पड़ता है। प्रत्येक जीवन में मनुष्य सुखी रहने के लिए संघर्ष करता है। वास्तव में इस संसार में कोई भी सुखी नहीं है किन्तु संघर्ष से सुख की झूठी प्रतीति होती है। मनुष्य को कठिन श्रम करना पड़ता है और जब उसे परिश्रम का फल मिलता है, तो वह स्वयं को सुखी अनुभव करता है। इस संसार में कोई यह यहीं जानता कि वास्तविक सुख क्या है। *सुखं आत्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्* (*भगवद्गीता* ६.२१)। वास्तविक सुख का बोध तो दिव्य इन्द्रियों द्वारा होता है। किन्तु जब तक मनुष्य शुद्ध नहीं होता, दिव्य इन्द्रियाँ प्रकट नहीं होतीं, अत: इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए मनुष्य को कृष्णभक्ति करनी चाहिए और इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। तभी वास्तविक सुख मिलेगा तथा मुक्ति प्राप्त होगी। *भगवद्गीता* (१५.८) में कहा गया है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर:।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

"जिस प्रकार वायु गन्ध को वहन करती है उसी प्रकार जीव इस संसार में जीवन सम्बन्धी विविध

विचारों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ढोता है।'' यदि वायु किसी गुलाब के बगीचे से होकर बहती है, तो वह गुलाब की सुगन्ध ग्रहण करती है और यदि किसी गन्दे स्थान से होकर बहती है, तो अपने साथ दुर्गन्ध ले जाती है। इसी प्रकार जीवस्वरूप राजा पुरञ्जन अपनी प्राण-वायु को अपनी पत्नी पर प्रवाहित करता है, इसीलिए उसे अगले जीवन में स्त्री का शरीर धारण करना पड़ता है।

कथं नु दारका दीना दारकीर्वापरायणाः ।
वर्तिष्यन्ते मयि गते भिन्ननाव इवोदधौ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; नु—वस्तुतः; दारकाः—पुत्र; दीनाः—बेचारे, अनाथ; दारकीः—पुत्रियों; वा—अथवा; अपरायणाः—जिनका कोई आश्रय नहीं है; वर्तिष्यन्ते—रहेंगे; मयि—जब मैं; गते—इस संसार से चला जाऊँगा; भिन्न—विदीर्ण, टूटी हुई; नावः—नाव; इव—सदृश; उदधौ—सागर में।

राजा पुरञ्जन आगे भी चिन्तित रहने लगाः ''जब मैं इस संसार से चला जाऊँगा तो मेरे ऊपर पूर्णतः आश्रित पुत्र तथा पुत्रियाँ किस प्रकार अपना जीवन निर्वाह करेंगी? उनकी स्थिति जहाज में चढ़े हुए उन यात्रियों के समान है जिनका जहाज सागर के बीच में ही टूट जाता है।''

तात्पर्य : मृत्यु के समय प्रत्येक जीव को चिन्ता होती है कि उसकी पत्नी तथा पुत्रों का क्या होगा। इसी प्रकार एक राजनीतिज्ञ भी सोचता है कि उसके मरने पर देश अथवा उसके राजनीतिक दल का क्या होगा। जब तक कोई पूर्णतः कृष्णभक्त नहीं होता, उसे अपनी विशेष चेतना के अनुरूप ही अगले जन्म में शरीर धारण करना होता है। चूँकि पुरञ्जन केवल अपनी पत्नी तथा बच्चों के विषय में सोचता है और अपनी पत्नी के ही विचार में अधिक मग्न रहता है, इसलिए उसे अगले जीवन में स्त्री का शरीर धारण करना होगा। इसी प्रकार कोई राजनीतिज्ञ या राष्ट्रप्रेमी जो जन्म से ही किसी भूभाग (देश) से विशेष रूप से अनुरक्त रहता है, वह अपना राजनीतिक जीवन समाप्त करने के बाद अगले जन्म में उसी देश में पुनः जन्म लेगा। अपने जीवनकाल में मनुष्य जो कार्य करता है उससे भी अगला जन्म प्रभावित होगा। कभी-कभी राजनेता अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अनेक कुकृत्य करते हैं। विपक्षी दल के किसी व्यक्ति की हत्या करा देना किसी राजनेता के लिए कोई बड़ी बात नहीं होती। यद्यपि ऐसे राजनेता को उसके अपने तथाकथित देश में जन्म लेने दिया जाता है, किन्तु उसने अपने पूर्व जीवन में जो पापकर्म किये हैं उनके लिए कष्ट भोगना ही पड़ता है।

देहान्तर का यह विज्ञान आधुनिक विज्ञानियों के लिए पूरी तरह से अज्ञात है। ये तथाकथित

विज्ञानी इन वस्तुओं के विषय में तनिक भी चिन्ता नहीं करना चाहते, क्योंकि यदि वे इस सूक्ष्म विषय पर और जीवन की समस्याओं पर विचार करें तो वे देखेंगे कि उनका भविष्य अंधकारमय है। इसीलिए वे भविष्य के विषय में विचार करने से कतराते हैं और सामाजिक, राजनीतिक तथा राष्ट्रीय आवश्यकता के नाम पर नाना प्रकार के पापकर्म करते रहते हैं।

एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणम् ।
ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाभ्यपद्यत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; **कृपणया**—दीन; **बुद्ध्या**—बुद्धि से; **शोचन्तम्**—पछताते हुए; **अ-तत्-अर्हणम्**—जिस पर उसे नहीं पछताना चाहिए था; **ग्रहीतुम्**—बन्दी बनाने के लिए; **कृत-धी:**—दृढ़संकल्प यवनराज; **एनम्**—उसको; **भय-नामा**—भय नामक; **अभ्यपद्यत**—तुरन्त आ गया।.

यद्यपि राजा पुरञ्जन को अपनी पत्नी तथा बच्चों के भाग्य के विषय में पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए था फिर भी उसने अपनी दीन बुद्धि के कारण ऐसा किया। उसी समय, भय नामक यवनराज उसे बन्दी करने के लिए तुरन्त निकट आ धमका।

तात्पर्य : मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि प्रत्येक जीव अपने कर्मों तथा कर्म फलों के लिए उत्तरदायी है। जब तक जीव छोटे बच्चे या अबोध बालक के रूप में रहता है तब तक माता–पिता का यह कर्तव्य होता है कि वे उसे जीवन के मूल्यों की सही जानकारी दें; जब वह बड़ा हो जाये तो उसे जीवन के सारे कार्य करने के लिए छोड़ देना चाहिए। माता–पिता मृत्यु के पश्चात् अपनी सन्तान की सहायता नहीं कर सकते। पिता अपनी सन्तानों की तुरन्त सहायता के लिए कुछ सम्पत्ति जोड़ सकता है, किन्तु उसे इन विचारों में डूबा नहीं रहना चाहिए कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके परिवार का भरण–पोषण कैसे होगा। बद्धजीव का यही रोग है। वह न केवल अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए पापकर्म करता है, वरन् मरने के पश्चात् अपनी सन्तान के लिए इतना धन छोड़ जाना चाहता है कि वे भी इसे इन्द्रियतृप्ति में अच्छी तरह खर्च कर सकें।

जो भी हो, प्रत्येक प्राणी मृत्यु से भयभीत रहता है, इसीलिए मृत्यु को भय कहा गया है। यद्यपि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी तथा सन्तान के विषय में सोचने में लगा हुआ था, किन्तु मृत्यु ने इसकी प्रतीक्षा नहीं की। मृत्यु किसी मनुष्य की प्रतीक्षा नहीं करती, वह अपना कार्य तुरन्त निपटाती है। चूँकि मृत्यु बिना किसी हिचक के जीव को अपने साथ ले जाती है, अत: नास्तिकों के लिए यह चरम ईश्वर–

साक्षात्कार है। जो ईश-चेतना को भुलाकर मात्र अपने देश, समाज और रिश्तेदारों के बारे में ही सोचते हुए जीवन बर्बाद करते रहते हैं। इस श्लोक में *अतद्-अर्हणम्* अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि इसका अर्थ है कि मनुष्य को अपने परिवार के सदस्यों, देशवासियों तथा समाज के कल्याणकार्यों में अत्यधिक व्यस्त नहीं होना चाहिए। इनसे मनुष्य का आध्यात्मिक विकास नहीं होता। दुर्भाग्यवश आज के समाज में तथाकथित शिक्षित व्यक्तियों को आध्यात्मिक उन्नति के विषय में कोई ज्ञान नहीं है। यद्यपि मनुष्य जीवन पाकर उन्हें आध्यात्मिक उन्नति करने का अवसर मिलता है, किन्तु वे कृपण के कृपण बने रहते हैं। वे अपने सम्बन्धियों, देशवासियों, समाज इत्यादि के विषय में ही सोच-सोचकर अपने जीवन को अनुचित ढंग से उपयोग में लाकर इसे बर्बाद करते रहते हैं। मनुष्य का वास्तविक कर्तव्य है कि वह मृत्यु पर विजय पाना सीखे। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.९) में मृत्यु को जीतने की विधि बताई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

"हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को भलीभाँति जानता है, वह शरीर त्यागने के बाद इस जगत में पुन: जन्म नहीं लेता, वरन् वह मेरे शाश्वत धाम को प्राप्त होता है।"

जो पूर्ण रुप से कृष्णभावनाभावित है, वह इस शरीर को त्यागने के बाद दूसरा शरीर धारण नहीं करता, वरन् भगवान् के धाम वापस जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह सिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। दुर्भाग्यवश ऐसा न करके लोग समाज, मित्रता, प्यार तथा सम्बन्धियों के विचार में मग्न रहते हैं। किन्तु यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन सारे विश्व के लोगों को मृत्यु को जीतने की शिक्षा दे रहा है। *हरिं बिना न सृतिं तरन्ति।* भगवान् की शरण ग्रहण किये बिना कोई मृत्यु पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

पशुवद्यवनैरेष नीयमानः स्वकं क्षयम् ।
अन्वद्रवन्ननुपथाः शोचन्तो भृशमातुराः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पशु-वत्—पशु के समान; यवनैः—यवनों के द्वारा; एषः—यह, पुरञ्जन; नीयमानः—बन्दी बनाकर ले जाया गया; स्वकम्—अपने; क्षयम्—घर; अन्वद्रवन्—पीछे-पीछे; अनुपथाः—उसके सेवक; शोचन्तः—विलाप करते; भृशम्—अत्यधिक; आतुराः—अत्यन्त दुखी।

जब यवनगण राजा पुरञ्जन को पशु की भाँति बाँधकर उसे अपने स्थान को ले जाने लगे तो

राजा के अनुचर अत्यन्त शोकाकुल हो उठे। उन्हें भी विलाप करते हुए राजा के साथ-साथ जाना पड़ा।

तात्पर्य : जब यमराज तथा उसके दूत जीव को न्याय के स्थल ले जाते हैं, तो प्राण, इच्छाएँ आदि भी जीव के अनुचर के रूप में उसके साथ जाती हैं। इसकी पुष्टि वेदों में हुई है। जब जीव यमराज द्वारा बन्दी बना कर ले जाया जाता है (*तम् उत्क्रामन्तम्*) तो प्राण भी उसके साथ चला जाता है (*प्राणोऽनूत्क्रामति*) और जब प्राण निकल जाता है (*प्राणम् अनूत्क्रामन्तम्*) तो सारी इन्द्रियां (*सर्वे प्राणाः*) भी साथ चली जाती हैं (*अनुत्क्रामन्ति*)। जब जीवात्मा तथा प्राण निकल जाते हैं, तो पंचतत्त्वों से उत्पन्न पदार्थ का पिंड पीछे छूटा रह जाता है। तब जीवात्मा न्यायालय में पहुँचता है, जहाँ यमराज तय करता है कि उसे कैसा शरीर मिले। आधुनिक विज्ञानी इस विधि से अपरिचित हैं। प्रत्येक जीव इस जन्म में अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है और मृत्यु के बाद उसे यमराज के दरबार में ले जाया जाता है जहाँ वह यह तय करता है कि उसे किस तरह का अगला शरीर मिले। यद्यपि स्थूल शरीर छूट जाता है, किन्तु जीवात्मा तथा उसकी इच्छाएँ एवं उसके विगत कर्मों के फल उसके साथ-साथ जाते हैं। यह तो यमराज पर निर्भर करता है कि पिछले कर्मों के अनुसार वह उसे कैसा शरीर प्रदान करे।

पुरीं विहायोपगत उपरुद्धो भुजङ्गमः ।
यदा तमेवानु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता ॥ २४॥

शब्दार्थ

पुरीम्—नगरी को; विहाय—छोड़कर; उपगतः—चला गया; उपरुद्धः—बन्दी; भुजङ्गमः—सर्प; यदा—जब; तम्—उसको; एव—निश्चय ही; अनु—पीछे-पीछे; पुरी—नगरी; विशीर्णा—ध्वस्त, तहस-नहस; प्रकृतिम्—पदार्थ में; गता—परिणत हो गयी।

वह सर्प भी, जिसे यवनराज के सैनिकों ने बन्दी बनाकर पहले ही नगरी के बाहर कर दिया था, अन्यों के साथ अपने स्वामी के पीछे-पीछे चलपड़ा। ज्योंही इन सबों ने नगरी को छोड़ दिया त्योंही वह नगरी तहस-नहस (ध्वस्त) होकर धूल में मिल गई।

तात्पर्य : जब जीव को बन्दी बना लिया जाता है, तो उसके सारे अनुचर—प्राण, इन्द्रियाँ तथा विषय—पदार्थ के पिंड अर्थात् शरीर का परित्याग कर देते हैं। जब जीवात्मा तथा उसके साथी प्रयाण कर जाते हैं, तो शरीर कार्य नहीं करता। वह अपने मूलभूत तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन तथा

समीर—में परिणत हो जाता है। जब शत्रु किसी नगरी पर आक्रमण करते हैं और उसके वासी जब उसे छोड़कर बाहर चले जाते हैं, तो वे उस नगरी पर बमबारी करके उसे तहस-नहस कर देते हैं। जब हम कहते हैं, ''तुम धूल हो और धूल में मिल जाओगे,'' तो हमारा प्रयोजन शरीर से ही होता है। जब नगरी पर शत्रु का आक्रमण होता है और उस पर बमबारी हो जाती है, तो नागरिक सामान्यतः उसे छोड़कर चले जाते हैं और उस नगरी का अस्तित्व मिट जाता है।

मूर्ख व्यक्ति ही नगरी के वासियों की परवाह किये बिना नगरी को सुधारने का प्रयास करता है। इसी प्रकार जीव भी, जिसे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं है बाह्य शरीर की रक्षा करता है, उसे यह पता ही नहीं रहता कि मुख्य कारण तो शरीर के भीतर स्थित आत्मा है। जब मनुष्य को आध्यात्मिक ज्ञान होता है, तो आत्मा निरन्तर देहान्तरण से बच जाता है। जो लोग अपने शरीर के प्रति अधिक अनुरक्त हैं, उन्हें *श्रीमद्भागवत* गाय तथा गधे के समान मानती है (*स एव गो-खरः*)। गाय अत्यन्त अबोध पशु है और गधा भारढोने वाला जानवर है। जो देहात्मबुद्धि के कारण श्रम करता रहता है, वह गधे के तुल्य है और अपने स्वार्थ को नहीं पहचानता। कहा भी गया है (*भागवत* १०.८४.१३)—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

''जो तीन तत्त्वों से बने इस शरीर को आत्मा मानता है, जो शरीर के उपजातों को अपना परिजन मानता है, जो अपनी जन्मभूमि को पूज्य मानता है और जो तीर्थों की यात्रा में दिव्य ज्ञानियों से मिलने के लिए नहीं, अपितु केवल स्नान करने के लिए जाता है, उसे गधा या गाय समझना चाहिए।''

कृष्णभक्ति से विहीन मानव-सभ्यता केवल निम्न पशुओं की सभ्यता है। हो सकता है ऐसी सभ्यता मृतशरीर (शव) का अध्ययन करे और मस्तिष्क या हृदय पर विचार करे, किन्तु शरीर का कोई भी भाग तब तक महत्त्वपूर्ण नहीं है जब तक उसमें आत्मा विद्यमान न हो। गायों तथा गधों की आधुनिक सभ्यता में विज्ञानीजन मृत पुरुष के मस्तिष्क या हृदय की उपयोगिता की खोज करते हैं।

विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा ।
नाविन्दत्तमसाविष्टः सखायं सुहृदं पुरः ॥ २५॥

शब्दार्थ

विकृष्यमाणः—खींचे जाने पर; प्रसभम्—बलपूर्वक; यवनेन—यवन के द्वारा; बलीयसा—अत्यन्त शक्तिशाली; न अविन्दत्—स्मरण नहीं कर सकता; तमसा—तमोगुण से; आविष्टः—आच्छादित होने से; सखायम्—अपने मित्र को; सुहृदम्—शुभैषी; पुरः—प्रारम्भ से।

जब राजा पुरञ्जन शक्तिशाली यवन द्वारा बलपूर्वक घसीटा जा रहा था, तब भी अपनी निरी मूर्खता के कारण वह अपने मित्र तथा हितैषी परमात्मा का स्मरण नहीं कर सका।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

यदि मनुष्य केवल तीन बातें जानता है—कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम भोक्ता हैं, वे ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं और वे प्रत्येक जीव के परम मित्र हैं—तो वह पूर्ण कृष्णचेतना में रह सकता है और सुखी तथा सन्तुष्ट रह सकता है। यदि मनुष्य इसे नहीं जानता और देहात्मबुद्धि से कार्य करता है, तो वह प्रकृति द्वारा प्रदत्त विपत्तियों द्वारा सदैव सताया जाता है। वास्तव में परमेश्वर सबों के निकट बैठा हुआ है। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति* (*भगवद्गीता* १८.६१)। जीवात्मा तथा परमात्मा एक ही वृक्ष में पास-पास बैठे हुए हैं, किन्तु मूर्ख जीवात्मा प्राकृतिक नियमों द्वारा प्रताड़ित होने पर भी अपनी रक्षा के लिए भगवान् की ओर दृष्टि नहीं डालता। वह अपने को प्रकृति के कठोर से कठोर नियम का सामना करने में समर्थ मानता है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जीवात्मा को परमेश्वर की ओर उन्मुख होना पड़ेगा और उनकी शरण लेनी होगी। तभी वह यवन या यमराज के शक्तिशाली आक्रमण से बचा रह सकता है।

इस श्लोक का *सखायम्* (मित्र) शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ईश्वर सदैव जीवात्मा के निकट स्थित है। परमेश्वर को *सुहृदम्* (हितैषी) भी कहा गया है। परमेश्वर माता अथवा पिता की भाँति सदैव हितैषी है। भले ही पुत्र कितने अपराध क्यों न करे, माता-पिता सदैव उसके हितैषी बने रहते हैं। इसी प्रकार अपने समस्त पापों और भगवान् की इच्छाओं का उल्लंघन करने के बावजूद यदि हम अपने को उनके प्रति समर्पित कर देते हैं, तो तुरन्त भौतिक प्रकृति की कठिनाइयों से वे हमारी रक्षा करते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। दुर्भाग्यवश कुसंगति तथा

इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण हम अपने परम मित्र परमेश्वर को स्मरण नहीं कर पाते।

तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना ।
कुठारैश्छिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; यज्ञ-पशवः—यज्ञ में बलि दिये गये पशु; अनेन—उसके द्वारा; संज्ञप्ताः—मारे गये; ये—जो; अदयालुना—अत्यन्त निर्दय द्वारा; कुठारैः—फरसे से; चिच्छिदुः—खण्ड खण्ड; क्रुद्धाः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; स्मरन्तः—याद करते हुए; अमीवम्—पापकर्म; अस्य—उसके; तत्—वह।

उस घोर निर्दयी राजा पुरञ्जन ने विविध यज्ञों में अनेक पशुओं का वध किया था। अब वे सारे पशु इस अवसर का लाभ उठाकर उसे अपने सींगों से बेधने लगे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसे फरसों से टुकड़े-टुकड़े करके काटा जा रहा है।

तात्पर्य : जो लोग धर्म के नाम पर या भोजन के लिए पशुओं का वध करने के लिए लालायित रहते हैं, उन्हें मृत्यु के पश्चात् ऐसी ही यातना सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। *मांस* शब्द संकेत देता है कि जिन पशुओं को हम मारते हैं उन्हें अवसर प्राप्त होगा कि वे हमें मारें। यद्यपि वास्तव में कोई जीव मारा नहीं जाता, किन्तु मृत्यु के पश्चात् पशुओं के सींगों से बेधे जाने की पीड़ा का अनुभव होगा। इसे न जानने के कारण ही दुर्बुद्धि लोग निरीह पशुओं का वध करते जाते हैं। तथाकथित मानव सभ्यता ने धर्म या भोजन के नाम पर पशुओं के वध के लिए अनेक कसाईघर खोल रखे हैं। जो थोड़े धार्मिक हैं, वे मन्दिरों, मस्जिदों या यहूदी उपासनागृहों में पशुओं की बलि देते हैं और जो नीच तथा अधम हैं, वे कसाईघर चलाते हैं। जिस प्रकार मानव समाज में यह नियम है कि प्राण के बदले प्राण लिया जाये, उसी प्रकार ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार एक जीव का दूसरे के ऊपर अपना अधिकार जताना वर्जित है। परम पिता के अनुसार प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। भगवान् सदा से पशु-वध का चाहे धर्म के लिए अथवा भोजन के लिए तिरस्कार करते आये हैं। *भगवद्गीता* (१६.१९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

"जो लोग ईर्ष्यालु और दुष्ट हैं, वे मनुष्यों में अधम हैं और वे मेरे द्वारा विभिन्न आसुरी योनियों में

इस भवसागर में फेंक दिये जाते हैं।'' पशु-हत्यारों (*द्विषत:*) को, जो अन्य जीवों तथा ईश्वर से द्वेष रखते हैं, अंधकार में डाल दिया जाता है। वे जीवन के उद्देश्य को कभी नहीं समझ पाते। इसकी व्याख्या आगे के श्लोकों में की गई है।

अनन्तपारे तमसि मग्नो नष्टस्मृतिः समाः ।
शाश्वतीरनुभूयार्तिं प्रमदासङ्गदूषितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

अनन्त-पारे—अपार; तमसि—संसार के अंधकार में; मग्नः—डूबा हुआ; नष्ट-स्मृतिः—समस्त बुद्धि से रहित; समाः—अनेक वर्षों तक; शाश्वतीः—निरन्तर; अनुभूय—अनुभव करके; आर्तिम्—तीनों ताप; प्रमदा—स्त्री के; सङ्ग—संगति से; दूषितः—मलिन।

स्त्रियों की दूषित संगति के कारण जीवरूप राजा पुरञ्जन निरन्तर संसार के समस्त कष्टों को सहता है और अनेकानेक वर्षों तक समस्त प्रकार की स्मृति से शून्य होकर भौतिक जीवन के अंधकार क्षेत्र में पड़ा रहता है।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार का वर्णन है। इस भौतिक संसार का अनुभव तब होता है जब मनुष्य श्रीकृष्ण के दास रूप में अपनी वास्तविक सत्ता को भूलकर (*नष्ट स्मृति:*) स्त्री के प्रति आसक्त रहता है। इस प्रकार एक-एक करके अनेक जन्मों तक वह इस संसार के तीनों तापों को सदैव सहता रहता है। मानव सभ्यता को अविद्या के अंधकार से बचाने के लिए ही कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चालू किया गया था। इसका मूल उद्देश्य विस्मृत जीवात्मा को प्रबोधित करना और उसे मूल कृष्णचेतना की याद दिलाना है। इस प्रकार जीवात्मा अविद्या के संकट तथा देहान्तरण से बच सकता है। जैसाकि श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने गाया है—

अनादि करम-फले, पडिऽ भवार्णव-जले,

तरिबारे ना देखि उपाय

ए विषय-हलाहले, दिवा-निशि हिया ज्वले

मन कभु सुख नाहि पाय

''मैं अपने पूर्वकर्मों के कारण अविद्या के समुद्र में गिर गया हूँ। मैं इस विषतुल्य अपार सागर से निकलने का कोई साधन नहीं ढूँढ पा रहा। हम इन्द्रियसुख द्वारा सुखी रहने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वह तथाकथित सुख उस भोजन के तुल्य है, जो अत्यन्त गर्म होने के कारण हृदय में पीड़ा पहुँचाता है।

मुझे अहर्निश जलन का अनुभव होता रहता है और मेरे मन को सन्तोष नहीं मिल पाता।''

यह संसार सदैव चिन्ताओं से पूर्ण है। लोग चिन्ता को कम करने के अनेक उपाय ढूँढ रहे हैं, किन्तु वे सही पथ-प्रदर्शन न पाकर मद्यपान तथा यौनाचार के द्वारा भौतिक चिन्ता को भूलने का प्रयास करते रहते हैं। वे मूर्ख यह नहीं जान पाते कि मद्यपान तथा संभोग द्वारा चिन्ता से बचने के प्रयत्न में वे अपने भौतिक जीवन की अवधि बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार से भौतिक चिन्ता से बच पाना कठिन है।

प्रमदासङ्गदूषित: शब्द बताते हैं कि अन्य कल्मष को यदि छोड़ दें तो केवल स्त्री के प्रति आसक्त रहना ही मनुष्य की दशा को दयनीय बनाने के लिए काफी है। इसीलिए वैदिक सभ्यता में स्त्रियों का सङ्ग त्यागने के लिए प्रारम्भ से शिक्षा दी जाती है। जीवन की पहली अवस्था ब्रह्मचारी की है, दूसरी अवस्था गृहस्थ की, तीसरी वानप्रस्थ की और चौथी संन्यास की। ये सारी अवस्थाएँ इसीलिए बनाई गई हैं, जिससे मनुष्य अपने को स्त्री-संगति से अपने को अलग कर सके।

तामेव मनसा गृह्णन्बभूव प्रमदोत्तमा ।
अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसके; एव—निश्चय ही; मनसा—मन से; गृह्णन्—स्वीकार करते हुए; बभूव—हो गया; प्रमदा—स्त्री; उत्तमा—कुलीन; अनन्तरम्—मृत्यु के पश्चात्; विदर्भस्य—विदर्भ के; राज-सिंहस्य—अत्यन्त शक्तिशाली राजा के; वेश्मनि—घर में।

चूँकि राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी का स्मरण करते हुए अपने शरीर का त्याग किया था, अत: वह अगले जन्म में अच्छे कुल की एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री बनी। उसने राजा विदर्भ के घर में राजा की कन्या रूप में अगला जन्म लिया।

तात्पर्य : चूँकि राजा पुरञ्जन अपनी मृत्यु के समय अपनी पत्नी का स्मरण कर रहा था, इसलिए उसे अगले जन्म में स्त्री का शरीर प्राप्त हुआ। *भगवद्गीता* के निम्न श्लोक से (८.६) इसकी पुष्टि होती है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

''मनुष्य शरीर त्यागने समय जिस अवस्था का स्मरण करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त करता है।''

जब कोई जीव किसी विशेष बात के विषय में सोचने का आदी हो जाता है या किसी विचार में

मग्न रहता है, तो मृत्यु के समय वह उसके विषय में अवश्य सोचता है। मृत्यु के समय वह जागृतावस्था में, स्वप्न में या सुषुप्तावस्था में जो कुछ देखे रहता है उसका स्मरण करता है। परमेश्वर की संगति छूटने के बाद जीव एक देह से दूसरे में प्रकृति के नियमानुसार तब तक देहान्तर करता रहता है जब तक उसे मनुष्य की देह प्राप्त नहीं हो जाती। यदि वह भौतिक विचारों में मग्न रहता है और आध्यात्मिक जीवन से अपरिचित रहता है तथा भगवान् गोविन्द की शरण ग्रहण नहीं करता जिनके हाथ में जन्म और मृत्यु की समस्याओं का समाधान है, तो वह अगले जन्म में स्त्री बनता है, विशेषकर यदि वह मृत्यु के समय अपनी पत्नी का स्मरण करता है। *श्रीमद्भागवत* (३.३१.१) में कहा गया है—*कर्मणा दैवनेत्रेण।* जीव पुण्य तथा पाप दोनों करता है। इन सबका लेखा-जोखा करने के बाद उसके वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा जीव को नया शरीर मिलता है। यद्यपि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त था, किन्तु तो भी उसने अनेक पुण्यकर्म किये थे। फलस्वरूप यद्यपि उसने स्त्री का स्वरूप प्राप्त किया, किन्तु उसे शक्तिशाली राजा की कन्या बनने का अवसर प्रदान किया गया। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से (६.४१) होती है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती: समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

"असफल योगी अनेकानेक वर्षों तक पुण्यात्माओं के लोक में सुख भोगकर किसी पुण्य परिवार अथवा धनवान परिवार में जन्म लेता है।"

यदि कोई मनुष्य सकाम कर्मों में आसक्त रहने या योग के कारण भक्तियोग के पथ से भ्रष्ट होता है, तो उसे उच्च कुल में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। इस प्रकार भगवान् द्वारा नियुक्त उच्चाधिकारी जीव की इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए पूर्ण न्याय बरतते हैं। यद्यपि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के विचारों में डूबा रहने के कारण स्त्री बना, किन्तु पूर्व पुण्यों के कारण उनका जन्म राजपरिवार में हुआ। तात्पर्य यह है कि दूसरा शरीर प्रदान किये जाते समय हमारे समस्त कर्मों का मूल्यांकन किया जाता है। इसीलिए नारद मुनि ने व्यासदेव को उपदेश दिया कि मनुष्य को अन्य सारे वृत्तिपरक कर्मों (धर्मों) को त्याग कर केवल कृष्णभक्ति करनी चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यही उपदेश दिया। यद्यपि मनुष्य आध्यात्मिक चेतना के पथ से च्युत हो सकता है, किन्तु फिर भी वह किसी भक्त या धनी

के घर में मनुष्य रूप में जन्म प्राप्त करेगा। इस प्रकार से वह मनुष्य अपनी भक्ति को फिर से चालू कर सकता है।

उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भीं मलयध्वजः ।
युधि निर्जित्य राजन्यान्पाण्ड्यः परपुरञ्जयः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

उपयेमे—विवाह किया; वीर्य—शौर्य का; पणाम्—पुरस्कार; वैदर्भीम्—विदर्भ की कन्या; मलय-ध्वजः—मलयध्वज; युधि—युद्ध में; निर्जित्य—विजयी होकर; राजन्यान्—अन्य राजकुमार; पाण्ड्यः—पाण्डु देश में उत्पन्न अथवा सर्वश्रेष्ठ विद्वान; पर—दिव्य; पुरम्—नगरी; जयः—विजेता।

यह निश्चय हुआ था कि राजा विदर्भ की कन्या वैदर्भी का विवाह अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष मलयध्वज के साथ किया जाये जो पाण्डुदेश का रहने वाला था। उसने अन्य राजकुमारों को पराजित करके राजा विदर्भ की कन्या के साथ विवाह कर लिया।

तात्पर्य : क्षत्रियों में प्रचलन है कि किसी राजकुमारी का विवाह कुछ शर्तों के अन्तर्गत किया जाये। उदाहरणार्थ, द्रौपदी का विवाह उसके साथ होना था, जो मछली की परछाईं देख कर उसे बाण द्वारा वेध देगा। इसी तरह श्रीकृष्ण ने सात बलवान साँड़ों को हरा कर अपनी एक रानी को प्राप्त किया था। यह वैदिक प्रथा थी कि राजा अपनी कन्या का विवाह कुछ शर्तों के साथ करे। राजा विदर्भ की कन्या वैदर्भी एक परम भक्त तथा शक्तिशाली राजा को प्रदान की गई थी। चूँकि मलयध्वज एक शक्तिशाली राजा तथा महान् भक्त था, इसलिए वह सारी शर्तों को पूरा करता था। मलयध्वज नाम ही ऐसे भक्त का सूचक है, जो मलय पर्वत की भाँति अटल हो और अपने प्रचार से अन्य भक्तों को भी अटल बनाये। ऐसा महाभागवत अपनी बात को सभी को मनवा सकता है। प्रबल भक्त अन्य समस्त आध्यात्मिक विचारधाराओं—यथा ज्ञान, कर्म तथा योग के विरुद्ध प्रचार करता है। वह अपनी भक्ति-पताका फहराकर अन्य आध्यात्मिक विचारधाराओं को जीतने पर अटल रहता है। जब भी एक भक्त तथा अभक्त में शास्त्रार्थ होता है, तो शुद्ध प्रबल भक्त सदैव विजयी होता है।

पाण्ड्य शब्द *पण्डा* से बना है, जिसका अर्थ है "ज्ञान"। जब तक कोई शीर्षस्थ विद्वान् न हो वह अभक्तिपूर्ण विचारों पर विजय नहीं पा सकता। *पर* शब्द का अर्थ है "दिव्य" तथा *पुर* शब्द का अर्थ है "नगरी"। *पर-पुर* वैकुण्ठ है और *जय* शब्द जीतने वाले का सूचक है। इसका अर्थ यह हुआ कि शुद्ध भक्त यदि भक्ति में प्रबल है और उसने सभी अभक्तिपूर्ण विचारों पर विजय पा ली है, तो वह वैकुण्ठ

को भी जीत सकता है। दूसरे शब्दों में, केवल भक्ति के द्वारा वैकुण्ठ को जीता जा सकता है। भगवान् को अजित कहा गया है, किन्तु एक प्रबल भक्त अपनी दृढ़ भक्ति तथा सच्ची अनुरक्ति से भगवान् को भी जीत लेता है। भगवान् कृष्ण सबों के लिए साक्षात् भय हैं, किन्तु स्वेच्छा से वे यशोदा माता की छड़ी से भी भयभीत होते हैं। कृष्ण को उनके भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जीत सकता। ऐसे ही एक भक्त ने राजा विदर्भ की कन्या के साथ विवाह किया।

तस्यां स जनयां चक्र आत्मजामसितेक्षणाम् ।
यवीयसः सप्त सुतान्सप्त द्रविडभूभृतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उससे; सः—राजा ने; जनयाम् चक्रे—उत्पन्न किया; आत्मजाम्—पुत्री; असित—श्याम; ईक्षणाम्—आँखों वाली; यवीयसः—छोटा, अत्यन्त शक्तिमान; सप्त—सात; सुतान्—पुत्र; सप्त—सात; द्रविड—द्रविड़ देश (दक्षिण भारत); भू—भूभाग के; भृतः—राजा।

राजा मलयध्वज के एक पुत्री हुई जिसकी आँखें श्यामल थीं। उसके सात पुत्र भी हुए जो आगे चलकर द्रविड़ नामक देश के शासक बने। इस प्रकार उस देश में सात राजा हुए।

तात्पर्य : राजा मलयध्वज परम भक्त था। राजा विदर्भ की कन्या के साथ विवाह करने के बाद उसके एक सुन्दर कन्या उत्पन्न हुई, जिसकी आँखें श्यामल थीं। आलंकारिक रूप में इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी कन्या भी भक्ति-गुण से सम्पन्न थी, क्योंकि उसकी आँखें सदैव कृष्ण पर लगी रहती थीं। भक्त के लिए जीवन में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टि नहीं होती। सातों पुत्र भक्ति की सात विधाएँ हैं—श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पूजन, प्रार्थना, दिव्य भक्ति करना तथा भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना। नौ प्रकार की भक्ति में से केवल सात उसे प्राप्त थीं। शेष दो का—सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन का—बाद में विकास होना था। दूसरे शब्दों में, भक्ति की दो कोटियाँ हैं—*विधि-मार्ग* तथा *राग-मार्ग*। सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन ये दोनों *राग-मार्ग* के अन्तर्गत आते हैं। नवदीक्षित भक्त के लिए तो *विधि-मार्ग* की सात विधाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं।

यवीयसः शब्द सूचित करता है कि ये विधियाँ अत्यन्त शक्तिशाली हैं। जब भक्त *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् अर्चनं वन्दनं दास्यं* में लग जाता है और इन्हें प्राप्त कर लेता है, तो बाद में वह *सख्यम्* एवं *आत्मनिवेदनम्* को भी प्राप्त कर लेता है। सामान्यतः संसार-भर में भक्ति का उपदेश देने वाले सारे आचार्य *सख्यम् आत्मनिवेदनम्* कोटि के होते हैं। नवदीक्षित भक्त वास्तव में उपदेशक

नहीं बन सकता। उसे अन्य सात क्षेत्रों (*श्रवणं कीर्तनं* इत्यादि) में भक्ति करने की सलाह दी जाती है। यदि वह इन प्रारम्भिक सातों को सफलतापूर्वक पूरा कर लेता है, तो भविष्य में वह *सख्यम् आत्मनिवेदनम्* पद को प्राप्त कर लेता है।

द्रविड़ देश का विशेष उल्लेख दक्षिण भारत के पाँच द्रविड़ देशों के लिए हुआ है। ये सब मूल भक्ति की विधियों (*श्रवणं कीर्तनं* इत्यादि) को सम्पन्न करने में अत्यन्त प्रबल हैं। कुछ महान् आचार्य, यथा रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य द्रविड़ देश के ही थे, जो महान् उपदेशक हुए। वे सभी *सख्यम् आत्मनिवेदनम्* पद पर आसीन थे।

एकैकस्याभवत्तेषां राजन्नर्बुदमर्बुदम् ।
भोक्ष्यते यद्वंशधरैर्मही मन्वन्तरं परम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एक-एकस्य—हर एक के; अभवत्—हुए; तेषाम्—उनके; राजन्—हे राजा; अर्बुदम्—एक करोड़; अर्बुदम्—एक करोड़; भोक्ष्यते—भोगेंगे; यत्—जिसका; वंश-धरैः—वंशजों द्वारा; मही—सारा संसार; मनु-अन्तरम्—एक मनु के अन्त तक; परम्—तथा उसके पश्चात्।

हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, मलयध्वज राजा के पुत्रों ने लाखों पुत्रों को जन्म दिया और ये सब एक मनु की अवधि के अन्त तक तथा उसके बाद भी सारे संसार का पालन करते रहे।

तात्पर्य : ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। एक मन्वन्तर अर्थात् मनु की आयु ७१ × ४३,२०,००० वर्ष है। एक मनु के बाद दूसरा मनु आता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का जीवन-चक्र चलता रहता है। चूँकि एक के बाद एक मनु की परम्परा चलती है, अतः कृष्णभक्ति सम्प्रदाय चलता रहता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१) में हुई है—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

''प्रसन्नचित्त भगवान् ने कहा—मैंने इस अविनाशी योग विज्ञान की शिक्षा विवस्वान् को दी, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दी।'' सूर्यदेव विवस्वान् ने *भगवद्गीता* एक मनु को प्रदान की और इस मनु ने अपने पुत्र को दी जिसने फिर उसे अन्य मनु को प्रदान की। इस प्रकार कृष्णभक्ति का प्रचार कभी रुकता नहीं। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि यह कृष्णभावनामृत-

आन्दोलन नया है। जैसाकि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* से पुष्टि होती है, यह अत्यन्त प्राचीन आन्दोलन है, क्योंकि यह एक मनु से दूसरे को हस्तान्तरित होता रहा है।

वैष्णवों में कुछ व्यक्तिगत मतभेद हो सकते हैं, किन्तु कृष्णभक्ति सम्प्रदाय तो आगे बढ़ते ही रहता है। हम देख सकते हैं कि विगत १०० वर्षों में श्रील भक्ति विनोद ठाकुर के आदेश से श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने सुसम्बद्ध रूप से कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का उपदेश कार्य प्रारम्भ किया। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के सारे शिष्य गुरुभाई हैं और यद्यपि इनमें कुछ मतभिन्नताएँ है और वे मिलकर एकसाथ काम नहीं करते, किन्तु इनमें से प्रत्येक अपनी व्यक्तिगत क्षमता से कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए कार्य कर रहा है और विश्व भर में इसे प्रचारित करने के लिए अनेक शिष्य उत्पन्न कर रहा है। जहाँ तक हमारी बात है, हमने पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ की स्थापना की है और कई हजार यूरोपीय तथा अमरीकी इस आन्दोलन में सम्मिलित हो चुके हैं। यह आन्दोलन दावाग्नि के समान फैल रहा है। नवधा भक्ति पर आश्रित श्रीकृष्णभक्ति सम्प्रदाय कभी रुकने वाला नहीं। यह किसी जातिपाँति, रंग तथा देश के भेदभाव के बिना आगे बढ़ता रहेगा। इसे कोई रोक नहीं सकता।

इस श्लोक में *भोक्ष्यते* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता है उसी प्रकार ये सारे भक्त भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए संसार-भर के लोगों को सुरक्षा प्रदान करेंगे। संसार के लोग तथाकथित धार्मिक स्वामियों, योगियों, कर्मियों तथा ज्ञानियों से तंग आ चुके हैं, क्योंकि इनमें से कोई भी आध्यात्मिक पद तक पहुँचने का सही मार्ग नहीं बता पाता। सारे संसार में भक्ति का प्रचार करने वाले चार सम्प्रदाय हैं। ये हैं—रामानुज सम्प्रदाय, मध्व सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय। मध्व गौड़ीय सम्प्रदाय भगवान् चैतन्य महाप्रभु की देन है। ये सारे भक्त कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का व्यापक प्रचार कर रहे हैं और निर्दोष जनता को संरक्षण प्रदान कर रहे हैं, जो छद्म अवतारों, स्वामियों, योगियों तथा बाबाओं से संत्रस्त हैं।

अगस्त्यः प्राग्दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम् ।
यस्यां दृढच्युतो जात इध्मवाहात्मजो मुनिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अगस्त्यः—अगस्त्य मुनि ने; प्राक्—पहली; दुहितरम्—कन्या को; उपयेमे—विवाह दिया; धृत-व्रताम्—व्रत धारण किये; यस्याम्—जिससे; दृढच्युतः—दृढच्युत नामक; जातः—उत्पन्न हुआ; इध्मवाह—इध्मवाह नामक; आत्म-जः—पुत्र; मुनिः—मुनि।

भगवान् कृष्ण के परम भक्त मलयध्वज की पहली कन्या का विवाह अगस्त्य मुनि के साथ हुआ। उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम दृढच्युत था जिससे इध्मवाह नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : अगस्त्य मुनि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम है। यह मन का द्योतक है। अगस्त्य सूचित करता है कि इन्द्रियाँ स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करतीं और मुनि शब्द "मन" का सूचक है। मन समस्त इन्द्रियों का केन्द्र है और ये इन्द्रियाँ मन के बिना कोई कार्य नहीं कर सकतीं। जब मन भक्ति सम्प्रदाय को ग्रहण करता है, तो यह सेवा में लग जाता है। भक्ति सम्प्रदाय (भक्तिलता) मलयध्वज की पहली पुत्री है और जैसाकि पहले बताया जा चुका है उसकी आँखें कृष्ण पर लगी रहती थीं (*असितेक्षणाम्*)। कोई किसी देवता की भक्ति नहीं कर सकता; भक्ति तो केवल भगवान् विष्णु की की जा सकती है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*)। भगवान् को निराकार मानते हुए मायावादियों का कहना है कि भक्ति किसी भी प्रकार की पूजा के लिए प्रयुक्त हो सकता है। यदि ऐसा होता तो भक्त किसी भी देव या देव रूप की कल्पना करके उसकी पूजा करता। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि भक्ति केवल विष्णु तथा उनके अंशों की ही की जा सकती है। अत: भक्तिलता *दृढव्रता* है, क्योंकि जब मन भक्ति में लग जाता है, तो वह च्युत नहीं होता। यदि कोई अन्य साधनों से—यथा कर्मयोग या ज्ञानयोग से—आगे बढ़ना चाहता है, तो वह गिर जाता है, किन्तु यदि वह भक्ति में स्थिर (दृढ़) है, तो वह गिरता नहीं।

इस प्रकार भक्तिलता से दृढच्युत नामक पुत्र उत्पन्न होता है और दृढच्युत से इध्मवाह उत्पन्न होता है। इध्मवाह का अर्थ है अपने गुरु के पास यज्ञ-समिधा लेकर जाने वाला। कहने का तात्पर्य यह कि भक्तिलता मनुष्य को आध्यात्मिक पद पर स्थिर कर देती है। इस प्रकार स्थिर रहनेवाला कभी नहीं गिरता और उससे जो पुत्र उत्पन्न होंगे वे शास्त्रीय आदेशों के दृढ़पालक होंगे। जैसाकि वेदों का कथन है—

तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

जो भक्ति में दीक्षित होते हैं, वे वैदिक शास्त्रीय आदेशों के दृढ़पालक होते हैं।

विभज्य तनयेभ्यः क्ष्मां राजर्षिर्मलयध्वजः ।
आरिराधयिषुः कृष्णं स जगाम कुलाचलम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

विभज्य—बाँटकर; तनयेभ्यः—अपने पुत्रों में; क्ष्माम्—सम्पूर्ण पृथ्वी को; राज-ऋषिः—परम साधु राजा; मलयध्वजः—मलयध्वज; आरिराधयिषुः—आराधना करने की इच्छा से; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण की; सः—वह; जगाम—चला गया; कुलाचलम्—कुलाचल नामक स्थान में।

इसके पश्चात् राजर्षि मलयध्वज ने अपना सारा राज्य अपने पुत्रों में बाँट दिया। तब वे पूरे मनोयोग से भगवान् कृष्ण की पूजा करने के लिए कुलाचल नामक एकान्त स्थान में चले गये।

तात्पर्य : महाराज मलयध्वज निश्चित रूप से *महाभागवत* थे। भक्ति करने के कारण भक्ति सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए उनके कई पुत्र तथा शिष्य हुए। वास्तव में सारा संसार ऐसे शिष्यों में विभाजित हो जाना चाहिए और हर एक को कृष्णभक्ति सम्प्रदाय का प्रचार करने में लग जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जब शिष्य बड़े हो जाँय और प्रचार कार्य कर सकें तो गुरु को चाहिए कि वह अवकाश ग्रहण कर ले और एकान्त स्थान में बैठ कर लिखे तथा *निर्जन-भजन* करे। इसका अर्थ हुआ मौन होकर एकान्त वास तथा भक्ति। यह *निर्जन-भजन*—जो एकान्त में परमेश्वर की आराधना है—नवदीक्षित के लिए सम्भव नहीं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने कभी भी नवदीक्षित भक्त को किसी एकान्त स्थान में जाकर भक्ति करने की सलाह नहीं दी। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक गीत लिखा है—

दुष्ट मन, तुमि किसेर वैष्णव ?

प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे,

तव हरिनाम केवल कैतव

"अरे मेरे मन! तुम किस तरह के भक्त हो? केवल सस्ती पूजा के लिए तुम एकान्त स्थान में बैठकर हरे कृष्ण महामंत्र जपने का स्वांग भरते हो, किन्तु यह सब धोखा है।" इस प्रकार श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सदैव इसका समर्थन किया कि प्रत्येक भक्त योग्य गुरु के निर्देशन में भक्ति सम्प्रदाय का सारे विश्व में उपदेश दे। प्रौढ़ हो जाने पर ही एकान्त स्थान में बैठा जा सकता है और संसार-भर में प्रचार के कार्य से अवकाश ग्रहण किया जा सकता है। इस आदर्श का पालन करते

हुए अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत-संघ के भक्तगण संसार भर के विभिन्न भागों में उपदेश देने का कार्य करते हैं। अब वे अपने गुरु को सक्रिय उपदेश-कार्य से विराम लेने के लिए छोड़ सकते हैं। गुरुओं के जीवन की अन्तिम अवस्था में भक्तों को चाहिए कि उपदेश कार्य अपने हाथों में ले लें। इस प्रकार गुरु निर्जन स्थान में बैठ कर *निर्जन-भजन* कर सकता है।

हित्वा गृहान्सुतान्भोगान्वैदर्भी मदिरेक्षणा ।
अन्वधावत पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

हित्वा—त्याग कर; गृहान्—घर को; सुतान्—बच्चों को; भोगान्—भौतिक सुखों को; वैदर्भी—राजा विदर्भ की पुत्री; मदिर-ईक्षणा—मादक लोचनों वाली; अन्वधावत—अनुगमन किया; पाण्ड्य-ईशम्—राजा मलयध्वज का; ज्योत्स्ना इव—चन्द्रिका के समान; रजनी-करम्—चन्द्रमा।

जिस प्रकार रात्रि में चाँदनी चन्द्रमा का अनुसरण करती है, उसी तरह राजा मलयध्वज के कुलाचल जाते ही मादक नेत्रों वाली उसकी अनुरक्त पत्नी अपने घर, पुत्र के होते हुए भी समस्त भोगों को तिलांजलि देकर उसके साथ हो ली।

तात्पर्य : जिस प्रकार वानप्रस्थ अवस्था में पत्नी भी पति के साथ हो लेती है उसी प्रकार जब गुरु *निर्जन-भजन* के लिए एकान्त वास करता है, तो उसके कुछ बढ़ेचढ़े भक्त उसकी सेवा करने के उद्देश्य से उसके साथ हो लेते हैं। दूसरे शब्दों में, जिन्हें गृहस्थ जीवन अत्यन्त प्रिय है उन्हें गुरु की सेवा के लिए आगे बढ़कर आना चाहिए और समाज, मित्रता तथा प्रेम द्वारा प्राप्त सुविधाओं का परित्याग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर-कृत *गुर्वष्टक* में एक श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसाद: ।* शिष्य को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि गुरु की सेवा करने से वह सहज ही कृष्णभक्ति में अग्रसर हो सकता है। सभी शास्त्र कहते हैं कि गुरु को प्रसन्न करने तथा उसकी सेवा करने से भक्ति की सिद्ध अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

इस श्लोक का *मदिरेक्षणा* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। श्रील जीव गोस्वामी ने अपनी कृति *सन्दर्भ* में *मदिर* शब्द की व्याख्या ''मादक'' के रूप में की है। यदि अर्चाविग्रह को देखकर किसी की आँखें मादक बन जाँय तो उसे *मदिरेक्षण* कहा जा सकता है। रानी वैदर्भी की आँखें अत्यन्त मोहक थीं जिस प्रकार कि मन्दिर में अर्चा-विग्रह को देखने से मनुष्य की आँखें *मदिरेक्षण* हो जाती हैं। जब तक भक्त महान् नहीं होता तब तक वह मन्दिर में अर्चा-विग्रह पर अपनी आँखें नहीं टिका पाता।

तत्र चन्द्रवसा नाम ताम्रपर्णी वटोदका ।
तत्पुण्यसलिलैर्नित्यमुभयत्रात्मनो मृजन् ॥ ३५॥
कन्दाष्टिभिर्मूलफलैः पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः ।
वर्तमानः शनैर्गात्रकर्शनं तप आस्थितः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; चन्द्रवसा—चन्द्रवसा नदी; नाम—नामक; ताम्रपर्णी—ताम्रपर्णी नदी; वटोदका—वटोदका नदी; तत्—उन नदियों के; पुण्य—पवित्र; सलिलैः—जल से; नित्यम्—नित्य प्रति; उभयत्र—दोनों प्रकार से; आत्मनः—अपने आपको; मृजन्—नहाकर; कन्द—मूल; अष्टिभिः—तथा बीजों से; मूल—जड़ें; फलैः—तथा फलों से; पुष्प—फूल; पर्णैः—तथा पत्तों से; तृणा—घास; उदकैः—तथा जल से; वर्तमानः—निर्वाह करते हुए; शनैः—धीरे-धीरे; गात्र—अपना शरीर; कर्शनम्—दुबला करके; तपः—तपस्या; आस्थितः—किया।

कुलाचल प्रान्त में चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी तथा वटोदका नाम की तीन नदियाँ थीं। राजा मलयध्वज नित्य ही इन पवित्र नदियों में जाकर स्नान करता था। इस प्रकार उसने बाहर तथा अन्दर से अपने को पवित्र कर लिया था। वह स्नान करता और कन्द, बीज, पत्तियाँ, फूल, जड़ें, फल तथा घास खाता तथा जल पीता था। इस प्रकार वह कठिन तपस्या करने लगा। अन्त में वह अत्यन्त कृश कार्य हो गया।

तात्पर्य : यह हम निश्चित रूप से देख सकते हैं कि कृष्णभक्ति में अग्रसर होने के लिए मनुष्य को अपने शरीर-भार पर नियंत्रण रखना चाहिए। यदि कोई अत्यधिक मोटा हो जाए तो समझना चाहिए कि वह आध्यात्मिक रूप से उन्नति नहीं कर रहा है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर अपने मोटे शिष्यों की कटु आलोचना किया करते थे। भाव यह है कि जिसे कृष्णभक्ति में आगे बढ़ने की इच्छा हो उसे अत्यधिक भोजन नहीं करना चाहिए। भक्त लोग पहले जंगलों या पहाड़ों में तीर्थयात्रा के लिए जाते थे, किन्तु आजकल ऐसी कठिन तपस्या सम्भव नहीं है। मनुष्य को केवल इतना प्रसाद खाना चाहिए जो आवश्यकता से अधिक न हो। वैष्णव पंचांग के अनुसार उपवास के अनेक दिन हैं—यथा एकादशी तथा भगवान् एवं भक्तों के आविर्भाव एवं तिरोभाव के दिन। ये सारे उपवास शरीर की चर्बी को कम करने के उद्देश्य से हैं, जिससे भक्त न तो आवश्यकता से अधिक सोये और न निष्क्रिय तथा आलसी बने। अधिक खाने से अधिक नींद आयेगी। यह मनुष्य-जीवन तप के लिए मिला है और तप का अर्थ है संभोग, आहार इत्यादि पर नियंत्रण। इससे आध्यात्मिक कार्यों के लिए समय बचेगा और मनुष्य अपने को बाहर तथा भीतर दोनों प्रकार से शुद्ध कर सकता है। इस प्रकार से शरीर तथा मन दोनों शुद्ध

हो सकते हैं।

शीतोष्णवातवर्षाणि क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये ।
सुखदु:खे इति द्वन्द्वान्यजयत्समदर्शनः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

शीत—जाड़ा; उष्ण—गर्मी; वात—हवा; वर्षाणि—तथा वर्षा ऋतुएँ; क्षुत्—भूख; पिपासे—तथा प्यास; प्रिय—सुहावना; अप्रिये—तथा न अच्छा लगने वाला; सुख—सुख; दु:खे—तथा कष्ट; इति—इस प्रकार; द्वन्द्वानि—द्वैतभाव को; अजयत्—जीत लिया; सम-दर्शनः—समदर्शी, समदृष्टि रखने वाला।

तपस्या के द्वारा राजा मलयध्वज धीरे-धीरे शरीर तथा मन से जाड़ा तथा गर्मी, सुख तथा दुख, वायु तथा वर्षा, भूख तथा प्यास, अच्छा तथा बुरा इन द्वैतभावों के प्रति समान दृष्टि वाला हो गया। इस प्रकार उसने सभी द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त कर ली।

तात्पर्य : मुक्ति का अर्थ है संसार की द्वैतता से छुटकारा पाना। जब तक कोई स्वरूपसिद्ध नहीं होता उसे संसार के द्वन्द्व संघर्षो से गुजरना पड़ता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि वह सहनशीलता के द्वारा सारे द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त करे। श्रीकृष्ण संकेत करते हैं कि जाड़ा तथा गर्मी जैसे द्वन्द्व ही हमें इस संसार में कष्ट पहुँचाते हैं। जाड़ो में हम स्नान नहीं करना चाहते, किन्तु गर्मियों में हम दो-तीन बार स्नान करना चाहते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण यह उपदेश देते हैं कि जब जीवन में इस प्रकार के द्वन्द्व आये-जायें तो हमें विचलित नहीं होना चाहिए।

इन द्वन्द्वों में समदृष्टि रखने के लिए सामान्य मनुष्य को काफी तपस्या करनी पड़ती है। जो जीवन के द्वन्द्वों से विचलित होता है, वह एक सापेक्ष स्थिति ग्रहण कर चुका होता है, अत: उसे शास्त्रों में वर्णित तपस्या करनी होती है, जिससे वह इस भौतिक शरीर को लाँघ करके इस संसारिकता का अन्त कर दे। राजा मलयध्वज ने अपना गृहत्याग करके, कुलाचल जाकर, पवित्र नदियों में स्नान करके केवल फल, मूल, पत्तियाँ जैसी वनस्पतियाँ खाकर और पकाया हुआ भोजन या अन्न त्यागकर कठिन तपस्या की थी। ये अत्यन्त कठोर अभ्यास हैं। आजकल घर छोड़कर किसी जंगल में या हिमालय में जाकर कठिन तपस्या करना अत्यन्त दुष्कर है। एक तरह से यह असम्भव है। यदि किसी से मांसाहार, मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा तथा अवैध संभोग बन्द करने के लिए भी कहा जाये तो वह ऐसा नहीं कर पाता। अत: वह हिमालय या कुलाचल जाय भी तो वहाँ क्या करेगा? इस युग में ऐसा त्याग कठिन है, इसीलिए भगवान् कृष्ण ने भक्तियोग को स्वीकार करने की सलाह दी है। भक्तियोग स्वत: मनुष्य को

जीवन के द्वन्द्वों से उबारेगा। भक्तियोग में कृष्ण केन्द्रबिन्दु होते हैं और कृष्ण तो सदैव दिव्य हैं। इस प्रकार द्वन्द्वों को पार करने के लिए मनुष्य को सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहना चाहिए, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है और किसी भी दशा में नीचे नहीं गिरता, वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।''

यदि वास्तव में कोई भगवान् की भक्ति—भक्तियोग—में लगा है, तो वह स्वत: अपनी इन्द्रियों, अपनी वाणी तथा अन्य अनेक वस्तुओं पर नियंत्रण रखता है। यदि एक बार निष्ठापूर्वक भक्तियोग में लग जाया जाय तो फिर नीचे गिरने की कोई सम्भावना नहीं रहती। यदि वह नीचे गिरे भी तो भी कोई हानि नहीं होती। कुछ काल के लिए भले ही किसी के भक्ति-कार्य में अवरोध आ जाये, किन्तु ज्योंही उसे दूसरा अवसर मिलता है, तो अभ्यासकर्त्ता वहीं से उसे दोबारा प्रारम्भ करता है जहाँ पर उसने छोड़ा था।

तपसा विद्यया पक्वकषायो नियमैर्यमैः ।
युयुजे ब्रह्मण्यात्मानं विजिताक्षानिलाशयः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तपस्या से; विद्यया—शिक्षा से; पक्व—जलाकर; कषाय:—समस्त मल; नियमै:—विधानों से; यमै:—आत्मसंयम से; युयुजे—उसने स्थिर किया; ब्रह्मणि—ब्रह्म में, आत्म-साक्षात्कार में; आत्मानम्—अपने आपको; विजित—पूर्णतया वश में; अक्ष—इन्द्रियाँ; अनिल—प्राण; आशय:—चेतना।

पूजा से, तप साधना से तथा नियमों के पालन से राजा मलयध्वज ने अपनी इन्द्रियों, प्राण तथा चेतना को जीत लिया। इस प्रकार उसने हर वस्तु को परब्रह्म (कृष्ण) रूपी केन्द्रबिन्दु पर स्थिर कर लिया।

तात्पर्य : जब भी *ब्रह्म* शब्द आता है, तो निर्विशेषवादी इसका अर्थ ब्रह्मज्योति के रूप में करते हैं। किन्तु वास्तव में परब्रह्म तो कृष्ण या वासुदेव हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—*वासुदेव: सर्वमिति*—वासुदेव निर्गुण ब्रह्म की भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं। कोई ''किसी'' निराकार वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। इसलिए *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्—जिनके मन अप्रकट निराकार ब्रह्म में केन्द्रित हैं, उनके लिए प्रगति कर पाना कष्टप्रद है। अत: जब यहाँ पर यह कहा जाता है कि राजा मलयध्वज ने अपना मन *ब्रह्म* में स्थिर कर दिया तो *ब्रह्म* का अर्थ है भगवान् वासुदेव।

आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थिर: ।
वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्वहन्रतिम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

आस्ते—**रहे आये**; स्थाणु:—**अचल**; इव—**सदृश**; एकत्र—**एक स्थान पर**; दिव्यम्—**देवताओं के**; वर्ष—**वर्ष**; शतम्—**एक सौ**; स्थिर:—**स्थिर**; वासुदेवे—**भगवान् कृष्ण पर**; भगवति—**भगवान्**; न—**नहीं**; अन्यत्—**अन्य कुछ**; वेद—**जान पाये**; उद्वहन्—**रखते हुए**; रतिम्—**आसक्ति**।

इस प्रकार देवों की गणना के एक सौ वर्षों तक वे एक ही स्थान पर अचल बने रहे। इसके बाद उन्हें भगवान् कृष्ण के प्रति भक्तिमयी आसक्ति उत्पन्न हुई और वे उसी स्थिति में स्थिर रहे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ॥

"अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद जिसे वास्तव में ज्ञान होता है, वह मुझे समस्त करणों का कारण मानकर मेरी शरण में आता है और मुझी को सब कुछ मानता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।" वासुदेव श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं, जो यह जान लेता है, वह सबसे बड़ा योगी है। *भगवद्गीता* में यह बताया गया है कि लोग अनेक जन्मों के बाद इसे जान पाते हैं। इसकी पुष्टि इस श्लोक के *दिव्यं वर्षशतम्* शब्दों से भी होती है। देवताओं की गणना के अनुसार एक दिन (१२ घंटे) पृथ्वी के छह मास के बराबर होता है। देवताओं के सौ वर्ष पृथ्वी के छत्तीस हजार वर्षों के तुल्य हुए। इस प्रकार राजा मलयध्वज ने छत्तीस हजार वर्षों तक तपस्या की। इसके बाद वे भगवान् की भक्ति में स्थिर हुए। सामान्य मनुष्य को इतने वर्षों तक जीवित रहने के लिए अनेक बार जन्म लेना होगा। इससे श्रीकृष्ण के अभिमत की पुष्टि होती है। कृष्णचेतना प्राप्त करना तथा कृष्ण ही सब कुछ हैं, इस विचार में स्थिर रहना तथा कृष्ण की सेवा करना—ये सिद्धि अवस्था के लक्षण हैं। जैसाकि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.६२) में कहा गया है—*कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय।* जब कोई पूजा द्वारा या कृष्ण की भक्ति करते हुए इस निष्कर्ष तक पहुँचता है कि कृष्ण ही सब कुछ हैं, तो मनुष्य सचमुच ही सब तरह से

पूर्ण हो जाता है। उसे न केवल इस निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि कृष्ण ही सब कुछ हैं, वरन् इस विचार पर स्थिर भी रहना पड़ता है। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है और अन्त में मलयध्वज ने यही सिद्धि प्राप्त की।

स व्यापकतयात्मानं व्यतिरिक्ततयात्मनि ।
विद्वान्स्वप्न इवामर्शसाक्षिणं विरराम ह ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सः—राजा मलयध्वज; व्यापकतया—सर्वव्यापी होने से; आत्मानम्—परमात्मा को; व्यतिरिक्ततया—विभेद से; आत्मनि—अपने आप में; विद्वान्—सुशिक्षित; स्वप्ने—स्वप्न में; इव—सदृश; अमर्श—ज्ञान; साक्षिणम्—साक्षी; विरराम—उदासीन हो गया; ह—निश्चय ही।

आत्मा और परमात्मा में अन्तर कर सकने के कारण राजा मलयध्वज ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। आत्मा एक-स्थानिक है, जबकि परमात्मा सर्वव्यापी है। यह भौतिक देह आत्मा नहीं है, अपितु आत्मा इस भौतिक देह का साक्षी है—उन्हें इसका पूरा-पूरा ज्ञान हो गया।

तात्पर्य : बद्धजीव प्राय: भौतिक देह, आत्मा तथा परमात्मा का अन्तर समझने के प्रयास में निराश हो जाता है। मायावादी चिन्तक दो प्रकार के हैं—बौद्ध दर्शन के अनुयायी तथा शंकर-दर्शन के अनुयायी। बुद्ध के अनुयायी शरीर के परे कुछ भी नहीं मानते और शंकराचार्य के अनुयायी परमात्मा की पृथक् सत्ता को नहीं मानते। शांकरमत के अनुयायी विश्वास करते हैं कि अन्तत: आत्मा और परमात्मा एकरूप हैं। किन्तु वैष्णव चिन्तक पूर्ण ज्ञानी होने के कारण इस शरीर को बहिरंगा शक्ति से बना मानता है और परमात्मा, को प्रत्येक आत्मा के भीतर स्थित तथा इस प्रकार उससे भिन्न मानता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१३.३) में कहा है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

"हे अर्जुन! तुम जान लो कि मैं समस्त देहों को जाननेवाला हूँ। इस देह तथा इसके स्वामी को जानना ही ज्ञान है। ऐसा मेरा मत है।"

शरीर को क्षेत्र माना जाता है और आत्मा (जीव) को उस क्षेत्र में कार्य करने वाला। किन्तु एक अन्य आत्मा भी है, जिसे परमात्मा कहते हैं, जो आत्मा के साथ रहकर केवल साक्षी बना रहता है। आत्मा (जीव) कार्य करता है और शरीर के फलों का भोग करता है, किन्तु परमात्मा केवल आत्मा के

कार्यों को देखता हैं किन्तु कर्म-फलों का भोग नहीं करता। परमात्मा प्रत्येक कार्यक्षेत्र में वर्तमान है, किन्तु आत्मा तो केवल अपने सीमित शरीर में रहता है। राजा मलयध्वज को ज्ञान की यह पूर्णता प्राप्त थी, वह आत्मा, परमात्मा तथा भौतिक देह में अन्तर करने में सक्षम था।

साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप ।
विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता—भगवान् द्वारा; उक्तेन—आदेशित; गुरुणा—गुरु द्वारा; हरिणा—भगवान् हरि द्वारा; नृप—हे राजा; विशुद्ध—शुद्ध; ज्ञान—ज्ञान के; दीपेन—प्रकाश से; स्फुरता—प्रकाशित; विश्वतः-मुखम्—चारों ओर।

इस प्रकार राजा मलयध्वज को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई, क्योंकि शुद्ध अवस्था में उसे साक्षात् भगवान् ने उपदेश दिया था। ऐसे दिव्य ज्ञान के द्वारा वह प्रत्येक वस्तु को समस्त दृष्टिकोणों से समझ सकता था।

तात्पर्य : इस श्लोक में *साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा* पद महत्त्वपूर्ण है। जब भक्त भगवान् की भक्ति द्वारा अपने को पूर्णतः शुद्ध कर लेता है, तो भगवान् स्वयं आत्मा से बात करते हैं। *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् कृष्ण ने इसकी पुष्टि की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो प्रेमपूर्वक मेरी सतत पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

भगवान् प्रत्येक हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं और चैत्य गुरु अर्थात् आन्तरिक गुरु की तरह कार्य करते हैं। किन्तु वे सिद्ध भक्तों को ही साक्षात् आदेश देते हैं। प्रारम्भ में जब भक्त अत्यन्त निष्ठावान् होता है, तो भगवान् उसके अन्तःकरण से आदेश देते हैं कि गुरु के पास जाओ, किन्तु जब वह गुरु से भक्ति के विधि विधानों के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर लेता है और *राग-भक्ति* के स्तर को प्राप्त कर लेता है, तो भगवान् भी उसे अन्तःकरण से आदेश देते हैं—*तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।* यह स्पष्ट लाभ मुक्त जीव को प्राप्त होता है। इस अवस्था को प्राप्त करके राजा मलयध्वज परमेश्वर के सम्पर्क में आया और सीधे उनसे आदेश प्राप्त करने लगा।

परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथात्मनि ।
वीक्षमाणो विहायेक्षामस्मादुपरराम ह ॥ ४२॥

शब्दार्थ

परे—दिव्य; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; च—तथा; आत्मानम्—आत्मा को; परम्—परम; ब्रह्म—ब्रह्म; तथा—भी; आत्मनि—अपने में; वीक्षमाण:—देखते हुए; विहाय—त्याग कर; ईक्षाम्—अन्तर; अस्मात्—इस विधि से; उपरराम—शान्त हो गया; ह—निश्चय ही।

इस प्रकार राजा मलयध्वज परमात्मा को अपने पास बैठा हुआ और स्वयं आत्मा रूप को परमात्मा के निकट बैठा हुआ देख सकता था। चूँकि वे दोनों साथ-साथ थे, अत: उनके स्वार्थों का भिन्न होना आवश्यक न था। इस प्रकार उसने ऐसे कार्य करने बन्द कर दिये।

तात्पर्य : भक्ति की सिद्धावस्था में भक्त अपने तथा भगवान् के स्वार्थों में कोई अन्तर नहीं देखता। दोनों के स्वार्थ एकाकार हो जाते हैं। वह जो कुछ भी करता है, भगवान् के हित में करता है। साथ ही वह प्रत्येक वस्तु को परमात्मा में और परमात्मा को हर वस्तु में देखता है। इस अवस्था को प्राप्त हो जाने पर उसे आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों में कोई अन्तर नहीं दिखता। यह भौतिक जगत परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति होने के कारण उसके लिए आध्यात्मिक जगत बन जाता है। पूर्ण भक्त के लिए शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार तथाकथित भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत बन जाता है (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*)। प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा के लिए है और निपुण भक्त किसी भी तथाकथित वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए कर सकता है। आध्यात्मिक पद को प्राप्त किये बिना कोई भी भगवान् की सेवा नहीं कर सकता। इस प्रकार यदि किसी तथाकथित भौतिक वस्तु को भगवान् की सेवा में प्रयुक्त कर लिया जाये तो वह भौतिक नहीं रह जाती। इस प्रकार शुद्ध भक्त की पूर्ण दृष्टि चारों दिशाओं में देखती है।

पतिं परमधर्मज्ञं वैदर्भी मलयध्वजम् ।
प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा भोगान्सा पतिदेवता ॥ ४३॥

शब्दार्थ

पतिम्—अपने पति; परम—परम; धर्म-ज्ञम्—धर्म का ज्ञाता; वैदर्भी—राजा विदर्भ की पुत्री ने; मलय-ध्वजम्—मलयध्वज को; प्रेम्णा—प्रेम से; पर्यचरत्—भक्ति-पूर्वक सेवा की; हित्वा—त्याग कर; भोगान्—इन्द्रियसुख; सा—उसने; पति-देवता—पति को परमेश्वर मानकर।

राजा विदर्भ की कन्या अपने पति को परमेश्वर रूप में सर्वेसर्वा मानती थी। उसने सारे

इन्द्रिय-सुख त्याग दिये और पूर्णतः विरक्त होकर वह अपने परम ज्ञानी पति के सिद्धान्तों का पालन करने लगी। इस प्रकार वह उसकी सेवा में लगी रही।

तात्पर्य : अलंकारिक भाषा में राजा मलयध्वज गुरु रूप है और उसकी पत्नी वैदर्भी शिष्य है। शिष्य गुरु को परमेश्वर-रूप मानता है। जैसाकि *गुर्वाष्टक* में श्रील विश्वनाथ चन्द्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*साक्षाद्धरित्वेन*—"मनुष्य गुरु को साक्षात् भगवान् मानता है।" मनुष्य को मायावादी चिन्तकों की विधि से गुरु स्वीकार न करके यहाँ पर बताई गई विधि से स्वीकार करना चाहिए। चूँकि गुरु भगवान् का परम विश्वस्त दास होता है, इसलिए उसे भगवान् के ही समान मानना चाहिए। गुरु की एक सामान्य मनुष्य की भाँति, उपेक्षा या अवज्ञा नहीं की जानी चाहिए।

यदि कोई स्त्री इतनी भाग्यशाली हो कि वह किसी शुद्ध भक्त की पत्नी हो तो वह इन्द्रियतृप्ति की किसी इच्छा के बिना अपने पति की सेवा कर सकती है। यदि वह अपने उच्चस्थ पति की सेवा में लगी रहती है, तो उसे स्वतः ही अपने पति की आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि शिष्य को प्रामाणिक गुरु मिल जाता है, तो केवल उसको प्रसन्न करके वह भगवान् की सेवा का अवसर प्राप्त कर सकता है।

चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा ।
बभावुप पतिं शान्ता शिखा शान्तमिवानलम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

चीर-वासा—पुराने वस्त्र पहने; व्रत-क्षामा—तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल; वेणी-भूत—उलझे हुए, लटें पड़ीं; शिरोरुहा—उसके बाल; बभौ—चमकती थी; उप पतिम्—अपने पति के निकट; शान्ता—अत्यन्त शान्त; शिखा—लपटें; शान्तम्—बुझी हुई; इव—सदृश; अनलम्—अग्नि के।

राजा विदर्भ की पुत्री पुराने वस्त्र पहनती थी। वह तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल हो गई थी। वह अपने बाल नहीं सँवारती थी जिससे उसमें लटें पड़ गई थीं। यद्यपि वह सदैव अपने पति के निकट रहती थी, किन्तु वह अत्यन्त मौन थी तथा अविचलित अग्नि की लपट के समान अक्षुब्ध (शान्त) थी।

तात्पर्य : जब कोई लकड़ी जलाता है, तो पहले धुआँ तथा विक्षोभ होता है, किन्तु आग लगने पर लकड़ी ठीक से जलने लगती है। इसी प्रकार जब पति तथा पत्नी तप के नियमों का पालन करते हैं, तो वे शान्त रहते हैं और कामोत्तेजित नहीं होते। इस तरह पति-पत्नी दोनों को आध्यात्मिक लाभ मिलता

है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए विलासी जीवन का पूर्ण त्याग करना होता है।

इस श्लोक में *चीरवासा* शब्द पुराने फटे वस्त्रों के लिए आया है। पत्नी को विशेष रूप से संयमित होना चाहिए; उसे विलासी वस्त्रों की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उसे अपनी आवश्यकताएँ कम-से-कम कर देनी चाहिए और भोजन तथा नींद भी घटा देनी चाहिए। मैथुन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि पत्नी अपने विशुद्ध भक्त पति की सेवा में लगी रहे तो उसे कभी कामेच्छा नहीं सताती। वानप्रस्थ अवस्था ऐसी ही है। यद्यपि पति तथा पत्नी साथ-साथ रह सकते हैं, किन्तु पत्नी इतना तप करती है कि मैथुन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार पति तथा पत्नी निरन्तर साथ-साथ रहते हैं। चूँकि पत्नी सदैव पति से निर्बल होती है, अत: इस श्लोक में इसको *उप पतिम्* शब्द से व्यक्त किया गया है। *उप* का अर्थ है "के निकट" अथवा "लगभग समान।" पुरुष होने से पति अपनी पत्नी की अपेक्षा अधिक आगे बढ़ा होता है, तो भी पत्नी से आशा की जाती है कि वह अपनी विलासप्रिय आदतें छोड़ दे। उसे अच्छे वस्त्र तक नहीं पहनने चाहिए और न ही बाल सँवारने चाहिए। बाल सँवारना स्त्रियों का मुख्य कार्य है। वानप्रस्थ आश्रम में पत्नी को अपने बालों की परवाह नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार उसके बालों में गाठें पड़ जायेंगी। फलत: पत्नी पति के लिए मोहक नहीं रहेगी और स्वयं भी कामेच्छा से विचलित नहीं होगी। इस प्रकार पति-पत्नी दोनों आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर हो सकते हैं। यह उन्नत अवस्था परमहंस अवस्था कहलाती है और एक बार प्राप्त हो जाने पर पति-पत्नी देहात्मबुद्धि से छूट जाते हैं। यदि शिष्य गुरु की सेवा में अविचल रहे तो उसे माया के चंगुल में फँसने का डर नहीं रह जाता।

अजानती प्रियतमं यदोपरतमङ्गना ।
सुस्थिरासनमासाद्य यथापूर्वमुपाचरत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

अजानती—न जानने से; प्रिय-तमम्—प्राणप्रिय पति को; यदा—जब; उपरतम्—मर गया; अङ्गना—स्त्री; सुस्थिर—अविचल; आसनम्—आसन में; आसाद्य—निकट जाकर; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; उपाचरत्—सेवा करती रही।

राजा विदर्भ की पुत्री सुस्थिर मुद्रा में आसन लगाये अपने पति की तब तक पूर्ववत् सेवा करती रही, जब तक उसे यह पता नहीं लग गया कि उसने इस शरीर से कूच कर दिया है।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि रानी सेवा करते समय अपने पति से बोलती तक न थी। वह

केवल समुचित कार्य ही करती रहती थी। इस प्रकार उसने तब तक सेवा करनी बन्द नहीं की जब तक उसके पति के शरीर से प्राण निकल नहीं गये।

यदा नोपलभेताङ्घ्रावूष्माणं पत्युरर्चती ।
आसीत्संविग्नहृदया यूथभ्रष्टा मृगी यथा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; उपलभेत—अनुभव किया; अङ्घ्रौ—पावों में; ऊष्माणम्—गर्मी; पत्युः—अपने पति के; अर्चती—सेवा करते समय; आसीत्—हुई; संविग्न—चिन्तित; हृदया—हृदय में; यूथ-भ्रष्टा—अपने पति से बिछुड़ी; मृगी—हिरनी; यथा—जिस प्रकार।

जब वह अपने पति के चरण दबा रही थी तो उसे अनुभव हुआ कि उसके पाँव अब गरम नहीं हैं, अतः वह समझ गई कि उसने पहले ही इस शरीर को त्याग दिया है। अकेली छूट जाने पर उसे अत्यधिक चिन्ता हुई। अपने पति के साथ से विरहित वह अपने को उस मृगी के समान अनुभव करने लगी जो अपने पति से बिछुड़ गई हो।

तात्पर्य : ज्योंही शरीर में रक्त तथा वायु का संचार रुक जाता है, यह समझा जाता है कि आत्मा ने शरीर छोड़ दिया है। रक्त का संचार जब बन्द होता है, तो हाथ तथा पाँव ठंडे पड़ने लगते हैं। यह जानने के लिए कि शरीर जीवित है या नहीं, लोग हृदय की धड़कनों तथा हाथों और पाँवों का ठंडा पड़ना देखते हैं।

आत्मानं शोचती दीनमबन्धुं विक्लवाश्रुभिः ।
स्तनावासिच्य विपिने सुस्वरं प्ररुरोद सा ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—अपने विषय में; शोचती—विलाप करती; दीनम्—दुखियारी; अबन्धुम्—बिना मित्र के; विक्लव—भग्नहृदया; अश्रुभिः—आँसुओं से; स्तनौ—उसके स्तन; आसिच्य—भिगोती; विपिने—जंगल में; सुस्वरम्—जोर से; प्ररुरोद—रोने लगी; सा—वह।

जंगल में अकेली तथा विधवा जाने पर विदर्भ की पुत्री विलाप करने लगी; उसके आँसू निरन्तर झड़ रहे थे जिससे उसके स्तन भीग गये थे और वह जोर-जोर से रो रही थी।

तात्पर्य : प्रतीकात्मक रूप में रानी को राजा की शिष्या माना गया है, अतः जब गुरु का मर्त्य शरीर छूटता है, तो शिष्य को उसी प्रकार रोना चाहिए जिस प्रकार राजा के मरने पर रानी रोती है। किन्तु शिष्य तथा गुरु कभी विलग नहीं होते, क्योंकि जब तक शिष्य गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन

करता रहता है तब तक गुरु शिष्य के साथ रहता है। यह *वाणी* (शब्दों) की संगति कहलाती है। भौतिक उपस्थिति *वपु:* कहलाती है। जब तक गुरु भौतिक रूप में उपस्थित रहे, शिष्य को चाहिए कि गुरु के भौतिक शरीर की सेवा करे और जब उसका भौतिक शरीर न रहे तो शिष्य को चाहिए कि गुरु के आदेशों का पालन करे।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे इमामुदधिमेखलाम् ।
दस्युभ्य: क्षत्रबन्धुभ्यो बिभ्यतीं पातुमर्हसि ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

उत्तिष्ठ—उठिये; उत्तिष्ठ—उठिये; राज-ऋषे—हे राजर्षि; इमाम्—यह पृथ्वी; उदधि—समुद्र से; मेखलाम्—घिरी हुई; दस्युभ्य:—चोरों से; क्षत्र-बन्धुभ्य:—दुष्ट राजाओं से; बिभ्यतीम्—अत्यधिक डरी; पातुम्—रक्षा करना; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

हे राजर्षि, उठिये, उठिये, देखिये, ''जल से घिरी हुई यह पृथ्वी चोरों एवं तथाकथित राजाओं से भरी पड़ी है।'' यह संसार अत्यधिक भयभीत है। आपका कर्तव्य है कि आप उसकी रक्षा करें।

तात्पर्य : जब कभी भगवान् या उनके प्रतिनिधि की आज्ञा से किसी आचार्य का आगमन होता है, तो वह धर्म स्थापित करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। *धर्म* का अर्थ है भगवान् के आदेशों के अनुसार चलना। धर्म उसी समय से प्रारम्भ होता है जब कोई भगवान् की शरण में जाता है। आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रामाणिक धार्मिक प्रणाली चलाए और सबों को भगवान् के समक्ष नतमस्तक होने के लिए प्रेरित करे। धर्म का पालन करने के लिए भक्ति की जाती है, जिसमें विशेषकर श्रवण, कीर्तन, स्मरण जैसे नौ विभाग हैं। दुर्भाग्यवश जब आचार्य नहीं रहता तो चोर तथा अभक्त लाभ उठाकर तथाकथित स्वामियों, योगियों, उपकारियों, सामाजिक कार्यकताओं इत्यादि के रूप में अवैध सिद्धान्तों का प्रचलन कर देते हैं। वास्तव में मनुष्य-जीवन तो परमेश्वर की आज्ञाओं के पालन हेतु है, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३४) में कहा गया है—

मन्मना भव मभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥

''सदैव मेरे विषय में सोचने में अपना मन लगाओ तथा मेरे भक्त बनो। मुझे नमस्कार करो और मेरी पूजा करो। मुझमें पूर्णत: लिप्त रहकर तुम अवश्य ही मेरे पास आओगे।''

मानव-समाज का मुख्य कार्य ईश्वर के विषय में सदैव चिन्तन करना, उनका भक्त बनना, उनकी पूजा करना और उनके समक्ष नतमस्तक होना है। आचार्य, जो भगवान् का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है, इन सिद्धान्तों की स्थापना करता है, किन्तु जब उसका निधन हो जाता है, तो ये सारी बातें पुन: अव्यवस्थित हो जाती हैं। आचार्य के असली शिष्य इस स्थिति से उबरने के लिए गुरु के आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं। इस समय एक प्रकार से सारा संसार चोरों तथा अभक्तों से भयभीत है, अत: यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन संसार को अधार्मिक सिद्धान्तों से बचाने के लिए चलाया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि इस आन्दोलन में सहयोग दे, जिससे संसार में वास्तविक शान्ति तथा सुख लाये जा सकें।

एवं विलपन्ती बाला विपिनेऽनुगता पतिम् ।
पतिता पादयोर्भर्तू रुदत्यश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विलपन्ती—विलाप करती; बाला—अबोध स्त्री, अबला; विपिने—निर्जन वन में; अनुगता—साथ गई हुई; पतिम्—पति को; पतिता—गिरी हुई; पादयो:—पैरों पर; भर्तु:—पति के; रुदती—रोती हुई; अश्रूणि—आँसू; अवर्तयत्—गिरा रही थी।

इस प्रकार वह परम आज्ञाकारिणी पत्नी अपने मृत पति के चरणों पर गिर पड़ी और उस एकान्त वन में करुण क्रन्दन करने लगी। उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे।

तात्पर्य : जिस प्रकार पतिपरायणा पत्नी अपने पति के मरने पर दुखी होती है, उसी तरह जब गुरु मरता है, तो सारे शिष्य शोक-संतप्त हो जाते हैं।

चितिं दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्यु: कलेवरम् ।
आदीप्य चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

चितिम्—चिता; दारु-मयीम्—लकड़ी से बनी; चित्वा—चुनकर; तस्याम्—उस पर; पत्यु:—पति का; कलेवरम्—शरीर; आदीप्य—जलाकर; च—भी; अनुमरणे—उसके साथ मरने के लिए; विलपन्ती—विलाप करती; मन:—अपना मन; दधे—स्थिर किया।

तब उसने लकड़ियो से चिता बनाकर और अग्नि लगाकर उसमें अपने पति के शव को रख दिया। इस सबके बाद वह दारूण विलाप करने लगी और अपने पति के साथ अग्नि में भस्म होने के लिए स्वयं भी तैयार हो गयी।

तात्पर्य : यह अत्यन्त प्राचीन वैदिक प्रथा है कि श्रद्धावान पत्नी अपने पति के साथ ही मर जाती है। यह *सह-मरण* कहलाता है। यह प्रथा भारत में अंग्रेजों के आगमन काल तक प्रचलित थी। किन्तु उस समय तक यदि कोई स्त्री पति के साथ नहीं मरना चाहती थी तो कभी-कभी उसके सम्बन्धी उसे बलपूर्वक ऐसा करने के लिए बाध्य कर देते थे। पहले ऐसा न था। पत्नी स्वेच्छा से अग्नि में प्रवेश करती थी। ब्रिटिश सरकार ने इसे अमानुषिक समझ कर बन्द करा दिया। किन्तु हम भारत के प्राचीन इतिहास में पाते हैं कि जब महाराज पाण्डु मरे तो उनकी दो पत्नियाँ माद्री तथा कुन्ती जीवित थीं। प्रश्न यह था कि वे दोनों मरें या एक। महाराज पाण्डु की मृत्यु के बाद यह तय हुआ कि केवल एक ही मरे—माद्री अपने पति के साथ मरे और कुन्ती पाँचों पाण्डवों के पालन के लिए जीवित रहे। हमने १९३६ में देखा है कि एक पतिपरायणा पत्नी स्वेच्छा से अपने पति के साथ अग्नि में प्रविष्ट हुई थी।

इससे सूचित होता है कि भक्त की पत्नी को ऐसा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसी प्रकार गुरुभक्त शिष्य को चाहिए कि यदि वह गुरु के सन्देश को कार्य रूप देने में असफल रहता है, तो वह गुरु के साथ मर जाए। जिस प्रकार भगवान् इस पृथ्वी पर धर्म की पुनर्स्थापना के लिए आते हैं उसी तरह उनका प्रतिनिधि—गुरु—भी धर्म की पुनर्स्थापना के लिए आता है। यह तो शिष्यों का कर्तव्य है कि गुरु के सन्देश को ग्रहण करके उसे कार्यरूप में परिणत करें। अन्यथा अच्छा हो कि शिष्य भी गुरु के साथ मर जाये। दूसरे शब्दों में, गुरु की इच्छापूर्ति के लिए शिष्य को अपना जीवन-उत्सर्ग करने तथा अपने सारे निजी विचारों को त्यागने के लिए सन्नद्ध होना चाहिए।

तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान् ।
सान्त्वयन्वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; पूर्वतरः—पहले का पुराना; कश्चित्—कोई; सखा—मित्र; ब्राह्मणः—ब्राह्मण ने; आत्मवान्—अत्यन्त विद्वान्; सान्त्वयन्—सान्त्वना देते हुए; वल्गुना—अत्यन्त मधुर; साम्ना—शमन करने वाली वाणी से; ताम्—उसको; आह—कहा; रुदतीम्—रोदन करती हुई; प्रभो—हे राजा!.

हे राजन्, एक ब्राह्मण, जो राजा पुरञ्जन का पुराना मित्र था उस स्थान पर आया और रानी को मृदुल वाणी से सान्त्वना देने लगा।

तात्पर्य : पुराने मित्र का ब्राह्मण रूप में प्रकट होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परमात्मा रूप में कृष्ण सबके पुराने सखा हैं। वैदिक आदेशों के अनुसार कृष्ण जीव के पास बैठे रहते हैं। इस श्रुति मंत्र—*द्वा*

सुपर्णा सयुजा सखाया:—भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में सुहृद रूप में स्थित रहता है। भगवान् सदैव इच्छुक रहता है कि जीव उसके धाम वापस आये। साक्षी के रूप में जीव के पास बैठकर भगवान् उसे समस्त भौतिक सुखों को भोगने का अवसर प्रदान करता है, किन्तु जब भी समय मिलता है, तो वह उसे उपदेश भी देता है कि भौतिक साधनों से सुख भोगने की अपेक्षा वह भगवान् की ओर मुख मोड़े और उसका शरणागत बने। जब कोई अपने गुरु के सन्देश का अनुगमन करते के लिए उद्यत रहता है, तो उसका यह संकल्प भगवान् के दर्शन करने के समान होता है। जैसाकि पहले कहा गया है इसका अर्थ हुआ गुरु के आदेश से भगवान् से भेंट। यह *वाणी-सेवा* कहलाती है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *भगवद्गीता* के *व्यवसायात्मिका बुद्धरेकेह कुरुनन्दन* (२.४१) श्लोक की टीका करते हुए कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि गुरु के वचनों की सेवा करे। शिष्य को चाहिए कि जो गुरु आज्ञा दे उस पर दृढ़ रहे। इसी दिशा में चलकर वह भगवान् का दर्शन करता है।

भगवान् रानी के समक्ष ब्राह्मण रूप में प्रकट हुए, किन्तु वे अपने मूलरूप में श्रीकृष्ण रूप में क्यों नहीं प्रकट हुए? श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जब तक कोई भगवान् के प्रेम में अत्यधिक आगे बढ़ा हुआ नहीं होता तब तक वह उन्हें उस रूप में नहीं देख सकता। फिर भी यदि वह अपने गुरु द्वारा बनाये गये नियमों में दृढ़ रहता है, तो वह किसी-न-किसी तरह भगवान् की संगति प्राप्त करता है। चूँकि भगवान् हृदय में स्थित हैं, अत: वे निष्ठावान् शिष्य को अन्त:करण से उपदेश दे सकते हैं। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में हुई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई शिष्य अपने गुरु के सन्देश को कार्य-रूप देना चाहता है, तो वह तुरन्त *वाणी* या *वपु:* से परमेश्वर की संगति प्राप्त करता है। भगवान् के दर्शन का यही रहस्य है। भगवान् को वृन्दावन के किसी कुंज में विहार करते हुए देखने की अपेक्षा, यदि कोई अपने गुरु के वचनों के पालन के नियम पर दृढ़ रहे तो वह बिना किसी कठिनाई के परमेश्वर का दर्शन कर सकता

है। इसीलिए श्रील बिल्व मंगल ठाकुर ने कहा है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्

दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः।

मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान्

धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः॥

"हे भगवान्! यदि मैं आपकी भक्ति में लगा होऊँ तो मैं आपको सर्वत्र उपस्थित पा सकता हूँ। जहाँ तक मुक्ति का प्रश्न है, मेरे विचार में वह तो मेरे द्वार पर हाथ जोड़े मेरी सेवा करने के लिए प्रतीक्षा करती है और उसके साथ धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी सारी भौतिक सुविधाएँ खड़ी रहती हैं।" (*कृष्ण-कर्णामृत* १०७)। यदि कोई भक्ति में बहुत आगे बढ़ा हुआ है, तो उसे भगवान् के दर्शन करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। यदि कोई अपने गुरु की सेवा करता है, तो वह न केवल भगवान् के दर्शन करता है, अपितु मुक्ति भी प्राप्त करता है। जहाँ तक भौतिक सुख-सुविधाएँ हैं, वे स्वतः आती हैं, जिस प्रकार रानी के पीछे-पीछे दासियाँ जाती हैं। शुद्ध भक्त के लिए मुक्ति कोई समस्या नहीं होती। सारी भौतिक सुविधाएँ जीवन के हर स्तर पर उसकी प्रतीक्षा करती रहती हैं।

ब्राह्मण उवाच
का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि ।
जानासि किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ ह ॥५२॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—विद्वान् ब्राह्मण ने कहा; का—कौन; त्वम्—तुम; कस्य—किसकी; असि—हो; कः—कौन; वा—अथवा; अयम्—यह पुरुष; शयानः—लेटा हुआ; यस्य—जिसके लिए; शोचसि—तुम विलाप कर रही हो; जानासि किम्—क्या तुम जानती हो; सखायम्—मित्र को; माम्—मुझको; येन—जिसके साथ; अग्रे—पहले; विचचर्थ—तुम विचार-विमर्श करती थी; ह—निश्चय ही।

ब्राह्मण ने इस प्रकार पूछा: तुम कौन हो? तुम किसकी पत्नी या पुत्री हो? यहाँ लेटा हुआ पुरुष कौन है? ऐसा प्रतीत होता है कि तुम इस मृत शरीर के लिए विलाप कर रही हो। क्या तुम मुझे नहीं पहचानती हो? मैं तुम्हारा शाश्वत सखा हूँ। तुम्हें स्मरण होगा कि पहले तुमने मुझसे कई बार परामर्श किया है।

तात्पर्य : जब किसी व्यक्ति का कोई सम्बन्धी मरता है, तो विरक्ति स्वतः उत्पन्न होती है। यदि भौतिक आसक्ति के कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हुआ जा सके तभी अन्तःकरण में स्थित परमात्मा से

परामर्श करना सम्भव है। जो शुद्ध एवं निष्ठावान् है उसे हृदयस्थ परमात्मा से परामर्श करने का अवसर प्राप्त होता है। परमात्मा शाश्वत चैत्यगुरु है और वह बाह्य रूप में उपदेशक तथा दीक्षा-गुरु के रूप में प्रकट होता है। भगवान् अन्त:करण में निवास कर सकता है और मनुष्य के समक्ष प्रकट होकर उसे उपदेश भी दे सकता है। इस तरह गुरु अन्त:करण में स्थित परमात्मा से भिन्न नहीं होता। किसी भी कल्मषहीन आत्मा या जीव को परमात्मा से साक्षात्कार का अवसर प्राप्त हो सकता है। जिस प्रकार अन्त:करण में स्थित परमात्मा से परामर्श करने का अवसर प्राप्त होता है, उसी तरह अपने सम्मुख स्थित परमात्मा को देखने का अवसर मिलता है। तब मनुष्य परमात्मा से साक्षात् परामर्श कर सकता है। यह शुद्ध भक्त का कर्तव्य है कि वह प्रामाणिक गुरु के पास जाए और अन्त:करण में स्थित परमात्मा से परामर्श करे।

जब ब्राह्मण ने स्त्री से पूछा कि भूमि पर लेटा कौन है, तो उस स्त्री ने उत्तर दिया कि वह उसका गुरु है और उसके अभाव से वह अत्यन्त व्यग्र है कि वह क्या करे। ऐसे अवसर पर परमात्मा तुरन्त प्रकट हो आता है, बशर्ते कि भक्त गुरु के आदेशों का पालन करके अपने हृदय को शुद्ध कर चुका हो। एक निष्ठावान् भक्त जो गुरु के आदेशों का पालन करता है, निश्चय ही, परमात्मा से अपने हृदय के माध्यम से आदेश प्राप्त करता है। इस प्रकार निष्ठावान् भक्त की सहायता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से गुरु तथा परमात्मा द्वारा की जाती है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में इसकी पुष्टि होती है—*गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज*—यदि भक्त अपने गुरु की निष्ठापूर्वक सेवा करता है, तो कृष्ण स्वत: प्रसन्न होते हैं। *यस्य प्रसादाद् भगवद् प्रसाद: ।* गुरु को प्रसन्न कर लेने पर श्रीकृष्ण स्वत: प्रसन्न हो जाते हैं। इस प्रकार भक्त अपने गुरु तथा परमात्मा दोनों का लाभ उठाता है। परमात्मा आन्तरिक रूप से जीवात्मा का सखा है और सदैव उसके साथ रहता है। परमात्मा जीव की सहायता के लिए सदैव, यहाँ तक कि इस जगत की उत्पत्ति के पूर्व भी, उद्यत रहा है। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है—*येनाग्रे विचचर्थ। अग्रे* शब्द का अर्थ है "उत्पत्ति के पूर्व।" इस प्रकार परमात्मा जीव के साथ सृष्टि के पूर्व से रह रहा है।

अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे ।
हित्वा मां पदमन्विच्छन्भौमभोगरतो गतः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

अपि स्मरसि—क्या तुम्हें स्मरण है; च—भी; आत्मानम्—परमात्मा को; अविज्ञात—अज्ञात; सखम्—मित्र को; सखे—हे मित्र; हित्वा—छोड़कर; माम्—मुझको; पदम्—पद, स्थिति; अन्विच्छन्—चाहते हुए; भौम—भौतिक; भोग—सुख; रतः—अनुरक्त; गतः—हो गये।.

ब्राह्मण ने आगे कहा : हे मित्र, यद्यपि इस समय तुम मुझे तुरन्त नहीं पहचान सकते हो, किन्तु क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि भूतकाल में तुम मेरे अन्तरंग मित्र थे? दुर्भाग्यवश तुमने मेरा साथ छोड़ कर इस भौतिक जगत के भोक्ता का पद स्वीकार किया था।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२७) में कहा गया है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत।

सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

''हे अर्जुन! हे शत्रुओं के विजेता! सभी जीव मोह में उत्पन्न होते हैं और इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व द्वारा अभिभूत होते हैं।'' इस तथ्य की यह व्याख्या है कि किस प्रकार से जीव इस भौतिक जगत में आ पड़ता है। आध्यात्मिक जगत में न द्वैत है, न ही घृणा। भगवान् अनेक रूपों में अपना विस्तार करते हैं। अधिकाधिक आनन्द उठाने के लिए वे विभिन्न कोटियों में अपना विस्तार करते हैं। जैसाकि *वराह पुराण* में उल्लेख है—वे *विष्णु-तत्त्व* (*स्वांश* रूप) तथा अपनी तटस्था शक्ति (*विभिन्नांश,* जीव) में स्वयं विस्तार करते हैं। इस प्रकार से विस्तारित जीवों की संख्या अनन्त है, जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश के कण सूर्य के असंख्य विस्तार हैं। जीव *विभिन्नांश* और भगवान् की तटस्था शक्ति हैं। जब जीवों को भोग की इच्छा होती है, तो वे द्वंद्व (द्वैत) की चेतना विकसित करते हैं और भगवान् की सेवा करने से घृणा करने लगते हैं। इस प्रकार जीव इस भौतिक जगत में आ पड़ते हैं। *प्रेम विवर्त* में कहा गया है—

कृष्ण-बहिर्मुख हञा भोग-वाञ्छा करे।

निकट-स्थ माया तारे जापटिया धरे॥

जीव की सहज स्थिति यह है कि वह दिव्य प्रेमभाव से भगवान् की सेवा करे। किन्तु जब जीव श्रीकृष्ण की नकल करना चाहता है या स्वयं कृष्ण बनना चाहता है, तो वह भौतिक जगत में आ गिरता है। चूँकि श्रीकृष्ण परम पिता हैं, इसलिए जीवों के प्रति उनका स्नेह नित्य है। जब जीव भौतिक जगत में आ गिरता है, तो परमेश्वर अपने स्वांश विस्तार (परमात्मा) से जीव के साथ रहते हैं। इस प्रकार किसी-न-किसी दिन जीव भगवान् के धाम वापस जा सकता है।

अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करने से जीव भगवान् की सेवा से च्युत होता है और इस जगत में

भोक्ता के रूप में पद प्राप्त करता है। उससे भी ऊँचा पद प्राप्त करने की इच्छा से जीव उल्टे जन्म-मरण के चक्कर में फँस जाता है। वह अपना पद मनुष्य, देवता, बिल्ली, कुत्ता, वृक्ष इत्यादि के रूप में चुनता है। इस प्रकार जीव चौरासी लाख योनियों में से शरीर ग्रहण करके अनेक प्रकार के सुखोपभोगों से अपने को सन्तुष्ट करता है, किन्तु परमात्मा यह नहीं चाहता कि जीव यह सब करे। फलतः परमात्मा उससे भगवान् की शरण में आने के लिए आदेश देता है। तब परमात्मा जीव का भार अपने ऊपर ले लेता है। किन्तु जब तक जीव भौतिक इच्छाओं से अदूषित न हो तब तक वह परमेश्वर की शरण में नहीं जा सकता। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"साधु पुरुष मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का परम कारण, समस्त लोकों तथा देवताओं का स्वामी तथा जीवों का कल्याणकर्त्ता हितैषी मानते हुए भौतिक यातनाओं से शान्ति प्राप्त करते हैं।"

परमेश्वर सबों का परम मित्र है, किन्तु जब कोई सुखी रहने की अपनी योजना बना रहा हो और इस तरह प्रकृति के गुणों में स्वयं को उलझा रहा हो तो वह अपने परम मित्र के आदेश से लाभ नहीं उठा सकता है। जब सृष्टि होती है, तो जीव अपनी पूर्व इच्छाओं के अनुसार विविध रूप धारण करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी योनियाँ या जीव-रूप एकसाथ उत्पन्न होते हैं। डार्विन का यह सिद्धान्त, कि प्रारम्भ में मनुष्य नहीं था, अपितु वह अनेकानेक वर्षों में विकसित हुआ, मात्र एक मूर्खतापूर्ण कथन है। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि इस ब्रह्माण्ड का प्रथम प्राणी ब्रह्मा था। सर्वाधिक बुद्धिमान होने के कारण उसने संसार-भर में पाई जाने वाली समस्त योनियों की सृष्टि का कार्यभार अपने ऊपर ले लिया।

हंसावहं च त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ ।
अभूतामन्तरा वौकः सहस्रपरिवत्सरान् ॥५४॥

शब्दार्थ

हंसौ—दो हंस; अहम्—मैं; च—यथा; त्वम्—तुम; च—भी; आर्य—हे महापुरुष; सखायौ—दो मित्र; मानस-अयनौ—मानस सरोवर में एकसाथ; अभूताम्—हो गये; अन्तरा—पृथक्; वा—निस्सन्देह; ओकः—अपने असली घर से; सहस्र—हजारों; परि—लगातार; वत्सरान्—वर्षों।

हे मित्र, मैं और तुम दोनों हंसों के तुल्य हैं। हम एक ही मानसरोवर रूपी हृदय में साथ-साथ

रहते हैं, यद्यपि हम हजारों वर्षों से साथ साथ रह रहे हैं। किन्तु फिर भी हम अपने मूल निवास से बहुत दूर हैं।

तात्पर्य : जीव तथा भगवान् का मूल स्थान आध्यात्मिक जगत है जहाँ वे दोनों शान्तिपूर्वक एकसाथ रहते हैं। चूँकि जीव भगवान् की सेवा में लगा रहता है, इसलिए वे दोनों आध्यात्मिक जगत में आनन्दमय जीवन बिताते हैं। किन्तु जब जीव आनन्द उठाना चाहता है, तो वह भौतिक जगत में आ गिरता है। इस स्थिति में भी भगवान् उसके साथ परमात्मा रूप में सुहृद रहता है। अपनी विस्मृति के कारण जीव को पता नहीं चलता कि परमेश्वर परमात्मा रूप में उसके साथ है। इस प्रकार जीव प्रत्येक कल्प में बद्ध बना रहता है। यद्यपि भगवान् उसके मित्र के रूप में उसके साथ-साथ रहता है, किन्तु जीव विस्मृति के कारण उसे पहचान नहीं पाता।

स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम् ।
विचरन्पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह हंस; त्वम्—तुम्हीं; विहाय—छोड़कर; माम्—मुझको; बन्धो—हे मित्र; गतः—चला गया; ग्राम्य—भौतिक; मतिः—चेतना; महीम्—पृथ्वी पर; विचरन्—घूमते हुए; पदम्—पद; अद्राक्षीः—तुमने देखा; कयाचित्—किसी के द्वारा; निर्मितम्—निर्मित; स्त्रिया—स्त्री द्वारा।

हे मित्र, तुम मेरे वही मित्र हो। जबसे तुमने मुझे छोड़ा है, तुम अधिकाधिक भौतिकतावादी हो गये हो और मेरी ओर न देख कर तुम इस संसार में, जिसे किसी स्त्री ने निर्मित किया है, विभिन्न रूपों में घूमते रहे हो।

तात्पर्य : जब जीव नीचे गिरता है, तो वह भौतिक जगत में आता है, जिसकी सृष्टि भगवान् की बहिरंगा शक्ति से हुई है। यहाँ पर इस शक्ति को "कोई स्त्री" या प्रकृति के रूप में वर्णित किया गया है। यह भौतिक जगत उन तत्त्वों से बना है, जो महत् तत्त्व से प्राप्त हुए। यह भौतिक जगत इस प्रकार बहिरंगा शक्ति द्वारा उत्पन्न होकर बद्धजीव का तथाकथित निवासस्थान बन जाता है। इस भौतिक जगत में जीव विभिन्न घर या कि विभिन्न शरीर स्वीकार करके इधर-उधर विचरता है। कभी वह उच्च लोकों का भ्रमण करता है, तो कभी निम्न लोकों का। कभी वह उच्च योनियों में घूमता है, तो कभी निम्न योनियों में। इस प्रकार वह अनन्त काल से इस भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर विचरता रहा है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

(*श्रीचैतन्य-चरितामृत, मध्य* १९.१५१)

जीव अनेक योनियों में घूमता रहता है, किन्तु वह भाग्यशाली होता है जब उसकी पुन: अपने मित्र से या तो साक्षात् या उसके प्रतिनिधि रूप में, भेंट होती है।

वास्तव में श्रीकृष्ण ही समस्त जीवों को भगवान् के धाम लौटने का उपदेश देते हैं। कभी-कभी वे अपना प्रतिनिधि भेजते हैं, जो उनके संदेश को जीवों तक पहुँचा कर उन्हें भगवान् के धाम लौटने के लिए प्रेरित करते हैं। दुर्भाग्यवश जीव भौतिक सुख में इतना लिप्त है कि वह न तो कृष्ण, न उनके प्रतिनिधि के आदेशों को गम्भीरता से लेता है। इस भौतिक प्रवृत्ति को इस श्लोक में *ग्राम्यमति:* (इन्द्रियतृप्ति) कहा गया है। *महीम्* शब्द का अर्थ है "इस भौतिक जगत के अन्दर।" इस भौतिक जगत में सारे जीव कामोन्मुख हैं। फलत: वे अनेक शरीरों में बँध जाते हैं और संसार के कष्टों को सहते रहते हैं।

पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम् ।
षट्कुलं पञ्चविपणं पञ्चप्रकृति स्त्रीधवम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

पञ्च-आरामम्—पाँच उद्यान; नव-द्वारम्—नौ द्वार; एक—एक; पालम्—पालक; त्रि—तीन; कोष्ठकम्—कमरे; षट्—छह; कुलम्—परिवार; पञ्च—पाँच; विपणम्—बाजार; पञ्च—पाँच; प्रकृति—भौतिक तत्त्व; स्त्री—स्त्री; धवम्—स्वामी।

उस नगर (शरीर) में पाँच उद्यान, नौ द्वार, एक पालक (रक्षक), तीन कमरे, छह परिवार, पाँच बाजार, पाँच तत्त्व तथा एक स्त्री है, जो घर की स्वामिनी है।

पञ्चेन्द्रियार्था आरामा द्वार: प्राणा नव प्रभो ।
तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसङ्ग्रह: ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच; इन्द्रिय-अर्था:—इन्द्रियविषय; आरामा:—उद्यानों; द्वार:—दरवाजे; प्राणा:—इन्द्रियों के छिद्र; नव—नौ; प्रभो—हे राजा; तेज:-अप्—अग्नि तथा जल; अन्नानि—अन्न या पृथ्वी; कोष्ठानि—कोठे, कमरे; कुलम्—कुल, परिवार; इन्द्रिय-सङ्ग्रह:—पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन।

हे मित्र, पाँच उद्यान पाँच प्रकार के इन्द्रियसुख के विषय हैं और इसका रखवाला प्राण है, जो नौ द्वारों से आता जाता है। तीन प्रकोष्ठ तीन प्रमुख अवयव—अग्नि, जल तथा पृथ्वी—हैं।

मन समेत पाँचों इन्द्रियों का समुच्चय इसके छह परिवार हैं।

तात्पर्य : पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—दृष्टि, स्वाद, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श। ये नौ द्वारों से होकर कार्य करती हैं, जो इस प्रकार हैं—दो आँखें, दो कान, एक मुँह, दो नथुने, एक जननेन्द्रिय तथा एक गुदा। ये छिद्र नगर के परकोटे के दरवाजों के तुल्य हैं। प्रमुख अवयव हैं—पृथ्वी, जल तथा अग्नि और मुख्यकर्त्ता है मन जो बुद्धि द्वारा अनुशासित है।

विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूतप्रकृतिरव्यया ।
शक्त्यधीशः पुमांस्त्वत्र प्रविष्टो नावबुध्यते ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

विपणः—बाजार; तु—तब; क्रिया-शक्तिः—कर्मेन्द्रियाँ; भूत—पाँच स्थूल तत्त्व; प्रकृतिः—भौतिक तत्त्व; अव्यया—शाश्वत; शक्ति—शक्ति; अधीशः—नियामक; पुमान्—मनुष्य; तु—तब; अत्र—यहाँ; प्रविष्टः—घुसा हुआ; न—नहीं; अवबुध्यते—समझ में आता है।

पाँच बाजार पाँचों कर्मेन्द्रियाँ हैं। वे पाँच शाश्वत तत्त्वों की संयुक्त शक्ति से अपना व्यापार करती हैं। इस सारी कर्मठता के पीछे आत्मा काम करता है। आत्मा पुरुष है और वही वास्तविक भोक्ता है। किन्तु इस समय शरीर रूपी नगर के भीतर छिपा होने के कारण वह ज्ञानशून्य है।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि में जीवात्मा पाँच तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, आकाश तथा समीर—के बल पर प्रवेश करता है और इस प्रकार उसका शरीर बनता है। यद्यपि जीवात्मा भीतर से कार्य करता है, किन्तु फिर भी वह अज्ञात रहता है। जीवात्मा भौतिक सृष्टि में प्रवेश करता है, किन्तु माया से मोहित होने के कारण वह प्रच्छन्न रहता है। अज्ञान (*नावबुध्यते*) के कारण देहात्मबुद्धि की प्रधानता रहती है। यद्यपि बुद्धि स्त्रीलिंग है, किन्तु समस्त कार्यों में उसकी प्रधानता के कारण इस श्लोक में उसे *अधीशः* या नियामक कहा गया है। जीव अग्नि, जल तथा अन्न के बल पर जीवित रहता है। इन तीनों के संयोग से ही शरीर का पालन होता है। इसीलिए शरीर को प्रकृति या भौतिक सृष्टि कहा जाता है। सारे तत्त्व क्रमशः मिलकर मांस, अस्थि, रक्त इत्यादि बनाते हैं। ये सब विभिन्न कमरों के समान हैं। वेदों में कहा गया है कि पचने के बाद भोजन तीन भागों में बँट जाता है। ठोस अंश मल बन जाता है और अर्धतरल अंश मांस में परिणत हो जाता है। द्रव भाग पीला होता जाता है और यह पुनः तीन भागों में बँट जाता है। इनमें से एक मूत्र कहलाता है। इसी प्रकार अग्नि भाग भी तीन में विभाजित हो जाता है, जिनमें से एक अस्थि कहलाता है। पाँच तत्त्वों में से अग्नि, जल तथा भोजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

ये तीनों पिछले श्लोक में वर्णित हैं, किन्तु आकाश तथा समीर का उल्लेख नहीं हुआ। इन सब की व्याख्या *भगवद्गीता* (१३.२०) में इस प्रकार हुई है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

"भौतिक प्रकृति तथा पुरुष को अनादि समझना चाहिए। इनके रूपान्तर तथा गुणधर्म प्रकृति की उपज हैं।" प्रकृति तथा पुरुष शाश्वत हैं। जब वे दोनों सम्पर्क में आते हैं, तो विभिन्न प्रतिक्रियाएँ एवं स्वरूप बनते हैं। इन सबको प्रकृति के तीन गुणों की पारस्परिक क्रिया का प्रतिफल मानना चाहिए।

तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः ।
तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो ॥५९॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस स्थिति में; त्वम्—तुम; रामया—स्त्री के साथ; स्पृष्टः—सम्पर्क में होने से; रममाणः—रमण करते हुए; अश्रुत-स्मृतिः—आध्यात्मिक अस्तित्व की याद किये बिना; तत्—उसके; सङ्गात्—संगति से; ईदृशीम्—इस तरह की; प्राप्तः—प्राप्त हुई; दशाम्—दशा, अवस्था; पापीयसीम्—पापकर्मों से पूर्ण; प्रभो—मेरे मित्र।

हे मित्र, जब तुम भौतिक इच्छा रूपी स्त्री के साथ ऐसे शरीर में प्रवेश करते हो तो तुम इन्द्रियसुख में अत्यधिक लिप्त हो जाते हो। इसीलिए तुम्हें अपना आध्यात्मिक जीवन भूल गया है। अपनी भौतिक अवधारणाओं के कारण तुम्हें नाना कष्ट उठाने पड़ रहे हैं।

तात्पर्य : जब मनुष्य भौतिकता में उलझ जाता है, तो उसमें आध्यात्मिक जीवन के विषय में सुनने की शक्ति नहीं रह जाती। आध्यात्मिक जीवन को भूलने के कारण ही वह भौतिक जगत में अधिकाधिक फँसता जाता है। यह पापकर्मों का फल है। पापकर्मों के कारण भौतिक अवयवों से विभिन्न प्रकार के शरीर विकसित होते हैं। राजा पुरञ्जन ने अपने पापकर्मों के कारण ही *वैदर्भी* नामक स्त्री का शरीर धारण किया था। *भगवद्गीता* स्पष्ट कहती है कि ऐसा शरीर निम्न जात मनुष्यों का होता है (*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः*)। किन्तु यदि कोई भगवान् की शरण ग्रहण करता है, तो वह निम्न जात होकर भी परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मनुष्य निम्न कुल में तभी जन्म लेता है जब उसकी आध्यात्मिक बुद्धि घट जाती है।

न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः सुहृत्तव ।

न पतिस्त्वं पुरञ्जन्या रुद्धो नवमुखे यया ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; त्वम्—तुम; विदर्भ-दुहिता—विदर्भ की पुत्री; न—नहीं; अयम्—यह; वीरः—वीर; सु-हृत्—हितैषी पति; तव—तुम्हारा; न—नहीं; पतिः—पति; त्वम्—तुम; पुरञ्जन्याः—पुरञ्जनी की; रुद्धः—बन्दी; नव-मुखे—नव द्वार वाले शरीर में; यया—माया से।

वास्तव में न तो तुम विदर्भ की पुत्री हो और न यह पुरुष (मलयध्वज) तुम्हारा हितेच्छु पति है। न ही तुम पुरञ्जनी के वास्तविक पति थे। तुम तो इस नव द्वार वाले शरीर में केवल बन्दी थे।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में अनेक जीव एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और एक विशेष प्रकार के शरीर से आसक्ति बढ़ जाने पर पिता, पति, माता, पत्नी इत्यादि के रूप में सम्बन्धित हो जाते हैं। वास्तव में प्रत्येक जीव की पृथक् पहचान है और पदार्थ के सम्पर्क के कारण ही वह अन्य शरीरों के साथ में रहता है और झूठे ही उनसे सम्बन्ध स्थापित करता है। झूठे शरीर परिवार, जाति, समाज तथा राष्ट्रीयता के नाम पर विविध संगतियाँ उत्पन्न करते हैं। वास्तव में प्रत्येक जीव भगवान् का अंश है, किन्तु जीव है कि भौतिक देह में अत्यधिक लिप्त रहता है। भगवान् कृष्ण प्रकट होकर *भगवद्गीता* तथा वैदिक साहित्य के रूप में उपदेश देते हैं। वे यह उपदेश इसलिए देते हैं, क्योंकि वे जीव के शाश्वत मित्र हैं। ये उपदेश महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे जीव को दैहिक व्यापारों से मुक्ति मिल सकती है। जब नदी का पानी नीचे की ओर बहता है, तो उसमें किनारे के अनेक तिनके तथा शैवाल मिलते रहते हैं। वे नदी की धारा के साथ बहते रहते हैं, किन्तु जब लहरें इन्हें इधर-उधर उछाल देती हैं, तो वे अलग हो जाते है और अन्यत्र जा लगते हैं। इसी प्रकार इस जगत में असंख्य जीव भौतिक प्रकृति की लहरों द्वारा ले जाये जा रहे हैं। ये लहरें कभी-कभी उन्हें इकट्ठा कर देती हैं और वे एक दूसरे से मित्रता तथा परिवार, जाति या राष्ट्रीयता का दैहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। अन्त में वे प्रकति की लहरों द्वारा एक दूसरे से विलग कर दिए जाते हैं। यह क्रिया प्रकृति की उत्पत्ति के समय से ही चलती आ रही है। इस प्रसंग में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—

मिछे मायार वशे, याच्छ भेसे'

खाच्छ हाबुडुबु, भाइ

जीव कृष्ण-दास, ए विश्वास,

कार्ले त' आर, दुःख नाइ

"हे जीवो! तुम भौतिक प्रकृति की लहरों द्वारा ले जाये जा रहे हो। कभी तो तुम ऊपर होते हो, कभी डूबने लगते हो। इस प्रकार तुम्हारा शाश्वत जीवन विनष्ट हो रहा है। यदि तुम श्रीकृष्ण को पकड़ कर एक बार फिर उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सको तो तुम दुखदायक सांसारिक कष्टों से उबर सकते हो।"

इस श्लोक में *सुहृत्* (हितैषी) तथा *तव* (तुम्हारा) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किसी का तथाकथित पति, परिजन, पुत्र, पिता कोई भी वास्तव में हितैषी नहीं हो सकता है। एकमात्र हितैषी तो स्वयं श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (५.२९) में पुष्टि करते हैं—*सुहृदं सर्वभूतानाम्।* समाज, मित्रता, प्रेम तथा हितैषी—ये सब विभिन्न देहों में बंधे हुए होने के फलस्वरूप हैं। लोगों को इसे जानना चाहिए और शारीरिक फंदे से, जिसमें वह जन्म-जन्मांतर पड़ा रहता है, निकलने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करे और भगवान् के धाम वापस जाये।

माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम् ।
मन्यसे नोभयं यद्वै हंसौ पश्यावयोर्गतिम् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

माया—माया; **हि**—निश्चय ही; **एषा**—यह; **मया**—मेरे द्वारा; **सृष्टा**—रचित; **यत्**—जिससे; **पुमांसम्**—नर को; **स्त्रियम्**—नारी को; **सतीम्**—साध्वी; **मन्यसे**—तुम मानते हो; **न**—नहीं; **उभयम्**—दोनों; **यत्**—क्योंकि; **वै**—निश्चय ही; **हंसौ**—भौतिक कल्मष से रहित; **पश्य**—देखो; **आवयोः**—हमारी; **गतिम्**—अन्तिम स्थिति।

तुम कभी अपने को पुरुष, कभी सती स्त्री और कभी नपुंसक मानते हो। यह सब शरीर के कारण है, जो माया द्वारा उत्पन्न है। यह माया मेरी शक्ति है और वास्तव में हम दोनों—तुम और मैं—विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप हैं। तुम इसे समझने का प्रयास करो। मैं वास्तविक स्थिति बताने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

तात्पर्य : परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों की वास्तविक स्थिति गुणात्मक रूप से एक-सी है। परमेश्वर परम आत्मा है तथा जीवात्मा व्यष्टि आध्यात्मिक आत्मा है। यद्यपि दोनों ही मूल आध्यात्मिक स्वरूप हैं, किन्तु जीवात्मा जब भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में आता है, तो अपनी पहचान को भूल जाता है और बद्ध हो जाता है। तब वह अपने को प्रकृति का प्रतिफल करके मानता है। भौतिक देह के कारण वह यह भूल जाता है कि वह परमेश्वर का सनातन अंश है। इसकी पुष्टि इस प्रकार होती है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:। *भगवद्गीता* में *सनातन* शब्द कई स्थलों पर आया है। भगवान् तथा जीव दोनों ही सनातन हैं और *सनातन* नामक एक स्थान भी है, जो इस प्रकृति से परे है। जीव तथा ईश्वर का वास्तविक वासस्थान सनातन राज्य है, यह भौतिक जगत नहीं। यह भौतिक जगत अस्थिर है, भगवान् की बहिरंगा शक्ति है और जीव इस भौतिक जगत में इसलिए आया, क्योंकि वह भगवान् के पद का अनुकरण करना चाहता था। वह इस भौतिक जगत में यथाशक्ति इन्द्रियभोग करने का प्रयत्न करता है। इस संसार में बद्धजीव के सारे कार्य विभिन्न प्रकार के शरीरों में सम्पन्न होते रहते हैं, किन्तु जब जीव को विकसित चेतना प्राप्त हो तो उसे अपनी स्थिति को सुधारने और पुन: वैकुण्ठ का सदस्य (वासी) बनने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस विधि से वह भगवान् के धाम वापस जा सकता है, वह भक्तियोग है, जिसे कभी-कभी *सनातन धर्म* कहते हैं। भौतिक देह के अनुसार किसी क्षणिक धर्म को न स्वीकार करके मनुष्य को सनातन धर्म या भक्तियोग स्वीकार करना चाहिए जिससे वह भौतिक देहों के इस बन्धन से छुटकारा पा सके और भगवान् के धाम वापस जा सके। जब तक मानव-समाज झूठी भौतिक पहचान (स्वरूप) के आधार पर कार्य करता रहेगा, तब तक सारा विज्ञान तथा दर्शन का तथाकथित विकास व्यर्थ है। उनसे मानव-समाज गुमराह होता है। *अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना:।* इस संसार में अन्धा अन्धे का मार्गदर्शन कर रहा है।

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भो: ।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥ ६२॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; भवान्—तुम; न—नहीं; च—भी; अन्य:—भिन्न; त्वम्—तुम; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं हूँ; विचक्ष्व—देखो; भो:—हे मित्र; न—नहीं; नौ—हमारा; पश्यन्ति—देखते हैं; कवय:—विद्वान पुरुष; छिद्रम्—दोष; जातु—किसी समय; मनाक्—किञ्चित; अपि—भी।

हे मित्र, मैं परमात्मा और तुम आत्मा होकर भी हम गुणों में भिन्न नहीं हैं, क्योंकि हम दोनों आध्यात्मिक हैं। वास्तव में, हे मित्र, तुम मुझसे अपनी स्वाभाविक स्थिति में भी गुणात्मक रूप से भिन्न नहीं हो। तुम इस विषय पर तनिक विचार करो। जो वास्तव में महान् विद्वान् हैं और जिन्हें ज्ञान है वे तुममें तथा मुझमें कोई गुणात्मक अन्तर नहीं पाते।

तात्पर्य : भगवान् तथा जीव दोनों ही गुणात्मक रूप से एक हैं। इन दोनों में कोई तथ्यात्मक अन्तर नहीं है। मायावादी चिन्तक बारम्बार माया से इसीलिए पराजित होते रहते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि

परमात्मा तथा आत्मा में कोई भेद नहीं है अथवा परमात्मा है ही नहीं। वे सोचने में यह भी भूल करते हैं कि प्रत्येक वस्तु परमात्मा है। किन्तु जो *कवय:* अर्थात् विद्वान हैं, वे तथ्यों से परिचित होते हैं। वे ऐसी भूल नहीं करते। वे जानते हैं कि ईश्वर तथा आत्मा गुण में एक ही हैं, किन्तु जीवात्मा माया के चंगुल में पड़ता है, जबकि परमात्मा माया का नियंता है। माया तो परमेश्वर की सृष्टि है (*मया सृष्टा*); अत: परमेश्वर माया का अधीक्षक होता है। यद्यपि जीवात्मा गुण में परमेश्वर के ही तुल्य है, किन्तु वह माया के वश में है। मायावादी चिन्तक अधीक्षक तथा अधीन में भेद नहीं कर पाते।

यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः ।
द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; **पुरुषः**—जीवात्मा; **आत्मानम्**—अपने शरीर को; **एकम्**—एक; **आदर्श**—दर्पण में; **चक्षुषोः**—आँखों से; **द्विधा-आभूतम्**—दो के रूप में उपस्थित; **अवेक्षेत**—देखता है; **तथा**—उसी तरह; **एव**—निश्चय ही; **अन्तरम्**—अन्तर; **आवयोः**—हम दोनों में।

जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को दर्पण में अपने से अभिन्न देखता है जब कि दूसरे लोग वास्तव में दो शरीर देखते हैं, उसी प्रकार अपनी इस भौतिक अवस्था में जिसमें जीव प्रभावित होकर भी प्रभावित नहीं होता, ईश्वर तथा जीव में अन्तर होता है।

तात्पर्य : मायावादी चिन्तक परमेश्वर तथा जीव के बीच कोई अन्तर नहीं देख पाते, क्योंकि वे पदार्थ के प्रतिबन्ध से प्रभावित रहते हैं। जब सूर्य घड़े के जल में प्रतिबिम्बित होता है, तो सूर्य को पता रहता है कि उसमें तथा जल में प्रतिबिम्बित सूर्य में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे प्रत्येक घड़े में सूर्य के छोटे-छोटे प्रतिबिम्ब पाते हैं। जहाँ तक दीप्ति का प्रश्न है, वह तो मूल सूर्य तथा प्रतिबिम्ब दोनों में रहती है, किन्तु प्रतिबिम्ब छोटे होते हैं जबकि सूर्य अत्यन्त विशाल है। वैष्णव चिन्तक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीव आदि भगवान् के लघु प्रतिरूप हैं। गुण की दृष्टि से जीव और भगवान् एक हैं किन्तु मात्रा की दृष्टि से जीव भगवान् के लघु अंश है। परमेश्वर पूर्ण, शक्तिमान तथा ऐश्वर्यवान है। पिछले श्लोक में भगवान् कहते हैं "मेरे मित्र, तुम और मैं अभिन्न हैं।" यह अभिन्नता गुणात्मक है, क्योंकि परमात्मा के लिए यह आवश्यक नहीं जान पड़ा कि वे याद दिलाते कि वे मात्रात्मक रूप में एक नहीं हैं। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति यह कभी नहीं सोचता कि वह और परमात्मा सभी प्रकार से एक से हैं। यद्यपि गुणात्मक रूप में भगवान् तथा जीवात्मा एक-से हैं, जीवात्मा अपनी

आध्यात्मिक पहचान को भूलता रहता है, किन्तु परमात्मा कभी नहीं भूलता। लिप्त और अलिप्त में यही भेद है। भगवान् सदैव अलिप्त रहते हैं, किन्तु जीवात्मा प्रकृति के संसर्ग में रहने के कारण अपनी वास्तविक पहचान को भूल जाता है, अत: जब वह अपने को बद्ध अवस्था में पाता है, तो अपनी पहचान शरीर रूप में करता है। किन्तु भगवान् के लिए शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं रहता। वे पूर्णत: आत्मा हैं, उनके भौतिक शरीर नहीं होता। यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही शरीर के भीतर रहते हैं, परमात्मा उपाधि से रहित है, जबकि बद्धजीव को विशेष प्रकार के शरीर के रूप में नामोंद्दिष्ट किया जाता है। परमात्मा अन्तर्यामी कहलाता है और वह सर्वव्यापी है। *भगवद्‌गीता* (१३.३) में इसकी पुष्टि हुई है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—हे भारत! तुम्हें यह पता होना चाहिए कि मैं समस्त शरीरों का ज्ञाता भी हूँ।

परमात्मा प्रत्येक शरीर में उपस्थित है, जबकि जीवात्मा विशेष प्रकार के शरीर में बद्ध रहता है। व्यष्टि आत्मा यह नहीं समझ पाता कि दूसरे शरीर में क्या हो रहा है, किन्तु परमात्मा को भली-भाँति पता है कि समस्त शरीरों में क्या हो रहा है। दूसरे शब्दों में, परमात्मा सदैव अपने पूर्ण आध्यात्मिक पद में उपस्थित रहते हैं जबकि जीवात्मा की अपने आपको भूलने की प्रवृत्ति होती है। न ही व्यष्टि आत्मा सर्वत्र उपस्थित रहता है। सामान्य रूप से जीवात्मा बद्ध अवस्था में परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं समझ सकता, किन्तु कभी-कभी समस्त बद्ध स्थिति से मुक्त होने पर उसे परमात्मा तथा अपने में जो वास्तविक अन्तर है, वह दिखता है। जब परमात्मा आत्मा से कहता है, ''मैं और तुम एक ही हैं,'' तो बद्धजीव को गुणात्मक रूप से उसकी आध्यात्मिक पहचान याद कराने के लिए ऐसा होता है। *श्रीमद्‌भागवत* (३.२८.४०) में कहा गया है—

यथोल्मुकाद्विस्फलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।

अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्नि: पृथगुल्मुकात्॥

अग्नि के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं—लपट, चिनगारी तथा धूम। यद्यपि ये सभी गुण में एक हैं, किन्तु तो भी अग्नि, लपट, चिनगारी तथा धूम इन सबमें अन्तर है। जीव तो बद्ध हो जाता है, किन्तु भगवान् कभी भी बद्ध न होने के कारण भिन्न है। वेदों का कथन है—*आत्मा तथा पृथग् द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञित:। आत्मा* जीवात्मा भी है और साथ ही साथ भगवान् भी जो सभी वस्तुओं का द्रष्टा है।

यद्यपि दोनों आत्मा हैं, किन्तु उनमें सदा ही अन्तर रहता है। स्मृति में भी कहा गया है—*यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति।* जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती रहती हैं, उसी प्रकार विशाल आध्यात्मिक लपट में क्षुद्र जीवात्माएँ उपस्थित रहती हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः*—सभी जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। यद्यपि सारे जीव उन्हीं पर आश्रित हैं, जिस प्रकार विशाल लपट में छोटी-छोटी चिनगारियाँ रहती हैं, किन्तु दोनों पृथक्-पृथक् स्थित हैं। इस प्रकार *विष्णु पुराण* में कहा गया है—

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।

परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥

"अग्नि एक स्थान पर रहती है, किन्तु वह गर्मी तथा प्रकाश का वितरण करती रहती है। इसी प्रकार भगवान् अपनी शक्तियों को विविध प्रकारों से वितरित करते रहते हैं।" जीवात्मा इन शक्तियों (तटस्था शक्ति)में से ही एक है। एक प्रकार से शक्ति तथा शक्तिमान एक हैं, किन्तु वे पृथक्-पृथक् स्थित हैं। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* में जिस सच्चिदानन्द रूप की पुष्टि हुई है (*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः*) वह जीवात्मा से उसकी बद्ध तथा मुक्त अवस्थाओं से भिन्न है। केवल नास्तिक ही जीवात्मा तथा भगवान् को सभी प्रकार से एक समझते हैं। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*मायावादी भाष्य शुनिले हय सर्वनाश*—यदि कोई मायावादी चिन्तकों के उपदेशों का पालन करे और यह विश्वास करे कि भगवान् तथा जीव एक हैं, तो वास्तविक दर्शन की दिशा में उसकी बुद्धि सदा के लिए भ्रष्ट समझो।

एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः ।
स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम् ॥ ६४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सः—वह (जीवात्मा); मानसः—मन में एकसाथ रहने वाला; हंसः—हंस के समान; हंसेन—दूसरे हंस के द्वारा; प्रतिबोधितः—उपदेशित होकर; स्व-स्थः—आत्म-साक्षात्कार में स्थित; तत्-व्यभिचारेण—परमात्मा से बिछुड़ने के कारण; नष्टाम्—नष्ट हुआ; आप—प्राप्त; पुनः—फिर से; स्मृतिम्—वास्तविक स्मरण शक्ति।

इस प्रकार दोनों हंस हृदय में एकसाथ रहते हैं। जब एक हंस दूसरे को उपदेश देता है, तो वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है। इसका अर्थ है कि वह अपनी मूल कृष्णचेतना को प्राप्त कर लेता है, जिसे उसने भौतिक आसक्ति के कारण खो दिया था।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट कहा गया है—*हंसो हंसेन प्रतिबोधित: ।* जीवात्मा तथा परमात्मा की उपमा दो हंसों से दी गई है, क्योंकि वे निष्कलंक अर्थात् श्वेत होते हैं, किन्तु इनमें से एक हंस श्रेष्ठ है और दूसरे का उपदेशक है। जब निम्न हंस दूसरे से बिछुड़ जाता है, तो वह भौतिक सुख के प्रति आकृष्ट होता है। यही उसके पतन का कारण है। किन्तु जब वह दूसरे हंस से उपदेश ग्रहण करता है, तो उसे अपनी वास्तविक स्थिति का बोध होता है और वह अपनी मूल चेतना को फिर से प्राप्त कर लेता है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण अपने भक्तों को उबारने तथा असुरों को मारने के लिए अवतरित होते हैं। वे *भगवद्गीता* के रूप में अपना उदात्त (उत्कृष्ट) उपदेश भी देते हैं। जीव को भगवान् तथा गुरु की कृपा से अपनी स्थिति को समझना होता है, क्योंकि मात्र शैक्षिक योग्यता से *भगवद्गीता* के मूलपाठ को नहीं समझा जा सकता। मनुष्य को सिद्ध पुरुष से *भगवद्गीता* सीखनी चाहिए।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥

"गुरु के पास जाकर सत्य सीखने का प्रयत्न तो करो। उससे विनम्रतापूर्वक जिज्ञासा करो और उसकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकता है, क्योंकि उसने सत्य को देखा है।"(*भगवद्गीता* ४.३४)

इस प्रकार मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की खोज करके अपनी मूल चेतना प्राप्त करनी चाहिए। तब जीव की समझ में आयेगा कि वह परमात्मा के सदैव अधीन है। ज्योंही वह अधीनता अस्वीकार करके भोक्ता बनने कि चेष्टा करता है, उसका भौतिक बन्धन प्रारम्भ हो जाता है। जब वह स्वामी अथवा भोक्ता बनने के भाव का परित्याग करता है, तो वह मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। *स्वस्थ:* शब्द का अर्थ है—"अपनी मूल स्थिति में होना।" जब वह श्रेष्ठता की अवांचित मनोवृत्ति को छोड़ देता है, तो वह अपनी मूल स्थिति को प्राप्त करता है। *तद्व्यभिचारेण* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह सूचित करता है कि जब जीव अवज्ञावश ईश्वर से विलग हो जाता है, तो उसकी वास्तविक चेतना जाती रहती है। केवल कृष्ण तथा गुरु की कृपा से वह अपनी मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है। ये श्लोक श्रील नारद मुनि द्वारा कहे गये हैं और इन्हें कहने का उनका मूल उद्देश्य है हमारी चेतना को जाग्रत करना। यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्मा गुणात्मक रूप से एक हैं, किन्तु जीवात्मा को परमात्मा के

आदेशों का पालन करना होता है। यही मुक्ति की अवस्था है।

बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम् ।
यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान्विश्वभावनः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हि; एतत्—यह; अध्यात्मम्—आत्म-साक्षात्कार का वर्णन; पारोक्ष्येण—परोक्ष रूप से; प्रदर्शितम्—उपदेश किया; यत्—क्योंकि; परोक्ष-प्रियः—अप्रत्यक्ष वर्णन से रोचक; देवः—परमेश्वर; भगवान्—भगवान्; विश्व-भावनः—समस्त कारणों के कारण।

हे राजा प्राचीनबर्हि, समस्त कारणों के कारण भगवान् परोक्ष रूप से समझे जाने के लिए सुविख्यात हैं। इस प्रकार मैने तुमसे पुरञ्जन की कथा कही। वास्तव में यह आत्म-साक्षात्कार के लिए उपदेश है।

तात्पर्य : पुराणों में आत्म–साक्षात्कार की ऐसी अनेक कथाएँ हैं। जैसाकि वेदों में कहा गया है—*परोक्षप्रिया इव हि देवा: ।* पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं, जो आध्यात्मिक विषयों में सामान्य पुरुष को आनन्द देने वाली हैं, किन्तु ये वास्तव में तथ्यों को बताने के लिए हैं। इन्हें आध्यात्मिक उद्‌देश्य से रहित केवल कथाएँ नहीं समझना चाहिए। इनमें से कुछ ऐतिहासिक तथ्यों को बताने वाली हैं। किन्तु मनुष्य को कथा के वास्तविक अभिप्राय में रुचि होनी चाहिए। अप्रत्यक्ष उपदेश सामान्य मनुष्य की समझ में जल्दी आता है। वस्तुत: भक्तियोग का मार्ग भगवान् की लीलाओं के प्रत्यक्ष सुनने का मार्ग है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णो:*) किन्तु जो लोग भगवान् के कार्यों को प्रत्यक्ष नहीं सुनना चाहते या उन्हें समझ नहीं सकते वे नारद मुनि द्वारा वर्णित इस कथा के समान कथाओं या बोधकथाओं को सुनकर लाभ उठा सकते हैं।

इस अध्याय के कतिपय महत्त्वपूर्ण शब्दों का संग्रह नीचे दिया जा रहा है—

आदेशकारी—पापकर्मों से उत्पन्न क्रियाएँ।

अगस्त्य—मन।

अमात्य—इन्द्रियों का अधीक्षक, मन।

अर्बुद-अर्बुद—भगवान् के नाम, गुण रूप इत्यादि का विभिन्न प्रकार से श्रवण तथा कीर्तन।

अरि—अवरोध यथा रोग।

भोग—सुख। यहाँ यह शब्द आध्यात्मिक जीवन में वास्तविक सुख के लिए प्रयुक्त है।

भृत्य—शरीर के दास अर्थात् इन्द्रियाँ।

द्रविड-राज—भक्ति अथवा भक्ति करने का पात्र व्यक्ति।

द्वार—शरीर के दरवाजे, यथा आँखें तथा कान।

गृह—घर। आध्यात्मिक अनुशीलन के लिए एकान्त स्थान या भक्तों की सत्संगति आवश्यक है।

इध्मवाह—वह भक्त जो गुरु के पास जाता है। *इध्म* का अर्थ है समिधा। ब्रह्मचारी को यज्ञ करते समय समस्त अग्नि जलाने के लिए इस *इध्म* को ले जाना होता है। आध्यात्मिक उपदेश के द्वारा ब्रह्मचारी को शिक्षा दी जाती है कि वह अग्नि जलाकर प्रात:काल आहुति दे। उसे गुरु के पास जाकर आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा ग्रहण करनी होती है। वैदिक आदेश तो यह है कि जब वह गुरु के पास जाये तो यज्ञ करने के लिए अपनी समिधा लेकर जाये। वैदिक आदेश यह है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

''आध्यात्मिक विषय सीखने के लिए शिष्य को गुरु के पास जाना चाहिए। ऐसा करने के लिए उसे यज्ञ के लिए समिधा ले जाना चाहिए। ऐसे गुरु का लक्षण यह है कि वह वैदिक निष्कर्ष समझने में निपुण होता है, अत: वह भगवान् की सेवा में निरन्तर लगा रहता है।'' (*मुण्डकोपनिषद्* १.२.१२)। ऐसे प्रामाणिक गुरु की सेवा करके बद्धजीव भौतिक सुख से क्रमश: विरक्त होता जाता है और गुरू के निरीक्षण में आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रगति करता है। जो लोग माया से भ्रमित हैं, वे जीवन को सफल बनाने के लिए कभी-भी गुरु के पास जाने में रुचि नहीं दिखाते।

जाया—बुद्धि।

जीर्ण-सर्प—थकी हुई प्राण वायु।

कालकन्या—वृद्धावस्था की अशक्तता।

काम—तेज ज्वर।

कुलाचल—वह स्थान जहाँ किसी प्रकार का उहापोह नहीं होती।

कुटुम्बिनी—बुद्धि।

मदिरेक्षण—वह जिसकी आँखें इतनी आकर्षक होती हैं कि जो भी उन्हें देखता है, वह प्रमत्त हो

जाता है अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी तरुणी। जीव गोस्वामी के अनुसार मदिरेक्षण साक्षात् भक्ति की देवी है। यदि कोई भक्ति सम्प्रदाय के प्रति आकृष्ट होता है, तो वह भगवान् तथा गुरु की सेवा में लग जाता है और उसका जीवन सफल हो जाता है। वैदर्भी, जो एक स्त्री थी वह अपने पति की अनुगामिनी बन गई। जिस प्रकार अपने पति की सेवा के लिए उसने अपने आरामदेह घर को छोड़ दिया उसी प्रकार अध्यात्म ज्ञान के इच्छुक विद्यार्थी को अपने गुरु की सेवा के लिए सब कुछ छोड़ देना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*—यदि कोई जीवन में वास्तविक सफलता चाहता है, तो उसे अपने गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। ऐसा करने से वह आध्यात्मिक जीवन में तेजी से प्रगति कर सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का यह कथन *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (६.२३) के निम्न आदेश के अनुसार है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"केवल उन महान् लोगों को जो भगवान् तथा गुरु दोनों में निर्विवाद श्रद्धा रखते हैं, वैदिक ज्ञान स्वतः प्राप्त होता है।" *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा गया है—*आचार्यवान् पुरुषो वेद*—जो प्रामाणिक गुरु के पास जाता है, वही आत्मदर्शन के विषय में सब कुछ जान सकता है।

मलयध्वज—चन्दन के समान उत्तम भक्त।

पञ्चाल—पाँचों इन्द्रियविषय।

परिच्छद—चेतनाओं का समूह।

पौर-जन—शरीर को निर्मित करने वाले सातों तत्त्व।

पौत्र—धैर्य तथा गम्भीरता।

प्रज्वार—एक प्रकार का ज्वर, जिसे *विष्णुज्वार* कहते हैं।

प्रतिक्रिया—मंत्र तथा ओषधि जैसे प्रतिक्रिया दिखाने वाले कारक।

पुर-पालक—प्राणवायु।

पुत्र—चेतना।

सैनिक—तीन प्रकार के ताप।

सप्त-सुत—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, पाद-सेवन, अर्चन तथा दास्य इत्यादि भक्ति के सात अंग।

सौहृद्य—प्रयास।

सुत—वैदर्भी का पुत्र, अर्थात् जो सकाम कर्म में आगे बढ़ा हो और भक्त गुरु के सम्पर्क में आये। ऐसा व्यक्ति भक्ति में रुचि रखने लगता है।

वैदर्भी—स्त्री जो पहले पुरुष थी, किन्तु जिसने अगले जीवन में स्त्री का जन्म लिया, क्योंकि वह स्त्री के प्रति अत्यधिक आसक्त था। *दर्भ* का अर्थ है कुश। कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों में कुश की आवश्यकता पड़ती है। वैदर्भी का अर्थ हुआ जो कर्मकाण्डीय बुद्धि वाले के घर में जन्म ले। किन्तु यदि कोई कर्मकाण्डीय कार्य करते हुए सौभाग्य से किसी भक्त के सम्पर्क में आता है, जिस प्रकार वैदर्भी ने मलयध्वज के साथ विवाह करके किया, तो उसका जीवन सफल हो जाता है। तब वह भगवान् की भक्ति करने लगता है। केवल प्रामाणिक गुरु के आदेशों के पालन से बद्धजीव मुक्त हो पाता है।

विदर्भ-राजसिंह—श्रेष्ठ पुरुष जो कर्मकाण्ड में निपुण हो।

वीर्य—कृपालु।

यवन—यमराज का दास।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "अगले जन्म में पुरञ्जन को स्त्री-योनि की प्राप्ति" नामक अट्ठाईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter उन्तीस

नारद तथा राजा प्राचीनबर्हि के मध्य वार्तालाप

प्राचीनबर्हिरुवाच
भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते ।
कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिः उवाच—राजा प्राचीनबर्हि ने कहा; भगवन्—हे स्वामी; ते—तुम्हारे; वचः—शब्द; अस्माभिः—हमारे द्वारा; न—कभी नहीं; सम्यक्—पूर्णतया; अवगम्यते—समझे जाते हैं; कवयः—पटु लोग; तत्—वह; विजानन्ति—समझ सकते हैं; न—कभी नहीं; वयम्—हम; कर्म—कर्मों द्वारा; मोहिताः—मोहित।

राजा प्राचीनबर्हि ने उत्तर दिया : हे प्रभु, हम आपके कहे गये राजा पुरञ्जन के रूपक आख्यान (अन्योक्ति) का सारांश पूर्ण रूप से नहीं समझ सके। वास्तव में जो आध्यात्मिक ज्ञान में निपुण हैं, वे तो समझ सकते हैं, किन्तु हम जैसे सकाम कर्मों में अत्यधिक लिप्त पुरुषों के लिए आपके आख्यान का तात्पर्य समझ पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१३) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

''तीनों गुणों (सतो, रजो तथा तमो) से मोहित यह सारा संसार मुझको नहीं जान पाता; मैं गुणों से ऊपर तथा अक्षय हूँ।'' सामान्यतः लोग प्रकृति के तीन गुणों से मोहग्रस्त हैं, इसलिए वे यह नहीं जान पाते कि इस दृश्य जगत में समस्त भौतिक कार्यकलापों के पीछे पूर्म पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण हैं। सामान्य रूप से जब लोग पाप या पुण्यकर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, तो उनका भक्ति सम्बन्धी ज्ञान पूर्ण नहीं होता। नारद मुनि ने राजा बर्हिष्मान् से जो रूपक आख्यान कहा वह बद्धजीवों को भक्ति में प्रवृत्त करने के लिए विशेष रूप से कहा गया है। यह सम्पूर्ण आख्यान भक्त द्वारा सरलता से समझ लिया जाता है, किन्तु जो भक्ति के बजाय इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं, वे इसे ठीक से नहीं समझ पाते। राजा बर्हिष्मान् ने इसे स्वीकार किया है।

यह उन्तीसवाँ अध्याय बताता है कि स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्ति से मनुष्य अगले जन्म में स्त्री बनता है, किन्तु जो मनुष्य भगवान् या उसके प्रतिनिधि की संगति करता है, वह समस्त भौतिक आसक्ति से रहित होकर मुक्त हो जाता है।

नारद उवाच

पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद्यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम् ।
एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; पुरुषम्—जीव, भोक्ता को; पुरञ्जनम्—राजा पुरञ्जन; विद्यात्—जानना चाहिए; यत्—जिससे; व्यनक्ति—उत्पन्न करता है; आत्मनः—स्वयं का; पुरम्—वासस्थान; एक—एक; द्वि—दो; त्रि—तीन; चतुः-पादम्—चार पैरों वाला, चौपाया; बहु-पादम्—अनेक पैरों वाला; अपादकम्—पाँवहीन।

नारद मुनि ने कहा : तुम जानो कि पुरञ्जन रूपी जीव अपने कर्म के अनुसार विभिन्न रूपों में

देहान्तर करता रहता है, जो एक, दो, तीन, चार या अनेक पाँव वाले या पाँवविहीन हो सकते हैं। इन विभिन्न प्रकार के रूपों में देहान्तर करने वाला जीव तथाकथित भोक्ता के रूप में पुरञ्जन कहा जाता है।

तात्पर्य : आत्मा एक रूप से दूसरे में जिस प्रकार देहान्तर करता है उसका यहा अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। *एकपाद* से भूतों का बोध होता है, क्योंकि यह कहा जाता है कि वे एक पाँव के बल चलते हैं। *द्विपाद* मनुष्य हैं। जब मनुष्य वृद्ध तथा अक्षम हो जाता है, तो वह *त्रिपाद* हो जाता है, क्योंकि वह डंडे या छड़ी के सहारे चलता है। किन्तु *चतुष्पाद* पशुओं के लिए प्रयुक्त है। *बहुपाद* ऐसे प्राणी हैं जिनके चार से अधिक पाँव होते हैं। ऐसे अनेक कीड़े तथा जलचर होते हैं जिनके अनेक पाँव होते हैं। *अपादक* शब्द का अर्थ है पाँवविहीन जो सर्पों के लिए प्रयुक्त है। पुरञ्जन ऐसे व्यक्ति का सूचक है, जो विभिन्न प्रकार के शरीरों को प्राप्त करके भोग करता है। भोग की उसकी यह प्रवृत्ति इस संसार में विभिन्न प्रकार के शरीरों द्वारा प्रदान की जाती है।

योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः ।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अविज्ञात—अज्ञात; आहृतः—वर्णित; तस्य—उस; पुरुषस्य—जीव का; सखा—चिर मित्र; ईश्वरः—स्वामी; यत्—क्योंकि; न—कभी नहीं; विज्ञायते—जाना जाता है; पुम्भिः—जीवों द्वारा; नामभिः—नामों से; वा—अथवा; क्रिया-गुणैः—कर्मों या गुणों द्वारा।.

जिस पुरुष को मैंने अविज्ञात कहा है, वह जीव का स्वामी तथा शाश्वत मित्र परमेश्वर है। चूँकि जीव भगवान् को भौतिक नामों, गुणों या कर्मों द्वारा नहीं जान सकते, फलतः वह बद्धजीव के लिए सदैव अज्ञात रहता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् बद्धजीव के लिए अज्ञात रहता है, इसलिए वैदिक साहित्य में उसे कभी-कभी निराकार, अविज्ञात या *अवाङ्मनसागोचर* नामों से अभिहित किया जाता है। वास्तव में यह तथ्य है कि जहाँ तक रूप, नाम, गुण, लीलाओं या साज सामान का सम्बन्ध है, भगवान् को भौतिक इन्द्रियों द्वारा नहीं समझा जा सकता। किन्तु जब मनुष्य आध्यात्मिक रूप से जाग्रत होता है, तो वह उसके नाम रूप, गुण इत्यादि सभी समझ सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः*—जब कोई भक्ति में लगा होता है तभी वह भगवान् को सत्यरूप

से देख समझ सकता है। पाप तथा पुण्य कर्मों में प्रवृत्त सामान्य पुरुष भगवान् के रूप, नाम तथा कर्मों को नहीं समझ सकते। किन्तु भक्त भगवान् को अनेक प्रकार से जान सकता है। उसे पता है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, उनका पता गोलोक वृन्दावन है और उनके सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक हैं। चूँकि भगवान् के रूप तथा कार्यों को भौतिकताग्रस्त लोग नहीं समझ पाते, इसीलिए शास्त्रों में उन्हें निराकार कहा गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् के कोई रूप नहीं है; इसका अर्थ यह है कि कर्मी उसे समझ नहीं पाते। *ब्रह्म-संहिता* में उनके रूप को *सच्चिदानन्दविग्रह* कहा गया है। *पद्म पुराण* से इसकी पुष्टि होती है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

''कोई भी अपनी कुंठित भौतिक इन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्ण के असली रूप को नहीं समझ सकता। किन्तु भगवान् भक्तों की दिव्य प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर भक्तों के समक्ष अपने को स्वयं प्रकट करते हैं।''

चूँकि भौतिक इन्द्रियों द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, रूप तथा गुण नहीं जाने जा सकते, अतः उन्हें *अधोक्षज* अर्थात् ''भौतिक दृष्टि से परे'' कहा जाता है। जब इन्द्रियाँ भक्तिकार्यों द्वारा शुद्ध हो जाती हैं, तो भक्त भगवान् के विषय में उन्हीं की कृपा से सभी कुछ समझ जाता है। इस श्लोक में *पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः* पद महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण के अनेक नाम, कार्य तथा गुण हैं, किन्तु इनमें से एक भी भौतिक नहीं है। इस तथ्य के बावजूद भी शास्त्रों में इन नामों, कार्यों तथा लीलाओं का उल्लेख होने तथा भक्तों द्वारा समझे जाने पर भी कर्मी उन्हें नहीं समझ पाते और न ज्ञानी ही। यद्यपि भगवान् विष्णु के हजारों नाम हैं, किन्तु कर्मी तथा ज्ञानी भगवान् के नामों के साथ देवों तथा मनुष्यों के नाम मिलाते रहते हैं। चूँकि वे भगवान् के वास्तविक नाम को नहीं समझते, अतः वे यह मानकर चलते हैं कि उन्हें कोई भी नाम दिया जा सकता है। उनका विश्वास है कि परमेश्वर निराकार है, अतः वे उसे किसी भी नाम से पुकार सकते हैं, अन्यथा वे यह मानते हैं कि उसका कोई नाम नहीं है। किन्तु यह सत्य नहीं है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है—*नामभिर्वा क्रियागुणैः।* भगवान् के विशेष नाम हैं—यथा राम, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, विष्णु तथा अधोक्षज। निस्सन्देह, नाम तो अनेक हैं, किन्तु बद्धजीव

उन्हें समझ नहीं पाता।

यदा जिघृक्षन्पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान् ।
नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रि तत्रामनुत साध्विति ॥ ४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; जिघृक्षन्—भोगने की इच्छा से; पुरुषः—जीव; कार्त्स्न्येन—समग्र रूप में; प्रकृतेः—प्रकृति का; गुणान्—गुण; नव-द्वारम्—नौ द्वारों वाला; द्वि—दो; हस्त—हाथ; अङ्घ्रि—पाँव; तत्र—वहाँ; अमनुत—उसने सोचा; साधु—उत्तम; इति—इस प्रकार।

जब जीव समग्ररूप से प्रकृति के गुणों का भोग करने की इच्छा करता है, तो वह अनेक शारीरिक रूपों में से उस शरीर को चुनता है, जिसमें नौ द्वार, दो हाथ तथा दो पाँव होते हैं। इस प्रकार वह मनुष्य या देवता बनना श्रेयस्कर मानता है।

तात्पर्य : इस बात की यहाँ पर उत्तम व्याख्या प्रस्तुत की गई है कि किस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का अंश रूप आध्यात्मिक जीव अपनी इच्छा से भौतिक देह स्वीकार करता है। दो हाथ, दो पाँव इत्यादि स्वीकार करके जीव प्रकृति के गुणों का भरपूर भोग करता है। भगवान् श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (७.२७) में कहते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

''हे भारत (अर्जुन), हे शत्रुओं के विजेता! सभी जीव मोहवश उत्पन्न हैं और इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व द्वारा परास्त होते हैं।''

मूलतः जीव आध्यात्मिक प्राणी है, किन्तु जब वह वास्तव में भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, तो वह नीचे उतरता है। इस श्लोक से पता चलता है कि जीव पहले मनुष्य शरीर धारण करता है, किन्तु अपने अधम कार्यों के कारण वह धीरे धीरे निम्न योनियों में—पशु, वृक्ष, जलचर रूपों में—गिरता रहता है। विकास की क्रमिक क्रिया से जीव को पुनः मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है और उसे एक और अवसर दिया जाता है कि वह देहान्तर-चक्र से उबर सके। किन्तु यदि वह अपनी स्थिति को समझने का अवसर फिर हाथ से जाने देता है, तो वह पुनः विभिन्न शरीरों में जन्म तथा मृत्यु के चक्र में पड़ जाता है।

जीव इस भौतिक जगत में क्यों आना चाहता है, इसे समझना कठिन नहीं है। आर्य परिवार में,

जहाँ मांसाहार, मद्यपान, द्यूत, यौनाचार इत्यादि पर प्रतिबन्ध है, जन्म लेकर भी लोग इन वर्जित वस्तुओं का भोग करना चाहते हैं। कोई न कोई ऐसा मिल ही जायगा जो अवैध यौनाचार के लिए वेश्या के यहाँ जाना चाहता है या होटल में जाकर मांस खाना तथा मद्यपान करना चाहता है। कोई-न-कोई ऐसा मिल जायेगा जो रात्रि क्लबों में जाकर जुआ खेलना या ऐसी ही तथाकथित क्रियाओं पसन्द करता है। ये इच्छाएँ जीवों के अन्त:करण में पहले से विद्यमान रहती हैं, किन्तु कुछ जीव इन घृणित कार्यों को भोगने में लग जाते हैं; फलत: वे गिर कर निम्न पद पर आ जाते हैं। जो जीव जितना ही पतित जीवन की अभिलाषा करता है, वह उतना ही कुत्सित रूप धारण करने के लिए नीचे गिरता जाता है। यह देहान्तरण तथा विकास की प्रक्रिया है। कोई पशु-विशेष किसी एक इन्द्रिय सुख की प्रबल भावना से युक्त हो सकता है, किन्तु मनुष्य तो सभी इन्द्रियों का भोग कर सकता है। जब तक समुचित शिक्षा नहीं दी जाती वह प्रकृति के गुणों का शिकार होता रहता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (३.२७) में की गई है—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

''मोहग्रस्त जीव प्रकृति के तीन गुणों के वशीभूत होकर अपने आपको उन कर्मों का कर्ता मान बैठता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।'' जैसे ही मनुष्य अपनी इन्द्रियों का भोग करना चाहता है, वह अपने को प्रकृति के अधीन बना लेता है और स्वत: जन्म-मृत्यु के चक्र में आ पड़ता है।

बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम् ।
यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन्पुमान्भुङ्क्ते ऽक्षभिर्गुणान् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

बुद्धिम्—बुद्धि; तु—तब; प्रमदाम्—तरुणी स्त्री (पुरञ्जनी) को; विद्यात्—जानना चाहिए; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; यत्-कृतम्—बुद्धि द्वारा सम्पन्न; याम्—जो बुद्धि; अधिष्ठाय—शरण ग्रहण करके; देहे—शरीर में; अस्मिन्—इस; पुमान्—जीव; भुङ्क्ते —भोगता है (कष्ट उठाता तथा सुख पाता है); अक्षभि:—इन्द्रियों से; गुणान्—प्रकृति के तीन गुण।

नारद मुनि ने आगे कहा : इस प्रसंग में उल्लिखित प्रमदा शब्द भौतिक बुद्धि या अविद्या के लिए प्रयुक्त है। इसे इसी रूप में समझो। जब मनुष्य ऐसी बुद्धि का आश्रय ग्रहण करता है, तो वह अपने को शरीर समझ बैठता है। ''मैं'' तथा ''मेरी'' की भौतिक बुद्धि से प्रभावित होकर

वह अपनी इन्द्रियों से दुख तथा सुख का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार जीव बन्धन में पड़ जाता है।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में तथाकथित बुद्धि वास्तव में अविद्या है। बुद्धि के विमल होने पर इसे *बुद्धियोग* कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जब बुद्धि भगवान् कृष्ण के इच्छाधीन हो जाती है, तो वह *बुद्धियोग* या भक्तियोग कहलाती है। अत: *भगवद्गीता* (१०.१०) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो लोग मेरी सतत भक्ति करते तथा प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।''

वास्तविक बुद्धि का अर्थ है भगवान् से जुड़ना। जब ऐसा हो जाता है, तो भगवान् अन्त:करण से वास्तविक बुद्धि प्रदान करते रहते हैं जिससे मनुष्य भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। इस श्लोक में भौतिक बुद्धि को *प्रमदा* के रूप में वर्णन किया गया है, क्योंकि इस संसार में जीव झूठे ही वस्तुओं को अपनी कहता है। वह सोचता है कि मैं एक-छत्र राजा हूँ। यह अविद्या है। वास्तव में उसका कुछ नहीं होता। यहाँ तक कि शरीर तथा इन्द्रियाँ भी उसकी नहीं होती, क्योंकि ये उसे भगवान् की प्रेरणा से प्रकृति द्वारा उसकी विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रदत्त हैं। वास्तव में जीव का कुछ भी नहीं है, किन्तु वह प्रत्येक वस्तु के पीछे पगलाया रहता है और कहता है, ''यह मेरी है, यह मेरी है, यह मेरी है।'' *जनस्य मोहोऽयम् अहं ममेति।* यही मोह है। जीव का कुछ भी नहीं है, किन्तु वह हर वस्तु को अपनी बताता है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु संस्तुति करते हैं कि इस मिथ्या बुद्धि को मार्जित करना चाहिए (*चेतो-दर्पण-मार्जनम्*)। जब बुद्धि रूपी दर्पण चमकने लगता है, तो जीव के असली कार्य प्रारम्भ होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जब मनुष्य कृष्णचेतना को प्राप्त होता है, तो उसकी असली बुद्धि कार्य करती है। उस समय उसे ज्ञान होता है कि प्रत्येक वस्तु तो श्रीकृष्ण की है, मेरी नहीं। जब तक मनुष्य हर वस्तु को अपनी मानता है तब तक वह भौतिक चेतना में रहता है और जब वह पूरी तरह समझ जाता है कि हर वस्तु श्रीकृष्ण की है, तो वह कृष्णचेतना को प्राप्त कर लेता है।

सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम् ।
सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पञ्चवृत्तिर्यथोरगः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सखायः—मित्र; इन्द्रिय-गणाः—सारी इन्द्रियाँ; ज्ञानम्—ज्ञान; कर्म—कार्य; च—भी; यत्-कृतम्—इन्द्रियों द्वारा किया हुआ; सख्यः—सखियाँ; तत्—इन्द्रियों की; वृत्तयः—व्यापार; प्राणः—प्राणवायु; पञ्च-वृत्तिः—पाँच प्रकार की वृत्तियों वाला; यथा—जिस प्रकार; उरगः—सर्प।.

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँचों कर्मेन्द्रियाँ पुरञ्जनी के नर मित्र हैं। जीव को इन इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने तथा कार्य में प्रवृत्त होने में सहायता मिलती है। इन्द्रियों के व्यापार उसकी सखियाँ हैं और वह सर्प जिसे पाँच फनों वाला बताया गया है, पाँच प्रकार की क्रियाओं के भीतर कार्यशील प्राणवायु है।

तात्पर्य : कृष्ण-बहिर्मुख हञा भोग वाञ्छा करे।

निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥

(*प्रेम-विवर्त*)

भौतिक जगत को भोगने की इच्छा से जीव स्थूल तथा सूक्ष्म देहें ओढ़े हुए रहता है। इस तरह उसे इन्द्रियों को भोगने का अवसर प्रदान किया जाता है। अत: वे इन्द्रियाँ भौतिक जगत को भोगने की साधन हैं। फलत: इन्द्रियों को मित्र कहा गया है। कभी-कभी अत्यधिक पापकर्म करने से जीव को स्थूल शरीर नहीं मिल पाता, अत: वह सूक्ष्म रूप में मँडराता रहता है। यह प्रेत-जीवन है। स्थूल शरीर न प्राप्त कर पाने से वह इस सूक्ष्म शरीर से अनेक कष्ट प्रदान करता है। अत: जो लोग स्थूल शरीर में रह रहे हैं, उनके लिए भूत-प्रेत की उपस्थिति अत्यन्त भयावह है। *भगवद्गीता* (१५.१०) में उल्लेख है—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

"मूर्ख व्यक्ति न तो यह समझ सकता है कि जीव अपने शरीर को कैसे छोड़ता है, न यही कि प्रकृति के गुणों के अधीन वह किस तरह के शरीर का भोग करता है। किन्तु जिनकी आँखों को ज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त है, वे यह सब देख सकते हैं।"

जीव प्राणवायु में समाहित है, जो संचरण के लिए विभिन्न प्रकार से कार्य करती है। चूँकि

प्राणवायु—प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान—पाँच प्रकार से कार्य करती है, अतः इसकी तुलना पाँच फनों वाले सर्प से की गई है। कुण्डलिनी चक्र से होकर आत्मा सर्प की भाँति रेंगता है। प्राणवायु की तुलना उरग सर्प से की जाती है। *पञ्चवृत्ति* पाँचों इन्द्रियविषयों रूप, स्वाद, ध्वनि, गंध एवं स्पर्श के द्वारा आकृष्ट इन्द्रियों की तुष्टि की इच्छा है।

बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम् ।
पञ्चालाः पञ्च विषया यन्मध्ये नवखं पुरम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

बृहत्-बलम्—अत्यन्त शक्तिशाली; मनः—मन; विद्यात्—जानना चाहिए; उभय-इन्द्रिय—ज्ञान तथा कर्म दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ; नायकम्—नेता; पञ्चालाः—पञ्चाल नामक राज्य; पञ्च—पाँच; विषयाः—इन्द्रिय पदार्थ; यत्—जिसके; मध्ये—बीच में; नव-खम्—नव छिद्रों वाली; पुरम्—नगरी।.

ग्यारहवाँ सेवक, जो अन्यों का नायक है, मन कहलाता है। वह कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों—इन दोनों का नायक है। पञ्चाल राज्य वह वातावरण है, जिसमें पाँच इन्द्रिय-पदार्थों (विषयों) का भोग किया जाता है। इस पञ्चाल राज्य के भीतर शरीर रूपी नगरी है, जिसमें नौ द्वार (छिद्र) हैं।

तात्पर्य : मन समस्त कार्यों का केन्द्रविन्दु है, जिसे *बृहद्बल* कहा गया है। माया के चंगुल से निकलने के लिए मनुष्य को मन पर नियंत्रण रखना होता है। प्रशिक्षण के अनुसार मन जीव का मित्र है और शत्रु भी। यदि किसी को अच्छा प्रबन्धक मिल जाता है, तो उसकी जायदाद की व्यवस्था ठीक से होती है, किन्तु यदि प्रबन्धक चोर हुआ तो सारी जायदाद तहस-नहस हो जाती है। इसी प्रकार जीव अपनी भौतिक बद्ध अवस्था में अपने कार्या-धिकार अपने मन को सौंप देता है। फलस्वरूप विषयों के भोगने में वह मन द्वारा विभ्रमित किया जा सकता है। अतः श्रील अम्बरीष महाराज ने अपने मन को पहले भगवान् के चरणकमलों में लगाया। *स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः।* जब मन भगवान् के चरणकमलों के ध्यान में संलग्न रहता है, तो इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। नियंत्रण की यह पद्धति *यम* कहलाती है, जिसका अर्थ है, ''इन्द्रियों का नियमन।'' जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेता है, वह *गोस्वामी* कहलाता है किन्तु जो उनको वश में नहीं कर पाता वह *गोदास* कहलाता है। मन इन्द्रियों के कार्यों का निर्देशन करता है, जो विभिन्न छिद्रों द्वारा व्यक्त होते हैं जिसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

अक्षिणी नासिके कर्णौ मुखं शिश्नगुदाविति ।
द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति यस्तदिन्द्रियसंयुतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अक्षिणी—दो आँखें; नासिके—दो नथुने; कर्णौ—दो कान; मुखम्—मुँह; शिश्न—लिंग; गुदौ—तथा मलद्वार; इति—इस प्रकार; द्वे—दो; द्वे—दो; द्वारौ—द्वार; बहिः—बाहर; याति—जाता है; यः—जो; तत्—द्वारों से होकर; इन्द्रिय—इन्द्रियों के द्वारा; संयुतः—साथ-साथ।

आँखें, नथुने तथा कान—इन द्वारों की जोड़ियाँ एक स्थान पर स्थित हैं। मुँह, शिश्न तथा गुदा भी अन्य द्वार हैं। इन नौ द्वारों वाले शरीर में स्थित होकर जीव बाह्यतः भौतिक जगत में कार्य करता है और रूप तथा स्वाद जैसे इन्द्रियविषयों का भोग करता है।

तात्पर्य : अपनी आध्यात्मिक स्थिति से अवगत न रहते हुए जीव मन के द्वारा निर्देशित होकर इन नौ द्वारों से भौतिक वस्तुओं का भोग करने बाहर जाता है। इन भौतिक वस्तुओं के साथ अपने दीर्घ सम्पर्क के कारण वह अपने वास्तविक आध्यात्मिक कार्यों को भूल जाता है और इस तरह दिग्भ्रमित हो जाता है। सारा संसार तथाकथित वैज्ञानियों तथा विचारकों के नेतृत्व में दिग्भ्रमित हो रहा है। जिन्हें आत्मा का कोई ज्ञान नहीं है। इस प्रकार बद्धजीव अधिकाधिक फँसता जाता है।

अक्षिणी नासिके आस्यमिति पञ्च पुरः कृताः
दक्षिणा दक्षिणः कर्ण उत्तरा चोत्तरः स्मृतः ।
पश्चिमे इत्यधो द्वारौ गुदं शिश्नमिहोच्यते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अक्षिणी—दो नेत्र; नासिके—दो नथुने; आस्यम्—मुँह; इति—इस प्रकार; पञ्च—पाँच; पुरः—सामने; कृताः—निर्मित; दक्षिणा—दक्षिणी द्वार; दक्षिणः—दाहिना; कर्णः—कान; उत्तरा—उत्तरी द्वार; च—भी; उत्तरः—बायाँ कान; स्मृतः—जाना हुआ; पश्चिमे—पश्चिम दिशा में; इति—इस प्रकार; अधः—नीचे; द्वारौ—दो द्वार; गुदम्—मलद्वार; शिश्नम्—लिंग (पुरुष की इन्द्रिय); इह—यहाँ; उच्यते—कहा जाता है।

दो आँखें, दो नथुने तथा मुँह ये पाँचों सामने स्थित हैं। दाहिना कान दक्षिणी द्वार है और बायाँ कान उत्तरी द्वार। पश्चिम की ओर स्थित दो छिद्र या द्वार गुदा तथा शिश्न कहलाते हैं।

तात्पर्य : समस्त दिशाओं में से पूर्व दिशा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सूर्य उधर से उदय होता है। इस प्रकार पूर्वी दिशा के द्वार—आँखें, नाक तथा मुँह—शरीर के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण द्वार हैं।

खद्योताविर्मुखी चात्र नेत्रे एकत्र निर्मिते ।

रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे चक्षुषेश्वरः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

खद्योता—खद्योत नामक; आविर्मुखी—आविर्मुखी नामक; च—भी; अत्र—यहाँ; नेत्रे—दो आँखें; एकत्र—एक स्थान पर; निर्मिते—निर्मित; रूपम्—रूप; विभ्राजितम्—विभ्राजित (चमकीला) नामक; ताभ्याम्—आखों से होकर; विचष्टे—देखते हैं; चक्षुषा—नेत्रों से; ईश्वरः—स्वामी।

खद्योत तथा आविर्मुखी नाम से जिन दो द्वारों का वर्णन किया गया है वे एक ही स्थान पर अगल-बगल स्थित दो नेत्र हैं। विभ्राजित नामक नगरी को रूप समझना चाहिए। इस प्रकार दोनों नेत्र सदैव विभिन्न प्रकार के रूपों को देखने में व्यस्त रहते हैं।

तात्पर्य : दोनों नेत्र प्रकाश जैसे चमकीले पदार्थों से आकर्षित होते हैं। कभी-कभी हम देखते हैं कि छोटे-छोटे कीड़े अग्नि के प्रकाश से आकर्षित होकर उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार जीव के दोनों नेत्र चमकीले तथा सुन्दर रूपों के प्रति आकृष्ट होते हैं। वे उनमें उसी प्रकार फँस जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि से आकर्षित होकर कीड़े।

नलिनी नालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते ।
घ्राणोऽवधूतो मुख्यास्यं विपणो वाग्रसविद्रसः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नलिनी—नलिनी नामक; नालिनी—नालिनी नामक; नासे—दोनों नथुने; गन्धः—सुगन्धित; सौरभः—सौरभ (सुगन्ध); उच्यते—कहलाता है; घ्राणः—गंध की इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय; अवधूतः—अवधूत नामक; मुख्या—मुख्या नामक(प्रमुख); आस्यम्—मुँह; विपणः—विपण नामक; वाक्—वाणी; रस-वित्—रसज्ञ, स्वाद लेने में पटु; रसः—स्वाद की इन्द्रिय (जीभ)।

नलिनी तथा नालिनी नामक दोनों द्वार दो नासाछिद्र (नथुने) हैं और सुगन्ध को सौरभ नामक नगरी ही कहा गया है। अवधूत नामक मित्र घ्राणेन्द्रिय है। मुख्या नामक द्वार मुख है और विपण वाक्शक्ति है। रसज्ञ ही स्वाद की इन्द्रिय (जीभ) है।

तात्पर्य : *अवधूत* शब्द का अर्थ है "सर्वथा मुक्त।" अवधूत अवस्था प्राप्त कर लेने पर मनुष्य किसी प्रकार के यम-नियमों द्वारा प्रतिबन्धित नहीं होता। दूसरे शब्दों में, वह जिस तरह चाहे कार्य कर सकता है। यह अवधूत अवस्था वायु की भाँति है, जो किसी प्रकार के अवरोध की परवाह नहीं करती। *भगवद्गीता* (६.३४) में कहा गया है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

"हे कृष्ण! यह मन अस्थिर, मथने वाला जिद्दी तथा अत्यन्त बलिष्ठ है और मेरी समझ में इसको वश में करना वायु को वश में करने से भी अधिक कठिन है।"

जिस प्रकार वायु किसी के रोके नहीं रुकती, उसी प्रकार दोनों नथुने एक ही स्थान पर स्थित होकर बिना अवरोध के गन्ध का अनुभव करते रहते हैं। जीभ के होने से मुँह सभी प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों का निरन्तर स्वाद लेता रहता है।

आपणो व्यवहारोऽत्र चित्रमन्धो बहूदनम् ।
पितृहूर्दक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आपणः—आपण नामक; व्यवहारः—जीभ का कार्य; अत्र—यहाँ; चित्रम्—सभी प्रकार के; अन्धः—खाद्य; बहूदनम्—बहूदन नामक; पितृ-हूः—पितृहू नामक; दक्षिणः—दाहिना; कर्णः—कान; उत्तरः—बायाँ; देव-हूः—देवहू; स्मृतः—कहलाता है।

आपण नामक नगरी जीभ के बोलने के कार्य की सूचक है और बहूदन तरह-तरह के व्यंजनों का सूचक है। दायाँ कान पितृहू द्वार कहलाता है और बायाँ कान देवहू द्वार।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च शास्त्रं पञ्चालसंज्ञितम् ।
पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्व्रजेत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रवृत्तम्—इन्द्रिय भोग की विधि; च—भी; निवृत्तम्—विरक्ति की विधि; च—भी; शास्त्रम्—शास्त्र; पञ्चाल—पंचाल; संज्ञितम्—के नाम से अभिहित, नामक; पितृ-यानम्—पितृलोक को जाते हुए; देव-यानम्—देवलोक को जाते हुए; श्रोत्रात्—सुनकर; श्रुत-धरात्—श्रुतधर नामक संगी से; व्रजेत्—ऊपर उठाया जा सकता है।

नारद मुनि ने आगे कहा : दक्षिण पञ्चाल कही जाने वाली नगरी सकाम कर्म में भोग की विधि अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग को बताने वाले शास्त्रों की सूचक है। उत्तर पञ्चाल नामक अन्य नगरी निवृत्ति मार्ग—सकाम कर्म को घटाने तथा ज्ञान को बढ़ाने वाला मार्ग—बताने वाले शास्त्रों के लिए प्रयुक्त है। जीव को ज्ञान की प्राप्ति दो कानों द्वारा होती है और कुछ लोग पितृलोक तथा कुछ देवलोक को जाते हैं। यह सब दोनों कानों द्वारा सम्भव होता है।

तात्पर्य : वेदों को *श्रुति* कहते हैं और कानों के द्वारा उनसे प्राप्त ज्ञान *श्रुतधर* कहलाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, मनुष्य केवल श्रवण करने से देवलोक या पितृलोक, यहाँ तक कि वैकुण्ठलोक, को जाते हैं। इन सब की व्याख्या पिछले अध्यायों में की जा चुकी है।

आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वार्व्यवायो ग्रामिणां रतिः ।
उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तो निरृतिर्गुद उच्यते ॥ १४॥

शब्दार्थ

आसुरी—आसुरी नामक; मेढ्रम्—शिश्न (लिंग); अर्वाक्—मूर्खों तथा उचक्कों का; द्वाः—द्वार; व्यवायः—स्त्री-प्रसंग करने के लिए; ग्रामिणाम्—सामान्य पुरुषों की; रतिः—आसक्ति; उपस्थः—प्रजननेन्द्रिय; दुर्मदः—दुर्मद; प्रोक्तः—कहलाती है; निरृतिः—निर्ऋति; गुदः—गुदा; उच्यते—कहलाती है।

ग्रामक नामक पुरी, जहाँ निचले आसुरी द्वार (शिश्न) से पहुँचा जाता है, स्त्री-संभोग के लिए है जो उन सामान्य पुरुषों के लिए अत्यन्त मोहक है जो निरे मूर्ख एवं धूर्त हैं। जननेन्द्रिय दुर्मद कहलाती है और गुदा निर्ऋति कहलाती है।

तात्पर्य : जब संसार का अधः पतन होता है, तो सभ्यता आसुरी हो जाती है और सामान्य लोग अत्यन्त गम्भीरता से गुदा तथा शिश्न को समस्त कार्यों का केन्द्रबिन्दु मान बैठते हैं। यहाँ तक कि वृन्दावन जैसे पवित्र स्थान के लोग भी गुदा तथा शिश्न-व्यापार को आध्यात्मिक कर्म मानते हैं। ऐसे लोग सहजिया कहलाते हैं। उनकी विचारधारा के अनुसार संभोग-क्रिया में रत रहकर लोग आध्यात्मिक पद प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* के इन श्लोकों से यह प्रकट है कि संभोग-तुष्टि की इच्छा तो निम्न लोगों—*अर्वाक्*—के लिए है। ऐसे मूर्खों को रास्ते पर लाना कठिन है। इन श्लोकों में निम्न लोगों की कामवासना की भर्त्सना की गई है। *दुर्मद* शब्द का अर्थ "कुनिर्देशित" और *निर्ऋति* का अर्थ "पापकर्म" हैं। यद्यपि इससे स्पष्ट है कि सामान्य दृष्टि से भी कामासक्ति गर्हित और दु:लक्षित है फिर भी 'सहजिया' अपने को आध्यात्मिक कर्मों में रत भक्त मानते हैं। फलत: कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अब वृन्दावन नहीं जाता। कभी-कभी हमसे पूछा जाता है कि आखिर हमने वृन्दावन को क्यों अपना केन्द्र बनाया? ऊपरी तौर से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन सहजिया लोगों के कार्य-कलापों से वृन्दावन पतित हो चुका है, फिर भी आध्यात्मिक दृष्टि से वृन्दावन ही ऐसा स्थान है जहाँ ये समस्त पापी पुरुष कुत्तों, सुअरों तथा बन्दरों का जन्म लेकर उबरते हैं। वृन्दावन में ऐसी योनि में रहकर अगले जन्म में ये सब आध्यात्मिक पद प्राप्त कर सकते हैं।

वैशसं नरकं पायुर्लुब्धकोऽन्धौ तु मे शृणु ।
हस्तपादौ पुमांस्ताभ्यां युक्तो याति करोति च ॥ १५॥

शब्दार्थ

वैशसम्—वैशस नामक; नरकम्—नरक; पायुः—गुदा नामक कर्मेन्द्रिय; लुब्धकः—लुब्धक (अत्यन्त लालची) नामक; अन्धौ—अन्धा; तु—तब; मे—मुझसे; शृणु—सुनो; हस्त-पादौ—हाथ तथा पाँव; पुमान्—जीव; ताभ्याम्—उनके साथ; युक्तः—लगा हुआ; याति—जाता है; करोति—करता है; च—तथा।

जब यह कहा जाता है कि पुरञ्जन वैशस जाता है, तो उसका अर्थ है कि वह नरक जाता है। उसके साथ लुब्धक रहता है, जो गुदा नामक कर्मेन्द्रिय है। इसके पूर्व मैंने दो अंधे साथियों का भी उल्लेख किया था। इन्हें हाथ तथा पाँव समझना चाहिए। जीव हाथ तथा पाँव की सहायता से सभी प्रकार के कार्य करता और इधर-उधर जाता है।

अन्तःपुरं च हृदयं विषूचिर्मन उच्यते ।
तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुरम्—रनिवास; च—तथा; हृदयम्—हृदय; विषूचिः—विषूचिन् नामक दास; मनः—मन; उच्यते—कहलाता है; तत्र—वहाँ; मोहम्—मोह; प्रसादम्—सन्तोष; वा—अथवा; हर्षम्—हर्ष; प्राप्नोति—प्राप्त करता है; तत्—मन का; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा।

अन्तःपुर हृदय का सूचक है। विषूचिन् (सर्वत्र जाते हुए) मन को बताने वाला है। जीव मन के भीतर प्रकृति के गुणों का भोग करता है। ये सारे प्रभाव कभी मोह उत्पन्न करते हैं, तो कभी सन्तोष तथा उल्लास।

तात्पर्य : इस संसार में जीव का मन तथा बुद्धि प्रकृति के गुणों द्वारा प्रभावित होते रहते हैं और इन गुणों की संगति के अनुसार मन इधर-उधर जाने का आदी हो जाता है। उसी के अनुसार हृदय संतोष, उल्लास या मोह का अनुभव करता है। वास्तव में जीव निष्क्रिय रहता है। प्रकृति के गुण ही मन तथा हृदय पर कार्य करते हैं और जीव उनके फलों का भोग करता है। *श्रीमद्भागवत* (३.२७) में स्पष्ट कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

"मोहग्रस्त आत्मा प्रकृति के तीनों गुणों के वश में होकर अपने को समस्त कर्मों का कर्त्ता मानता है, जब कि वास्तव में वे प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।"

यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा ।

तथा तथोपद्रष्टात्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते ॥ १७॥

शब्दार्थ

यथा यथा—जिस जिस प्रकार; विक्रियते—विक्षुब्ध होती है; गुण-अक्तः—गुणों से लिप्त; विकरोति—जैसा करती है; वा—अथवा; तथा तथा—उसी उसी प्रकार; उपद्रष्टा—दर्शक; आत्मा—आत्मा; तत्—बुद्धि का; वृत्तीः—व्यापार; अनुकार्यते—अनुकरण करता है।

पहले यह बताया जा चुका है कि रानी मनुष्य की बुद्धि है। सोते समय या जागते हुए बुद्धि विभिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है। दूषित बुद्धि के कारण जीव कुछ सोचता है और अपनी बुद्धि के कार्य-कारणों का केवल अनुकरण करता है।

तात्पर्य : राजा पुरञ्जन की रानी को यहाँ पर साक्षात् बुद्धि कहा गया है। बुद्धि स्वप्न तथा जाग्रत दोनों ही अवस्थाओं में क्रियाशील रहती है, किन्तु यह प्रकृति के गुणों द्वारा दूषित हो जाती है। बुद्धि के दूषित होने से जीव भी दूषित हो जाता है। बद्ध अवस्था में जीव अपनी दूषित बुद्धि के अनुसार ही कार्य करता है। यद्यपि वह मात्र दर्शक बना रहता है, फिर भी दूषित बुद्धि द्वारा बाध्य होकर वह कार्य करता है, किन्तु वह रहता है अप्रत्यक्ष कर्त्ता के रूप में ही।

देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः संवत्सररयोऽगतिः ।
द्विकर्मचक्रस्त्रिगुणध्वजः पञ्चासुबन्धुरः ॥ १८॥
मनोरश्मिर्बुद्धिसूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः ।
पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातुवरूथकः ॥ १९॥
आकूतिर्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णां प्रधावति ।
एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूनाविनोदकृत् ॥ २०॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; रथः—रथ; तु—लेकिन; इन्द्रिय—ज्ञानेन्द्रियाँ; अश्वः—घोड़े; संवत्सर—समग्र वर्ष; रयः—जीवन अवधि, आयु; अगतिः—गतिहीन; द्वि—दो; कर्म—कर्म; चक्रः—पहिए; त्रि—तीन; गुण—प्रकृति के गुण; ध्वजः—पताकाएँ; पञ्च—पाँच; असु—प्राण; बन्धुरः—बन्धन; मनः—मन; रश्मिः—रज्जु; बुद्धि—बुद्धि; सूतः—रथ चलाने वाला, सारथी; हृत्—हृदय; नीडः—बैठने का स्थान; द्वन्द्व—द्वैतभाव; कूबरः—जुए; पञ्च—पाँच; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रिय विषय; प्रक्षेपः—आयुध; सप्त—सात; धातु—तत्त्व; वरूथकः—आवरण; आकूतिः—कर्मेन्द्रियों के प्रयास; विक्रमः—शौर्य; बाह्यः—बाहरी; मृग-तृष्णाम्—झूठी महत्त्वाकांक्षा; प्रधावति—पीछे-पीछे दौड़ता है; एकादश—ग्यारह; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; चमूः—सैनिक; पञ्च—पाँच; सूना—ईर्ष्या; विनोद—हर्ष, विलास; कृत्—कार्य।

नारद मुनि ने आगे कहा : जिसे मैने रथ कहा था, वह वास्तव में शरीर है। इन्द्रियाँ ही वे घोड़े हैं, जो रथ को खींचते हैं। ज्यों-ज्यों वर्षानुवर्ष समय बीतता जाता है, ये घोड़े बिना किसी अवरोध के दौते हैं, किन्तु वास्तव में वे कोई प्रगति नहीं कर पाते। पाप तथा पुण्य इस रथ के दो पहिए हैं। प्रकृति के तीनों गुण इस रथ की ध्वजाएँ हैं। पाँच प्रकार के प्राण जीव के बन्धन बनते

हैं और मन को रस्सी (रज्जु) माना जाता है। बुद्धि इस रथ का सारथी है। हृदय रथ में बैठने का स्थान है और हर्ष तथा पीड़ा जैसे द्वन्द्व जुए हैं। सातों तत्त्व (धातुएँ) इस रथ के ओहार (आवरण) हैं, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ उसकी पाँच प्रकार की बाह्य गतियाँ हैं और ग्यारहों इन्द्रियाँ सैनिक हैं। इन्द्रिय-सुख में मग्न रहने के कारण रथ पर आसीन जीव झूठी अभिलाषाओं को पूरा करने के लिए इतराता है और जन्म-जन्मांतर तक इन्द्रियसुख के पीछे दौड़ता रहता है।

तात्पर्य : इन श्लोकों में इन्द्रिय-सुख में जीव की लिप्तता का अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णन हुआ है। *संवत्सर* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जीव दिन-प्रतिदिन, सप्ताह-प्रति सप्ताह, पाख-प्रति पाख, मास-प्रति मास, वर्ष-प्रति वर्ष रथ की प्रगति में उलझता जाता है। यह रथ दो पहियों पर टिका है, जो पाप कर्म तथा पुण्य कर्म हैं। जीव अपने पाप तथा पुण्यकर्मों के अनुसार विशिष्ट तरह का शरीर पाकर विशेष स्थिति प्राप्त करता है, किन्तु विभिन्न शरीरों में उसके देहान्तरण को प्रगति नहीं माना जा सकता। वास्तविक प्रगति की व्याख्या *भगवद्गीता* (४.९) में की गई है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—जब दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करना होता तभी मनुष्य वास्तविक प्रगति करता है। जैसाकि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१३८) में कहा गया है—

एइत ब्रह्माण्ड भरि 'अनन्त जीवगण।
चौरासीलक्ष योनिते करये भ्रमण॥

जीव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-भर में घूमता है और विभिन्न लोकों में विविध योनियों में जन्म लेता रहता है। इस प्रकार वह ऊपर-नीचे घूमता है, किन्तु यह वास्तविक प्रगति नहीं है। वास्तविक प्रगति तो इस भौतिक जगत से पूरी तरह से छूटना है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१६) में कथित है—

आब्रह्म भुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

''इस भौतिक संसार में सबसे ऊँचे लोक से लेकर सबसे निम्न लोक तक सभी दुख के स्थान हैं, जहाँ बारम्बार जन्म तथा मृत्यु होती रहती है। किन्तु,हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है उसका फिर से जन्म नहीं होता।'' यदि कोई ब्रह्मलोक को, जो ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च लोक है, पा जाता है, तो उसे पुन: अध:लोकों में उतरना पड़ता है। इस प्रकार वह प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत हो

कर निरन्तर ऊपर-नीचे घूमता रहता है, किन्तु मोहग्रस्त होने से वह सोचता है कि प्रगति हो रही है। वह उस वायुयान के समान है, जो पृथ्वी के गुरुत्त्वाकर्षण केन्द्र से बाहर निकलने में अक्षम होने के कारण लगातार पृथ्वी के चक्कर काट रहा होता है। वास्तव में वायुयान कोई प्रगति नहीं कर पाता, क्योंकि वह पृथ्वी के गुरुत्त्वाकर्षण से बँधा हुआ होता है।

जिस प्रकार राजा रथ पर आरूढ़ होता है उसी तरह जीवात्मा शरीर में आसीन है। उसके बैठने का स्थान हृदय है जहाँ वह जीवन-संघर्ष में जुटा रहना है और यह संघर्ष बिना किसी प्रगति के अनवरत चलता रहता है। नरोत्तमदास ठाकुर के शब्दों में—

कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड,

अमृत बलिया येबा खाय।

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे,

तार जन्म अधः-पाते याय॥

कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के प्रभाव में आकर जीव अत्यधिक संघर्ष करता है और एक के बाद एक विविध योनियों में वह विभिन्न शरीर प्राप्त करता रहता है। वह सभी प्रकार के गर्हित भोजन करता है और अपने सुखभोग के कार्यों द्वारा धिक्कारा जाता है। यदि कोई सचमुच जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो उसे कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की विधियों को त्याग देना चाहिए। कृष्णचेतना में स्थिर होने पर मनुष्य जन्म तथा मृत्यु के बन्धन तथा व्यर्थ जीवन-संघर्ष से मुक्त हो सकता है। यहाँ पर *मृगतृष्णाम् प्रधावति* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जीव इन्द्रियसुख की प्यास से प्रभावित होता है। वह उस मृग के तुल्य है, जो मरुस्थल में पानी की खोज के लिए निकलता है। मरुस्थल में पशु द्वारा पानी की खोज व्यर्थ जाती है। सचमुच में वहाँ पानी तो रहता नहीं, हाँ, पशु उसे ढूँढ़ने के प्रयास में अपने प्राणों की बलि चढ़ा देता है। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचकर भावी सुख की योजना बनाता है कि यदि वह किसी तरह अमुक स्थान तक पहुँच सके तो सुखी हो सकता है, किन्तु जब वह वास्तविक रूप में उस स्थान पर पहुँचता है, तो देखता है कि वहाँ कोई सुख नहीं है। तब वह और आगे किसी दूसरे स्थान तक पहुँचना चाहता है। यही मृगतृष्णा है और इस भौतिक जगत का इन्द्रियसुख इस की आधारभूमि है।

संवत्सरश्चण्डवेगः कालो येनोपलक्षितः
तस्याहानीह गन्धर्वा गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः ।
हरन्त्यायुः परिक्रान्त्या षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

संवत्सरः—वर्ष; चण्ड-वेगः—चण्डवेग नामक; कालः—समय; येन—जिससे; उपलक्षितः—सांकेतिक; तस्य—आयु का; अहानि—दिन; इह—इस जीवन में; गन्धर्वाः—गन्धर्वगण; गन्धर्व्यः—गन्धर्वियाँ; रात्रयः—रात्रियाँ; स्मृताः—जानी जाती हैं; हरन्ति—ले लेते हैं; आयुः—आयु, उम्र; परिक्रान्त्या—भ्रमण करके; षष्टि—साठ; उत्तर—अधिक; शत—सौ; त्रयम्—तीन।

जिसे पहले चण्डवेग अर्थात् शक्तिशाली काल कहा गया था वह दिन तथा रात से बना है जिनके नाम गन्धर्व और गन्धर्वी हैं। शरीर की आयु दिन तथा रात के बीतने से क्रमशः घटती जाती है जिनकी संख्या ३६० है।

तात्पर्य : *परिक्रान्त्या* शब्द का अर्थ है "भ्रमण करके।" जीव अपने रथ पर वर्ष के ३६० दिन तथा रात भ्रमण करता रहता है। जीवन के इन ३६० दिन तथा रात को पूरा करने के लिए किये गये वृथा श्रम को जीवन की प्रगति मान लिया जाता है।

कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति ।
स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

काल-कन्या—काल की पुत्री; जरा—वृद्धावस्था; साक्षात्—प्रत्यक्ष; लोकः—समस्त जीव; ताम्—उसको; न—नहीं; अभिनन्दति—स्वागत करते हैं; स्वसारम्—अपनी बहन के रूप में; जगृहे—स्वीकार किया; मृत्युः—मृत्यु; क्षयाय—नाश के लिए; यवन-ईश्वरः—यवनों के राजा ने।

जिसे कालकन्या कहा गया है, उसे वृद्धावस्था (जरा) समझना चाहिए। कोई भी वृद्धावस्था नहीं स्वीकार करना चाहता, किन्तु यवनराज, जो साक्षात् मृत्यु है, जरा (वृद्धावस्था) को अपनी बहन के रूप में स्वीकार करता है।

तात्पर्य : शरीर के भीतर बन्दी जीव कालकन्या अर्थात् वृद्धावस्था को मृत्यु के तुरन्त पहले स्वीकार करता है। यवनराज मृत्यु अर्थात् यमराज का प्रतीक है। यमराज के पास जाने के पूर्व जीवात्मा जरा अर्थात् वृद्धावस्था को, जो यवनराज की बहन है, स्वीकार करता है। अपवित्र कार्यों के फलस्वरूप मनुष्य यवनराज तथा उसकी बहन के वश में आ जाता है। जो लोग कृष्णभक्ति करते हैं और नारद मुनि द्वारा बताई गई भक्ति में लगे रहते हैं, उन्हें यवनराज तथा उसकी बहन जरा से प्रभावित नहीं होना

पड़ता। कृष्णभक्त होकर मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है। इस भौतिक शरीर को छोड़ने के बाद वह दूसरा भौतिक शरीर न धारण करके घर को अर्थात् भगवान् के पास वापस जाता है। इसकी सम्पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में हुई है।

आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाश्चराः ।
भूतोपसर्गाशुरयः प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः ॥ २३॥
एवं बहुविधैर्दुःखैर्दैवभूतात्मसम्भवैः ।
क्लिश्यमानः शतं वर्षं देहे देही तमोवृतः ॥ २४॥
प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः ।
शेते कामलवान्ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत् ॥ २५॥

शब्दार्थ

आधयः—मानसिक क्लेश; व्याधयः—शारीरिक क्लेश या रोग; तस्य—यवनेश्वर के; सैनिकाः—सिपाही; यवनाः—यवनगण; चराः—अनुचर; भूत—जीवों के; उपसर्ग—विपत्ति के समय; आशु—तुरन्त; रयः—अत्यन्त शक्तिशाली; प्रज्वारः—प्रज्वार नामक; द्वि-विधः—दो प्रकार का; ज्वरः—ज्वर; एवम्—इस प्रकार; बहु-विधैः—विभिन्न प्रकारों के; दुःखैः—कष्टों के द्वारा; दैव—भाग्यवश; भूत—अन्य जीवों द्वारा; आत्म—शरीर तथा मन द्वारा; सम्भवैः—उत्पन्न; क्लिश्यमानः—कष्ट पाकर; शतम्—सौ; वर्षम्—वर्ष; देहे—शरीर में; देही—जीव; तमः-वृतः—भौतिक अंधकार से आच्छादित; प्राण—जीवन का; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; मनः—मन का; धर्मान्—गुण; आत्मनि—आत्मा को; अध्यस्य—भ्रमवश मानते हुए; निर्गुणः—यद्यपि दिव्य; शेते—लेट जाता है; काम—इन्द्रियसुख का; लवान्—खंडों पर; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; कर्म-कृत्—कर्ता।.

यवनेश्वर (यमराज) के अनुचर मृत्यु के सैनिक कहलाते हैं, जो शरीर तथा मन सम्बन्धी विविध क्लेश माने जाते हैं। प्रज्वार दो प्रकार के ज्वरों का सूचक है—अत्यधिक ताप तथा अत्यधिक शीत—जैसे टाइफाइड तथा निमोनिया। शरीर के भीतर लेटा हुआ जीव विविध क्लेशों द्वारा, जो दैविक, भौतिक तथा अपने ही शरीर तथा मन से सम्बन्धित हैं, विचलित होता रहता है। समस्त प्रकार के क्लेशों के होते हुए भी जीव इस संसार को भोगने की इच्छा से अनेकानेक योजनाओं में बह जाता है। निर्गुण (दिव्य) होकर भी जीव अपने अज्ञान के कारण अहंकारवश (मैं तथा मेरा) इन भौतिक कष्टों को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह इस शरीर के भीतर सौ वर्षों तक रहता है।

तात्पर्य : वेदों का कथन है—*असङ्गोऽयं पुरुषः।* जीवात्मा वास्तव में इस जगत से विलग है, क्योंकि आत्मा भौतिक नहीं होती है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि जीवात्मा उत्कृष्ट शक्ति है और सारे भौतिक तत्त्व अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, निकृष्ट शक्ति हैं। इन तत्त्वों को *भिन्न* अथवा पृथक्

शक्ति भी कहा गया है। जब अन्तरंगा या उत्कृष्ट शक्ति बहिरंगा शक्ति के संसर्ग में आती है, तो उसे अनेक क्लेश उठाने पड़ते हैं। *भगवद्गीता* (२.१४) में भगवान् यह भी कहते हैं—*मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखद:खदा:*—भौतिक शरीर होने के कारण जीवात्मा को अनेक क्लेश उठाने पड़ते हैं, जो वायु, जल, अग्नि, अत्यधिक ताप, अत्यधिक शीत, धूप, अधिक भोजन, अस्वास्थ्यकर भोजन, शरीर के तीनों तत्त्वों का असंतुलन (कफ, पित्त तथा वायु) आदि द्वारा उत्पन्न होते हैं। शरीर की आँतें, गला, मस्तिष्क तथा अन्य भाग सभी प्रकार के रोगों से प्रभावित होते रहते हैं, जो इतने शक्तिशाली होते हैं कि जीव को अत्यधिक कष्ट पहुँचाते हैं। किन्तु जीवात्मा इन सारे भौतिक तत्त्वों से सर्वथा भिन्न रहता है। इस श्लोक में वर्णित दो प्रकार के ज्वर आज की भाषा में निमोनिया तथा टाइफाइड हैं। जब शरीर अत्यधिक ज्वर से ग्रस्त होता है, तो टाइफाइड तथा निमोनिया होता है, जिन्हें *प्रज्वार* कहा गया है। अन्य जीव भी अनेक प्रकार के क्लेशों के जनक हैं—यथा सरकार कर वसूलती है तथा और अनेक चोर, उचक्के तथा ठग भी हैं। अन्य जीवों द्वारा उत्पन्न क्लेश *अधिभौतिक* कहलाते हैं। दुर्भिक्ष, महामारी, युद्ध, भूकम्प इत्यादि के रूप में भी क्लेश होते हैं। ये देवताओं या हमारी शक्ति से परे अन्य स्रोतों से उत्पन्न होते हैं। वास्तव में जीवों के अनेक शत्रु हैं और इन सबका वर्णन यह दिखाने के लिए किया गया है कि यह संसार कितना कष्टकारक है।

इस संसार के मूलभूत कष्ट को जानते हुए प्रयास यही होना चाहिए कि भौतिकता के चंगुल से छूटकर भगवान् के धाम वापस जाया जाये। वास्तव में जीव इस शरीर में तनिक भी सुखी नहीं है। शरीर के कारण ही उसे भूख-प्यास लगती है और वह मन, वचन, क्रोध, पेट, लिंग, गुदा इत्यादि के द्वारा प्रभावित होता है। दिव्य जीवात्मा को अनेकानेक कष्ट इसीलिए घेर लेते हैं, क्योंकि वह इस संसार में अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है। यदि वह केवल इन्द्रियतुष्टि के कार्यों से अपने को विलग कर ले और अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगा दे तो संसार की सारी समस्याएँ तुरन्त घट जाँय और कृष्णभक्ति में प्रगति के फलस्वरूप वह सभी क्लेशों से मुक्त होकर इस शरीर को त्यागने के बाद भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

यदात्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम् ।

पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक् ॥ २६ ॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः ।
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माभिजायते ॥ २७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आत्मानम्—परमात्मा को; अविज्ञाय—भूलकर; भगवन्तम्—भगवान्; परम्—परम; गुरुम्—उपदेशक को; पुरुषः—जीव; तु—तब; विषज्जेत—अपने को हवाले करता है; गुणेषु—गुणों के प्रति; प्रकृतेः—प्रकृति के; स्व-दृक्—अपना कल्याण देखने वाला; गुण-अभिमानी—प्रकृति के गुणों से अपनी पहचान करने वाला; सः—वह; तदा—उस समय; कर्माणि—कर्म; कुरुते—करता है; अवशः—तुरन्त; शुक्लम्—श्वेत; कृष्णम्—काला, श्याम; लोहितम्—लाल; वा—अथवा; यथा—के अनुसार; कर्म—कर्म; अभिजायते—जन्म लेता है।.

जीव की यह प्रकृति है कि उसे अपना अच्छा या बुरा भाग्य चुनने की कुछ-कुछ छूट है, किन्तु जब वह अपने परम स्वामी भगवान् को भुला देता है, तो वह अपने को प्रकृति के गुणों के हवाले कर देता है। इस तरह प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर वह अपने को शरीर मान बैठता है। कभी वह तमोगुण, तो कभी रजोगुण और कभी सतोगुण के अधीन होता है। इस प्रकार जीव प्रकृति के गुणों के अधीन रह कर विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१३.२२) में विभिन्न प्रकार के शरीरों की व्याख्या पाई जाती है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

''प्रकृति में तीनों गुणों को भोगते हुए जीव अपना जीवनयापन करता है। इसका कारण है प्रकृति के साथ उसकी संगति। इस प्रकार उसकी विभिन्न योनियों में अच्छों तथा बुरों से मिलाप होता है।''

प्रकृति के गुणों के सम्पर्क में आने से जीव को चौरासी लाख योनियों में से नाना प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जीव को कुछ-कुछ स्वतंत्रता प्राप्त है, जो *स्वदृक्* शब्द से परिलक्षित है, जिसका अर्थ है, ''जो अपना कल्याण देख सके।''जीव की स्वाभाविक स्थिति अत्यन्त तुच्छ है और चुनाव करते समय उसे धोखा हो सकता है। वह भगवान् का अनुकरण करने को चुन सकता है। एक नौकर स्वयं अपना व्यापार शुरू करना चाह सकता है और इस तरह वह अपने स्वामी का अनुकरण करता है और ऐसा करने पर उसे अपने स्वामी का संरक्षण छोड़ देना होता है। इस प्रकार वह कभी सफल होता है, तो कभी असफल। इसी प्रकार श्रीकृष्ण का अंश जीव भी भगवान् की स्पर्धा करने के लिए अपना व्यापार प्रारम्भ करता है। भगवान् का पद पाने के लिए अनेक प्रतियोगी हो जाते हैं, किन्तु भगवान् जैसा बनना तनिक भी संभव नहीं है। इस प्रकार विभिन्न पक्षों द्वारा भगवान् का

अनुकरण करने के फलस्वरूप विकट जीवन-संघर्ष चल रहा है। भवबन्धन का कारण भगवान् की सेवा से हटकर उनका अनुकरण करना है। भगवान् का अनुकरण मायावादी चिन्तक करते हैं, क्योंकि वे कृत्रिम ढंग से भगवान् से तादात्म्य करना चाहते हैं। जब वे अपने को मुक्त मानते हैं, तो वे ज्ञान के भ्रम में होते हैं। कोई न तो ईश्वर हो सकता है, न ही उनके समान बन सकता है। ऐसी कल्पना करना भवबन्धन में बने रहना है।

शुक्लात्प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति कर्हिचित् ।
दु:खोदर्कान्क्रियायासांस्तम:शोकोत्कटान्क्वचित् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

शुक्लात्—सतोगुण से; प्रकाश—प्रकाश से; भूयिष्ठान्—गुणसम्पन्न; लोकान्—लोक; आप्नोति—प्राप्त करता है; कर्हिचित्—कभी-कभी; दु:ख—कष्ट; उदर्कान्—परिणाम; क्रिया-आयासान्—कठिन कार्यों से पूर्ण; तम:—अंधकार; शोक—शोक में; उत्कटान्—परिपूर्ण, बहुल; क्वचित्—कभी-कभी।

जो सतोगुणी हैं, वे वैदिक आदेशों के अनुसार पुण्यकर्म करते हैं और इस तरह वे उच्चलोकों को जाते हैं जहाँ देवों का निवास है। जो रजोगुणी हैं, वे मनुष्य लोक में विभिन्न प्रकार के उत्पादक काम करते हैं। इसी प्रकार तमोगुणी पुरुष विभिन्न प्रकार के कष्ट उठाते हैं और पशु जगत में वास करते हैं।

तात्पर्य : तीन तरह के लोक हैं—उच्च, मध्य तथा अध:। जो सतोगुणी होते हैं, वे उच्च लोकों—ब्रह्म (सत्य), तप:, जन: तथा मह: लोकों को जाते हैं। जो रजोगुणी हैं उन्हें भू: तथा भुव: लोकों की प्राप्ति होती है। जो तमोगुणी हैं, वे अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल या पशु जगत में स्थान पाते हैं। गुणात्मक दृष्टि से जीव तथा भगवान् एक हैं, किन्तु अपनी विस्मृति के कारण जीव को विभिन्न लोकों में विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। आज के समय में मानव समाज बुरी तरह से रजोगुण से प्रभावित है; फलस्वरूप लोग बड़े-बड़े कारखानों में काम करने में लगे हुए हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ऐसे स्थानों में रहना कितना कष्टप्रद है। *भगवद्गीता* में ऐसे कामों को *उग्रकर्म* कहा गया है। जो लोग श्रमिकों की शक्ति का उपयोग करते हैं, वे पूँजीपति कहलाते हैं और वास्तविक काम करने वाले श्रमिक या मजदूर कहलाते हैं। वास्तव में वे दोनों ही पूँजीपति हैं और मजदूर रजोगुणी तथा तमोगुणी दोनों हैं। इसका परिणाम यह है कि सदा ही अत्यन्त विकट (उग्र) स्थिति बनी रहती है। इनके विपरीत वे लोग हैं, जो सतोगुणी हैं—कर्मी तथा ज्ञानीजन। कर्मीजन वैदिक आदेशों के

अनुसार उच्चलोकों तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। ज्ञानीजन ब्रह्म में तदाकार होने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार इस जगत में विभिन्न योनियों में सभी वर्ग के जीव पाये जाते हैं। इससे संसार में श्रेष्ठ तथा निकृष्ट जीव-रूपों के पाये जाने की व्याख्या हो जाती है।

क्वचित्पुमान्क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः ।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः ॥ २९॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; पुमान्—नर; क्वचित्—कभी; च—भी; स्त्री—नारी; क्वचित्—कभी; न—नहीं; उभयम्—दोनों; अन्ध—अन्धा; धीः—जिसकी बुद्धि; देवः—देवता; मनुष्यः—मनुष्य; तिर्यक्—पशु, पक्षी आदि; वा—अथवा; यथा—अनुसार; कर्म—कर्म के; गुणम्—गुण; भवः—जन्म।

भौतिक प्रकृति के तमोगुण से आच्छादित होकर जीवात्मा कभी नर, कभी नारी, कभी नपुंसक, कभी मनुष्य, कभी देवता, कभी पक्षी, पशु इत्यादि बनता है। इस प्रकार वह इस भौतिक जगत में घूमता रहता है। वह प्रकृति के गुणों के अधीन अपने कर्मों के कारण विभिन्न प्रकार के शरीर स्वीकार करता रहता है।

तात्पर्य : वास्तव में जीव भगवान् का अंश है, फलतः वह आध्यात्मिक गुणसम्पन्न है। वह कभी भौतिक नहीं होता। उसका भौतिक बोध उसकी विस्मृति से उत्पन्न होने के कारण एक गलती है। वह भगवान् के ही समान तेजोमय (चमकीला) है। किन्तु सूर्य तथा सूर्यप्रकाश अत्यन्त चमकीले (तेजोमय) होते हैं। भगवान् पूर्ण चमकते सूर्य के सदृश हैं और जीव सूर्य के उन लघु कणों के समान हैं, जिनसे सूर्य-प्रकाश बनता है। जब ये लघु कण मायारूपी बादल से ढक जाते हैं, तो उनका चमकीलापन अदृश्य हो जाता है। जब माया के बादल हट जाते हैं, तो वे कण पुनः पूर्ववत् चमकने लगते हैं। ज्योंही जीव माया के अज्ञान से आच्छादित हो जाता है, वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं समझ सकता। यदि किसी तरह वह भगवान् के समक्ष पहुँच जाता है, तो वह अपने को भी उतना ही प्रकाशपूर्ण (तेजोमय) पाता है जितने की भगवान्, भले ही वह उतना व्यापक न हो। चूँकि जीव परमेश्वर का अनुकरण करना चाहता है, इसलिए वह माया से आच्छादित है। हम न तो भगवान् का अनुकरण कर सकते हैं, न ही हम परम भोक्ता बन सकते हैं। यह सम्भव नहीं है, किन्तु जब हम ऐसा होना सम्भव सोचते हैं, तो हम माया द्वारा बद्ध हो जाते हैं। इस तरह परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाने के कारण ही जीव माया के चंगुल में आ फँसता है।

माया के वश में होकर जीव भूतप्रेत बाधा से त्रस्त व्यक्ति जैसा बन जाता है। ऐसा व्यक्ति अनर्गल प्रलाप करता रहता है। जब जीव माया के वश में होता है, तो वह तथाकथित विज्ञानी, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ या समाजवादी बन जाता है और प्रतिक्षण वह मानव-समाज के कल्याण हेतु तरह-तरह की योजनाएँ प्रस्तुत करता रहता है। अन्तत: ये सारी योजनाएँ विफल होती हैं, क्योंकि ये भ्रामक (मोहमय) हैं। इस प्रकार जीव भूल जाता है कि वह भगवान् का शाश्वत दास है। उल्टे, वह माया का दास बन बैठता है। प्रत्येक दशा में वह दास रहता है। यह उसका दुर्भाग्य है कि भगवान् को भुलाने के कारण वह माया का दास बन जाता है। माया का दास होने से कभी वह राजा बनता है, कभी सामान्य नागरिक, कभी ब्राह्मण तो कभी शूद्र इत्यादि। कभी वह सुखी रहता है, तो कभी सम्पन्न व्यक्ति के रूप में रहता है। कभी वह लघु कीट बनता है। कभी वह स्वर्ग में रहता है, तो कभी नरक में। कभी वह देवता बनता है, तो कभी असुर। कभी वह दास बनता है, तो कभी स्वामी। इस प्रकार जीव सारे ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है। जब वह प्रामाणिक गुरु के सम्पर्क में आता है तभी उसे अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति का बोध होता है। तब वह इस संसार से ऊब जाता है। उस समय, कृष्णचेतना में आकर वह अपने विगत सांसारिक अनुभवों पर पश्चात्ताप करता है। यह पश्चात्ताप लाभप्रद होता है, क्योंकि इससे उसका भौतिक बद्ध जीवन पवित्र हो जाता है। तब वह भगवान् से उनकी सेवा में लगा लेने के लिए प्रार्थना करता है और उस समय श्रीकृष्ण उसे माया के बन्धन से मोक्ष दिला देते हैं। भगवान् कृष्ण ने इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (७.१४) में की है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

''मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी शक्ति दुर्लंघ्य है। किन्तु जो मेरी शरण में आ जाते हैं, वे इसे सरलता से पार कर सकते हैं।''

केवल कृष्ण के अनुग्रह से माया के चंगुल से छूटा जा सकता है। ज्ञान या अन्य कर्मों से इससे छुटकारा पाना असम्भव है। जब जीव को कृष्ण की कृपा से अपनी वास्तविक स्थिति का बोध होता है, तो वह अपने को कृष्णचेतना में सदैव दृढ़ रखकर उसी के अनुसार कार्य करता है। इस प्रकार वह क्रमश: माया के चंगुल से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है। जब उसकी कृष्णचेतना दृढ़ होती है, तो माया

उसे छू नहीं पाती। इस प्रकार कृष्णभक्तों की संगति में रह कर जीव इस संसार के कल्मष से मुक्त हो सकता है। इस प्रसंग में श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी का कथन है (*श्रीचैतन्य-चरितामृत,* मध्य २२.२५)—

ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।

माया-जाल छूटे, पाय कृष्णेर चरण॥

"कृष्णचेतना की अवस्था में जीव अपने गुरु के निर्देशानुसार भक्ति में लगा रहता है। इस तरह वह माया के चंगुल से छूट कर भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है।"

क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम् ।
चरन्विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा ॥ ३० ॥
तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन् ।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

क्षुत्-परीतः—भूख से पीड़ित; यथा—जिस प्रकार; दीनः—दरिद्र; सारमेयः—कुत्ता; गृहम्—एक घर से; गृहम्—दूसरे घर को; चरन्—घूमते हुए; विन्दति—प्राप्त करता है; यत्—जिसका; दिष्टम्—प्रारब्ध के अनुसार; दण्डम्—दण्ड; ओदनम्—भोजन; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; तथा—उसी तरह; काम-आशयः—विभिन्न इच्छाओं का अनुसरण करता; जीवः—जीव; उच्च—उँचा; अवच—नीचा; पथा—रास्ते पर; भ्रमन्—घूमते हुए; उपरि—ऊपर; अधः—नीचे; वा—अथवा; मध्ये—बीच में; वा—अथवा; याति—जाता है; दिष्टम्—भाग्य के अनुसार; प्रिय—सुखकर; अप्रियम्—अच्छा न लगने वाला।

यह जीव ठीक उस कुत्ते के तुल्य है, जो भूख से परेशान भोजन पाने के लिए द्वार-द्वार जाता है। अपने प्रारब्ध के अनुसार वह कभी दण्ड पाता है और खदेड़ दिया जाता है, अथवा कभी-कभी खाने को थोड़ा भोजन भी पा जाता है। इसी प्रकार, जीव भी अनेकानेक इच्छाओं के वशीभूत होकर अपने भाग्य के अनुसार विभिन्न योनियों में भटकता रहता है। कभी वह उच्च स्थान प्राप्त करता है, तो कभी निम्न स्थान। कभी वह स्वर्ग को जाता है, कभी नरक को, तो कभी मध्य लोकों को और ऐसा चलता रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर जीव की स्थिति की तुलना कुत्ते से की गई है। भाग्यवश कुत्ते का मालिक धनी हो सकता है और संयोग से वह सड़कों में घूमने वाला कुत्ता बन सकता है। धनी मालिक का कुत्ता होने पर वह मौज से रहता है। पाश्चात्य देशों में कभी-कभी कुत्ते का मालिक अपनी वसीयत में उसके नाम पर लाखों डालर की राशि छोड़ कर मरता है। किन्तु सड़कों पर बिना भोजन के घूमने वाले कुत्तों

की भी संख्या कम नहीं होती। अतः जीव की बद्ध अवस्था की तुलना कुत्ते से करना अत्यन्त उपयुक्त है। किन्तु यदि कुत्ता ही बनना पड़े तो बुद्धिमान मनुष्य श्रीकृष्ण का कुत्ता बनना पसन्द करेगा। भौतिक जगत में कुत्ता कभी ऊँचे उठता है, तो कभी सड़क पर घूमता है, किन्तु आध्यात्मिक जगत में कृष्ण का कुत्ता सदैव सुखी रहता है। इसीलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर गाते हैं—*वैष्णव ठाकुर तोमार कुकुर बलिया जानह मोरे।* इस प्रकार वे किसी वैष्णव का कुत्ता बनना पसन्द करते हैं। कुत्ता अपने मालिक के द्वार पर सदैव रहता है और अवांछित व्यक्ति को अपने मालिक के पास नहीं फटकने देता। इसी प्रकार मनुष्य को वैष्णव की सेवा करनी चाहिए और उसे सब तरह से प्रसन्न रखना चाहिए। जब तक वह ऐसा नहीं करता, उसकी आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो सकती। यही नहीं, यदि इस जगत में वह सतोगुणी नहीं बनता तो वह उच्च लोकों को नहीं जा सकता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.१८) में हुई है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

''जो सतोगुणी हैं, वे क्रमशः उच्चलोकों को जाते हैं, जो रजोगुणी हैं, वे पृथ्वीलोक में रहते हैं और जो तमोगुणी हैं, वे नरक लोकों को जाते हैं।''

विभिन्न लोकों में जीवन के अनेक प्रकार हैं और ये सभी जीव द्वारा सतो, रजो तथा तमोगुणों को विकसित करने के कारण प्राप्त होते हैं। यदि कोई सतोगुणी है, तो वह उच्चलोक को जाता है, यदि वह रजोगुणी है, तो मध्य लोकों में रहता है, किन्तु यदि वह तमोगुणी है, तो निम्न योनियों में धकेल दिया जाता है।

दुःखेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु ।
जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत्तत्तत्प्रतिक्रिया ॥ ३२॥

शब्दार्थ

दुःखेषु—दुखों में; एकतरेण—एक से; अपि—भी; दैव—भाग्य; भूत—अन्य जीव; आत्म—मन तथा शरीर; हेतुषु—के कारण; जीवस्य—जीव का; न—कभी नहीं; व्यवच्छेदः—छुटकारा; स्यात्—सम्भव है; चेत्—यद्यपि; तत्-तत्—उन-उन दुखों की; प्रतिक्रिया—विरोधी क्रिया।

सारे जीव भाग्य, अन्य जीवों अथवा मन तथा शरीर सम्बन्धी दुखों से छुटकारा पाने का प्रयास करते हैं। तो भी इन नियमों का प्रतिकार करने के प्रयासों के बावजूद वे प्रकृति के

नियमों द्वारा बद्ध रहते हैं।

तात्पर्य : जिस प्रकार कोई कुत्ता एक टुकड़ा रोटी या दण्ड पाने के लिए इधर–उधर भटकता है, उसी प्रकार जीव भी भौतिक दुख से छुटकारा पाने के लिए लगातार अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाकर सुखी रहना चाहता है। यही जीवन–संघर्ष है। इसे हम अपने दैनिक जीवन में घटित होते देख सकते हैं कि किस प्रकार कष्टमय परिस्थितियों को दूर करने के लिए हमें योजनाएँ बनाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। एक प्रकार की कष्टमय परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए हमें एक अन्य प्रकार की कष्टमय परिस्थिति में पड़ना होता है। निर्धन व्यक्ति धनाभाव के कारण कष्ट पाता है, किन्तु यदि वह धनी बनना चाहता है, तो उसे अनेक प्रकार से संघर्ष करना होता है। वास्तव में यह कोई प्रतिक्रिया न होकर माया का जाल होता है। यदि वह व्यक्ति अपनी स्थिति से छुटकारा पाने के लिए प्रयास न करके अपनी वर्तमान स्थिति को अपने पूर्व कर्मों के कारण प्राप्त हुई मान कर सन्तुष्ट रहता है, तो वह अपनी शक्ति को कृष्णभक्ति विकसित करने में लगा सकता है। इसकी संस्तुति समस्त वैदिक साहित्य में हुई है (भागवत १.५.१८)—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥

"जो लोग वास्तव में बुद्धिमान और चिन्तन की ओर उन्मुख हैं, उन्हें यही प्रयत्न करना चाहिए कि उनका अन्त सार्थक हो जो उच्चतमलोक (ब्रह्मलोक) से निम्नतम लोक (पाताल) तक विचरण करते रहने पर भी प्राप्य नहीं है। जहाँ तक इन्द्रिय–सुख का प्रश्न है, वह कालक्रम में स्वतः प्राप्त किया जा सकता है, जिस प्रकार न चाहते हुए भी हमें स्वतः कष्ट प्राप्त होते हैं।" मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभक्ति विकसित करते रहने का प्रयत्न करे; अपनी भौतिक स्थिति को सुधारने के प्रयास में व्यर्थ समय न गँवाए। वास्तव में भौतिक स्थिति को सुधार पाना कठिन है। सुधारने का अर्थ है अन्य दुखपूर्ण स्थिति को अंगीकार करना। किन्तु यदि हम अपनी कृष्णभक्ति में सुधार लाने का प्रयास करते हैं, तो बिना किसी बाह्य प्रयास के ही भौतिक जीवन के क्लेश भाग जाते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण वचन

देते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—"हे कुन्तीपुत्र! तुम निर्भय होकर घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी नहीं मरता" (*भगवद्गीता* ९.३१)। जो भक्तिपथ का अनुसरण करता है, वह तन तथा मन के कष्टों के होते हुए तथा अन्य जीवों एवं भाग्य द्वारा आ मिलने वाले तथा अपने वश से परे के कष्टों के होते हुए भी विनष्ट नहीं होता।

यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन् ।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निश्चय ही; पुरुषः—मनुष्य; भारम्—भार; शिरसा—सिर पर; गुरुम्—भारी; उद्वहन्—ढोते हुए; तम्—वह; स्कन्धेन—कन्धे पर; सः—वह; आधत्ते—रखता है; तथा—उसी तरह; सर्वाः—सभी; प्रतिक्रियाः—विरोधी क्रियाएँ।.

मनुष्य बोझ को सिर पर लेकर ढो सकता है और जब यह उसे भारी लगने लगे तो कभी-कभी वह बोझ को कन्धे पर रख कर अपने सिर को विश्राम देता है। इस तरह वह बोझ से छुटकारा पाने के लिए प्रयास करता है। फिर भी, वह इस बोझ से मुक्त होने के लिए चाहे जो भी विधि निकाले, वह उस बोझ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखने से अधिक और कुछ नहीं कर सकता।

तात्पर्य : बोझ को एक स्थान से दूसरे में स्थानान्तरित करने का यह सुन्दर वर्णन है। जब मनुष्य सिर पर रखे बोझ से थकता है, तो वह उसे सिर से हटाकर कंधे पर रख लेता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह बोझ ढोने से बच गया। इसी प्रकार मानव-समाज सभ्यता के नाम पर एक प्रकार के कष्ट को हटाने के लिए दूसरे प्रकार का कष्ट उत्पन्न करता है। समकालिक सभ्यता में हम देखते हैं कि हमें एक स्थान से दूसरे स्थान तक त्वरित गति से ले जाने के लिए अनेक वाहन बनाए जाते हैं, किन्तु उसी के साथ हमने अन्य समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। हमें अनेक सड़कों का निर्माण करना पड़ता है, किन्तु फिर भी ये सड़कें वाहनों की भीड़ का सामना करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। साथ ही वायु प्रदूषण तथा ईंधन की कमी जैसी समस्याएँ उठती हैं। निष्कर्ष यह है कि हम अपने कष्टों का निवारण करने के लिए चाहे जो विधयाँ निकाल लें, उनसे हमारे कष्टों का अन्त नहीं हो पाता। यह मात्र मोह है। हम बोझ को केवल सिर से हटाकर कन्धे पर रखते हैं। अपनी समस्याओं को न्यूनतम करने का सही उपाय है भगवान् की शरण ग्रहण करके उनके संरक्षण में अपने को छोड़ देना। भगवान् दयालु

होने के कारण हमारे कष्टमय जीवन को सुखी बनाने के लिए व्यवस्था करेंगे।

नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम् ।
द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एकान्ततः—अन्ततः; प्रतीकारः—निवारण; कर्मणाम्—विभिन्न कर्मों का; कर्म—अन्य कर्म; केवलम्—एकमात्र; द्वयम्—दोनों; हि—क्योंकि; अविद्या—मोह के कारण; उपसृतम्—स्वीकृत; स्वप्ने—स्वप्न में; स्वप्नः—सपना; इव—सदृश; अनघ—हे पापकर्मों से मुक्त, शुद्ध हृदय।

नारद ने आगे कहा : हे शुद्धहृदय पुरुष, कोई भी व्यक्ति कर्मों के फल का निराकरण कृष्णभक्ति से रहित अन्य कर्म करके नहीं कर सकता। ऐसे सारे कर्म हमारे अज्ञान के कारण हैं। जब हम कोई कष्टप्रद स्वप्न देखते हैं, तो हम किसी कष्टप्रद व्यामोह के द्वारा छुटकारा नहीं पा सकते। स्वप्न का निवारण तो जग कर ही किया जा सकता है। इसी प्रकार हमारा भौतिक अस्तित्व हमारे अज्ञान तथा मोह के कारण है। जब तक हममें कृष्णभक्ति नहीं जग जाती, ऐसे स्वप्नों से छुटकारा नहीं मिल सकता। समस्त समस्याओं को हल कर लेने के लिए हमें कृष्णचेतना को जागृत करना होगा।

तात्पर्य : सकाम कर्म दो प्रकार के हैं। बोझ को चाहे हम सिर पर रखें या कन्धे पर, वास्तव में बोझ तो किसी भी स्थान पर एक-जैसा है। किन्तु बोझ के स्थान का परिवर्तन निवारण के नाम पर होता है। इस सम्बन्ध में प्रह्लाद महाराज ने कहा है कि इस संसार में मूढ़ लोग शारीरिक सुख के लिए, यह जाने बिना, इतना विस्तृत आयोजन करते हैं कि यदि ये योजनाएँ सफल हो भी जाँय तो वे आखिरकार माया ही तो होते हैं। लोग मायावी शरीर-सुख के लिए दिन-रात कार्य करते हैं, किन्तु सुख प्राप्त करने का यह ढंग नहीं है। मनुष्य को भौतिक बन्धन से निकलकर भगवान् के धाम को वापस जाना होता है। यही वास्तविक सुख है। इसलिए वेदों का आदेश है—"इस भौतिक जगत के अधंकार में मत रहो। आध्यात्मिक जगत के प्रकाश में जाओ।" इस भौतिक शरीर के दुख के निराकरण हेतु एक दूसरी कष्टमय स्थिति स्वीकार करनी होती है। ये दोनों ही स्थितियाँ केवल मोह हैं। एक कष्ट के निवारण हेतु दूसरे कष्ट को सहने में कोई लाभ नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जब तक मनुष्य इस संसार में विद्यमान रहता है, वह शाश्वत रूप से सुखी नहीं रह सकता। इसका एकमात्र निवारण है इस भौतिक जगत से सदा के लिए मुक्त होकर भगवान् के धाम को वापस जाना।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अर्थे—वास्तविक कारण; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—न रहने पर; अपि—यद्यपि; संसृतिः—संसार; न—नहीं; निवर्तते—छुटकारा पाता है; मनसा—मन से; लिङ्ग-रूपेण—सूक्ष्म शरीर से; स्वप्ने—स्वप्न में; विचरतः—कार्य करते हुए; यथा—जिस प्रकार।

कभी-कभी हमें इसलिए कष्ट होता है, क्योंकि हमें स्वप्न में शेर या सर्प दिख जाता है, किन्तु वास्तव में वहाँ न तो शेर होता है, न सर्प। इस प्रकार हम अपनी सूक्ष्म अवस्था में कोई परिस्थिति उत्पन्न कर लेते हैं और उसके परिणामों को भोगते हैं। इन कष्टों का निवारण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम अपने स्वप्न से जग नहीं जाते।

तात्पर्य : जैसाकि वेदों का कथन है, जीव सदैव सूक्ष्म तथा स्थूल इन दोनों प्रकार के शरीरों से पृथक् रहता है। हमारे सारे कष्ट भौतिक इन शरीरों के कारण हैं। *भगवद्गीता* (२.१४) में इसकी व्याख्या की गई है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

"हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का अस्थायी प्राकट्य और फिर उनका अदृश्य होना शीत तथा ग्रीष्म ॠतुओं के प्राकट्य तथा उनके प्रस्थान के समान है। हे भारत! वे इन्द्रियों एवं विषयों के संयोग से उत्पन्न हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उन्हें सहना सीखे।" इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि सारे शारीरिक कष्ट आते जाते रहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इन्हें सहना सीखे। हमारे सारे कष्टों का कारण यह संसार है, क्योंकि एक बार भौतिक स्थिति से छूट जाने पर हमें फिर से कष्ट नहीं उठाने पड़ते। इसीलिए वेदों की शिक्षा है कि मनुष्य यह वास्तव में समझे कि वह पदार्थ नहीं, अपितु ब्रह्म है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। यह समझ तब तक नहीं आ पाती जब तक कोई *ब्रह्मकर्म* अर्थात् भक्ति में प्रवृत्त नहीं हो जाता। भौतिक स्थिति से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत अपनाना आवश्यक है और वही एकमात्र उपचार है।

अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा ।

संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ॥ ३६॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः ।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; आत्मनः—जीव का; अर्थ-भूतस्य—वास्तविक रुचि वाले का; यतः—जिससे; अनर्थ—अवांछित वस्तुओं का; परम्-परा—शृंखला; संसृतिः—संसार; तत्—उसका; व्यवच्छेदः—विच्छेद, रुकना; भक्त्या—भक्ति से; परमया—शुद्ध; गुरौ—परमेश्वर या उसके प्रतिनिधि को; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; भक्ति-योगः—भक्ति; समाहितः—एकाग्रचित्त; सध्रीचीनेन—पूर्ण रूप से; वैराग्यम्—विरक्ति; ज्ञानम्—पूर्णज्ञान; च—तथा; जनयिष्यति—प्रकट करता है।अतः; आत्मनः—जीव का; अर्थ-भूतस्य—वास्तविक रुचि वाले का; यतः—जिससे; अनर्थ—अवांछित वस्तुओं का; परम्-परा—शृंखला; संसृतिः—संसार; तत्—उसका; व्यवच्छेदः—विच्छेद, रुकना; भक्त्या—भक्ति से; परमया—शुद्ध; गुरौ—परमेश्वर या उसके प्रतिनिधि को; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; भक्तियोगः—भक्ति; समाहितः—एकाग्रचित्त; सध्रीचीनेन—पूर्ण रूप से; वैराग्यम्—विरक्ति; ज्ञानम्—पूर्णज्ञान; च—तथा; जनयिष्यति—प्रकट करता है।

जीव का वास्तविक हित इसमें है कि वह अविद्या से निकले जिसके कारण उसे बारम्बार जन्म तथा मृत्यु सहनी पड़ती है। इसका एकमात्र निवारण है भगवान् के प्रतिनिधि के माध्यम से उनकी ही शरण ग्रहण करना। जब तक मनुष्य भगवान् वासुदेव की भक्ति नहीं करता, तब तक वह न तो इस भौतिक जगत से पूर्णतः विरक्त हो सकता है और न अपने असली ज्ञान को ही प्रकट कर सकता है।

तात्पर्य : कृत्रिम भौतिक परिस्थिति से विरक्त होने का यही उपाय है। इसका एकमात्र निवारण है कृष्णभावनामृत को अपनाना और भगवान् वासुदेव की भक्ति में निरन्तर लगे रहना। प्रत्येक व्यक्ति सुखी रहने का प्रयास करता है और इस सुख को प्राप्त करने के लिए जो विधि अपनाई जाती है, वह स्वार्थ कहलाती है। दुर्भाग्यवश इस संसार के भीतर भटकता बद्धजीव यह नहीं जानता कि उसके स्वार्थ का चरम लक्ष्य वासुदेव है। संसृति का प्रारम्भ मोहग्रस्त देहात्मबुद्धि से होता है और इसके फलस्वरूप अनेक अवांछित वस्तुओं की शृंखला (अनर्थ) प्रारम्भ हो जाती है। ये अवांछित वस्तुएँ इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुतः मानसिक आकांक्षाएँ हैं। इस प्रकार मनुष्य इस संसार में विभिन्न प्रकार के शरीरों को धारण करता है। मनुष्य को पहले मन को वश में करना होता है, जिससे मन की आकांक्षाओं की शुद्धि हो सके। यह विधि *नारद-पञ्चरात्र* में *सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्* के रूप में वर्णित है। जब तक मन शुद्ध नहीं हो जाता, इस भौतिक स्थिति से छुटकारा पाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.७.६) में कहा गया है—

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥

''जीव के भौतिक क्लेश, जो उसके लिए व्यर्थ हैं, भक्ति की विधि अपना लेने से दूर किये जा सकते हैं। किन्तु सर्वसाधारण इसे नहीं जानता, अतः विद्वान् व्यासदेव ने इस वैदिक साहित्य का संकलन किया जो परम सत्य से सम्बन्धित है।'' *अनर्थ* अर्थात् अवांछित वस्तुएँ एक जीवन से दूसरे तक चलती रहती हैं। इस बन्धन से निकलने के लिए मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव, कृष्ण की भक्ति करनी होती है। इस प्रसंग में *गुरु* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ ''भारी'' या ''श्रेष्ठ'' के रूप में किया जा सकता है। श्रील ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया था—*गुरुर्न स स्यात्...न मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम्*—''जब तक अपने शिष्य को जन्म-मृत्यु के आवागमन से बाहर न निकाल सके, मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु का पद स्वीकार न करे (भागवत ५.५.१८)। यह संसार वास्तव में विभिन्न प्रकार के कर्मों की क्रिया-प्रतिक्रिया (घात-प्रतिघात) की शृंखला है। यही जन्म तथा मृत्यु का कारण है। इस क्रिया को वासुदेव की सेवा में लग कर ही रोका जा सकता है।

भक्ति उन कार्यों को सूचित करती है, जो भगवान् वासुदेव की सेवा में सम्पन्न किये जाते हैं। चूँकि भगवान् वासुदेव सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः मनुष्य को देवताओं की सेवा न करके उन्हीं की सेवा में लगना चाहिए। भक्ति का शुभारम्भ नवदीक्षित अवस्था से लेकर भगवान् की प्रेमाभक्ति तक विस्तारित है। सभी अवस्थाओं का अभिप्राय भगवान् वासुदेव को प्रसन्न करना है। जब मनुष्य वासुदेव की भक्ति में अत्यधिक अग्रसर हो जाता है, तो वह शरीर की सेवा से पूर्ण रूप से विरक्त हो जाता है और इस प्रकार विरक्त होकर वह ज्ञान में पारंगत हो जाता है और भगवान् वासुदेव की सेवा में संलग्न होता है। श्री चैतन्य महाप्रभु का कहना है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—''प्रत्येक जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति के फलस्वरूप कृष्ण का चिर दास है।'' ज्योंही वह भगवान् वासुदेव की भक्ति प्रारम्भ करता है उसे उसकी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह स्थिति मुक्त अवस्था कहलाती है। *मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—मुक्त अवस्था में मनुष्य अपनी मूल कृष्णभक्ति स्थिति में रहता है। वह ''मैं'' तथा ''मेरा'' के मोह के अन्तर्गत सम्पन्न की जाने वाली अनेक प्रकार की सेवाओं—सामाजिक सेवा, राष्ट्रीय सेवा, जाति सेवा, कुत्ते की सेवा, वाहन—सेवा आदि—को तिलांजलि दे देता है।

जैसाकि *भागवत* (१.२.७) में व्याख्या की गई है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

"श्रीकृष्ण की भक्ति करके मनुष्य तुरन्त अहैतुक ज्ञान तथा इस संसार से विरक्ति प्राप्त कर लेता है।" इस प्रकार मनुष्य को किसी भौतिक इच्छा, मानसिक चिन्तन या कर्म के बिना वासुदेव की सेवा में लग जाना चाहिए।

सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रय: ।
शृण्वत: श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयत: ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; अचिरात्—शीघ्र; एव—ही; राज-ऋषे—हे राजाओं में श्रेष्ठ; स्यात्—हो जाता है; अच्युत—भगवान् की; कथा—आख्यानों पर; आश्रय:—आश्रित; शृण्वत:—सुनने वाले; श्रद्दधानस्य—श्रद्धावान; नित्यदा—सदैव; स्यात्—हो जाता है; अधीयत:—अनुशीलन द्वारा।

हे राजर्षि, जो श्रद्धावान् है, जो भगवान् की महिमा का निरन्तर श्रवण करता रहता है, जो सदैव कृष्णचेतना के अनुशीलन तथा भगवान् के कार्यकलापों को सुनने में लगा रहता है, वह शीघ्र ही भगवान् का साक्षात्कार करने के योग्य हो जाता है।

तात्पर्य : वासुदेव की दिव्य प्रेमा-भक्ति में निरन्तर लगे रहने का अर्थ है भगवान् के गुणों को निरन्तर सुनते रहना। भक्तियोग के सिद्धान्त हैं—*श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पाद्सेवनम् /अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनं*—ये एकमात्र साधन हैं जिनसे सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। भगवान् के गुणों के श्रवण मात्र से मनुष्य दिव्य पद को प्राप्त करता है।

यत्र भागवता राजन्साधवो विशदाशया: ।
भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतस: ॥ ३९ ॥
तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरित: परित: स्त्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहा: ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; भागवता:—परमभक्तगण; राजन्—हे राजा; साधव:—साधु पुरुष; विशद-आशया:—विशाल हृदय वाले; भगवत्—भगवान् के; गुण—गुण; अनुकथन—नियमित रूप से पाठ करना; श्रवण—सुनना; व्यग्र—उत्सुक; चेतस:—

जिसकी चेतना; तस्मिन्—वहाँ; महत्—महापुरुषों का; मुखरिताः—मुखों से निकला; मधु-भित्—मधु नामक असुर के मारने वाले का; चरित्र—कार्यकलाप या चरित्र; पीयूष—अमृत का; शेष—अधिक; सरितः—नदियाँ; परितः—चारों ओर; स्रवन्ति—बहती हैं; ताः—वे सब; ये—जो; पिबन्ति—पीते हैं; अवितृषः—सन्तुष्ट हुए बिना; नृप—हे राजा; गाढ—सावधान; कर्णैः—कानों से; तान्—उनको; न—कभी नहीं; स्पृशन्ति—स्पर्श करते हैं; अशन—भूख; तृट्—प्यास; भय—डर; शोक—दुख; मोहाः—मोह।

हे राजन्, जिस स्थान में शुद्ध भक्त विधि-विधानों का पालन करते हुए तथा इस प्रकार से नितान्त सचेष्ट रहते हुए एवं उत्सुकतापूर्वक भगवान् के गुणों का श्रवण एवं कीर्तन करते रहते हैं उस स्थान में यदि किसी को अमृत के निरन्तर प्रवाह को सुनने का अवसर प्राप्त हो तो वह जीवन की आवश्यकताएँ—भूख तथा प्यास—भूल जायेगा और समस्त प्रकार के भय, शोक तथा मोह के प्रति निश्चेष्ट हो जायेगा।

तात्पर्य : कृष्णचेतना का अनुशीलन वहीं सम्भव है जहाँ महान् भक्त एकसाथ रहते हैं और भगवान् के गुणों का श्रवण तथा कीर्तन करते रहते हैं। वृन्दावन जैसे पवित्र स्थानों में अनेक भक्त भगवान् के गुणों का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन करते रहते हैं। यदि ऐसे स्थान में भक्तों के मुख से निरन्तर अमृत की धारा बहते हुए अनुभव करने का अवसर मिल पाये तो कृष्णचेतना का अनुशीलन अत्यन्त सरल हो जाता है। जब मनुष्य भगवान् के गुणों का निरन्तर श्रवण करता है, तो वह देहात्मबुद्धि से ऊपर उठ जाता है। देहात्मबुद्धि होने पर उसे भूख, प्यास, भय, शोक तथा मोह सताते हैं। किन्तु यदि वह भगवान् के गुणों का श्रवण तथा कीर्तन करता रहता है, तो वह देहात्मबुद्धि से आगे निकल जाता है।

भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः पद का अर्थ है "ऐसा स्थान खोजने के लिए सदैव उत्सुक रहना जहाँ भगवान् के गुणों का श्रवण तथा कीर्तन होता हो।" इस श्लोक में यह पद महत्त्व पूर्ण है। एक व्यापारी ऐसे स्थान में जाने के लिए उत्सुक रहता है जहाँ व्यापार होता हो। इसी प्रकार एक भक्त मुक्त भक्तों के मुखारविन्द से सुनने के लिए व्यग्र रहता है और ज्योंही उसे मुक्त भक्तों से भगवान् की महिमा सुनने को मिलती है, वह तुरन्त कृष्णचेतना से पूरित हो उठता है। इसकी पुष्टि *भागवत* (३.२५.२५) में अन्यत्र भी हुई है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि

श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

''शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् की लीलाओं तथा कार्यकलापों की विवेचना कानों तथा हृदय को अत्यन्त सुखद तथा सन्तुष्ट करनेवाली हैं। ऐसे ज्ञान के अनुशीलन से मनुष्य क्रमशः मुक्तिपथ पर अग्रसर होता है। फिर वह मुक्त हो जाता है और उसकी आसक्ति स्थिर हो जाती है, तत्पश्चात् वास्तविक भक्ति प्रारम्भ होती है।'' (भागवत ३.२५.२५) शुद्ध भक्त की संगति से मनुष्य भगवान् के गुणों को सुनने और कीर्तन करने में अनुरक्त होता है। इस प्रकार वह कृष्णचेतना का अनुशीलन कर सकता है और अनुशीलन की प्रगति के साथ ही भगवान् के प्रति उसकी श्रद्धा तथा भक्ति बढ़ती जाती है और वह शीघ्र ही पूर्ण कृष्णचेतना प्राप्त कर लेता है। कृष्णचेतना अनुशीलन की सफलता का रहस्य है उपयुक्त व्यक्ति से श्रवण करना। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी शारीरिक आवश्यकताओं—भोजन, नींद, मैथुन, सुरक्षा—से विचलित नहीं होता।

एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः ।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एतैः—इनसे; उपद्रुतः—विचलित; नित्यम्—सदैव; जीव-लोकः—भौतिक संसार में बद्धजीव; स्व-भाव-जैः—प्राकृतिक; न करोति—नहीं करता; हरेः—भगवान् का; नूनम्—निश्चय ही; कथा—शब्दों के; अमृत—अमृत के; निधौ—समुद्र में; रतिम्—आसक्ति।

चूँकि बद्धजीव सदैव भूख तथा प्यास जैसी शारीरिक आवश्यकताओं से विचलित होता रहता है, अतः उसे भगवान् की अमृतवाणी सुनने का अनुराग उत्पन्न करने के लिए बहुत कम समय मिल पाता है।

तात्पर्य : भक्तों की संगति के बिना कृष्णचेतना का अनुशीलन सम्भव नहीं है। नवदीक्षित के लिए एकान्त स्थान में कृष्णचेतना का अनुशीलन—*निर्जन-भजन*—सम्भव नहीं है, क्योंकि उसे शारीरिक आवश्यकताएँ (भोजन, नींद, मैथुन, सुरक्षा) सताती रहेंगी। इस प्रकार से विचलित रहने से कृष्णचेतना का अनुशीलन सम्भव नहीं है। अतः हम देखते हैं कि, ''सहजिया'' भक्त, जो प्रत्येक वस्तु को सहज मानते हैं, वे सिद्ध भक्तों की संगति नहीं करते। ऐसे व्यक्ति भक्ति के नाम पर नाना प्रकार के पापकर्म—यथा अवैध स्त्री-प्रसंग, मद्यपान, द्यूत-क्रीड़ा तथा मांसाहार—करते हैं। ऐसे अनेक तथाकथित भक्त हैं, जो इस प्रकार के पापकर्मों में लगे रह कर अपने को भक्त कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति पापकर्म

करता है उसे कृष्णभक्त नहीं माना जा सकता। पापकर्मों में रत व्यक्ति कृष्णचेतना विकसित नहीं कर सकता, जैसाकि इस श्लोक में इंगित किया गया है।

प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान्गिरिशो मनुः ।
दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः ॥ ४२॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः ॥ ४३॥
अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः ।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

प्रजापति-पतिः—समस्त प्रजापतियों के पिता, ब्रह्माजी; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; गिरिशः—शिवजी; मनुः—मनु; दक्ष-आदयः—राजा दक्ष इत्यादि; प्रजा-अध्यक्षाः—मनुष्यों के शासक; नैष्ठिकाः—प्रबल ब्रह्मचारी; सनक-आदयः—सनक इत्यादि; मरीचिः—मरीचि; अत्रि-अङ्गिरसौ—अत्रि तथा अंगिरा; पुलस्त्यः—पुलस्त्य; पुलहः—पुलह; क्रतुः—क्रतु; भृगुः—भृगु; वसिष्ठः—वसिष्ठ; इति—इस प्रकार; एते—ये सब; मत्-अन्ताः—मुझसे अन्त होने वाले; ब्रह्म-वादिनः—ब्राह्मण, वैदिक साहित्य के वक्ता; अद्य अपि—आज तक; वाचः-पतयः—वाणी के स्वामी; तपः—तपस्या; विद्या—ज्ञान; समाधिभिः—तथा ध्यान से; पश्यन्तः—देखते हुए; अपि—यद्यपि; न पश्यन्ति—नहीं देखते; पश्यन्तम्—देखने वाला; परम-ईश्वरम्—भगवान् को।

समस्त प्रजापतियों के पिता परम शक्तिशाली ब्रह्माजी; शिव; मनु, दक्ष तथा मानवजाति के अन्य शासक; प्रथम कोटि के ब्रह्मचारी सनक, सनातन इत्यादि चारों परम साधु; मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु तथा वसिष्ठ जैसे महर्षि; तथा स्वयं मैं (नारद)—ये सभी महान् ब्राह्मण हैं, जो वैदिक साहित्य पर अधिकारपूर्वक बोल सकते हैं। हम सब तप, ध्यान तथा ज्ञान के कारण अत्यन्त शक्तिशाली हैं। तो भी भगवान् को साक्षात् देखते हुए और अन्वेषण करने पर भी हम उनके विषय में पूर्णतः नहीं जानते।

तात्पर्य : नृतत्त्वशास्त्रियों के फूहड़ डार्विन सिद्धान्त के अनुसार बुद्धिमान प्राणी चालीस हजार वर्ष पूर्व इस लोक पर प्रकट नहीं हुए थे, क्योंकि उस काल तक विकास की क्रिया वहाँ तक नहीं पहुँच पाई थी। किन्तु पुराण तथा महाभारत जैसे वैदिक इतिहास ग्रन्थ बताते हैं कि लाखों वर्ष पूर्व से मानव इतिहास प्रारम्भ होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा नामक अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति था, जिससे समस्त मनु, सनक तथा सनातन जैसे ब्रह्मचारी, शिव तथा नारद इत्यादि ऋषि उत्पन्न हुए। इन सभी महापुरुषों ने महान् तपस्याएँ कीं और वे वैदिक साहित्य के अधिकारी बने। वेदों में मनुष्यों तथा समस्त जीवों का पूर्ण ज्ञान निहित है। उपर्युक्त सारे महापुरुष न केवल शक्तिमान हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान के द्रष्टा

हैं—वरन् उसी के साथ भक्त भी हैं। फिर भी इतने ज्ञानी होने और भगवान् विष्णु का साक्षात्कार करने पर भी वे भगवान् विष्णु एवं जीव के पारस्परिक सम्बन्ध को पूर्ण रूप से नहीं समझ पाते। इसका अभिप्राय यह है कि इन महापुरुषों का भी अनन्त-विषयक ज्ञान अत्यन्त सीमित है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल ज्ञान में आगे बढ़ जाने से किसी को भगवान् विषयक ज्ञान में दक्ष नहीं माना जा सकता। भगवान् को उच्च ज्ञान से नहीं, अपितु शुद्ध भक्ति से समझा जा सकता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः*—जब तक मनुष्य शुद्ध दिव्य भक्ति नहीं करता तब तक वास्तविक रूप में वह भगवान् को नहीं समझ सकता है। हर व्यक्ति को भगवान् के विषय में कुछ-न-कुछ ज्ञान होता है। तथाकथित वैज्ञानिक तथा चिन्तक (ज्ञानी) अपने ज्ञान के बल पर परमेश्वर को समझने में असमर्थ हैं। जब तक मनुष्य भक्ति के स्तर तक नहीं उतरता तब तक ज्ञान पूर्ण नहीं होता। इसकी पुष्टि *भागवत* से (१०.१४.२९) होती है—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।

जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽप चिरं विचिन्वन्॥

ज्ञानी लोग हजारों वर्षों तक परमेश्वर के विषय में चिन्तन करते रहते हैं, किन्तु जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती तब तक उनकी महिमा समझ में नहीं आती। इस श्लोक में जिन ऋषियों का उल्लेख है वे सब उस ब्रह्मलोक के निकटवर्ती लोकों में रहते हैं, जहाँ सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार इन चार ऋषियों सहित ब्रह्मा निवास करते हैं। ये ऋषि विभिन्न नक्षत्रों में रहते हैं, जिन्हें दक्षिणी नक्षत्र कहा जाता है और जो ध्रुवतारा के चारों ओर हैं। ध्रुवतारा अथवा ध्रुवलोक इस ब्रह्माण्ड की खूँटी (केन्द्र) है और सारे नक्षत्र इसके चारों ओर घूमते हैं। जहां तक हम देख सकते हैं सभी नक्षत्र इस ब्रह्माण्ड के लोक हैं। पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार समस्त नक्षत्रगण विभिन्न सूर्य हैं, किन्तु वैदिक जानकारी के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में केवल एक ही सूर्य है। समस्त तथाकथित नक्षत्र विभिन्न लोक हैं। इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त लाखों अन्य ब्रह्माण्ड हैं और इनमें से प्रत्येक में वैसे ही असंख्य नक्षत्र तथा लोक हैं।

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे ।

मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्मणि—वैदिक साहित्य में; दुष्पारे—अनन्त; चरन्तः—लगे हुए; उरु—अत्यधिक; विस्तरे—व्यापक; मन्त्र—वैदिक मंत्रों का; लिङ्गैः—लक्षणों से; व्यवच्छिन्नम्—आंशिक शक्तिशाली (देवता); भजन्तः—पूजा करते हुए; न विदुः—नहीं जानते; परम्—परमेश्वर।

अनन्त वैदिक ज्ञान के अनुशीलन तथा वैदिक मंत्रों के लक्षणों से विभिन्न देवताओं की पूजा के बावजूद देव-पूजा से परम शक्तिशाली भगवान् को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

"जिनके मन भौतिक इच्छाओं के द्वारा विकृत हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं और अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार वे पूजा के विशिष्ट विधि-विधानों का पालन करते हैं।" अधिकांश लोग शक्ति प्राप्त करने के लिए देवताओं की पूजा करना चाहते हैं। प्रत्येक देवता की विशिष्ट शक्ति होती है। उदाहरणार्थ, स्वर्ग के राजा इन्द्र में पृथ्वी के ऊपर वर्षा करने की शक्ति है, जिससे पृथ्वी पर प्रचुर वनस्पति उत्पन्न हो सके। इस देवता का वर्णन वेदों में इस प्रकार हुआ है—*वज्रहस्तः पुरन्दरः।* इन्द्र हाथ में व्रज धारण किये हुए जल-पूर्ति पर शासन करता है। यह वज्र इन्द्र द्वारा नियंत्रित है। इसी प्रकार अन्य देवता अग्नि, वरुण, चन्द्र, सूर्य—विशिष्ट शक्तियों से युक्त हैं। वैदिक मंत्रों में इन समस्त देवताओं को प्रतीकात्मक आयुध द्वारा पूजा जाता है। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है—*मन्त्रलिंगैर्व्यवच्छिन्नम्।* ऐसी पूजा से कर्मियों को पशु, धन, सुन्दर पत्नी, अनेक दास इत्यादि के रूप में ऐश्वर्य का वरदान प्राप्त होता है। किन्तु ऐसे ऐश्वर्य से वह भगवान् को नहीं जान पाता।

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; यस्य—जिसका; अनुगृह्णाति—अहैतुकी कृपा करता है; भगवान्—भगवान्; आत्म-भावितः—भक्त द्वारा अनुभूत; सः—ऐसा भक्त; जहाति—त्यागता है; मतिम्—चेतना; लोके—भौतिक जगत में; वेदे—वैदिक कार्यों में; च—भी; परिनिष्ठिताम्—स्थिर।

जब मनुष्य पूर्णतः भक्ति में लगा रहता है, तो अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करने वाले भगवान् उस पर कृपा करते हैं। ऐसे अवसर पर जाग्रत भक्त सारे भौतिक कार्यों तथा वेदों में वर्णित

अनुष्ठानों को त्याग देता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि ज्ञानी लोग भगवान् को जान पाने में असमर्थ रहते हैं। उसी प्रकार इस श्लोक में इंगित किया गया है कि जो लोग वैदिक अनुष्ठानों तथा सकाम कर्मों का पालन करते हैं, वे भी भगवान् का दर्शन करने में असमर्थ रहते हैं। दोनों श्लोकों में कर्मियों तथा ज्ञानियों को भगवान् को समझने के लिए अयोग्य बताया गया है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने वर्णन किया है, जब मनुष्य ज्ञान तथा कर्म से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है, तो वह भौतिक इच्छाओं से दूषित हुए बिना शुद्ध भक्ति में लग सकता है (*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*)। *आत्मभावित:* शब्द अत्यन्त सार्थक है, जो यह बताता है कि यदि मनुष्य निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता है, तो वे उसके मन में जागते हैं। शुद्ध भक्त निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता रहता है (*स वै मन: कृष्ण पदारविन्दयो:*)। शुद्ध भक्त भगवान् के विचारों में मग्न रहे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। *भगवद्गीता* में भगवान् का यह निरन्तर चिन्तन *सतत युक्तानाम्* के रूप में वर्णित है। *भजतां प्रीतिपूर्वकम्*—यह प्रेमाभक्ति है। चूँकि भगवान् भक्त के अन्त:करण से आदेश देता है, अत: भक्त सभी प्रकार के भौतिक कर्मों से बच जाता है। यहाँ तक कि वैदिक अनुष्ठानों को भी भौतिक कर्म माना जाता है, क्योंकि ऐसे कार्यों से मनुष्य अन्य लोकों में, जो देवताओं के वासस्थान हैं, चला जाता है। *भगवद्गीता* (९.२५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रता:।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

"जो लोग देवाताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेते हैं, जो भूतप्रेतों की पूजा करते हैं, वे उनके बीच जन्म लेते हैं; जो अपने पूर्वजों को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे पास रहते हैं।"

आत्मभावित: शब्द यह भी सूचित करता है कि भक्त सदैव बद्धजीवों को छुटकारा दिलाने के लिए उपदेश देता रहता है। षड्गोस्वामियों के विषय में कहा जाता है—*नानाशास्त्र विचारणैकनिपुणौ सद्धर्मसंस्थापकौ लोकानां हितकारिणौ।* भगवान् का शुद्ध भक्त सदैव सोचता रहता है कि किस प्रकार पतित बद्धजीवों का उद्धार किया जाये। भक्तों द्वारा पतित जीवों का उद्धार करने के प्रयास से प्रभावित

होकर भगवान् अपनी अहैतुकी कृपावश अन्त:करण से ही सभी लोगों को प्रकाश देते हैं। यदि एक भक्त दूसरे से आशीर्वाद प्राप्त करता है, तो वह *कर्म-काण्ड* तथा *ज्ञान-काण्ड* के कर्मों से मुक्त हो जाता है। जैसी कि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि हुई है—*वेदेषु दुर्लभम्*—श्रीभगवान् को कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के द्वारा नहीं जाना जा सकता। *अदुर्लभम् आत्म-भक्तौ*—भगवान् केवल निष्ठावान् भक्त द्वारा जाना जाता है।

इस दृश्य जगत की उत्पत्ति भगवान् द्वारा होती है और सारे जीव यहाँ पर सुख भोगने के लिए आये हैं। विभिन्न यम-नियमों द्वारा वैदिक आदेशों के अनुसार उनका पथ-प्रदर्शन होता है और बुद्धिमान मनुष्य इन आदेशों से लाभ उठाते हैं। इस प्रकार वे अविचल भाव से भौतिक जीवन का भोग करते हैं। यह वास्तव में मोह है और इस मोह से अपने आप निकल पाना कठिन है। सामान्य जन भौतिक कार्यों (*कर्मकाण्ड*) में लगे रहते हैं और जब वे कुछ उन्नति कर लेते हैं, तो वे वेदवर्णित अनुष्ठानों के प्रति आकृष्ट होते हैं। किन्तु इन अनुष्ठानों से निराश होकर वे पुन: कर्मकाण्ड की ओर बढ़ते हैं। इस प्रकार वे कर्मकाण्ड तथा वैदिक अनुष्ठान, इन दोनों का पालन करने वाले बद्धजीवन में फँस जाते हैं। ऐसे लोग गुरु तथा कृष्ण की कृपा से ही भक्ति-बीज प्राप्त कर पाते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में हुई है—*गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलताबीज।*

जब मनुष्य भक्ति में लग जाता है, तो कर्मकाण्ड उसे नहीं खींच पाते। जब मनुष्य अनेक उपाधियों से घिरा रहता है, तो वह भक्ति नहीं कर सकता। उसे ऐसे उपाधि वाले कार्यों से मुक्त (*सर्वोपाधि विनिर्मुक्तम्*) और शुद्ध होना पड़ता है, जिससे वह शुद्ध इन्द्रियों से भगवान् की सेवा कर सके। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—शुद्ध इन्द्रियों से भगवान् की सेवा भक्तियोग कहलाती है। परमात्मा निष्ठावान् भक्त की सदा सहायता करता है, क्योंकि वह प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित है, जिसकी पुष्टि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१०.१०) में इस प्रकार की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।''

भौतिक जगत के कल्मष से मुक्त होने की यही अवस्था है। ऐसे अवसर पर भक्त अन्य भक्त को अपना मित्र बनाता है और तब उसके भौतिक कार्यकलाप पूर्ण रूप से बन्द हो जाते हैं। तब उसे भगवान् की कृपा प्राप्त होती है और भौतिक सभ्यता से उसकी श्रद्धा उठ जाती है, जो वर्णाश्रम धर्म के साथ प्रारम्भ होती है। श्री चैतन्य महाप्रभु स्पष्ट कहते हैं कि मनुष्य को वर्णाश्रम धर्म से मुक्त हो जाना चाहिए। तब वह अपने आपको भगवान् कृष्ण का चिर सेवक समझने लगता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं यह स्थिति प्राप्त की थी—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

(*पद्यावली* ६३)

"मैं न तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हूँ, न ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी हूँ। मैं क्या हूँ? मैं भगवान् कृष्ण के दास के दास का चिर दास हूँ।" शिष्य-परम्परा से मनुष्य इस निष्कर्ष को प्राप्त कर सकता है, जो दिव्य पद की परम सिद्धि है।

तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु ।
मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; **कर्मसु**—कर्म में; **बर्हिष्मन्**—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; **अज्ञानात्**—अज्ञान से; **अर्थ-काशिषु**—भड़कीले कर्मफल में; **मा**—कभी नहीं; **अर्थ-दृष्टिम्**—जीवन लक्ष्य मानकर; **कृथाः**—करते हैं; **श्रोत्र-स्पर्शिषु**—कर्णप्रिय, मधुर; **अस्पृष्ट**—बिना स्पर्श किये; **वस्तुषु**—वास्तविक हित, स्वार्थ।

हे राजा बर्हिष्मान्, तुम्हें अज्ञानवश कभी भी वैदिक अनुष्ठानों या सकाम कर्मों को अपनाना नहीं चाहिए, भले ही वे कर्णप्रिय क्यों न हों, अथवा आत्म सिद्धि के लक्ष्य प्रतीत होते हों। तुम्हें चाहिए कि इन्हें कभी भी जीवन का चरम लक्ष्य न समझो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.४२-४३) में कहा गया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

''अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन आलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, अधिकार इत्यादि देने वाले नाना प्रकार के सकाम कर्मों का विधान है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलाषा के कारण वे कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।''

सामान्य रूप से लोग वैदिक अनुष्ठानों में बताये सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। राजा बर्हिष्मान् की तरह बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करके मनुष्य स्वर्ग लोक जाने की अकांक्षा करता है। श्रीनारद मुनि राजा बर्हिष्मान् को ऐसे सकाम कर्मों से विमुख करना चाह रहे थे। अतः अब वे प्रत्यक्ष उससे कह रहे हैं, ''तुम ऐसे क्षणिक लाभों में रुचि मत दिखलाओ।'' आधुनिक सभ्यता में लोग वैज्ञानिक विधियों से प्रकृति के साधनों का दोहन करना चाहते हैं। असल में इसे ही प्रगति समझा जाने लगा है। किन्तु वास्तव में यह प्रगति नहीं, केवल सुनने में सुखद लगती है। भले ही ऐसी कृत्रिम विधियों से हम प्रगति कर रहे हों, किन्तु हम अपने असली उद्देश्य को भूलते जा रहे हैं। इसीलिए भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—*जड-विद्या यत मायार वैभव तोमार भजने बाधा*—''भौतिकवादी विद्या मात्र माया की चमक-दमक है, क्योंकि इससे आध्यात्मिक प्रगति में बाधा पहुँचती है।''

इस लोक में या अन्य लोकों में अनुभव किये जाने वाले जीवन के क्षणिक सुखों को मोह समझना चाहिए, क्योंकि वे जीवन के वास्तविक प्रयोजन का स्पर्श भी नहीं करते। जीवन का वास्तविक प्रयोजन तो भगवान् के धाम वापस जाना है। जीवन के वास्तविक प्रयोजन से अनजान रहकर लोग या तो स्थूल भौतिक कार्यों या फिर अनुष्ठानों में प्रवृत्त होते हैं। यहाँ पर राजा बर्हिष्मान् से अनुरोध किया गया है कि वह ऐसे कार्यों में लिप्त न हो। वेदों का कथन है कि जीवन का वास्तविक प्रयोजन यज्ञ करना है। भारतीय जन समुदाय का एक अंश, जिसे आर्यसमाजी कहा जाता है, वेदों के इस यज्ञ सम्बन्धी भाग पर अत्यधिक बल देता है। किन्तु यह श्लोक इंगित करता है कि ऐसे यज्ञों को भ्रामक समझना चाहिए। वस्तुतः मानव जीवन का उद्देश्य ईश्वर-साक्षात्कार या कृष्णभक्ति होना चाहिए। निस्सन्देह, वैदिक अनुष्ठान अत्यन्त चमकदार हैं और सुनने में मधुर लगते हैं, किन्तु उनसे जीवन-उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती।

स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः ।
आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

स्वम्—अपना, निजी; लोकम्—घर को; न—कभी नहीं; विदुः—जानते हैं; ते—ऐसे व्यक्ति; वै—निश्चय ही; यत्र—जहाँ; देवः—भगवान्; जनार्दनः—कृष्ण या विष्णु; आहुः—कहते हैं; धूम्र-धियः—अल्पज्ञानी व्यक्ति; वेदम्—चारों वेद; स-कर्मकम्—अनुष्ठानों से पूर्ण; अ-तत्-विदः—ऐसे व्यक्ति जिन्हें ज्ञान नहीं है।

अल्पज्ञानी मनुष्य वैदिक अनुष्ठानों को ही सब कुछ मान बैठते हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि वेदों का प्रयोजन अपने निजी धाम (घर) को जानना है जहाँ भगवान् निवास करते हैं। अपने असली धाम में रुचि न रखकर वे मोहग्रस्त होकर, अन्य धामों की खोज करते रहते हैं।

तात्पर्य : सामान्यतः लोग अपने इस जीवन-स्वार्थ से कि भगवान् के धाम वापस जाना है, अपरिचित होते हैं। वे आध्यात्मिक जगत में अपने असली धाम को नहीं जानते। आध्यात्मिक जगत में अनेक वैकुण्ठलोक हैं और सर्वोच्च लोक तो कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन है। सभ्यता की तथाकथित प्रगति के बावजूद लोगों को वैकुण्ठ लोकों की कोई जानकारी नहीं है। इस समय तथाकथित सभ्य लोग अन्य ग्रहों (लोकों) को जाने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि यदि वे सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक चले भी जाँय तो उन्हें पुनः इस लोक में आना होगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.१६) में इस प्रकार हुई है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"हे अर्जुन इस भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर सबसे निम्न लोक तक के सभी लोक क्लेश के स्थान हैं, जहाँ बारम्बार जन्म-मृत्यु होते रहते हैं। किन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह पुनः जन्म नहीं लेता।"

यदि कोई इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक तक पहुँच भी जाता है, तो पुण्यकर्मों के क्षीण हो जाने पर उसे वापस लौटना पड़ता है। अन्तरिक्ष-यान आकाश में भले ही अत्यधिक ऊँचाई प्राप्त कर लें, किन्तु ज्योंही उनका ईंधन समाप्त हो जाता है उन्हें पृथ्वी लोक पर लौट आना पड़ता है। ये सारे कार्य मोहवश सम्पन्न किये जाते हैं। असली प्रयास अब भगवान् के धाम वापस जाने का होना चाहिए। यह विधि *भगवद्गीता* में वर्णित है। *यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—जो लोग भगवान् की भक्ति करते हैं, वे

भगवान् के धाम को वापस जाते हैं। मनुष्य-जीवन अत्यन्त मूल्यवान है; अतः मनुष्य को चाहिए कि अन्य लोकों की खोज में इस जीवन को व्यर्थ न गँवाए। उसे इतना बुद्धिमान होना चाहिए कि वह भगवान् के धाम वापस जा सके। उसे आध्यात्मिक वैकुण्ठलोकों के विषय में और विशेष रूप से गोलोक वृन्दावन नामक लोक के विषय में जानने के लिए उत्सुक होना चाहिए और भक्ति जैसी सरल विधि से, जो श्रवण करने से प्रारम्भ होती है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*), वहाँ पहुँचने की कला सीखनी चाहिए। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५१) में भी हुई है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥

केवल हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से मनुष्य परम लोक को जा सकता है (*परं व्रजेत्*)। यह इस युग के लोगों पर विशेष रूप से लागू होता है (*कलेर्दोषनिधे*)। इस युग का विशेष लाभ यह है कि केवल हरे कृष्ण महामंत्र का जप करके मनुष्य समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध होकर घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

आस्तीर्य दर्भैः प्रागग्रैः कार्त्स्न्येन क्षितिमण्डलम्
स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैषि यत्परम् ।
तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

आस्तीर्य—आच्छादित करके; दर्भैः—कुशा से; प्राक्-अग्रैः—पूर्व की ओर मुख किये; कार्त्स्न्येन—सम्पूर्ण; क्षिति-मण्डलम्—संसार भर में; स्तब्धः—गर्वीली शुरुआत; बृहत्—अत्यधिक, महान्; वधात्—बध के द्वारा; मानी—अपने को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझने वाला, अभिमानी; कर्म—कर्म; न अवैषि—नहीं जानते हो; यत्—जो; परम्—परम; तत्—उस; कर्म—कर्म; हरि-तोषम्—भगवान् को प्रसन्न करना; यत्—जो; सा—वह; विद्या—शिक्षा; तत्—भगवान् को; मतिः—चेतना; यया—जिससे।

हे राजन्, सारा संसार कुशों के तीखे अग्र भाग से ढका है और इस कारण तुम्हें अभिमान हो गया है क्योंकि तुमने यज्ञों में अनेक प्रकार के पशुओं का वध किया है। अपनी मूर्खतावश तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि भगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र उपाय भक्ति है। तुम इस तथ्य को नहीं समझ सकते। तुम्हें वे ही कार्य करने चाहिए जिनसे भगवान् प्रसन्न हों। हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि हम कृष्णचेतना के स्तर तक ऊपर उठ सकें।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि राजा की प्रत्यक्ष भर्त्सना करते हैं, क्योंकि वह ऐसे यज्ञों के

करने में व्यस्त था जिनमें अनेक पशुओं का वध होता था। राजा सोच रहा था कि अनेक यज्ञों को सम्पन्न कर लेने के कारण वह महान् है, किन्तु नारद मुनि उसकी प्रत्यक्ष भर्त्सना करते हैं कि पशु-वध के कारण ही उसे झूठा गर्व है। वास्तव में कोई भी ऐसा कार्य, जो कृष्णचेतना तक नहीं ले जाता, पापकर्म है और ऐसी शिक्षा, जो कृष्ण को समझने में सहायक नहीं होती, झूठी है। यदि कृष्णचेतना का अभाव हो तो मनुष्य केवल मिथ्या कर्मों तथा झूठी शिक्षा में लगा रहता है।

हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ।
तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह ॥५०॥

शब्दार्थ

हरिः—श्रीहरि; देह-भृताम्—देहधारी जीवों का; आत्मा—परमात्मा; स्वयम्—स्वयं; प्रकृतिः—भौतिक प्रकृति; ईश्वरः—नियामक; तत्—उसका; पाद-मूलम्—पाँव; शरणम्—शरण; यतः—जिससे; क्षेमः—सौभाग्य; नृणाम्—मनुष्यों का; इह—इस संसार में।

भगवान् श्रीहरि इस संसार के समस्त देहधारी जीवों के परमात्मा तथा प्रदर्शक हैं। वे प्रकृति के समस्त भौतिक कार्यों के परम नियामक हैं। वे हमारे श्रेष्ठ सखा भी हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति को उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा करने से जीवन कल्याणमय हो जाएगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—हे अर्जुन! परमेश्वर हर एक के हृदय में स्थित है। जीवात्मा शरीर के भीतर है और परमात्मा भी वहीं है। वह अन्तर्यामी तथा चैत्य गुरु कहलाता है। जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहते हैं, वे हर एक वस्तु का नियंत्रण करते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सब प्राणियों के हृदय में बैठा हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।"

हर प्राणी शरीर के भीतर स्थित परमात्मा द्वारा निर्देशित है, अतः अच्छा यही हो कि उनका आदेश ग्रहण करके सुखी रहा जाये। उनका आदेश प्राप्त करने के लिए भक्त होना आवश्यक है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में भी हुई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो भक्तिपरायण हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।''

यद्यपि परमात्मा प्रत्येक प्राणी के हृदय में है (*ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*) किन्तु वह केवल उन्हीं शुद्ध भक्तों से बात करता है, जो उसकी सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। *चैतन्य भागवत* (अन्त्य ३.४५) में कहा गया है—

ताहारे से बलि विद्या, मन्त्र, अध्ययन।

कृष्ण-पाद-पद्मे ये करये स्थिर मन॥

''जिसने कृष्ण के पादपद्मों में अपना मन स्थिर कर दिया है, समझो कि उसने श्रेष्ठ विद्या प्राप्त कर ली है और सारे वेदों का अध्ययन कर लिया है।'' *चैतन्य भागवत* के अन्य उद्धरण भी अत्यन्त उपयुक्त हैं। यथा—

सेइ से विद्यार फल जानिह निश्चय।

कृष्ण-पाद-पद्मे यदि चित्तवृत्ति रय॥

''शिक्षा का उत्तम फल है कि अपने मन को कृष्ण के चरणकमल में लगाया जाये'' (आदि १३.१७८)।

'दिग्विजय करिब,'—विद्यार कार्य नहे।

ईश्वरे भजिले, सेइ विद्या 'सत्य' कहे॥

''भौतिक शिक्षा (विद्या) द्वारा संसार को जीत लेना वांछनीय नहीं है। यदि मनुष्य अपने को भक्ति में लगाता है, तो उसकी शिक्षा सार्थक है'' (आदि १३.१७३)।

पडे केने लोक—कृष्णभक्ति जानिबारे।

से यदि नहिल, तबे विद्याय कि करे॥

''शिक्षा का उद्देश्य श्रीकृष्ण तथा उनकी भक्ति को समझना है। यदि कोई ऐसा नहीं करता तो उसकी शिक्षा झूठी है'' (आदि १२.४९)।

ताहारे से बलि धर्म, कर्म सदाचार।

ईश्वरे से प्रीति जन्मे सम्मत सबार॥

"सुसंस्कृत, शिक्षित, सक्रिय तथा धार्मिक होने का अर्थ है कृष्ण के लिए स्वाभाविक प्रेम विकसित करना" (अन्त्य ३.४४)। प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण के लिए प्रच्छन्न प्रेम रखता है और उसे संस्कृति तथा शिक्षा द्वारा जाग्रत करना होता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का यही उद्देश्य है। एक बार भगवान् चैतन्य ने श्रीरामानन्द राय से पूछा कि शिक्षा का श्रेष्ठ अंग क्या है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि कृष्णचेतना में प्रगति।

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।
इति वेद स वै विद्वान्यो विद्वान्स गुरुर्हरिः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; प्रिय-तमः—अत्यन्त प्रिय; च—भी; आत्मा—परमात्मा; यतः—जिससे; न—कभी नहीं; भयम्—डर; अणु—सूक्ष्म; अपि—भी; इति—इस प्रकार; वेद—(जो) जानता है; सः—वह; वै—निश्चय ही; विद्वान्—शिक्षित; यः—जो; विद्वान्—शिक्षित; सः—वह; गुरुः—गुरु; हरिः—भगवान् से अभिन्न।

जो भक्ति में लगा हुआ है, वह इस संसार से रंचमात्र भी नहीं डरता। इसका कारण यह है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् परम आत्मा हैं और सबके मित्र हैं। जो इस रहस्य को जानता है, वही वास्तव में शिक्षित है और ऐसा शिक्षित व्यक्ति ही संसार का गुरु हो सकता है। जो वस्तुतः प्रामाणिक गुरु अर्थात् कृष्ण का प्रतिनिधि है, वह कृष्ण से अभिन्न होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*साक्षाद्-धरित्वेन समस्त शास्त्रै-रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।* हर शास्त्र में गुरु को परमेश्वर का प्रतिनिधि कहा गया है। गुरु को भगवान् से अभिन्न समझा जाता है, क्योंकि वह भगवान् का परम विश्वासपात्र दास होता है (*किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य*)। तात्पर्य यह कि परमात्मा तथा आत्मा एक दूसरे को परमप्रिय हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपसे प्यार करता है, किन्तु जब वह आगे बढ़ जाता है, तो वह परमात्मा को भी प्यार करने लगता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी की पूजा करने की संस्तुति नहीं करता। वह जानता है कि काम तथा भौतिक सुख से प्रभावित होकर देवताओं की पूजा करने की अपेक्षा भगवान् की पूजा करना सरल है, अतः भक्त सदैव भगवान् की प्रेमाभक्ति में संलग्न रहता है। ऐसा व्यक्ति वास्तविक गुरु है। *पद्मपुराण* में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।
अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

“भले ही ब्राह्मण शास्त्रों में निपुण हो और ब्राह्मण के षड्कर्मों को जानता हो, किन्तु वह तब तक गुरु नहीं हो सकता जब तक भगवान् का भक्त न हो। किन्तु यदि कोई चाण्डाल के परिवार में उत्पन्न होकर भगवान् का शुद्ध भक्त है, तो वह गुरु बन सकता है।” निष्कर्ष यह निकला कि जब तक कोई भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं होता, वह गुरु नहीं बन सकता। जो भक्ति के उपर्युक्त विवरण के अनुसार गुरु होता है उसको यह समझना चाहिए कि वह साक्षात् भगवान् के रूप में उपस्थित है। यहाँ पर प्रयुक्त शब्दों (*गुरुर्हरिः*) के अनुसार प्रामाणिक गुरु से परामर्श करने का अर्थ है साक्षात् भगवान् से परामर्श करना। अतः मनुष्य को ऐसे प्रामाणिक गुरु की शरण लेनी चाहिए। जीवन की सफलता का अर्थ है ऐसा गुरु बनाना जो कृष्ण को एकमात्र परम प्रिय व्यक्ति मानता है। मनुष्य को भगवान् के ऐसे विश्वस्त भक्त की पूजा करनी चाहिए।

नारद उवाच
प्रश्न एवं हि सञ्छिन्नो भवतः पुरुषर्षभ ।
अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; प्रश्नः—प्रश्न; एवम्—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; सञ्छिन्नः—उत्तरित; भवतः—तुम्हारा; पुरुष-ऋषभ—हे श्रेष्ठ पुरुष; अत्र—यहाँ; मे वदतः—मैं जिस तरह कह रहा हूँ; गुह्यम्—रहस्यपूर्ण, गुप्त; निशामय—सुनो; सु-निश्चितम्—भली-भाँति निश्चित किया।

महर्षि नारद ऋषि ने आगे कहा : हे महापुरुष, तुमने जो कुछ मुझसे पूछा है मैंने उसका समुचित उत्तर दे दिया है। अब एक अन्य आख्यान सुनो जो साधु पुरुषों द्वारा स्वीकृत है और अत्यन्त गुह्य है।

तात्पर्य : श्रीनारद मुनि स्वयं ही राजा बर्हिष्मान् के गुरु का कार्य कर रहे हैं। नारद की यह आन्तरिक इच्छा थी कि राजा उनके उपदेशों से तुरन्त सभी कर्मकाण्ड बन्द कर दे और भक्ति करने लगे। किन्तु सब कुछ समझते हुए भी राजा अपने कार्यों को बन्द करने के लिए तैयार न था। जैसाकि अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जाएगा, राजा अपने पुत्रों को बुलाने वाला था, जो तपस्या करने के लिए घर से दूर गये हुए थे। उनके लौटने पर वह उन्हें राज्य सौंपकर घर छोड़ कर बाहर जाना चाहता था। अनेक लोगों के साथ ऐसा ही होता है। वे प्रामाणिक गुरु बनाकर उसकी बातें सुनते हैं, किन्तु जब गुरु कहता है कि घर छोड़कर भक्ति करो तो वे हिचकिचाते हैं। गुरु का यह कर्तव्य है कि शिष्य को तब

तक उपदेश देता रहे जब तक उसकी समझ में न आ जाये कि यह भौतिकतावादी जीवन–शैली, अर्थात् कर्मकाण्ड तनिक भी लाभप्रद नहीं है। वास्तव में मनुष्य को प्रारम्भ से ही भक्ति करनी चाहिए जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने उपदेश दिया है—*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह* (भागवत ७.६.१)। वेदों के सभी आदेशों के अनुसार हमें समझ लेना चाहिए जब तक हम कृष्णचेतना तथा भक्ति ग्रहण नहीं करते हम इस संसार में भौतिक कर्मों में अपना समय व्यर्थ गँवाते रहते हैं। इसलिए नारद मुनि ने एक अन्य वृत्तान्त सुनाने का निश्चय किया जिससे राजा गृहस्थी को त्याग सके।

क्षुद्रं चरं सुमनसां शरणे मिथित्वा
रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम् ।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तं
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

क्षुद्रम्—घास; चरम्—चरते हुए; सुमनसाम्—सुन्दर फूलों के उद्यान की; शरणे—रक्षा में; मिथित्वा—मैथुन करते हुए; रक्तम्—अनुरक्त; षट्-अङ्घ्रि—षट्पद या भौंरों का; गण—समूह; सामसु—गाने के प्रति; लुब्ध-कर्णम्—जिसके कान आकृष्ट हैं; अग्रे—सामने; वृकान्—भेड़िये; असु-तृपः—दूसरों को खाकर जीने वाले; अविगणय्य—अपेक्षा करके; यान्तम्—जाते हुए; पृष्ठे—पीछे; मृगम्—हिरन को; मृगय—ढूँढो; लुब्धक—शिकारी के; बाण—बाणों से; भिन्नम्—बेधे जाने वाला।

हे राजा, उस हिरन की खोज करो जो एक सुन्दर उद्यान में अपनी हिरनी के साथ घास चरने में मस्त है। वह हिरन अपने कार्य (चरने) में अत्यधिक अनुरक्त है और उस उद्यान के भौंरों के मधुर गुंजार का आनन्द ले रहा है। उसकी स्थिति को समझने का प्रयास करो। उसे इसका पता ही नहीं कि उसके सामने भेड़िया है, जो अन्यों के मांस को खाकर अपना पेट पालन करने का आदी है। हिरन के पीछे शिकारी है, जो उसे तीक्ष्ण बाणों से बेधने के लिए तैयार है। इस प्रकार हिरन की मृत्यु निश्चित है।

तात्पर्य : यहाँ एक रूपक (अन्योक्ति) है, जिसमें राजा से सदा भयानक स्थिति में रह रहे हिरन को ढूँढ निकालने के लिए कहा जाता है। यद्यपि वह चारों ओर से संकट से घिरा है, किन्तु वह सुन्दर उद्यान में घास चरता रहता है और चारों ओर के संकट से बेसुध है। सभी जीव, विशेष रूप से मनुष्य अपने को परिवार के बीच अत्यन्त सुखी मानते हैं, मानो किसी उद्यान में भौंरों की मधुर गुंजार सुनते हुए प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार की शोभा अपनी पत्नी में केन्द्रित माने। भौंरों की गुंजार की तुलना बच्चों की बोली से की जा सकती है। मनुष्य हिरन के ही समान यह जाने बिना कि उसके समक्ष

काल-रूपी भेड़िया खड़ा है, अपने परिवार का भोग करता रहता है। जीव के सकाम कर्म उसके लिए एक अन्य घातक स्थिति उत्पन्न करते रहते हैं और उसे विभिन्न देह धारण करने के लिए बाध्य करते हैं। हिरन के लिए मरुस्थल में मृगतृष्णा के पीछे दौड़ना कोई असामान्य घटना नहीं है। हिरन भी अत्यन्त कामी होता है। निष्कर्ष यह है कि जो हिरन की तरह रहता है, वह कालान्तर में मृत्यु का शिकार होता है। इसीलिए वैदिक साहित्य की सलाह है कि हम अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझें और मृत्यु आने के पहले ही भक्ति करें। *भागवत* के अनुसार (११.९.२९)—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते

मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्

निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

अनेक जन्मों के पश्चात् हमें यह मनुष्य देह मिलती है, अतः मृत्यु आने के पूर्व हमें भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करनी चाहिए। मानव जीवन की यही पूर्णता है।

सुमनःसमधर्मणां स्त्रीणां शरण आश्रमे पुष्पमधुगन्धवत्क्षुद्रतमं काम्यकर्मविपाकजं कामसुखलवं जैह्व्यौपस्थ्यादि विचिन्वन्तं मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं षडङ्घ्रिगणसामगीतवदतिमनोहरवनितादिजनालापेष्वतितरामतिप्रलोभितकर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन ।आयुर्हरतोऽहोरात्रान्तान्काललवविशेषानविगणय्य गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तः शरेण यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन्भिन्नहृदयं द्रष्टुमर्हसीति ॥५४॥

शब्दार्थ

सुमनः—फूल; सम-धर्मणाम्—समानधर्मा, हूबहू; स्त्रीणाम्—स्त्रियों की; शरणे—शरण में; आश्रमे—गृहस्थ जीवन; पुष्प—फूलों में; मधु—शहद की; गन्ध—सुगन्ध; वत्—सदृश; क्षुद्र-तमम्—अत्यन्त क्षुद्र, नगण्य; काम्य—इच्छित; कर्म—कर्मों का; विपाक-जम्—के फलस्वरूप प्राप्त; काम-सुख—इन्द्रियतृप्ति का; लवम्—एक खंड; जैह्व्य—जिह्वा सुख; औपस्थ्य—संभोग सुख; आदि—इत्यादि; विचिन्वन्तम्—सदैव चिन्तन करते हुए; मिथुनी-भूय—संभोगरत; तत्—अपनी पत्नी के साथ; अभिनिवेशित—सदैव मग्न; मनसम्—जिसका मन; षट्-अङ्घ्रि—भौंरों का; गण—समूह; साम—मधुर; गीत—गुंजार; वत्—सदृश; अति—अत्यन्त; मनोहर—आकर्षक; वनिता-आदि—पत्नी इत्यादि; जन—लोगों का; आलापेषु—बातों में; अतितराम्—अत्यधिक; अति—अधिक; प्रलोभित—आसक्त; कर्णम्—जिसके कान; अग्रे—आगे; वृक-यूथ—भेड़ियों का झुंड; वत्—सदृश; आत्मनः—अपने आप का; आयुः—उम्र; हरतः—हरण करते हुए; अहः-रात्रान्—दिन तथा रातें; तान्—वे सब; काल-लव-विशेषान्—समय के क्षण; अविगणय्य—बिना विचारे; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; विहरन्तम्—भोगते या विहार करते; पृष्ठतः—पीछे से; एव—निश्चय ही; परोक्षम्—अदृश्य रूप से; अनुप्रवृत्तः—पीछा करते हुए; लुब्धकः—शिकारी; कृत-अन्तः—यमराज; अन्तः—हृदय में; शरेण—बाण से; यम्—जिसको; इह—इस संसार में; पराविध्यति—बेधता है; तम्—उस; इमम्—यह; आत्मानम्—अपने आप, स्वतः; अहो राजन्—हे राजा; भिन्न-हृदयम्—बिंधे हुए हृदय वाला; द्रष्टुम्—देखने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; इति—इस प्रकार।

हे राजन्, स्त्री उस पुष्प के समान है, जो प्रारम्भ में अत्यन्त आकर्षक एवं अन्त में अत्यन्

घृणा योग्य हो जाता है। जीव कामेच्छाओं के कारण स्त्री के साथ फँसता है और वह उसी प्रकार संभोग-सुख प्राप्त करता है, जिस प्रकार फूलों की सुगन्ध का भोग किया जाता है। इस प्रकार वह जिह्वा से लेकर शिश्न तक इन्द्रियतृप्ति का जीवन बिताता है और इस प्रकार जीव अपने को गृहस्थ जीवन में अत्यन्त सुखी मानता है। अपनी स्त्री के साथ रहते हुए वह सदैव ऐसे विचारों में मग्न रहता है। वह अपनी पत्नी तथा बच्चों की बातें सुनने में आनन्द का अनुभव करता है। ये उन भौंरों की मधुर गुंजार के तुल्य होती हैं, जो प्रत्येक फूल से मधु एकत्र करते रहते हैं। वह भूल जाता है कि उसके समक्ष काल खड़ा है, जो दिन-रात के बीतने के साथ ही उसकी आयु का हरण करता जा रहा है। उसे न तो धीरे-धीरे हो रही अपनी आयु-क्षय दिखती है और न उसे यमराज की ही परवाह रहती है, जो पीछे से उसे मारने का प्रयत्न करते रहते हैं। तुम इसे समझने का प्रयास करो। तुम अत्यन्त शोचनीय स्थिति में हो और चारों ओर से संकट से घिरे हो।

तात्पर्य : भौतिक जीवन का अर्थ है भगवान् कृष्ण के दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूलना और यह विस्मरण गृहस्थाश्रम में विशेष रूप से बढ़ जाता है। गृहस्थ आश्रम में युवक किसी युवा सुन्दरी स्त्री को पत्नी रूप में स्वीकार करता है, किन्तु कालान्तर में, अनेक बच्चों को जन्म देने तथा वृद्ध होते जाने पर पत्नी परिवार के भरणपोषण के लिए अनेक वस्तुओं की माँग करती है। उस समय पत्नी उसी व्यक्ति को, जिसने उसे युवावस्था में स्वीकार किया था, घृणित लगने लगती है। कोई भी मनुष्य दो कारणों से गृहस्थ आश्रम को स्वीकार करता है—पत्नी पति की रुचि के अनुकूल स्वादिष्ट व्यंजन तैयार करती है और रात्रि में वह उसे काम-सुख प्रदान करती है। गृहस्थ आश्रम में आसक्त व्यक्ति सदैव इन्हीं दो बातों का चिन्तन करता रहता है—स्वादिष्ट भोजन तथा काम-सुख। पत्नी की बातें, परिवार का विनोद करने वाली होती हैं तथा बच्चों की बातें जीव को आकृष्ट करती हैं। इस प्रकार वह यह भूल जाता है कि उसे एक दिन मरना है और अनुकूल शरीर में प्रवेश पाने के लिए अगले जीवन की तैयारी करनी है।

उद्यान में स्थित हिरन अन्योक्ति के रूप में प्रयुक्त है, जिससे नारद मुनि राजा को बताना चाहते हैं कि राजा स्वयं इसी प्रकार की परिस्थितियों से घिरा है। वास्तव में प्रत्येक प्राणी की ऐसी ही पारिवारिक स्थिति है, जो उसे पथभ्रष्ट कर देती है। इस प्रकार जीव इसे भूल जाता है कि उसे भगवान्

के धाम वापस जाना है। वह केवल पारिवारिक जीवन में उलझा रहता है। इसीलिए प्रह्लाद महाराज ने इंगित किया है—*हित्वात्मपातं गृहम् अन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।* गृहस्थ-जीवन अन्धकूप के सदृश है, जिसमें गिरकर मनुष्य असहाय होकर मर जाता है। प्रह्लाद महाराज बताते हैं कि इन्द्रियों के ठीक रहते तथा बलवान रहते हुए मनुष्य को गृहस्थाश्रम त्याग देना चाहिए और वृन्दावन जाकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेनी चाहिए। वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को एक आयु विशेष में (पचास वर्ष पर) वानप्रस्थ ग्रहण करके अन्त में संन्यासी रूप में अकेले रहना चाहिए। यही वैदिक सभ्यता की संस्तुत विधि है, जिसे वर्णाश्रम धर्म कहते हैं। जब गृहस्थ जीवन को भोग कर कोई संन्यास ग्रहण करता है, तो भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर लेता हैं।

मनुष्य को अपने परिवार या सांसारिक जीवन में अपनी स्थिति को समझना चाहिए। इसीको बुद्धिमत्ता कहते हैं। उसे अपनी जीभ के स्वाद को पूरा करने तथा पत्नी के साथ सम्भोग करने में ही नहीं फँसे रहना चाहिए। ऐसा करने पर मनुष्य अपने जीवन को व्यर्थ गँवाता है। वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को एक अवस्था विशेष में परिवार को त्यागना ही पड़ता है, यदि आवश्यक हुआ तो बल का प्रयोग भी करना पड़ता। दुर्भाग्यवश वैदिक जीवन के तथाकथित अनुयायी जीवन के अन्तकाल तक भी अपना परिवार नहीं त्यागते, जब तक मृत्यु उसे विवश नहीं कर देती। सामाजिक प्रणाली में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है और समाज को चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाले वैदिक सिद्धान्तों को फिर से अपनाना चाहिए।

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टितमात्मनोऽन्त-
श्चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते ।
जह्यङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं
प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सः—वही पुरुष; त्वम्—तुम; विचक्ष्य—विचार करके; मृग-चेष्टितम्—हिरन के कार्य; आत्मनः—स्वयं के; अन्तः—भीतरी; चित्तम्—चेतना; नियच्छ—स्थिर करो; हृदि—हृदय में; कर्ण-धुनीम्—कर्णेन्द्रिय; च—तथा; चित्ते—चेतना को; जहि—छोड़ दो; अङ्गना-आश्रमम्—गृहस्थ जीवन; असत्-तम—अत्यन्त घृणित; यूथ-गाथम्—नर तथा नारी की गाथाओं से पूर्ण; प्रीणीहि—स्वीकार करो; हंस-शरणम्—मुक्त जीवों की शरण; विरम—विरक्त बनो; क्रमेण—क्रमशः।

हे राजन्, तुम हिरन की अन्योक्ति की स्थिति को समझने का प्रयास करो। तुम अपने प्रति पूर्ण सचेत रहो और कर्म के द्वारा स्वर्गलोक जाने के श्रवण-सुख को त्याग दो। गृहस्थ जीवन

त्याग दो, क्योंकि वह विषयभोगों से तथा ऐसी वस्तुओं की कथाओं से पूर्ण है। तुम मुक्त पुरुषों की कृपा से भगवान् की शरण ग्रहण करो। इस प्रकार से इस संसार के प्रति अपनी आसक्ति का त्याग करो।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर अपने एक गीत में लिखते हैं—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड

अमृत बलिया येबा खाय

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे,

तार जन्म अध:पाते याय

"कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड विष के प्यालों के तुल्य हैं। जो भी इनको अमृत समझ कर पीता है उसे जन्म-जन्मांतर विभिन्न प्रकार की देहों में कठिन संघर्ष करना पड़ता है। ऐसा व्यक्ति सभी प्रकार के व्यर्थ पदार्थ खाता है और तथाकथित इन्द्रियसुख के कार्यों के कारण तिरस्कृत हो जाता है।"

सामान्यत: लोग सांसारिक कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के कर्मफलों के प्रति आकृष्ट होते हैं। वे स्वर्गलोक जाने की अभिलाषा, ब्रह्म में तादात्म्य अथवा जीभ तथा जननेन्द्रियों के आनन्द से मुग्ध होकर पारिवारिक जीवन में ही बने रहना चाहते हैं। नारद मुनि राजा बर्हिष्मान् को स्पष्ट उपदेश देते हैं कि वह सम्पूर्ण जीवन गृहस्थाश्रम में न व्यतीत करे। गृहस्थ आश्रम में रहने का अर्थ है अपनी पत्नी के वश में होना। मनुष्य को यह सब त्याग कर परमहंस आश्रम में जाना चाहिए, अर्थात् अपने आप को गुरु के अधीन कर देना चाहिए। परमहंस आश्रम भगवान् का आश्रम है, जहां गुरु ने शरण ले रखी है। *श्रीमद्भागवत* (११.३.२१) में प्रामाणिक गुरु के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासु: श्रेय उत्तमम्।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

"जो व्यक्ति वास्तविक सुख प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे प्रामाणिक गुरु की खोज करनी चाहिए और दीक्षा के द्वारा उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। गुरु की योग्यता यह है कि उसे शास्त्रार्थ और विचार-विमर्श द्वारा अर्जित शास्त्रों के निर्णय का ज्ञान हो और वह इन निष्कर्षों को आश्वस्त कर सके। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने सारी सांसारिकता को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है,

उनको प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।''

परमहंस वह है, जिसने परब्रह्म अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण कर ली हो। यदि कोई ऐसे परमहंस गुरु की शरण ग्रहण करता है, तो धीरे-धीरे वह अभ्यास तथा उपदेश से भौतिक जीवन से विरक्त होने लगता है और अन्त में भगवान् के धाम को जाता है। *अङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं* का विशिष्ट उल्लेख अत्यन्त रोचक है। सारा संसार स्त्री के द्वारा नियंत्रित होने के कारण माया के चंगुल में है। मनुष्य न केवल अपनी स्त्री के वश में हैं, अपितु वह तरह-तरह के संभोग साहित्य से नियंत्रित है। भौतिक जगत में फँसने का यही कारण है। मनुष्य अपने ही प्रयास से इस घृणित संगति को नहीं छोड़ पाता, किन्तु यदि वह परमहंस रूप प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह क्रमश: आध्यात्मिक जीवन के पद को प्राप्त कर लेगा।

वेदों के मोहक शब्द, जो मनुष्य को स्वर्गलोक जाने या परब्रह्म में तदाकार होने के लिए प्रेरित करते हैं, अल्पज्ञों के लिए हैं, जिन्हें *भगवद्गीता* में *माययापहृतज्ञाना:* (जिनका ज्ञान माया द्वारा हर लिया गया है) कहा गया है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ है भौतिक जीवन की कष्टकर अवस्था का बोध। मनुष्य को प्रामाणिक मुक्त पुरुष अर्थात् गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए और क्रमश: आध्यात्मिक पद तक उठना चाहिए जिससे भौतिक जगत से विरक्त हुआ जा सके। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *हंस शरणम्* का अर्थ है, वह कुटी जिसमें साधु पुरुष रहते हैं। सामान्यत: साधु जंगल में दूरस्थ स्थान पर या साधारण कुटिया में रहता है। लेकिन हमें ध्यान रखना होगा कि समय बदल चुका है। जंगल जाकर कुटिया में रहना भले ही साधु के हित में हो, किन्तु यदि कोई उपदेशक हो जाता है, विशेषकर पाश्चात्य देशों में, तो उसे अनेक तरह के लोगों को आमंत्रित करना पड़ता है, जो सुखद मकानों में रहने के अभ्यस्त होते हैं। अत: इस युग में साधु को लोगों के स्वागतार्थ समुचित प्रबन्ध करना और उन्हें कृष्णचेतना सन्देश के प्रति आकर्षित करना होता है। सम्भवत: श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने पहली बार साधु पुरुषों के रहने के लिए बड़े-बड़े प्रासादों एवं मोटरकारों का प्रचलन किया जिससे बड़े शहरों की जनता आकृष्ट हो सके। मुख्य तथ्य तो यह है कि लोगों को साधुओं की संगति करनी पड़ती है। इस युग में लोग जंगल में जाकर साधु की खोज नहीं करेंगे। उल्टे, साधुओं को बड़े शहरों में आकर ऐसे लोगों से भेंट करने के लिए व्यवस्था करनी होगी जो आधुनिक

भौतिक सुविधाओं के अभ्यस्त हैं। धीरे-धीरे ये लोग समझ सकेंगे कि ऐसे प्रासाद या सुखद मकान तनिक भी आवश्यक नहीं हैं। वास्तविक आवश्यकता है कि जैसे भी हो सके कर्मबन्धन से मुक्त हुआ जाये। श्रील रूप गोस्वामी के आदेशानुसार—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जतः।

निर्बन्धः कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

"जब मनुष्य अनासक्त होता है और इसके साथ ही प्रत्येक वस्तु को कृष्ण के हेतु मानने लगता है, तो उसे वैराग्य से युक्त कहा जाता है" (भक्ति-रसामृत-सिन्धु १.२.२५५)।

मनुष्य को भौतिक ऐश्वर्य में लिप्त नहीं हो जाना चाहिए, किन्तु कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए भौतिक ऐश्वर्य को अपनाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, भौतिक ऐश्वर्य को *युक्तवैराग्य* के रूप में, अर्थात् विरक्ति के लिए स्वीकार किया जा सकता है।

राजोवाच

श्रुतमन्वीक्षितं ब्रह्मन्भगवान्यदभाषत ।
नैतज्जानन्त्युपाध्यायाः किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; श्रुतम्—सुना गया; अन्वीक्षितम्—विचार किया गया; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; यत्—जो; अभाषत—तुमने कहा है; न—नहीं; एतत्—यह; जानन्ति—जानते हैं; उपाध्यायाः—कर्मकाण्ड के शिक्षक; किम्—क्यों; न ब्रूयुः—उन्होंने शिक्षा नहीं दी; विदुः—वे जानते थे; यदि—अगर।

राजा ने कहा : हे ब्राह्मण, आपने जो कुछ कहा है उसे मैंने अत्यन्त मनोयोग से सुना है और सम्यक् विचार के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि जिन आचार्यों (शिक्षकों) ने मुझे कर्मकाण्ड में प्रवृत्त किया, वे इस गुह्य ज्ञान को नहीं जानते थे। और यदि वे इससे अवगत थे तो फिर उन्होंने मुझे क्यों नहीं बताया?

तात्पर्य : वास्तव में समाज के तथाकथित शिक्षक या अग्रणी लोग जीवन के उद्देश्य को ठीक से नहीं जानते। ऐसे लोगों को *भगवद्गीता* में *माययापहृतज्ञाना:* कहा गया है। वे अत्यन्त विद्वान् प्रतीत होते हैं, किन्तु माया के प्रभाव से उनका ज्ञान हर लिया गया होता है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ है कृष्ण की खोज। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः* सारा ज्ञान श्रीकृष्ण की खोज करने के निमित्त है, क्योंकि श्रीकृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के मूल हैं। *जन्माद्यस्य यतः।* *भगवद्गीता* (१०.२) में कृष्ण कहते हैं—*अहमादिर्हि*

देवानां—मैं समस्त देवों का स्रोत हूँ। इस प्रकार श्रीकृष्ण समस्त देवताओं के जिनमें ब्रह्मा, शिव इत्यादि सम्मिलित हैं, मूल तथा आदि स्रोत हैं। वैदिक अनुष्ठान विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने के लिए हैं, किन्तु जब तक कोई प्रगतिमान (विद्वान) नहीं होता वह यह नहीं समझ पाता कि श्रीकृष्ण ही आदि पुरुष है। *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।* नारद के उपदेशों को सुन कर राजा को चेत हुआ। जीवन का वास्तविक उद्देश्य भगवान् की भक्ति प्राप्त करना है। अत: राजा ने तथाकथित पुरोहिती आदेशों को नकार देने का निश्चय किया, क्योंकि उनमें जीवन के उद्देश्य के विषय में कोई शिक्षा न दी जाकर अनुयायियों को केवल अनुष्ठानों में लगाये रखा जाता है। आज के समय में संसार भर में गिरजाघरों, मन्दिरों तथा मस्जिदों के प्रति लोग आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि मूर्ख पुरोहित अपने अनुयायियों को ज्ञान प्रदान नहीं कर पाते। जीवन-उद्देश्य से अपरिचित रहने के कारण वे भक्तों को अंधकार में रखते हैं। फलत: जो सचमुच शिक्षित हैं, वे अनुष्ठानों के प्रति अरुचि रखने लगे हैं, किन्तु साथ ही उन्हें इससे कुछ ज्ञान नहीं प्राप्त हो पाता। अत: समस्त वर्गों के लोगों को जागरुक करने के लिए यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाराज बर्हिष्मान् के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का लाभ उठाए और अनेक धर्मों के वेश में चलने वाले रूढ़ीगत अनुष्ठानों का परित्याग करे। गोस्वामी लोग प्रारम्भ से ही उन पुरोहितों से भिन्न थे, जो केवल अनुष्ठानों में लगे रहते थे। दरअसल श्रील सनातन गोस्वामी ने ही वैष्णवों के मार्गदर्शन के लिए *हरि-भक्ति-विलास* का संग्रह किया। वैष्णव लोग पुरोहितों के निर्जीव कार्यों की परवाह न करके पूर्णत: कृष्णभक्ति करते हैं और इसी जीवन में पूर्ण बनते हैं। इसका वर्णन पिछले श्लोक में *परमहंस शरणम्* अर्थात् परमहंस की शरण लेने ओर इस जीवन को सफल बनाने के रूप में हुआ है।

संशयोऽत्र तु मे विप्र सञ्छिन्नस्तत्कृतो महान् ।
ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तय: ॥ ५७॥

शब्दार्थ

संशय:—सन्देह; अत्र—यहाँ; तु—लेकिन; मे—मेरा; विप्र—हे ब्राह्मण; सञ्छिन्न:—काट दिया, दूर कर दिया; तत्-कृत:—उससे किया गया; महान्—महान; ऋषय:—ऋषिगण; अपि—भी; हि—निश्चय ही; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त हो जाते हैं; यत्र—जहाँ; न—नहीं; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; वृत्तय:—कार्यकलाप।

हे ब्राह्मण, आपके आदेशों तथा मुझे कर्मकाण्ड में प्रवृत्त करने वाले मेरे गुरुओं के उपदेशों में विरोधाभास जान पड़ता है। मैं अब भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के अन्तर को समझ सकता हूँ।

मुझे पहले इनके विषय में कुछ संशय थे, किन्तु आपने कृपा करके इन संशयों को मिटा दिया है। अब मैं समझ सकता हूँ कि बड़े बड़े ऋषि भी जीवन के वास्तविक उद्देश्य के विषय में कैसे मोहग्रस्त होते हैं। निस्सन्देह, इन्द्रियतृप्ति का कोई सवाल ही नहीं उठता।

तात्पर्य : राजा बर्हिष्मान् स्वर्ग प्राप्ति के लिए तरह-तरह के यज्ञ सम्पन्न कर रहा था। लोग सामान्यत: ऐसे कृत्यों के प्रति आकृष्ट होते हैं और विरले ही भक्ति के प्रति कोई आकृष्ट होता हैं। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है। परम भाग्यशाली व्यक्ति ही भक्ति में लगता है। यहाँ तक कि तथाकथित वेद-विद्वान् भी भक्ति के विषय में मोहग्रस्त होते हैं। वे इन्द्रियतृप्ति के लिए सामान्य रूप से अनुष्ठानों के प्रति आकृष्ट होते हैं। भक्ति में इन्द्रियतृप्ति कहाँ! वहाँ तो केवल भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति होती है। अत: इन्द्रियतृप्ति में संलग्न तथाकथित पुरोहित भक्ति को पसन्द नहीं करते। जबसे भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को प्रारम्भ किया, तभी से ब्राह्मण अथवा पुरोहित इसके विरुद्ध रहे हैं। जब चैतन्य महाप्रभु ने इस आन्दोलन को प्रारम्भ किया, उन्होंने इस्लामी सरकार के न्यायाधीश काजी से शिकायतें कीं। फलत: चैतन्य महाप्रभु को तथाकथित वेदवादियों के इस प्रचार के विरुद्ध अवज्ञा-आन्दोलन चलाना पड़ा। ये लोग *कर्म-जड-स्मार्त* कहे गये हैं, जिसका अर्थ है अनुष्ठानों में संलग्न पुरोहितगण। यहाँ कहा गया है कि ऐसे लोग मोहग्रस्त हो जाता हैं (*ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति*)। ऐसे कर्म-जड़-स्मार्तों *से बचने के लिए मनुष्य को भगवान् के आदेशों का कड़ाई से पालन करना चाहिए।—*

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ॥

''समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से उबार लूँगा। डरो नहीं'' (*भगवद्गीता* १८.६६)।

कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम् ।
अमुत्रान्येन देहेन जुष्टानि स यदश्नुते ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—सकाम कर्म; आरभते—करना प्रारम्भ करता है; येन—जिससे; पुमान्—जीव; इह—इस जीवन में; विहाय—त्याग कर; तम्—उस; अमुत्र—अगले जीवन में; अन्येन—दूसरे; देहेन—शरीर के द्वारा; जुष्टानि—परिणाम; सः—वह; यत्—जो; अश्नुते—भोगता है।

इस जीवन में जीव जो कुछ भी करता है, उसका फल वह अगले जीवन में भोगता है।

तात्पर्य : मनुष्य प्राय: यह नहीं जानता कि एक शरीर दूसरे से किस प्रकार सम्बद्ध रहता है। यह कैसे सम्भव है कि इस जीवन में किये गये कर्मों का फल वह अगले जीवन में प्राप्त होने वाले शरीर में भोगे? राजा नारद मुनि से इसी प्रश्न का उत्तर चाह रहा है। यह कैसे सम्भव है कि इस जीवन में जिसे मनुष्य शरीर प्राप्त है उसे अगले जीवन में मनुष्य शरीर प्राप्त नहीं होता? यहाँ तक कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक तथा दार्शनिक भी एक शरीर से दूसरे शरीर में कर्मों के अन्तरण को नहीं समझ पाते। जैसा हम अनुभव करते हैं, प्रत्येक आत्मा के एक अलग शरीर होता है और प्रत्येक व्यक्ति के कर्म या प्रत्येक शरीर के कर्मों को दूसरे शरीर या व्यक्ति द्वारा नहीं भोगना होता। प्रश्न यह है कि एक शरीर के कर्म अगले जन्म में किस प्रकार भोगे जाते हैं?

इति वेदविदां वादः श्रूयते तत्र तत्र ह ।
कर्म यत्क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते ॥५९॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; वेद-विदाम्—वेदों के ज्ञाता; वादः—कथन; श्रूयते—सुना जाता है; तत्र तत्र—जगह जगह, जहाँ तहाँ; ह—निश्चय ही; कर्म—कर्म; यत्—जो; क्रियते—किया जाता है; प्रोक्तम्—जैसा कहा जा चुका है; परोक्षम्—अज्ञात; न प्रकाशते—प्रत्यक्ष प्रकट नहीं हो पाता।

वेदवादियों का कथन है कि मनुष्य अपने पूर्व कर्मों के फल का भोग करता है। किन्तु व्यावहारिक रूप में यह देखा जाता है कि पिछले जन्म में जिस शरीर ने कर्म किया था वह तो नष्ट हो चुका होता है। अत: उस कर्म का भोग एक भिन्न शरीर द्वारा किस प्रकार सम्भव है?

तात्पर्य : नास्तिक लोग पूर्वकर्मों के फल का साक्ष्य चाहते हैं, अत: वे प्रश्न करते हैं, "कहाँ इसका प्रमाण है कि मैं विगत कर्म के फलों को भोग रहा हूँ?" उन्हें इसका ज्ञान नहीं है कि किस तरह सूक्ष्म शरीर वर्तमान शरीर के कर्मफलों को अगले स्थूल शरीर तक पहुँचाता है। भले ही वर्तमान स्थूल शरीर नष्ट हो जाये, किन्तु सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता; यह आत्मा को दूसरे शरीर तक ले जाता है। वस्तुत: स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर पर निर्भर रहता है, अत: अगला स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के अनुसार सुख तथा दुख उठाता है। आत्मा तब तक सूक्ष्म शरीर द्वारा लेजाया जाता रहता है जब तक वह स्थूल

भौतिक बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता।

नारद उवाच
येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत्पुमान् ।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; येन—जिसके द्वारा; एव—निश्चय ही; आरभते—प्रारम्भ करता है; कर्म—सकाम कर्म; तेन—उसी शरीर से; एव—निश्चय ही; अमुत्र—अगले जीवन में; तत्—वह; पुमान्—जीव; भुङ्क्ते —भोग करता है; हि—क्योंकि; अव्यवधानेन—किसी परिवर्तन के बिना; लिङ्गेन—सूक्ष्म शरीर से; मनसा—मन से; स्वयम्—स्वयं, खुद।

नारद मुनि ने आगे कहा : इस जीवन में जीव स्थूल शरीर में कर्म करता है। यह शरीर मन, बुद्धि तथा अहंकार से निर्मित सूक्ष्म शरीर द्वारा कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है। इस स्थूल शरीर के विनष्ट होने पर भी सूक्ष्म शरीर फल भोगने या कष्ट उठाने के लिए बना रहता है। अतः इससे कोई परिवर्तन नहीं होता।

तात्पर्य : जीव के दो प्रकार के शरीर होते हैं—सूक्ष्म तथा स्थूल। वास्तव में वह सूक्ष्म शरीर के द्वारा भोग करता है, जो मन, बुद्धि तथा अहंकार से बना है। स्थूल शरीर कारणस्वरूप बाह्य आवरण है। जब यह स्थूल शरीर नहीं रहता या मर जाता है, तो स्थूल शरीर का मूल—मन, बुद्धि तथा अहंकार—बना रहता है और दूसरा स्थूल शरीर ग्रहण कर लेता है। यद्यपि स्थूल शरीर ऊपर से बदलते हैं, किन्तु स्थूल शरीर का असली मूल-मन, बुद्धि तथा अहंकार का सूक्ष्म शरीर सदैव बना रहता है। सूक्ष्म शरीर के कार्य, चाहे वे पुण्य हों या पाप, अन्य परिस्थिति उत्पन्न करते हैं जिसमें जीव अगले स्थूल शरीर में सुख या दुख उठाता है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर बना रहता है, जबकि स्थूल शरीर एक के बाद एक-एक करके बदलता रहता है।

चूँकि आधुनिक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक अत्यधिक भौतिकतावादी हैं और मायावश उनका ज्ञान हर लिया गया है, अतः वे यह नहीं बता पाते कि स्थूल शरीर किस तरह बदलता है। भौतिकतावादी चिन्तक डार्विन ने स्थूल शरीर में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, किन्तु सूक्ष्म शरीर या आत्मा का ज्ञान न होने से वह यह स्पष्ट नहीं कर सका कि विकास क्रिया किस प्रकार अग्रसर होती है। मनुष्य का स्थूल शरीर बदलता रहता है, किन्तु वह सूक्ष्म शरीर से कार्य करता रहता है। लोग सूक्ष्म शरीर के कार्यों को नहीं समझ पाते, अतः वे मोहग्रस्त रहते हैं कि एक स्थूल शरीर के

कार्य दूसरे स्थूल शरीर को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। सूक्ष्म शरीर के कार्य भी परमात्मा द्वारा नियोजित हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में में बताया गया है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।"

चूँकि परमात्मा रूप में परमेश्वर सदैव प्रत्येक जीवात्मा का मार्गदर्शन करता है, अत: जीवात्मा को पता रहता है कि पूर्वकर्मों के अनुसार किस प्रकार कार्य किया जाये। दूसरे शब्दों में, परमात्मा उसे स्मरण दिलाता है कि इस प्रकार से कैसे कार्य किया जाये। अत: यद्यपि ऊपर से स्थूल शरीर में परिवर्तन जान पड़ता है, किन्तु जीवात्मा के जीवनों के बीच सातत्य रहता है।

शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा ।
कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

शयानम्—बिस्तर में लेटे हुए; **इमम्**—यह शरीर; **उत्सृज्य**—त्याग कर; **श्वसन्तम्**—श्वास लेता हुआ; **पुरुषः**—जीव; **यथा**—जिस प्रकार; **कर्म**—कार्य; **आत्मनि**—मन में; **आहितम्**—सम्पन्न हुआ; **भुङ्क्ते**—भोगता है; **तादृशेन**—वैसे ही शरीर से; **इतरेण**—भिन्न शरीर से; **वा**—अथवा।

स्वप्न देखते समय जीव अपने वास्तविक शरीर को त्याग देता है और अपने मन तथा बुद्धि के कार्यों से वह दूसरे शरीर में, यथा देवता या कुत्ते के शरीर में, प्रवेश करता है। इस स्थूल शरीर को त्याग कर जीव इस लोक में अथवा अन्य लोक में किसी पशु या देवता के शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रकार वह अपने पिछले जीवन के कर्मफलों को भोगता है।

तात्पर्य : यद्यपि मन, बुद्धि तथा अहंकार सुख तथा दुख के मूल कारण हैं, तो भी भोगने के लिए निमित्त (कारण) स्वरूप स्थूल शरीर की आवश्यकता पड़ती है। स्थूल शरीर भले बदलता रहे, किन्तु सूक्ष्म शरीर सक्रिय बना रहता है। जब तक जीव को अन्य स्थूल शरीर नहीं प्राप्त हो जाता, वह सूक्ष्म शरीर या भूतप्रेत के शरीर में बना रहता है। स्थूल शरीर के बिना ही जब सूक्ष्म शरीर कार्य करता है तब जीव भूत-प्रेत बन जाता है। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है—*शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तम्।* स्थूल शरीर बिस्तर पर लेट कर आराम कर सकता है और स्थूल शरीर रूपी यंत्र के कार्य करते रहने पर भी जीव स्थूल शरीर को छोड़कर स्वप्न में चला जाता है और फिर उसी में लौट आता है। जब वह शरीर में लौट आता हो तो स्वप्न को भूल जाता है। इसी प्रकार जब जीव अन्य स्थूल शरीर धारण करता है,

तो वह अपने वर्तमान स्थूल शरीर को भूल जाता है। निष्कर्ष यह है कि मन, बुद्धि तथा अहंकार से निश्चित सूक्ष्म शरीर आकांक्षाओं का वातावरण उत्पन्न कर देता है, जिसे जीव सूक्ष्म शरीर में ही भोगता है। वास्तव में जीव तो सूक्ष्म शरीर में ही रहता है, भले ही स्थूल शरीर बदलता रहे और जीव विभिन्न लोकों में शरीरों में निवास करे। सूक्ष्म शरीर में जीव द्वारा सम्पन्न सारे कार्य मोहपूर्ण कहलाते हैं, क्योंकि वे स्थायी नहीं होते। मोक्ष का अर्थ है सूक्ष्म देह के चंगुल से बाहर निकलना, जबकि स्थूल शरीर से मोक्ष का अर्थ है एक स्थूल शरीर से दूसरे में आत्मा का देहान्तरण। जब मन को कृष्णचेतना की शिक्षा मिलती है, तो मनुष्य या तो स्वर्गलोक या वैकुण्ठलोकों को जाता है, अत: मनुष्य को शिष्य-परम्परा द्वारा भगवान् से प्राप्त वैदिक आदेशों से प्राप्त ज्ञान के अनुशीलन से अपनी चेतना बदलनी होती है। यदि हम इस जीवन में सूक्ष्म शरीर को कृष्ण विषयक चिन्तन का प्रशिक्षण देते हैं, तो इस स्थूल शरीर को छोड़ने पर हम कृष्णलोक को जायेंगे। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने की है (*भगवद्गीता* ४.९)—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो व्यक्ति मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति से अवगत है, वह इस शरीर को त्यागने के पश्चात् इस संसार में जन्म नहीं लेता बल्कि मेरे शाश्वत धाम को प्राप्त होता है।"

इस प्रकार स्थूल शरीर का परिवर्तन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना कि सूक्ष्म शरीर का है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन लोगों में सूक्ष्म शरीर को प्रकाशित करने की शिक्षा प्रदान करता है। इस प्रसंग में आदर्श उदाहरण अम्बरीष महाराज का है—जिन्होंने अपने मन को सदैव भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में लगाये रखा। *स वै मन: कृष्णपदारविन्दयो:।* इसी प्रकार इस जीवन में हमें अर्चाविग्रह रूप में उपस्थित श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अपने मन को निरन्तर स्थिर रखना चाहिए। हमें उनकी पूजा भी करनी चाहिए। यदि हम अपनी वाणी को भगवान् के गुणगान में और कानों को उनकी लीलाओं के श्रवण करने में लगाएँ और यम-नियमों के द्वारा मन को कृष्णचेतना अग्रसर करने के लिए अक्षत रखें तो निश्चय ही हम आध्यात्मिक पद को प्राप्त कर सकेंगे। तब मृत्यु के समय मन, बुद्धि तथा अहंकार भौतिक रुप में दूषित नहीं होंगे। जीव के साथ मन, बुद्धि तथा अहंकार भी उपस्थित रहते हैं।

जब मन, बुद्धि तथा अहंकार शुद्ध हो जाते हैं, तो जीव की सारी कर्मेन्द्रियाँ आध्यात्मिक बन जाती हैं। इस तरह जीव सच्चिदानन्द रूप प्राप्त कर लेता है। परमेश्वर तो सदैव सच्चिदानन्द रूप है, किन्तु जीव भगवान् का अंश होकर भी सुखोपभोग की इच्छा से इस संसार में आकर भौतिक रुप में दूषित हो जाता है। भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.३४) में अपने धाम लौटने का नुस्खा बताया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण:॥

''सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस तरह मुझी में पूर्ण रूप से मग्न रहने पर तुम मेरे पास आ सकोगे।''

ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन् ।
गृह्णीयात्तत्पुमान्राद्धं कर्म येन पुनर्भव: ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; एते—ये सब; मनसा—मन से; यत् यत्—जो जो; असौ—वह; अहम्—मैं (हूँ); इति—इस प्रकार; ब्रुवन्—स्वीकार करते हुए; गृह्णीयात्—अपने ऊपर ले लेता है; तत्—वह; पुमान्—जीव; राद्धम्—पूर्ण; कर्म—कर्म; येन—जिससे; पुन:—फिर; भव:—संसार।

जीव इस देहात्मबुद्धि के अन्तर्गत कार्य करता है कि, ''मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, यह मेरा कर्तव्य है, अत: मैं इसे करूँगा।'' ये सब मानसिक संस्कार है और ये सारे कर्म अस्थायी हैं; फिर भी भगवान् के अनुग्रह से जीव को अपने समस्त मनोरथ पूरे करने का अवसर प्राप्त होता है। इस लिए उसे दूसरा शरीर प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य देहात्मबुद्धि में लीन रहता है, तब तक उसके सारे कार्य उसी स्तर पर सम्पन्न होते है। इसे समझना कठिन नहीं है। संसार में हम देख रहे है कि प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्र को पिछाड़ देना चाह रहा है और प्रत्येक व्यक्ति अपने संगी व्यक्ति से आगे बढ़ जाना चाहता है। ये सारे कार्य सभ्यता की प्रगति के नाम पर चल रहे है। शरीर को सुखी बनाने की अनेक योजनाएँ है, जो स्थूल शरीर के नष्ट होने पर सूक्ष्म शरीर तक पहुँचती है। यह तथ्य नहीं है कि स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव भी नष्ट हो जाता है। यद्यपि अनेक महान् दार्शनिकों तथा शिक्षकों की यह मान्यता है कि शरीर के नष्ट होने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है, किन्तु यह सच (तथ्य) नहीं है। इस श्लोक में नारद मुनि का कथन है कि मृत्यु आने पर मनुष्य अपनी योजनाएँ अपने साथ लेता जाता है (गृह्णीयात्) और

इन योजनाओं को सम्पन्न करने के लिए उसे दूसरा शरीर प्राप्त होता है। यही *पुनर्भव:* कहलाता है। जब स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, तो जीव की सारी योजनाएँ मन द्वारा ग्रहण कर ली जाती है और भगवदनुग्रह से जीव को अगले जीवन में इन योजनाओं को साकार करने का अवसर प्राप्त होता है। यह कर्म का विधान कहलाता है। जब तक मन कर्म-विधान में लिप्त रहता है उसे अगले जीवन में एक विशेष प्रकार का शरीर धारण करना पड़ता है।

इस शरीर को सुखी या दुखी बनाने के लिए किये गये कार्यों का समुच्चय कर्म है। हमने सचमुच यह देखा है कि जब एक सज्जन मरने वाले थे तो उन्होंने अपने डाक्टर से कहा कि वह उन्हें चार वर्षों तक और जीवित रहने का अवसर प्रदान करे जिससे वे अपनी योजनाएँ पूरी कर सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सज्जन मरते समय अपनी योजनाओं के विषय में सोच रहे थे। अपनी मृत्यु के बाद वह व्यक्ति अपनी योजनाएँ अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा—जो मन, बुद्धि तथा अहंकार से बना है—अपने साथ लेता गया। इस प्रकार परमात्मा के अनुग्रह से, जो हमारे हृदय में सदैव विद्यमान है, उसे दूसरा अवसर प्राप्त होगा।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च—अगले जन्म में उसे परमात्मा से स्मृति प्राप्ति होती है और वह विगत जीवन की योजनाओं को सम्पन्न करने लगता है। *भगवद्गीता* के एक अन्य श्लोक (१८.६१) में भी इसकी व्याख्या की गई है—

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

''हे अर्जुन! परमेश्वर सबों के हृदय में स्थित है और उन समस्त जीवों को जो मानो माया से निर्मित यंत्र पर आरूढ़ हैं घूमने का निर्देशन कर रहा है।'' प्रकृति द्वारा प्रदत्त वाहन पर आसीन तथा अन्त:करण से परमात्मा द्वारा याद दिलाये जाने पर यह जीव अपनी योजनाओं की पूर्ति के लिए ब्रह्माण्ड-भर में यह सोचते हुए संघर्ष करता रहता है ''मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं अमरीकी हूँ, मैं भारतीय हूँ'' इत्यादि ये सारी उपाधियाँ एक-जैसी है। एक अमरीकी की अपेक्षा एक ब्राह्मण होने या नीग्रो की अपेक्षा एक अमरीकी बनने में कोई लाभ नहीं है। असल में यह सब प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत देहात्मबुद्धि है।

यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः ।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; अनुमीयते—अनुमान लगाया जा सकता है; चित्तम्—चेतना या मानसिक स्थिति; उभयैः—दोनों; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; ईहितैः—क्रियाओं के द्वारा; एवम्—उसी तरह; प्राक्—पूर्व; देहजम्—शरीर द्वारा सम्पन्न; कर्म—कर्म; लक्ष्यते—देखा जा सकता है; चित्त—चेतना के; वृत्तिभिः—व्यापारों से।

जीव की मानसिक स्थिति को दो प्रकार की इन्द्रियों—कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों—द्वारा समझा जा सकता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य की मानसिक स्थिति से उसके पूर्वजन्म की स्थिति को समझा जा सकता है।

तात्पर्य : अंग्रेजी में एक कहावत है, ''मुख मन का दर्पण है।'' यदि कोई क्रोधित होता है, तो उसका क्रोध उसके मुख पर तुरन्त प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार स्थूल शरीर की क्रियाओं से अन्य मानसिक दशाएँ प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में, स्थूल शरीर के सारे कार्य मानसिक अवस्था के प्रतिफल हैं। मन के कार्य है—सोचना, अनुभव करना तथा इच्छा करना। मन की इच्छाएँ शरीर की क्रियाओं से प्रकट होती हैं। निष्कर्ष यह है कि हम शरीर तथा इन्द्रियों की क्रियाओं से मन की अवस्था को समझ सकते हैं। पूर्वशरीर के पूर्वकर्मों द्वारा मन की अवस्था प्रभावित होती है। जब मन किसी इन्द्रिय विशेष के साथ जुड़ जाता है, तो किसी-न-किसी रूप में वह तुरन्त प्रकट हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब मन में क्रोध रहता है, तो जीभ लड़खड़ाने लगती है। इसी प्रकार जब मन का क्रोध हाथों द्वारा प्रकट होता है, तो लड़ाई होने लगती है। पाँव द्वारा प्रकट होने पर पादप्रहार होता है। मन की सूक्ष्म क्रियाएँ विविध इन्द्रियों द्वारा अनेक प्रकार से प्रकट होती रहती है। कृष्णचेतना में भी मनुष्य का मन इसी प्रकार से कार्य करता है। जीभ हरे कृष्ण महामंत्र का जप करती है, आनन्दविभोर होने से हाथ ऊपर उठते हैं और पाँव नाचने लगते हैं। ये लक्षण *अष्ट-सात्त्विक-विकार* कहलाते हैं। *सात्त्विक-विकार* का अर्थ है सतोगुण भाव या कभी-कभी दिव्य अनुभूति में रूपान्तर।

नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम् ।
कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अनुभूतम्—अनुभव किया गया; क्व—किसी समय; च—भी; अनेन देहेन—इस शरीर से; अदृष्टम्—कभी न देखा गया; अश्रुतम्—कभी न सुना हुआ; कदाचित्—कभी कभी; उपलभ्येत—अनुभव किया जा सकता है; यत्—जो; रूपम्—रूप; यादृक्—जैसा भी; आत्मनि—मन में।.

कभी-कभी हमें ऐसी वस्तु का अचानक अनुभव होता है, जिसे हमने इस शरीर में देख या सुनकर कभी अनुभव नहीं किया। कभी-कभी हमें ऐसी वस्तुएँ अचानक स्वप्न में दिख जाती हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी स्वप्न में हमें ऐसी वस्तुएँ दिखती हैं जिनका अनुभव हमने इस शरीर में कभी नहीं किया हो। कभी-कभी हम स्वप्नों में अपने आपको आकाश में उड़ते हुए अनुभव करते हैं, यद्यपि हमें उड़ने का कोई अनुभव नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्वजन्म में या तो हम देवता थे या आकाशचारी के रूप में आकाश में उड़े थे। मन में इन सब अनुभवों की छाप रहती है, जो अचानक प्रकट होते हैं। यह गहरे जल की तली पर होने वाली उस सड़न क्रिया के समान है, जो पानी की सतह पर प्रकट होने वाले बुलबुलों से कभी-कभी प्रकट होती है। कभी-कभी हम स्वप्न में ऐसे स्थान में पहुँच जाते हैं जिसे हम जीवन-भर न तो देखे रहते हैं, न अनुभव किये रहते हैं, किन्तु यह इस बात का प्रमाण है कि हमने पूर्वजन्म में इसका अनुभव किया था। यह छाप मन में संचित रहती है और कभी-कभी स्वप्न या विचार में प्रकट हो उठती है। तात्पर्य यह कि मन हमारे विगत जीवनों के अनुभवों तथा विविध विचारों का संग्रहालय है। इस प्रकार एक जीवन से दूसरे जीवन तक, विगत जीवन से इस जीवन तक और इससे भावी जीवन तक सातत्य-शृंखला बनी रहती है। इसकी पुष्टि ऐसे कथनों के द्वारा भी होती है कि अमुक व्यक्ति जन्मजात कवि, वैज्ञानिक या भक्त है। यदि हम महाराज अम्बरीष की तरह इस जीवन में कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करें (*स वै मन: कृष्ण पदारविन्दयो:*) तो हम मृत्यु के समय भगवान् के धाम को चले जाएँगे। यदि हमारा कृष्णभक्त बनने का प्रयास पूरा नहीं भी हो पाता तो हमारी कृष्णभक्ति अगले जीवन में भी बनी रहेगी। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (६.४१) में हुई है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती: समा: ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

''असफल योगी पुण्यात्माओं के लोक में अनेकानेक वर्षों तक भोग करने के बाद धनी व्यक्तियों या सदाचारी लोगों के परिवार में जन्म लेता है।''

यदि हम कृष्ण-ध्यान के सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करें तो निस्सन्देह, हम अगले जीवन में गोलोक वृन्दावन नामक कृष्णलोक को भेजे जायेंगे।

तेनास्य तादृशं राजँल्लिङ्गिनो देहसम्भवम् ।
श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

तेन—अतः; अस्य—जीव का; तादृशम्—उसके समान; राजन्—हे राजन्; लिङ्गिनः—सूक्ष्म मानसिक आवरण वाला; देह-सम्भवम्—पूर्वशरीर में उत्पन्न; श्रद्धत्स्व—इसे तथ्य मानो; अननुभूतः—अनदेखा; अर्थः—वस्तु; न—कभी नहीं; मनः—मन में; स्प्रष्टुम्—प्रकट करने के लिए; अर्हति—समर्थ है।

अतः हे राजन्, सूक्ष्म मानसिक आवरण वाला यह जीव अपने पूर्व शरीर के कारण सभी प्रकार के विचार तथा प्रतिबिम्ब विकसित करता रहता है। मेरी बात को तुम निश्चय समझो। जब तक पूर्व शरीर में कोई वस्तु देखी हुई नहीं रहती, तब तक मन के द्वारा उसकी कल्पना करने की सम्भावना नहीं उठती।

तात्पर्य : कृष्ण-बहिर्मुख हञा भोगवाच्छा करे।

निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥

(*प्रेम-विवर्त*)

भगवान् कृष्ण ही वास्तविक परम भोक्ता हैं। जब जीव उनका अनुकरण करना चाहता है, तो उसे भौतिक प्रकृति पर स्वामित्व जताने की अपनी झूठी अभिलाषाओं को पूरा करने का अवसर प्रदान कर दिया जाता है। यही उसके पतन का शुभारम्भ है। जब तक वह इस भौतिक वातावरण में रहता है, मन उसका सूक्ष्म वाहन रहता है, जो सभी प्रकार की भौतिक इच्छाओं का भण्डार है। ऐसी इच्छाएँ विविध शारीरिक रूपों में प्रकट होती है। श्रील नारद मुनि राजा से इस तथ्य को ग्रहण करने के लिए कहते हैं, क्योंकि वे अधिकारी हैं। निष्कर्ष यह है कि मन हमारी विगत इच्छाओं का भण्डार है और हमें यह वर्तमान शरीर उन्हीं विगत इच्छाओं के कारण प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार इस शरीर में हम जो कुछ चाहते हैं, वह भावी शरीर में प्राप्त होगा। इस प्रकार मन विभिन्न प्रकार के शरीरों का स्रोत है।

यदि मन को कृष्णभक्ति द्वारा शुद्ध कर लिया जाये तो भविष्य में आध्यात्मिक तथा कृष्णभक्ति से युक्त शरीर ही प्राप्त होता रहेगा। ऐसा शरीर ही हमारा आदि रूप है जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*—"प्रत्येक जीव स्वाभाविक रूप से कृष्ण का शाश्वत

दास है।'' यदि कोई व्यक्ति भगवान् की भक्ति में लगा रहता है, तो समझना चाहिए कि वह इसी जीवन में मुक्त हो चुका है। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोस्वामी द्वारा हुई है (*भक्ति-रसामृत-सिन्धु* १.२.१८७)—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

''जो मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहता है, उसे भौतिक जीवन की सभी अवस्थाओं में मुक्त समझना चाहिए।'' कृष्णभावनामृत आन्दोलन इसी सिद्धान्त पर आधारित है। हमें लोगों को भगवान् की सेवा में सदा लिप्त रहने की शिक्षा देनी चाहिए, क्योंकि वही उनकी स्वाभाविक स्थिति है। जो निरन्तर भगवान् की सेवा में लगा हो उसे पहले से मुक्त समझना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में भी हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो शुद्ध भक्ति के दिव्य कार्यों में सदैव लगा रहता है, वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके आध्यात्मिक पद पर ऊपर उठ जाता है।'' अतः भक्त त्रिगुणातीत और ब्राह्मण-पद से भी परे होता है। ब्राह्मण रजो तथा तमो इन दो निम्नगुणों से दूषित हो सकता है। जो शुद्ध भक्त मानसिक स्तर पर अनुभव की गई भौतिक इच्छाओं से मुक्त होता है और काल्पनिक ज्ञान या सकाम कर्म से भी मुक्त होता है, वह भौतिक परिस्थितियों से ऊपर उठा हुआ तथा मुक्त होता है।

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति ।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; एव—निश्चय ही; मनुष्यस्य—मनुष्य के; पूर्व—विगत; रूपाणि—अनेक रूप; शंसति—सूचित करता है; भविष्यतः—आगे जन्म लेने वाले का; च—भी; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; न—नहीं; भविष्यतः—भावी जन्म लेने वाले का।

हे राजन्, तुम्हारा कल्याण हो। यह मन प्रकृति के साहचर्य के अनुसार जीव द्वारा विशेष प्रकार का शरीर धारण करने का कारण है। मनुष्य अपने मानसिक संघटन के अनुसार यह जान सकता है कि पूर्वजन्म में वह कैसा था और भविष्य में वह कैसा शरीर धारण करेगा। इस प्रकार मन भूत (गत) तथा भावी शरीरों की सूचना देता है।

तात्पर्य : मन मनुष्य के गत तथा भावी जीवन विषयक सूचनाओं को देने वाला सूचकांक है। यदि कोई मनुष्य भगवान् का भक्त है उसने पूर्वजन्म में भक्ति की थी। इसी प्रकार यदि किसी का मन अपराधी है, तो वह पूर्वजन्म में अपराधी था। इसी प्रकार मन के अनुसार हम जान सकते हैं कि भावी जीवन में क्या-क्या होगा। *भगवद्गीता* (१४.१८) में यह कहा गया है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा: ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा: ॥

''जो लोग सतोगुणी हैं वे क्रमश: उच्च लोकों को जाते हैं; जो रजोगुणी हैं वे पृथ्वी लोक में रहते हैं और जो तमोगुणी हैं वे नरक लोकों को जाते हैं।''

यदि कोई मनुष्य सतोगुणी होता है, तो उसके मानसिक कार्य उसे उच्चलोकों को ले जायेंगे। इसी प्रकार यदि किसी की मानसिकता निम्न है, तो उसका भावी जीवन अत्यन्त घृणित होगा। जीव के भूत तथा भविष्य के जीवन उसकी मानसिक दशा से सूचित होते हैं। नारद मुनि यहाँ पर राजा को कल्याण का आशीर्वाद दे रहे हैं, जिससे राजा को किसी वस्तु की इच्छा अथवा इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी प्रकार की योजना बनाने की आवश्यकता न रहे। राजा भविष्य में श्रेष्ठतर जीवन प्राप्त करने के उद्देश्य से सकाम अनुष्ठान करने में व्यस्त था। नारद मुनि चाहते थे कि वह सारे मनोरथ त्याग दे। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सारे देहधारी अपने मनोरथों के अनुसार स्वर्ग तथा नरक को जाते हैं और भौतिक सुख तथा दुख मानसिक धरातल तक ही सीमित होते हैं। वे मन रूपी रथ (मनोरथ) पर घटित होते हैं, अत: कहा गया है (*भागवत* ५.१८.१२) कि—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा: ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहि: ॥

''जिसमें भगवान् के लिए अटूट निष्ठा होती है, उसमें देवताओं के समस्त सद्गुण पाये जाते हैं। किन्तु जो भगवद्भक्त नहीं है, उसमें भौतिक गुण ही पाये जाते हैं जिनका कोई मूल्य नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह मानसिक धरातल पर मँडराता रहता है और माया की चमक-दमक के प्रति

निश्चित रुप से आकृष्ट होता रहता है।''

जब तक मनुष्य भगवद्भक्त नहीं बनता या पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित नहीं हो जाता, तब तक वह मानसिक धरातल पर मँडराएगा और नाना प्रकार के शरीरों में उत्कर्ष तथा अपकर्ष को प्राप्त होगा। भौतिक दृष्टि से जिन गुणों को उत्तम माना जाता है, वे सब व्यर्थ होते हैं, क्योंकि इन तथाकथित गुणों से मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से नहीं छूट सकेगा। निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य को मनोरथ से रहित होना चाहिए। *अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*—मनुष्य को भौतिक इच्छाओं, दार्शनिक चिन्तन तथा सकाम कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। मानव जाति के लिए सर्वोत्तम मार्ग है कि वह भगवान् की दिव्य भक्ति को अनुकूल दृष्टि से स्वीकार कर ले। मानव-जीवन की सर्वोत्कृष्ट सार्थकता यही है।

अदृष्टमश्रुतं चात्र क्वचिन्मनसि दृश्यते ।
यथा तथानुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम् ॥ ६७॥

शब्दार्थ

अदृष्टम्—न देखी गई; अश्रुतम्—न सुनी गई; च—तथा; अत्र—इस जीवन में; क्वचित्—कभी; मनसि—मन में; दृश्यते—देखे जाते हैं; यथा—जिस प्रकार; तथा—उसी प्रकार; अनुमन्तव्यम्—समझा जाना चाहिए; देश—स्थान; काल—समय; क्रिया—कर्म; आश्रयम्—आश्रित।

कभी-कभी स्वप्न में हम ऐसी वस्तु देखते हैं, जिसको हम इस जीवन में कभी न तो अनुभव किये होते और न सुने होते हैं, किन्तु ये सभी घटनाएँ विभिन्न कालों, स्थानों तथा परिस्थितियों में अनुभव की गई होती हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह कहा गया था कि दिन में हम जो अनुभव करते हैं, उसे ही रात्रि में सपने में देखते हैं। किन्तु यह ऐसा क्यों है कि जिस वस्तु को न तो हमने देखा हो और न जिसके बारे में कभी सुना हो वह कभी-कभी हमें सपने में दिखती है? यहाँ यह कहा गया है कि भले ही इस जीवन में ऐसी घटनाओं का अनुभव न हुआ हो, वे पूर्वजन्मों में अनुभव की गई रहती हैं। काल तथा परिस्थिति के अनुसार वे इस प्रकार मिल जाती हैं कि स्वप्न में हमें कभी न अनुभव की गई किसी आश्चर्यजनक वस्तु के रूप में दिखती है। उदाहरणार्थ, हमें स्वप्न में पर्वत की चोटी पर समुद्र दिख सकता है, अथवा हम सूखा समुद्र देख सकते हैं। ये देश तथा काल में विभिन्न अनुभवों के मेल होते हैं। कभी-कभी हमें सुनहरा पर्वत दिखाई पड़ सकता है। यह सोना तथा पर्वत के पृथक् पृथक्

अनुभवों के कारण होता है। स्वप्न में मोहवश हम इन पृथक्-पृथक् कारकों को मिला देते हैं। इस प्रकार हम सुनहरा पर्वत या दिन के समय तारे देख पाते हैं। तात्पर्य यह कि ये सारे मनोरथ हैं, यद्यपि उनका वास्तविक अनुभव भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुआ रहता है। स्वप्न में मात्र वे मिल जाते है। अगले श्लोक में इसकी और भी व्याख्या की गई है।

सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः ।
आयान्ति बहुशो यान्ति सर्वे समनसो जनाः ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; क्रम-अनुरोधेन—क्रमानुसार; मनसि—मन में; इन्द्रिय—इन्द्रियों द्वारा; गोचराः—अनुभूत; आयान्ति—आते हैं; बहुशः—अनेक प्रकार से; यान्ति—चले जाते हैं; सर्वे—सभी; समनसः—मन से; जनाः—जीव।

जीव का मन विभिन्न स्थूल शरीरों में रहा करता है और इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यक्ति की इच्छाओं के अनुसार मन विविध विचारों को अंकित करता रहता है। ये मन में विभिन्न मिश्रणों (मेलों) के रूप में प्रकट होते हैं। अतः कभी-कभी ये प्रतिबिम्ब ऐसी वस्तुओं के रूप में प्रकट होते हैं, जो पहले न तो कभी सुनी गई और न देखी गई होती हैं।

तात्पर्य : कुत्ते के शरीर में स्थित जीव के कार्यों का अनुभव किसी भिन्न शरीर के मन द्वारा किया जा सकता है, अत: ये कार्य न तो कभी सुने गए और न ही देखे गए प्रतीत होते हैं। मन बना रहता है, यद्यपि शरीर बदल जाता है। यहाँ तक कि इसी जीवन में भी हम कभी-कभी अपने बचपन के स्वप्नों का अनुभव करते हैं। यद्यपि ऐसी घटनाएँ बाद में विचित्र लगती हैं, किन्तु वे सब मन में अंकित हुई रहती हैं, फलत: वे स्वप्न में दिखाई पड़ती हैं। सूक्ष्म शरीर समस्त प्रकार की भौतिक इच्छाओं का भण्डार है और इसी के द्वारा आत्मा का देहान्तरण होता है। जब तक मनुष्य कृष्णभक्ति में पूर्ण रूप से निमग्न नहीं होगा, तब तक वे इच्छाएँ आती-जाती रहेंगी। यह तो मन का स्वभाव है सोचना, अनुभव करना और इच्छा करना। जब तक मन भगवान् कृष्ण के चरणकमलों के ध्यान में संलग्न नहीं होगा, तब तक वह नाना प्रकार के भौतिक भोगों की इच्छा करता रहेगा। ऐन्द्रिय प्रतिबिम्बों का अंकन क्रमानुसार हुआ रहता है और वे एक-एक करके प्रकट होते हैं, अत: जीव को एक के बाद दूसरा शरीर धारण करना होता है। मन भौतिक सुख की योजना बनाता है और स्थूल शरीर इन्हें पूरा करने के साधन प्रदान करता है। मन वह मंच है, जिससे होकर समस्त इच्छाएँ तथा योजनाएँ आती-जाती हैं।

अत: श्रील नरोत्तम दास ठाकुर गाते हैं—

गुरु मुख पद्मवाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य

आर न करिह मने आशा।

नरोत्तम दास ठाकुर सबों को गुरु के आदेशों का पालन करने का उपदेश देते हैं। मनुष्य को और कोई कामना नहीं करनी चाहिए। यदि गुरु द्वारा बताये गये विधि-विधानों का दृढ़तापूर्वक पालन हो तो मन कृष्ण की सेवा के अतिरिक्ति अन्य किसी प्रकार की इच्छा नहीं कर सकेगा। ऐसा प्रशिक्षण ही जीवन की सार्थकता है।

सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि ।
तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

सत्त्व-एक-निष्ठे—पूर्ण कृष्णचेतना में; मनसि—मन में; भगवत्—भगवान् के साथ; पार्श्व-वर्तिनि—लगातार साथ रहने से; तम:—अंध ग्रह; चन्द्रमसि—चन्द्रमा में; इव—सदृश; इदम्—यह दृश्य जगत; उपरज्य—सम्बन्धित होकर; अवभासते—प्रकट होता है।.

कृष्ण-चेतना का अर्थ है ऐसी मानसिक दशा में भगवान् के साथ निरन्तर साहचर्य जिससे कि भक्त इस दृश्य जगत् को वैसा ही देख सके जैसा कि भगवान् देख सकते हैं। ऐसा देख पाना सदैव सम्भव नहीं होता, लेकिन यह राहु नामक अंधग्रह के समान प्रकट होता है, जो पूर्ण चन्द्र होने पर ही देखा जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कहा गया है कि सारी इच्छाएँ एक-एक करके मन: पटल पर दृष्टिगोचर होती रहती हैं। किन्तु कभी-कभी भगवत्कृपा से इच्छाओं का सारा भण्डार एक ही बार में दृष्टिगोचर हो जाता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.५४) में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्।* जब मनुष्य कृष्णभक्ति में पूर्ण रूप से लीन होता है, तो भौतिक इच्छाओं का भण्डार न्यूनतम रहता है। दरअसल, ये इच्छाएँ स्थूल शरीर के रूप में प्रतिफलित नहीं होतीं, अपितु वे भगवान् कृपा से मन:पटल पर दृष्टिगोचर होती हैं।

इस प्रसंग में पूर्ण चन्द्र के समक्ष होने वाला अंधकार, जिसे चन्द्र-ग्रहण कहते हैं, राहु नामक एक अन्य ग्रह के रूप में होता है। वैदिक ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार यद्यपि राहु ग्रह अदृश्य है, किन्तु इसे ग्रह के रूप में स्वीकार किया जाता है। कभी-कभी यह ग्रह पूर्णमासी की रात्रि में दिखता है। तब यह ग्रह

चन्द्रमा की कक्षा के निकट विद्यमान प्रतीत होता है। आधुनिक चन्द्रयात्रियों की विफलता का कारण यही राहु ग्रह हो सकता है दूसरे शब्दों में जो लोग चन्द्रमा की यात्रा पर जाते हैं, वे सम्भवतः इस अदृश्य राहु ग्रह की यात्रा करते है। वे चन्द्रमा तक न जाकर राहु ग्रह पर पहुंच कर ही वापस चले आते हैं। इस संदर्भ के अतिरिक्त बात यह है कि जीव में भौतिक सुखभोग की अनन्त इच्छाएँ रहती हैं और उसे एक स्थूल शरीर से अन्य शरीर में तब तक देहान्तर करना पड़ता है जब तक उन इच्छाओं का अन्त नहीं हो जाता।

जब तक जीव कृष्णभक्ति स्वीकार नहीं करता, कोई भी जीव जन्म-मृत्यु के चक्र से बच नहीं पाता, अतः इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि कृष्णभक्ति में तल्लीन होने पर एक ही झटके में जीव भूत तथा भविष्य के मनोरथों से मुक्त हो जाता है (*सत्त्वैकनिष्ठे*)। तब भगवत् कृपा से सारी वस्तुएँ एकसाथ मन के भीतर प्रकट होती है। इस प्रसंग में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने माता यशोदा का उदाहरण दिया है जिन्हें भगवान् के मुख के भीतर सारा दृश्य जगत दिखा। भगवान् की ही कृपा से माता यशोदा को श्रीकृष्ण के मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्ड तथा लोक दिखलाई पड़े। इसी प्रकार कृष्णभक्त एकसाथ अपनी सुप्त इच्छाओं को देख सकता है और भावी देहान्तर से सदा के लिए मुक्ति पा सकता है। यह सुविधा विशेषतः भक्त को प्रदान की जाती है, जिससे भगवान् के धाम वापस जाने का रास्ता साफ हो जाये।

यहाँ पर इसकी व्याख्या की गई है कि जिन वस्तुओं का अनुभव हमें इस जीवन में नहीं होता, उन्हें भी हम क्यों देखते हैं। जो कुछ हम देखते हैं, वह स्थूल देह की भावी अभिव्यक्ति होती है या जो पहले से ही मनः-पटल पर संचित होता है। चूँकि कृष्णभक्त को भावी स्थूल देह धारण नहीं करनी पड़ती, अतः उसकी अंकित इच्छाओं की पूर्ति स्वप्न में हो जाती है। इसीलिए कभी-कभी हमें स्वप्न में ऐसी वस्तुएँ दिख जाती है जिनका हमारे वर्तमान जीवन में अनुभव नहीं हुआ रहता।

नाहं ममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते ।
यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो ह्यनादिमान् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; भावः—चेतना; अयम्—यह; पुरुषे—जीव में; व्यवधीयते—विलग रहता है; यावत्—जब तक; बुद्धि—बुद्धि; मनः—मन; अक्ष—इन्द्रियाँ; अर्थ—इन्द्रिय विषय; गुण—गुणों का; व्यूहः—प्राकट्य; हि—निश्चय ही; अनादि-मान्—सूक्ष्म शरीर (अनादि काल से विद्यमान)।

जब तक बुद्धि, मन, इन्द्रियों, विषयों तथा भौतिक गुणों के प्रतिफलों से बना हुआ सूक्ष्म भौतिक शरीर रहता है तब तक मिथ्या अहंकार और स्थूल शरीर भी रह जाते हैं।

तात्पर्य : मन, बुद्धि तथा अहंकार से निर्मित सूक्ष्म शरीर में इच्छाओं की पूर्ति क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर से बने स्थूल शरीर के बिना पूरी नहीं हो सकतीं। जब स्थूल भौतिक शरीर प्रकट नहीं होता तो जीव वस्तुत: गुणों के अनुसार कार्य नहीं कर सकता। इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया है कि मन तथा बुद्धि की सूक्ष्म क्रियाएँ जीव के सूक्ष्म शरीर के सुखों तथा दुखों के कारण चलती रहती हैं। भौतिक पहचान की चेतना (यथा मैं और मेरा) तब भी बनी रहती हैं, क्योंकि ऐसी चेतना अनादि काल से चली आ रही होती है। किन्तु यदि कोई कृष्णचेतना की समझ होने से आध्यात्मिक जगत में पहुँच जाता है, तो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कार्य तथा कारण आत्मा को नहीं सताते।

सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः ।
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

सुप्ति—प्रगाढ़ निद्रा में; मूर्च्छ—बेहोशी; उपतापेषु—या आघात पहुँचने पर; प्राण-अयन—प्राण वायु के संचरण का; विघाततः—रुकावट से; न—नहीं; ईहते—सोचता है; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; ज्ञानम्—ज्ञान; मृत्यु—मरते हुए; प्रज्वारयोः—या प्रखर ज्वर होने पर; अपि—भी।

जब जीव गाढ़ निद्रा, मूर्च्छा, किसी गंभीर क्षति से उत्पन्न गहन आघात, मृत्यु के समय या प्रखर ज्वर की अवस्था में रहता है, तो प्राण-वायु का संचरण रुक जाता है। उस समय जीव आत्मा से शरीर की पहचान करने का ज्ञान खो देता है।

तात्पर्य : मूर्ख लोग आत्मा के अस्तित्व को नकारते हैं, किन्तु यह एक तथ्य है कि जब हम सो जाते हैं, तो हमें भौतिक शरीर की सुधि (पहचान) नहीं रहती और जगने पर सूक्ष्म शरीर की सुधि जाती रहती है। दूसरे शब्दों में, सोते समय हम स्थूल शरीर के कार्यों को भूल जाते हैं और जब स्थूल शरीर कार्य करता रहता है, तो हम सुप्तावस्था के कार्य भूल जाते हैं। वास्तव में निद्रा तथा जागरण दोनों ही अवस्थाएँ माया की सृष्टियाँ हैं। जीव का न तो सुप्तावस्था के कार्यों से और न जाग्रत अवस्था के कार्यों से कोई सम्बन्ध रहता है। जब मनुष्य प्रगाढ़ निद्रा या मूर्छावस्था में होता है, तो उसे स्थूल

शरीर की सुधि नहीं रहती। इसी प्रकार क्लोरोफार्म या अन्य किसी निश्चेतक के प्रभाव से जीव स्थूल शरीर को भूल जाता है और शल्य चिकित्सा के समय उसे पीड़ा का अनुभव नहीं होता है। इसी प्रकार जब किसी महान् क्षति से मनुष्य को एकाएक आघात पहुँचता है, तो वह स्थूल शरीर की पहचान को भूल जाता है। मृत्यु के समय, जब शरीर का ताप १०७ डिग्री तक बढ़ जाता है, तो जीव मूर्छावस्था में चला जाता है और अपने स्थूल शरीर को पहचान नहीं पाता। ऐसी दशाओं में शरीर के भीतर संचरण करने वाली प्राण-वायु रुद्ध हो जाती है और मनुष्य स्थूल शरीर की पहचान भूल जाता है। आध्यात्मिक शरीर के प्रति अज्ञान के कारण हमें उसके कार्यों का पता नहीं चल पाता और अज्ञान के कारण हम एक मिथ्या स्तर से दूसरे में कूदते रहते हैं। हम कभी स्थूल शरीर के प्रति कार्य करते हैं, तो कभी सूक्ष्म शरीर के प्रति। यदि हम कृष्ण की कृपा से अपने आध्यात्मिक शरीर में कार्य करते हैं, तो स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों से पार निकल जाते हैं। दूसरे शब्दों में, हम धीरे-धीरे आध्यात्मिक शरीर के प्रति कार्य करने का अभ्यास कर सकते हैं। जैसाकि *नारद पञ्चरात्र* में कहा गया है—*हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते*—भक्ति का अर्थ आध्यात्मिक शरीर तथा आध्यात्मिक इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना है। जब हम ऐसे कर्म में लग जाते हैं, तो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कर्म तथा प्रतिफल रुक जाते हैं।

गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा ।
लिङ्गं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

गर्भे—गर्भ में; बाल्ये—बाल्यकाल में; अपि—भी; अपौष्कल्यात्—अविकसित होने के कारण; एकादश—दस इन्द्रियाँ तथा मन; विधम्—के रूप में; तदा—उस समय; लिङ्गम्—सूक्ष्म शरीर अथवा मिथ्या अहंकार; न—नहीं; दृश्यते—दिखाई पड़ता है; यूनः—तरुण का; कुह्वाम्—अमावस्या में; चन्द्रमसः—चन्द्रमा; यथा—जिस तरह।

जब मनुष्य तरुण होता है, तो दसों इन्द्रियाँ तथा मन पूरी तरह दिखाई पड़ते हैं, किन्तु माता के गर्भ या बाल्यकाल में इन्द्रियाँ तथा मन उसी तरह ढके रहते हैं जिस तरह अमावस्या की रात्रि के अंधकार से पूर्ण-चन्द्रमा ढका रहता है।

तात्पर्य : जब जीव गर्भ में रहता है, तो उसका स्थूल शरीर, दस इन्द्रियाँ तथा मन पूर्णतः विकसित नहीं होते। तब इन्द्रियों के विषय उसे विचलित नहीं कर पाते। किसी स्वप्न में एक तरुण व्यक्ति तरुणी को उपस्थित देख सकता है, क्योंकि तब इन्द्रियाँ सक्रिय होती हैं। किन्तु एक शिशु या बालक अपने

स्वप्नों में तरुणी को नहीं देखेगा। युवावस्था में, स्वप्न में भी इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं, अत: तरुणी के उपस्थित न होने पर भी इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं और वीर्य-स्खलन हो सकता है। सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों के कार्य इस बात पर निर्भर करते हैं कि परिस्थितियाँ कितनी विकसित हैं। यहाँ पर चन्द्रमा का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। अमावस्या की रात्रि में, यद्यपि पूर्ण चमकता हुआ चन्द्रमा उपस्थित रहता है, किन्तु परिस्थितियों के कारण वह उपस्थित नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार जीव की इन्द्रियाँ विद्यमान होती हैं, किन्तु वे तभी सक्रिय होती हैं जब स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर विकसित हो जाते हैं। जब तक स्थूल शरीर की इन्द्रियाँ विकसित नहीं हो जातीं तब तक वे सूक्ष्म शरीर पर कोई क्रिया नहीं करतीं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में इच्छाओं के अभाव के कारण स्थूल शरीर का विकास नहीं हो पाता।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

अर्थे—इन्द्रिय विषय; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—अनुपस्थिति में; अपि—यद्यपि; संसृति:—भौतिक संसार; न—कभी नहीं; निवर्तते—रुक जाता है; ध्यायत:—ध्यान करते हुए; विषयान्—इन्द्रिय विषयों के बारे में; अस्य—जीव का; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—अवांछित वस्तुओं का; आगम:—प्राकट्य; यथा—जिस प्रकार।

जब जीव स्वप्न देखता है, तो वास्तव में इन्द्रियविषय उपस्थित नहीं रहते। किन्तु इन्द्रियविषयों के साथ मनुष्य का सम्पर्क होने से वे प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार अविकसित इन्द्रियों वाले जीव का भौतिक रूप से अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता, भले ही वह इन्द्रियविषयों के सम्पर्क में न हो।

तात्पर्य : कभी-कभी कहा जाता है कि बच्चा अबोध (निर्दोष) है इसलिए वह पूर्ण रूप से शुद्ध है, किन्तु वास्तव में तथ्य यह नहीं है। कर्मों के प्रभाव, जो कि सूक्ष्म शरीर में सुरक्षित रहते हैं, तीन क्रमागत अवस्थाओं—बीज (मूल), *कूटस्थ* (इच्छा) तथा *फलोन्मुख* (फलने के निकट) में प्रकट होते हैं। प्रकट अवस्था *प्रारब्ध* (पहले से कार्यशील) कहलाती है। चेतन अथवा अचेतन अवस्था में सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर की क्रियाएँ भले ही प्रकट न हों, किन्तु ऐसी अवस्थाएँ मुक्त नहीं कही जा सकतीं। शिशु भले ही अबोध हो, किन्तु उसे मुक्तात्मा नहीं कहा जा सकता है। प्रत्येक वस्तु आरक्षित रहती है और यथासमय प्रकट होती है। सूक्ष्म शरीर में किसी प्रकार के प्राकट्य के अभाव में भी

इन्द्रियभोग के विषय कार्य कर सकते हैं। हमने ऊपर स्वप्नदोष का उल्लेख किया है, जिसमें भौतिक इन्द्रियाँ भौतिक पदार्थों के प्रकट न रहने पर भी कार्य करती हैं। भले ही सूक्ष्म शरीर में प्रकृति के तीनों गुण प्रकट न हों, किन्तु इनका दूषण (कल्मष) सुरक्षित रहता है और यथासमय प्रकट होता है। यदि सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की प्रतिक्रयाएँ नहीं भी प्रकट हों तो भी मनुष्य भौतिक परिस्थितियों से मुक्त नहीं हो पाता। इसलिए यह कहना गलत है कि शिशु मुक्तात्मा के समान निर्दोष होता है।

एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडश विस्तृतम् ।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते ॥ ७४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; पञ्च-विधम्—पाँच इन्द्रियविषयों; लिङ्गम्—सूक्ष्म शरीर; त्रि-वृत्—तीनों गुणों से प्रभावित; षोडश—सोलह; विस्तृतम्—फैला हुआ; एषः—यह; चेतनया—जीव के साथ; युक्तः—जुड़ा हुआ; जीवः—बद्धजीव; इति—इस प्रकार; अभिधीयते—माना जाता है।

पाँच इन्द्रिय विषय, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन—ये सोलह भौतिक विस्तार हैं। ये सब जीव के साथ संयोजित रहते हैं और प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा प्रभावित होते हैं। इस प्रकार बद्धजीव के अस्तित्व को समझा जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.७) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

''इस बद्ध जगत में सारे जीव मेरे ही शाश्वत भिन्न अंश हैं। बद्धजीव होने से वे मन समेत छ: इन्द्रियों के साथ कठिन संघर्ष करते रहते हैं।''

यहाँ इसकी भी व्याख्या हुई है कि जीव सोलह भौतिक तत्त्वों के सम्पर्क में आता है और प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित होता है। जीव तथा सोलह तत्त्वों का यह समुच्चय मिलकर *जीव-भूत* बनाते हैं, जो बद्धजीव है और प्रकृति के अन्तर्गत कठिन संघर्ष करता है। सबसे पहले समग्र जगत प्रकृति के तीनों गुणों से विक्षुब्ध होता है और वे जीव की जीवन-अवस्थाएँ बन जाते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर विकास करते रहते हैं और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इत्यादि अवयव स्वरूप रहते हैं। श्री मध्वाचार्य के अनुसार जब चेतना, जो हृदय की जीवनीशक्ति है, प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा विक्षुब्ध होती है तब जीव का सूक्ष्म शरीर भौतिक अवस्था में कार्य करने के लिए सम्भव होता है, जो

मन, इन्द्रिय पदार्थों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त होता है।

अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति ।
हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखं चानेन विन्दति ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ

अनेन—इस विधि से; पुरुषः—जीव; देहान्—स्थूल शरीरों को; उपादत्ते—प्राप्त करता है; विमुञ्चति—त्यागता है; हर्षम्—प्रसन्नता; शोकम्—शोक; भयम्—भय, डर; दुःखम्—दुख; सुखम्—सुख; च—भी; अनेन—स्थूल शरीर से; विन्दति—भोगता है।

सूक्ष्म शरीर की क्रियाओं से जीव स्थूल शरीरों को विकसित करता और त्यागता रहता है। यह आत्मा का देहान्तरण कहलाता है। इस प्रकार आत्मा विभिन्न प्रकार के हर्ष, शोक, भय, सुख तथा दुख का अनुभव करता है।

तात्पर्य : इस व्याख्या से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि मूलतः जीव का स्वरूप भगवान् के ही समान शुद्ध आध्यात्मिक था। किन्तु जब इस संसार में मन इन्द्रियतृप्ति की इच्छाओं से दूषित हो जाता है, तो वह भौतिक अवस्था में चला आता है और अपना भौतिक जीवन प्रारम्भ करता है, जिसका अर्थ है कि वह एक शरीर से दूसरे में जाता है और इस संसार में अधिकाधिक फँसता जाता है। कृष्णभावनामृत की विधि जिसमें मनुष्य सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है। वह दिव्य विधि है, जिससे मनुष्य अपनी मूल आध्यात्मिक स्थिति को लौट सकता है। भक्ति का अर्थ है श्रीकृष्ण का सदैव चिन्तन।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

"सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चय ही मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो" (*भगवद्गीता* १८.६५)।

मनुष्य को सदैव भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। जैसाकि अर्चना-मार्ग में संस्तुत है, मनुष्य को चाहिए कि मन्दिर में श्रीविग्रह की पूजा करे और गुरु तथा श्रीविग्रह को निरन्तर नमस्कार करे। ये विधियाँ उन लोगों के लिए हैं, जो वास्तव में भौतिक बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञानी मन की क्रियाओं—चिन्तन, अनुभव तथा कामना—का अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु वे

गहराई तक नहीं जा पाते। यह उनके ज्ञान के अभाव तथा किसी मुक्त आचार्य की संगति न होने के कारण है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (४.२) में कहा गया है—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

"इस प्रकार शिष्य-परम्परा द्वारा यह परम ज्ञान प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसे इस विधि से जाना, किन्तु कालक्रम में यह परम्परा खण्डित हो गई जिससे यह विज्ञान यथार्थ रूप में लुप्त हो गया प्रतीत होता है।" तथाकथित मनोविज्ञानियों एवं दार्शनिकों के पथ-प्रदर्शन में आधुनिक युग के लोग सूक्ष्म शरीर के कार्यों से अपरिचित हैं, अतः वे आत्मा के देहान्तर का अभिप्राय नहीं समझ पाते। ऐसे विषयों में हमें *भगवद्गीता* के (२.१३) प्रामाणिक कथनों को मानना चाहिए—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस प्रकार बद्धजीव को इस देह में क्रम से कौमार, यौवन तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी तरह मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूपसिद्ध धीर पुरुष इस परिवर्तन से सम्मोहित नहीं होता।" जब तक सारा मानव-समाज *भगवद्गीता* के इस महत्त्वपूर्ण श्लोक को नहीं समझ लेता, तब तक सभ्यता ज्ञान की ओर नहीं, अपितु अज्ञान की दिशा में बढ़ती जाएगी।

यथा तृणजलूकेयं नापयात्यपयाति च ।
न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः ॥ ७६ ॥
यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम् ।
मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम् ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; तृण-जलूका—एक प्रकार का कीट; इयम्—यह; न अपयाति—जाती नहीं है; अपयाति—जाती है; च—भी; न—नहीं; त्यजेत्—त्याग देता है; म्रियमाणः—मरणप्राय; अपि—भी; प्राक्—पूर्व; देह—शरीर के साथ; अभिमतिम्—पहचान; जनः—व्यक्ति; यावत्—जब तक; अन्यम्—दूसरा; न—नहीं; विन्देत—प्राप्त करता है; व्यवधानेन—रुकने से; कर्मणाम्—कर्मों का; मनः—मन; एव—निश्चय ही; मनुष्य-इन्द्र—हे पुरुषों के शासक; भूतानाम्—समस्त जीवों का; भव—संसार का; भावनम्—कारण।

इल्ली (कीट विशेष) एक पत्ती को छोड़ने के पहले दूसरी पत्ती को पकड़ कर एक से दूसरी

पत्ती में जाती है। इसी प्रकार जीव को अपना शरीर त्यागने के पूर्व अपने पूर्व कर्म के अनुसार अन्य शरीर को ग्रहण करना होता है। इसका कारण यह है कि मन सभी प्रकार की इच्छाओं का आगार (भण्डार) है।

तात्पर्य : भौतिक कार्य में अत्यधिक लिप्त जीव भौतिक शरीर के प्रति बहुत अधिक आसक्त रहता है। यहाँ तक कि मृत्यु के समय भी वह अपने शरीर के विषय में तथा अपने सम्बन्धियों के बारे में सोचता रहता है। इस प्रकार वह देहात्मबुद्धि में इतना लीन रहता है कि मृत्यु के क्षण तक भी अपने वर्तमान शरीर को छोड़ना नहीं चाहता। कभी-कभी कोई कोई व्यक्ति मृत्यु के पूर्व अनेक दिनों तक मूर्छावस्था में रहता है। यह विशेष रूप से उन तथाकथित राजनीतिज्ञों तथा नेताओं के साथ घटित होता है, जो यह सोचते हैं कि उनके बिना सारे देश तथा समाज में अराजकता फैल जाएगी। यही माया है। राजनीतिक नेता अपना राजनीतिक पद नहीं छोड़ना चाहते। उनका या तो किसी शत्रु के द्वारा वध कर दिया जाता है या फिर मृत्यु उन्हें मिटा देती है। उत्तम व्यवस्था द्वारा जीव को दूसरा शरीर प्रदान किया जाता है, किन्तु वर्तमान शरीर के प्रति आसक्ति के कारण वह दूसरे शरीर में नहीं जाना चाहता, अत: उसे प्राकृतिक नियमों के द्वारा दूसरा शरीर स्वीकार करने को बाध्य किया जाता है।

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।

अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥

"प्रकृति के तीन गुणों के अधीन मोहग्रस्त जीव अपने आपको उन समस्त कार्यों का कर्त्ता मान बैठता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं" (*भगवद्गीता* ३.२७)।

प्रकृति अत्यन्त प्रबल है और भौतिक गुण मनुष्य को दूसरा शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य कर देते हैं। यह शक्ति तब दिखती है जब जीव एक उत्तम शरीर से अधम शरीर में जाता है। जो मनुष्य इस शरीर में कुत्ते या सुअर जैसा आचरण करता है उसे अगले जीवन में कुत्ते या सुअर का शरीर धारण करना होगा। भले ही कोई प्रधान मंत्री या राष्ट्रपति के शरीर का भोग कर रहा हो, किन्तु जब उसे यह पता चल जाता है कि उसे कुत्ते या सुअर का शरीर धारण करना पड़ेगा तो वह वर्तमान शरीर को त्यागना नहीं चाहता। अत: वह मृत्यु के पूर्व अनेक दिनों तक मूर्छा में पड़ा रहता है। अनेक राजनेताओं की मृत्यु के समय ऐसा देखा गया है। निष्कर्ष यह है कि अगला शरीर परम नियन्ता द्वारा पहले से ही

निश्चित कर दिया जाता है। जीव तुरन्त ही वर्तमान शरीर को छोड़ कर दूसरे में प्रवेश कर जाता है। कभी-कभी जीव अनुभव करता है कि वर्तमान शरीर की उसकी अनेक इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाईं। जो अपने जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं उन्हें प्रेत शरीर में रहना पड़ता है और दूसरा स्थूल शरीर धारण करने को नहीं मिलता। यहाँ तक कि प्रेत शरीर में भी वे अपने पड़ोसियों तथा सम्बन्धियों को तंग करते रहते हैं। ऐसी स्थिति का मुख्य कारण मन है। मन के ही अनुसार विभिन्न प्रकार के शरीर उत्पन्न होते हैं और जीव को उन्हें ग्रहण करना पड़ता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.६) में हुई है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

"शरीर छोड़ते समय मनुष्य जैसी अवस्था का स्मरण करता है उसे वह निश्चित रूप से वही प्राप्त करता है।" अपने शरीर तथा मन में मनुष्य चाहे कुत्ते की तरह या ईश्वर की तरह सोच सकता है और उसे अगला जीवन उसी के अनुसार मिलता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (१३.२२) में की गई है—

पुरुष: प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

"प्रकृति में स्थित जीवात्मा प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों का भोग करते हुए जीवन शैली अपनाता है। गुणों का यही संग जीवात्मा के उत्तम-अधम योनियों में जन्म का कारण है।" जीव भौतिक गुणों के संग के अनुसार ही उत्तम या अधम शरीर में देहान्तर करता है। यदि वह तमोगुण का साथ करता है, तो उसे पशु या अधम व्यक्ति का शरीर प्राप्त होता है, किन्तु यदि वह सतो या रजोगुण का साथ करता है, तो उसे तदनुसार शरीर प्राप्त होता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.१८) में भी हुई है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा: ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा: ॥

"जो लोग सतोगुणी हैं, वे क्रमश: उच्चलोकों को जाते हैं, जो रजोगुणी हैं, वे पृथ्वी लोक पर रह पाते हैं, किन्तु जो तमोगुणी हैं, उनका नरकलोकों को अधोपतन होता हैं।"

संगति का मूल कारण मन है। यह महान् कृष्णभावनामृत-आन्दोलन मानव-समाज के लिए वरदान है, क्योंकि भक्ति के द्वारा यह सबों को कृष्ण के विषय में निरन्तर चिन्तन करने की शिक्षा देता

है। इस प्रकार जीवन के अन्त में मनुष्य कृष्ण की संगति को प्राप्त होता है। यह *नित्य लीला प्रविष्ट* अर्थात् गोलोक वृन्दावन में प्रवेश कहलाता है। *भगवद्गीता* (१८.५५) का कथन है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत: ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

''केवल भक्ति के द्वारा भगवान् के सही रूप को समझा जा सकता है। जब कोई ऐसी भक्ति से परमेश्वर का पूर्ण बोध प्राप्त कर लेता है, तो वह भगवान् के धाम में प्रविष्ट हो सकता है।'' कृष्णभक्ति में मन के पूर्ण रूप से लीन होने पर मनुष्य गोलोक वृन्दावन नामक लोक में प्रवेश कर सकता है। भगवान् की संगति को प्राप्त करने के लिए कृष्ण को समझना आवश्यक है। कृष्ण को समझने की विधि भक्ति कहलाती है।

कृष्ण के स्वरूप को समझ लेने पर मनुष्य कृष्णलोक में प्रवेश करने और उनकी संगति करने का पात्र बन जाता है। ऐसे प्रतिष्ठित पद का कारण मन है। मन से ही मनुष्य को कुत्तों तथा सुअरों जैसे शरीर प्राप्त हो सकते हैं। अत: मन को कृष्णभक्ति में लीन रखना मानव जीवन की महानतम सिद्धि है।

यदाक्षैश्चरितान्ध्यायन्कर्माण्याचिनुतेऽसकृत् ।
सति कर्मण्यविद्यायां बन्ध: कर्मण्यनात्मन: ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अक्षै:—इन्द्रियों द्वारा; चरितान्—भोगे गये सुख; ध्यायन्—चिन्तन करते हुए; कर्माणि—कर्म; आचिनुते—करता है; असकृत्—सदैव; सति कर्मणि—जब भौतिक व्यापार होते रहते हैं; अविद्यायाम्—मोहवश; बन्ध:—बन्धन; कर्मणि—कर्म में; अनात्मन:—भौतिक शरीर का।

जब तक हम इन्द्रियसुखों का भोग करना चाहते हैं तब तक हम भौतिक कार्यों की सृष्टि करते रहते हैं। जब जीव भौतिक क्षेत्र में कर्म करता है, तो वह इन्द्रियों को भोगता है और ऐसा करने से वह भौतिक कर्मों की एक और शृंखला को जन्म देता है। इस प्रकार जीवात्मा बद्ध आत्मा के रूप में जकड़ जाता है।

तात्पर्य : सूक्ष्म शरीर में रहते हुए हम इन्द्रियतृप्ति के हेतु अनेक योजनाएँ बनाते हैं। ये सारी योजनाएँ मन में बीज रूप में अंकित होती रहती हैं। बद्ध जीवन में जीव एक के बाद एक अनेक शरीरों की शृंखला को जन्म देता है। यह कर्म-बन्धन कहलाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:*—यदि हम विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ही

कर्म करते हैं, तो भौतिक कर्म के कारण बन्धन नहीं होता, किन्तु यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम एक-एक करके भौतिक कर्मों में बँधते जाते हैं। ऐसी दशा में यह मान लेना होगा कि चिन्तन, अनुभव तथा इच्छा से हम भावी भौतिक शरीरों की सृष्टि करते रहते हैं। भक्तिविनोद ठाकुर के शब्दों में— *अनादि कर्म फले, पडि'भवार्णव जले*। जीव अपने पुराने भौतिक कर्मों के कारण कर्मबन्धन के सागर में गिर जाता है। इस तरह भौतिक कर्म के समुद्र में गोता लगाने की बजाय हमें केवल जीवन निर्वाह के लिए भौतिक कर्म करना चाहिए। शेष समय भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगाना चाहिए। इस प्रकार कर्म के फल से उबरा जा सकता है।

अतस्तदपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम् ।
पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; तत्—उस; अपवाद-अर्थम्—छुटकारा पाने के लिए; भज—भक्ति में लगो; सर्व-आत्मना—अपनी सारी इन्द्रियों सहित; हरिम्—भगवान् को; पश्यन्—देखते हुए; तत्—भगवान् का; आत्मकम्—वश में; विश्वम्—दृश्य जगत; स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृष्टि; अप्यया:—तथा संहार; यतः—जिससे।

तुम्हें यह सदैव जानना चाहिए कि भगवान् की इच्छा से ही इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार होता है। फलतः इस दृश्य जगत के अन्तर्गत सारी वस्तुएँ भगवान् के अधीन हैं। इस पूर्ण ज्ञान से प्रकाश प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सदैव भगवद्भक्ति में लगे रहना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक अवस्था में आत्म-साक्षात्कार अथवा अपने को ब्रह्म या आत्मा मानना अत्यन्त कठिन है। किन्तु यदि हम भगवद्भक्ति अपना लेते हैं, तो भगवान् शनै-शनै स्वयं को प्रकट करते हैं। इस प्रकार प्रगतिशील भक्त को धीरे-धीरे अपनी आध्यात्मिक स्थिति का पता चल जाता है। हम रात्रि के अंधकार में कुछ भी नहीं देख सकते, यहाँ तक कि स्वयं को भी नहीं देख पाते, किन्तु जब धूप रहती है, तो हम न केवल सूर्य को अपितु इस संसार की सारी वस्तुओं को भी देखते हैं। *भगवद्गीता* (७.१) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

"हे पार्थ! अब सुनो कि किस प्रकार मेरी पूर्ण चेतना में मन को मुझमें लगाकर योग का अभ्यास

करने से तुम मुझे पूरी तरह संशय-रहित हो कर जान सकते हो, इसमें कोई संशय नहीं है।"

जब हम कृष्णभावनाभावित होने के उद्देश्य से अपने आपको भगवद्भक्ति में लगाते हैं, तो हम न केवल कृष्ण को अपितु उनसे सम्बन्धित प्रत्येक बात को समझ लेते हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्णचेतना द्वारा न केवल कृष्ण तथा दृश्य जगत को अपितु अपनी स्वाभाविक स्थिति को भी समझा जा सकता है। कृष्णचेतना में रहकर हम यह समझ सकते हैं इस सृष्टि की उत्पत्ति, इसका पालन तथा इसका संहार भगवान् के द्वारा होता है। हम भी भगवान् के भिन्नांश हैं। उन्हीं के नियंत्रण में सारी वस्तुएँ हैं, अत: हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि हम परमेश्वर की शरण में जाँय और उनकी दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा में लग जाँय।

मैत्रेय उवाच
भागवतमुख्यो भगवान्नारदो हंसयोर्गतिम् ।
प्रदर्श्य ह्यमुमामन्त्र्य सिद्धलोकं ततोऽगमत् ॥ ८० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; भागवत—भक्तों का; मुख्य:—प्रमुख; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; नारद:—नारद मुनि; हंसयो:—जीव तथा भगवान् की; गतिम्—स्वाभाविक स्थिति; प्रदर्श्य—दिखला कर; हि—निश्चय ही; अमुम्—उस (राजा) को; आमन्त्र्य—बुलाकर; सिद्ध-लोकम्—सिद्ध लोक को; तत:—तत्पश्चात्; अगमत्—चला गया।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : महान् सन्त तथा परम भक्त नारद ने इस प्रकार राजा प्राचीनबर्हि के समक्ष भगवान् तथा जीव की स्वाभाविक स्थिति की व्याख्या प्रस्तुत की। राजा को आमंत्रित करते हुए नारद मुनि सिद्धलोक को वापस चले गये।

तात्पर्य : सिद्धलोक तथा ब्रह्मलोक एक ही लोक-मंडल के भीतर हैं। ब्रह्मलोक इस ब्रह्माण्ड में सबसे ऊपर स्थित लोक समझा है और सिद्धलोक इसका उपग्रह है। सिद्धलोक के सभी निवासी योगशक्ति से सम्पन्न होते हैं। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि नारद मुनि सिद्धलोक के वासी हैं, यद्यपि वे सभी लोकों में विचरण करते रहते हैं। सिद्धलोक के सभी निवासी अन्तरिक्ष-पुरुष हैं और वे बिना किसी यंत्र के अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते हैं। सिद्धलोक के वासी मात्र अपनी योगिक सिद्धि के बल पर एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा कर सकते हैं। राजा प्राचीनबर्हि को उपदेश देने के बाद नारद मुनि सिद्धलोक को चले गये और राजा को सिद्धलोक का आमंत्रण देते गये।

प्राचीनबर्ही राजर्षिः प्रजासर्गाभिरक्षणे ।
आदिश्य पुत्रानगमत्तपसे कपिलाश्रमम् ॥ ८१ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिः—राजा प्राचीनबर्हि; राज-ऋषिः—साधु राजा; प्रजा-सर्ग—नागरिकों का समूह; अभिरक्षणे—रक्षा करने के लिए; आदिश्य—आदेश देकर; पुत्रान्—अपने पुत्रों को; अगमत्—प्रस्थान किया; तपसे—तपस्या करने के लिए; कपिल-आश्रमम्—कपिलाश्रम नामक तीर्थ स्थल को।

अपने मंत्रियों की उपस्थिति में राजर्षि प्राचीनबर्हि ने अपने पुत्रों को नागरिकों की रक्षा करने के लिए आदेश छोड़ा। तब उन्होंने घर छोड़ दिया और तपस्या हेतु कपिलाश्रम नामक तीर्थस्थान के लिए प्रस्थान किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रजासर्ग* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब राजर्षि प्राचीनबर्हि को नारद मुनि ने गृहत्याग करने तथा भगवद्भक्ति करने की दीक्षा दी तब तक उसके पुत्र जल में तपस्या करके नहीं लौटे थे। किन्तु उसने उनके वापस आने की प्रतीक्षा नहीं की, अपितु यह संदेश देते गये कि वे प्रजा की रक्षा करें। वीर राघव आचार्य के अनुसार ऐसी रक्षा का अर्थ है प्रजा को चार वर्णों तथा चार आश्रमों के विशिष्ट विभागों में गठित करना। राजाओं का उत्तरदायित्व होता था कि वे यह देखें कि प्रजा चारों वर्णों (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा चारों आश्रमों (अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के धर्मों का पालन कर रही है। इस वर्णाश्रम धर्म को सुगठित किये बिना किसी राज्य में प्रजा पर शासन चलाना अत्यन्त कठिन है। मात्र विधान सभा में प्रत्येक वर्ष अधिनियम बना कर राज्य में प्रजा पर शासन करना तथा उन्हें पूर्ण शान्ति में रखना सम्भव नहीं है। अच्छी सरकार के लिए वर्णाश्रम धर्म अत्यावश्यक है। मनुष्य के एक वर्ग (ब्राह्मणों) को बुद्धिमान तथा ब्राह्मण के रूप में योग्य होना चाहिए, दूसरे वर्ग (क्षत्रिय) को प्रशासन में प्रशिक्षित होना चाहिए, अन्य वर्ग को व्यापार में (वैश्य) और इससे भी अवर वर्ग (शूद्र) को श्रम में प्रशिक्षित होना चाहिए। मनुष्यों के ये चारों वर्ग प्रकृति के अनुसार पहले से हैं, किन्तु सरकार का कर्तव्य होता है कि वह देखे कि ये चारों वर्ग अपने-अपने वर्ण का नियमपूर्वक पालन करें। यह अभिरक्षण कहलाता है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब नारद के उपदेश से महाराज प्राचीनबर्हि जीवन के उद्देश्य के प्रति आश्वस्त हो गया तो उसने अपने पुत्रों के लौटने की क्षणमात्र भी प्रतीक्षा नहीं की, वरन् तुरन्त ही प्रस्थान कर दिया। उसे अपने पुत्रों के लौटने पर अनेक कार्य करने थे, किन्तु उसने उनके लिए केवल सन्देश छोड़ा। उसने जान लिया था कि यह उसका मुख्य कर्तव्य था। उसने अपने पुत्रों के लिए केवल

सन्देश छोड़ा और वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए घर छोड़ कर चला गया। यही वैदिक सभ्यता की विधि है।

श्रीधर स्वामी का कथन है कि कपिलाश्रम गंगा नदी तथा बंगाल की खाड़ी के संगम पर स्थित है, जिसे अब गंगासागर कहा जाता है। आज भी यह स्थान तीर्थयात्रा के लिए प्रसिद्ध है और मकर संक्रान्ति के दिन प्रतिवर्ष लाखों लोग यहाँ एकत्र होकर स्नान करते हैं। इसका नाम कपिलाश्रम इसलिए है क्योंकि यहाँ पर भगवान् कपिल ने रहकर तपस्या की थी। उन्होंने सांख्य दर्शन का प्रवर्तन किया।

तत्रैकाग्रमना धीरो गोविन्दचरणाम्बुजम् ।
विमुक्तसङ्गोऽनुभजन्भक्त्या तत्साम्यतामगात् ॥ ८२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; एक-अग्र-मनाः—पूर्ण मनोयोग से; धीरः—गम्भीर; गोविन्द—कृष्ण के; चरण-अम्बुजम्—चरणकमलों की; विमुक्त—मुक्त होकर; सङ्गः—भौतिक संगति; अनुभजन्—लगातार भक्ति में लगकर; भक्त्या—शुद्ध भक्ति से; तत्—भगवान् के साथ; साम्यताम्—समता; अगात्—प्राप्त किया।

कपिलाश्रम में तपस्या करके राजा प्राचीनबर्हि ने समस्त भौतिक उपाधियों से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ली। वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहा और गुणात्मक दृष्टि से भगवान् के ही समान आध्यात्मिक पद पर पहुँच गया।

तात्पर्य : *तत् साम्यताम् अगात्* पद का विशेष महत्त्व है। राजा ने भगवान् के ही समान पद प्राप्त कर लिया। निश्चित रूप से इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् सदैव पुरुष होता है। अपने निराकार रूप में वह अपने दिव्य शरीर की किरणों के समान होता है। जब जीव आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तो उसे भी सच्चिदानन्द-विग्रह जैसा शरीर मिल जाता है। यह आध्यात्मिक शरीर कभी भी भौतिक तत्त्वों के साथ नहीं मिलता। बद्ध जीवन में यद्यपि वह भौतिक तत्त्वों (यथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार) से घिरा रहता है, किन्तु वह उनसे सदा पृथक् भी बना रहता है। अन्य शब्दों में, जीव किसी भी समय भौतिक स्थिति से मुक्त हो सकता है, बशर्ते कि वह वैसा होना चाहे। यह भौतिक परिवेश माया कहलाता है। कृष्ण के अनुसार (*भगवद्गीता* ७. १४)—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

“मेरी यह दैवी शक्ति अर्थात् त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं,

वे सुगमतापूर्वक इसे तर जाते हैं।''

ज्योंही जीव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है, वह तुरन्त ही समस्त भौतिक स्थितियों से मुक्ति पा लेता है (*स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। जीव भौतिक स्थिति में जीवभूत पद पर रहता है, किन्तु जब वह भगवान् की भक्ति करता है, तो वह ब्रह्मभूत पद को प्राप्त होता है। ब्रह्मभूत पद पर जीव भौतिक बन्धन से छूट जाता है और भगवान् की सेवा में लग जाता है। इस श्लोक में आगत धीर शब्द को कभी-कभी *वीर* पढ़ा जाता है। वास्तव में इन दोनों में बहुत कम अन्तर है। *धीर* का अर्थ है ''गम्भीर'' और *वीर* का अर्थ है ''बहादुर।'' जो माया से संघर्ष करता है, वह वीर (बहादुर) है और जो अपनी स्थिति को समझने में अत्यन्त गम्भीर होता है, वह धीर है। बिना धीर अथवा वीर बने वह आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणानघ ।
यः श्रावयेद्यः शृणुयात्स लिङ्गेन विमुच्यते ॥ ८३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; अध्यात्म—आध्यात्मिक; पारोक्ष्यम्—प्रामाणिक विवरण; गीतम्—वर्णन किये गये; देव-ऋषिणा—देवर्षि नारद के द्वारा; अनघ—हे निष्पाप विदुर; यः—जो; श्रावयेत्—वर्णन कर सकता है; यः—जो; शृणुयात्—सुन सकता है; सः—वह; लिङ्गेन—देहात्मबुद्धि से; विमुच्यते—छूट जाता है।

हे विदुर, जो कोई जीव के आध्यात्मिक अस्तित्व को समझने से सम्बद्ध, नारद द्वारा कहे गये इस आख्यान को सुनता है या ऐसे अन्यों को सुनाता है, वह देहात्मबुद्धि की अवधारणा से मुक्त हो जाएगा मुक्त हो जाएगा।

तात्पर्य : यह भौतिक सृष्टि आत्मा का स्वप्न है। वस्तुतः इस भौतिक जगत का संपूर्ण अस्तित्व महाविष्णु का स्वप्न है, जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में वर्णन मिलता है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः ।

यह जगत महाविष्णु की स्वप्नावस्था द्वारा उत्पन्न हुआ। वास्तविक मंच तो आध्यात्मिक जगत है, किन्तु जब आत्मा परमात्मा का अनुकरण करना चाहता है, तो वह उस स्वप्न-जगत में भेज दिया जाता है। प्रकृति के भौतिक गुणों के संपर्क में आने के पश्चात, जीव सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों को विकसित करता है। जीव को जब श्रीनारद महामुनि या उनके दासों की संगति करने का सुअवसर मिलता है, तो

वह भौतिक सृष्टि के स्वप्न लोक तथा देहात्मबुद्धि से मुक्त हो जाता है।

एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं
देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् ।
यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं
नास्मिन्भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः ॥ ८४॥

शब्दार्थ

एतत्—यह आख्यान; मुकुन्द-यशसा—भगवान् कृष्ण की ख्याति से; भुवनम्—यह भौतिक जगत; पुनानम्—पवित्र करने वाला; देव-ऋषि—ऋषियों के; वर्य—प्रमुख; मुख—मुख से; निःसृतम्—निकला हुआ; आत्म-शौचम्—हृदय को पवित्र करने वाला; यः—जो कोई; कीर्त्यमानम्—कीर्तन किया गया; अधिगच्छति—वापस जाता है; पारमेष्ठ्यम्—आध्यात्मिक जगत को; न—कभी नहीं; अस्मिन्—इसमें; भवे—भौतिक जगत में; भ्रमति—घूमता है; मुक्त—मुक्त होकर; समस्त—सभी; बन्धः—बन्धनों से।

नारद मुनि द्वारा उद्बोधित यह आख्यान (कथा) भगवान् की दिव्य ख्याति से पूर्ण है। अतः जब इस आख्यान का वर्णन किया जाता है, तो वह इस भौतिक जगत को पवित्र कर देता है। वह जीव के हृदय को पवित्र करता है और उसे आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त करने में सहायक होता है। जो कोई इस दिव्य आख्यान को सुनाता है, वह समस्त भौतिक बन्धनों से मुक्त हो जाएगा और उसे इस भौतिक जगत में भटकना नहीं पड़ेगा।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक संख्या ७९ में इंगित किया जा चुका है, नारद मुनि ने अनुष्ठानों एवं कर्मों को सम्पन्न करने में समय न गँवाकर राजा प्राचीनबर्हि को भक्ति करने का उपदेश दिया। इस अध्याय में सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों के सजीव वर्णन अत्यन्त वैज्ञानिक हैं और नारद मुनि द्वारा व्याख्यायित किये जाने के कारण अत्यन्त प्रामाणिक हैं। ये आख्यान भगवान् की महिमा से पूर्ण होने के कारण मन की शुद्धि के लिए अत्यन्त सशक्त साधन हैं। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है—*चेतो दर्पणमार्जनम्।* जितना ही हम कृष्ण के विषय में बोलते, सुनते या उपदेश देते हैं उतना ही हम शुद्ध होते जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें भ्रान्तियुक्त स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर धारण न करके अपनी आध्यात्मिक पहचान ग्रहण करनी होती है। जो इस आध्यात्मिक ज्ञान को समझने का प्रयास करता है, वह इस अज्ञान-सागर से उबर आता है। इस प्रसंग में *पारमेष्ठ्यम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *पारमेष्ठ्यम्* को ब्रह्मलोक भी कहते हैं, जहाँ ब्रह्मा निवास करता है। ब्रह्मलोक के वासी सदैव ऐसे आख्यानों की चर्चा करते हैं जिससे इस संसार के संहार के बाद वे सीधे वैकुण्ठलोक को जा सकें। जो वैकुण्ठलोक

को चला जाता है उसे इस संसार में इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। कभी-कभी आध्यात्मिक कार्य भी *पारमेष्ठ्यम्* कहलाते हैं।

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाधिगतमद्भुतम् ।
एवं स्त्रियाश्रमः पुंसश्छिन्नोऽमुत्र च संशयः ॥ ८५ ॥

शब्दार्थ

अध्यात्म—आध्यात्मिक; पारोक्ष्यम्—अधिकारी द्वारा वर्णित; इदम्—यह; मया—मेरे द्वारा; अधिगतम्—सुना हुआ; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; एवम्—इस प्रकार; स्त्रिया—स्त्री के साथ; आश्रमः—शरण; पुंसः—जीव का; छिन्नः—मिट जाता है; अमुत्र—अगले जन्म के विषय में; च—भी; संशयः—सन्देह।

यहाँ पर अधिकार पूर्वक वर्णित राजा पुरञ्जन का रूपक मैंने अपने गुरु से सुना था। यह अध्यात्मिक ज्ञान से पूर्ण है। यदि कोई इस रूपक के उद्देश्य को समझ ले तो वह निश्चय ही देहात्मबुद्धि से छुटकारा पा जाएगा और मृत्यु के पश्चात् जीवन को ठीक से समझ सकेगा। यदि वह आत्मा के देहान्तर को ठीक से न समझ पाये तो वह इस आख्यान को पढ़कर उसे अच्छी तरह समझ सकता है।

तात्पर्य : *स्त्रिया* शब्द, जिसका अर्थ ''पत्नी के साथ'' है, महत्त्वपूर्ण है। साथ-साथ रहने वाले स्त्री तथा पुरुष ही इस संसार के सार-समाहार हैं। स्त्री तथा पुरुष के मध्य अत्यन्त प्रबल आकर्षण होता है। सभी योनियों में नर तथा मादा के मध्य पाया जाने वाला आकर्षण उनके अस्तित्व का आधारभूत सिद्धान्त है। पारम्पारिक मेल-जोल का यह सिद्धान्त मानव-समाज पर भी लागू होता है, किन्तु यह नियमित होता है। संसार का अर्थ है नर तथा मादा का एकसाथ रहना तथा एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होना। किन्तु आध्यात्मिक जीवन को भली-भाँति जान लेने पर विपरीत लिंग के लिए आकर्षण पूरी तरह समाप्त हो जाता है। ऐसे आकर्षण से ही मनुष्य इस भौतिक जगत में अत्यधिक आसक्त रहता है। यह हृदय के भीतर की कठोर ग्रन्थि है।

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै
र्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति ॥

(*भागवत* ५.५.८)

प्रत्येक व्यक्ति इस जगत में इन्द्रियतृप्ति के प्रति आसक्त होकर आता है और इन्द्रियतृप्ति की कठोर ग्रन्थि नर तथा मादा के मध्य आकर्षण है। इस आकर्षण से मनुष्य *गृहक्षेत्रसुताप्तवित्त*—अर्थात् घर, भूमि, सन्तान, मित्र, धन इत्यादि के रूप में अत्यधिक आसक्त रहता है। इस प्रकार मनुष्य "मैं" तथा "मेरा" की देहात्मबुद्धि में फँस जाता है। किन्तु यदि वह राजा पुरञ्जन की कथा को समझता है और यह भी समझता है कि किस प्रकार कामवासना के कारण वह अगले जन्म में स्त्री बना तो मनुष्य को देहान्तर की क्रिया भी समझ में आ जायेगी।

विशेष टिप्पणी :

मध्वाचार्य सम्प्रदाय के श्रीविजयध्वज तीर्थ के अनुसार निम्नलिखित श्लोकों में से प्रथम दो श्लोक इस अध्याय के ४५ वें श्लोक के बाद आते हैं और शेष दो श्लोक ७९ वें श्लोक के बाद आते है।

सर्वेषामेव जन्तूनां सततं देहपोषणे।
अस्ति प्रज्ञा समायत्ता को विशेषस्तदा नृणाम्॥१अ॥
लब्ध्वेहान्ते मनुष्यत्वं हित्वा देहाद्यसद्ग्रहम्।
आत्मसृत्या विहायेदं जीवात्मा स विशिष्यते॥२अ॥

सर्वेषाम्—सभी; एव—निश्चय ही; जन्तूनाम्—पशुओं का; सततम्—सदैव; देह-पोषणे—शरीर के पालन के लिए; अस्ति—है; प्रज्ञा—बुद्धि; समायत्ता—आधारित; कः—क्या; विशेषः—अन्तर; तदा—तब; नृणाम्—मनुष्यों का; लब्ध्वा—प्राप्त करके; इह—यहाँ; अन्ते—अनेक जन्मों के अन्त में; मनुष्यत्वम्—मनुष्य जीवन; हित्वा—त्याग कर; देह-आदि—स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर में; असत्-ग्रहम्—गलत जीवन का बोध; आत्म—आध्यात्मिक ज्ञान के; सृत्या—पथ के द्वारा; विहाय—त्याग कर; इदम्—यह शरीर; जीव-आत्मा—आत्मा; सः—वह; विशिष्यते—प्रमुख बन जाता है।

शरीर, स्त्री तथा बच्चों को पालने की इच्छा पशु समाज में भी देखी जाती है। पशुओं में ऐसे व्यापारों की व्यवस्था करते रहने की पूरी बुद्धि होती है। यदि मनुष्य केवल इसी बात में उन्नत हो तो फिर उसमें तथा पशु में क्या अन्तर है? मनुष्य को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि विकास प्रक्रम में अनेकानेक जन्मों के पश्चात् यह मानव जीवन प्राप्त होता है। जो बुद्धिमान मनुष्य स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर की देहात्मबुद्धि को त्याग देता है, वह आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश से परमेश्वर के ही समान प्रधान आत्मा बन जाएगा।

तात्पर्य : कहा जाता है कि मनुष्य तर्कशील पशु है, किन्तु इस श्लोक से हम यह भी समझ सकते हैं कि पशु जीवन में भी तर्कशक्ति पाई जाती है। जब तक तर्कशक्ति न हो, पशु किस प्रकार कठिन श्रम करके अपना शरीर-पालन कर सकता है? यह कहना कि पशु तर्कशील नहीं है असत्य है; हाँ उनकी

तर्कशीलता उन्नत नहीं होती। हम किसी तरह से उनकी तर्कशीलता से इनकार नहीं कर सकते। बात यह है कि मनुष्य को भगवान् को समझने के लिए तर्कशक्ति का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि यही मानव जीवन की पूर्णता है।

भक्तिः कृष्णे दया जीवेष्वकुण्ठज्ञानमात्मनि।
यदि स्यादात्मनो भूयादपवर्गस्तु संसृतेः ॥१आ॥

भक्तिः—भक्ति; कृष्णे—कृष्ण में; दया—दया; जीवेषु—अन्य जीवों पर; अकुण्ठ-ज्ञानम्—पूर्ण ज्ञान; आत्मनि—आत्मा का; यदि—यदि; स्यात्—हो; आत्मनः—आत्मा का; भूयात्—हो; अपवर्गः—मोक्ष; तु—तब; संसृतेः—भौतिक जीवन के बन्धन से।

यदि जीव का विकास कृष्णभक्ति में होता है और वह अन्यों पर दयालु होता है, यदि उसका आत्म-साक्षात्कार का आध्यात्मिक ज्ञान पूर्ण होता है, तो उसे संसार के बन्धन से अविलम्ब मोक्ष प्राप्त हो जाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *दया जीवेषु* का अर्थ है ''अन्य जीवों के प्रति दया'' जिससे सूचित होता है कि यदि जीव आत्म-साक्षात्कार में प्रगति करने का इच्छुक है, तो उसे अन्य जीवों के प्रति दयालु होना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि उसे अपने आप पूर्ण बनकर तथा कृष्ण के चिर दास के रूप में अपनी स्थिति को समझने के बाद इस ज्ञान का उपदेश करना चाहिए। इसका उपदेश करना ही जीवों के प्रति वास्तविक दया दिखाना है। अन्य प्रकार के मानव-कल्याणकारी कार्य शरीर के लिए क्षणिक लाभप्रद हो सकते हैं, किन्तु जीव के आत्मा होने से मनुष्य वास्तविक दया तभी दिखा सकता है जब वह उसे आध्यात्मिक स्थिति का ज्ञान करा दे। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*जीवेर ''स्वरूप'' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*—प्रत्येक जीव स्वाभाविक रूप से कृष्ण का दास है। मनुष्य को इसका अनुभव करना चाहिए और जनसमूह में इसका उपदेश देना चाहिए। यदि कोई यह अनुभव कर लेता है कि वह कृष्ण का नित्य दास है, किन्तु इसका उपदेश नहीं देता तो उसका साक्षात्कार अधूरा है। अतः श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर गाते हैं—*दुष्ट मन, तुमि किसेर वैष्णव? प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे, तवहरिनाम केवल कैतव*—हे मेरे मन! तुम कैसे वैष्णव हो? तुम झूठी प्रतिष्ठा तथा भौतिक ख्याति के लिए एकान्त स्थान में हरे कृष्ण मंत्र का जप कर रहे हो। इस प्रकार जो लोग उपदेश नहीं देते उनकी आलोचना की जाती है। वृन्दावन में ऐसे अनेक वैष्णव हैं, जो उपदेश करना पसन्द नहीं करते। वे

हरिदास ठाकुर की नकल करते हैं। एकान्त स्थान में उनके तथाकथित जप का वास्तविक फल यह होता है कि वे सोते हैं और स्त्री तथा धन का चिन्तन करते हैं। इसी प्रकार जो मन्दिर में पूजा करता है और जनसमूह के हितों को नहीं देखता अथवा भक्तों को नहीं पहचानता वह कनिष्ठ अधिकारी कहलाता है—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।

न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

(भागवत ११.२.४७)

अदृष्टं दृष्टवन्नङ्क्षेद् भूतं स्वप्नवदन्यथा।
भूतं भवद्भविष्यच्च सुप्तं सर्वरहोरहः॥२आ॥

अदृष्टम्—भावी सुख; दृष्ट-वत्—प्रत्यक्ष अनुभव की तरह; नङ्क्षेत्—परास्त हो जाता है; भूतम्—भौतिक संसार; स्वप्नवत्—स्वप्न की तरह; अन्यथा—नहीं तो; भूतम्—गत, भूतकाल में घटित; भवत्—वर्तमान; भविष्यत्—भविष्य; च—भी; सुप्तम्—स्वप्न; सर्व—सबों का; रहः-रहः—रहस्य।

काल के अन्तर्गत भूत, वर्तमान तथा भविष्य में जो कुछ घटित होता है, वह मात्र स्वप्न है। समस्त वैदिक साहित्य का यही रहस्य है।

तात्पर्य : वास्तव में सारा संसार मात्र स्वप्न है, अतः भूत, वर्तमान या भविष्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जो लोग कर्मकाण्ड विचार वाले हैं जिसका तात्पर्य है कि वे "सकाम कर्मों द्वारा भविष्य के सुख के लिए कार्यरत हैं" वे भी स्वप्न देखते हैं। इसी तरह गत सुख तथा वर्तमान सुख भी स्वप्न मात्र हैं। वास्तविकता तो कृष्ण तथा कृष्ण-सेवा है, जो हमें माया के चंगुल से बचा सकती है जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे मेरी माया को पार कर जाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "नारद तथा राजा प्राचीनबर्हि के मध्य वार्तालाप" नामक उन्तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter तीस

प्रचेताओं के कार्यकलाप

विदुर उवाच

ये त्वयाभिहिता ब्रह्मन्सुताः प्राचीनबर्हिषः ।
ते रुद्रगीतेन हरिं सिद्धिमापुः प्रतोष्य काम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; ये—जो; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अभिहिताः—कहे गये थे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; सुताः—सभी पुत्र; प्राचीनबर्हिषः—राजा प्राचीनबर्हि के; ते—वे सब; रुद्र-गीतेन—भगवान् शिव द्वारा रचे गये गीत से; हरिम्—भगवान् को; सिद्धिम्—सफलता; आपुः—प्राप्त किया; प्रतोष्य—प्रसन्न करके; काम्—क्या।

विदुर ने मैत्रेय से जानना चाहाः हे ब्राह्मण, आपने पहले मुझसे प्राचीनबर्हि के पुत्रों के विषय में बतलाया था कि उन्होंने शिव द्वारा रचे हुए गीत के जप से भगवान् को प्रसन्न किया। तो उन्हें इस प्रकार क्या प्राप्त हुआ?

तात्पर्य : प्रारम्भ में मैत्रेय ऋषि ने प्राचीनबर्हि के पुत्रों के कार्यकलापों का वर्णन किया था। ये पुत्र समुद्र जैसे एक बड़े सरोवर के निकट गये और वहाँ पर भाग्यवश शिवजी से भेंट हो गई तो उन्होंने शिव द्वारा रचित गीतों के जप से भगवान् को प्रसन्न करना सीखा। तब नारद मुनि ने उनके पिता से पुरञ्जन की रूपक कथा कह कर कर्मों के प्रति उनकी आसक्ति को व्यर्थ सिद्ध कर दिया। अब विदुर पुनः प्राचीनबर्हि के पुत्रों के विषय में जानना चाहते थे—विशेष रूप से वे यह जानने के इच्छुक थे कि श्रीभगवान् को प्रसन्न कर लेने के बाद प्राचीनबर्हि के पुत्रों ने क्या प्राप्त किया। यहाँ पर *सिद्धिम् आपुः* अर्थात् सिद्धि प्राप्त की शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (७.३) में कहते हैं—*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये*—हजारों व्यक्तियों में कोई एक यह जानने के लिए उत्सुक रहता है कि आध्यात्मिक विषयों में किस प्रकार सिद्धि प्राप्त की जाये। *भगवद्गीता* (८.१५) में भी परम सिद्धि का वर्णन हुआ है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

"मुझको प्राप्त हुए भक्तियोगी महात्माजनों का इस दुखपूर्ण अनित्य संसार में जन्म फिर कभी नहीं होता, क्योंकि वे परम संसिद्धि को प्राप्त हो चुके होते हैं।" और वह परम सिद्धि क्या है? इसी श्लोक में उसका भी वर्णन है। परम सिद्धि है भगवान् के धाम को लौटना जिससे मनुष्य को फिर से इस संसार में नहीं आना पड़ता और एक शरीर से दूसरे में देहान्तर नहीं करना पड़ता। शिव की कृपा से प्रचेतागणों ने वास्तव में सिद्धि प्राप्त कर ली और भौतिक सुविधाओं का अधिकाधिक भोग करके वे भगवान् के धाम को लौट गये। मैत्रेय अब विदुर से इसी का वर्णन करेंगे।

किं बार्हस्पत्येह परत्र वाथ
कैवल्यनाथप्रियपार्श्ववर्तिनः ।
आसाद्य देवं गिरिशं यद‍ृच्छया
प्रापुः परं नूनमथ प्रचेतसः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; बार्हस्पत्य—हे बृहस्पति के शिष्य; इह—यहाँ; परत्र—विभिन्न लोकों में; वा—अथवा; अथ—इस तरह; कैवल्य-नाथ—मोक्ष के प्रदाता को; प्रिय—प्यारा; पार्श्व-वर्तिनः—से सम्बद्ध होने से; आसाद्य—मिलकर; देवम्—देवता; गिरि-शम्—कैलाश पर्वत के स्वामी को; यद‍ृच्छया—भाग्य से; प्रापुः—प्राप्त किया; परम्—परमेश्वर; नूनम्—निश्चय ही; अथ—अतएव; प्रचेतसः—बर्हिषत् के पुत्र।

हे बार्हस्पत्य, राजा बर्हिषत् के पुत्रों ने, जिन्हें प्रचेता कहते हैं, उन्होंने भगवान् शिवजी से भेंट करने के बाद क्या प्राप्त किया, जो मोक्षदाता भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं? वे वैकुण्ठलोक तो गये ही, किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने इस जीवन में, अथवा अन्य जीवनों में इस संसार में क्या प्राप्त किया?

तात्पर्य : इस लोक में अथवा अन्य लोकों में इसी जीवन में अथवा अगले जीवन में सभी तरह के भौतिक सुख प्राप्त होते हैं। जीव इस भौतिक ब्रह्माण्ड में अनेक योनियों एवं अनेक लोकों में घूमता रहता है। जीवन-काल में प्राप्त होने वाले सुख तथा दुख *इह* कहलाते हैं और अगले जीवन में प्राप्त होने वाले सुख-दुख *परत्र* कहलाते हैं।

वस्तुतः श्रीमहादेव (शिव) इस भौतिक जगत के महान् देवता हैं। सामान्यतः जनसाधारण को दिये जाने वाले उनके आशीर्वादों का अर्थ होता है भौतिक सुख। इस जगत की अधिष्ठात्री देवी दुर्गा भगवान् महादेव अथवा गिरिश के अधीन रहती हैं। अतः भगवान् महादेव किसी को भी किसी तरह का भौतिक सुख प्रदान कर सकते हैं। सामान्यतः लोग भौतिक सुख प्राप्त करने की इच्छा से भगवान् गिरिश के भक्त बनना पसन्द करते हैं, किन्तु प्रचेताओं की तो भाग्यवश महादेव जी से भेंट हुई थी। भगवान् महादेव ने उन्हें भगवान् की पूजा करने का उपदेश दिया और स्वयं भी भगवान् की स्तुति की। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, शिवजी द्वारा की गई विष्णु की स्तुति (*रुद्रगीत*) के उच्चारण-मात्र से प्रचेतागण वैकुण्ठ को चले गये। कभी-कभी भक्तगण भौतिक सुख भी भोगना चाहते हैं, फलतः भक्त के वैकुण्ठलोक में प्रवेश के पूर्व भगवान् उसे भौतिक सुख भोगने का अवसर प्रदान करते हैं। कभी-कभी भक्त को जनलोक, महर्लोक, तपोलोक, सिद्धलोक इत्यादि जैसे लोक में भेज दिया

जाता है। किन्तु जो शुद्ध भक्त है उसे किसी प्रकार के भौतिक सुख की इच्छा नहीं रहती। फलतः शुद्ध भक्त को सीधे वैकुण्ठलोक भेजा जाता है, जिसे यहाँ पर *परम्* कहा गया है। इस श्लोक में विदुर बृहस्पति के शिष्य मैत्रेय से प्रचेताओं की विभिन्न सिद्धियों के विषय में पूछते हैं।

मैत्रेय उवाच
प्रचेतसोऽन्तरुदधौ पितुरादेशकारिणः ।
जपयज्ञेन तपसा पुरञ्जनमतोषयन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; **प्रचेतसः**—प्रचेताओं ने; **अन्तः**—भीतर; **उदधौ**—समुद्र में; **पितुः**—अपने पिता के; **आदेश-कारिणः**—आज्ञाकारी; **जप-यज्ञेन**—मंत्रों के जप से; **तपसा**—कठिन तपस्या से; **पुरम्-जनम्**—भगवान् को; **अतोषयन्**—प्रसन्न किया।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : राजा प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेताओं ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए समुद्र जल के भीतर कठिन तपस्या की। भगवान् शिव द्वारा प्रदत्त मंत्र का बारम्बार उच्चारण करके वे भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने में समर्थ हुए।

तात्पर्य : कोई चाहे तो भगवान् से प्रत्यक्ष रूप से प्रार्थना कर सकता है, किन्तु यदि वह शिवजी तथा ब्रह्माजी जैसे महान् भक्तों द्वारा की गई प्रार्थनाओं को दोहराता है या महापुरुषों के पदचिह्नों का अनुसरण करता है, तो वह सरलतापूर्वक भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। उदाहरणार्थ, हम कभी-कभी *ब्रह्म-संहिता* के (५.२९) निम्नलिखित मंत्र का जप करते हैं—

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं आदि भगवान् प्रथम प्रजापति गोविन्द की पूजा करता हूँ जो चिन्तामणि से बने तथा लाखों कल्पवृक्षों से घिरे आवासों में गायों का पालन करते हैं तथा समस्त इच्छाओं को प्रदान करने वाले हैं। लाखों लक्ष्मियाँ अथवा गोपियाँ बड़े ही आदर तथा प्रेम से सदैव उनकी सेवा करती रहती हैं।" चूँकि यह प्रार्थना ब्रह्मा द्वारा की गई थी, अतः हम इसे गाकर उनका अनुसरण करते हैं। भगवान् को प्रसन्न करने का यही सुगम उपाय है। शुद्ध भक्त कभी परमेश्वर के पास सीधे पहुँचने का प्रयास नहीं करता।

भगवान् के पास जाने की सबसे महत्त्वपूर्ण विधि है भक्तों की शिष्य-परम्परा द्वारा जाना। इस तरह शिव द्वारा की गई भगवान् की प्रार्थना प्रचेताओं ने दुहराई और वे परमेश्वर को प्रसन्न करने में सफल हुए।

यहाँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को पुरञ्जन कहा गया है। मध्वाचार्य के अनुसार जीव को पुरञ्जन कहा जाता है, क्योंकि वह इस भौतिक जगत का वासी हो गया है और प्रकृति के त्रिगुणों के कारण उसे इसी जगत में रहना पड़ता है। इस भौतिक जगत (पुर) की सृष्टि भगवान् द्वारा की जाती है और वे इसमें प्रविष्ट भी होते हैं। *अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्।* भगवान् जीव के हृदय के भीतर तथा परमाणु के भीतर प्रवेश करते हैं, इसीलिए भगवान् तथा जीव दोनों ही पुरञ्जन कहलाते हैं। एक पुरञ्जन जीव परम पुरञ्जन के अधीन है, अत: अधीनस्थ पुरञ्जन का कर्तव्य है कि वह परम पुरञ्जन को तुष्ट रखे। यही भक्ति है। रुद्र या शिव ही वैष्णव सम्प्रदाय के, जिसे ''रुद्र सम्प्रदाय'' कहते हैं, मूल आचार्य हैं। *रुद्रगीतेन* शब्द सूचित करता है, कि रुद्र की शिष्य-परम्परा में प्रचेताओं को आध्यात्मिक सफलता प्राप्त हुई।

दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातनः ।
तेषामाविरभूत्कृच्छ्रं शान्तेन शमयन्रुचा ॥ ४॥

शब्दार्थ

दश-वर्ष—दस साल; सहस्र-अन्ते—एक हजार के अन्त में; पुरुषः—परम पुरुष; तु—तब; सनातनः—शाश्वत; तेषाम्—प्रचेताओं का; आविरभूत्—प्रकट हुआ; कृच्छ्रम्—कठिन तपस्या; शान्तेन—तुष्ट करते हुए; शमयन्—शान्त करते हुए; रुचा—अपने सौन्दर्य से।

प्रचेताओं द्वारा दस हजार वर्षों तक कठिन तपस्या किये जाने के बाद भगवान् तपस्या का फल देने के लिए उनके समक्ष अत्यन्त मनोहर रूप में प्रकट हुए। इससे प्रचेताओं को अपना श्रम सार्थक प्रतीत हुआ।

तात्पर्य : दस हजार वर्षों तक तपस्या करते रहना बहुत सुखद प्रयास नहीं लगता, तो भी भक्तगण भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए ऐसी तपस्याएँ करते हैं। उस काल में जब जीवन अत्यन्त दीर्घ होता था, लोग हजारों वर्षों तक कठिन तपस्या कर सकते थे। कहा जाता है कि रामायण के रचयिता वाल्मीकि ने साठ हजार वर्षों तक ध्यान रूपी तपस्या की। भगवान् ने प्रचेताओं की तपस्या की सराहना की और अन्त में वे अत्यन्त मनोहर रूप में उनके समक्ष प्रकट हुए। इस प्रकार वे सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए और की गई अपनी तपस्या के कष्ट को भूल गए। भौतिक जगत में यदि कोई कठिन श्रम के बाद

सफल होता है, तो वह अत्यधिक प्रसन्न होता है। इसी प्रकार भक्त भी भगवान् के संसर्ग में आते ही सारे श्रम तथा सारी तपस्या को भूल जाता है। यद्यपि ध्रुव महाराज केवल पाँच वर्ष के बालक थे, किन्तु उन्होंने सूखी पत्तियाँ खाकर, केवल जल पीकर तथा निराहार रहकर कठिन तपस्या की। इस तरह वे छ:मास के पश्चात् भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सके थे। जब उन्होंने भगवान् का दर्शन किया, तो वे अपनी सारी तपस्या भूल गये और कहा—*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि*—"हे भगवान्! मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।"

असल में, ये तपस्याएँ सत्ययुग, द्वापर तथा त्रेतायुग में की गई थीं, इस कलियुग में नहीं। इस कलियुग में हरे कृष्ण महामंत्र का जप करने से वही फल प्राप्त किया जा सकता है। चूँकि इस युग के लोग पतित हैं अत: भगवान् इतने दयालु हैं कि उनको वे सबसे सरल विधि-प्रदान करते हैं। हरे कृष्ण महामंत्र के जप मात्र से कोई भी वही परिणाम प्राप्त कर सकता है। जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इंगित किया है, हम इतने अभागे हैं कि हम हरे कृष्ण महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण, हरे हरे /हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का जप करने की ओर भी आकृष्ट नहीं होते।

सुपर्णस्कन्धमारूढो मेरुशृङ्गमिवाम्बुदः ।
पीतवासा मणिग्रीवः कुर्वन्वितिमिरा दिशः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सुपर्ण—भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ के; स्कन्धम्—कन्धों पर; आरूढः—आसीन; मेरु—मेरु नामक पर्वत की; शृङ्गम्—चोटी पर; इव—सदृश; अम्बुदः—बादल; पीत-वासाः—पीला वस्त्र पहने; मणि-ग्रीवः—कौस्तुभ मणि से सुशोभित गर्दन; कुर्वन्—करते हुए; वितिमिराः—अंधकार से मुक्त; दिशः—सारी दिशाएँ।

गरुड़ के कन्धे पर आसीन भगवान् मेरु पर्वत की चोटी पर छाये बादल के समान प्रतीत हो रहे थे। भगवान् का दिव्य शरीर आकर्षक पीताम्बर से ढका था और उनकी गर्दन कौस्तुभ मणि से सुशोभित थी। भगवान् के शारीरिक तेज से ब्रह्माण्ड का सारा अंधकार दूर हो रहा था।

तात्पर्य : जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.३१) में कहा गया है—

कृष्ण—सूर्यसम; माया हय अन्धकार।

याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार॥

भगवान् प्रकाशमान सूर्य के समान हैं, अत: जहाँ भी वे उपस्थित रहते हैं वहाँ अंधकार या अज्ञान नहीं रह सकता। वास्तव में यह अंधकारमय ब्रह्माण्ड सूर्य द्वारा प्रकाशित है, किन्तु सूर्य तथा चन्द्रमा परमेश्वर के शारीरिक तेज को ही परावर्तित करते हैं। *भगवद्गीता* (७.८) में भगवान् कहते हैं—

प्रभास्मि शशिसूर्ययो:—मैं सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों की प्रकाशमान शक्ति हूँ। निष्कर्ष यह है कि भगवान् का शारीरिक तेज ही सारे जीवन का उद्गम है। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में भी हुई है—*यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि।* भगवान् के शारीरिक तेज से प्रकाशित होने पर सारी वस्तुएँ अंधकार से मुक्त हो जाती हैं।

काशिष्णुना कनकवर्णविभूषणेन
भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीट: ।
अष्टायुधैरनुचरैर्मुनिभि: सुरेन्द्रै
रासेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्ति: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

काशिष्णुना—चमकीले; कनक—सोना; वर्ण—रंग के; विभूषणेन—आभूषणों से; भ्राजत्—चमकते हुए; कपोल—मस्तक; वदन:—मुख; विलसत्—झिलमिलाता हुआ; किरीट:—मुकुट; अष्ट—आठ; आयुधै:—आयुधों से; अनुचरै:—सेवा करने वालों से; मुनिभि:—मुनियों से; सुर-इन्द्रै:—देवताओं से; आसेवित:—सेवित; गरुड—गरुड़ द्वारा; किन्नर—किन्नर लोक के वासी; गीत—गाया हुआ; कीर्ति:—कीर्ति, महिमा।

भगवान् का मुख अत्यन्त सुन्दर था और उनका सिर चमकीले मुकुट तथा सुनहरे आभूषणों से सुशोभित था। यह मुकुट झिलमिला रहा था और सिर पर अत्यन्त सुन्दर ढंग से लगा था। भगवान् के आठ भुजाएँ थीं और प्रत्येक भुजा में एक विशेष आयुध था। वे देवताओं, ऋषियों तथा अन्य पार्षदों से घिरे हुए थे। ये सब उनकी सेवा कर रहे थे। भगवान् का वाहन गरुड़ अपने पंखों को फड़फड़ा कर वैदिक स्तोत्रों से भगवान् की महिमा का इस प्रकार गान कर रहा था मानो वह किन्नर लोक का वासी हो।

तात्पर्य : सामान्य रूप से विष्णु को चार भुजाओं में चार वस्तुएँ लिये प्रदर्शित किया जाता है (ये हैं शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प)। किन्तु यहाँ पर उन्हें आठ भुजाओं में आठ प्रकार के आयुध धारण किये हुए दिखाया गया है। वीरराघव आचार्य के अनुसार शंख तथा कमल पुष्प भी आयुध हैं। चूँकि भगवान् परम नियन्ता हैं, अत: वे जो भी अपने हाथ में धारण करते हैं, उसे आयुध माना जा सकता है। चार हाथ चार प्रकार के आयुध धारण किये रहते हैं और अन्य चार हाथों में वे धनुष, बाण, त्रिशूल तथा सर्प धारण करते हैं। श्री वीरराघव आचार्य शंख, चक्र, गदा, पद्म, शार्ङ्ग, शर इत्यादि को आठ आयुध बताते हैं।

किसी राजा के साथ सदैव उसके मंत्री, सचिव तथा सेनापति होते हैं, भगवान् विष्णु के साथ भी

उनके अनुचर—देवता, ऋषि, साधु इत्यादि—रहते हैं। वे कभी अकेले नहीं रहते। अतः भगवान् के निराकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे स्वयं तथा उनके सभी पार्षद भी व्यक्ति हैं। इस श्लोक में दिये हुए वर्णन से लगता है कि गरुड़ किन्नरलोक का वासी था। किन्नरलोक के वासियों के स्वरूप भी गरुड़ जैसे होते हैं। उनके शरीर के अंग मनुष्यों जैसे होते हैं, किन्तु उनके पंख होते हैं। *गीतकीर्तिः* शब्द सूचित करता है कि किन्नरलोक के वासी भगवान् के यशोगान में अत्यन्त निपुण होते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*जगदण्डकोटिकोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।* प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के लोक होते हैं और प्रत्येक लोक की अपनी विशेषताएँ होती हैं। इस श्लोक के आधार पर हमें विदित होता है कि किन्नरलोक के वासी अपने पंखों से उड़ सकते हैं। एक अन्य लोक भी है, जो सिद्धलोक कहलाता है, जिसके वासी पंखों के बिना भी उड़ सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक लोक में पृथक्-पृथक् सुविधाएँ प्राप्त हैं। यही भगवान् की विविध सृष्टि का सौंदर्य है।

पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्या
स्पर्धच्छ्रिया परिवृतो वनमालयाद्यः ।
बर्हिष्मतः पुरुष आह सुतान्प्रपन्नान्
पर्जन्यनादरुतया सघृणावलोकः ॥ ७॥

शब्दार्थ

पीन—बलिष्ठ; आयत—लम्बी; अष्ट—आठ; भुज—भुजाएँ; मण्डल—घेरा के; मध्य—बीच में; लक्ष्म्या—लक्ष्मी से; स्पर्धत्—स्पर्धा करते हुए; श्रिया—जिसकी सुन्दरता; परिवृतः—पड़ी हुई; वन-मालया—फूलों की माला से; आद्यः—आदि भगवान्; बर्हिष्मतः—राजा प्राचीनबर्हि के; पुरुषः—भगवान्; आह—सम्बोधित किया; सुतान्—पुत्रों को; प्रपन्नान्—शरणागत; पर्जन्य—बादल के समान; नाद—जिसकी ध्वनि; रुतया—वाणी से; स-घृण—दयापूर्वक; अवलोकः—अपनी दृष्टि, चितवन।

भगवान् के गले के चारों ओर घुटनों तक पहुँचने वाली फूलों की माला लटक रही थी। उनकी आठ बलिष्ट तथा लम्बी भुजाएँ उस माला से विभूषित थीं, जो लक्ष्मी जी की सुन्दरता को चुनौती दे रही थीं। दयापूर्ण चितवन तथा मेघ-गर्जना के समान वाणी से भगवान् ने राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रों को सम्बोधित किया जो उनकी शरण में आ चुके थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आद्यः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भगवान् परमात्मा तथा ब्रह्म के भी मूलस्रोत हैं। जैसी कि *भगवद्गीता* (१४.२७) में पुष्टि हुई है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—परम सत्य, निराकार ब्रह्म से प्रारम्भ न होकर, आदि भगवान् श्रीकृष्ण से प्रारम्भ होता है। जब अर्जुन को कृष्ण की महानता का अनुभव हो गया तो उसने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया (*भगवद्गीता* १०.१२)—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

"आप परब्रह्म, परम धाम, पावन परम तत्त्व और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय दिव्य सौन्दर्य आदि देव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं।"

ब्रह्म-संहिता का यह भी कथन है—*अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्*—परमेश्वर अनादि है, किन्तु वह समस्त कारणों का कारण है। *वेदान्त सूत्र* का कहना है—*जन्माद्यस्य यतः*—परम सत्य वह है, जिससे प्रत्येक वस्तु उद्भूत है। परम सत्य को *आदिपुरुष* कहा जाता है। अतः परम सत्य निराकार नहीं, अपितु पुरुष है।

श्रीभगवानुवाच
वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः ।
सौहार्देनापृथग्धर्मास्तुष्टोऽहं सौहृदेन वः ॥८॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वरम्—वर, आशीर्वाद; वृणीध्वम्—माँगो; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम सबका; यूयम्—तुम सब; मे—मुझसे; नृप-नन्दनाः—हे राजपुत्रो; सौहार्देन—मित्रता से; अपृथक्—अभिन्न; धर्माः—कार्य; तुष्टः—प्रसन्न; अहम्—मैं; सौहृदेन—मित्रता से; वः—तुम सबका।

भगवान् ने कहा : हे राजपुत्रो, मैं तुम लोगों के परस्पर मित्रतापूर्ण सम्बन्धों से अत्यधिक प्रसन्न हूँ। तुम सभी एक ही कार्य—भक्ति—में लगे हो। मैं तुम लोगों की मित्रता से इतना अधिक प्रसन्न हूँ कि मैं तुम्हारा कल्याण चाहता हूँ। अब तुम जो वर चाहो माँग सकते हो।

तात्पर्य : चूँकि राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्र मिलकर कृष्णभक्ति कर रहे थे, अतः भगवान् उनसे अत्यधिक प्रसन्न थे। राजा प्राचीनबर्हिषत् के सभी पुत्र पृथक्-पृथक् जीव थे, किन्तु भगवान् की भक्ति करने में वे सभी एक थे। परमेश्वर को प्रसन्न करने अथवा भक्ति करने के लिए जीवों में एकता का प्रयास वास्तविक एकता है। भौतिक जगत में ऐसी एकता सम्भव नहीं है। भले ही आधिकारिक रूप से लोग एकमत हो लें, किन्तु उनके अलग-अलग स्वार्थ होते हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त राष्ट्र-संघ में सभी राष्ट्रों की अपनी-अपनी विशिष्ट राष्ट्रीय आकांक्षाएँ होती हैं, अतः उन्हें एकमत नहीं किया जा सकता। इस संसार में जीवों के बीच विविधता इतनी प्रबल है कि कृष्णभावनामृत-संघ में भी कभी-कभी भिन्न मतों एवं विचारों तथा भौतिक स्वार्थों के प्रति झुकाव के कारण सदस्यों में विरोध पाया जाता है।

वस्तुत: कृष्णभक्ति में द्वैत नहीं रह सकता। वहाँ एकमात्र उद्देश्य है यथाशक्ति श्रीकृष्ण की सेवा करना। यदि सेवा को लेकर कोई मतभेद होता है, तो उसे आध्यात्मिक समझना चाहिए। जो भगवद्‌भक्ति में लगे हुए हैं, वे किसी भी परिस्थिति में विलग नहीं हो सकते। इससे भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और अपने भक्तों को कोई भी वर प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं जैसाकि इस श्लोक में इंगित किया गया है। हम देख सकते हैं कि भगवान् राजा प्राचीनबर्हिषत् के सभी पुत्रों को वर देने के लिए तुरन्त तैयार हो जाते हैं।

योऽनुस्मरति सन्ध्यायां युष्माननुदिनं नरः ।
तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यं तथा भूतेषु सौहृदम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अनुस्मरति—सदैव स्मरण करता है; सन्ध्यायाम्—शाम के समय; युष्मान्—तुमको; अनुदिनम्—प्रतिदिन; नरः—मनुष्य; तस्य भ्रातृषु—अपने भाइयों के प्रति; आत्म-साम्यम्—व्यक्तिगत समानता; तथा—और; भूतेषु—समस्त जीवों के प्रति; सौहृदम्—मित्रता।

भगवान् ने आगे कहा : जो प्रतिदिन संध्या समय तुम्हारा स्मरण करेंगे वे अपने भाइयों के प्रति तथा अन्य समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखेंगे।

ये तु मां रुद्रगीतेन सायं प्रातः समाहिताः ।
स्तुवन्त्यहं कामवरान्दास्ये प्रज्ञां च शोभनाम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ये—जो लोग; तु—लेकिन; माम्—मुझको; रुद्र-गीतेन—रुद्र गीत द्वारा; सायम्—संध्या समय; प्रातः—प्रात:काल; समाहिताः—सावधान रहकर; स्तुवन्ति—प्रार्थना करते हैं; अहम्—मैं; काम-वरान्—इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए समस्त वर, अभीष्ट वरदान; दास्ये—प्रदान करूँगा; प्रज्ञाम्—बुद्धि; च—भी; शोभनाम्—दिव्य।

जो लोग शिवजी द्वारा प्रणीत स्तुति से प्रात: तथा सायंकाल मेरी प्रार्थना करेंगे, उन्हें मैं वर प्रदान करूँगा। इस तरह वे अपनी इच्छाओं को पूरा करने के साथ-साथ सद्बुद्धि भी प्राप्त कर सकेंगे।

तात्पर्य : सद्बुद्धि का अर्थ है भगवान् के धाम को वापस जाना। इसकी पुष्टि *भगवद्‌गीता* (१०.१०) में हुई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो निरन्तर मेरी भक्ति करते तथा प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकें।"

जो अपनी विविध इच्छाओं की पूर्ति के उद्देश्य से भगवान् की प्रार्थना करता है, उसे यह जान लेना चाहिए कि इच्छा की चरमपूर्ति भगवान् के धाम को वापस जाना है। इस श्लोक में इंगित किया गया कि जो राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्र प्रचेताओं के कार्यकलापों का स्मरण करता है उसका कल्याण और उद्धार होगा। अत: राजा के उन पुत्रों के लिए क्या कहना जो भगवान् से प्रत्यक्ष जुड़े हुए हैं? परम्परा-पद्धति की यही रीति है। यदि हम आचार्यों का अनुसरण करते हैं, तो हमें अपने पूर्ववर्तियों जैसा लाभ प्राप्त होता है। यदि कोई अर्जुन के निर्णयों का अनुसरण करता है, तो समझो कि वह भगवान् से सीधे *भगवद्गीता* सुन रहा है। प्रत्यक्ष भगवान् से *भगवद्गीता* सुनने तथा अर्जुन जैसे महापुरुष का, जिसने *भगवद्गीता* पहले भगवान् के मुख से सुनी थी, अनुसरण करने में कोई अन्तर नहीं होता। कभी-कभी मूर्ख लोग तर्क करते हैं कि इस समय कृष्ण उपस्थित नहीं हैं, इसलिए उनसे प्रत्यक्ष उपदेश प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसे मूर्ख यह नहीं जानते कि *भगवद्गीता* के प्रत्यक्ष सुनने तथा इसके पढ़ने में तब तक कोई अन्तर नहीं है जब तक इसे उसी रूप में स्वीकार किया जाता है, जिस रूप में इसे भगवान् ने कहा था। किन्तु यदि कोई अपनी अधूरी विवेचना से *भगवद्गीता* समझना चाहता है, तो वह *भगवद्गीता* के रहस्यों को नहीं समझ सकता, भले ही लौकिक दृष्टि में वह कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो।

यद्यूयं पितुरादेशमग्रहीष्ट मुदान्विताः ।
अथो व उशती कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; यूयम्—तुम लोगों ने; पितुः—पिता की; आदेशम्—आज्ञा; अग्रहीष्ट—शिरोधार्य की है; मुदा-अन्विताः—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; अथो—अतः; वः—तुम्हारी; उशती—आकर्षण, कमनीय; कीर्तिः—महिमा; लोकान् अनु—सारे ब्रह्माण्ड भर में; भविष्यति—सम्भव हो सकेगी, फैल जाएगी।.

चूँकि तुम लोगों ने अपने अन्तःकरण से प्रसन्नतापूर्वक अपने पिता की आज्ञा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य की है और उसका पालन किया है, अतः तुम्हारे आकर्षक गुण संसार-भर में सराहे जाएँगे।

तात्पर्य : चूँकि जीव भगवान् का भिन्नांश है, अत: उसे थोड़ी सी स्वतंत्रता प्राप्त है। कभी-कभी

अल्पबुद्धि व्यक्ति पूछते हैं कि यद्यपि सभी प्राणी भगवान् के अधीन में हैं, किन्तु मनुष्य को कष्ट में क्यों रखा जाता है। अति अल्प स्वतंत्रता प्राप्त होने से जीव चाहे परमेश्वर की आज्ञा का पालन करे अथवा उल्लंघन कर दे। यदि वह आज्ञापालन करता है, तो वह सुखी रहता है और यदि नहीं करता तो दुखी होता है। अत: जीव स्वयं सुख या दुख को जन्म देता है। परमेश्वर किसी पर इन्हें लादता नहीं। परमेश्वर ने प्रचेताओं की प्रशंसा की क्योंकि उन्होंने अपने पिता की आज्ञा श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य की थी। फलत: भगवान् ने राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रों को आशीर्वाद दिया।

भविता विश्रुतः पुत्रोऽनवमो ब्रह्मणो गुणैः ।
य एतामात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति ॥ १२॥

शब्दार्थ

भविता—होगा; विश्रुतः—अत्यन्त प्रसिद्ध; पुत्रः—पुत्र; अनवमः—न्यून नहीं; ब्रह्मणः—ब्रह्मा से; गुणैः—गुणों में; यः—जो; एताम्—यह सब; आत्म-वीर्येण—अपनी संतति से; त्रि-लोकीम्—तीनों संसार को; पूरयिष्यति—पूर्ण कर देगा।.

तुम सब को एक उत्तम पुत्र प्राप्त होगा जो भगवान् ब्रह्माजी से किसी भी प्रकार न्यून नहीं होगा। फलस्वरूप वह सारे ब्रह्माण्ड में अत्यन्त प्रसिद्ध होगा और उससे उत्पन्न पुत्र तथा पौत्र तीनों लोकों को भर देंगे।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है, प्रचेतागण कण्डु ऋषि की पुत्री से विवाह करेंगे। यहाँ यह मत दिया गया है कि पुत्र का नाम विश्रुत होगा और वह अपने सद्-चरित्र से अपने माता-पिता दोनों की ख्याति को बढ़ाएगा। वस्तुत: वह ब्रह्माजी से बढ़कर होगा। महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य ने कहा है कि यदि किसी उद्यान या जंगल में कोई उत्तम वृक्ष हो तो उसके फूल अपनी सुगन्ध से जंगल को भर देंगे। इसी प्रकार परिवार का एक सुपुत्र सारे संसार में परिवार को प्रसिद्ध बनाता है। कृष्ण ने यदुवंश में जन्म लिया, फलत: यदुवंश संसार-भर में प्रसिद्ध हो गया।

कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना ।
तां चापविद्धां जगृहुर्भूरुहा नृपनन्दनाः ॥ १३॥

शब्दार्थ

कण्डोः—कण्डु मुनि की; प्रम्लोचया—प्रम्लोचा नाम की अप्सरा से; लब्धा—प्राप्त किया; कन्या—पुत्री; कमल-लोचना—कमल जैसे नेत्रों वाली; ताम्—उसको; च—भी; अपविद्धाम्—छोड़ी हुई; जगृहुः—स्वीकार किया; भूरुहाः—वृक्ष; नृप-नन्दनाः—हे राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रो!.

हे राजा प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रो, प्रम्लोचा नामक अप्सरा ने कण्डु की कमलनयनी कन्या को

जंगली वृक्षों की रखवाली में छोड़ दिया और फिर वह स्वर्गलोक को चली गई। यह कन्या कण्डु ऋषि तथा प्रम्लोचा नामक अप्सरा के संयोग से उत्पन्न हुई थी।

तात्पर्य : जब भी कोई ऋषि भौतिक शक्ति के लिए कठोर तपस्या करता है, तो स्वर्ग का राजा इन्द्र ईर्ष्यालु हो उठता है। सभी देवताओं पर संसार का कार्य चलाने के लिए उत्तरदायित्व है और वे पुण्यकर्मों के कारण अत्यन्त योग्य होते हैं। यद्यपि वे सामान्य जीव हैं, किन्तु वे ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पदों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। जैसाकि इस संसार की रीति है, स्वर्ग का राजा इन्द्र किसी भी ऋषि के द्वारा कठोर तपस्या करने पर ईर्ष्या करने लगता है। यह सारा संसार ऐसी ही ईर्ष्या से पूर्ण है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी से भयभीत रहता है। प्रत्येक व्यापारी अपने संगियों से भयभीत रहता है, क्योंकि यह संसार समस्त प्रकार के ईर्ष्यालु व्यक्तियों का कर्मक्षेत्र है, जो यहाँ पर भगवान् के ऐश्वर्य से स्पर्धा करने के लिए आये हुए हैं। इस प्रकार इन्द्र कण्डु द्वारा सम्पन्न कठोर तपस्या से अत्यन्त भयभीत था और उसने उसके व्रत तथा तपस्या को खण्डित करने के लिए प्रम्लोचा को भेजा। ऐसी ही घटना विश्वामित्र के साथ भी घटित हुई थी। शास्त्रों की अन्य घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र सदा से ईर्ष्यालु रहा है। जब राजा पृथु इन्द्र से बढ़कर विभिन्न यज्ञ सम्पन्न कर रहा था, तो इन्द्र अत्यन्त ईर्ष्यालु हो उठा और उसने राजा पृथु के यज्ञ में गड़बड़ी मचाई। इसकी व्याख्या पिछले अध्यायों में की जा चुकी है। इन्द्र को कण्डु ऋषि का व्रत भंग करने में सफलता प्राप्त हुई, क्योंकि ऋषि प्रम्लोचा नामक अप्सरा की सुन्दरता से मोहित हो गया और उससे एक कन्या को जन्म दिया। यहाँ पर इस कन्या को कमलनयनी तथा अत्यन्त सुन्दरी कहा गया है। अपने उद्देश्य में सफल होकर प्रम्लोचा नवजात शिशु को वृक्षों की निगरानी में छोड़कर स्वर्ग लौट गई। सौभाग्यवश वृक्षों ने शिशु का पालन-पोषण करने की सहमति दे दी।

क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम् ।
देशिनीं रोदमानाया निदधे स दयान्वितः ॥ १४॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख से; क्षामायाः—व्याकुल होने पर; मुखे—मुँह में; राजा—राजा; सोमः—चन्द्रमा; पीयूष—अमृत; वर्षिणीम्—डालते हुए; देशिनीम्—तर्जनी अंगुली; रोदमानायाः—रोने पर; निदधे—डाला; सः—वह; दया-अन्वितः—दयालु होते हुए।

तत्पश्चात् वृक्षों के संरक्षण में रखा गया वह शिशु भूख से रोने लगा। उस समय वन के राजा

अर्थात् चन्द्रलोक के राजा ने दयावश अपनी अंगुली (तर्जनी) शिशु के मुख में रखी जिससे अमृत निकलता था। इस प्रकार उस शिशु का पालनपोषण चन्द्र राजा की कृपा से हुआ।

तात्पर्य : यद्यपि अप्सरा ने शिशु को वृक्षों के संरक्षण में छोड़ा था, किन्तु वे ठीक से उसका पालन न कर सके, अत: उन्होंने उसे चन्द्रमा राजा चन्द्र के सुपुर्द कर दिया। तो चन्द्रराज ने शिशु की भूख को शमित करने के लिए उसके मुख के भीतर अपनी अँगुली डाल दी।

प्रजाविसर्ग आदिष्टाः पित्रा मामनुवर्तता ।
तत्र कन्यां वरारोहां तामुद्वहत मा चिरम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रजा-विसर्गे—सन्तान उत्पन्न करने के लिए; आदिष्टाः—आदेश पाकर; पित्रा—पिता द्वारा; माम्—मेरा आदेश; अनुवर्तता—पालन करती हुई; तत्र—वहाँ; कन्याम्—कन्या को; वर-आरोहाम्—अत्यन्त योग्य तथा अत्यन्त सुन्दरी; ताम्—उसको; उद्वहत—ब्याह लिया; मा—बिना; चिरम्—समय गँवाये।

चूँकि तुम सभी मेरी आज्ञा का पालन करने वाले हो, अत: मैं तुम्हें उस कन्या के साथ तुरन्त विवाह करने के लिए कहता हूँ क्योंकि वह अत्यन्त योग्य है, सुन्दरी है और उत्तम गुणों वाली है। अपने पिता की आज्ञा के अनुसार तुम उससे संतति उत्पन्न करो।

तात्पर्य : सभी प्रचेता न केवल भगवान् के परम भक्त थे, अपितु वे अपने पिता के आज्ञाकारी थे। अत: भगवान् ने उन्हें प्रम्लोचा की पुत्री के साथ विवाह करने की आज्ञा दी।

अपृथग्धर्मशीलानां सर्वेषां वः सुमध्यमा ।
अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात्पत्न्यर्पिताशया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अपृथक्—किसी अन्तर के बिना; धर्म—व्यापार; शीलानाम्—जिसका चरित्र; सर्वेषाम् वः—तुम सबों का; सु-मध्यमा—पतली कमर वाली लड़की; अपृथक्—समान; धर्म—व्यापार; शीला—अच्छे आचरण वाली; इयम्—यह; भूयात्—हो; पत्नी—पत्नी; अर्पित-आशया—पूर्णतया समर्पित।

तुम सभी भाई भक्त तथा अपने पिता के आज्ञाकारी पुत्र होने के कारण समान स्वभाव वाले हो। यह लड़की भी उसी तरह की है और तुम सबके प्रति समर्पित है। अत: यह लड़की तथा तुम प्राचीनबर्हिषत् के सारे पुत्र एक ही नियम से बँधे होकर समान पद पर स्थित हो।

तात्पर्य : वैदिक नियमों के अनुसार कोई स्त्री एक से अधिक पति वाली नहीं हो सकती, किन्तु पुरुष कई पत्नियों वाला हो सकता है। किन्तु विशेष उदाहरणों में स्त्री के भी एक से अधिक पति हो

सकते हैं। उदाहरणार्थ, द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ हुआ था। इसी प्रकार भगवान् ने प्राचीनबर्हिषत् के पुत्रों को कण्डु ऋषि तथा प्रम्लोचा से उत्पन्न कन्या के साथ विवाह करने के लिए आदेश दिया। विशेष दशाओं में कन्या को एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह करने की अनुमति प्राप्त है, यदि वह सभी पतियों के साथ समान व्यवहार कर सके। सामान्य स्त्री के लिए ऐसा सम्भव नहीं है। विशेष योग्यता प्राप्त स्त्री को ही एक से अधिक पति करने की छूट है। इस कलिकाल में ऐसी सन्तुलित स्त्री खोज पाना कठिन है। शास्त्र के अनुसार—*कलौ पञ्च विवर्जयेत्।* इस युग में स्त्री अपने देवर के साथ ब्याह नहीं कर सकती। किन्तु आज भी भारत के कुछ पहाड़ी भागों में यह प्रथा चालू है। भगवान् का कथन है—*अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात् पत्न्यर्पिताशया।* भगवान् के आशीर्वाद से सब कुछ सम्भव है। भगवान् ने उस कन्या को विशेष आशीर्वाद दिया कि वह कन्या समभाव से सभी भाइयों के प्रति समर्पित रहे। *अपृथग्धर्म* अर्थात् ''उद्देश्य में किसी अन्तर के बिना कर्तव्य'' की शिक्षा *भगवद्गीता* में दी गई है। *भगवद्गीता* तीन भागों में विभाजित है—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। *योग* शब्द का अर्थ है ''भगवान् की ओर से काम करना।'' जैसाकि *भगवद्गीता* से (३.९) प्रमाणित है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

''श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा कर्म मनुष्य को इस जगत से बाँध लेता है। अतः हे कुन्तीपुत्र! उनकी प्रसन्नता के लिए संस्तुत कार्य करो और इस प्रकार करने से तुम सदा अनासक्त तथा बन्धन से मुक्त रहोगे।''

मनुष्य *यज्ञ पुरुष* भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अपने कर्तव्यों के अनुसार कार्य कर सकता है। यही *अपृथग्धर्म* कहलाता है। शरीर के विभिन्न अंग भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य कर सकते हैं, किन्तु मूल उद्देश्य तो सम्पूर्ण शरीर का पालन होता है। इसी प्रकार यदि हम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कार्य करें तो हम देखेंगे कि सबों को प्रसन्न किया जा सकता है। हमें प्रचेताओं का अनुसरण करना चाहिए जिनका एकमात्र उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना था। यही *अपृथग्धर्म* कहलाता है। *भगवद्गीता* के अनुसार (१८.६६)—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सभी प्रकार के धर्मों को त्याग कर मेरी शरण ग्रहण करो। श्रीकृष्ण का यही उपदेश है। हमारा एकमात्र उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना है। यही

एकत्व या अभिन्नता अथवा अपृथग्धर्म है।

दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रमहतौजसः ।
भौमान्भोक्ष्यथ भोगान्वै दिव्यांश्चानुग्रहान्मम ॥ १७॥

शब्दार्थ

दिव्य—स्वर्गिक; वर्ष—वर्ष; सहस्राणाम्—हजारों का; सहस्रम्—एक हजार; अहत—अपराजित रहकर; ओजसः—तुम्हारा बल; भौमान्—इस संसार का; भोक्ष्यथ—भोगोगे; भोगान्—सुख; वै—निश्चय ही; दिव्यान्—स्वर्गलोक का; च—भी; अनुग्रहात्—कृपा से; मम—मेरी।

तब भगवान् ने सभी प्रचेताओं को आशीर्वाद दिया: हे राजकुमारो, मेरे अनुग्रह से तुम इस संसार की तथा स्वर्ग की सभी सुविधाओं को भोग सकते हो। तुम उन्हें बिना किसी बाधा के पूर्ण समर्थ रहते हुए दस लाख दिव्य वर्षों तक भोग सकते हो।

तात्पर्य : भगवान् ने प्रचेताओं को जितनी लम्बी आयु का आशीर्वाद दिया वह स्वर्गलोक की काल-माप के अनुसार परिगणित होती है। इस पृथ्वी लोक के हमारे छह मास स्वर्गलोक के बारह घंटों के तुल्य है। इस प्रकार तीस दिन बराबर एक मास के और बारह मास एक वर्ष के तुल्य हैं। प्रचेताओं को स्वर्गलोक की इस परिगणना के अनुसार दस लाख वर्षों तक सारी भौतिक सुविधाएँ भोगने का वर प्राप्त हुआ। यद्यपि यह आयु अत्यन्त दीर्घ है, किन्तु प्रचेताओं को सम्पूर्ण शारीरिक बल से युक्त रहने का वर प्रदान किया गया। यदि कोई इस संसार में अनेक वर्षों तक जीवित रहना चाहता है, तो उसे वृद्धावस्था, अक्षमता तथा अन्य अनेक कष्ट सहने होंगे। किन्तु प्रचेताओं को सम्पूर्ण शारीरिक बल सहित भौतिक भोग भोगने का वर मिला। यह विशेष सुविधा उन्हें इसीलिए दी गई जिससे वे पूरी भक्ति करते रहें। अगले श्लोक में इसकी व्याख्या की गई है।

अथ मय्यनपायिन्या भक्त्या पक्वगुणाशयाः ।
उपयास्यथ मद्धाम निर्विद्य निरयादतः ॥ १८॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; मयि—मुझमें; अनपायिन्या—अविचल; भक्त्या—भक्ति से; पक्व-गुण—भौतिक कल्मष से रहित; आशयाः—मन; उपयास्यथ—प्राप्त करोगे; मत्-धाम—मेरा धाम; निर्विद्य—विरक्त होकर; निरयात्—संसार से; अतः—इस प्रकार।

तत्पश्चात् तुम मेरे प्रति शुद्ध भक्ति विकसित करोगे और समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाओगे। उस समय तथाकथित स्वर्गलोक तथा नरकलोक में भौतिक भोगों से विरक्त होकर तुम मेरे धाम को लौटोगे।

तात्पर्य : भगवत्कृपा से प्रचेताओं को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गईं थीं। यद्यपि वे भौतिक सुखोपभोग के लिए लाखों वर्ष जीवित रहे, किन्तु तो भी वे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अविचल बने रहे। इस प्रकार लीन रहकर सारे प्रचेता भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त हो गए। भौतिक आसक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। भौतिकतावादी एक जन्म में धन, धरती, मित्र, समाज, मित्रता, प्यार आदि अर्जित करता है और इस शरीर के विनष्ट होने पर वह स्वर्गलोक का भी भोग चाहता है। किन्तु यदि मनुष्य भक्ति में लगा रहता है, तो वह समस्त भौतिक सुख तथा दुख से विरक्त हो जाता है। इस संसार में जो लोग स्वर्गलोक भेजे जाते हैं समस्त सुखोपभोग करते कहे जाते हैं, किन्तु जो नरकलोक को भेजे जाते हैं उन्हें नारकीय अवस्था बितानी होती है। किन्तु भक्त स्वर्ग तथा नरक इन दोनों की अवस्थाओं से परे हैं। *भगवद्गीता* के अनुसार (१४.२६) भक्त की स्थिति इस प्रकार है :—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो मनुष्य पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में भ्रष्ट नहीं होता है, वह तुरन्त भौतिक प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म के पद तक पहुँचता है।''

भक्त सदैव ब्रह्म पद पर स्थिर रहता है। उसे भौतिक सुख या दुख से कुछ सरोकार नहीं रहता। जब वह भक्ति में दृढ़ रहता है और समस्त भौतिक आसक्ति से रहित एवं प्रकृति के तीनों गुणों से अदूषित रहता है, तो वह घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जाने में सक्षम होता है। यद्यपि विशेष आशीर्वाद के कारण प्रचेतागण लाखों वर्षों तक भौतिक सुखों का भोग कर सकते थे, किन्तु वे उनके प्रति आसक्त नहीं रहे। अत: भौतिक सुखोपभोग के बाद वे वैकुण्ठलोक प्राप्त करके और भगवान् के पास वापस गए।

पक्वगुणाशया: शब्द का विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि इसका अर्थ है कि भक्ति द्वारा मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव को छोड़ने में समर्थ होता है। जब तक मनुष्य इन गुणों से प्रभावित होता रहता है, वह भगवान् के पास नहीं लौट पाता। इसकी स्पष्ट व्याख्या हुई है कि भौतिक जगत के सारे लोक—ब्रह्मलोक से नरकलोक तक—भक्त के लिए अनुपयुक्त स्थान हैं। *पदं पदं यद्विपदां न तेषां।* जहाँ पग-पग पर विपदा हो वह निश्चय ही, सुखमय स्थान नहीं है। अत: भगवान् *भगवद्गीता* (८.१६) में कहते

हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"हे अर्जुन! भौतिक जगत में सबसे ऊपरी ब्रह्मलोक से लेकर नीचे तक के सभी लोक क्लेशपूर्ण स्थान हैं, जहाँ जन्म तथा मृत्यु बारम्बार होते हैं। परन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त हो जाता है, वह इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता।"

अतः यदि कोई इस भौतिक ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कर ले तो भी कोई लाभ नहीं। किन्तु यदि कोई किसी प्रकार से भगवान् के धाम को जा सके तो वह फिर इस संसार में कभी नहीं लौटता।

गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।
मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; आविशताम्—प्रविष्ट हुए; च—तथा; अपि—भी; पुंसाम्—मनुष्यों का; कुशल-कर्मणाम्—शुभ कर्मों में लगे हुए; मत्-वार्ता—मेरी कथाओं में; यात—बीतता है; यामानाम्—जिसका प्रत्येक क्षण; न—नहीं; बन्धाय—बन्धन हेतु; गृहाः—गृहस्थ जीवन; मताः—विचार किया गया।

जो लोग भक्ति के शुभ कार्यों में लगे होते हैं, वे यह भलीभाँति समझते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही समस्त कर्मों के परम भोक्ता हैं। अतः जब भी ऐसा व्यक्ति कोई कार्य करता है, तो कर्मफल भगवान् को अर्पित कर देता है और भगवान् की कथाओं में व्यस्त रहते हुए ही सारा जीवन बिताता है। ऐसा व्यक्ति गृहस्थाश्रम में रह कर भी कर्मफलों से प्रभावित नहीं होता।

तात्पर्य : सामान्यतः परिवार में रहते हुए व्यक्ति सकाम कर्म में अत्यधिक आसक्त रहता है अर्थात् वह अपने कर्मों के फलों को भोगने का प्रयास करता हैं। किन्तु भक्त जानता है कि श्रीकृष्ण ही परम भोक्ता तथा स्वामी हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*)। अतः भक्त अपने को किसी भी व्यापार का स्वामी नहीं समझता। वह सदा भगवान् को ही स्वामी मानता है, अतः अपने सारे व्यापारों के फल परमेश्वर को ही अर्पित करता रहता है। अतः जो व्यक्ति इस तरह अपने परिवार तथा बच्चों के बीच रहता है, वह कभी भी भौतिक संसार के कल्मष से प्रभावित नहीं होता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता*

(३.९) में इस प्रकार हुई है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

जो व्यक्ति अपने कर्मों के फल भोगना चाहता है, वह कर्म फल से बँध जाता है। किन्तु जो व्यक्ति फल या लाभ को भगवान् को अर्पित कर देता है, वह उनसे नहीं बँधता। सफलता का यही रहस्य है। सामान्यतः कर्मफल से मुक्त होने के उद्देश्य से ही लोग संन्यास ग्रहण करते हैं। जो व्यक्ति अपने कर्मों के फल को ग्रहण नहीं करता, अपितु परमेश्वर को अर्पित कर देता है, वह निश्चित रूप से मुक्त अवस्था में रहता है। श्री रूप गोस्वामी ने इसकी पुष्टि *भक्तिरसामृत सिन्धु* में इस प्रकार की है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

जो व्यक्ति अपने जीवन, धन, वाणी, बुद्धि तथा अपने पास जो कुछ भी है उस सबसे भगवान् की सेवा में लगा रहता है, वह हर अवस्था में मुक्त होगा। ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है। जो लोग कृष्ण-भक्ति से रहित होकर भौतिक कार्यों में लगे रहते हैं, वे भवबन्धन में अधिकाधिक फँसते जाते हैं। उन्हें अपने सारे कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। अतः यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन मानवता के लिए महानतम वरदान है क्योंकि यह मनुष्य को कृष्णभक्ति में सदैव लगाये रखता है। भक्तगण कृष्ण का ही चिन्तन करते हैं, कृष्ण के लिए ही कर्म करते हैं, उन्हीं के लिए खाते, पीते तथा सोते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु कृष्ण की सेवा में लगती है। कृष्ण भक्ति में लगा पूरा जीवन मनुष्य को भौतिक कल्मष से बचाता है। जैसाकि भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने कहा है—

कृष्ण-भजने याहा हय अनुकूल।

विषय बलिया त्यागे ताहा हय भूल॥

यदि कोई इतना सक्षम हो कि प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में अर्पित कर सके तो उसके लिए इस भौतिक जगत का परित्याग भारी भूल होगी। मनुष्य को सीखना चाहिए कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाया जाये, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध श्रीकृष्ण से है। यही जीवन का असली उद्देश्य और सफलता का रहस्य है। *भगवद्गीता* (३.१९) में इसकी पुष्टि की

गई है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

"इसलिए कर्मफल में अनासक्त भाव से कर्तव्य की भाँति कर्म करना चाहिए, क्योंकि अनासक्त होकर किया गया कर्म परम लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाला है।"

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में इन्द्रियतृप्ति हेतु तथा परमेश्वर को प्रसन्न करने के हेतु भौतिक कार्यों पर विशेष विचार किया गया है। निष्कर्ष यह है कि ये एक जैसे नहीं हैं। इन्द्रियतृप्ति के हेतु किये गये कार्य भौतिक बन्धन के कारण हैं, जबकि कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किये गये वही कार्य मुक्ति के कारण बनते हैं। वही कार्य बन्धन तथा मुक्ति का कारण कैसे हो सकता है, इसकी व्याख्या इस प्रकार है—दूध की बनी हुई बहुत सी वस्तुएँ—यथा खीर, रबड़ी इत्यादि—खाने से कुपच हो सकता है, किन्तु कुपच होते हुए भी दूध से ही बना और काली मिर्च तथा नमक से मिला मट्ठा कुपच को दूर कर देता है। दूसरे शब्दों में, दूध की बनी एक वस्तु कुपच तथा अतिसार का कारण बन सकती है, किन्तु दूध से ही बनी दूसरी वस्तु उसे अच्छा कर सकती है।

यदि कोई व्यक्ति विशेष भगवत्कृपा से भौतिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, तो उसे उस ऐश्वर्य को बन्धन का कारण नहीं समझना चाहिए। जब किसी प्रौढ़ भक्त को ऐश्वर्य-लाभ होता है, तो उस पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह इस ऐश्वर्य को भगवान् की सेवा में लगाने की विधि जानता है। संसार के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। पृथु महाराज, प्रह्लाद महाराज, जनक, ध्रुव, वैवस्वत मनु तथा महाराज इक्ष्वाकु जैसे अनेक राजा हुए हैं। ये महान् राजा थे और इन पर भगवान् की विशेष कृपा भी थी। यदि भक्त प्रौढ़ (परिपक्व) नहीं है, तो भगवान् उसके समस्त ऐश्वर्य को छीन लेते हैं; भगवान् स्वयं इस सिद्धान्त को बताते हैं—*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः*—मैं अपने भक्त पर जो सबसे पहली कृपा दिखाता हूँ, वह है उसके समस्त ऐवर्श्य का हरण। जो ऐश्वर्य भक्ति में बाधक होता है, उसे भगवान् ले लेते हैं, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भक्ति में परिपक्व है, तो वे उसे सारी भौतिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

नव्यवद्धृदये यज्ज्ञो ब्रह्मैतद्ब्रह्मवादिभिः ।
न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नव्य-वत्—सदैव नवीन; हृदये—हृदय में; यत्—क्योंकि; ज्ञः—परमात्मा, परम ज्ञाता; ब्रह्म—ब्रह्म; एतत्—यह; ब्रह्म-वादिभिः—परम सत्य के पक्षधरों द्वारा; न—कभी नहीं; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त होते हैं; न—कभी नहीं; शोचन्ति—पश्चात्ताप करते हैं; न—कभी नहीं; हृष्यन्ति—हर्षित होते हैं; यतः—जब; गताः—प्राप्त किये हुए।

सदैव भक्ति कार्यों में संलग्न रह कर भक्तजन अपने आपको ताजा तथा अपने कार्यों में सदैव नवीन (नया नया) अनुभव करते हैं। भक्त के हृदय के भीतर सर्वज्ञाता परमात्मा प्रत्येक वस्तु को अधिकाधिक नया बनाता रहता है। परम सत्य के पक्षधर (ब्रह्मवादी) इसे ब्रह्मभूत कहते हैं। ऐसी ब्रह्मभूत अर्थात् मुक्त अवस्था में मनुष्य कभी मोहग्रस्त नहीं होता। न ही वह पश्चात्ताप करता है, न वृथा ही हर्षित होता है। यह ब्रह्मभूत अवस्था के कारण होता है।

तात्पर्य : भक्त अपने अन्तःकरण में स्थित परमात्मा द्वारा अनेक प्रकार से भक्ति में अग्रसर होने के लिए प्रेरित होता रहता है। भक्त न तो कभी ऊबने का अनुभव करता है, न ही अपने को निष्क्रिय अवस्था में समझता है। भौतिक जगत में यदि कोई किसी के नाम को बार-बार पुकारे तो वह कुछ मिनटों में ऊब उठता है, किन्तु हरे कृष्ण मंत्र को अहर्निश थके बिना जपा जा सकता है। जप की संख्या बढ़ाने पर नित नया जान पड़ता है। श्रील रूप गोस्वामी का कहना है कि यदि किसी तरह उन्हें लाखों कान तथा जीभें मिल जातीं तो वे हरे कृष्ण महामंत्र के जप के दिव्य आनन्द का आस्वाद न कर सकते। अत्यन्त सिद्ध भक्त के लिए कोई भी वस्तु प्रेरणाहीन नहीं लगती। *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् कहते हैं कि वे प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में स्थित हैं और स्मरण तथा विस्मरण में जीव की सहायता करते हैं। भगवत्कृपा से भक्त प्रेरणा ग्रहण करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो मुझमें निरन्तर श्रद्धा रखते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

जैसाकि कहा जा चुका है, जो भक्ति के शुभ कार्य (*कुशलकर्माणां*) में लगे होते हैं, वे परमात्मा द्वारा निर्देशित होते हैं, जिसे इस श्लोक में *ज्ञ* कहा गया है अर्थात् वह जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी जानता है। परमात्मा केवल एकनिष्ठ, शुद्ध भक्तों को ही आदेश देता है कि वे भगवान् तक पहुँचने

में किस प्रकार प्रगति कर सकते हैं। इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित है, किन्तु भक्त के हृदय में वह स्वयं अपने को अधिकाधिक नवीन रूप में प्रकट करता है। उससे प्रेरणा ग्रहण करके भक्त उसकी भक्ति में और अधिक दिव्य आनन्द का अनुभव करता है।

मैत्रेय उवाच
एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थभाजनं
जनार्दनं प्राञ्जलयः प्रचेतसः ।
तद्दर्शनध्वस्ततमोरजोमला
गिरागृणन्गद्गदया सुहृत्तमम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; पुरुष-अर्थ—जीवन के परम लक्ष्य का; भाजनम्—दाता; जन-अर्दनम्—भक्त के समस्त अवगुणों को दूर करने वाला; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़ कर; प्रचेतसः—प्रचेतागण; तत्—उसको; दर्शन—देखकर; ध्वस्त—नष्ट; तमः—तमोगुण का; रजः—रजोगुण का; मलाः—मल, कल्मष; गिरा—वाणी से; अगृणन्—प्रार्थना की; गद्गदया—गद्गद होकर; सुहृत्-तमम्—समस्त मित्रों में श्रेष्ठ को।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : भगवान् के इस प्रकार कहने पर प्रचेताओं ने उनकी प्रार्थना की। भगवान् जीवन की समस्त सिद्धियों को देने वाले और परम कल्याणकर्ता हैं। वे परम मित्र भी हैं, क्योंकि वे भक्तों के समस्त कष्टों को हरते हैं। प्रचेताओं ने आनन्दातिरेक से गद्गद वाणी में प्रार्थना करनी प्रारम्भ की। वे भगवान् का साक्षात् दर्शन करने से शुद्ध हो गये।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को *पुरुषार्थ भाजनम्* (जीवन के परम लक्ष्य के प्रदाता) कहा गया है। हमें जीवन में जो भी सफलता चाहिए, वह भगवान् की कृपा से प्राप्त हो सकती है। चूँकि प्रचेताओं को पहले से भगवान् की कृपा प्राप्त थी, अतः उन पर तीनों भौतिक गुणों के कल्मष (मल) का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनसे सारे भौतिक गुण उसी तरह दूर हो गये जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार भाग जाता है। चूँकि भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए, अतः रजो तथा तमोगुणों का सारा कल्मष दूर हो गया। इसी प्रकार जब शुद्ध भक्त हरे कृष्ण महामंत्र का जप करता है, तो वह भी समस्त कल्मष से शुद्ध हो जाता है, क्योंकि भगवन्नाम तथा भगवान् एक हैं, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में कहा गया है—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥

''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जो प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा हैं और सत्यनिष्ठ भक्तों के कल्याणकर्ता हैं, अपने उन भक्तों के हृदयों को भौतिक सुख की इच्छाओं से विमल करते हैं, जो उनके संदेशों को सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। ये संदेश ठीक से श्रवण तथा कीर्तन करने पर अत्यन्त कल्याणकारी होते हैं।''

भगवन्नाम स्वयं भगवान् है। यदि कोई नाम का कीर्तन करता है तथा सुनता है, तो वह शुद्ध हो जाता है। क्रमश: सारा भौतिक कल्मष दूर हो जाता है। प्रचेतागण भगवान् की उपस्थिति के कारण पहले ही शुद्ध हो चुके थे, अत: वे हाथ जोड़कर समुचित प्रार्थना कर सके। दूसरे शब्दों में, जब भक्तगण भक्ति में लग जाते हैं, तो तुरन्त ही उनके सारे कल्मष दूर हो जाते हैं, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। कभी-कभी भक्त जन असन्तुष्ट हो जाते हैं कि भगवान् उन्हें अपना साक्षात् दर्शन नहीं देते। अत: जब प्रचेताओं ने साक्षात् भगवान् को देखा तो उनकी अप्रसन्नता दूर हो गई।

प्रचेतस ऊचु:
नमो नम: क्लेशविनाशनाय
निरूपितोदारगुणाह्वयाय ।
मनोवचोवेगपुरोजवाय
सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नम: ॥ २२॥

शब्दार्थ

प्रचेतस: ऊचु:—प्रचेताओं ने कहा; नम:—नमस्कार है; नम:—नमस्कार है; क्लेश—भौतिक दुख; विनाशनाय—दूर करने वाले को; निरूपित—निर्णीत; उदार—उदार; गुण—गुण; आह्वयाय—नाम वाले को; मन:—मन का; वच:—वाणी का; वेग—चाल; पुर:—सामने; जवाय—गति वाले को; सर्व-अक्ष—सभी इन्द्रियों के; मार्गै:—रास्तों से; अगत—अदृश्य; अध्वने—जिसका मार्ग; नम:—हम नमस्कार करते हैं।

प्रचेताओं ने कहा : हे भगवन्, आप समस्त प्रकार के क्लेशों को हरने वाले हैं। आपके उदार दिव्य गुण तथा पवित्र नाम कल्याणप्रद हैं। इसका निर्णय पहले ही हो चुका है। आप मन तथा वाणी से भी अधिक वेग से जा सकते हैं। आप भौतिक इन्द्रियों द्वारा नहीं देखे जा सकत। अत: हम आपको बारम्बार सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : *निरूपित* शब्द जिसका अर्थ है ''निष्कर्ष निकाला'' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर को

खोजने अथवा आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति के लिए कोई शोध नहीं करनी होती है। वेदों में निष्कर्ष रूप से सब कुछ दिया हुआ है। अत: *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*—वेदों के द्वारा भगवान् का ज्ञान प्राप्त करना पूर्ण तथा निर्णायक होता है। वेदों का कथन है—*अत: श्रीकृष्ण नामादि न भवेद्ग्राह्यम् इन्द्रियै:*—हमारी कुंठित भौतिक इन्द्रियों के द्वारा भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण तथा लीलाएँ नहीं समझी जा सकतीं। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:*—जब भक्त अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाता है, तो भगवान् अपनी अहैतुकी दया से भक्त के समक्ष स्वत: प्रकट होते हैं। यही निर्णायक वेद-विधि है। वेद यह भी संकेत करते हैं कि भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करने-मात्र से निश्चित रूप से आध्यात्मिक प्रगति हो सकती है। हम भगवान् के पास मन या वाणी के वेग से नहीं पहुँच सकते, किन्तु यदि हम भक्ति में लगे रहें तो उनके पास सरलता से तथा तेजी से पहुँच सकते हैं। दूसरे शब्दों में, परमेश्वर भक्ति से आकृष्ट होते हैं और अपेक्षा इसके कि हम उन तक अपनी मीमांसा से पहुँचें वे हमारे पास अधिक वेग से पहुँच सकते हैं। भगवान् ने कहा है कि वे ज्ञान की सीमा तथा विचार की गति से परे हैं फिर भी उनकी अहैतुकी कृपा से उन तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार वे अपनी अहैतुकी कृपा से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। अन्य विविधाँ प्रभावशाली नहीं होतीं।

शुद्धाय शान्ताय नम: स्वनिष्ठया
मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय ।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु
गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शुद्धाय—शुद्ध रूप को; शान्ताय—अत्यन्त शान्त रूप को; नम:—नमस्कार है; स्व-निष्ठया—अपने पद पर स्थित रह कर; मनसि—मन में; अपार्थम्—अर्थहीन, निरर्थ; विलसत्—प्रकट होते हुए; द्वयाय—द्वैत जगत वाले को; नम:—नमस्कार; जगत्—दृश्य जगत का; स्थान—पालन (स्थिति); लय—संहार; उदयेषु—तथा उत्पत्ति के लिए; गृहीत—स्वीकृत; माया—भौतिक; गुण—प्रकृति के गुणों के; विग्रहाय—रूपों को।

हे भगवन्, हम आपको प्रणाम करने की याचना करते हैं। जब मन आप में स्थिर होते हैं, तो यह द्वैतपूर्ण संसार भौतिक सुख का स्थान होते हुए भी व्यर्थ प्रतीत होता है। आपका दिव्य रूप दिव्य आनन्द से पूर्ण है। अत: हम आपका अभिवादन करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के रूप में आपका प्राकट्य इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के उद्देश्य से होता है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त, जिसका मन सदैव भगवद्भक्ति में लगा रहता है, इस संसार की असारता को समझता है। यद्यपि ऐसा भक्त भौतिक कार्यों को करने में लगा रहता है, किन्तु यह अवस्था *अनासक्ति* कहलाती है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने बताया है—*अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जत: ।* भक्त सदैव भौतिक कार्यों के प्रति अनासक्त रहता है, क्योंकि मुक्त अवस्था में उसका मन सदैव भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है।

यह भौतिक जगत द्वैत कहलाता है। भक्त अच्छी तरह जानता है कि इस संसार की प्रत्येक वस्तु भगवान् की शक्ति के प्राकट्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रकृति के तीनों गुणों को बनाये रखने के लिए परमेश्वर ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के विभिन्न रूप धारण करते हैं। इन गुणों से अप्रभावित रहकर भगवान् इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए विविध रूप धारण करते हैं। निष्कर्ष यह है कि यद्यपि शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा करते हुए भौतिक कार्यों में संलग्न प्रतीत होता है, किन्तु उसे भली-भाँति पता रहता है कि इन्द्रियतृप्ति हेतु भौतिक सुख का कोई उपयोग नहीं है।

नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे ।
वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

नम:—नमस्कार; विशुद्ध-सत्त्वाय—आपको जिसका अस्तित्व समस्त भौतिक प्रभाव से मुक्त है; हरये—भक्तों के कष्टों को हरने वाला; हरि-मेधसे—जिसका मस्तिष्क बद्धजीव के उद्धार हेतु कार्य करता है; वासुदेवाय—सर्वव्यापी भगवान् को; कृष्णाय—कृष्ण को; प्रभवे—प्रभाव को बढ़ाने वाला; सर्व-सात्वताम्—सभी प्रकार के भक्तों का।

हे भगवन्, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि आपका अस्तित्व समस्त भौतिक प्रभावों से पूर्णतया स्वतंत्र है। आप सदैव अपने भक्तों के क्लेशों को हर लेते हैं, क्योंकि आपका मस्तिष्क जानता है कि ऐसा किस प्रकार करना चाहिए। आप परमात्मा रूप में सर्वत्र रहते हैं, अत: आप वासुदेव कहलाते हैं। आप वसुदेव को अपना पिता मानते हैं और आप कृष्ण नाम से विख्यात हैं। आप इतने दयालु हैं कि अपने समस्त प्रकार के भक्तों के प्रभाव को बढ़ाते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कहा गया है कि दृश्य जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के उद्देश्य से (*गृहीतमाया गुणविग्रहाय*) भगवान् तीन प्रकार के शरीर (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) धारण करते है। भौतिक जगत के तीन प्रमुख देव (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) गुण अवतार कहलाते हैं। भगवान् के अनेक प्रकार के अवतार हैं, किन्तु इस जगत में पहला अवतार ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) के

रूप में हुआ। इनमें से ब्रह्मा तथा शिव भौतिक शरीर धारण करते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु भौतिक शरीर स्वीकार नहीं करते, फलतः उन्हें *विशुद्ध-सत्त्व* कहा जाता है। उनका अस्तित्व प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष से सर्वथा मुक्त है। अतः विष्णु को ब्रह्मा तथा शिव की कोटि का नहीं मानना चाहिए। शास्त्र हमें ऐसा करने से वर्जित करते हैं।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादि दैवतैः।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्॥

जो भगवान् विष्णु को ब्रह्मा या शिव जैसे देवों की कोटि में मानता है या ब्रह्मा तथा शिव को विष्णु के तुल्य मानता है उसे *पाषण्डी* (श्रद्धाविहीन, विश्वास न करने वाला) मानना चाहिए। अतः इस श्लोक में विष्णु को *नमो विशुद्धसत्त्वाय* के रूप से पृथक् किया गया है। हमारे समान जीवात्मा होते हुए भी ब्रह्माजी अपने पुण्यकर्मों के कारण महान् हैं, इसीलिए उन्हें ब्रह्मा का उच्च पद प्राप्त है। शिवजी वास्तव में जीवात्मा जैसे नहीं हैं, किन्तु वे भगवान् नहीं हैं। उनकी स्थिति भगवान्—जीवात्मा विष्णु तथा ब्रह्मा के बीचोंबीच है। अतः *ब्रह्म-संहिता* (५.४५) में शिवजी की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्

सञ्जायते न हि ततः पृथगस्ति हेतोः।

यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

शिवजी को दधि के समान माना गया है। दधि रूपांतरित दूध ही तो होता है फिर भी उसे दूध नहीं माना जाता। इसी प्रकार शिवजी भगवान् विष्णु की लगभग सभी शक्तियों को धारण करते हैं और जीव के गुणों से भी ऊपर हैं, किन्तु वे विष्णु के सर्वथा समान नहीं हैं जिस प्रकार दधि रूपांतरित दूध होते हुए भी दूध के समान नहीं होता।

यहाँ पर भगवान् को *वासुदेवाय कृष्णाय* भी कहा गया है। कृष्ण आदि भगवान् हैं और सारे विष्णु उनके *स्वांश* या *कला* हैं। *स्वांश* को *अंश* भी कहते हैं। सभी विष्णु तत्त्व स्वांश हैं। कृष्ण को वासुदेव कहते हैं, क्योंकि वे इस संसार में वसुदेव के पुत्र के रूप में प्रकट हुए थे। इसी प्रकार वे देवकीनन्दन,

यशोदानन्दन, नन्दनन्दन आदि कहलाते हैं।

भगवान् अपने भक्तों के प्रभाव को बढ़ाने में बारम्बार रुचि लेते हैं। अत: यहाँ पर उन्हें *प्रभवे सर्वसात्वताम्* कहा गया है। *सात्वत* जाति वैष्णवों अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्तों का एक समुदाय है। भगवान् की शक्तियाँ असीम हैं और वे चाहते हैं कि उनके भक्तों को भी असीम शक्तियाँ प्राप्त हों। अत: भगवद्भक्त अन्य जीवों से सदैव भिन्न होता है।

हरि शब्द का अर्थ है समस्त क्लेशों का हरण करने वाला तथा *हरिमेधसे* का अर्थ है कि भगवान् बद्धजीव को माया के चंगुल से छुड़ाने के लिए सदैव योजना बनाते रहते हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि बद्धजीवों के उद्धार के लिए स्वयं अवतरित होते हैं और जब भी वे आते हैं, अपनी योजनाएँ बनाते हैं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

"भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का नाश तथा धर्म की पुन: स्थापना के लिए मैं युगयुग में प्रकट होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.८)।

चूँकि भगवान् समस्त बद्धजीवों का माया के चंगुल से उद्धार करते हैं इसलिए वे *हरिमेधस्* कहलाते हैं। अवतारों की सूची में कृष्ण को परम तथा आदि ईश्वर कहा गया है—

एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥

(भागवत १.३.२८)

जब इस भौतिक संसार में भगवद्भक्त देवता असुरों द्वारा पीड़ित किये जाते हैं, तो आदि भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं।

नम: कमलनाभाय नम: कमलमालिने ।
नम: कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण ॥ २५॥

शब्दार्थ

नमः—सादर नमस्कार है; कमल-नाभाय—भगवान् को जिनकी नाभि से आदि कमल पुष्प प्रकट हुआ; नमः—नमस्कार; कमल-मालिने—कमल पुष्प की माला धारण करने वाला; नमः—नमस्कार; कमल-पादाय—जिसके चरणकमल पुष्प के समान सुन्दर तथा सुगन्धित हैं; नमः ते—आपको नमस्कार है; कमल-ईक्षण—जिनके नेत्र कमल की पंखड़ियों के सदृश हैं।

हे भगवन्, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि आपकी ही नाभि से कमल पुष्प निकलता है, जो समस्त जीवों का उद्गम है। आप सदैव कमल की माला से सुशोभित रहते हैं और आपके चरण सुगंधित कमल पुष्प के समान हैं। आपके नेत्र भी कमल पुष्प की पंखड़ियों के सदृश हैं, अतः हम आपको सदा ही सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : *कमलनाभाय* शब्द सूचित करता है कि भगवान् विष्णु इस सृष्टि के उद्गम हैं। गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से कमल पुष्प फूटता है। इस पुष्प से ब्रह्माण्ड के पहले प्राणी श्रीब्रह्मा का जन्म होता है और बाद में ब्रह्मा सारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं, अतः समस्त सृष्टि के उद्गम भगवान् विष्णु हैं और सारे विष्णुतत्त्वों के उद्गम भगवान् कृष्ण हैं। फलस्वरूप समस्त वस्तुओं के उद्गम श्रीकृष्ण हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से (१०.८) भी होती है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं अप्राकृत तथा प्राकृत जगत का कारण हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझी से उद्भूत है। जो बुद्धिमान इसे ठीक से जानता है, वह भक्ति में लगता है और अपने हृदय से मेरी पूजा करता है।" भगवान् कृष्ण कहते हैं "मैं प्रत्येक वस्तु का उद्गम हूँ।" अतः हम जो कुछ भी देखते हैं वह उन्हीं से प्रकट होता है। वेदान्त के इस सूत्र से भी इसकी पुष्टि होती है—*जन्माद्यस्य यतः*—"परम सत्य वह है, जिससे प्रत्येक वस्तु उद्भूत होती है।"

नमः कमलकिञ्जल्कपिशङ्गामलवाससे ।
सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; कमल-किञ्जल्क—कमल पुष्प के केसर के समान; पिशङ्ग—पीला; अमल—स्वच्छ; वाससे—उसको जिसका वस्त्र; सर्व-भूत—समस्त जीवों के; निवासाय—आश्रय को; नमः—नमस्कार; अयुङ्क्ष्महि—करने दो; साक्षिणे—परम साक्षी को।

हे भगवन्, आपके द्वारा धारण किया गया वस्त्र कमल पुष्प के केसर के समान पीले रंग का है, किन्तु यह किसी भौतिक पदार्थ का बना हुआ नहीं है। प्रत्येक हृदय में निवास करने के

कारण आप समस्त जीवों के समस्त कार्यों के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। हम आपको पुन:पुन: सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् के वस्त्र तथा उनकी सर्वव्यापकता का वर्णन हुआ है। भगवान् पीले रंग का वस्त्र धारण करते हैं, किन्तु उसे कभी भौतिक नहीं समझना चाहिए। उनके वस्त्र भी भगवान् हैं। वे भगवान् से अभिन्न हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक हैं।

सर्वभूतनिवासाय शब्द और आगे स्पष्ट करता है कि भगवान् किस प्रकार प्रत्येक हृदय में वास करते हैं और बद्धजीव के सारे कार्यों के प्रत्यक्ष साक्षी का कार्य करते हैं। इस जगत में बद्धजीव इच्छाएँ रखते है और इन्हीं के अनुसार कार्य करते हैं। इन सारे कार्यों को भगवान् देखते रहते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा (१५.१५) भी होती है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—"मैं सबों के हृदय में आसीन हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।" भगवान् प्रत्येक प्राणी के हृदय में उपस्थित हैं और जीव को बुद्धि प्रदान करते हैं। जीव की इच्छाओं के अनुसार ही भगवान् उसे स्मरण या विस्मरण कराते रहते हैं। यदि जीव आसुरी होता है और भगवान् को भूलना चाहता है, तो भगवान् उसे ऐसी बुद्धि देते हैं कि वह उन्हें सदैव भूला रहे। इसी प्रकार जब भक्त भगवान् की सेवा करना चाहता है, तो परमात्मा स्वरूप भगवान् उसे बुद्धि प्रदान करते हैं कि वह भक्ति में प्रगति करे। भगवान् हमारे सारे कार्यों के साक्षी बने रहते हैं और हमारी इच्छाओं को अनुभव करते हैं। परमेश्वर हमें इच्छानुसार कार्य करने की सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसङ्क्षयम् ।
आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

रूपम्—स्वरूप; भगवता—आप भगवान् द्वारा; तु—लेकिन; एतत्—यह; अशेष—अनन्त; क्लेश—कष्ट; सङ्क्षयम्—भगाने के लिए; आविष्कृतम्—प्रकट; नः—हम सबका; क्लिष्टानाम्—भौतिक दशाओं से कष्ट पाने वालों का; किम् अन्यत्—क्या कहें; अनुकम्पितम्—जिन पर आपकी कृपा रहती है।

हे भगवन्, हम बद्धजीव देहात्मबुद्धि के कारण सदैव अज्ञान से घिरे रहते हैं, अतः हमें भौतिक जगत के क्लेश ही सदैव प्रिय लगते हैं। इन क्लेशों से हमारा उद्धार करने के लिए ही आपने इस दिव्य रूप में अवतार लिया है। यह हम-जैसे कष्ट भोगने वालों पर आपकी अनन्त अहैतुकी कृपा का प्रमाण है। तो फिर उन भक्तों के विषय में क्या कहें जिनके प्रति आप सदैव

कृपालु रहते हैं ?

तात्पर्य : जब भगवान् अपने आदि रूप में प्रकट होते हैं, तो वे पवित्रात्माओं का उद्धार और दुष्टों के संहार के लिए कार्य करते हैं (*भगवद्गीता* ४.८)। यद्यपि वे असुरों का संहार करते हैं, किन्तु फिर भी इससे उन्हें लाभ मिलता है। कहा गया है कि जितने प्राणी कुरुक्षेत्र युद्ध में मरे थे उन्हें अपनी आदि स्वाभाविक स्थिति (स्वरूप) प्राप्त हो गई थी, क्योंकि उन्हें अर्जुन के रथ पर आसीन श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन का सुअवसर प्राप्त हुआ था। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल पर ऊपर-ऊपर से दो बातें चल रही थीं—असुरों का विनाश हो रहा था और भक्त अर्जुन की रक्षा की जा रही थी। किन्तु जो परिणाम निकला वह सबों के लिए समान था। इसीलिए कहा जाता है कि भगवान् के प्रकट होने से भौतिक जगत के कारण उत्पन्न सभी तरह के क्लेश कम हो जाते हैं।

इस श्लोक में यह स्पष्ट उल्लेख है कि यह स्वरूप (*अशेषक्लेशसंक्षयम्*) न केवल भक्तों वरन् अन्य सबों द्वारा अनुभव किये जाने वाले क्लेशों को कम करने के लिए है *आविष्कृतं नः क्लिष्टानाम्।* प्रचेताओं ने अपने आपको सामान्य मनुष्य करके बताया है। *किम् अन्यदनुकम्पितम्।* भक्तों पर भगवान् की सदैव कृपा रहती है। भगवान् न केवल बद्धजीवों पर कृपा करते हैं, अपितु भक्तों पर भी करते हैं, जो अपनी भक्ति के कारण पहले से ही मुक्त हुए रहते हैं।

मन्दिरों में भगवान् के जिस रूप की पूजा की जाती है, वह *अर्चा-विग्रह* या *अर्चावतार* कहलाता है। यह सुविधा नवदीक्षित भक्तों को दी जाती है, जिससे वे भगवान् के असली रूप का साक्षात् दर्शन कर सकें, अर्चा के रूप में सादर नमस्कार कर सकें तथा यज्ञ कर सकें। ऐसी सुविधाओं से नवदीक्षित धीरे-धीरे अपनी मूल कृष्णचेतना का आवाहन करते हैं। नवदिक्षितों के लिए मन्दिरों में *अर्चा-विग्रह* की पूजा भगवान् का सबसे मूल्यवान वरदान है। फलतः सभी नवदीक्षितों को अपने घर अथवा मन्दिर में *अर्चा-विग्रह* (*अर्चावतार*) रखकर भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ।
यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्धन ॥ २८॥

शब्दार्थ

एतावत्—इस प्रकार; त्वम्—तुम; हि—निश्चय ही; विभुभिः—अंशों के द्वारा; भाव्यम्—समझाने के लिए; दीनेषु—दीन भक्तों के; वत्सलैः—दयालु; यत्—जो; अनुस्मर्यते—स्मरण किया जाता है; काले—समय के आने पर; स्व-बुद्ध्या—अपनी भक्ति से; अभद्र-रन्धन—हे समस्त अमंगल के विनाशकर्ता, अमंगलहारी।.

हे भगवन्, आप समस्त अमंगल के विनाशकर्ता हैं। आप अपने अर्चा-विग्रह विस्तार के द्वारा अपने दीन भक्तों पर दया करने वाले हैं। आप हम सबों को अपना शाश्वत दास समझें।

तात्पर्य : *अर्चाविग्रह* नामक भगवान् का स्वरूप उनकी अनन्त शक्तियों का विस्तार है। जब भगवान् भक्त की सेवा से धीरे-धीरे संतुष्ट हो जाते हैं, तो समय आने पर वे भक्त को अपने शुद्ध दास के रूप में अपना लेते हैं। स्वभाव से भगवान् परम दयालु हैं, अत: वे नवदीक्षित भक्तों की सेवा स्वीकार करते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२६) में हुई है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

''यदि कोई मुझे भक्ति एवं प्रेमपूर्वक एक पत्ता, एक फूल, फल या जल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।'' भक्तजन *अर्चाविग्रह* पर खाद्य पदार्थ चढ़ाते हैं, जो शाक, फल, पत्तियाँ तथा जल के रूप में होते हैं। भक्तवत्सल होने के कारण भगवान् इन भेंटों को स्वीकार करते हैं। नास्तिक लोग यह सोचते हैं कि भक्तजन मूर्तिपूजा में लगे हैं, किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न होती है। जनार्दन भगवान् तो *भाव* अर्थात् सेवा की प्रवृत्ति को ग्रहण कहते हैं। नवदीक्षित भक्त भगवान् की ऐसी पूजा का महत्त्व भले ही न समझें, किन्तु भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तों को अपनाकर यथासमय उन्हें अपने धाम ले जाते हैं।

इस सम्बन्ध में एक ब्राह्मण की कहानी है, जो अपने मन में भगवान् को खीर चढ़ाया करता था। उस ब्राह्मण के पास न तो धन था, न *अर्चाविग्रह* की पूजा करने का कोई साधन था, किन्तु उसने अपने मन में इन सबकी सुन्दर व्यवस्था कर ली थी। अर्चाविग्रह को स्नान कराने के लिए पवित्र नदियों से जल लाने के लिए उसके पास सुनहरे पात्र थे, वह अर्चाविग्रह को खीर सहित अत्यन्त उत्तम भोजन चढ़ाता था। एक बार जब वह खीर चढ़ा रहा था, तो उसे लगा कि वह बहुत अधिक गरम है, अत: उसने सोचा कि क्यों न चख कर देख लूँ कि कहीं अधिक गरम तो नहीं है। जब उसने खीर चखने के लिए अपनी अँगुली खीर में डाली तो वह जल गई। इससे उसका ध्यान टूट गया। यद्यपि वह मन से प्रसाद चढ़ा रहा था, किन्तु फिर भी भगवान् ने उसे स्वीकार कर लिया था। फलत: भगवान् ने उस

ब्राह्मण को अपने धाम लाने के लिए तुरन्त एक रथ भेज दिया। अत: प्रत्येक निष्ठावान् भक्त का कर्तव्य है कि वह घर में या मन्दिर में अर्चाविग्रह को माने और प्रामाणिक शास्त्रों तथा गुरुसम्मत विधि से भगवान् के स्वरूप की पूजा करे।

येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपीहताम् ।
अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

येन—जिस विधि से; उपशान्तिः—समस्त इच्छाओं की संतुष्टि; भूतानाम्—जीवों की; क्षुल्लकानाम्—अत्यन्त पतितों की; अपि—यद्यपि; ईहताम्—अनेक वस्तुओं की कामना करते हुए; अन्तर्हितः—छिपे हुए; अन्तः-हृदये—हृदय के भीतर; कस्मात्—क्यों; नः—हमारे; वेद—जानता है; न—नहीं; आशिषः—इच्छाएँ।

जब भगवान् अपनी सहज दया से अपने भक्त के विषय में सोचते हैं, तो उस विधि से ही नवदीक्षित भक्तों की सारी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। जीव के अत्यन्त तुच्छ होने पर भी भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं। भगवान् जीव के सम्बन्ध में प्रत्येक बात, यहाँ तक कि उसकी समस्त इच्छाओं, को भी जानते रहते हैं। यद्यपि हम अत्यन्त तुच्छ जीव हैं फिर भी भगवान् हमारी इच्छाओं को क्यों नहीं जानेंगे?

तात्पर्य : सिद्ध भक्त अपने आपको सिद्ध नहीं मानता। वह सदा अत्यन्त विनीत होता है। भगवान् अपने परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं और अपने भक्तों के मनोभावों तथा इच्छाओं को समझ सकते हैं। वे अभक्तों को भी अपनी अपनी इच्छाएँ पूर्ण करने का अवसर प्रदान करते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)।

तुच्छ से तुच्छ जीव भी जो कुछ चाहता है, भगवान् उसको अंकित करते रहते हैं और उन इच्छाओं को पूरा करने के लिए उसे अवसर प्रदान करते हैं। यदि अभक्तों की इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं, तो फिर भक्तों की क्यों नहीं होंगी? शुद्ध भक्त निष्काम भाव से भगवान् की सेवा करता है और यदि वह अपने अन्तस्तल से, जहाँ भगवान् का वास है, चाहता है और यदि वह किसी अन्य भाव से रहित है, तो भगवान् क्यों नहीं समझेंगे? यदि निष्ठावान् भक्त भगवान् या अर्चा-विग्रह की सेवा करता है, तो उसके सारे कार्य सफल हो जाते हैं, क्योंकि हृदय में स्थित भगवान् उसकी निष्ठा को समझ लेते हैं। इस प्रकार यदि भक्त पूर्ण विश्वास के साथ भक्ति सम्बन्धी सारे कार्य करता जाता है, तो अन्त में उसे सफलता प्राप्त होगी।

असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते ।
प्रसन्नो भगवान्येषामपवर्गगुरुर्गतिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

असौ—उस; एव—निश्चय ही; वरः—वर; अस्माकम्—हमारा; ईप्सितः—इच्छित; जगतः—ब्रह्माण्ड के; पते—हे स्वामी; प्रसन्नः—प्रसन्न, तुष्ट; भगवान्—भगवान्; येषाम्—जिसके साथ; अपवर्ग—दिव्य प्रेमाभक्ति का; गुरुः—शिक्षक; गतिः—जीवन का चरम लक्ष्य।

हे जगत् के स्वामी, आप भक्तियोग के वास्तविक शिक्षक हैं। हमें सन्तोष है कि हमारे जीवन के परमलक्ष्य आप हैं और हम प्रार्थना करते हैं कि आप हम पर प्रसन्न हों। यही हमारा अभीष्ट वर है। हम आपकी पूर्ण प्रसन्नता के अतिरिक्त और कुछ भी कामना नहीं करते।

तात्पर्य : इस श्लोक के *अपवर्ग गुरुर्गतिः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार (१.२.११) परमेश्वर ही परम सत्य का चरम तथ्य है—*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।* परम सत्य तीन प्रकार से अनुभव किया जाता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। *अपवर्ग* का अर्थ "मोक्ष" है। *पवर्ग* का अर्थ है "भौतिक संसार।" इस संसार में मनुष्य सदैव कठोर श्रम करता है, किन्तु अन्त में निराश हो जाता है। तब उसकी मृत्यु हो जाती और पुनः कठोर श्रम करने के लिए उसे अन्य शरीर प्राप्त होता है। भौतिक संसार का यही चक्र है। *अपवर्ग* इसका विपरीत है। इसमें मनुष्य कुत्ते-बिल्लियों की तरह कठोर श्रम न करके भगवान् के धाम को वापस जाता है। मोक्ष का प्रारम्भ परमेश्वर के ब्रह्मतेज में मिल जाने से होता है। यह ज्ञानी सम्प्रदाय वालों का विचार है, किन्तु भगवान् का साक्षात्कार इससे बड़ी चीज है। जब भक्त समझता है कि भगवान् प्रसन्न हैं, तो मोक्ष अर्थात् ब्रह्मतेज में मिलना कठिन नहीं होता। जिस प्रकार सूर्यप्रकाश से सूर्य तक पहुँचा जाता है, उसी तरह मनुष्य को निर्गुण ब्रह्मतेज के माध्यम से भगवान् के पास पहुँचना होता है। यदि कोई भगवान् को प्रसन्न कर ले तो भगवान् के निर्गुण तेज में मिल जाना कठिन नहीं रह जाता।

वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत्परतः परात् ।
न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

वरम्—वर; वृणीमहे—माँगेंगे; अथ अपि—अतः; नाथ—हे स्वामी; त्वत्—तुमसे (आपसे); परतः परात्—प्रकृति आदि से परे; न—नहीं; हि—निश्चय ही; अन्तः—अन्त; त्वत्—तुम्हारे; विभूतीनाम्—ऐश्वर्य का; सः—वह (तुम); अनन्तः—अनन्त; इति—इस प्रकार; गीयसे—विख्यात हो।

अतः हे स्वामी, हम आपसे वर देने के लिए प्रार्थना करेंगे, क्योंकि आप समस्त दिव्य प्रकृति से परे हैं और आपके ऐश्वर्यों का कोई अन्त नहीं है। अतः आप अनन्त नाम से विख्यात हैं।

तात्पर्य : प्रचेताओं को भगवान् से कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि भक्तजन तो भगवान् की उपस्थिति मात्र से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। ध्रुव महाराज ने भगवान् का दर्शन करने के लिए कठिन तपस्या की थी और वे भगवान् से वर प्राप्त करना चाहते थे। वे अपने पिता का सिंहासन—या उससे भी श्रेष्ठतर पद—प्राप्त करना चाहते थे, किन्तु जब भगवान् उनके समक्ष उपस्थित हुए तो वे सब कुछ भूल गये। उन्होंने यही कहा, "हे स्वामी, मैं आपसे कोई वर नहीं चाहता।" भक्त की यही वास्तविक स्थिति होती है। भक्त तो भगवान् के समक्ष रहना चाहता है—चाहे इस लोक में हो या अन्यत्र—और उनकी सेवा में लगे रहना चाहता है। भक्तों के लिए यही चरम लक्ष्य तथा वर है।

भगवान् ने प्रचेताओं से वर माँगने के लिए कहा था, अत: उन्होंने कहा, "हम कौन सा वर माँगें? भगवान् अनन्त हैं, अत: वर भी अनन्त हैं।" तात्पर्य यह कि यदि कोई वर माँगता है, तो उसे अनन्त वर माँगने चाहिए। इस श्लोक के *त्वत् परतः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् तो *परतः परात्* हैं। *पर* शब्द का अर्थ है—इस भौतिक जगत से परे अर्थात् दिव्य। निर्विशेष ब्रह्मतेज इस जगत से परे है और इसे *परं पद* कहा जाता है। *आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदम्* (भागवत १०.२.३२)। भगवान् के निर्विशेष तेज में मिल जाना *परं पदम्* कहलाता है, किन्तु इससे भी उच्च दिव्य पद होता है, वह है भगवान् की संगति। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते* (भागवत १.२.११)। परम सत्य का बोध पहले निर्विशेष ब्रह्म, फिर परमात्मा तथा अन्त में भगवान् के रूप में होता है। इस तरह भगवान् *परतः परात्* हैं, अर्थात् ब्रह्म तथा परमात्मा के साक्षात्कार से ऊपर हैं। इस प्रसंग में जीव गोस्वामी इंगित करते हैं कि *परतः परात्* का अर्थ है "सर्वश्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ।" सर्वश्रेष्ठ तो आध्यात्मिक जगत है और यह ब्रह्म कहलाता है। किन्तु भगवान् तो परब्रह्म कहलाते हैं, अत: *परतः परात्* का अर्थ है "ब्रह्म-साक्षात्कार से श्रेष्ठ।"

जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है, प्रचेताओं की योजना कुछ ऐसी माँग प्रस्तुत करने की थी जो अनन्त हो। भगवान् की लीलाएँ, गुण, रूप तथा नाम सभी अनन्त हैं। इन सबका कोई अन्त नहीं है। किन्तु यदि सारे जीव परमेश्वर की अनन्त शक्तियों को सुनने में लग जाँय तो वे अनन्त से सीधे जुड़ जाते हैं। श्रवण तथा कीर्तन के द्वारा अनन्त का ऐसा ज्ञान अनन्त बन जाता है।

पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यन्न सेवते ।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात्किं किं वृणीमहि ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

पारिजाते—पारिजात नामक नैसर्गिक वृक्ष; अञ्जसा—पूर्णतया; लब्धे—प्राप्त करके; सारङ्गः—भौंरा; अन्यत्—अन्यत्र; न सेवते—सेवन नहीं करता; त्वत्-अङ्घ्रि—तुम्हारे चरणकमल; मूलम्—प्रत्येक वस्तु के मूलाधार तक; आसाद्य—पहुँच कर; साक्षात्—प्रत्यक्ष; किम्—क्या; किम्—क्या; वृणीमहि—माँगें।.

हे स्वामी, जब भौंरा दिव्य पारिजात वृक्ष के निकट पहुँच जाता है, तो वह उसे कभी नहीं छोड़ता क्योंकि उसे ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी प्रकार जब हमने आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण की है, तो हमें और क्या वर माँगने की आवश्यकता है?

तात्पर्य : जब भक्त भगवान् के चरणकमलों की सेवा में वास्तव में लगा हो तो उसे अन्य कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उसकी व्यस्तता अपने में पूर्ण होती है। जब भौंरा पारिजात वृक्ष के निकट आ जाता है, तो उसे असीमित मात्रा में मधु प्राप्त हो जाता है। उसे दूसरे वृक्ष पर जाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की सेवा में स्थिर हो चुका है, तो उसे अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, अतः उसे और कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पारिजात वृक्ष इस संसार में साधारण रूप में प्राप्य नहीं है। पारिजात वृक्ष का दूसरा नाम कल्पवृक्ष या मनोरथ पूर्ण करने वाला वृक्ष है। ऐसे वृक्ष से मुँहमाँगा वर प्राप्त किया जा सकता है। इस संसार में यदि नारंगी चाहिए तो वह नारंगी वृक्ष से मिलेगी और आम के वृक्ष से आम मिलेंगे, किन्तु न तो आम के वृक्ष से नारंगी मिल सकती है न नारंगी के वृक्ष से आम। किन्तु पारिजात वृक्ष से जो चाहो सो मिल सकता है–चाहे नारंगी लो, चाहे आम या केला आदि। यह वृक्ष वैकुण्ठलोक में पाया जाता है। *चिन्तामणि प्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु।* वैकुण्ठलोक, जिसे चिन्तामणि धाम कहते हैं, ऐसे कल्पवृक्षों से घिरा है, किन्तु पारिजात वृक्ष इन्द्रलोक में भी प्राप्य है। इस पारिजात वृक्ष को श्रीकृष्ण अपनी रानी सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए लाये थे और इसे रानियों के लिए बने द्वारका के महलों में रोप दिया गया था। भगवान् के चरणकमल भी पारिजात रानियों के लिए निर्मित्त वृक्ष के सदृश हैं और भक्तगण भौंरों के समान हैं। वे सदैव भगवान् के चरणकमलों में आसक्त रहते हैं।

यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः ।

तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥ ३३॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; ते—तुम्हारी (आपकी); मायया—माया से; स्पृष्टाः—दूषित; भ्रमामः—हम घूमते हैं; इह—इस संसार में; कर्मभिः—कर्मों के कारण; तावत्—तब तक; भवत्-प्रसङ्गानाम्—आपके प्रेमी भक्तों की; सङ्गः—संगति; स्यात्—हो; नः—हमारी; भवे भवे—प्रत्येक योनि में।.

हे स्वामी, हमारी प्रार्थना है कि जब तक हम अपने सांसारिक कल्मष के कारण इस संसार में रहें और एक शरीर से दूसरे में तथा एक लोक से दूसरे लोक में घूमते रहें, तब तक हम उनकी संगति में रहें जो आपकी लीलाओं की चर्चा करने में लगे रहते हैं। हम जन्म-जन्मांतर विभिन्न शारीरिक रूपों में और विभिन्न लोको में इसी वर के लिए प्रार्थना करते हैं।

तात्पर्य : यह सर्वश्रेष्ठ वर है, जिसे भक्त भगवान् से माँग सकता है। चैतन्य महाप्रभु के द्वारा भी हुई है : *स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः* (*भागवत* १०.१४.३)। भाग्य के अनुसार मनुष्य किसी एक स्थिति में हो या दूसरी में, प्रत्येक दशा में उसे भगवान् के कार्यकलापों तथा लीलाओं का श्रवण करते रहना चाहिए। शुद्ध भक्त कभी अपनी मुक्ति या आवागमन के चक्र से बचने की प्रार्थना नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि में इनका महत्त्व नहीं होता। भक्त के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात होती है भगवान् की लीलाओं तथा गुणों के सम्बन्ध में श्रवण करने का अवसर पाना। जो लोग इस संसार में भगवद्भक्ति करते हैं उन्हें वैकुण्ठ में भी यही सुअवसर प्राप्त होगा। इस प्रकार भक्त के लिए वैकुण्ठ में सब कुछ है क्योंकि जब तक वह भगवान् की लीलाओं का श्रवण कर सकता है अथवा जहां भी वह कीर्तन कर सकता है, वहाँ भगवान् उपस्थित रहते हैं। *तत्र तिष्ठामि नारद यत्र गायन्ति मद्भक्ताः।* जब शुद्ध भक्त मिलकर भगवान् के विषय में कीर्तन, श्रवण या कथन करते हैं, तो वह स्थान, जहाँ वे एकत्रित होते हैं, वैकुण्ठ बन जाता है। भक्त को वैकुण्ठ जाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। शुद्ध भक्त कहीं भी भगवान् के गुणों का केवल निरपराध भाव से जप करके वैकुण्ठ या वृन्दावन बना सकता है।

प्रत्येक जीवन (*भवे भवे*) में भगवान् के गुणों का गान सुनने का अवसर प्राप्त हो, इसके लिए प्रचेतागण भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं। जीव एक देह से दूसरे में देहान्तरण करता है। भक्त इस क्रिया को बन्द करने के पक्ष में नहीं हैं। चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि*—हे भगवान्, मैं जन्म-जन्मांतर आपकी शुद्ध भक्ति में स्थिर रहूँ। विनयवश भक्त

अपने आपको वैकुण्ठ जाने के अयोग्य समझता है। वह अपने को सदैव प्रकृति के गुणों से मलीन समझता है। भक्त को इन गुणों से भी मुक्त होने के लिए प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं रहती। भक्ति स्वयं दिव्य पद है, अत: इस विशिष्ट सुविधा की याचना करना व्यर्थ है। निष्कर्ष यह निकला कि शुद्ध भक्त जन्म-मृत्यु के चक्र को रोकने के लिए उत्सुक नहीं रहता, वह तो उन भक्तों की संगति करने के लिए उत्सुक रहता है, जो भगवान् के कीर्तन तथा उनके गुणों के श्रवण में लगे हुए हैं।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिष: ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तुलयाम—तुलना करते हैं; लवेन—क्षण (लव) से; अपि—भी; न—नहीं; स्वर्गम्—स्वर्ग लोक की प्राप्ति; न—नहीं; अपुन:-भवम्—ब्रह्मतेज में मिलने के लिए; भगवत्—भगवान् का; सङ्गि—पार्षदों से; सङ्गस्य—संगति का; मर्त्यानाम्—मनुष्यों का, जो मरणशील हैं; किम् उत—क्या कम है; आशिष:—आशीर्वाद, वर।

एक क्षण की भी शुद्ध भक्त की संगति के सामने स्वर्गलोक जाने अथवा पूर्ण मोक्ष पा कर ब्रह्मतेज में मिलने (कैवल्य) की कोई तुलना नहीं की जा सकती है। शरीर को त्याग कर मरने वाले जीवों के लिए सर्वश्रेष्ठ वर तो शुद्ध भक्तों की संगति है।

तात्पर्य : भगवान् चैतन्य के एक परम भक्त सन्त प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूर आकाशपुष्पायते।* शुद्ध भक्त के लिए ब्रह्मतेज में मिलने अथवा कैवल्य का सुख नरक में रहने के समान है। इसी प्रकार स्वर्गलोक (त्रिदशपूर) को जाना अन्य प्रकार का मायाजाल है। दूसरे शब्दों में, शुद्ध भक्त कर्मियों के लक्ष्य (स्वर्ग) अथवा ज्ञानियों के लक्ष्य (कैवल्य) को महत्त्व प्रदान नहीं करता। वह तो अन्य शुद्ध भक्त के साथ क्षण भर की भी संगति को स्वर्ग या कैवल्य से कहीं अधिक महत्त्व देता है। इस संसार में रहने वाले तथा जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़े जीवों के लिए सर्वश्रेष्ठ वर शुद्ध भक्तों की संगति है। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे शुद्ध भक्तों को खोज कर उनके साथ रहे। इससे इस भौतिक जगत में रहते हुए भी पूर्ण सुख प्राप्त किया जा सकता है। इसी उद्देश्य से यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है। अत्यधिक भौतिकता में ग्रस्त मनुष्य इस आन्दोलन से लाभ उठा सकता है और इससे भलीभाँति सम्पर्क बढ़ा सकता है। इस तरह दिग्भ्रमित तथा हताश प्राणी भक्तों की संगति में परम सुख पा सकते हैं।

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः ।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ईड्यन्ते—पूजा की जाती है या चर्चा चलती है; कथाः—कथा; मृष्टाः—शुद्ध; तृष्णायाः—भौतिक इच्छाओं की; प्रशमः—तुष्टि; यतः—जिससे; निर्वैरम्—वैर का न होना; यत्र—जहाँ; भूतेषु—जीवों में; न—नहीं; उद्वेगः—भय; यत्र—जहाँ; कश्चन—किसी प्रकार का, कोई।

जब भी दिव्य लोक की कथाओं की चर्चा चलती है, श्रोतागण, भले ही क्षण-भर के लिए क्यों न हो, समस्त भौतिक तृष्णाएँ भूल जाते हैं। यही नहीं, आगे से वे एक दूसरे से न तो वैर करते हैं, न किसी कुण्ठा या भय से ग्रस्त होते हैं।

तात्पर्य : वैकुण्ठ का अर्थ है ''कुण्ठा से रहित'' और भौतिक जगत का अर्थ है कुण्ठा से पूर्ण। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा है—*सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।* जिन जीवात्माओं ने इस जगत को अपना आवास बनाया है वे सदैव कुण्ठा से भरे रहते हैं। जब शुद्ध भक्तों के द्वारा भगवान् की पवित्र कथाएँ कही जाती हैं, तो कोई भी स्थान वैकुण्ठ बन जाता है। यह *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* की विधि है, जिसमें भगवान् विष्णु के विषय में कीर्तन एवं श्रवण किया जाता है। भगवान् स्वयं इसकी पुष्टि करते हैं—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेषु वा।
तत्र तिष्ठामि नारद यत्र गायन्ति मद्भक्ताः ॥

''हे नारद! न तो मैं अपने निवास वैकुण्ठ में रहता हूँ, न योगियों के हृदय में रहता हूँ। मैं तो उस स्थान में वास करता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरे पवित्र नाम का कीर्तन करते हैं और मेरे रूप, लीलाओं तथा गुणों की चर्चा चलाते हैं।'' दिव्य उच्चारण में भगवान् की उपस्थिति के कारण वैकुण्ठलोक का वातावरण प्रबुद्ध होता है। यह वातावरण भय तथा कुण्ठा से मुक्त होता है। इसमें एक जीव दूसरे जीव से डरता नहीं। भगवान् के पवित्र नाम तथा गुणों के श्रवण से मनुष्य पुण्यकर्म करने लगता है। *शृण्वतां स्वकथाः कृष्ण पुण्यश्रवणकीर्तनः* (*भागवत* १.२.१७)। इस प्रकार उसकी भौतिक तृष्णाएँ तुरन्त समाप्त हो जाती हैं। कृष्णभावनामृत-संघ द्वारा चलाया गया यह संकीर्तन-आन्दोलन वैकुण्ठलोक की सृष्टि करने के लिए है, जहाँ कोई कुण्ठा नहीं है। इसकी विधि है *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* द्वारा सारे संसार में प्रचार। भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति अपने संगी से द्वेष करता है। जब तक मानव-समाज में हरे कृष्ण महामंत्र—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का

संकीर्तन यज्ञ नहीं होता तब तक उसमें पाशविक विद्वेष बना रहता है। फलतः प्रचेताओं ने सदैव भक्तों के समाज में रहने का निश्चय किया और इसे ही मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ वर माना।

यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान्न्यासिनां गतिः ।
संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; नारायणः—भगवान् नारायण; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; न्यासिनाम्—संन्यासियों का; गतिः—परम लक्ष्य; संस्तूयते—पूजा की जाती है; सत्-कथासु—अच्छे अच्छे कथा प्रसंगों द्वारा; मुक्त-सङ्गैः—भव कल्मष से मुक्त व्यक्तियों द्वारा; पुनः पुनः—बारम्बार।

जहाँ भक्तों के बीच भगवान् के पवित्र नाम का श्रवण तथा कीर्तन चलता रहता है, वहाँ भगवान् नारायण उपस्थित रहते हैं। संन्यासियों के चरम लक्ष्य भगवान् नारायण ही हैं और नारायण की पूजा उन व्यक्तियों द्वारा इस संकीर्तन आन्दोलन के माध्यम से की जाती है, जो भौतिक कल्मष से मुक्त हो चुके हैं। वे बारम्बार भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करते हैं।

तात्पर्य : मायावादी संन्यासी नारायण की वास्तविक उपस्थिति से वंचित रह जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे झूठे ही अपने को साक्षात् नारायण कहते हैं। मायावादी संन्यासियों में एक दूसरे को नारायण कहने का शिष्टाचार है। यह कहना कि प्रत्येक प्राणी नारायण का मन्दिर है सही है, किन्तु अन्य किसी मनुष्य को नारायण मानना महान् अपराध है। दरिद्रनारायण (निर्धन नारायण) की संकल्पना भी एक महान् अपराध है, क्योंकि इसमें निर्धन को नारायण स्वरूप मानने का प्रयास किया जाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं के साथ नारायण की समता करना अपराध है।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादि दैवतैः ।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम् ॥

"जो भगवान् नारायण को ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवताओं के समान मानता है उसे पाषण्डी कोटि में गिना जाता है।" तथ्य तो यह है कि यज्ञ संकीर्तन द्वारा भगवान् को तुरन्त प्रसन्न किया जा सकता है। तब नारायण स्वयं अवतरित होकर वहाँ उपस्थित होते हैं। इस कलियुग में चैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् तुरन्त ही उपस्थित हो जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* (११.५.३२) में भगवान् चैतन्य महाप्रभु के विषय में कहा गया है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।

यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥

''कलियुग में बुद्धिमान पुरुष कृष्ण-नाम का निरन्तर गायन करने वाले ईश्वर के अवतार की पूजा करने के लिए सामूहिक कीर्तन करते हैं। यद्यपि उनका रंग श्याम नहीं है, किन्तु वे साक्षात् कृष्ण हैं। उनके साथ उनके पार्षद, सेवक, आयुध तथा विश्वस्त संगी रहते हैं।'' आखिर, यह मनुष्य जीवन नारायण को प्रसन्न करने के लिए ही मिला है और संकीर्तन यज्ञ द्वारा इसकी पूर्ति की जा सकती है। जब भी भगवान् के पवित्र नाम का सामूहिक कीर्तन होता है, भगवान् गौर नारायण अपने भगवान् चैतन्य रूप में तुरन्त प्रकट होते हैं और संकीर्तन यज्ञ द्वारा पूजे जाते हैं।

इस श्लोक में कहा गया है कि *न्यासिनां गतिः* अर्थात् नारायण संन्यासियों के चरम लक्ष्य हैं। जिन व्यक्तियों ने संसार का परित्याग कर दिया है उनका लक्ष्य नारायण की प्राप्ति है। अतः वैष्णव संन्यासी नारायण की सेवा में अपना जीवन समर्पित करता हैं, इसलिए वैष्णव संन्यासी अपना जीवन नारायण की सेवा हेतु अर्पण कर देता है और झूठे ही स्वयं के नारायण होने का दावा नहीं करता। जो नारायण बनने का प्रयत्न करता है, वह तुरन्त निर्वैर होने के बजाय भगवान् से वैर रखने लगता है। इसलिए नारायण बनने का प्रयत्न करना सबसे बड़ा अपराध है। वास्तव में जब कोई व्यक्ति भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का कीर्तन करता है या चर्चा करता है, तो वह निर्वैर बन जाता है। इस संसार में हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से वैर रखता है, किन्तु भगवान् का नाम उच्चारण करने अथवा नाम की चर्चा चलाने से वह समस्त भौतिक तृष्णाओं से रहित तथा निर्वैर हो जाता है। भगवान् से ईर्ष्या (वैर) करने के कारण हम अन्य सभी जीवों से वैर रखने लगे हैं। जब हम भगवान् से वैर रखना छोड़ देंगे तो मानव समाज में वास्तविक शान्ति, एकता तथा बन्धुत्व आएगा। नारायण अथवा संकीर्तन यज्ञ के बिना इस संसार में शान्ति नहीं आ सकती।

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनका; **विचरताम्**—विचरण करने वालों का; **पद्भ्याम्**—अपने पाँवों से; **तीर्थानाम्**—पवित्र स्थानों का; **पावन-इच्छया**—पवित्र करने की इच्छा से; **भीतस्य**—डरे हुए संसारी पुरुष का; **किम्**—क्यों; **न**—नहीं; **रोचेत**—अच्छा लगता है; **तावकानाम्**—आपके भक्तों की; **समागमः**—भेंट।

हे भगवन्, आपके पार्षद तथा भक्त संसार-भर में तीर्थस्थानों तक को पवित्र करने के लिए

भ्रमण करते रहते हैं। जो इस संसार से भयभीत हैं, क्या ऐसा कार्य इन सबके लिए रुचिकर नहीं होता?

तात्पर्य : भक्त दो प्रकार के होते हैं—*गोष्ठानन्दी* तथा *भजनानन्दी। भजनानन्दी* एक ही स्थान पर रहते हैं, वे कहीं जाते नहीं। ऐसे भक्त सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं। वे आचार्यों द्वारा बताये गये महामंत्र का जप करते हैं और कभी-कभी उपदेश देने बाहर जाते हैं। गोष्ठानन्दी भक्त वे हैं, जो संसार भर में भक्तों की संख्या बढ़ाने के इच्छुक रहते हैं। वे सारे संसार तथा उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों को शुद्ध करने के लिए विचरण करते रहते हैं। चैतन्य महाप्रभु का आदेश है—

पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम।

सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम॥

चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि उनके अनुयायी संसार-भर में प्रत्येक नगर तथा ग्राम में प्रचार के लिए जाँय। चैतन्य-सम्प्रदाय के जो लोग भगवान् चैतन्य के सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करते हैं उन्हें भगवान् चैतन्य के सन्देश को, जो श्रीकृष्ण के वचन—*भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*—ही है, विश्व-भर में प्रचार करने के लिए भ्रमण करना होता है। भक्तगण जितना ही कृष्णकथा के सिद्धान्तों का उपदेश करेंगे, उतना ही संसार-भर के लोग लाभान्वित होंगे।

नारद मुनि जैसे भक्त, जो प्रचारार्थ सर्वत्र घूमते हैं, गोष्ठानन्दी कहलाते हैं। नारद मुनि ब्रह्माण्ड-भर में विभिन्न प्रकार के भक्त उत्पन्न करने के लिए सदैव विचरण करते रहते हैं। नारद मुनि ने तो बहेलिये तक को भक्त बना लिया था। उन्होंने ध्रुव तथा प्रह्लाद को भी भक्त बनाया। वस्तुत: सारे भक्त नारद मुनि के ऋणी हैं, क्योंकि वे स्वर्ग तथा नरक दोनों में विचरण कर चुके थे। भगवद्भक्त नरक से भी नहीं डरता। वह सर्वत्र, यहाँ तक कि नरक में भी, भगवान् की महिमा का प्रचार करने के लिए जाता है क्योंकि भक्त की दृष्टि में स्वर्ग तथा नरक में कोई अन्तर नहीं रहता।

नारायणपरा: सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन:॥

''नारायण का शुद्ध भक्त कहीं भी जाने से डरता नहीं। उसके लिए स्वर्ग तथा नरक समान हैं।'' (*भागवत* ६.१७.२८)। ऐसे भक्त सर्वत्र घूम कर इस भौतिक संसार से डरने वालों का उद्धार करते रहते

हैं। कुछ लोग भौतिक भोगों से हताश तथा दिग्भ्रमित होने के कारण पहले से ही इस संसार से ऊबे हैं और कुछ लोग, जो बुद्धिमान हैं, परमेश्वर को जानने में रुचि रखते हैं। ये दोनों ही तरह के लोग संसार-भर में विचरण करने वाले शुद्ध भक्त से लाभ उठा सकते हैं।

जब कोई शुद्ध भक्त किसी तीर्थस्थान में जाता है, तो उसके मन में उसे शुद्ध करने की अभिलाषा होती है। अनेक पापी तीर्थस्थानों में स्नान करते हैं। वे गंगा तथा यमुना नदियों के जल में प्रयाग, वृन्दावन तथा मथुरा जैसे स्थानों में स्नान करते हैं। इस प्रकार पापी मनुष्य शुद्ध होते हैं, किन्तु उनके पापपूर्ण कर्म तथा उनके फल तीर्थस्थानों में रह जाते हैं। अत: जब कोई भक्त ऐसे तीर्थस्थानों में स्नान करने आता है, तो पापियों द्वारा छोड़े हुए पापपूर्ण कर्मफलों का निराकरण हो जाता है। *तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्त:स्थेन गदाभृता* (*भागवत* १.१३.१०)। चूँकि भक्त के हृदय में सदैव भगवान् विराजमान रहते हैं, अत: वह जिस किसी स्थान में जाता है, वह तीर्थस्थान बन जाता है, जो कि भगवान् को समझने का पवित्र स्थान होता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह शुद्ध भक्त की संगति करे और भव-कल्मष से छुटकारा पा ले। प्रत्येक व्यक्ति को विचरण करने वाले भक्तों से लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि इन भक्तों का एकमात्र कार्य बद्धजीवों को माया के चंगुल से छुड़ाना है।

वयं तु साक्षाद्भगवन्भवस्य
प्रियस्य सख्यु: क्षणसङ्गमेन ।
सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्योर्
भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गता: स्म ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; तु—तब; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवन्—हे स्वामी; भवस्य—शिवजी की; प्रियस्य—अत्यन्त प्रिय; सख्यु:—आपके मित्र; क्षण—क्षण भर के; सङ्गमेन—संगति से; सुदुश्चिकित्स्यस्य—जिसका उपचार कर पाना अत्यन्त दुष्कर है; भवस्य—भौतिक अस्तित्व का; मृत्यो:—मृत्यु का; भिषक्-तमम्—सर्वश्रेष्ठ वैद्य; त्वा—तुम; अद्य—आज; गतिम्—लक्ष्य; गता:—प्राप्त कर लिया; स्म—निश्चय ही।

हे भगवन्, हम भाग्यशाली हैं कि आपके अत्यन्त प्रिय तथा अभिन्न मित्र शिवजी की क्षणमात्र की संगति से हम आपको प्राप्त कर सके हैं। आप इस संसार के असाध्य रोग का उपचार करने में समर्थ सर्वश्रेष्ठ वैद्य हैं। हमारा सौभाग्य था कि हमें आपके चरणकमलों का आश्रय प्राप्त हो सका।

तात्पर्य : यह कहा गया है—*हरिं विना न सृतिं तरन्ति।* भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लिये

बिना माया, जन्म की पुनरावृत्ति, जरा, रोग तथा मृत्यु के चंगुल से नहीं बचा जा सकता। प्रचेताओं को शिवजी की कृपा से भगवान् की शरण प्राप्त हो सकी। शिवजी भगवान् विष्णु के परम भक्त हैं—*वैष्णवानां यथा शम्भुः*—शिवजी सर्वश्रेष्ठ वैष्णव हैं और जो लोग शिवजी के असली भक्त हैं, वे शिवजी के उपदेशों का पालन करते हैं और भगवान् विष्णु के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु शिवजी के तथाकथित भक्त, जो भौतिक सम्पन्नता के पीछे पड़े रहते हैं, धोखा खाते हैं। उन्हें शिवजी वास्तव में धोखा नहीं देते क्योंकि उन्हें लोगों को धोखा देने में कोई सरोकार नहीं है, किन्तु शिवजी के तथाकथित भक्त चाहते हैं कि उन्हें धोखा दिया जाये, अतः आशुतोष शिवजी उन्हें सभी प्रकार के भौतिक वर देते रहते हैं। ये वर विडम्बना स्वरूप तथाकथित भक्तों का विनाश का कारण बन सकते हैं। उदाहरणार्थ, रावण ने शिवजी से समस्त भौतिक वर प्राप्त कर लिये थे, किन्तु परिणाम यह हुआ कि वह अपने परिवार, राज्य तथा सर्वस्व सहित विनष्ट हो गया, क्योंकि उसने शिवजी के वर का दुरुपयोग किया। अपनी भौतिक शक्ति के कारण वह इतना अहंकारी और घमण्डी हो गया कि उसने भगवान् रामचन्द्र की पत्नी का अपहरण करने का दुस्साहस किया। इस प्रकार से वह विनष्ट हो गया। शिवजी से वर प्राप्त करना कठिन नहीं है, किन्तु वे वास्तविक वर नहीं होते। प्रचेताओं ने शिवजी से भौतिक वर प्राप्त करके भगवान् विष्णु के चरणकमलों की शरण ली। यह वास्तविक वर है। गोपियों ने भी वृन्दावन में शिवजी की पूजा की और आज भी गोपीश्वर रूप में भगवान् वहाँ हैं। किन्तु गोपियों ने शिवजी से प्रार्थना की कि वे भगवान् कृष्ण को उनका पति होने का आशीर्वाद दें। यदि किसी का उद्देश्य भगवद्धाम को वापस जाना है, तो देवताओं की पूजा करने में कोई हानि नहीं है। साधारण लोग तथा भौतिक लाभ की दृष्टि से देवताओं के पास जाते हैं जिसका संकेत *भगवद्गीता* (७.२०) में मिलता है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

''जिनके मन भौतिक इच्छाओं से विकृत हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण ग्रहण करते हैं और अपने मन के अनुसार पूजा के विधि-विधानों का पालन करते हैं।'' भौतिक लाभों के पीछे पड़ा व्यक्ति हृतज्ञान (जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई है) कहलाता है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात है कि शास्त्रों में

कभी-कभी शिवजी को भगवान् से अभिन्न बताया जाता है। बात यह है कि शिवजी तथा भगवान् विष्णु परस्पर इतने घुले-मिले हुए हैं कि उनकी विचारधारा में कोई अन्तर नहीं रहता। वास्तविकता तो यह है कि *एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—कृष्ण ही एकमात्र ईश्वर हैं, अन्य सब उनके दास या भक्त हैं (*श्रीचैतन्यचरितामृत,* आदि ५.१४२)। यह सत्य है कि इस विषय में शिवजी तथा भगवान् विष्णु में कोई अन्तर नहीं हैं। शास्त्रों में कहीं भी शिवजी अपने को भगवान् विष्णु के समान होने का दावा नहीं करते। यह तो शिवजी के तथाकथित भक्तों की करामात है, जो दावा करते हैं कि शिव तथा विष्णु एक हैं। *वैष्णव तन्त्र* में इसका सर्वथा निषेध हुआ है—*यस्तु नारायणं देवम्।* भगवान् विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा में स्वामी तथा दास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिव-विरि-श्चि-नुतम् शिव तथा ब्रह्मा विष्णु को आदर देते हैं और नमस्कार करते हैं। उनको समान मानना महान् अपराध है। वे इस दृष्टि से सम हैं कि भगवान् विष्णु भगवान् हैं और अन्य सभी उनके शाश्वत दास हैं।

यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता
विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।
आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च
सर्वाणि भूतान्यनसूययैव ॥ ३९ ॥
यन्नः सुतप्तं तप एतदीश
निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु ।
सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भूम्नो
वृणीमहे ते परितोषणाय ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; नः—हमारे द्वारा; स्वधीतम्—अध्ययन किया गया; गुरवः—श्रेष्ठ व्यक्ति, गुरुजन; प्रसादिताः—प्रसन्न होने पर; विप्राः—ब्राह्मण; च—तथा; वृद्धाः—वृद्धजन; च—तथा; सत्-आनुवृत्त्या—अपने सदाचरण से; आर्याः—श्रेष्ठजन; नताः—नमस्कार करने से; सु-हृदः—मित्रगण; भ्रातरः—भाई; च—तथा; सर्वाणि—समस्त; भूतानि—जीव; अनसूयया—द्वेषरहित; एव—निश्चय ही; यत्—जो; नः—हमारा; सु-तप्तम्—कठिन; तपः—तपस्या; एतत्—यह; ईश—हे भगवान्; निरन्धसाम्—निराहार; कालम्—समय तक; अदभ्रम्—दीर्घ; अप्सु—जल के भीतर; सर्वम्—सभी; तत्—उस; एतत्—इस; पुरुषस्य—भगवान् का; भूम्नः—महान; वृणीमहे—वर माँगते हैं; ते—आपका; परितोषणाय—सन्तोष के लिए।

हे भगवन्, हमने वेदों का अध्ययन किया है, गुरु बनाया है और ब्राह्मणों, भक्तों तथा आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक उन्नत वरिष्ट पुरुषों को सम्मान प्रदान किया है। हमने अपने किसी भी भाई, मित्र या अन्य किसी से ईर्ष्या नहीं की। हमने जल के भीतर रहकर कठिन तपस्या भी की है और दीर्घकाल तक भोजन नहीं ग्रहण किया। हमारी ये सारी आध्यात्मिक सम्पदाएँ

आपको प्रसन्न करने के लिए सादर समर्पित हैं। हम आपसे केवल यही वर माँगते हैं, अन्य कुछ भी नहीं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्‌भागवत में कहा गया है—*संसिद्धिर्हरितोषणम्*—वास्तविक सिद्धि भगवान् को प्रसन्न करना है। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वेदों को समझने के लिए भगवान् को समझना होता है। जिसने उन्हें समझ लिया है, वह अनेकानेक जन्मों के बाद उनकी शरण ग्रहण करता है। हमें प्रचेताओं में ये सारे गुण मिल जाते हैं। उन्होंने जल के भीतर कठिन तपस्या की और दीर्घकाल तक निराहार रहे। उन्होंने यह तपस्या किसी भौतिक लाभ के लिए नहीं, अपितु भगवान् को प्रसन्न करने के लिए की थी। मनुष्य किसी भी प्रकार के—भौतिक या आध्यात्मिक—कार्य में लगा रह सकता है, किन्तु उद्देश्य होना चाहिए भगवान् को प्रसन्न रखना। यह श्लोक वैदिक सभ्यता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। जो लोग भक्त बनने का अभ्यास कर रहे हों, उन्हें न केवल भगवान् के प्रति आभारी होना चाहिए, अपितु ज्ञान में जो वरिष्ठ हैं, जो आर्य हैं तथा भगवान् के वास्तविक भक्त हैं, उनका भी सम्मान करना चाहिए। आर्य वह है, जो गप्पें नहीं हाँकता वरन् भगवान् का वास्तविक भक्त है। *आर्य* का अर्थ है, "उन्नत या प्रगतिशील।" पूर्वकाल में जो लोग अपने को आर्य कहते थे, वे भगवान् के भक्त होते थे। उदाहरणार्थ, *भगवद्‌गीता* (२.२) में श्रीकृष्ण ने यह कह कर अर्जुन की भर्त्सना की कि वह अनार्य की तरह बोल रहा है—

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

"भगवान् कृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! संग्राम की इस विषम स्थिति में तुममें ये अशुद्धताएँ किस कारण से आ गई? ये तो उन मनुष्यों के योग्य नहीं हैं, जो जीवन की श्रेष्ठ गरिमा को जानते हैं। उच्च लोकों की प्राप्ति कराने वाले भी नहीं हैं, अपितु अपयश का कारण हैं।" अर्जुन क्षत्रिय होते हुए भी परमेश्वर द्वारा आदेशित होने पर लड़ने से इनकार कर रहा था। भगवान् ने उसे अनार्य वंश का कह कर उसकी भर्त्सना की। जो कोई भगवद्‌भक्ति में अग्रसर है, वह अवश्य ही अपना कर्तव्य जानता है, चाहे यह कर्तव्य हिंसात्मक या अहिंसात्मक हो। यदि यह भगवान् द्वारा स्वीकृत है और उनका आदेश है, तो

उसे अवश्य करना चाहिए। आर्य अपना कर्तव्य पूरा करता है। आर्यजन वृथा ही जीवों से शत्रुता नहीं रखते। वे कभी कसाईघर नहीं चलाते और न ही दीन पशुओं के शत्रु होते हैं। प्रचेताओं ने अनेक वर्षों तक जल के भीतर रहकर भी तपस्या की थी। तपस्या को स्वीकार करना उन्नत सभ्यता का न्याय संगत कर्तव्य है।

निरन्धसाम् शब्द का अर्थ हैं, ''निराहार।'' वृथा ही अधिक भोजन करना आर्य का कार्य नहीं है, अपितु जहाँ तक हो सके सीमित भोजन करना चाहिए। जब आर्य लोग भोजन करते हैं, तो वे स्वीकृत भोज्य पदार्थ ही खाते हैं। इसके सम्बन्ध में भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

''यदि कोई मुझे प्रेम तथा भक्तिपूर्वक एक पत्ता, फूल, फल अथवा जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।'' इस प्रकार उन्नत आर्यों के लिए अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। यद्यपि भगवान् इच्छानुसार सब कुछ खा सकते हैं, किन्तु वे अपने को फल, फूल, पत्ता, दूध इत्यादि तक सीमित रखते हैं। इस प्रकार इस श्लोक में आर्यों के कार्यों का वर्णन हुआ है।

मनुः स्वयम्भूर्भगवान्भवश्च
येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः ।
अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः
स्तुवन्त्यथो त्वात्मसमं गृणीमः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मनुः—स्वायंभुव मनु; स्वयम्भूः—ब्रह्मा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; भवः—शिवजी; च—भी; ये—जो; अन्ये—अन्य; तपः—तपस्या; ज्ञान—ज्ञान द्वारा; विशुद्ध—शुद्ध; सत्त्वाः—जिसका अस्तित्व; अदृष्ट-पाराः—जो अन्त को नहीं देख सकते; अपि—यद्यपि; यत्—तुम्हारी; महिम्नः—महिमा की; स्तुवन्ति—प्रार्थना करते हैं; अथो—अतः; त्वा—तुमको; आत्म-समम्—यथाशक्ति; गृणीमः—हमने प्रार्थना की।.

हे भगवन्, तप तथा ज्ञान के कारण सिद्धिप्राप्त बड़े-बड़े योगी तथा शुद्ध सत्व में स्थित लोगों के साथ-साथ मनु, ब्रह्मा तथा शिव जैसे महापुरुष भी आपकी महिमा तथा शक्तियों को पूरी तरह नहीं समझ पाते। फिर भी वे यथाशक्ति आपकी प्रार्थना करते हैं। उसी प्रकार हम इन महापुरुषों से काफी क्षुद्र होते हुए भी अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रार्थना कर रहे हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा, शिव, मनु (मानव जाति का जनक), परम साधु पुरुष तथा बड़े-बड़े ऋषि

जिन्होंने अपनी तपस्या तथा भक्ति के बल पर उच्चस्थान प्राप्त किया है, भगवान् की तुलना में ज्ञान में अधूरे हैं। इस संसार के सभी प्राणियों के साथ ऐसा ही है। कोई मनुष्य किसी भी वस्तु में, विशेष रूप से ज्ञान में, परमेश्वर के समकक्ष नहीं हो सकता। फलत: भगवान् के प्रति की गई किसी की भी प्रार्थना पूर्ण नहीं होती। परमेश्वर की पूर्ण महिमा को माप पाना असम्भव है, क्योंकि वह अनन्त है। भगवान् भी अपने अनन्त अर्थात् शेष अवतार के रूप में अपनी महिमा का वर्णन कर सकने में असमर्थ हैं। यद्यपि अनन्त के हजारों मुख हैं और वे अनेक वर्षों से भगवान् की महिमा का गान करते रहे हैं, किन्तु वे भी भगवान् की महिमा का अन्त नहीं पा सके। इस प्रकार परमेश्वर की शक्तियों एवं महिमा का अनुमान लगा पाना असम्भव है।

तो भी प्रत्येक व्यक्ति भक्तिपूर्वक भगवान् की प्रार्थना कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने एक सापेक्ष पद में स्थित है; इस कारण भगवान् की महिमा का बखान करने में कोई भी सक्षम नहीं है। ब्रह्मा तथा शिव से लेकर हममें से प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर का दास है। हम सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार सापेक्ष पदों पर स्थित हैं, फिर भी भगवान् की महिमा को पहचानते हुए हम अपने-अपने हृदय तथा आत्मा से प्रार्थना कर सकते हैं। यही हमारी सिद्धि है। घोर अंधकार में रहकर भी मनुष्य को यथाशक्ति भगवान् की प्रार्थना करने की अनुमति है। अत: *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु: पापयोनय: ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

''हे पार्थ! मेरी शरण आकर तो निम्नतर योनि वाले-स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो सकते हैं।''

यदि कोई निष्ठापूर्वक भगवान् के चरणकमलों को धीरता के साथ स्वीकार करता है, तो वह भगवान् तथा भगवान् के दास की कृपा से शुद्ध हो जाता है। *भागवत* (२.४.१८) में शुकदेव गोस्वामी ने इसकी पुष्टि की है—*येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रया: शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम: ।* जो भगवान् के दास अर्थात् गुरु के प्रयास से भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लेता है, वह भले ही निम्नकुल में क्यों न जन्मा हो तुरन्त शुद्ध हो जाता है। वह अपने घर, भगवद्धाम वापस जाने के योग्य हो जाता है।

नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च ।
वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; समाय—सर्वसम को; शुद्धाय—जो कभी पाप कर्मों द्वारा दूषित नहीं होता; पुरुषाय—परम पुरुष को; पराय—दिव्य; च—भी; वासुदेवाय—सर्वत्र रहने वाले को; सत्त्वाय—उसे जो दिव्य पद को प्राप्त है; तुभ्यम्—तुमको; भगवते—भगवान् को; नमः—नमस्कार।

हे भगवन्, आपके न तो शत्रु हैं न मित्र। अतः आप सबों के लिए समान हैं। आप पापकर्मों के द्वारा कलुषित नहीं होते और आपका दिव्य रूप सदैव भौतिक सृष्टि से परे है। आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, क्योंकि आप सर्वव्यापी हैं, अतः आप वासुदेव कहलाते हैं। हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव कहलाते हैं क्योंकि वे सर्वत्र निवास करते हैं। *वस* शब्द का अर्थ है ''बसना या निवास करना।'' जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिम्*—भगवान् अपने स्वांशों द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके भौतिक सृष्टि की रचना करते हैं। वे प्रत्येक जीव के हृदय में तथा प्रत्येक परमाणु में भी प्रवेश करते हैं (*परमाणुचयान्तरस्थ*)। सर्वत्र रहने के कारण भगवान् वासुदेव कहलाते हैं। इस संसार में सर्वत्र रहते हुए भी वे प्रकृति के गुणों से कलुषित नहीं होते। अतः *ईशोपनिषद्* में भगवान् को *अपापविद्धम्* कहा गया है। वे प्रकृति के गुणों से कभी भी प्रभावित नहीं होते। जब भगवान् इस लोक में अवतरित होते हैं, तो वे अनेक प्रकार के कार्य करते हैं। वे असुरों को मारते हैं और ऐसे कार्य करते हैं जिनकी अनुमति वेद नहीं देते अर्थात् जिन्हें पापपूर्ण माना जाता है। यद्यपि वे इस प्रकार के कार्य करते हैं, किन्तु अपने कर्म से वे दूषित नहीं होते। इसीलिए यहाँ पर उन्हें शुद्ध कहा गया है। भगवान् सम भी हैं। इस सम्बन्ध में *भगवद्गीता* (९.२९) का कथन है—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः*—भगवान् का न कोई मित्र है, न कोई शत्रु। वे सबों के लिए समान (सम) हैं।

सत्त्वाय शब्द सूचित करता है कि भगवान् का स्वरूप भौतिक नहीं है। यह *सच्चिदानन्दविग्रहः* है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।* उनका शरीर हमारे भौतिक शरीर से भिन्न होता है। कोई यह न सोचे कि भगवान् के भी हमारे जैसा भौतिक शरीर है।

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतोभिरभिष्टुतो हरिः
प्रीतस्तथेत्याह शरण्यवत्सलः ।
अनिच्छतां यानमतृप्तचक्षुषां
ययौ स्वधामानपवर्गवीर्यः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रचेतोभिः—प्रचेताओं द्वारा; अभिष्टुतः—प्रशंसित, स्तुति करने पर; हरिः—भगवान्; प्रीतः—प्रसन्न होकर; तथा—उसी तरह; इति—इस प्रकार; आह—कहा; शरण्य—शरणागतों के लिए; वत्सलः—स्नेहभाजन; अनिच्छताम्—इच्छा न होते हुए; यानम्—विदा; अतृप्त—तृप्त नहीं हुए; चक्षुषाम्—नेत्र; ययौ—चला गया; स्व-धाम—अपने धाम को; अनपवर्ग-वीर्यः—जिनका वीर्य कभी पराजित नहीं होता, अप्रतिहत।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार प्रचेताओं द्वारा सम्बोधित तथा पूजित होकर शरणागतों के रक्षक भगवान् ने कहा, ''तुमने जो कुछ माँगा है, वह पूरा हो।'' तत्पश्चात् कभी न पराजित होनेवाले भगवान् ने विदा ली। प्रचेतागण उनसे विलग नहीं होना चाह रहे थे, क्योंकि उन्होंने जी-भर कर उन्हें नहीं देखा था।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अनपवर्गवीर्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *अन* का अर्थ है बिना, *पवर्ग* का अर्थ भौतिकवादी जीवन शैली तथा *वीर्य* का अर्थ शक्ति है। भगवान् की शक्ति में छह मूल ऐश्वर्य हैं जिनमें एक विरक्ति है। यद्यपि प्रचेता भगवान् को जी-भर कर देखना चाहते थे, किन्तु भगवान् चले गये। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यह अन्य असंख्य भक्तों के प्रति उनकी दया का प्रदर्शन है। यद्यपि प्रचेता उनके प्रति आकृष्ट हो रहे थे, किन्तु वे चले गये। यह उनकी विरक्ति का सूचक है। ऐसी विरक्ति भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने भी दिखलाई थी जब वे संन्यास लेकर अद्वैत प्रभु के साथ रह रहे थे। वहाँ के सभी भक्त चाह रहे थे कि वे कुछ दिन और रुकें, किन्तु महाप्रभु बिना हिचक के वहाँ से चले गये। निष्कर्ष यह निकला कि यद्यपि भगवान् अपने भक्तों के प्रति अपार दयाभाव रखते हैं, किन्तु वे किसी से लिप्त नहीं होते। वे सृष्टि-भर के अपने समस्त भक्तों पर समान रूप से दयालु हैं।

अथ निर्याय सलिलात्प्रचेतस उदन्वतः ।
वीक्ष्याकुप्यन्द्रुमैश्छन्नां गां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; निर्याय—बाहर निकल कर; सलिलात्—जल से; प्रचेतसः—सभी प्रचेता; उदन्वतः—समुद्र के; वीक्ष्य—देखकर; अकुप्यन्—अत्यन्त क्रुद्ध हुए; द्रुमैः—वृक्षों से; छन्नाम्—ढकी हुई; गाम्—पृथ्वी को; गाम्—स्वर्ग को; रोद्धुम्—रोकने के लिए; इव—मानो; उच्छ्रितैः—अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे।

तत्पश्चात् सभी प्रचेता समुद्र के जल से बाहर निकल आये। तब उन्होंने देखा कि पृथ्वी

(स्थल) पर सारे वृक्ष बढ़कर काफी ऊँचे हो चुके हैं मानो वे स्वर्ग के मार्ग को रोकना चाहते हों। इन वृक्षों ने सारे पृथ्वीतल को आच्छादित कर रखा था। उस समय प्रचेता अत्यन्त कुपित हुए।

तात्पर्य : राजा प्राचीनबर्हिषत् अपने पुत्रों (प्रचेताओं) द्वारा तपस्या पूरी करके लौटने के पूर्व ही अपना राज-पाट छोड़ कर चले गये थे। भगवान् ने इन पुत्रों अर्थात् प्रचेताओं को जल से बाहर निकल कर अपने पिता के राज्य में जाकर प्रजा की रक्षा करने का आदेश दिया। किन्तु जब वे जल से निकल कर बाहर आये तो उन्होंने देखा कि राजा की अनुपस्थिति में सब कुछ उपेक्षित हो गया था। सर्वप्रथम उन्होंने देखा कि कृषि-कार्य बन्द हो जाने से खाद्यान्नों का उत्पादन नहीं हो रहा था। वस्तुतः सारा पृथ्वीतल ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से लगभग ढका हुआ था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो ये वृक्ष स्वर्ग जाने वालों के रास्ते को रोक कर खड़े हों। जब प्रचेताओं ने पृथ्वी की सतह को इस प्रकार से ढका हुआ देखा तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उनकी इच्छा थी कि फसलों के लिए सारी भूमि साफ कर ली जाय।

यह सत्य नहीं है कि जंगल तथा वृक्ष बादलों तथा वर्षा को आकर्षित करते हैं, क्योंकि समुद्र के ऊपर भी वर्षा होती है। मनुष्य पृथ्वीतल के जंगलों को साफ करके तथा भूमि को कृषि-योग्य बना कर कहीं भी रह सकते हैं। लोग गाएँ रख सकते हैं और इस तरह सभी प्रकार की आर्थिक समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। मनुष्य को अनाज उत्पन्न करने के लिए काम करना होगा और गायों की रक्षा करनी होगी। जंगलों की लकड़ी झोपड़ियाँ बनाने के काम में लाई जा सकती है। इस प्रकार मनुष्यों की आर्थिक समस्या सुलझाई जा सकती है। इस समय संसार-भर में अत्यन्त अधिक निर्जन भूमि है, जिसका यदि समुचित उपयोग किया जाय तो अन्न का अभाव न रहे। जहाँ तक वर्षा का प्रश्न है, यज्ञ करने से वर्षा होती है। *भगवद्गीता* (३.१४) में कहा गया है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

''सभी प्राणी अन्न पर निर्भर रहते हैं और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ सम्पन्न करने से होती है और यर्ज्ञ स्वधर्म से उत्पन्न है।'' यज्ञ करने से मनुष्य को प्रचुर वर्षा तथा अन्न प्राप्त होगा।

ततोऽग्निमारुतौ राजन्नमुञ्चन्मुखतो रुषा ।
महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक इवात्यये ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अग्नि—आग; मारुतौ—तथा वायु; राजन्—हे राजन्; अमुञ्चन्—निकालते हुए; मुखतः—अपने मुखों से; रुषा—क्रोध से; महीम्—पृथ्वी को; निर्वीरुधम्—वृक्षरहित; कर्तुम्—करने के लिए; संवर्तकः—प्रलयाग्नि; इव—सदृश; अत्यये—प्रलय के समय।

हे राजन्, प्रलय के समय शिवजी क्रोध में आकर अपने मुख से अग्नि तथा वायु छोड़ते हैं। प्रचेताओं ने भी पृथ्वीतल को पूर्णतः वृक्षरहित करने के लिए अपने मुखों से अग्नि तथा वायु निकाली।

तात्पर्य : इस श्लोक में विदुर को *राजन्* कह कर सम्बोधित किया गया है। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि धीर कभी कुपित नहीं होता, क्योंकि वह सदा भक्ति में स्थित रहता है। चूँकि महान् भक्त अपनी इन्द्रियों को वश में रख सकते हैं, अतः भक्त को राजन् कहकर सम्बोधित किया जा सकता है। राजा प्रजा को वश में करके कई प्रकार से अपना शासन चलाता है, इसी प्रकार जो अपनी इन्द्रियों को वश में रख सके वह अपनी इन्द्रियों का राजा है। वह *स्वामी* या *गोस्वामी* है। *स्वामियों* तथा *गोस्वामियों* को कभी-कभी *महाराज* कह कर सम्बोधित किया जाता है।

भस्मसात्क्रियमाणांस्तान्द्रुमान्वीक्ष्य पितामहः ।
आगतः शमयामास पुत्रान्बर्हिष्मतो नयैः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

भस्मसात्—जलकर राख होना; क्रियमाणान्—किया जाता हुआ; तान्—उन सब; द्रुमान्—वृक्षों को; वीक्ष्य—देखकर; पितामहः—ब्रह्मा; आगतः—वहाँ आया; शमयाम् आस—शान्त किया; पुत्रान्—पुत्रों को; बर्हिष्मतः—राजा बर्हिष्मान् के; नयैः—तर्क द्वारा।

यह देखकर कि पृथ्वी के सारे वृक्ष जलकर राख हो रहे हैं, ब्रह्माजी तुरन्त राजा बर्हिष्मान् के पुत्रों के पास आये और उन्होंने तर्कपूर्ण शब्दों से उन्हें शान्त किया।

तात्पर्य : जब भी किसी लोक में कोई असामान्य घटना घटती है, तो सारे संसार के प्रभारी होने के कारण ब्रह्माजी तुरन्त स्थिति पर काबू पाने के लिए वहाँ पहुँच जाते हैं। ब्रह्माजी तब भी आये थे जब हिरण्यकशिपु ने अपनी कठिन तपस्या से सारे ब्रह्माण्ड को हिला दिया था। किसी भी संस्थान का जिम्मेदार व्यक्ति अपने संस्थान में शान्ति तथा समन्वय बनाये रखने के लिए सदैव सतर्क रहता है। इसी

प्रकार ब्रह्मा को इस ब्रह्माण्ड के भीतर शान्ति बनाये रखने की अनुमति दी जाती है। फलतः उन्होंने राजा बर्हिष्मान् के पुत्रों को युक्ति संगत तर्क से शान्त किया।

तत्रावशिष्टा ये वृक्षा भीता दुहितरं तदा ।
उज्जह्रुस्ते प्रचेतोभ्य उपदिष्टाः स्वयम्भुवा ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अवशिष्टाः—शेष, बचे हुए; ये—जो; वृक्षाः—वृक्ष; भीताः—भयभीत; दुहितरम्—अपनी कन्या को; तदा—उस समय; उज्जह्रुः—ला कर दे दिया; ते—उन्होंने; प्रचेतोभ्यः—प्रचेताओं को; उपदिष्टाः—उपदेश पाकर; स्वयम्भुवा—ब्रह्मा द्वारा।

बचे हुए वृक्षों ने प्रचेताओं से डर कर ब्रह्मा की राय से अपनी कन्या को लाकर तुरन्त उन्हें दे दिया।

तात्पर्य : इस अध्याय के तेरहवें श्लोक में वृक्षों की कन्या का उल्लेख हुआ है। यह कन्या कण्डु तथा प्रम्लोचा से उत्पन्न हुई थी। प्रम्लोचा अप्सरा इस शिशु को जन्म देने के बाद तुरन्त स्वर्गलोक चली गई। शिशु को रोते देखकर चन्द्र लोक के राजा को उस पर दया आ गई और उसने उसके मुँह में अपनी अँगुली डालकर उसके प्राणों की रक्षा की। वृक्षों ने इस कन्या का पालन-पोषण किया और जब वह बड़ी हो गई तो ब्रह्मा के आदेश से उन्होंने उसे लाकर प्रचेताओं को पत्नी रूप में सौंप दिया। इस कन्या का नाम मारिषा था, जैसाकि अगले श्लोक में व्याख्या की जाएगी। वृक्षों के प्रमुख देव ने लाकर कन्या सौंपी। इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी का कथन है—*वृक्षाः तदधिष्ठातृदेवताः*—वृक्षों का अर्थ उन वृक्षों का अधिष्ठाता देव है। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि जल का एक अधिष्ठाता देव होता है, इसी प्रकार वृक्षों का भी एक अधिष्ठाता देव होता है। प्रचेतागण समस्त वृक्षों को भस्मसात् किये जा रहे थे, क्योंकि वे वृक्षों को अपना शत्रु मान रहे थे। प्रचेताओं को शान्त करने के लिए ब्रह्मा की राय से वृक्षों के प्रमुख देव ने पुत्री मारिषा को उन्हें सौंप दिया।

ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे ।
यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः ॥ ४८॥

शब्दार्थ

ते—वे समस्त प्रचेता; च—भी; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; आदेशात्—आदेश से; मारिषाम्—मारिषा के साथ; उपयेमिरे—ब्याह कर लिया; यस्याम्—जिसमें; महत्—महापुरुष को; अवज्ञानात्—अवज्ञा के कारण; अजनि—जन्म लिया; अजन-योनि-जः—ब्रह्मा का पुत्र, दक्ष।

ब्रह्मा के आदेश से समस्त प्रचेताओं ने उस कन्या को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर

लिया। इस कन्या के गर्भ से ब्रह्मा के पुत्र दक्ष ने जन्म लिया। दक्ष को मारिष के गर्भ से इसलिए जन्म लेना पड़ा, क्योंकि उसने महादेवजी (शिवजी) की आज्ञा का उल्लंघन तथा अनादर किया था। फलतः उसे दो बार शरीर त्याग करना पड़ा।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *महद्-अवज्ञानात्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। राजा दक्ष ब्रह्मा के पुत्र थे, अतः पूर्वजन्म में वे ब्राह्मण थे, किन्तु महादेवजी का अपमान या अनादर करके अब्राह्मण की तरह आचरण करने के कारण उन्हें क्षत्रिय के वीर्य से जन्म लेना पड़ा, अर्थात् वे प्रचेताओं के पुत्र बने। यही नहीं, शिव का अनादर करने के कारण उन्हें स्त्री के गर्भ में जन्म धारण करने का कष्ट सहना पड़ा। एक बार वे शिवजी के अनुचर वीरभद्र द्वारा दक्ष की यज्ञशाला में मारे गये। इतना काफी न था, अतः उन्हें फिर से मारिषा के गर्भ से जन्म लेना पड़ा। दक्षयज्ञ तथा विध्वसंक घटनाओं के अन्त में दक्ष ने शिवजी की प्रार्थना की। यद्यपि उन्हें शरीर त्याग कर क्षत्रिय के वीर्य से गर्भित स्त्री के गर्भ से जन्म लेना पड़ा, किन्तु भगवान् शिवजी की कृपा से उन्हें सारा ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। ये भौतिक प्रकृति के सूक्ष्म नियम हैं। दुर्भाग्यवश इस आधुनिक युग के लोग नहीं जानते कि ये नियम किस प्रकार चलते हैं। आत्मा की अमरता तथा इसके देहान्तर का कोई ज्ञान न होने से आजकल सारी जनता घोर अज्ञान में है। इसीलिए *भागवत* (१.१.१०) में कहा गया है—*मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्याह्युपद्रुताः।* इस कलियुग के सारे लोग दुष्ट, आलसी, अभागे तथा भौतिक परिस्थितियों से क्षुब्ध रहते हैं।

चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते ।
यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

चाक्षुषे—चाक्षुष नामक; तु—लेकिन; अन्तरे—मन्वन्तर; प्राप्ते—आने पर; प्राक्—पूर्व; सर्गे—सृष्टि; काल-विद्रुते—कालक्रम से विनष्ट; यः—जो; ससर्ज—उत्पन्न किया; प्रजाः—जीव; इष्टाः—इच्छित; सः—वह; दक्षः—दक्ष; दैव—भगवान् द्वारा; चोदितः—प्रेरणा पाकर।

उसका पूर्व शरीर विनष्ट हो चुका था, किन्तु उसी दक्ष ने परमेश्वर की प्रेरणा से चाक्षुष मन्वन्तर में समस्त मनोवांछित जीवों की सृष्टि की।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१७) में कहा गया है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

''मानव गणना के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन की अवधि एक हजार युग है और इतनी ही बड़ी रात होती है।'' ब्रह्मा के एक दिन में चारों युगों—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—के एक हजार चक्कर लगते हैं। उस एक दिन में चौदह मन्वन्तर होते हैं और इन मन्वन्तरों में यह चाक्षुष मन्वन्तर छठा है। ब्रह्मा के एक दिन के विभिन्न मनु इस प्रकार हैं—स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष-सावर्णि, ब्रह्म-सावर्णि, धर्म-सावर्णि, रुद्र-सावर्णि, देव-सावर्णि तथा इन्द्र-सावर्णि।

इस प्रकार ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और एक वर्ष में ५,०४० मनु होते हैं। ब्रह्मा को एक सौ वर्ष जीवित रहना होता है, फलत: ब्रह्मा के जीवन में कुल मनुओं की संख्या ५,०४,००० हो जाती है। यह गणना एक ब्रह्माण्ड की है और ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। ये समस्त मनु महाविष्णु की श्वास क्रिया मात्र द्वारा आते-जाते रहते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा: ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

जगदण्डनाथ का अर्थ ब्रह्मा है। ऐसे असंख्य जगदण्डनाथ हैं, अत: हम अनेक मनुओं की गणना कर सकते हैं। यह युग वैवस्वत मनु के नियंत्रण में है। प्रत्येक मनु ४३,२०,००० × ७१ वर्ष तक जीवित रहता है। वर्तमान मनु पहले ही ४३,२०,००० × २८ वर्ष पूरा कर चुका है। अन्त में इन सारे दीर्घ जीवनों का भौतिक प्रकृति के नियमों से विनाश होता है। दक्ष-यज्ञ का विवाद स्वायम्भुव मन्वन्तर काल में हुआ, फलस्वरूप शिवजी ने दक्ष को दण्डित किया, किन्तु शिवजी की स्तुति करके उसने पुन: अपना पूर्व ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार दक्ष ने पाँचवें मन्वन्तर तक घोर तपस्या की। इस तरह चाक्षुष नामक छठे मन्वन्तर के प्रारम्भ में शिव के आशीर्वाद से दक्ष को पूर्व वैभव प्राप्त हो सका।

यो जायमान: सर्वेषां तेजस्तेजस्विनां रुचा ।

स्वयोपादत्त दाक्ष्याच्च कर्मणां दक्षमब्रुवन् ॥ ५० ॥

तं प्रजासर्गरक्षायामनादिरभिषिच्य च ।
युयोज युयुजेऽन्यांश्च स वै सर्वप्रजापतीन् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; जायमानः—अपने जन्म के तुरन्त बाद; सर्वेषाम्—सबों का; तेजः—कान्ति; तेजस्विनाम्—चमकीला; रुचा—तेज से; स्वया—उसका; उपादत्त—ढका; दाक्ष्यात्—दक्ष होने से; च—तथा; कर्मणाम्—सकाम कर्मों में; दक्षम्—दक्ष; अब्रुवन्—कहलाया; तम्—उसको; प्रजा—सभी जीव; सर्ग—उत्पन्न करते हुए; रक्षायाम्—पालन कार्य के लिए; अनादिः—प्रथम जन्मा, ब्रह्मा; अभिषिच्य—नियुक्त करके; च—भी; युयोज—लगाया; युयुजे—लगाया; अन्यान्—दूसरों को; च—तथा; सः—वह; वै—निश्चय ही; सर्व—सभी; प्रजा-पतीन्—जीवों के जनकों को।

जन्म लेने के बाद अपनी अद्वितीय शारीरिक कान्ति के कारण दक्ष ने अन्य सबों की शारीरिक कान्ति को ढाँप दिया। चूँकि वह सकाम कार्य करने में अत्यन्त पटु (दक्ष) था, इसलिए उसका नाम दक्ष पड़ा। इसलिए ब्रह्मा ने उसे जीवों को उत्पन्न करने तथा उनके पालन के कार्य में लगा दिया। समय आने पर दक्ष ने अन्य प्रजापतियों को भी उत्पत्ति तथा पालन के कार्य में नियुक्त कर दिया।

तात्पर्य : दक्ष ब्रह्मा के ही समान शक्तिशाली बन गया। फलतः ब्रह्माजी ने उसे प्रजा की उत्पत्ति करने के लिए नियुक्त कर दिया। दक्ष अत्यन्त प्रभावशाली एवं ऐश्वर्यवान् था। दक्ष ने अपने काल में मरीचि आदि अन्य प्रजापतियों को नियुक्त किया। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की जनसंख्या बढ़ी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "प्रचेताओं के कार्यकलाप" नामक तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter इकतीस

प्रचेताओं को नारद का उपदेश

मैत्रेय उवाच
तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम् ।
स्मरन्त आत्मजे भार्यां विसृज्य प्राव्रजन्गृहात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ततः—पत्पश्चात्; उत्पन्न—विकसित; विज्ञानाः—पूर्ण ज्ञान से युक्त; आशु—अत्यन्त शीघ्र; अधोक्षज—भगवान् द्वारा; भाषितम्—कहे गये; स्मरन्तः—याद करते हुए; आत्म-जे—अपने पुत्र के पास; भार्याम्—पत्नी को; विसृज्य—छोड़ कर; प्राव्रजन्—चले गये; गृहात्—घर से।

महान् सन्त मैत्रेय ने आगे कहा : तत्पश्चात् प्रचेता हजारों वर्षों तक घर में रहे और आध्यात्मिक चेतना में पूर्ण ज्ञान विकसित किया। अन्त में उन्हें भगवान् के आशीर्वादों की याद

आई और वे अपनी पत्नी को अपने सुयोग्य पुत्र के जिम्मे छोड़कर घर से निकल पड़े।

तात्पर्य : प्रचेताओं द्वारा तपस्या सम्पन्न कर लेने पर भगवान् ने उन्हें आशीर्वाद दिया। भगवान् ने उन्हें यह आशीष दिया कि गृहस्थ जीवन समाप्त कर लेने के बाद वे समय आने पर भगवान् के धाम लौट आएँगे। अपना गृहस्थ जीवन समाप्त करने के बाद, देवताओं की गणना के अनुसार जो कई हजार वर्षों तक चला, प्रचेताओं ने अपनी पत्नी को अपने पुत्र दक्ष के संरक्षण में रख कर घर छोड़ने का निश्चय किया। यह वैदिक सभ्यता का विधान है। जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचारी रहकर मनुष्य को कठिन तपस्या करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान अर्जित करना होता है। ब्रह्मचारी या छात्र को स्त्रियों के साथ मेल-मिलाप करने नहीं दिया जाता, जिससे वे जीवन के प्रारम्भ में काम-सुख के विषय में कुछ न जानें। आधुनिक सभ्यता का मूलभूत दोष यह है कि लड़कों तथा लड़कियों को पाठशाला तथा विद्यालय में ही विषयी जीवन का भोग करने की स्वतंत्रता दे दी जाती है। फलतः अधिकांश बच्चे वर्णसंकर होते हैं, अर्थात् वे अवांछित माता तथा पिता से उत्पन्न हुए होते हैं। फलस्वरूप सारे संसार में अराजकता व्याप्त है। वास्तव में मानवीय सभ्यता को वैदिक नियमों पर आधारित होना चाहिए, जिसका अर्थ है कि जीवन के प्रारम्भ में लड़कों तथा लड़कियों को तपस्या करनी चाहिए और जब वे बड़े हो जाँय तो उनका विवाह हो, फिर वे कुछ काल तक घर में रहें और संतति उत्पन्न करें। जब बच्चे बड़े हो जाँय तो मनुष्य घर छोड़ दे और कृष्णभक्ति की खोज करे। इस प्रकार वह भगवान् के धाम जाकर जीवन को सार्थक बना सकता है।

जब तक कोई विद्यार्थी-जीवन में तपस्या नहीं करता, उसे ईश्वर के अस्तित्व का बोध नहीं हो पाता और कृष्ण के साक्षात्कार के बिना उसका जीवन पूर्ण नहीं हो पाता। निष्कर्ष यह है कि जब लड़के प्रौढ़ हो लें तो पत्नी को लड़कों की देख-रेख छोड़ दें और तब पति कृष्णभक्ति विकसित करने के लिए घर से चला जाये। सब कुछ प्रौढ़ ज्ञान के विकास पर निर्भर करता है। प्रचेताओं के पिता राजा प्राचीनबर्हिषत् ने अपने पुत्रों के आगमन के पूर्व ही, जो जल में तपस्या कर रहे थे, घर छोड़ दिया था। ज्योंही उपयुक्त अवसर मिले अथवा पूर्ण कृष्णभक्ति विकसित हो ले, मनुष्य को चाहिए कि वह घर छोड़ दे, भले ही उसके सारे कार्य पूरे न हुए हों। पहले प्राचीनबर्हिषत् अपने पुत्रों के आने की प्रतीक्षा कर रहा था, किन्तु नारद के उपदेश से ज्योंही उसकी बुद्धि जगी, उसने अपने मंत्रियों से कहा कि वे

उसके आदेशों को पुत्रों तक पहुँचा दें। इस प्रकार उनके आने की प्रतीक्षा किये बिना उसने घर का परित्याग कर दिया।

मनुष्य के लिए सुखप्रद गृहस्थ जीवन का त्याग सर्वथा आवश्यक है और प्रह्लाद महाराज ने इसी का उपदेश दिया है। *हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपम्*—भौतिकतावादी जीवन-शैली समाप्त करने के लिए मनुष्य को तथाकथित सुखप्रद गृहस्थ जीवन छोड़ देना चाहिए, क्योंकि यह आत्मा के हनन (*आत्मपातम्*) का साधन मात्र है। घर को अंधकूप माना गया है, जो घासपात से ढका रहता है। यदि कोई इसमें गिरता है, तो लोगों से उपेक्षित होकर वह मर जाता है। अत: मनुष्य को गृहस्थ जीवन में अत्यधिक लिप्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे यह मनुष्य की कृष्णभक्ति के विकास को नष्ट कर देता है।

दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण सर्वभूतात्ममेधसा ।
प्रतीच्यां दिशि वेलायां सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलि: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

दीक्षिता:—संकल्प करके; ब्रह्म-सत्रेण—परमात्मा के ज्ञान द्वारा; सर्व—समस्त; भूत—जीव; आत्म-मेधसा—आत्म (अपने) स्वरूप को मानते हुए; प्रतीच्याम्—पश्चिमी; दिशि—दिशा में; वेलायाम्—समुद्र तट पर; सिद्ध:—पूर्ण; अभूत्—हो गया; यत्र—जहाँ; जाजलि:—ऋषि जाजलि।

प्रचेतागण पश्चिम दिशा में समुद्रतट की ओर गये जहाँ जाजलि ऋषि निवास कर रहे थे। उन्होंने वह आध्यात्मिक ज्ञान पुष्ट कर लिया जिससे मनुष्य समस्त जीवों के प्रति समभाव रखने लगता है। इस तरह वे कृष्णभक्ति में पटु हो गये।

तात्पर्य : *ब्रह्मसत्र* शब्द का अर्थ हैं "आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन।" वास्तव में वेद तथा कठिन तप—ये दोनों ब्रह्म कहलाते हैं। *वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म। ब्रह्म* का अर्थ परब्रह्म (परम सत्य) भी है। मनुष्य को वेदों के अध्ययन तथा घोर तपस्या द्वारा परब्रह्म विषयक ज्ञान का अनुशीलन करना होता है। प्रचेताओं ने इस कार्य को समुचित रूप से सम्पन्न किया, फलत: वे समस्त जीवों पर समभाव प्राप्त कर सके। जैसाकि *भगवद्गीता* द्वारा (१८.५४) पुष्ट होता है—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"मुक्त पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है तथा वह पूर्णत: प्रसन्न हो जाता है। वह न

शोक करता है और न किसी वस्तु की इच्छा करता है; वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरे प्रति शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।''

जब मनुष्य को वास्तव में आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो वह विभिन्न प्राणियों में अन्तर नहीं करता। यह पद संकल्पशक्ति से प्राप्त होता है। जब पूर्णज्ञान प्रसार करता है, तो उसे जीव का बाह्य आवरण दिखना बन्द हो जाता है। उसे शरीर के भीतर का आत्मा दिखने लगता है। इस प्रकार उसे मनुष्य तथा पशु में और एक विद्वान् ब्राह्मण तथा एक चण्डाल में अन्तर नहीं दिखता।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

''यथार्थ ज्ञानी विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चण्डाल को सम दृष्टि से देखता है।'' (*भगवद्गीता* ५.१८)

विद्वान् पुरुष आध्यात्मिक स्तर पर सबों को एकसमान देखता है और भक्त सबों में कृष्णभक्ति को विकसित होते देखना चाहता है। जिस स्थान पर प्रचेता रह रहे थे वह आध्यात्मिक कार्यों के लिए सर्वथा उपयुक्त था, क्योंकि यह बताया गया है कि वहाँ पर जाजलि ऋषि ने मुक्ति प्राप्त की थी। सिद्धि या मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति को मुक्त हुए पुरुष की संगति करनी चाहिए। यह *साधु-संग* कहलाता है।

तान्निर्जितप्राणमनोवचोदृशो
जितासनान्शान्तसमानविग्रहान् ।
परेऽमले ब्रह्मणि योजितात्मनः
सुरासुरेड्यो ददृशे स्म नारदः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन सबों को; निर्जित—पूर्णतया संयमित; प्राण—प्राणवायु (प्राणायाम विधि से); मनः—मन; वचः—वाणी; दृशः—तथा दृष्टि; जित-आसनान्—योगिक आसन को जीतने वाला; शान्त—शान्त; समान—सीधा; विग्रहान्—जिनके शरीर; परे—दिव्य; अमले—समस्त भौतिक कल्मष से रहित; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; योजित—संलग्न; आत्मनः—जिनके मन; सुर-असुर-ईड्यः—देवों तथा असुरों द्वारा पूजित; ददृशे—देखा; स्म—था; नारदः—नारद मुनि ने।

योगासन का अभ्यास कर लेने पर प्रचेताओं ने प्राणवायु, मन, वाणी तथा बाह्य दृष्टि को वश में करना सीख लिया। इस तरह प्राणायाम विधि से वे भौतिक आसक्ति से पूर्ण रूप से मुक्त हो गये। सीधे बैठकर वे परब्रह्म में अपने मन को केन्द्रित कर सके। जब वे यह प्राणायाम कर रहे थे तो देवताओं तथा असुरों दोनों द्वारा पूजित वन्दित नारद मुनि उन्हें देखने आये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *परे अमले* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *श्रीमद्भागवत* में ब्रह्म-साक्षात्कार की व्याख्या की गई है। परब्रह्म का साक्षात्कार तीन अवस्थाओं में होता है—निराकार तेज (परब्रह्म), अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। अपनी स्तुति (४.२४.४५) में शिवजी परब्रह्म के स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करते थे—*स्निग्ध प्रावृड्घनश्यामम्।* शिवजी के उपदेश से प्रचेताओं ने भी परब्रह्म के श्यामसुन्दर रूप को मन में धारण किया। यद्यपि निर्गुण ब्रह्म, परमात्मा ब्रह्म तथा परम पुरुष (ब्रह्म) ये सभी आध्यात्मिक स्तर पर एकसमान हैं, किन्तु अध्यात्म में परब्रह्म का स्वरूप ही चरम लक्ष्य होता है।

नारद ऋषि सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। वे असुरों के पास जाते हैं और देवताओं के पास भी जाते हैं जहाँ उनका समान आदर होता है, इसीलिए उन्हें यहाँ पर *सुरासुरेड्य* कहा गया है, जिसका अर्थ है देवों तथा असुरों द्वारा पूजित। नारद मुनि के लिए प्रत्येक द्वार खुला रहता है। यद्यपि असुरों तथा देवों में सनातन शत्रुता है, किन्तु नारदजी का सर्वत्र सम्मान होता है। निस्सन्देह, नारद जी को देवता माना जाता है और *देवर्षि* का अर्थ है देवताओं के बीच साधुपुरुष। किन्तु असुर तक भी नारद मुनि से वैर नहीं रखते, अत: उनकी पूजा असुरों तथा देवताओं द्वारा समान रूप से की जाती है। परम वैष्णव की स्थिति नारद मुनि के ही समान होनी चाहिए—पूर्णतया स्वतंत्र एवं द्वेषरहित।

तमागतं त उत्थाय प्रणिपत्याभिनन्द्य च ।
पूजयित्वा यथादेशं सुखासीनमथाब्रुवन् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आगतम्—आया हुआ; ते—सभी प्रचेता; उत्थाय—उठकर; प्रणिपत्य—नमस्कार करके; अभिनन्द्य—स्वागत करके; च—भी; पूजयित्वा—पूजा करके; यथा आदेशम्—विधिपूर्वक; सुख-आसीनम्—सुखपूर्वक आसीन होकर; अथ—इस प्रकार; अब्रुवन्—उन्होंने कहा।.

प्रचेताओं ने ज्योंही देखा कि नारद मुनि आये हुए हैं, वे नियमानुसार तुरन्त अपने आसनों से खड़े हो गये। यथा अपेक्षित तुरन्त उन्हें नमस्कार किया तथा उनकी पूजा करने लगे और जब उन्होंने देखा कि वे ठीक से आसन ग्रहण कर चुके हैं, तो उन्होंने उनसे प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : यह उल्लेखनीय है कि सभी प्रचेता भगवान् पर अपना मन केन्द्रित करने के उद्देश्य से योगसाधना कर रहे थे।

प्रचेतस ऊचुः
स्वागतं ते सुरर्षेऽद्य दिष्ट्या नो दर्शनं गतः ।
तव चङ्क्रमणं ब्रह्मन्नभयाय यथा रवेः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रचेतसः ऊचुः—प्रचेताओं ने कहा; सु-आगतम्—स्वागत; ते—तुम्हारा (तुमको); सुर-ऋषे—हे देवर्षि; अद्य—आज; दिष्ट्या—सौभाग्य से; नः—हम सबके; दर्शनम्—दर्शन; गतः—आया हुआ; तव—तुम्हारा; चङ्क्रमणम्—घूमना-फिरना, गतिविधियाँ; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अभयाय—अभय के लिए; यथा—जिस तरह; रवेः—सूर्य की।

सभी प्रचेता नारद मुनि को सम्बोधित करने लगे: हे ऋषि, हे ब्राह्मण, आशा है कि आपको यहाँ आने में किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई होगी। यह हमारा परम सौभाग्य है कि हमें आपके दर्शन हो रहे हैं। सूर्य के चलने से लोग रात के अंधकार के भय से मुक्ति पाते हैं—यह भय चोरों तथा उचक्कों से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार आपका भ्रमण सूर्य के ही समान है, क्योंकि आप समस्त प्रकार के भय को भगाने वाले हैं।

तात्पर्य : रात्रि के अंधकार से प्रत्येक व्यक्ति, विशेष रूप से बड़े-बड़े नगरों में, चोरों तथा उचक्कों से भयभीत रहता है। लोग प्रायः सड़कों पर निकलते डरते हैं और हम जानते हैं न्यूयार्क जैसे महानगर में भी लोग रात्रि के समय बाहर निकलना पसन्द नहीं करते। रात्रि के समय प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह नगर में हो या ग्राम में कुछ-न-कुछ भयभीत रहता है। किन्तु सूर्योदय होते ही सबों को चैन मिलता है। इसी प्रकार यह संसार अंधकारपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक पल दुर्घटना से भयभीत रहता है, किन्तु जब उसे नारद-जैसे भक्त के दर्शन होते हैं, तो उसका सारा भय जाता रहता है। जिस प्रकार सूर्य अंधकार को भगा देता है उसी प्रकार नारद-जैसे ऋषि के प्रकट होने से अज्ञान भाग जाता है। जब कोई नारद से या उनके प्रतिनिधि, गुरु, से मिलता है, तो वह अज्ञानजनित समस्त चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।

यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च ।
तद्गृहेषु प्रसक्तानां प्रायशः क्षपितं प्रभो ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; आदिष्टम्—आदेश (उपदेश) दिया गया था; भगवता—महापुरुष; शिवेन—शिवजी द्वारा; अधोक्षजेन—भगवान् विष्णु द्वारा; च—भी; तत्—वह; गृहेषु—गृहस्थी में; प्रसक्तानाम्—हम आसक्तों द्वारा; प्रायशः—लगभग, प्रायः; क्षपितम्—विस्मृत; प्रभो—हे स्वामी।

हे स्वामी, हम आपको बता दें कि गृहस्थी में अत्यधिक आसक्त रहने के कारण हम शिवजी

तथा भगवान् विष्णु से प्राप्त उपदेशों को प्राय: भूल चुके हैं।

तात्पर्य : गृहस्थ जीवन में रहते जाना एक प्रकार से इन्द्रियभोग के लिए छूट है। मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि इन्द्रिय भोग आवश्यक नहीं है, किन्तु उसे उसी प्रकार स्वीकार करना पड़ता है, जिस तरह जीवित रहना। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१०) में मिलती है—*कामस्य नेन्द्रियप्रीति:।* मनुष्य को अपनी इन्द्रियों को वश में करके गोस्वामी बनना होता है। उसे अपनी इन्द्रियों का उपयोग केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए ही नहीं करना चाहिए, अपितु उनका उपयोग उतना ही करना चाहिए जितने से शरीर तथा आत्मा का भरण हो सके। श्रील रूप गोस्वामी की संस्तुति है कि—*अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जत:।* मनुष्य को विषयों में आसक्त नहीं होना चाहिए, अपितु उतना ही इन्द्रियभोग करना चाहिए जितना आवश्यक हो। यदि कोई आवश्यकता से अधिक भोग करना चाहता है, तो वह गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त हो जाता है, जिसका अर्थ है बन्धन। समस्त प्रचेताओं ने गृहस्थाश्रम में रहने की अपनी भूल स्वीकार की।

तन्नः प्रद्योतयाध्यात्मज्ञानं तत्त्वार्थदर्शनम् ।
येनाञ्जसा तरिष्यामो दुस्तरं भवसागरम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; नः—हमारे लिए; प्रद्योतय—कृपया जगाइये; अध्यात्म—दिव्य; ज्ञानम्—ज्ञान; तत्त्व—परम सत्य; अर्थ—के हेतु; दर्शनम्—दर्शन शास्त्र; येन—जिससे; अञ्जसा—सरलता से; तरिष्यामः—तर सकें; दुस्तरम्—पार करने में कठिन; भव-सागरम्—अविद्या के समुद्र को।

हे स्वामी, हमें दिव्य ज्ञान से प्रकाशित कीजिये जो उस प्रकाश स्तम्भ की तरह कार्य कर सके जिससे हम अविद्या रूपी संसार-सागर को पार कर सकें।

तात्पर्य : प्रचेताओं ने नारद मुनि से दिव्य ज्ञान प्रदान करने की विनती की। सामान्य रूप से जब कोई साधारण व्यक्ति किसी साधु से मिलता है, तो वह कुछ भौतिक आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता है। किन्तु प्रचेताओं को किसी भौतिक लाभ की इच्छा न थी, क्योंकि वे उसका पर्याप्त उपभोग कर चुके थे। न ही वे अपनी भौतिक इच्छाओं को पूरा करना चाह रहे थे। वे तो अविद्या के सागर को पार करने के इच्छुक थे। प्रत्येक व्यक्ति को इन भौतिक बन्धनों से निकलने में रूचि लेनी चाहिए और इस सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी साधु पुरुष के निकट जाना चाहिए। उसे साधु पुरुष से भौतिक सुख के लिए आशीर्वाद (वर) प्राप्त करने की परवाह नहीं करनी चाहिए। सामान्यत:

गृहस्थजन साधुओं का स्वागत उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए करते हैं, किन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य तो इस संसार में सुखी रहना होता है। शास्त्रों में ऐसे आशीर्वाद के लिए याचना करने की संस्तुति नहीं की गई है।

मैत्रेय उवाच
इति प्रचेतसां पृष्टो भगवान्नारदो मुनिः ।
भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्माब्रवीन्नृपान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; **इति**—इस प्रकार; **प्रचेतसाम्**—प्रचेताओं द्वारा; **पृष्टः**—पूछे जाने पर; **भगवान्**—भगवान् के महान् भक्त; **नारदः**—नारद ने; **मुनिः**—अत्यन्त विचारवान; **भगवति**—भगवान् में; **उत्तम-श्लोके**—अत्यन्त ख्याति वाले; **आविष्ट**—मग्न; **आत्मा**—जिसका मन; **अब्रवीत्**—उत्तर दिया; **नृपान्**—राजाओं को।

ऋषि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, प्रचेताओं द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर भगवान् के विचारों में निरन्तर लीन रहने वाले परम भक्त नारद ने उत्तर दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवान् नारदः* सूचित करता है कि नारद सदैव श्रीभगवान् के विचारों में लीन रहते हैं। *भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्मा।* नारद के पास कृष्ण का ध्यान धरने, कृष्ण का गुणगान करने तथा कृष्ण का उपदेश करने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं रहता, इसीलिए उन्हें कभी कभी भगवान् कहा जाता है। भगवान् का अर्थ है ''समस्त ऐश्वर्यों वाला''। जब किसी मनुष्य के हृदय के भीतर भगवान् स्थित रहता है, तो उसे भी भगवान् कहा जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रैः*—प्रत्येक शास्त्र में गुरु को साक्षात् भगवान् माना गया है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि गुरु या नारद जैसे साधु पुरुष सचमुच भगवान् हो गए हैं, वरन् इन्हें ऐसा इसलिए स्वीकार किया जाता है, क्योंकि उनके हृदय में भगवान् निरन्तर रहते हैं। जैसाकि यहाँ पर उल्लेख हुआ है (*आविष्टात्मा*), जब कोई केवल कृष्ण के चिन्तन में लीन रहता है, तो वह भगवान् भी कहलाता है। भगवान् के पास सारे ऐश्वर्य होते हैं। यदि किसी के हृदय में सदैव भगवान् रहते हों तो क्या उसे समस्त ऐश्वर्य स्वत: उपलब्ध नहीं हो जाते? इस अर्थ में नारद जैसे महान् भक्त भगवान् कहला सकते हैं। किन्तु जब कोई धूर्त या धोखेवाज भगवान् कहलाता है, तो हम उसे सहन नहीं कर सकते। उसके पास या तो सारा ऐश्वर्य होना चाहिए या समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी भगवान् होना चाहिए।

नारद उवाच

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; तत् जन्म—वही जन्म; तानि—वे; कर्माणि—कर्म; तत्—वही; आयुः—उम्र; तत्—वही; मनः—मन; वचः—वाणी; नृणाम्—मनुष्यों की; येन—जिससे; हि—निश्चय ही; विश्व-आत्मा—परमात्मा; सेव्यते—सेवित होता है; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—परम नियन्ता।

महर्षि नारद ने कहा : जब कोई जीवात्मा परम नियन्ता भगवान् की भक्ति करने के लिए जन्म लेता है, तो उसका जन्म, उसके सारे सकाम कर्म, उसकी आयु, उसका मन तथा उसकी वाणी सभी यथार्थ में सिद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक का *नृणाम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य-जन्म के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के जन्म हैं, किन्तु नारद मुनि यहाँ पर मनुष्य-जन्म के विषय में विशेष रूप से कह रहे हैं। मनुष्यों में भी अनेक प्रकार के मनुष्य होते हैं। इनमें से जो मनुष्य आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभक्ति में प्रगति कर चुके होते हैं, वे आर्य कहलाते हैं। इन आर्यों में से भी जो लोग भगवद्भक्ति में लगे रहते हैं उन का जीवन धन्य है। *नृणाम्* शब्द बताता है कि निम्न पशु भगवद्भक्ति नहीं कर सकते, किन्तु पूर्ण मानव समाज में प्रत्येक व्यक्ति को भगवद्भक्ति में लगना चाहिए। इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वह निर्धन या धनी, श्वेत या काले परिवार में जन्मा है। मानव-समाज में जन्म लेने वाले व्यक्तियों में अनेक प्रकार की भौतिक भिन्नता हो सकती हैं, किन्तु सबों को भगवद्भक्ति करनी चाहिए। सम्प्रति सभ्य कहे जानेवाले राष्ट्रों ने आर्थिक विकास के फेर में ईश्वर-चेतना को त्याग रखा है। वे ईश्वर-चेतना को विकसित करने में तनिक भी रुचि नहीं रखते। पहले उनके पूर्वज धार्मिक नियमों को सम्पन्न करने में व्यस्त रहते थे। चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, बौद्ध या यहूदी या अन्य कुछ, हर एक की कोई-न-कोई धार्मिक संस्था होती है। किन्तु वास्तविक धर्म का अर्थ है ईश्वर-भक्त (भगवद्भावनाभावित) होना। यहाँ इसका विशेष उल्लेख है कि यदि कृष्णभक्ति में रुचि रखी जाये तो जन्म सार्थक होता है। वही कर्म सफल है, जिससे भगवान् की सेवा हो सके। दार्शनिक चिन्तन या ज्ञान तभी सफल होता है जब उसे भगवान् को समझने में लगाया जाये। वे ही इन्द्रियाँ धन्य हैं, जो भगवान् की सेवा में लगी रहें। वास्तव में भक्ति का अर्थ है इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। आज के समय में, हमारी इन्द्रियाँ

शुद्ध नहीं हैं, इसीलिए वे समाज-सेवा, मित्रता, प्रेम, राजनीति इत्यादि में लगी रहती हैं। किन्तु जब ये इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लग जाती हैं, तो मनुष्य को भक्ति प्राप्त होती है। अगले श्लोक में इसकी विशद व्याख्या की गई है।

जब भगवान् चैतन्य महाप्रभु के एक महान् भक्त ने महाप्रभु को देखा तो उसने कहा कि उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो गईं "आज सभी कुछ शुभ है। आज मेरी जन्मभूमि तथा पास-पड़ोस पूर्णतः महिमामण्डित हो गये। आज मेरी सारी इन्द्रियाँ—आँखों से लेकर अँगूठे तक—भाग्यशाली हैं। आज मेरा जीवन सफल हुआ है, क्योंकि मैं उन चरणकमलों को देख सका जिनकी पूजा लक्ष्मी जी करती हैं।"

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः ।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; जन्मभिः—जन्मों से; त्रिभिः—तीन; वा—अथवा; इह—इस संसार में; शौक्र—वीर्य से; सावित्र—दीक्षा से; याज्ञिकैः—पूर्ण ब्राह्मण बनने से; कर्मभिः—कर्म से; वा—अथवा; त्रयी—वेदों में; प्रोक्तैः—उपदिष्ट; पुंसः—मनुष्य को; अपि—भी; विबुध—देवताओं की; आयुषा—आयु से।

सुसंस्कारी मनुष्य के तीन प्रकार के जन्म होते हैं। पहला जन्म शुद्ध माता-पिता से होता है, जिसे वीर्य द्वारा जन्म (शौक्र) कहते हैं। दूसरा जन्म गुरु से दीक्षा लेते समय होता है और यह 'सावित्र' कहलाता है। तीसरा जन्म 'याज्ञिक' कहलाता है और यह भगवान् विष्णु की पूजा का अवसर मिलने पर होता है। ऐसे जन्म लेने के अवसर प्राप्त होने पर भी यदि किसी को किसी देवता की भी आयु मिल जाये और वह वस्तुतः भगवान् की सेवा में रत न हो तो सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार कर्म चाहे सांसारिक हों या आध्यात्मिक, यदि वे भगवान् को प्रसन्न करने हेतु न हों तो वे व्यर्थ हैं।

तात्पर्य : *शौक्र-जन्म* शब्द का अर्थ है "वीर्यपात से जन्म लेना।" पशु भी इस प्रकार जन्म ले सकते हैं, किन्तु वैदिक सभ्यता के अनुसार शौक्र जन्म में से जन्मे मनुष्य में सुधार लाया जा सकता है। जन्म लेने के पूर्व अथवा माता-पिता के सम्पर्क के पूर्व *गर्भाधान संस्कार* होता है जिसका पालन किया जाना चाहिए। यह संस्कार उच्च जातियों के लिए, विशेष रूप से ब्राह्मणों के लिए संस्तुत है। शास्त्रों का कथन है कि यदि उच्च जातियाँ गर्भाधान संस्कार का पालन नहीं करतीं तो सारा वंश शूद्र बन जाता है।

यह भी कहा गया है कि इस कलियुग में गर्भाधान संस्कार न होने से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है। यही वैदिक पद्धति है। किन्तु *पाञ्चरात्रिका* पद्धति के अनुसार, यद्यपि गर्भाधान संस्कार के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है, किन्तु यदि किसी में कृष्णभक्त बनने की तनिक भी प्रवृत्ति है, तो उसे भक्ति के दिव्य पद तक उठने का अवसर मिलना चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इसी पाञ्चरात्रिका विधि को अपनाता है जैसाकि श्रील सनातन गोस्वामी का उपदेश है—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रस विधानतः।

तथा दीक्षा विधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्॥

"जिस प्रकार कांस्य धातु पारे के साथ मिलाये जाने पर सोने में बदल जाती है, उसी प्रकार एक पुरुष सोने के समान शुद्ध न होने पर भी केवल दीक्षा के द्वारा ब्राह्मण या द्विज बन सकता है" (*हरिभक्ति विलास* २.१२)। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति उपयुक्त व्यक्ति द्वारा दीक्षित हो तो उसे तुरन्त द्विज माना जा सकता है। अतः हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में शिष्य को पहली दीक्षा देकर उसे हरे कृष्ण महामंत्र का जप करने को कहते हैं। इस मंत्र को नियमित जपने तथा विधि-विधानों का पालन करते रहने से वह ब्राह्मण के रूप में दीक्षित होने के योग्य हो जाता है, क्योंकि जब तक कोई योग्य ब्राह्मण नहीं बन जाता उसे भगवान् विष्णु की पूजा करने की अनुमति नहीं दी जाती। यह *याज्ञिक जन्म* कहलाता है। हमारे कृष्णभानामृत-आन्दोलन में जब तक कोई दो बार दीक्षा ग्रहण नहीं कर लेता—पहली बार हरे कृष्ण जप द्वारा तथा दूसरी बार गायत्री मंत्र के जप द्वारा—तब तक उसे न तो रसोई में, न ही पूजाघर में प्रवेश करने दिया जाता है। किन्तु जब कोई उस पद को प्राप्त करता है, जिसमें वह अर्चा-विग्रह की पूजा कर सके तो उसके पूर्वजन्म पर ध्यान नहीं दिया जाता।

चण्डालोऽपि द्विजश्रेष्ठो हरिभक्तिपरायणः।

हरिभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधमः॥

"भले ही कोई चण्डाल के परिवार में क्यों न जन्म ले, यदि वह भगवद्भक्ति करता है, तो वह श्रेष्ठ ब्राह्मण बन जाता है। किन्तु यदि ब्राह्मण होकर भी वह भक्ति से शून्य है, तो वह अधम श्वपच (कुत्ता खाने वाला) के समान होता है।" यदि कोई व्यक्ति भक्ति में पारंगत है, तो चाहे वह चण्डाल कुल में क्यों न जन्म ले, शुद्ध हो जाता है। जैसाकि प्रह्लाद महाराज कहते हैं (*भागवत* ७.९.१०)—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-

पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।

यदि कोई ब्राह्मण हो और समस्त ब्राह्मण गुणों से युक्त हो यदि वह भगवान् की पूजा करने से विमुख होता है तो वह अधम समझा जाता है। किन्तु यदि कोई मनुष्य भगवान् की सेवा में आसक्त रहता है, तो वह महिमामंडित होता है भले ही वह चांडाल कुल में क्यों न जन्मा हो। निस्सन्देह, ऐसा चण्डाल न केवल स्वयं को वरन् अपने परिवार के पुरखों को भी तार देता है। भक्ति के बिना गर्वीला ब्राह्मण अपना भी उद्धार नहीं कर सकता, उसका परिवार तो दूर रहा। शास्त्रों में कई उदाहरण मिलते हैं, जहाँ यह देखा जाता है कि ब्राह्मण भी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ तक बन गया है। और ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं जहाँ क्षत्रिय, वैश्य या अन्य निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्ति अठारह वर्ष की अवस्था पा लेने पर व्यक्ति दीक्षा के द्वारा ब्राह्मण पद को प्राप्त कर सका है। अत: नारद मुनि कहते हैं (*भागवत* ७.११.३५)—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।

यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥

यह तथ्य नहीं है कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति स्वत: ब्राह्मण हो जाता है। उसके ब्राह्मण बनने का अच्छा अवसर रहता है, किन्तु जब तक वह ब्राह्मण-गुणों को पूरा नहीं कर लेता उसे ब्राह्मण नहीं स्वीकार किया जा सकता। दूसरी ओर, यदि किसी शूद्र व्यक्ति में भी ये ब्राह्मण गुण पाये जाते हैं, तो उसे तुरन्त ही ब्राह्मण के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। इसकी पुष्टि के लिए भागवत, महाभारत, भरद्वाज संहिता, पंचरात्र तथा अन्य अनेक शास्त्रों में उदाहरण मिलते हैं।

जहाँ तक देवताओं की आयु का प्रश्न है, ब्रह्माजी के सम्बन्ध में कहा गया है (*भगवद्गीता* ८.१७)—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदु:।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जना:॥

ब्रह्मा का एक दिन चतुर्युगों से एक हजार गुना बड़ा होता है (४३,२०,००० वर्ष)। ब्रह्मा की एक रात्रि भी इसी प्रकार होती है। ब्रह्मा ऐसे दिन-रात वाले एक सौ वर्षों तक जीवित रहता है। *विबुधायुषा*

शब्द सूचित करता है कि यदि किसी को दीर्घायु भी प्राप्त हो, किन्तु यदि वह भक्त नहीं है, तो उसका जीवन व्यर्थ है। जीवात्मा परमेश्वर का शाश्वत सेवक है और जब तक वह भक्ति नहीं करता, उसकी आयु, उत्तम जन्म, सत्कार्य तथा सभी कुछ व्यर्थ हैं।

श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्रुतेन—वैदिक शिक्षा से; तपसा—तपस्या से; वा—अथवा; किम्—क्या अर्थ; वचोभिः—वाणी से; चित्त—चेतना का; वृत्तिभिः—व्यापार से; बुद्ध्या—बुद्धि से; वा—अथवा; किम्—क्या लाभ; निपुणया—निपुण, पटु; बलेन—बल से; इन्द्रिय-राधसा—इन्द्रियों की शक्ति से।

भक्ति के बिना कठिन तपस्या, सुनने, बोलने की शक्ति, चिन्तन शक्ति, उच्च ज्ञान, बल तथा इन्द्रियों की शक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

तात्पर्य : उपनिषदों से (*मुण्डकोनिषद* ३.२.३) हमें पता चलता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

केवल वेदों के अध्ययन से परमेश्वर के साथ हमारे सम्बन्ध कभी आगे नहीं बढ़ सकते। अनेक मायावादी संन्यासी वेदों, वेदान्त सूत्रों तथा उपनिषदों के अध्ययन में रत रहते हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश वे ज्ञान का सार ग्रहण नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में, वे भगवान् को नहीं जानते। तो फिर समस्त वेदों के अध्ययन से क्या लाभ, यदि कोई वेदों के सार श्रीकृष्ण को न ग्रहण कर पाये? भगवान् ने *भगवद्गीता* (१५.१५) में पुष्टि की है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—समस्त वेदों के द्वारा मैं जानने योग्य हूँ।

ऐसी अनेक धार्मिक पद्धतियाँ हैं जिनमें तपस्या पर अत्यधिक बल दिया जाता है, किन्तु अन्त तक लोग भगवान् कृष्ण को नहीं समझ पाते। अत: ऐसी तपस्या का कोई अर्थ नहीं है। यदि कोई सचमुच भगवान् के पास पहुँच चुका है, तो उसे तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान् को भक्तियोग द्वारा समझा जाता है। *भगवद्गीता* के नवम अध्याय में भक्ति को *राजगुह्यम्*—समस्त गुह्यज्ञान का राजा—कहा गया है। वैदिक साहित्य के अनेक उत्तम वाचक हैं और वे रामायण, श्रीमद्भागवत

तथा भगवद्गीता का वाचन करते हैं। कभी-कभी ये व्यावसायिक वाचक अत्यधिक पाण्डित्य तथा वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शित करते हैं। दुर्भाग्यवश वे भगवान् के भक्त नहीं होते; अतः वे ज्ञान के सार श्रीकृष्ण के विषय में श्रोताओं को प्रभावित नहीं कर पाते। यद्यपि अनेक विचारवान लेखक तथा सृजनशील दार्शनिक हैं, किन्तु अपने समस्त पाण्डित्य के बावजूद यदि वे भगवान् तक नहीं पहुँच पाते तो वे कोरे ज्ञानी हैं। इस संसार में अनेक प्रखर बुद्धिमान व्यक्ति हैं और वे इन्द्रियतृप्ति के लिए अनेक खोजें करते रहते हैं। वे समस्त भौतिक तत्त्वों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हैं, किन्तु उनके पटु ज्ञान तथा समस्त सृष्टि के दक्ष वैज्ञानिक विश्लेषण के बावजूद उनके प्रयास व्यर्थ हैं, व्योंकि वे भगवान् को नहीं समझ पाते।

जहाँ तक हमारी इन्द्रियों का प्रश्न है, ऐसे अनेक पशु तथा पक्षी हैं, जो हमसे अधिक दक्षतापूर्वक अपनी इन्द्रियों का उपयोग कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, गिद्ध अथवा बाज आसमान में बहुत ऊँचाई पर उड़ते हुए भी भूमि की छोटी सी वस्तु को साफ-साफ देख सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनकी दृष्टि इतनी प्रखर है कि वे काफी दूरी से खाद्य शव को पहचान लेते हैं। निश्चय ही उनकी दृष्टि मनुष्य की दृष्टि से अधिक प्रखर है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका अस्तित्व मनुष्य के अस्तित्व से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार कुत्ते काफी दूरी से अनेक वस्तुओं को सूँघ लेते हैं। अनेक मछलियाँ अपने शत्रुओं के आने को समझ लेती हैं। ये सारे उदाहरण *श्रीमद्भागवत* में वर्णित हैं। यदि हमारी इन्द्रियाँ जीवन के चरम लक्ष्य, भगवान् के साक्षात्कार को प्राप्त करने में सहायता नहीं कर सकतीं तो वे सब व्यर्थ हैं।

किं वा योगेन साङ्ख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि ।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥ १२॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; वा—अथवा; योगेन—योगाभ्यास द्वारा; साङ्ख्येन—सांख्य दर्शन के अध्ययन से; न्यास—संन्यास ग्रहण करने से; स्वाध्याययोः—तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन से; अपि—भी; किम्—क्या लाभ; वा—अथवा; श्रेयोभिः—शुभ कर्मों द्वारा; अन्यैः—अन्य; च—तथा; न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ; आत्म-प्रदः—आत्मा की तुष्टि; हरिः—भगवान्।

जो दिव्य विधिविधान पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात्कार कराने में सहायक नहीं होते, वे व्यर्थ हैं, चाहे वह योगाभ्यास हो या पदार्थ का वैश्लेषिक अध्ययन, कठिन तपस्या, संन्यास ग्रहण करना या कि वैदिक साहित्य का अध्ययन हो। भले ही ये आध्यात्मिक प्रगति के

महत्त्वपूर्ण पक्ष क्यों न हों, किन्तु जब तक कोई भगवान् हरि को नहीं जान लेता ये सारी विधियाँ व्यर्थ हैं।

तात्पर्य : *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य २४.१०९) में कहा गया है—

भक्ति विना केवल ज्ञाने 'मुक्ति' नाहि हय।

भक्ति साधन करे येइ 'प्राप्त-ब्रह्म-लय'॥

निर्विशेषवादी, भक्ति न करके अन्य अभ्यास करते हैं जैसे भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण, पदार्थ तथा आत्मा में भेद एवं योग-प्रणाली। ये तभी तक उपयोगी हैं जब तक वे भक्ति के पूरक हैं। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी से कहा था कि भक्ति के बिना *ज्ञान, योग* तथा *सांख्यदर्शन* से वांछित फल प्राप्त नहीं हो सकते। निर्विशेषवादी परमब्रह्म से तादात्म्य चाहते हैं, किन्तु इस तादात्म्य के लिए भी भक्ति चाहिए। परमेश्वर का साक्षात्कार तीन रूपों—निर्गुण ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—में होता है। इन सबके लिए भक्ति की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी मायावादी हरे कृष्ण महामंत्र का जप करते भी पाये जाते हैं, यद्यपि उनका लक्ष्य ब्रह्म से तादात्म्य रहता है। कभी-कभी योगी भी हरे कृष्ण महामंत्र का जप करते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य भक्तों से भिन्न होता है। इन सभी विधियों में—चाहे वह कर्म हो, ज्ञान हो या योग—भक्ति आवश्यक है। यही इस श्लोक का सारांश है।

श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः ।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्रेयसाम्—शुभ कार्यों का; अपि—निश्चय ही; सर्वेषाम्—समस्त; आत्मा—आत्मा; हि—निश्चय ही; अवधिः—लक्ष्य; अर्थतः—वास्तव में; सर्वेषाम्—सभी; अपि—निश्चय ही; भूतानाम्—जीवों का; हरिः—भगवान्; आत्मा—परमात्मा; आत्म-दः—मूल पहचान प्रदान करने वाला; प्रियः—प्रिय।

यथार्थ रूप में भगवान् ही समस्त आत्म-साक्षात्कार के मूल स्रोत हैं। फलतः समस्त शुभ कार्यों—कर्म, ज्ञान, योग तथा भक्ति—का लक्ष्य भगवान् हैं।

तात्पर्य : जीवात्मा भगवान् की तटस्था शक्ति है और यह संसार बहिरंगा शक्ति है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को यह समझना चाहिए कि भगवान् ही पदार्थ तथा आत्मा दोनों के मूल स्रोत हैं। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (७.४-५) में की गई है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

''पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—ऐसी ये सारी आठ प्रकार की अलग-अलग मेरी अपरा सकियाँ है। किन्तु हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा (जड़) प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक जीवरूप परा (चेतन) प्रकृति भी है, जो उन सभी जीवों से बनी है, जो भौतिक शक्ति से संघर्ष करते रहते हैं और ब्रह्माण्ड को बनाये रखते हैं।''

यह समग्र दृश्य जगत पदार्थ तथा आत्मा के संयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आत्मा वाला अंश जीव है और ये जीव ही प्रकृति या शक्ति के रूप में वर्णित हैं। जीव को कभी भी पुरुष या परम पुरुष नहीं कहा जाता, अत: जीव को परमात्मा से एकाकार करना कोरी अविद्या है। जीव तो परमेश्वर की तटस्था शक्ति है यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में वास्तव में कोई अन्तर नहीं होता। जीव का धर्म है कि वह अपने वास्तविक रूप को पहचाने। जब वह ऐसा करता है, तो कृष्ण उसे भक्ति पद प्राप्त करने की सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं। यही जीवन की पूर्णता है। यह वैदिक उपनिषदों में इंगित हुआ है—*यमेवैष वृणुते तेन लब्ध्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।* भगवान् श्रीकृष्ण भी *भगवद्गीता* (१०.१०) में इसकी पुष्टि करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो लोग मेरी सतत भक्ति तथा प्रेमपूर्वक पूजा करते हैं, उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझ तक आ सकते हैं।'' निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को भक्तियोग पद तक पहुँचना चाहिए चाहे वह कर्मयोग, ज्ञानयोग या अष्टांग योग से शुभारम्भ क्यों न करे। जब तक भक्तियोग के पद को प्राप्त नहीं किया जाता, आत्म-साक्षात्कार या परम सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन

तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥ १४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; तरोः—वृक्ष की; मूल—जड़; निषेचनेन—सींचने से; तृप्यन्ति—संतुष्ट हो जाते हैं; तत्—इसके; स्कन्ध—तना; भुज—शाखाएँ; उपशाखाः—टहनियाँ; प्राण—प्राण वायु; उपहारात्—भोजन करने से; च—तथा; यथा—जिस तरह; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का; तथा एव—उसी तरह; सर्व—सभी देवताओं की; अर्हणम्—पूजा; अच्युत—भगवान् की; इज्या—पूजा।.

जिस तरह वृक्ष की जड़ को सींचने से तना, शाखाएँ तथा टहनियाँ पुष्ट होती हैं और जिस तरह पेट को भोजन देने से शरीर की इन्द्रियाँ तथा अंग प्राणवान् बनते हैं उसी प्रकार भक्ति द्वारा भगवान् की पूजा करने से भगवान् के ही अंग रूप सभी देवता स्वतः तुष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी लोग पूछते हैं कि यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन देवताओं को छोड़कर केवल श्रीकृष्ण की पूजा का समर्थन क्यों करता है? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया हुआ है। वृक्ष की जड़ को सींचने का उदाहरण अत्यन्त सटीक है। *भगवद्गीता* (१५.१) में कहा जाता है—*ऊर्ध्वमूलमध:शाखम्*—यह दृश्य जगत नीचे की ओर विस्तृत है, इसका मूल भगवान् है। जैसाकि भगवान् स्वयं *भगवद्गीता* (१०.८) में पुष्टि करते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभव:*—मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक संसारों का स्रोत हूँ। श्रीकृष्ण सभी वस्तुओं के मूल हैं, अत: कृष्णसेवा का अर्थ है सभी देवताओं की स्वत: सेवा हो जाना। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि सफलता के लिए कर्म तथा ज्ञान में भक्ति के मिश्रण की और कभी-कभी भक्ति में कर्म तथा ज्ञान के मिश्रण की आवश्यकता पड़ती है। वास्तविकता यह है कि यद्यपि ज्ञान भक्ति के बिना कभी सफल नहीं हो सकते, भक्ति कर्म तथा ज्ञान की सहायता नहीं मांगती वास्तव में, जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*—शुद्ध भक्ति को कर्म तथा ज्ञान के स्पर्श से दूषित नहीं किया जाना चाहिए। आधुनिक समाज अनेक प्रकार के कल्याणकारी कार्यों, मानवतावादी कार्यों इत्यादि में व्यस्त है, किन्तु लोग यह नहीं समझते कि जब तक भगवान् कृष्ण को इन सारे कार्यों का केन्द्रबिन्दु नहीं बनाया जाता, ये कार्य कभी भी सफल नहीं हो सकते। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि कृष्ण तथा देवता रूपी उनके शरीर के विभिन्न अंगों की पूजा करने में क्या हानि है, तो इसका उत्तर भी इस श्लोक में प्राप्त है। बात यह है कि उदर को भोजन देने से इन्द्रियाँ स्वत: सन्तुष्ट हो जाती हैं। यदि कोई अपने नेत्रों या कानों को

अलग से भोजन दे, तो उसका परिणाम बुरा होगा। केवल उदर को भोजन देकर हम समस्त इन्द्रियों को तुष्ट कर देते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय की अलग-अलग सेवा कर पाना न तो आवश्यक है, न सम्भव ही है। निष्कर्ष यह है कि केवल कृष्णसेवा से सब कुछ पूरा हो जाता है। जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.६२) में पुष्टि की गई है—*कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय*—यदि मनुष्य भगवान् की भक्ति में लगा रहे तो अन्य सारे कार्य स्वत: सम्पन्न हो जाते हैं।

यथैव सूर्यात्प्रभवन्ति वार:
पुनश्च तस्मिन्प्रविशन्ति काले ।
भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि
तथा हरावेव गुणप्रवाहः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; सूर्यात्—सूर्य से; प्रभवन्ति—उत्पन्न होता है; वारः—जल; पुनः—फिर से; च—तथा; तस्मिन्—उसमें; प्रविशन्ति—प्रवेश कर जाता है; काले—कालक्रम से; भूतानि—समस्त जीव; भूमौ—पृथ्वी पर; स्थिर—अचर; जङ्गमानि—तथा चर; तथा—उसी प्रकार; हरौ—भगवान् में; एव—निश्चय ही; गुण-प्रवाहः—भौतिक प्रकृति का उद्भव।

वर्षा काल में सूर्य से जल उत्पन्न होता है और कालक्रम में अर्थात् ग्रीष्मकाल में वही जल सूर्य द्वारा पुनः सोख लिया जाता है। इसी प्रकार समस्त चर तथा अचर जीव इस पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं और कुछ काल के पश्चात् वे पुनः पृथ्वी में धूल के रूप में मिल जाते हैं। इसी प्रकार से प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् से उद्भूत होती है और कालक्रम से पुनः उन्हीं में लीन हो जाती है।

तात्पर्य : अल्पज्ञान के कारण निर्विशेषवादी यह नहीं समझ पाते कि किस प्रकार कोई वस्तु भगवान् से निकल कर फिर उन्हीं में लीन हो जाती है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में पुष्टि हुई है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

कृष्ण के शरीर से दिव्य किरणें निकलती हैं और इन्हीं किरणों में, जो ब्रह्मतेज है, सारी वस्तुएँ विद्यमान रहती हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.४) में हुई है—*मत्स्थानि सर्वभूतानि।* यद्यपि श्रीकृष्ण सर्वत्र साक्षात् उपस्थित नहीं रहते, किन्तु उनकी शक्ति ही समस्त सृष्टि का कारण है। सम्पूर्ण दृश्य जगत

श्रीकृष्ण की शक्ति के प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस श्लोक में दिये गये दोनों उदाहरण अत्यन्त ज्वलन्त हैं। वर्षाऋतु में वर्षा पृथ्वी पर वनस्पति को पुनः जीवित करके पशुओं तथा मनुष्यों को जीवनीशक्ति प्रदान करने में सहायक बनती है। जब वर्षा नहीं होती तो अन्न का अभाव हो जाता है और मनुष्य तथा पशु मरने लगते हैं। समस्त वनस्पतियाँ तथा सारे चर प्राणी मूलतः पृथ्वी की उपज हैं। वे पृथ्वी से ही प्रकट होकर उसी में पुनः मिल जाते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण शक्ति कृष्ण के शरीर से प्रकट होती है और उस समय सारा संसार दृष्टिगोचर होने लगता है। जब वे अपनी शक्ति को समेट लेते हैं, तो प्रत्येक वस्तु लुप्त हो जाती है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में इसे भिन्न प्रकार से कहा गया है—

यस्यैक निश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

सारी भौतिक सृष्टि भगवान् के शरीर से उद्भूत है और प्रलय के समय वह पुनः उन्हीं में प्रविष्ट हो जाती है। यह सृष्टि तथा प्रलय की प्रक्रिया महाविष्णु के श्वास लेने से संभव होती है, जो श्रीकृष्ण के ही एक अंशमात्र हैं।

एतत्पदं तज्जगदात्मनः परं
सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा ।
यथासवो जाग्रति सुप्तशक्तयो
द्रव्यक्रियाज्ञानभिदाभ्रमात्ययः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह दृश्य जगत; पदम्—निवास स्थान; तत्—वह; जगत्-आत्मनः—भगवान् का; परम्—दिव्य; सकृत्—कभी-कभी; विभातम्—प्रकट होने वाला; सवितुः—सूर्य का; यथा—जिस प्रकार; प्रभा—सूर्य प्रकाश; यथा—जिस प्रकार; असवः—इन्द्रियाँ; जाग्रति—प्रकट होती हैं; सुप्त—निष्क्रिय; शक्तयः—शक्तियाँ; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; क्रिया—कर्म; ज्ञान—ज्ञान; भिदा-भ्रम—भ्रम से उत्पन्न अन्तर; अत्ययः—लुप्त हो जाते हैं।.

जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश सूर्य से अभिन्न है, उसी प्रकार यह दृश्य जगत भी भगवान् से अभिन्न है। अतः भगवान् इस भौतिक सृष्टि के भीतर सर्वत्र व्याप्त हैं। जब इन्द्रियाँ चेतन रहती हैं, तो वे शरीर के अंगस्वरूप प्रतीत होती हैं, किन्तु जब शरीर सोया रहता है, तो सारी क्रियाएँ

अव्यक्त होती हैं। इसी प्रकार सारा दृश्य जगत भिन्न प्रतीत होने पर भी परम पुरुष से अभिन्न है।

तात्पर्य : इससे चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* के दर्शन की पुष्टि होती है। भगवान् एकसाथ इस दृश्य जगत से भिन्न तथा अभिन्न हैं। पिछले श्लोक में कहा गया है कि भगवान् वृक्ष की जड़ की तरह समस्त वस्तुओं के मूल कारण हैं। इसकी भी व्याख्या की जा चुकी है कि भगवान् किस प्रकार सर्वव्यापी हैं। वे इस भौतिक जगत की समस्त वस्तुओं के अन्दर स्थित हैं। चूँकि भगवान् की शक्ति उनसे अभिन्न है, अत: यह दृश्य जगत भिन्न प्रतीत होते हुए भी उनसे अभिन्न है। सूर्यप्रकाश (धूप) सूर्य से भिन्न नहीं है, किन्तु साथ ही उससे भिन्न भी है। धूप में रहते हुए भी कोई सूर्य में नहीं रहता। जो लोग इस संसार में रह रहे हैं, वे भगवान् के शरीर की किरणों में रहते हैं, किन्तु वे उन्हें सशरीर नहीं देख पाते।

इस श्लोक का *पदम्* शब्द भगवान् के निवासस्थान का सूचक है। इसकी पुष्टि *ईशोपनिषद्* में *ईशावास्यमिदं सर्वम्* में हुई है। भले ही मकान मालिक मकान के एक कमरे में रह रहा हो, किन्तु सारा मकान उसी का होता है। भले ही राजा बकिंघम महल के एक कमरे में रहे, किन्तु सारा महल उसकी सम्पत्ति होता है। उसे उस महल को अपना बताने के लिए महल के प्रत्येक कमरे में रहना आवश्यक नहीं है। वह सभी कमरों में भले ही स्वयं उपस्थित न रहे, किन्तु फिर भी सारा महल उसकी राजसी सम्पत्ति समझा जाता है।

सूर्यप्रकाश प्रकाश है, सूर्यगोलक स्वयं प्रकाश है और सूर्यदेव भी प्रकाश ही है। किन्तु सूर्य का प्रकाश और सूर्यदेव विवस्वान एकरूप नहीं हैं। एकसाथ एक और भिन्न होने का यही अर्थ है (*अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व*)। सभी ग्रह सूर्यप्रकाश पर निर्भर हैं और सूर्य के ताप से वे अपनी कक्षाओं में घूमते हैं। सभी ग्रहों में सारे वृक्ष तथा पौधे सूर्यप्रकाश से ही बढ़ते और रंग बदलते रहते हैं। सूर्य की किरणें होने के कारण वे सूर्य प्रकाश से अभिन्न हैं। इसी प्रकार सारे ग्रह जो सूर्यप्रकाश पर निर्भर करते हैं, सूर्य से अभिन्न हैं। यह सारा संसार सूर्य पर पूर्णतया निर्भर है, क्योंकि यह सूर्य से ही उत्पन्न है और इसके सारे फलों में सूर्य निहित है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं और सारे परिणाम उसी मूल कारण से व्याप्त हैं। समस्त दृश्य जगत को परमेश्वर की विस्तृत शक्ति समझना होगा।

जब मनुष्य सोता है, तो उसकी इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि

इन्द्रियाँ अनुपस्थित रहती हैं। जगने पर इन्द्रियाँ पुनः सक्रिय हो जाती हैं। इसी प्रकार यह दृश्य जगत कभी प्रकट होता है, तो कभी अप्रकट, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है— *भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।* जब दृश्य जगत का लय हो जाता है, तो यह एक प्रकार की निद्रावस्था या निष्क्रिय अवस्था में रहता है। दृश्य जगत चाहे सक्रिय हो या निष्क्रिय, परमेश्वर की शक्ति सदैव विद्यमान रहती है। इस तरह "प्रकट" तथा "अप्रकट" शब्द केवल भौतिक जगत के लिए व्यवहृत हैं।

यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा
भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात् ।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू
रजस्तमः सत्त्वमिति प्रवाहः ॥ १७॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; नभसि—आकाश में; अभ्र—बादल; तमः—अंधकार; प्रकाशाः—तथा प्रकाश; भवन्ति—विद्यमान रहते हैं; भू-पाः—हे राजाओं; न भवन्ति—प्रकट नहीं होते; अनुक्रमात्—क्रम से; एवम्—इस प्रकार; परे—परम; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; शक्तयः—शक्तियाँ; तु—तब; अमूः—वे; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; सत्त्वम्—सतोगुण; इति—इस प्रकार; प्रवाहः—प्राकट्य, प्रवाह।

हे राजाओ, आकाश में कभी बादल, कभी अंधकार और कभी प्रकाश रहता है। इनका प्राकट्य एक क्रम से होता रहता है। इसी तरह सतो, रजो तथा तमोगुण परब्रह्म में क्रमशः शक्ति रूप में प्रकट होते हैं। कभी वे प्रकट होते हैं, तो कभी लुप्त होते हैं।

तात्पर्य : अंधकार, प्रकाश तथा बादल कभी प्रकट होते हैं, तो कभी छिप जाते हैं, किन्तु उनके छिप जाने पर भी उनकी शक्ति बनी रहती है। आकाश में हमें कभी बादल दिखते हैं, तो कभी वर्षा और कभी हिमपात। कभी हम रात देखते हैं, तो कभी दिन और कभी प्रकाश देखते हैं, तो कभी अंधकार।इन सबका अस्तित्व सूर्य के कारण है, किन्तु सूर्य पर इन परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् समग्र दृश्य जगत के मूल कारण हैं, किन्तु उन पर भौतिक संसार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.४) में हुई है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

"भूमि, जल, अग्नि, वायु, शून्य, मन, बुद्धि तथा अहंकार—ये आठ मिलकर मेरी भिन्न भौतिक शक्तियों का निर्माण करते हैं।"

यद्यपि भौतिक तत्त्व भगवान् की शक्ति हैं, किन्तु वे पृथक्-पृथक् हैं। अत: भगवान् पर भौतिक दशाओं का प्रभाव नहीं पड़ता। *वेदान्त-सूत्र* पुष्टि करता है—*जन्माद्यस्य यत:*—इस संसार की सृष्टि, पालन तथा संहार परमेश्वर के अस्तित्व के कारण है। फिर भी भौतिक तंत्रों में परिवर्तनों का भगवान् पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका संकेत *प्रवाह* शब्द से मिलता है। सूर्य सदैव तेजी से चमकता है, वह बादलों या अंधकार से प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् सदैव अपनी आध्यात्मिक शक्ति में उपस्थित रहते हैं और भौतिक प्रसर्जन से प्रभावित नहीं होते। *ब्रह्म-संहिता* (५.१) पुष्टि करती हैं—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।
अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम् ॥

"श्रीकृष्ण जिन्हें गोविन्द कहा जाता है भगवान् हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक होता है। वे सबों के मूल स्रोत हैं। उनका अन्य स्रोत नहीं है और वे समस्त कारणों के कारण हैं।" यद्यपि वे समस्त कारणों के कारण हैं, तो भी वे परम (दिव्य) हैं और उनका रूप सच्चिदानन्द है। कृष्ण सभी वस्तुओं के आश्रय हैं और यही समस्त शास्त्रों का अभिमत है। इस दृश्य जगत का दूरस्थ कारण कृष्ण तथा निकटस्थ कारण प्रकृति है। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि प्रकृति को प्रत्येक वस्तु का कारण मानना वैसे ही है जैसे बकरी के गलस्तन को दूध का कारण मानना। यद्यपि भौतिक प्रकृति इस दृश्य जगत का निकटस्थ कारण है, किन्तु मूल कारण तो नारायण अथवा कृष्ण हैं। कुछ लोग मिट्टी के पात्र का कारण मिट्टी को मानते हैं। हम कुम्हार के चाक में प्रचुर मिट्टी देखते हैं जिससे अनेक पात्र बनाये जाने हैं और यद्यपि अल्पज्ञानी व्यक्ति कहेंगे कि पात्र का कारण चाक के ऊपर रखी मिट्टी है, किन्तु जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं, वे कुम्हार को आदि कारण मानते हैं, क्योंकि वही मिट्टी लाता है और चाक चलाता है। भले ही इस दृश्य जगत की उत्पत्ति में भौतिक प्रकृति सहायक कारक के रूप में हो, किन्तु वह परम कारण नहीं हैं। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.१०) में भगवान् कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*—"हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है और समस्त चल तथा अचल प्राणियों को उत्पन्न करती है।"

परमेश्वर भौतिक शक्ति पर अपनी दृष्टि डालते हैं और इस चितवन से प्रकृति के तीनों गुण उद्वेलित होते हैं। फिर सृष्टि उत्पन्न होती है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रकृति इस भौतिक जगत का कारण नहीं है।

परमेश्वर ही समस्त कारणों के कारण हैं।

तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां
कालं प्रधानं पुरुषं परेशम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहम्
आत्मैकभावेन भजध्वमद्धा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तेन—अत:; एकम्—एक; आत्मानम्—परमात्मा को; अशेष—अनन्त; देहिनाम्—जीवों का; कालम्—काल, समय; प्रधानम्—भौतिक कारण; पुरुषम्—परम पुरुष; पर-ईशम्—दिव्य नियन्ता; स्व-तेजसा—अपनी आध्यात्मिक शक्ति से; ध्वस्त—विलग; गुण-प्रवाहम्—भौतिक प्रवाह से; आत्म—आत्मा; एक-भावेन—एक के रूप में स्वीकार करने से; भजध्वम्—भक्ति में लगो; अद्धा—प्रत्यक्ष।

चूँकि परमेश्वर समस्त कारणों के कारण हैं, अत: वे समस्त जीवों के परमात्मा हैं और वे निकटवर्ती तथा सुदूर कारण हैं। चूँकि वे भौतिक प्रसर्जनों से विलग हैं, अत: वे उनकी अन्योन्य क्रियाओं से मुक्त हैं और प्रकृति के स्वामी हैं। अत: तुम्हें उनसे गुणात्मक रूप से अपने आपको अभिन्न मानते हुए उनकी सेवा करनी चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक परिगणनाओं के अनुसार सृष्टि के तीन कारण हैं—काल, अवयव तथा सृष्टिकर्ता। ये तीनों मिलकर *त्रितयात्मक* अर्थात् तीन कारण कहलाते हैं। इन्हीं तीन कारणों से इस संसार की सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। ये समस्त कारण भगवान् में पाये जाते हैं जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*सर्वकारणकारणम्।* इसीलिए नारद मुनि प्रचेताओं को प्रत्यक्ष कारण भगवान् की पूजा करने का उपदेश देते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वृक्ष की जड़ सींचने से वृक्ष के सारे अंग अनुप्राणित हो उठते हैं। नारद मुनि के उपदेशानुसार मनुष्य को सीधे भक्ति में लगना चाहिए। इसीमें सारा पुण्यकर्म आ जाता है। *चैतन्य-चरितामृत* का कथन है—*कृष्णे भक्ति कैले सर्व कर्मकृत हय*—जब कोई भक्ति में परमेश्वर श्रीकृष्ण की पूजा करता है, तो वह स्वत: अन्य सारे पुण्यकर्म करता है। इस श्लोक में *स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहम्* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् कभी भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते, यद्यपि वे सब भगवान् की ही अध्यात्मिक शक्ति से नि:सृत होते हैं। जो लोग वास्तव में इस ज्ञान में निष्णात हैं, वे प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए कर सकते हैं, क्योंकि इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका सम्बन्ध भगवान् से न हो।

**दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

दयया—दया दिखाने से; सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों पर; सन्तुष्ट्या—सन्तुष्ट होने से; येन केन वा—किसी न किसी तरह; सर्व-इन्द्रिय—समस्त इन्द्रियाँ; उपशान्त्या—वश में करके; च—भी; तुष्यति—सन्तुष्ट होता है; आशु—तुरन्त; जनार्दनः—समस्त जीवों का स्वामी।.

समस्त जीवों पर दया करने से, येन-केन प्रकार से सन्तुष्ट रहने से तथा इन्द्रियों को वश में करने से मनुष्य भगवान् जनार्दन को बहुत शीघ्र संतुष्ट कर सकता है।

तात्पर्य : ये कुछ विधियाँ हैं जिनके द्वारा भक्त भगवान् को संतुष्ट कर सकता है। इनमें सबसे पहली है *दयया सर्वभूतेषु* अर्थात् समस्त बद्धजीवों पर दया दिखाना। दया दिखाने की सर्वोत्तम विधि है कृष्णभक्ति को फैलाना। सम्पूर्ण संसार इस ज्ञान के अभाव से पीड़ित है। लोगों को जानना चाहिए कि भगवान् ही सभी वस्तुओं का मूल कारण है। ऐसा समझ कर प्रत्येक व्यक्ति को भगवद्भक्ति में लग जाना चाहिए। जो लोग वास्तव में विद्वान् हैं और आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति कर चुके हैं उन्हें संसार-भर में कृष्णभक्ति का उपदेश करना चाहिए जिससे लोग उसे ग्रहण करके अपने जीवन को सफल बना सकें।

सर्वभूतेषु शब्द सार्थक है क्योंकि यह न केवल मनुष्यों के लिए वरन् चौरासी लाख योनियों में प्रकट होने वाले समस्त जीवों के लिए आया है। भक्त न केवल मानवजाति को लाभ पहुँचा सकता है, अपितु समस्त जीवों को भी। प्रत्येक व्यक्ति हरे कृष्ण महामंत्र के जप से आध्यात्मिक लाभ उठा सकता है। जब हरे कृष्ण की दिव्य ध्वनि का उच्चारण किया जाता है, तो पौधे-पशु तथा कीड़े तक लाभान्वित होते हैं। इस प्रकार हरे कृष्ण महामंत्र का उच्चस्वर से कीर्तन करके मनुष्य समस्त जीवों पर दया करता है। संसार-भर में कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को फैलाने के लिए भक्तों को सभी परिस्थितियों में प्रसन्न रहना चाहिए।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

(भागवत ६.१७.२८)

भक्त को उपदेश कार्य के लिए यदि नरक में भी जाना पड़े, तो उसे परवाह नहीं रहती। यद्यपि भगवान् वैकुण्ठ में हैं, किन्तु वे एक सुअर के शरीर में भी वास करते हैं। नरक में उपदेश करते हुए भी

शुद्ध भक्त शुद्ध बना रहता है, क्योंकि वह निरन्तर भगवान् की संगति में रहता है। इस दशा को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपनी इन्द्रियाँ वश में रखनी होती हैं। जब उसका मन भगवद्भक्ति में रत होता है, तो इन्द्रियाँ स्वत: वश में हो जाती हैं।

अपहतसकलैषणामलात्म-
न्यविरतमेधितभावनोपहूतः ।
निजजनवशगत्वमात्मनोऽय-
न्न सरति छिद्रवदक्षरः सतां हि ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अपहत—परास्त हुईं; सकल—सभी; एषण—इच्छाएँ; अमल—निष्कलंक; आत्मनि—मन को; अविरतम्—निरन्तर; एधित—बढ़ते हुए; भावना—भव से; उपहूतः—बुलाया जाकर; निज-जन—अपने भक्तों के; वश—नियंत्रण में; गत्वम्—जाते हुए; आत्मनः—अपने; अयन्—जानते हुए; न—कभी नहीं; सरति—दूर चला जाता है; छिद्र-वत्—आकाश की तरह; अक्षरः—भगवान्; सताम्—भक्तों को; हि—निश्चय ही।

समस्त इच्छाओं के दूर हो जाने से भक्तगण समस्त मानसिक विकारों (कल्मष) से मुक्त हो जाते हैं। इस तरह वे भगवान् का निरन्तर चिन्तन कर सकते हैं और उनको भावपूर्वक सम्बोधन कर सकते हैं। भगवान् अपने को अपने भक्तों के वश में जानते हुए उन्हें क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ते, जिस प्रकार सिर के ऊपर का आकाश कभी अदृश्य नहीं होता।

तात्पर्य : पिछले श्लोक से प्रकट है कि भगवान् जनार्दन अपने भक्तों के कार्यों से तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं। शुद्ध भक्त सदैव भगवान् के विचार में मग्न रहता है। जैसा कहा गया—*शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: ।* निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करते रहने से शुद्ध भक्त का हृदय समस्त प्रकार की इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। इस संसार में जीव का हृदय भौतिक इच्छाओं से पूर्ण रहता है। किन्तु जब जीव शुद्ध हो जाता है, तो वह किसी भौतिक वस्तु के विषय में नहीं सोचता। मन के शुद्ध हो जाने पर उसे योगसिद्धि प्राप्त हो जाती है, क्योंकि योगी को अपने अन्त:करण में सदैव भगवान् के दर्शन होते रहते हैं (*ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:*)। ज्योंही भगवान् भक्त के हृदय में वास करने लगते हैं, भक्त प्रकृति के गुणों से दूषित नहीं होता। जब तक वह इन गुणों के वश में रहता है, वह अनेक वस्तुओं की इच्छा करता है और इन्द्रियसुख के लिए अनेक योजनाएँ बनाता है, किन्तु हृदय में भगवान् के दर्शन होते ही सारी भौतिक इच्छाएँ भाग जाती हैं। मन भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने पर भगवान् का निरन्तर चिन्तन कर सकता है और वह भगवान् के चरणकमलों पर पूरी तरह से आश्रित हो जाता

है। चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं—

अयि नन्द तनुजकिङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥

"हे भगवान्! मैं आपका शाश्वत दास हूँ, किन्तु न जाने कैसे इस भवसागर में गिर गया हूँ। कृपया मुझे निकालकर अपने चरणकमलों की धूलि में लगा लीजिए।" (*शिक्षाष्टक* ५) इसी प्रकार नरोत्तम दास ठाकुर प्रार्थना करते हैं—

हा हा प्रभु नन्दसुत, वृषभानुसुतायुत,

करुण करह एइ-बार।

नरोत्तमदास कय, न ठेलिह राङ्गा-पाय,

तोमा विने के आछे आमार॥

"हे भगवान्, अब आप राजा वृषभानु की पुत्री श्रीमती राधारानी समेत उपस्थित हैं। अब आप दोनों मेरे ऊपर कृपालु हों। मुझे दूर न भगाएँ क्योंकि आपके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई आश्रय नहीं है।"

इस प्रकार भगवान् अपने भक्तों पर आश्रित हो जाते हैं। यद्यपि भगवान् अजेय हैं, किन्तु अपने भक्तों द्वारा जीत लिये जाते हैं। वे अपने भक्त पर आश्रित होकर उसी प्रकार प्रसन्नता का अनुभव करते हैं जिस प्रकार श्रीकृष्ण माता यशोदा की कृपा पर आश्रित रह कर करते थे। वे अपने को भक्तों के वश में सोचकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। राजा कभी-कभी विदूषक रख लेता है और परिहास में कभी-कभी राजा का अपमान भी हो जाता है, किन्तु तो भी राजा इन कार्यों से आनन्दित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त सम्मानपूर्वक भगवान् की पूजा करता है, अतः कभी-कभी भगवान् अपने भक्तों की प्रताड़ना का भी आनन्द लेना चाहते हैं। इस प्रकार भगवान् तथा उनके भक्तों का शाश्वत सम्बन्ध स्थिर हो जाता है, जिस प्रकार सिर के ऊपर का आकाश।

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां
हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः ।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये

विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु ॥ २१॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; भजति—स्वीकार करता है; कु-मनीषिणाम्—मलिन हृदय वाले पुरुषों का; सः—वह; इज्याम्—अर्पित; हरिः—भगवान्; अधन—निर्धन; आत्म-धन—केवल भगवान् पर आश्रित रहने वाले; प्रियः—प्रिय; रस-ज्ञः—जीवन के रस को स्वीकार करने वाला, रसिक; श्रुत—शिक्षा; धन—सम्पत्ति; कुल—वंश; कर्मणाम्—तथा कर्मों का; मदैः—गर्व से; ये—जो; विदधति—सम्पन्न करता है; पापम्—तिरस्कार; अकिञ्चनेषु—निर्धन; सत्सु—भक्तों का।.

भगवान् उन भक्तों को अत्यन्य प्रिय होते हैं जिनके पास कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं है, किन्तु जो भगवद्भक्ति को ही अपना धन मानकर प्रसन्न रहते हैं। दरअसल, भगवान् ऐसे भक्तों के भक्ति-कार्यों का आनन्द लेते हैं। जो लोग अपनी शिक्षा, सम्पत्ति, कुलीनता और सकाम कर्म इत्यादि भौतिक वस्तुओं के मद से फूले रहते हैं, वे कभी-कभी भक्तों का उपहास करते हैं। ऐसे लोग यदि भगवान् की पूजा करते भी हैं, तो वे उसे कभी स्वीकार नहीं करते।

तात्पर्य : भगवान् अपने शुद्ध भक्तों पर आश्रित हैं। वे अभक्तों की भेंटें तक स्वीकार नहीं करते। शुद्ध भक्त वह है, जो अनुभव करता है कि उसके पास कोई भौतिक वस्तु नहीं है। भक्त सदैव भगवान् के भक्ति रूपी धन से प्रसन्न रहता है। भक्त कभी कभी भौतिक दृष्टि से निर्धन प्रतीत होते हैं, किन्तु आध्यात्मिक रूप से उन्नत तथा सम्पन्न होने के कारण भगवान् को अत्यन्त प्रिय होते हैं। ऐसे भक्त परिवार, समाज, मित्रता, सन्तान इत्यादि के प्रति आसक्ति से मुक्त होते हैं। वे इन समस्त भौतिक वस्तुओं के प्रेम को त्याग कर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सदैव प्रसन्न रहते हैं। भगवान् भी अपने भक्त की स्थिति को समझते हैं। यदि कोई शुद्ध भक्त का उपहास करता है, तो वह भगवान् द्वारा कभी अपनाया नहीं जाता। दूसरे शब्दों में, यदि कोई शुद्ध भक्त का अपमान करता है, तो भगवान् उसे क्षमा नहीं करते। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। महान् योगी दुर्वासा मुनि ने परम भक्त अम्बरीष महाराज का अपमान किया था। भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से दुर्वासा को दण्ड दिया। यद्यपि वह परम योगी सीधा भगवान् के पास गया, किन्तु उसे क्षमा नहीं मिली। जो लोग मोक्ष के पथ पर हैं उन्हें सावधान रहना चाहिए कि शुद्ध भक्त का कभी अपमान न करें।

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन्विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथममुमुद्विसृजेत्पुमान्कृतज्ञः ॥ २२॥

शब्दार्थ

श्रियम्—लक्ष्मी जी को; अनुचरतीम्—अनुसरण करने वाली; तत्—उसका; अर्थिनः—कृपाकांक्षी; च—तथा; द्विपद-पतीन्—मनुष्यों के स्वामी को; विबुधान्—देवताओं को; च—भी; यत्—क्योंकि; स्व-पूर्णः—आत्मनिर्भर; न—कभी नहीं; भजति—परवाह करता है; निज—अपना; भृत्य-वर्ग—भक्तों पर; तन्त्रः—आश्रित; कथम्—कैसे; अमुम्—उसको; उद्विसृजेत्—छोड़ सकता है; पुमान्—व्यक्ति; कृत-ज्ञः—आभारी, कृतज्ञ।

यद्यपि श्रीभगवान् आत्मनिर्भर हैं, किन्तु वे भक्तों पर आश्रित हो जाते हैं। वे न तो लक्ष्मी जी की परवाह करते हैं और न उन राजाओं तथा देवताओं की जो लक्ष्मी जी के कृपाभाजन बनना चाहते हैं। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो वास्तव में कृतज्ञ होते हुए भगवान् की पूजा न करे?

तात्पर्य : ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी की पूजा सभी भौतिकतावादी व्यक्ति करते हैं, जिनमें बड़े बड़े राजा–महाराजा तथा स्वर्ग के देवता भी सम्मिलित हैं। किन्तु लक्ष्मी जी सदैव भगवान् के पीछे–पीछे लगी रहती हैं, यद्यपि भगवान् को उनकी सेवा की आवश्यकता नहीं रहती। *ब्रह्म–संहिता* का कथन है कि भगवान् की पूजा हजारों लक्ष्मियाँ करती हैं, किन्तु भगवान् को उनकी सेवा की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि यदि उनकी इच्छा हो तो वे अपनी ह्लादिनी शक्ति से लाखों लक्ष्मियाँ उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु वही भगवान् अहैतुकी कृपावश अपने भक्तों के आश्रित बन जाते हैं। तो वह भक्त कितना भाग्यशाली है, जिस पर भगवान् की ऐसी कृपा हो? ऐसा कौन कृतघ्न भक्त होगा जो भगवान् की पूजा और भक्ति नहीं करने लगेगा? वास्तव में भक्त क्षण भर के लिए भी भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता को भूल नहीं सकता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि भगवान् तथा उनका भक्त दोनों ही रसज्ञ होते हैं। भगवान् तथा भक्त के पारस्परिक सम्बन्ध को कभी भी भौतिक नहीं समझना चाहिए। यह दिव्य होता है। दिव्य अनुभूतियाँ (भाव, अनुभाव, स्थायी भाव इत्यादि) आठ प्रकार की हैं जिनकी व्याख्या *भक्तिरसामृतसिंधु* पुस्तक में की गई है। जो लोग कृष्ण भगवान् तथा जीव की स्थिति से अनजान हैं, वे भक्त तथा भगवान् की पारस्परिक आसक्ति को भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न मानते हैं। वास्तव में यह आसक्ति भगवान् और उनके भक्त दोनों के लिए प्राकृतिक है, इसे भौतिक नहीं माना जा सकता।

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसो राजन्नन्याश्च भगवत्कथाः ।
श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ययौ स्वायम्भुवो मुनिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रचेतसः—प्रचेतागण; राजन्—हे राजन्; अन्याः—अन्य लोग; च—भी; भगवत्-कथाः—भगवान् विषयक कथाएँ; श्रावयित्वा—निर्देश देकर; ब्रह्म-लोकम्—ब्रह्मलोक को; ययौ—चला गया; स्वायम्भुवः—ब्रह्मा का पुत्र; मुनिः—परम साधु।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार ब्रह्मा के पुत्र नारद मुनि ने प्रचेताओं से भगवान् के साथ इन सम्बन्धों का वर्णन किया। तत्पश्चात् वे ब्रह्मलोक को चले गये।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् के विषय में शुद्ध भक्त से सुनना होता है। प्रचेताओं को यह अवसर महर्षि नारद से प्राप्त हुआ जिन्होंने भगवान् तथा उनके भक्तों के कार्यों का उनसे वर्णन किया।

तेऽपि तन्मुखनिर्यातं यशो लोकमलापहम् ।
हरेर्निशम्य तत्पादं ध्यायन्तस्तद्गतिं ययुः ॥ २४॥

शब्दार्थ

ते—प्रचेतागण; अपि—भी; तत्—नारद के; मुख—मुख से; निर्यातम्—निकला; यशः—महिमागान; लोक—संसार का; मल—पाप; अपहम्—नष्ट करते हुए; हरेः—हरि का; निशम्य—सुनकर; तत्—भगवान् के; पादम्—पाँव; ध्यायन्तः—ध्यान करते हुए; तत्-गतिम्—उनके धाम को; ययुः—चले गये।

नारद के मुख से संसार के समस्त दुर्भाग्य को दूर करने वाली भगवान् की महिमा को सुन कर प्रचेता गण भी भगवान् के प्रति आसक्त हो उठे। वे भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते हुए चरम गन्तव्य को चले गये।

तात्पर्य : यहाँ यह देखा गया है कि एक स्वरूपसिद्ध भक्त के मुख से भगवान् की महिमा सुनकर प्रचेताओं ने सरलता से भगवान् के प्रति प्रबल आसक्ति प्राप्त कर ली। फिर अपने जीवन के अन्त में भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते हुए वे परम धाम, विष्णुलोक को चले गये। यह निश्चित है कि जो कोई भगवान् की महिमा का श्रवण करता है और उनके चरणकमलों का चिन्तन करता है, वह उस परम धाम को प्राप्त करेगा। *भगवद्गीता* (१८.६५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

"सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो।"

एतत्तेऽभिहितं क्षत्तर्यन्मां त्वं परिपृष्टवान् ।
प्रचेतसां नारदस्य संवादं हरिकीर्तनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमसे; अभिहितम्—कहा गया; क्षत्तः—हे विदुर; यत्—जो भी; माम्—मुझसे; त्वम्—तुमने; परिपृष्टवान्—पूछा; प्रचेतसाम्—प्रचेताओं की; नारदस्य—नारद की; संवादम्—वार्ता; हरि-कीर्तनम्—भगवान् की महिमा का वर्णन करते हुए।

हे विदुर, मैंने तुम्हें वह सब कुछ सुना दिया है, जो तुम नारद तथा प्रचेताओं के भगवत्कथा सम्बन्धी वार्तालाप के विषय में जानना चाह रहे थे। जहाँ तक सम्भव था मैंने तुम्हें बता दिया है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में भगवान् तथा भक्तों की महिमा का वर्णन है। चूँकि समग्र विषय ही भगवान् की महिमा है, अत: उसमें उनके भक्तों की महिमा स्वत: आ जाती है।

श्रीशुक उवाच
य एष उत्तानपदो मानवस्यानुवर्णितः ।
वंशः प्रियव्रतस्यापि निबोध नृपसत्तम ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यः—जो; एषः—इस वंश; उत्तानपदः—राजा उत्तानपाद का; मानवस्य—स्वयंभुव मनु का पुत्र; अनुवर्णितः—पूर्व आचार्यों के पदचिह्नों पर चलते हुए वर्णित; वंशः—वंश, कुल; प्रियव्रतस्य—राजा प्रियव्रत का; अपि—भी; निबोध—समझने का प्रयास करो; नृप-सत्तम—हे राजाओं में श्रेष्ठ।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे श्रेष्ठ राजन् (राजा परीक्षित), यहाँ तक मैंने स्वायम्भुव मनु के प्रथम पुत्र उत्तानपाद के वंश का वर्णन किया है। अब मैं स्वायंभुव मनु के द्वितीय पुत्र प्रियव्रत के वंशजों के कार्यकलापों का वर्णन करने का प्रयास करूँगा। कृपया ध्यानपूर्वक सुनें।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज राजा उत्तानपाद के पुत्र थे और जहाँ तक ध्रुव महाराज या राजा उत्तानपाद के वंशजों का सम्बन्ध है उनके कार्यकलापों का वर्णन प्रचेताओं तक किया जा चुका है। अब श्रीशुकदेव गोस्वामी स्वायंभुव मनु के द्वितीय पुत्र महाराज प्रियव्रत के वंशजों का वर्णन करना चाहते हैं।

यो नारदादात्मविद्यामधिगम्य पुनर्महीम् ।
भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्य ऐश्वरं समगात्पदम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; नारदात्—नारद मुनि से; आत्म-विद्याम्—आध्यात्मिक ज्ञान को; अधिगम्य—सीख कर; पुनः—फिर; महीम्—पृथ्वी को; भुक्त्वा—भोग कर; विभज्य—बाँट कर; पुत्रेभ्यः—पुत्रों को; ऐश्वरम्—दिव्य; समगात्—प्राप्त किया; पदम्—पद को।

यद्यपि महाराज प्रियव्रत ने नारद मुनि से उपदेश प्राप्त किया था, तो भी वे पृथ्वी पर राज्य करने में संलग्न हुए। भौतिक सम्पत्ति का पूर्ण भोग कर चुकने के बाद उन्होंने उसे अपने पुत्रों में बाँट दिया। तब उन्हें वह पद प्राप्त हुआ जिससे वे भगवद्धाम को लौट सके।

इमां तु कौषारविणोपवर्णितां
क्षत्ता निशम्याजितवादसत्कथाम् ।
प्रवृद्धभावोऽश्रुकलाकुलो मुने-
र्दधार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इमाम्—यह सब; तु—तब; कौषारविणा—मैत्रेय द्वारा; उपवर्णिताम्—वर्णित; क्षत्ता—विदुर; निशम्य—सुनकर; अजित-वाद—भगवान् की महिमा का वर्णन; सत्-कथाम्—दिव्य कथा; प्रवृद्ध—बढ़ी हुई; भावः—हर्षातिरेक; अश्रु—आँसुओं के; कला—बिन्दुओं से; आकुलः—विभोर; मुनेः—मुनि का; दधार—पकड़ लिया; मूर्ध्ना—सिर से; चरणम्—चरणकमल; हृदा—हृदय से; हरेः—भगवान् के।

हे राजन्, इस प्रकार मैत्रेय मुनि से भगवान् तथा उनके भक्तों की दिव्य कथाएँ सुनकर विदुर भावविभोर हो उठे। आँखों में आँसू भर कर वे तुरन्त अपने गुरु के चरणकमलों पर गिर पड़े। तब उन्होंने अपने अन्तःकरण में भगवान् को स्थिर कर लिया।

तात्पर्य : यह महान् भक्तों की संगति का लक्षण है। भक्त किसी मुक्तात्मा से आदेश ग्रहण करता है और दिव्य आनन्द में विभोर हो जाता है। जैसाकि प्रह्लाद महाराज कहते हैं (*भागवत* ७.५.३२)—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥

महान् भक्त के चरणकमलों का स्पर्श किये बिना कोई पूर्ण भक्त नहीं बन सकता। जिसको इस भौतिक जगत से कुछ लेना-देना नहीं रहता, वह निष्किञ्चन कहलाता है। आत्म-साक्षात्कार तथा भगवद्धाम वापस जाने का अर्थ है प्रमाणित गुरु की शरण में जाना और अपने सिर पर उनकी चरणरज को धारण करना। इस प्रकार मनुष्य दिव्य साक्षात्कार के पथ पर आगे बढ़ जाता है। विदुर का मैत्रेय से ऐसा ही सम्बन्ध था, फलतः उसे वांछित फल मिला।

विदुर उवाच

सोऽयमद्य महायोगिन्भवता करुणात्मना ।
दर्शितस्तमसः पारो यत्राकिञ्चनगो हरिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सः—वह; अयम्—यह; अद्य—आज; महा-योगिन्—हे महान् योगी; भवता—आपके द्वारा; करुण-आत्मना—अत्यन्त करुणामय; दर्शितः—मुझे दिखाया गया है; तमसः—अधंकार का; पारः—दूसरा छोर; यत्र—जहाँ; अकिञ्चन-गः—भौतिक रूप से मुक्त व्यक्ति के द्वारा पहुँचने योग्य; हरिः—भगवान्।

श्रीविदुर ने कहा : हे परम योगी, हे भक्तों में महान्, आपने अहैतुकी कृपा से मुझे इस अंधकार रूपी संसार से मोक्ष का पथ प्रदर्शित किया है। इस भौतिक संसार से मुक्त पुरुष इस पथ पर चल कर इस संसार से भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार *तमः* या अंधकार कहलाता है और आध्यात्मिक जगत प्रकाश कहलाता है। वेदों का आदेश है कि प्रत्येक व्यक्ति को अंधकार से निकल कर प्रकाश के साम्राज्य में जाने का प्रयास करना चाहिए। उस प्रकाश के साम्राज्य की जानकारी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति की कृपा से प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य को भौतिक इच्छाओं का परित्याग भी करना होता है। इन इच्छाओं से छुटकारा पाते ही तथा मुक्त पुरुष की संगति पाने से भगवद्धाम जाने का मार्ग साफ हो जाता है।

श्रीशुक उवाच

इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम् ।
स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आनम्य—नमस्कार करके; तम्—मैत्रेय को; आमन्त्र्य—अनुमति लेकर; विदुरः—विदुर; गज-साह्वयम्—हस्तिनापुर नगरी को; स्वानाम्—अपनी; दिदृक्षुः—देखने के लिए इच्छुक; प्रययौ—वहाँ से चला गया; ज्ञातीनाम्—अपने परिजनों का; निर्वृत-आशयः—भौतिक इच्छाओं से मुक्त।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार मैत्रेय मुनि को नमस्कार करके और उनसे अनुमति लेकर भौतिक इच्छाओं से रहित विदुर ने अपने परिजनों से मिलने के लिए हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया।

तात्पर्य : जब सन्त पुरुष अपने परिजनों से मिलना चाहते हैं, तो उनके मन में मिलने की भौतिक इच्छा नहीं रहती। वे उन्हें केवल ऐसे उपदेश देना चाहते हैं जिससे वे लोग लाभान्वित हो सकें। विदुर का सम्बन्ध कौरवों के राजघराने से था। यद्यपि वे जानते थे कि परिवार के सारे लोग कुरुक्षेत्र में मारे

जा चुके हैं, तो भी वे अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र से यह देखने के लिए मिलना चाहते रहे थे कि उनका माया के चंगुल से उद्धार हो पाया है अथवा नहीं। जब विदुर जैसा सन्त पुरुष अपने परिजनों से मिलना चाहता है, तो उसकी एकमात्र अभिलाषा उन सबको माया के चंगुल से उद्धार कराना होता है। इस प्रकार विदुर ने अपने गुरु को सादर नमस्कार किया और कौरवों के राज्य में स्थित हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया।

एतद्यः शृणुयाद्राजन्राज्ञां हर्यर्पितात्मनाम् ।
आयुर्धनं यशः स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; यः—जो; शृणुयात्—सुनता है; राजन्—हे राजा परीक्षित; राज्ञाम्—राजाओं का; हरि—श्रीभगवान् को; अर्पित-आत्मनाम्—जीवन तथा आत्मा को अर्पित करने वाले; आयुः—उम्र; धनम्—धन; यशः—ख्याति; स्वस्ति—क्षेम; गतिम्—जीवन का चरम लक्ष्य, सद्गति; ऐश्वर्यम्—भौतिक ऐश्वर्य; आप्नुयात्—प्राप्त करता है।

हे राजन्, जो लोग श्रीभगवान् के प्रति पूर्णतः समर्पित राजाओं से सम्बन्धित इन कथाओं को सुनते हैं, वे बिना कठिनाई के दीर्घायु, सम्पत्ति, ख्याति, सौभाग्य (क्षेम) तथा अन्त में भगवद्धाम जाने का अवसर प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "प्रचेताओं को नारद का उपदेश" नामक इकतीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

PRELIMINARY PAGES FOR BH 4.1 STARTS FROM HERE

PRELIMINARY PAGE 1

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

ब्राह्मणा ऊचुः

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताश: स्वयं

त्वं हि मन्त्र: समिद्दर्भपात्राणि च

त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता

अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशु:

(श्रीमद्भागवत ४.७.४५)

PRELIMINARY PAGE 3

श्रीमद्भागवतम्

(भगवत्-सन्देश)

चतुर्थ स्कन्ध

''चतुर्थ आश्रम की उत्पत्ति''

(भाग एकअध्याय १-१९)

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ, अनुवाद

तथा विस्तृत तात्पर्य सहित

द्वारा

कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

PRELIMINARY PAGE 5

विषय-सूची

अध्याय आठ

अध्याय सत्रह

अध्याय अठारह

अध्याय उन्नीस

PRELIMINARY PAGEs

विषय-सूची

अध्याय तेईस

अध्याय चौबीस

लेखक परिचय